विश्ववाणी

संस्थापक
पण्डित सुन्दरलाल

सम्पादक
विश्वम्भरनाथ

जनवरी १९४२

... अङ्क : पहला भाग

वार्षिक मूल्य ६)   मैनेजर 'विश्ववाणी' इलाहाबाद   इस अङ्क का ...

विषय-सूची

[संस्कृति अङ्क ' जनवरी १९४२]



शस्त्र-त्याग

प्रस्तुत चित्र में दिखाया गया है कि किस तरह ढाई हजार वर्ष पूर्व तथागत के अनुरोध पर एक रणोन्मत्त राजकुमार ने शस्त्रत्यागकिया था।

उसी तरह के शस्त्रत्याग का मार्मिक अनुरोध आज दूसरा तथागत ससार के युद्ध मे सलग्न राष्ट्रों से कर रहा है।

[महाबोधि सोसायटी के सौजन्य से

विश्ववाणी

युक्तप्रान्त, पंजाब, बम्बई, मदरास, मध्यप्रान्त और बरार, होलकर राज्य, मेवाड़ जोधपुर, मैसूर और काश्मीर के शिक्षा विभागों द्वारा स्कूलों और पब्लिक लाइब्रेरियों के लिए स्वीकृत

संरक्षक
पण्डित सुन्दरलाल

सम्पादक
विश्वम्भरनाथ

वर्ष २, भाग ३ | जनवरी १९४२ | अङ्क १, पूरे अङ्क १३

भू-वन्दना

[अथर्ववेद पृथिवी सूक्त से]

आश्रित जिस पर सभी सरित सर सागर के जल,
लहराता है जहाँ शस्य का शोभन अञ्चल,
जिस पर यह चल प्राणि - जगत है जीवित स्पन्दित,
वही धरा दे हमें पूर्वजों का श्रेयस् नित।

सृष्टिपूर्व जो रही सिन्धु में जलमय तन से,
ऋषियों ने की प्राप्त सिद्धि के अक्षय धन से,
परमव्योम वह अमर सत्य - तेजस् - आच्छादित
जिसका उर है, वही धरा दे शक्ति अपरिमित।

शोभित जिस पर अचल-हिमाचल-वन सुषमाकर,
अक्षत अमर अजेय खड़े हम उस वसुधा पर।
श्यामल गैरिक अखिल रूपमय, मघवा-रक्षित,
उसी भूमि पर रहें सदा हम सुख से विचरित।

जिसके उर पर विविध वनस्पतियों औ' तरुवर,
पाते ही रहते विकास ध्रुव और निरन्तर,
धरा हुई जो धारण करके यह जग सारा,
उसका वन्दन आज कर रहा गान हमारा।

तेरे पावस औ' निदाघ तेरे मधु-पतझर,
तुझ पर रहतीं, शरद शिशिर सब ऋतुयें निर्भर;
तुझ से होते सदा दिवस औ' रजनी निर्मित,
ओ पृथिवी! यह रहे हमारे ही सुख के हित!

जो तुझ से उत्पन्न शक्ति औ' बल का आकर,
हमें उसी के मध्य प्रतिष्ठित कर दे सत्वर;
पूत हमें कर, धरापुत्र हम तुझसे लालित,
रसदायक पर्जन्य पिता से भी हों पालित!

तेरा जो शुभ गन्ध मिला ओषधि-जलकण में,
अप्सरियाँ गन्धर्व जिसे रखते निज तन में,
उस सौरभ से गात हमारा तू सुरभित कर,
पड़े किसी की द्वेष-दृष्टि ओ जननि न हम पर!

हम सबके हित महत सदन बन कर तू रहती,
महत वेग, सञ्चलन महत, कम्पन भी महती!
रहे महत निस्तन्द्र इन्द्र-छाया में ऐसी,
स्वर्णधरा तू! पर न हमे देना विद्वेषी!

भू ही तो पाषाण शिला औ' धूलिपटल में,
थामें सबको वही अंक अपने निश्चल में!
तेरा उर है हमें राशि सोने की अभिमत,
देते हैं हे भूमि! तुझे हम आज नमन शत!

२६ दिसम्बर, ४१]

[अनु० श्री महादेवी वर्मा

अनेक कण्ठों में शान्ति की एक वाणी

अनु० श्री महादेवी वर्मा

है एक शान्ति में सुख अपार !
हो क्षमामयी यह धरा हमें विस्तृत अम्बर भी रहे शान्त,
सागर का यह अस्थिर जल भी हमको हो मंगलमय प्रशान्त,
वन-ओषधियाँ हों आज हमारे जीवन के हित शान्त क्लान्त,
सब कठिन क्रूर विपरीत हमे अब शान्तरूप मे हो उदार !
है एक शान्ति में क्षेम - सार ![1]

यह निर्ममता का कठिन भार !
हो जहाँ अपेक्षित, स्नेह और विश्वास-छाँह का अभिनन्दन,
जब उसी दिशा मे उठे नित्य शत भय शंका आपद के घन,
रखता हो कोई जहाँ शान्ति का सागर पाने की आशा,
जब उसी ओर से घिर आवे तूफ़ान प्रबल आँधी अपार,
कितना निष्ठुर निर्मम प्रहार ![2]

कैसे आता है यह विचार !
कैसे अपने को भूल एक, जिसको नश्वर तन मिला दान,
करने लगता संकल्प, दूसरे को कर देगा विगतप्राण !
हो इष्ट उसी को, औरों का परिजन - परिग्रह - सन्तति - विनाश,
जो जान रहा है मर्त्य, खुला है उसके भी हित मरण-द्वार !
यह निर्ममता कितनी असार ![3]

तब जीवन में होगा न सार !
कुसुमित कुञ्जों को कर लोगे जिसदिन तुम अपना समराङ्गण,
अर्चन-गीतों के मन्दिर में भर लोगे अस्त्रों का झनझन,
अपने जीवन हित छीन और से लोगे धरती - धन - जीवन,
वह हार न होगी हार उन्हें, पर विजय तुम्हारी एक भार !
निष्ठुर जीवन का मूल्य क्षार ![4]

जीवन हो विश्वासी उदार !
जो हिंसा - वैर - विरोध - शून्य को भी कर देगा प्राणहीन,
उसने मानो सब मनुज-जाति का ही जीवनधन लिया छीन !
पर जो करता है, यहाँ एक जीवन की रक्षा का विधान,
उस एक व्यक्ति ने ली मानो यह मानव-संसृति ही उबार !
वह सत्पथचारी है उदार ![५]

बिन स्नेह सभी जय है असार !
जो शक्ति-विजित उसके न कभी पाते विराम उद्भ्रान्त प्राण,
केवल नतमस्तक सह लेना निज दुर्बलता का कठिन दान !
जो बँधकर गुण के बन्धन से खिंच आता है सुख से समीप,
वह स्नेह-विजित पल में देगा तुम पर अपना सर्वस्व वार !
शस्त्रों से अर्जित विजय हार ![६]

जीवन पर हो न विरोध-भार !
धरती के विस्तृत अञ्चल से वह कर देता सब वैर दूर,
पैने कुन्तो को खण्ड खण्ड वह करता धनु को चूर चूर !
उठती लपटों की ज्वाला में रख रथ को करता भस्मसात,
तब रुक जाते संघर्ष, युद्ध के साधन होते क्षार क्षार !
सुख शान्ति तभी पाते प्रसार ![७]

---

१ अथर्ववेद-१६ ६ १४
२ चुल्लवग्ग-५ २० १
३ जोरोआस्ट्रीयनीज़्म- फ्रैगमेण्ट्स ८, औगेमदं ४८
४ ज्वाग त्जे-२४ ?
५ कुरान-५,३५
६ कन्फ्यूशियनीज़्म—मेन्सिअस २ १ ३ २
७ ओल्ड टेस्टामेण्ट—बुक आफ़ साम्स ४६

आदि-मानव और उसकी संस्कृति

प्रोफैसर मनोहरलाल मिश्र, एम एस-सी , एल-एल बी

सृष्टि में विचरण करने वाले इस मानव की कहानी बहुत पुरानी है। इस कहानी को शुरू हुए सैंकड़ों नहीं, हजारों नहीं, लाखों ही नहीं किन्तु करोड़ों वर्ष बीत चुके हैं। इसका अन्त कैसे और कब होगा यह अभी कौन कह सकता है ? जब हमारी यह कहानी शुरू हुई उन दिनों की दुनिया ही दूसरी थी। उस समय दुनिया का नक्शा ही दूसरा था, और तब से आज तक तो यह नक्शा कई बार बदल चुका है। पृथ्वी का निर्माण हुए लगभग दो अरब वर्ष बीत चुके हैं, और इस लम्बी उम्र में हमारी धरती माता ने लाखों प्रकार के जीव जन्तुओं को जन्म दिया। वे जन्मे, बड़े हुए, खेले कूदे और अन्त में कराल काल की गोद में हमेशा के लिये सो गये। उनकी जाति की जाति का ही अन्त हो गया। पर पृथ्वी जीव जन्तुओं से खाली न हुई। एक तरह के प्राणी पैदा हुए और मिट गये। फिर दूसरे प्रकार के प्राणियों ने जन्म लिया और वे भी मिट गये। यही क्रम चला जा रहा है और चलता रहेगा।

यह मानी हुई बात है कि एक जीव का जन्म दूसरे जीव के आधार पर होता है। कोई भी जीव अपने आप पैदा नहीं होता। कहा गया है कि जीव एक छोटे से अणु से उत्पन्न हुआ है। यह अणु अपने आप दो अंशों में बट गया। बाद में ये दोनों अंश और भी अनेकों अंशों में बटे और इन्हीं अंशों से तरह तरह के जीव उत्पन्न हुए। जब इन जीवों में विकास शुरू हुआ तब उनसे तीसरे ही प्रकार के प्राणी पैदा हो गये। यही थोड़े में प्राणियों के पैदा होने का क्रम है। इसी क्रम के अनुसार मनुष्य भी किसी अन्य प्राणी के विकासक्रम का परिणाम है। मनुष्य की उत्पत्ति से लेकर उसमें जो जो विकास हुए हैं उनका अनुभव करने के लिये हमें प्राणी मात्र के विकास का अध्ययन करना होगा, क्योंकि मनुष्य का विकास दूसरे प्राणियों का ही विकास है। उनसे अलग करके उसे नहीं देखा जा सकता।

यह ठीक ठीक कह सकना कि संसार में जीव की उत्पत्ति कब शुरू हुई, असम्भव सा ही प्रतीत होता है। किन्तु इसका अन्दाज अवश्य लगाया जा सकता है। दुनिया के प्राणियों के इतिहास से यह बात पूरी तरह साबित हो चुकी है कि सब प्राणियों में मनुष्य लगभग सभी से उम्र में छोटा है। दुनिया का इतिहास और मनुष्य का जन्म एक ही सूत्र से बंधा है। इसलिये मनुष्य के जन्म, उसके विकास तथा उसकी संस्कृति को समझने के लिये दुनिया के समूचे इतिहास पर गौर करना होगा। वैज्ञानिकों ने पृथ्वी के जन्म से लेकर आज तक के समय को चार महाकालों में विभाजित किया है। इन महाकालों को क्रम से प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ काल नाम दिये हैं। इन चारों महाकालों को भी छोटे बड़े कालों में विभाजित किया गया है। इन महाकालों का विभाजन भिन्न भिन्न कालों में जमा हुई चट्टानों तथा उन चट्टानों में पाये गये पशुओं के पत्थर बने हुए (फासिल) अस्थि पंजरों पर निर्धारित है। कहीं कहीं दो काल की चट्टानें व उनमें पाये जाने वाले जीवों के (फासिल) अस्थिपंजर इस तरह मिलते जुलते हैं कि उनका अलग अलग करना मुश्किल हो जाता है। परन्तु बहुधा ये एक दूसरे से भिन्न ही होते हैं। यह विभाजन इस प्रकार है—

चतुर्थ महाकाल = | वर्त्तमान काल
| प्लाइस्टोसीन काल

तृतीय महाकाल =	प्रायोसीन काल मायोसीन काल ग्रालिगोसीन काल योसीन काल
द्वितीय महाकाल =	क्रिटेशश काल जुरासिक काल ट्राइसिक काल
प्रथम महाकाल =	परमियन काल कारबोनीफेरस काल डिव्होनियन काल साइलूरियन काल ग्रारडोव्हीशियन काल कैम्ब्रियन काल

प्रथम काल के पहिले का समय

कैम्ब्रियन काल की चट्टानों में जिन जीवों के पत्थर हुए अस्थिपंजर पाये जाते हैं वे इस बात को साबित करते हैं कि उस काल मे वे प्राणी पैदा हो चुके थे। इसके अनुसार उस काल के पहिले काल में प्राणियों का या जीव का उत्पन्न होना मानना पड़ेगा, हालाकि इस काल से पहले काल की चट्टानों में किसी भी प्रकार के प्राणियों के अस्थिपंजरों का बिलकुल ही अभाव है। कैम्ब्रियन काल के जीव अमिश्रित प्राणी थे। वे पुराने तथा आजकल के प्राणियों से बिलकुल ही भिन्न थे। उस समय शरीर में रीढ नहीं होती थी। बिना रीढ के ही प्राणी पृथ्वी पर रहते थे। ऐसे प्राणी जैसे स्पज, कोरल, जैली मछली और एक प्रकार का बिच्छू जिसे ट्राइ-लोबाइट कहते हैं। ये सबके सब जलचर ही थे। थल पर उस समय तक जीव का आगमन नहीं हुआ था।

आरडोव्हीशियन काल बड़े बड़े ज्वालामुखियों का काल था। इस काल के प्राणी कैम्ब्रियन काल के प्राणियों से बहुत कुछ मिलते जुलते थे।

साइलूरियन काल में पहले दो कालों के प्राणियों से अधिक विकसित प्राणी मिलते हैं और इसी समय भिन्न भिन्न प्राणियों का विकास शुरू हुआ। किन्तु इस काल में भी थल पर जीव का आगमन नहीं हुआ। इस काल के भी सब प्राणी जलचर ही रहे। बड़े बड़े, छै छै फुट के बिच्छू जिनकी कावर दस दस फुट की होती थी इस काल में पाये जाते थे। इनका एक हमला बड़े से बड़े जानवरों को निष्प्राण करने के लिये काफ़ी था। इसी काल में प्राणियों में विकास होकर रीढदार प्राणियों का जन्म हुआ। इस प्रकार के प्राणी, गोकि वे आजकल की मछलियों के पूर्वज समझे जाते हैं, फिर भी इन मछलियों से बिलकुल भिन्न थे। इन रीढदार प्राणियों का चमड़ा हड्डी के समान कड़ा होता था जो बड़े बड़े बलवान बिच्छुओं से उनकी रक्षा करता था। इनमे फुरती बिलकुल न थी। ये महा आलसी जीव थे। इस काल में लगभग दस हजार प्रकार के भिन्न भिन्न प्राणी ससार में रहा करते थे। ये सब के सब जलचर थे। इनमे थलचर एक भी न था।

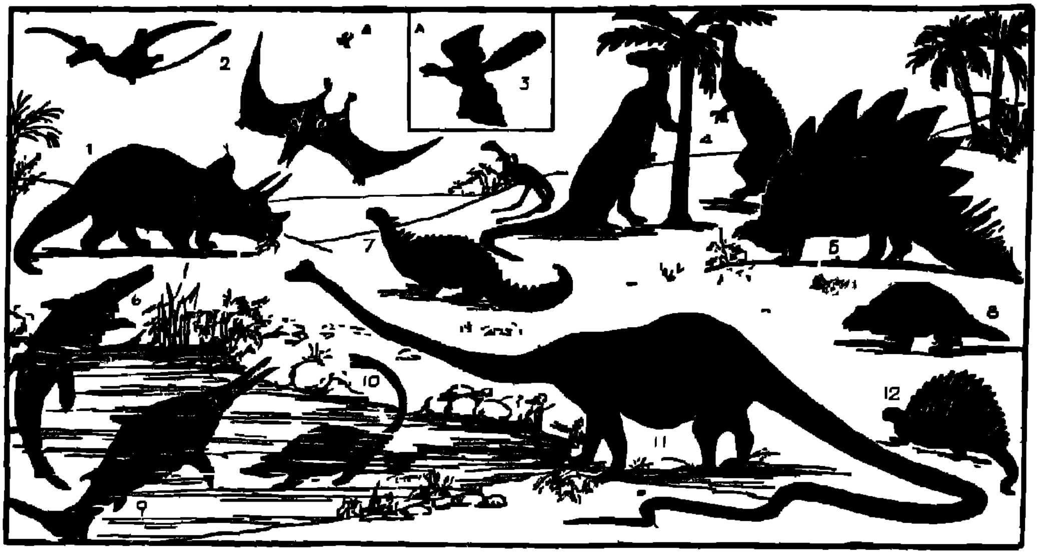
डिव्होनियन काल में बेहद अन्धड़ और तूफ़ान चला करते थे और घनघोर वर्षा हुआ करती थी। इस काल में थल का बहुत सा भाग मरुस्थल था। अनुकूल वतावरण मिलने के कारण पुराने जलचरों में अब चुस्ती आ गई थी जिससे वे पानी में तेज़ी से यहा वहा अपने बचाव के लिये भाग सकते थे। अब उन्हें हड्डी के समान कड़े चमड़े की आवश्यकता न रह गई थी। वह उनकी फुर्ती में बाधक होता था। धीरे धीरे यह हड्डी जैसा चमड़ा नरम हो गया। इसी काल में थल पर जीव का आगमन हुआ। इन सर्व प्रथम आगन्तुक थलचारियों में थीं—वनस्पतियां, कीड़े, मक्खिया, मकड़ियाँ आदि।

कारबोनीफेरस काल में बड़ा भारी परिवर्त्तन हुआ। डिव्होनियन काल के मरुस्थल इस काल में अत्यन्त घने जगलों में परिवर्त्तित हो गये। जल वायु में उष्णता आ गई। इस काल में वृक्षों की उचाई साधारणतया १५० फुट और छोटी छोटी झाड़ियों की उन्चाई आजकल के वृक्षों की उंचाई के बराबर

थी। आजकल जो ज़मीन के भीतर पत्थर का कोयला पाया जाता है वह इसी काल के वृक्षों से बना था। इस काल में उन जानवरों का ख़ूब विकास हुआ जिनसे बाद में नभ में उड़ने वाले प्राणियों की उत्पत्ति हुई। इन्हीं जानवरों के विकास से रेंगने वाले जानवरों की भी उत्पत्ति हुई।

परमियन काल में फिर जलवायु में परिवर्त्तन हुआ। जंगल उजड़कर फिर मरुस्थल बनने लगे। जलवायु और वातावरण में परिवर्त्तन होने से प्राणियों में भी परिवर्त्तन हुआ। उन्हें अपने बचाव के लिये

ट्राईसिक काल में जलचर, थलचर और नभचर जीवों का ख़ूब विस्तार हो चुका था। आजकल की ह्वेल मछलियों के बराबर सैकड़ों प्रकार के जीव उस काल में समुद्र को मथा करते थे। बड़े बड़े रेंगने वाले प्राणी जिनके चमगीदड़ के समान पंख और लम्बी लम्बी चोंच में पैने पैने दांत होते थे, आसमान में बेधड़क उड़ा करते थे। इसी काल में जल में रहनेवाले प्राणियों के बीच में एक बड़ा ही भयानक प्राणी रहता था। इसकी लम्बाई लगभग १०० फ़ुट और उंचाई लगभग ३० या ४०



द्वितीय महाकाल के भयङ्कर जीव-जन्तु

कायापलट करनी पड़ी। जो जीव ऐसा न कर सके वे नष्ट हो गये। जिन्होंने अपनी रक्षा की वे बच गये। इस समय तक थल पर भी प्राणियों का आगमन हो चुका था। एक विशेष प्राणी ने थल को ही अपनाया। वह हमेशा थल पर ही रहने लगा। इस काल के साथ साथ प्रथम महाकाल का अन्त हुआ।

द्वितीय महाकाल में रेंगने वाले जानवरों का ख़ूब ज़ोर रहा। इस महाकाल में सौ सौ फ़ुट के रेंगने वाले जानवर रहा करते थे।

फ़ुट से कम न थी। इसका मुंह घड़ियाल के समान, गर्दन सांप के समान और शरीर आजकल के जल घोड़े के समान था। इसे वैज्ञानिक डिपलोडोकस नाम से पुकारते हैं।

जुरासिक काल में रेंगने वाले जानवर अपने अन्तिम तथा उच्चतर विकास पर पहुंच चुके थे। इस समय के लगभग सभी प्राणी भयानक, भीमकाय और बलवान थे। इनमें हमेशा प्राणों की बाज़ी लगी रहती थी। इसी कारण प्रत्येक प्राणी में रक्षा की

भावना से कायापलट होने लगी। मार्के की बात यह थी कि ये जानवर दिमाग़ से कोई काम न लेते थे। इससे दिमाग़ का विकास रुका रहा। नतीजा यह हुआ कि इन दिनों के समस्त जानवरों में से किसी एक का भी भेजा मुर्ग़ी के अण्डे से बड़ा नहीं हो पाया। समय के बदलते ही इनमें से बहुत से प्राणी नष्ट हो गये। केवल भौतिक-बल पर ही वे कहां तक टिक सकते थे ?

क्रिटेशश काल में इनमें से लगभग सभी प्राणी नष्ट हो चुके थे। इनके नष्ट होने के साथ ही साथ द्वितीय महाकाल का भी अन्त हो गया।

इन बड़े बड़े जानवरों के मरते ही उन छोटे छोटे प्राणियों को आगे बढने का मौक़ा मिला जो अब तक प्रमुख न हो पाये थे। बड़े जानवरों से निरन्तर अपनी रक्षा करते रहने के कारण इनमें काफ़ी फ़ुरती आ गई थी। ये ही जानवर तृतीय काल के स्तनपायी जानवरों के पूर्वज हैं। इन्होंने कुछ ही समय मे अपना पूर्ण विस्तार कर लिया। ये जानवर तृतीय काल में विकास के उच्चतम शिखर पर पहुंच गये। यही जानवर वर्त्तमान काल के पशुओं के पूर्वज समझे जाते हैं। तृतीय काल में इन जानवरों के विकास के साथ ही साथ आजकल की जलवायु का आगमन भी शुरू हुआ। इस तरह पृथ्वी पर जीवों का विकास हुआ, बेरीढदार समुद्री जीवों से मछलियां, उड़ने वाले प्राणी, रेंगने वाले प्राणी और फिर स्तनपायी प्राणी पैदा हुए। तृतीय महाकाल के मायोसीन काल मे मनुष्य ने भी जन्म लिया।

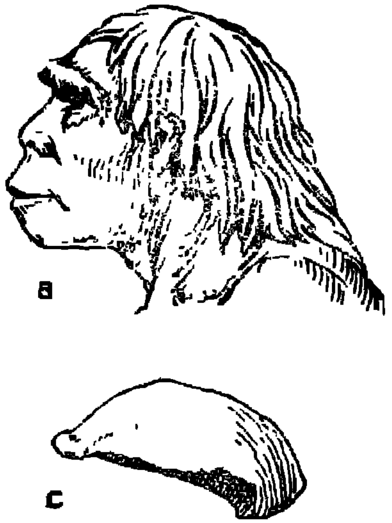
यहीं से हमारे पूर्वज आदिम-मानव की जन्म-कथा शुरू होती है। जिस समय मनुष्य ने पहले पहल पृथ्वी पर जन्म लिया था वह तृतीय महाकाल था। परन्तु उस समय भी उस प्राणदार मनुष्य में मनुष्यता के चिह्न लेशमात्र ही थे। बल्कि उसे मनुष्य न कहना ही ठीक होगा। यह बात सही है कि वह ठीक वही प्राणी था जिसके विकासक्रम का परिणाम आज का मनुष्य है। जिस समय इस तथाकथित मनुष्य का पृथ्वी पर आगमन हुआ उस समय उसे बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उसके पास अपने बचाव के लिये सिवाय नाख़ूनों के कोई दूसरे हथियार न थे। वह जंगलों में रहता था। मौक़ा पाकर अपना भोजन ढूंढता होगा और रात दरख़्तों पर ही काटता होगा। उस समय जंगलों में महा भयंकर मांसाहारी जन्तु विचरण करते थे। उनकी गर्जना से दिन रात जंगल गूंजा करते थे। झीलों व नदियों में बड़े बड़े घड़ियाल और जलघोड़ों का वास था। स्थल पर बलवान गैंडे, भीमकाय भैंसे, शेर, हाथी आदि चिंघाड़ा करते थे। गुफाओं मे भयंकर रीछ और वृक्षों पर बड़े बड़े अजगर सांप रहा करते थे। ग़रज़ कहने की यह है कि उस बेचारे आदिम-मनुष्य का कहीं कोई ठिकाना न था। वह ग़रीब इन सब के बीच में निहत्था था। परन्तु फिर भी ईश्वरीय लीला महान है। उसी निहत्थे और सब से कमज़ोर प्राणी के वंशजों ने आज उस काल के सब भयंकर जानवरों को अपना गुलाम बना लिया है और उन्हें वे उंगली के इशारे पर नचा रहे हैं। आज उसी निहत्थे मानव की संतति भयानक अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित है। वह जानवर रूपी मनुष्य उस समय मायोसीन काल मे चारों पैरों के बल चलता था, दरख़्तों पर रहता था और बन्दर से किसी प्रकार भी भिन्न न था। वह मांसाहारी कम और शाकाहारी ही अधिक था।

मायोसीन काल के पहिले अर्थात् आलिगोसीन काल की चट्टानों में कुछ अस्थिपंजर मिले हैं। इनके अध्ययन से यह पता चलता है कि यद्यपि यह आदि मानव निरा पशु ही था पर उसमें मनुष्यता की ओर विकास का अंकुर फूट चला था। लेकिन इस अंकुर का पनपना बाक़ी था। इस अंकुर के पनपने मे ही लाखों वर्ष लग गये। तब तक इसके विकास-क्रम में जो भी प्राणी रूपी मनुष्य हुए वे रत्ती भर भी मनुष्य कहलाने योग्य न थे। इन प्राणियों के अस्थिपंजरों को प्रोप्लायोपिथेकस, मैक्रोपिथेकस आदि नाम दिये गये हैं। ये अस्थिपंजर अफ्रीका महाद्वीप की आलिगासीन काल की चट्टानों में पाये गये हैं।

मायोसीन काल में यह आदिम मानव विकसित होकर बन्दर रूपी मनुष्य की शक्ल में आने लगा। इस काल की चट्टानों में कई जगह आदिमानव के अस्थिपजर मिले हैं। एक अस्थिपजर हिन्दुस्तान में शिवालिक की पहाड़ी पर गंगा की नहर खोदते समय पाया गया है। डा० पिलग्रिम ने उस पर खोज की और उसे ओलिगोसीन काल के अस्थिपजरों से भिन्न पाया। इसका नाम उन्होंने ड्रायोपिथेकस रखा। इसी प्रकार के या इससे बहुत कुछ मिलते जुलते अस्थि-पजर फ्रान्स और हंगरी मे भी इसी काल की चट्टानों मे मिले हैं। ड्रायोपिथेकस में डा० पिलग्रिम ने आदिम मानव मे मनुष्यत्व के अधिक लक्षण पाये हैं। परन्तु फिर भी यह गया बीता मनुष्य था। मनुष्य नाम के वास्तविक प्राणी से अभी यह बहुत दूर था। डा० इलियट स्मिथ का मत है कि शायद यही ड्रायो-पिथेकस तरह तरह के बन्दरों, ओरंगउटान, शिम्पैंजी, गोरिला, आदि का पूर्वज है। उनका यह भी मत है कि शायद इसी शिवालिक पहाड़ियों मे इन बन्दरों का फैलना शुरू हुआ है। यह फैलाव मायोसीन काल मे ही हुआ है। शिवालिक पहाड़ियों से ये बन्दर अनेकों दिशाओं मे फैले। कुछ पूर्व की ओर गये और बोर्नियो तक जा पहुंचे। इनके फैलाव के मार्ग को देखने से यह पता चलता है कि वे एशिया महा-द्वीप के दक्षिणी तथा गर्म किनारे के आस पास ही रहे। कुछ पश्चिम की ओर फैले और ईरान होते हुए धीरे धीरे अरब तक जा पहुंचे। यहां पर इनकी दो शाखाएं हुईं। एक तो यूरोप की ओर फैली और धीरे धीरे फ्रान्स और स्पेन तक जा पहुंची। दूसरी अफ्रीका की ओर बढ़ी और काफी दक्षिण तक फैली। प्रो० डार्ट को जो अस्थिपंजर बुशानन में मिले हैं, और जिनका नाम उन्होंने आस्ट्रालोपिथेकस रखा है, वह इन्हीं फैली हुई शाखाओं में से किसी एक की सतति है। इन बन्दरों का इस तरह फैलना सारे मायोसीन काल में जारी रहा। कुछ लोगों का तो यह मत है कि प्लायोसीन काल का आधे से ज्यादा समय भी इसी प्रकार बीता। यह सौ या दो सौ साल की ही बात न थी। केवल प्लायोसीन काल ही एक करोड़ ६० लाख वर्ष का आंका गया है। इससे यह पता चलता है कि इन बन्दरों के इस प्रकार फैलाव की क्रिया लगभग ३ करोड़ वर्ष तक जरूर जारी रही होगी। इतने लम्बे काल में उस जानवर रूपी आदि मानव को यहां वहां भटकने मे न जाने किन किन कष्टों का सामना करना पड़ा होगा। न जाने वह किस किस जलवायु या वातावरण में से गुजरा होगा। इसका असर उस पर बहुत पड़ा। उसमें विकास होना और विकास न होना दोनों क्रियायें हुईं। कुछ मे तो पशुत्व की ओर ही अधिक झुकाव हुआ और किसी का विकास मनुष्यत्व की ओर हुआ। परन्तु यह तो निश्चित ही है कि इसी समय उस जानवर ने जो विकासधारा पकड़ी वह उसे शीघ्र ही मनुष्यत्व की ओर ले जाने वाली थी। अब तक आधा प्लायोसीन काल बीत चुका था। इसका अन्त ही हो रहा था। पर इस समय तक की चट्टानों में ऐसा अस्थिपजर नहीं मिला जिससे यह सिद्ध हो सके कि उस जानवर रूपी मनुष्य में मनुष्य कहलाने के लक्षण आगये थे। अभी तक वह आदि मानव निरा पशु ही था।

इस प्रकार धीरे धीरे प्लायोसीन काल का अन्त हुआ। इस काल में मनुष्य के विकास की महत्व-पूर्ण घटना हो चुकी थी। पर वैज्ञानिकों को अभी तक, सिवाय एक अस्थिपजर के इस सम्बन्ध में और कोई ऐसे चिह्न सारी दुनिया में नहीं मिले, जो इस पर और प्रकाश डालते। यह अस्थिपजर प्लायोसीन काल के अन्त में जमा हुई चट्टानों में पाया गया है। डा० डुबॉय का कै वर्ष का परिश्रम उस समय सफल हुआ, जब सन् १८९१ के सितम्बर मास में जावा द्वीप में ट्रिनिल नामक स्थान के पास ऐसे अस्थिपंजर के कुछ भाग पाये गये। डा० डुबॉय ने इस पर खोज शुरू की और शीघ्र ही उन्होंने यह देखा कि उस अस्थिपजर के अवशेष उस समय तक पाये गये सारे अस्थिपंजरों से भिन्न थे। उसमें मनुष्यता का कहीं अधिक विकास दिखाई दिया। उन्होंने यह भी मत प्रगट किया कि उस जीव की

हड्डियों के बनाव से ऐसा मालूम होता है कि वह मनुष्य की तरह दो पैरों पर चलने लगा था। उसकी खोपड़ी छोटी थी। वह मनुष्य की खोपड़ी से लगभग आधी रही होगी। खोपड़ी के भीतर एक छोटा सा भेजा (Brain) था। गोकि छोटा भेजा पशुत्व की निशानी नहीं है फिर भी मनुष्य के लिये तो वह छोटा ही था। उसमें पशुत्व की ही मात्रा अधिक थी। खोपड़ी के भीतरी भाग में कुछ निशान ऐसे हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि यह जीव काफ़ी समझदार



जावा का पिथेकैन्थ्रापस

हो चुका था, पर फिर भी मनुष्य से उसकी समझ बहुत ही कम थी। इसकी खोपड़ी दबी हुई थी। भौंहों के पास से उठाव इतना कम था कि माथा नहीं के बराबर था। उसके चेहरे पर उठी हुई भौंहें, भीतर घुसी हुई छोटी आँखें, चौड़ी नाक, बाहर निकला हुआ जबड़ा, पीछे हटी हुई ठोढ़ी और माथा था। सिर आगे झुका हुआ था। गर्दन इतनी छोटी थी कि मालूम होता था कि सिर कंधों पर ही रखा है। यह सीधी न की जा सकती थी। बूढ़ों के समान पैर फैलाकर, कुछ मुड़े हुए घुटने से यह झुक कर खड़ा होता था। यही दुनिया का सबसे पहला अचम्भा था। इतना भद्दा था पर फिर भी इसमें मनुष्यता के बहुत से लक्षण थे। यह कुछ कुछ बोल भी सकता था, भाषा इसकी चाहे जो रही हो। इस खोज ने दुनियाँ के वैज्ञानिकों के सामने बिजली सी चमका दी। उन्नीसवीं सदी में इस अस्थिपंजर ने जितने महत्व-पूर्ण प्रश्न को हल किया उतना किसी दूसरी घटना ने नहीं। डा० डुबॉय ने इस जीव का नाम 'पिथे-कैन्थ्रोपस इरेक्टस' रखा। मनुष्य रूपी बन्दर का यह सब से पहिला सबूत था। सारी दुनियाँ में यह अपने क़िस्म का अकेला ही नमूना है। इसके पहिले के जीवों के जो भी निशान मिले हैं उनमें और पिथे-कैन्थ्रोपस में ज़रा भी सिलसिला नहीं। एकाएक विकास होना असम्भव है। पर जानवर रूपी मनुष्य और मनुष्य रूपी बन्दर के बीच की कहानी को पूरा करने के लिये अभी कोई और सबूत नहीं है। और यही "मिसिंग लिंक" (खोई हुई कड़ी) है जिसे पाने के लिये वैज्ञानिक अपने प्राण तक निछावर करने को तय्यार हैं।

मनुष्य का पूर्वज पिथेकैन्थ्रोपस ही है या नहीं, इस बात पर बड़ा मतभेद है। इसके बाद के काल की चट्टानों में जो अस्थिपंजर मिले हैं, उनमें और इसमें विकास का एक ही सिलसिला जारी है, जो कि मनुष्यत्व की ओर बढ़ता ही चला गया है और इस बात का सबूत है कि विकास का जो अंकुर पिथे-कैन्थ्रोपस में पनपा था, वह शीघ्रता से उन्नति करने लगा था। पिथेकैन्थ्रोपस का जन्म लगभग ११ लाख वर्ष पहिले का बताया जाता है और यही मनुष्य-जन्म की—मनुष्य के पृथ्वी पर आगमन की—तारीख़ है, गो कि इसकी तय्यारियाँ लगभग ३ करोड़ वर्ष पहिले से हो रही थीं। प्रश्न अब यह है कि हम पिथेकैन्थ्रोपस के रक्त की ही सतति हैं या नहीं? डा० डुबॉय का मत है कि वह हमारा सगा पड़दादा मनुष्य है। ड्रायोपिथेकस के ख़ानदान की एक शाखा से कुत्ते की शक्ल वाले छोटे छोटे बन्दर हुए। दूसरी से शिम्पैंजी आदि और तीसरी से पिथे-कैन्थ्रोपस और बाद में उसी से मनुष्यः—

ड्रायोपिथेकस का ख़ानदान

शिम्पैंजी आदि — पिथेकैन्थ्रोपस — कुत्ते की शक्ल के छोटे छोटे बन्दर

पिथेकैन्थ्रोपस
|
मनुष्य

डा० ब्यूल का मत है कि मनुष्य पिथेकैन्थ्रोपस के रक्त की संतति नहीं है। ड्रायोपिथेकस के ख़ानदान से तीन शाखाएं फूटीं। एक से कुत्ते की शक्ल वाले छोटे छोटे बन्दर, दूसरी से मनुष्य और तीसरी से शिम्पैंजी आदि। शिम्पैंजी वाली शाखा के दो भाग होगये, एक से शिम्पैंजी और दूसरी से पिथेकैन्थ्रोपस।

ड्रायोपिथेकस का ख़ानदान

शिम्पैंजी आदि के पूर्वज — मनुष्य — कुत्ते की शक्ल वाले छोटे छोटे बन्दर

शिम्पैंजी आदि के पूर्वज
|
शिम्पैंजी आदि — पिथेकैन्थ्रोपस

इस मत के अनुसार पिथेकैन्थ्रोपस मनुष्य का दूर का रिश्तेदार होता है।

अन्य वैज्ञानिकों का मत है कि ड्रायोपिथेकस के ख़ानदान से तीन शाखाएं फूटीं। एक से कुत्ते की शक्ल वाले छोटे छोटे बन्दर, दूसरी से मनुष्य और पिथेकैन्थ्रोपस के पूर्वज, और तीसरी से शिम्पैंजी आदि। दूसरी शाखा दो भागों में विभाजित हो गई। एक से मनुष्य और दूसरी से पिथेकैन्थ्रोपस :—

ड्रायोपिथेकस का ख़ानदान

शिम्पैंजी आदि — मनुष्य तथा पिथेकैन्थ्रोपस के पूर्वज — कुत्ते की शक्ल वाले बन्दर

मनुष्य तथा पिथेकैन्थ्रोपस के पूर्वज
|
पिथेकैन्थ्रोपस — मनुष्य

डा० ब्यूल और अन्य वैज्ञानिकों का मत है कि पिथेकैन्थ्रोपस हमारा कोई सगा नहीं है। उसका विकास प्लायोसीन के अन्त में अपने उच्चतम शिखर पर पहुंच गया था और उसके बाद ही उसका नाश हो गया। पिथेकैन्थ्रोपस चाहे हमारा पड़दादा आदम न हो परन्तु पड़चाचा आदम अवश्य है। यही मत ज्यादा प्रचलित है। वह मनुष्य की ओर अग्रसर होने वाले विकास की एक सीढ़ी है जो वहीं पर ख़तम हो गई।

जिस समय पिथेकैन्थ्रोपस जावा द्वीप के आसपास घूमा करता था उसी समय याने प्लायोसीन काल के अन्तिम चरण में इङ्गलैण्ड में एक प्रकार का मनुष्यरूपी जीव रहा करता था। इसके अस्थि-पंजर के अध्ययन से यह पता चलता है कि इसका दिमाग़ गो कि मनुष्य के दिमाग़ से बहुत छोटा था फिर भी वह था मनुष्य का ही दिमाग़। उसकी आंखों के ऊपर की हड्डियां इतनी उठी हुई न थीं जितनी अभी तक के दूसरे ऐसे जीवों की। उसमें बोलने की शक्ति पिथेकैन्थ्रोपस से अधिक थी। डा० इलियट स्मिथ का मत है कि यही मनुष्यों का पड़दादा आदम है। हम सब लोग इसी जीव की संतति हैं। उन्होंने इसका नाम योएनथ्रोपस रखा है। ये अस्थिपंजर इङ्गलैण्ड के पिल्टडाउन शहर के नजदीक मिले हैं।

इसके बाद प्लायोसीन काल का अन्त हुआ और मनुष्यरूपी जीव ने प्लाइस्टोसीन काल में पदार्पण किया। इस काल के जो अस्थिपंजर या दूसरे चिन्ह मिले हैं उनसे यही पता चलता है कि विकास की सारी शक्तियां वर्तमान मनुष्य के बनाने में पूरे तौर से लगी थीं। ये सारे चिन्ह उन दिनों के मनुष्य की संस्कृति पर काफी प्रकाश डालते हैं। ये चिह्न उन दिनों के मनुष्यों के हथियार और औजार थे जो उन्होंने अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये पत्थरों को तोड़ फोड़ कर बनाये थे। जहां जहां ये मनुष्य गये वहां वहां अपनी संस्कृति की छाप छोड़ते गये। प्लाइस्टोसीन काल इन्हीं सांस्कृतिक (Cultural) चिह्नों के आधार पर कई भागों में विभाजित किया

गया है। एक भाग की संस्कृति दूसरे भाग की संस्कृति से भिन्न है। परन्तु सब में एक ही सिलसिला है जो इस बात का द्योतक है कि मनुष्य ने अपनी संस्कृति की उन्नति के लिये हजारों वर्ष और सैकड़ों उपाय लगा दिये थे। एक काल की संस्कृति दूसरे काल से भिन्न पर मिलती जुलती और सिलसिलेवार है। यह सांस्कृतिक विभाजन इस प्रकार है :—

वर्त्तमान युग
- लौह युग
- ताम्र युग

सिन्ध काल

निकटवर्ती प्रस्तर-युग
- हाऊसियन काल
- कैम्पेगनियन काल
- अजीलियन काल

दूरवर्ती प्रस्तर-युग
- मेगडालियन काल—क्रो मैगनान जाति की संस्कृति
- साल्यूट्रियन काल
- आरिगनीशियन काल } —ग्रामाल्डी और निग्रो जाति की संस्कृति
- मॉस्टीरियन काल

पूर्व पाषाण-युग
- अच्यूलियन काल
- चीलियन काल —नियनडरथल जाति की संस्कृति

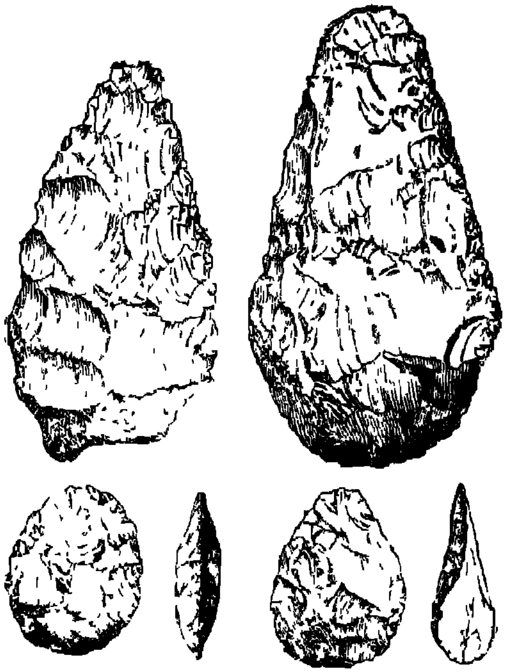
चीलियन काल के पूर्व का समय

स्ट्रैपियन काल

मैसहियन काल

मैसहियन काल के पूर्व का समय। होमोहिडलबर जैन्सिस जाति की संस्कृति

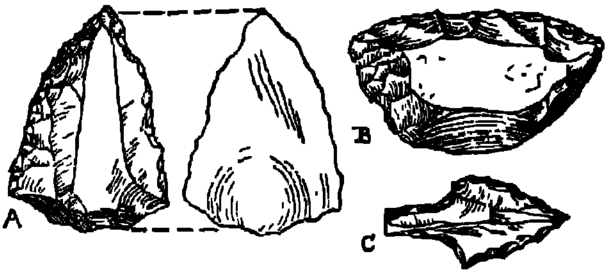
पियेकैन्थ्रोपस के बाद का सबसे पहिला मनुष्य होमोहिडलबरजेन्सिस था। उन दिनों की जलवायु गरम तथा नमी लिये हुए थी। इसके समय में पत्थर के औज़ार बनने लगे थे। मनुष्य पत्थर या किसी भी कड़ी वस्तु को तोड़ फोड़कर औज़ार बनाया करता था। काम होजाने पर उन्हें फेंक देना और जरूरत पड़ने पर फिर बनाना, यही उसका काम था। मगर इन औजारों ने अभी भयानक हथियारों का रूप धारण नहीं किया था। वे किसी की हत्या के साधन न थे। ये हथियार छोटे छोटे होते थे। ये किसी मरे हुए जानवर की खाल से बहुधा गोश्त खुरचने के काम में लाये जाते थे। इन दिनों मनुष्य जंगलों को छोड़कर पहाड़ों और गुफाओं में रहने लग गया था। पूर्व पाषाण काल की संस्कृति सारे संसार में पाई जाती है। परन्तु यह संस्कृति समयानुसार एक सी नहीं है। संसार के भिन्न भिन्न देशों के लोग या भिन्न भिन्न जातियों के लोग भिन्न भिन्न समय में



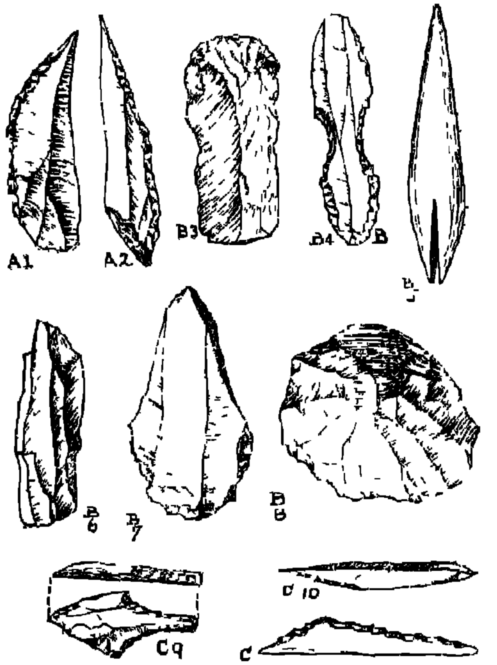
कूप द-पाग औजार

पाषाण काल से गुजरे हैं। दूरस्थ हिस्सों मे आगे पीछे यह संस्कृति पाई जाती है। इस युग मे हिडलबर्ग जाति के लोग इङ्गलैण्ड या यूरोप मे पाये जाते थे। ये लोग गुफाओं में रहते थे। भाषा का इनमें प्रचार हो गया था। पत्थर के छोटे छोटे हथियार बनाते थे। ये बड़े ऊंचे पूरे तथा बलवान होते थे। इनके दांत मनुष्य जैसे थे पर जबड़ा मनुष्य के जबड़े से काफ़ी बड़ा था।

चिलियन काल में यह पाषाण-संस्कृति पूरी तरह फैल चुकी थी। तरह तरह के पत्थर के हथियार बनने लगे थे। पत्थर के एक विशेष प्रकार के हथियार बनाये जाते थे जिन्हें हाथ से पकड़ने में सहूलियत होती थी। इन्हें दपाग कहते थे। मनुष्य गुफाओं में रहते थे। जलवायु गरम थी। जलघोड़े, ग़ुब्बार शेर, बड़े बड़े हाथी, गैंडे आदि जानवर पाये जाते थे। अच्युलियन काल में 'कूप दपाग' बढ़िया प्रकार के बनने लगे थे। हथियारों मे टेढ़ापन लाने की कोशिश होने लगी थी। इस ज़माने मे एक अण्डाकार आकृति का नया ही हथियार बना।

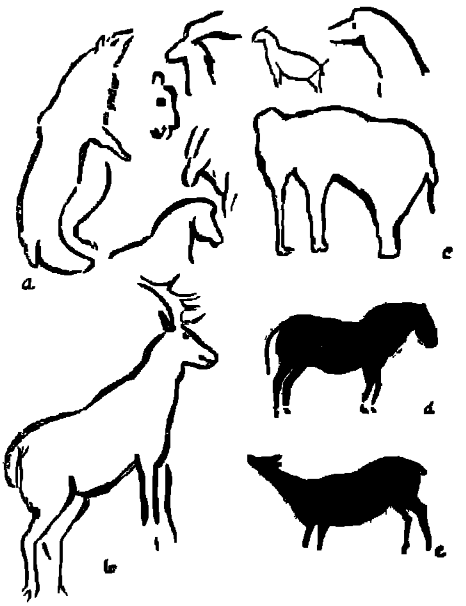


हड्डियों के औज़ार



पत्थर के पैने हथियार

चिलियन युग में नियनडरथल जाति के लोग रहते थे ये हमेशा गुफाओं में ही न रहते थे। कभी कभी गरमी के दिनों में महीनों मैदानों में पड़े रहते थे। पर गुफाएं ही इनके घर थे। इन गुफाओं के द्वार पर जानवरों की हड्डियों के और टूटे फूटे हथियारों के ढेर लगे रहते थे। ये गुफाएं दुश्मनों से या जंगली जानवरों से बचने के लिये ही काम मे लाई जाती थीं। उन दिनों यूरोप की जलवायु गुफाओं में रहने वालों के लिये अनुकूल न थी। वे अपने छोटे छोटे हथियारों से बड़े बड़े जानवर तक को मार लेते थे। शिकार में यह जाति तेज़ थी। ऐसा ज्ञात होता है कि ये लोग पत्थर के हथियारों से खाल पर से गोश्त खुरचकर उसे पहिनने के काम में लाने लगे थे, किन्तु उस समय तक कला का ज्ञान नहीं हुआ था।

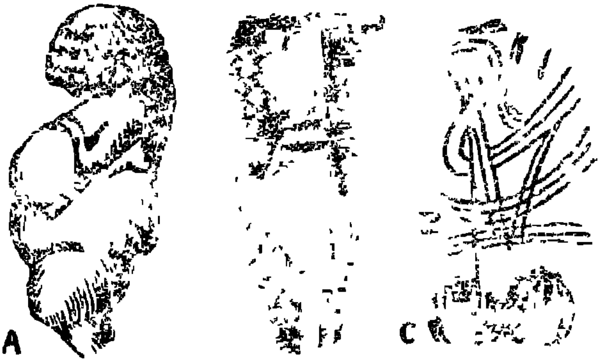


आरगिनीशियन काल की चित्रकला

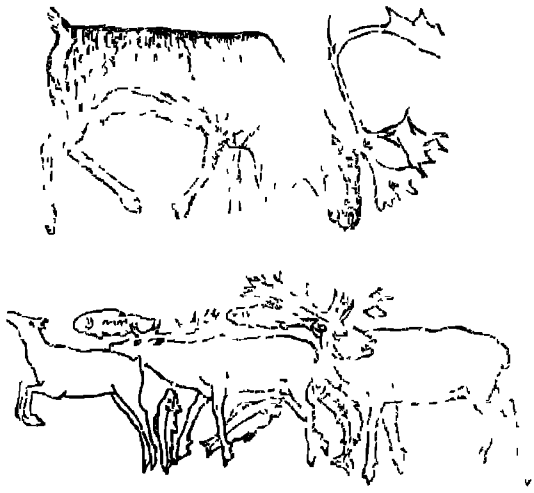
मासटीरियन युग में खुरचने वाले हथियार खूब प्रचलित हो गये थे। शायद उन दिनों चमड़ा पहनने

का रिवाज बढ गया था। इस युग मे हड्डियों से हथियार बनाने का प्रयत्न भी शुरू हुआ। जानवरों के कधों की हड्डिया मांस काटने के हथियार का काम देती थीं। बहुत से लोग साथ साथ रहा करते थे। इस कारण इन लोगों मे अपने विचार एक दूसरे पर प्रकट करने के लिये भाषा का उपयोग भी होने लगा था।

आरिगनीरियन काल में पत्थर के हथियार बनाने की योग्यता का विकास अपने उच्चतम शिखर पर पहुंच गया था। इस युग की यूरोप की सस्कृति मे अफ्रीका की और पूर्वीय सस्कृति का मिश्रण हुआ। इस युग के पत्थर के हथियार पैने, लम्बे तथा नुकीले होते थे। इनमे प्रायः हर प्रकार के काम लिये जा सकते थे। इनमे तीरों के सिरे खूब बनते थे। परन्तु इन सब हथियारों में बेट (handle) नहीं लगाया जाता था। पत्थरों को तोड़कर उनके पैने सिरे मे चाकू का काम लिया जाता था। इस युग में हड्डियों के हथियारों का भी ज़ोर रहा। उनसे तीरों के सिरे बनाये जाते थे। शायद इसी युग में अग्नि का उपयोग भी शुरू हुआ। इस काल के लोगों को यह महत्व प्राप्त है कि ये दुनिया के सबसे प्रथम कलाकार थे। इस काल से पहले कला का नाम तक भी न था। इस युग के भावुक मनुष्य ने अपनी भावनाओं को चित्रकला के द्वारा व्यक्त करना शुरू किया। इन लोगों की चित्रकारी के नमूने देखने से मालूम होता है कि बच्चों ने यहा वहा लकीरें खींची हैं या चित्र बनाये हैं। चित्र ज्यादहतर पशुओं के हैं। ये चित्र गुफाओं की दीवारों पर या छत पर ही बनाये जाते थे।



उस काल की शिल्पकला के कुछ नमूने



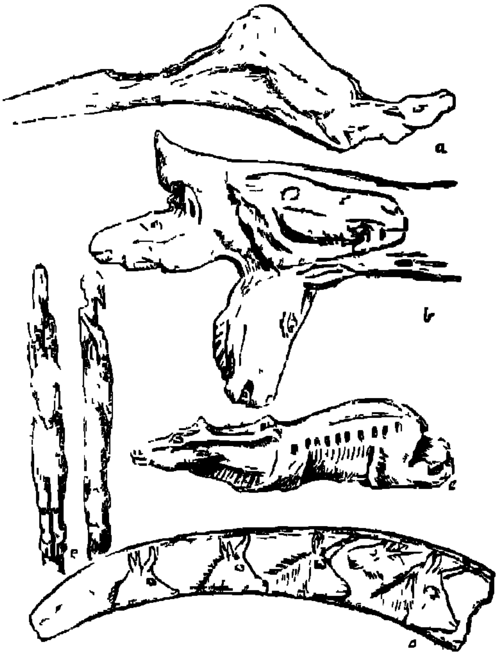
मैगडालीनियन काल की सर्वोत्कृष्ट चित्रकला

इस ज़माने के लोग निर्माण कला मे भी थोड़े बहुत परिचित हो गये थे। वे नक़्काशी भी करने लगे थे। यह नक़्काशी हड्डियों पर या पत्थर पर होती थी।

इस चित्र कला का खूब विकास हुआ और यह विकास मैगडालीनियन काल मे उच्चतम शिखर पर पहुँच गया। भैंसों, गैंडों, आदि जानवरों के चित्र खूब अच्छे बनाये जाते थे। इनलोगों की उस ज़माने की चित्रकारी देखकर आज भी कोई यह नहीं कह सकता कि वे लोग चित्रकार न थे। शिकार और नाच के दृश्य आदि गुफाओं की दीवारों पर अंकित किये जाते थे। इस प्रकार के चित्र स्पेन के कोगुल नामक स्थान में अंकित पाये जाते हैं। हिन्दुस्तान मे बादा, सिंगनपुर मिरजापुर और होशगा-

बाद आदि ज़िलों में भी ऐसे चित्र पाये गये हैं। ये पक्के लाल रंग से बनाये गये हैं।

इस प्रकार की उन्नति के बाद अजीलियन युग का भी अन्त हुआ और मनुष्य ने पाषण युग से निकल



अजीलियन युग के औज़ार

इन दिनों हड्डियों के ऊपर नक़्क़ाशी का काम ख़ूब होने लगा था। हथियारों की मूठ बहुधा ऐसी ही नक़्क़ाशीदार हड्डी की होती थी।

कर धातुओं के ऐतिहासिक युग में प्रवेश किया। किन्तु ऐतिहासिक काल की संस्कृति हमारे इस लेख से बाहर का विषय है।

आदि भारत का संस्कृति-केन्द्र, मोहन-जो-दड़ो

श्री सी आर राय, एम ए, बी एल, क्यूरेटर, विक्टोरिया म्यूजियम, कराची

पाठकों ने पाच हजार वर्ष पुराने शहर मोहन-जो-दड़ो का नाम सुना ही होगा। कुछ वर्ष हुये यह ज़मीन से खोदकर निकाला गया है। सिन्ध के लरकाना जिले के डोकरी नामक स्टेशन से यह शहर आठ मील दूर है। प्रसिद्ध भारतीय पुरातत्त्ववेत्ता स्वर्गीय राखालदास बैनर्जी ने सबसे पहले सन् १९२२ में इस मोहन-जो-दड़ो का पता लगाया था। तब से सरकारी पुरातत्त्व विभाग ने यहा काफी खुदाई की है। स्वर्गीय बैनर्जी की इस आश्चर्य-जनक खोज ने एक इतनी प्राचीन किन्तु उन्नततर सभ्यता को प्रकाश में ला दिया जिस सभ्यता से वर्त्तमान ससार बिलकुल अनभिज्ञ था।

हममें से हर एक के लिये यह सम्भव नहीं है कि हम केवल खण्डहरों और वहा से प्राप्त पुरातन अवशेषों को देखकर मोहन-जो-दड़ो के निवासियों की संस्कृति और सभ्यता के वास्तविक महत्व को ठीक ठीक समझ सकें। इसका असली महत्व तो तभी हमारी समझ में आ सकेगा जब हम प्राग-ऐतिहासिक काल की पट-भूमिका में मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता को समझें, और इन खुदाई से निकली हुई पुरातन छिन्न भिन्न वस्तुओं का सम्बन्ध मोहन-जो दड़ो के भूले हुए लोगों के साथ जोड़ें। अक्षर अक्षर जोड़कर मोहन-जो-दड़ो के इतिहास के पुनर्निर्माण की अनेक चेष्टाए की जा रही हैं और हर रोज हमें अतीत की इस झाकी पर नया प्रकाश मिलता है।

मुझे मोहन-जो-दड़ो को खोदने और उसके खण्डहरों का अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अपने व्यक्तिगत अनुभव और खोज से और अपने दूसरे साथियों के परिश्रम के परिणामों से इस सम्बन्ध में अब तक जो कुछ मालूम हो सका है उसकी रूप रेखा को पेश करने का मैं यहाँ प्रयत्न करूंगा, ताकि पाठक भारत की इस पुरातन सभ्यता का वास्तविक महत्व ठीक ठीक समझ सकें।

इतिहासज्ञ यह समझते थे कि लगभग चार हजार वर्ष पूर्व आर्य जाति भारत में आई; अर्थात् उस समय जबकि लोह युग का प्रारम्भिक काल था, और उन्होंने यहा की असभ्य, काले रंग की, चपटी नाक वाली जगली जातियों को हरा कर इस देश पर अधिकार कर लिया और आर्यों के आने के पहले यहा ऐसी कोई सभ्यता न थी जिसे सच्चे अर्थों में सभ्यता कहा जा सके। किन्तु अब मोहन-जो-दड़ो के पता लगने पर हमें अपनी इस धारणा को समूल उखाड़ कर फेंक देना होगा। मोहन-जो-दड़ो ने यह साबित कर दिया कि आर्यों के भारत आगमन से बहुत पहले सिन्ध में एक अत्यन्त ऊची सभ्यता का विस्तार था, जो आर्यों और अपनी समकालीन इलाम, मेसोपोटामिया, बाबुल और मिस्र की सभ्यता से कहीं आगे बढी हुई थी। मोहन-जो-दड़ो की खोज की यही सब में महत्वपूर्ण विशेषता है।

आर्यों के सब से प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में हमें अश्व और लोहे का वर्णन मिलता है। किन्तु मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता में अश्व और लोहे, दोनों का नाम निशान तक नहीं। मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता लोह युग के बहुत पहले से प्रारम्भ हुई, यानी प्रस्तर युग और ताम्र युग के सन्धिकाल में। उस समय प्रस्तर युग समाप्त हो रहा था और ताम्रयुग शुरू हो रहा था। मोहन-जो दड़ो की खुदाई में हमें पत्थर और ताबे दोनों के औजार काफी सख्या में मिले हैं।

सिन्धु नदी के पश्चिमी किनारे पर मोहन-जो-दड़ो के निवासियों ने अपने नगर की बुनियाद डाली।

समानान्तर में बिछी हुई नगर की सीधी चौड़ी सड़कों, गलियों और कूचों को देखकर यह मालूम होता है कि बहुत ही दक्ष इञ्जीनियरों ने इसका नक़्शा तय्यार किया होगा। ये सडकें और गलियें नगर के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैली हुई थीं और इनके दोनों किनारों पर पकी हुई ईंटों की इमारतें, महल और आलीशान मन्दिर थे। मानव सभ्यता को मोहन-जो-दड़ो की जो सब में बड़ी देन है वह है उसकी सफ़ाई के लिये जमीन के नीचे पटी हुई नालियों की पद्धति। उनकी यह नालियों की पद्धति बेहद पेचीदा किन्तु सम्पूर्ण थी और स्वच्छता के दृष्टिकोण से उसमें किसी तरह की कोई कमी न थी।

यहा यह बता देना उपयुक्त होगा कि आजकल भी ऐसे अनेक शहर हैं जहा इतनी अधिक सफाई और नालियों की यह पद्धति नहीं मिलेगी। यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि आज से पाच हजार वर्ष पहले नालियों की इतनी निर्दोष पद्धति मौजूद थी। इससे यह स्पष्ट है कि मोहन-जो-दड़ो के लोग कितने सभ्य रहे होंगे और उन्हें स्वच्छता का कितना अधिक ज्ञान रहा होगा।

सीधा राज्य शासन के अथवा म्युनिसिपैल्टी के मातहत शहर का प्रबन्ध होता था। लोगों में आपस में प्रेमपूर्ण सामाजिक सम्बन्ध था। हर नागरिक अपनी सस्कृति को उन्नत बनाने में अपना अपना कर्तव्य निभाता था। अलग अलग काम और अलग अलग धन्धे बटे हुए थे। व्यापारी, किसान, कसेरे, सुनार, चांदी का काम करने वाले, पत्थर का काम करने वाले; बसोड़, कुम्हार, जुलाहे, कुजड़े, बढ़ई, मैमार, इमारत बनाने वाले, हाथीदात और हड्डी का काम करने वाले, शंख और मोती का काम करने वाले, मछिहारे, शिकारी, पुरोहित, शिक्षक, सैनिक, तेली, नाई, भंगी आदि आदि मोहन-जो-दडो के कुछ पेशेवर लोग थे। वेश्याएं गाने और नाचने का पेशा करती थीं। मोहन-जो-दड़ो में एक नर्त्तकी की कांसे की मूर्ति मिली है जो नृत्य-अभिनय दिखा रही है।

हर परिवार अलग-अलग घरों में रहता था। हर घर में बहुत से कमरे, ऊचे-चौड़े दरवाज़े और खिड़किया होती थीं। हर घर का सदर दरवाज़ा सड़क पर खुलता था। सदर दरवाज़े के पास एक चौड़ा सा कमरा होता था, जहाँ चौकीदार, दरबान या कुली रहते थे। उसके बाद बैठकख़ाना होता था। बैठकख़ाने के बाद स्त्रियों के लिये अन्तःपुर होता था। घरों में अन्तःपुर में सोने का कमरा, रसोईघर आदि होते थे। हर घर में एक कुँआ होता था, जिसका पानी पीने के लिए और दूसरे कामों में इस्तेमाल होता था। दो-मंज़िले मकान भी होते थे। खुदाई से उनकी सीढ़ियों के अवशेष मिले हैं, और ये सीढ़िया हमारी आजकल की सीढ़ियों से बिल्कुल मिलती-जुलती हैं। जैसे ही हम उन मकानों के अन्दर घुसते हैं, हमारे सामने पाच हजार वर्ष के अतीत के चित्र आ जाते हैं और हम सोचने लगते हैं कि मोहन-जो-दड़ो के ये प्राचीन निवासी किस प्रकार अपना जीवन बिताते होंगे! इसी खडहर के अन्दर जनता के सुख-दुख, प्रेम और वियोग की कितनी ही कहानियां बिखरी पड़ी होंगी। छोटे छोटे बच्चों का रोना और मुसकराना भी यहा छाया होगा। प्रेमियों का प्रेम सम्भाषण भी यहा मूक मौन पड़ा होगा। उस अतीत के इतिहास की साक्षी केवल यह ईंटें और दीवारें रह गई हैं।

एक बड़ा मकान खोदकर निकाला गया है जो समझा जाता है कि राजमहल है। महल के बीच मे एक बड़ा सा ऊचा कमरा है, जिसमें खूब ऊचे ऊचे खम्भे हैं। इस बड़े कमरे के चारों तरफ़ पचासों छोटे-छोटे कमरे हैं। बड़े कमरे के पास एक पक्का तालाब है, जिसके चारों तरफ बारादरी और कमरे हैं। दो तरफ से सीढिया तालाब में उतरती हैं। एक बड़े कमरे से दूसरी गैर बारादरी से। तालाब स्वच्छ और ताजे जल से भरा रहता था। जब उसका पानी गन्दा हो जाता था तो एक बड़ी नाली से बाहर निकाल दिया जाता था। जिस तरह रोम की शाही महिलाएं अन्तःपुर के तालाब में स्नान

किया करती थीं उसी तरह मालूम होता है कि इस महल की महिलाएं भी इसी तालाब में नहाया करती होंगी। इस महल की सबसे अधिक आश्चर्य-जनक बात इसके बड़े-बड़े स्नानागार हैं, जिनकी बहुत सी दीवारें, फर्श और नालियां अब तक ज्यों की त्यों सुरक्षित हैं। यह कितनी हैरत की बात है कि जब प्राचीन काल में दुनियां के अधिकांश लोगों मे असभ्यता का अंधकार छाया हुआ था और उस समय जबकि आजकल की अनेक सभ्य जातियां जंगली हालत में थीं, मोहन-जो-दड़ो के निवासी इतने सभ्य और इतने शीलवान थे कि उन्हें स्नानागार बनाने की बात सूझी। हमने स्वयम् हजारों वर्ष बाद स्नानागार में नहाना सीखा है।

हालांकि उस जमाने के लोगों की पोशाक नष्ट हो गयी है फिर भी थोड़े बहुत जो अवशेष यहां पाये गये हैं, उससे हम उस जमाने के लोगों की पोशाक का अन्दाजा लगा सकते हैं। मिट्टी के खिलौने और मिट्टी के बरतनों पर बनी हुई चित्रकारी से हमें उस जमाने के लोगों का रहन सहन मालूम हो सकता है। पुरुष कमर से नीचे धोती पहना करते थे, सिरों पर पगड़ी बांधते थे, बदन में कमीज और कोट और पैरों मे जूता पहनते थे। स्त्रियां जरीदार और कामदार साड़ियाँ, जाकेट और लबादों का इस्तेमाल करती थीं।

इसमें जरा भर भी सन्देह नहीं कि मोहन-जो दड़ो की स्त्रियां बेहद फैशनेबुल थीं। उनके विविध प्रकार के गहनों और शृङ्गार की वस्तुओं के जो अवशेष पाये गये हैं, वे सब इस बात को साबित करते हैं कि वे तरह-तरह के जेवर कर्णफूल, झूमर, नथ, बाजबन्द, चूड़ियां और छल्ले आदि पहनती थीं। ये आभूषण सोने, चांदी, कांसे, हाथीदांत और दूसरे कीमती जवाहिरातों के बने होते थे। वे कलाई से लेकर कोहनी तक चूड़ियां पहनती थीं। सिन्ध की स्त्रियों में अब तक वही रिवाज पाया जाता है। उनकी जड़ाऊ मेखला सहज ही में दर्शकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेती थी। नाकों में वे जो नथ पहनती थीं वह एक बारीक सोने की जंजीर से कानों में बँधी रहती थी। इसी तरह की नथ का रिवाज अब तक सिन्ध और बंगाल की स्त्रियों में पाया जाता है। स्त्रियां अपने बालों को वेणियों में संवारती थीं और इन सब वेणियों का एक जूड़ा बनाती थीं। वे जूड़ों को सोने, चांदी और दूसरी कीमती धातुओं के हेयर पिनों से सजाया करती थीं। वे अपनी आंखों में सुरमा या काजल लगाती थीं। वे सीसे का दर्पण और लकड़ी और हाथी दांत की कंघियां इस्तेमाल करती थीं। इस तरह के दर्पण बंगाल में शादियों की रस्म में अब भी इस्तेमाल किये जाते हैं और इस तरह की कंघियां सिन्ध और बंगाल में अब भी पायी जाती हैं।

आज से पांच हजार वर्ष पहले के बच्चे हमारे आजकल के बच्चों की तरह ही खिलौने पसन्द करते थे। हम आजकल जिस तरह अपने बच्चों को गुड़िया और खिलौने देकर प्रसन्न होते हैं वैसे ही मोहन जो-दड़ो के लोग भी होते थे। खुदाई से जो अवशेष मिले हैं उसमें हमें अनगिनतो मिट्टी के खिलौने, गुड़ियां, और तरह तरह के पशु, पक्षी, सांप, स्त्री, पुरुष आदि की मूर्त्तियां मिली हैं। लड़कियों के लिए छोटे छोटे खाना पकाने के बरतन, जिससे वे खेल सकें, आदि भी वहां मिले हैं। उस जमाने में भी कलदार खिलौने बनाने का रिवाज था। एक सींग वाला सांड़ मिला है जिसमें चाबी भर देने से वह सिर हिलाने लगता है। पक्षियों से हाँके जाने वाले रथ भी मिले हैं। जिसमें चाबी भर देने से रथ अपने आप चलने लगता है। छोटे छोटे बच्चों के इस्तेमाल के लिये मिट्टी के बने हुये चमकदार रंगों की चूसनी पाई गई हैं। हमारे आजकल के खिलौनों से ये खिलौने इतने मिलते-जुलते हैं कि जब तक किसी को यह न बताया जाय कि ये पांच हजार वर्ष पुराने हैं, तब तक कोई अपने आप इस बात का विश्वास नहीं कर सकता, क्योंकि बिल्कुल उस तरह के खिलौने अब भी बंगाल के गांवों में बनाये जाते हैं। मोहन-जो-दड़ो में पाये गये खिलौनों में एक सीटी है, जो पांच हजार वर्ष बीत जाने पर भी वैसी की वैसी ही बनी हुई है। वह मिट्टी की बनी हुई एक मुर्गी की

शक्ल की है। पांच हज़ार साल बाद जब मैंने उसे बजाया तो उसकी आवाज़ में वही पुराना सुरीलापन मौजूद था।

मोहन-जो-दड़ो में जो बरतन इस्तेमाल किए जाते थे, वे सब कुम्हारों के चाक पर बने होते थे। उनके प्रमुख बरतन मर्तबान, प्याले, सुराहियां, गिलास और घड़े आदि थे। ये एक रंग और बहुधा कई रंगों से रंगे जाते थे और उनके ऊपर तरह-तरह की चित्रकारी बनाई जाती थी। जिस तरह आज चाक पर मिट्टी के बरतन बनाकर भट्टी में पकाने का रिवाज है ठीक उसी तरीके से पांच हजार साल पहले भी था। सिन्ध और भारत के दूसरे हिस्सों के कुम्हारों में और मोहन-जो दड़ो के कुम्हारों में इस दृष्टि से कोई अन्तर नहीं। वे तांबे के बरतनों का भी इस्तेमाल करते थे जिनमें घड़े लोटे, प्याले, खाना पकाने के बरतन, गिलास, कटोरे आदि थे। तांबे के दूसरे औजारों का भी उपयोग होता था जैसे कुल्हाड़ी, बल्लम छुरे, हथौड़े, उस्तुरे, चाकू, और हाथियों के चलाने के लिए अंकुश आदि। सुइयां और मछली पकड़ने के कांटे हूबहू इसी तरह के होते थे जिस तरह कि आजकल इस्तेमाल किये जाते हैं। एक कामदार लम्बे मुंह का घड़ा पाया गया है, जो कारीगर की कला और लोगों की सुन्दर रुचि का परिचायक है। शंख की बनी हुई चीजें भी बहुधा इस्तेमाल की जाती थीं, जैसे चूड़ियां, अंगूठियां, नाक की कीलें और सजावट के सामान। और भी अनेक चीजें शंख की बनाई जाती थीं। ढाका और बंगाल में बहुत से शंख के काम करने वाले ठीक उसी प्रकार से शंख की चीज़ें बनाते हैं और ठीक उसी तरह की शंख की चीज़ें बनती हैं जिस तरह आज से पांच हज़ार वर्ष पहले मोहन-जो दड़ो के कारीगर बनाते थे।

मोहन-जो-दड़ो से जो पुराने अवशेष खोदकर निकाले गये हैं उनमें बहुत सी चीजें देखने में नगण्य और बेकार सी लगती हैं। लेकिन यदि हम उन पर गम्भीरता पूर्वक विचार करें तब हमें उनकी वास्तविक क़ीमत का पता चलता है। इस बात का अनुमान करना और सही तख़मीना लगाना कि पांच हज़ार वर्ष पहले पुराने लोगों की संस्कृति कैसी थी, आसान काम नहीं है। इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि किस वातावरण और किस परिस्थिति में उन्होंने अपनी भौतिक संस्कृति की उन्नति की। यह आज हमारे लिये बहुत सहज है कि हम कहीं अधिक पैने औज़ारों से तरह तरह की चीज़ें बना लें। लेकिन क्या हम इस बात की कल्पना भी कर सकते हैं कि उस ज़माने में पत्थर के बेडौल हथियारों और तांबे के औज़ारों से कलापूर्ण वस्तुएं बनाने का काम कितना मुश्किल रहा होगा। हमारी देह और प्राणों को एक साथ रखने के लिये जीवन की जो आवश्यक वस्तुएं हैं उनका आविष्कार भी उसी ज़माने में हुआ है और आज हम अपने उन पूर्वजों के आविष्कारों के फल का उपभोग कर रहे हैं। हम यह सोच भी नहीं सकते कि इन आविष्कारों में उन्हें कितनी परेशानी उठानी पड़ी होगी। उनकी संस्कृति की छाप ज्यों की त्यों आज तक चली आती है। हम मुशकिल से समझ सकते हैं कि हमारे ऊपर उनका कितना ऋण है।

मोहन-जो दड़ो के लोग गाय, बैल, भैंस, भेड़, सुअर, हाथी और ऊंट आदि पालते थे। गेहूं बाजरा और कपास की खेती करते थे। सिन्ध आज भी भारतवर्ष में रुई का प्रमुख केन्द्र है। सिन्ध के बैल, गाय अब तक मशहूर हैं। क्या आजकल के रुई उपजाने वाले किसान और रुई के व्यापारी यह कल्पना कर सकते हैं कि वे अपने रुई के धन्धे के लिये मोहन-जो-दड़ो के लोगों के कितने ऋणी हैं! हम अब तक ठीक उसी तरह की बैलगाड़ी, ठीक वैसे ही कुम्हारों के चाक और मिट्टी के बरतन, उसी तरह की नावें, गहने और कपड़ा इस्तेमाल करते हैं कि जिनका प्रारम्भ उस ज़माने के लोगों ने किया था।

मोहन-जो-दड़ो के लोगों के भोजन में खास चीज़ गेहूं, बाजरा, चावल, तरकारियां, फल, मूल तरह तरह

के पशु-पक्षियों के मास जैसे भेड़, बकरी, गाय, सुअर, कछुआ, और बत्तख आदि होते थे। तरह तरह की मछलिया भी रहती थीं। गाय और भैंस का दूध और दूध की बनी हुई अन्य चीजें भी बनाई जाती थीं। स्त्रिया खाना बनाने की कला से खूब परिचित थीं। मसाला आजकल की तरह ही सिल पर पीसा जाता था।

मोहन-जो-दड़ो के लोगों की आमदनी का प्रमुख जरिया खेती तथा जल और थल के रास्ते व्यापार था। दुनियां के विविध देशों के साथ उनका वाणिज्य सम्बन्ध क़ायम था। आजकल के सिन्धी व्यापारी अपनी उसी विशेषता को बनाये हुए हैं। ये लोग आजकल की तरह के व्यापारी जहाज बनाते थे। ताम्र पत्र के चित्र मिले है जिनको देखने से पता चलता है कि आजकल सिन्ध नदी मे कोटरी और हैदराबाद में जो नावें चलती हैं ठीक उसी तरह की नावें उस जमाने में भी इस्तेमाल की जाती थीं।

बैलगाड़ी ही यातायात का मुख्य साधन था लेकिन लोग रथ, हाथी, भैंसे, बैल, और नावों को भी आने जाने के लिये काम में लाते थे।

मोहन-जो-दड़ो के लोगों की सील मुहरें (दस्तख़त की मोहरें) देखकर पता चलता है कि वे पढ़े लिखे थे। चकि हर घर में इस तरह की सील मुहरें पायी गयी हैं, इससे पता चलता है कि पढ़े-लिखे लोगों की तादाद बहुत ज्यादा थी। इन सील मुहरों में तरह तरह की तस्वीरें बनी हुई हैं, जैसे-ब्राह्मणों के नन्दी, हाथी, गैंडे भैंस और एक सींग के जानवर आदि। मोहन जो-दड़ो की लिपि चित्र-लिपि थी, जिसे पढ़ने में, दुर्भाग्य से, आज तक सफलता नहीं मिली। इस तरह की मुहरें समकालीन मैसोपोटामियां में भी इस्तेमाल की जाती थीं। समझा जाता है कि ये हुंडियों के काम में आती थीं क्योंकि अब तक उनके निश्चित इस्तेमाल की बात मालूम नहीं हो सकी है।

मोहन-जो-दड़ो के लोगों का धर्म, जहा तक जाना जा सकता है, शिव और दुर्गा की उपासना था। यह अब तक नहीं मालूम हुआ कि मोहन-जो-दड़ो के लोग मृतक व्यक्ति को गाड़ते थे या जलाते थे। खुदाई से खोपड़े और अस्थिपजर मिले हैं, लेकिन वे स्मशान या कब्रिस्तान में नहीं मिले। ये सड़कों पर और मकानों में पाये गये हैं। मैंने एक कमरे से स्त्री-पुरुष और बच्चों के एक दर्जन अस्थिपंजर खोदकर निकाले हैं। एक लड़की के हाथ का ढाचा अब तक है। उसमें ताबे की चूड़िया पड़ी हुई हैं और उसके सिर के पास हाथी दांत की कघी पड़ी हुई थी। हड्डिया थोड़ी थोड़ी जली हुई थीं, इससे मालूम होता है कि मकान में आग लग गई होगी और पूरा परिवार जलकर नष्ट हो गया होगा। इन लोगों के अस्थिपंजरों को देखकर यह कहा जा सकता है कि मोहन-जो-दड़ो के लोग वर्तमान भारत के लोगो से भिन्न नहीं थे। उनकी आकृति आजकल के सिन्धियों, गुजरातियों, मराठों, और बगालियों से मिलती जुलती थी।

सवाल उठता है मोहन-जो-दड़ो के लोग आखिर गये कहा और उन्होंने अपना नगर छोड़ क्यों दिया? कुछ लोगों का ख्याल है कि आर्यों ने उन्हें लड़ाई में हरा दिया और वे अपना नगर छोड़कर कहीं और रहने चले गये। लेकिन यह सम्पूर्ण सत्य नहीं है। मोहन-जो-दड़ो के निवासियों ने सिन्धु नदी की भयानक बाढ से परेशान होकर अपना नगर छोड़ दिया। हमें इस बात के निश्चित सबूत मिले हैं कि कई बार वे इस तरह की भयानक बाढ़ों के बाद मोहन-जो-दड़ो वापस लौट कर आये और उन्होंने पुराने खंडहरों पर नयी इमारतों की नींव डाली। किन्तु जब वह बाढ़ से तङ्ग होकर अन्तिम बार भागकर गये तो उसके बाद फिर कभी नहीं लौटे। मालूम होता है कि उन्होंने कोई दूसरा शहर आबाद कर लिया और फिर धीरे धीरे स्वयं सिन्ध से लेकर बगाल तक फैल गये और अपनी सस्कृति को भी फैलाया।

आधुनिक इतिहासज्ञों का यह कहना है कि आर्य लोगों की दो जातिया भारत में आकर बसीं। एक तो लम्बे सिर वाले आर्य, जिनके नमूने हमें पंजाबियों,

जाटों और अफगानों में मिलते हैं और जिस श्रेणी में भारत के ऋषि लोग भी थे। दूसरे वे ऊँचे मस्तक वाले लोग हैं जिनके नमूने हमें सिन्धी; गुजरातियों, मराठों और बंगालियों में मिलते हैं। यही लोग भारतवर्ष में पहले आये और इन्होंने ही सिन्ध की उपत्यका को आबाद किया। सम्भवतः यही लोग मोहन-जो दड़ो की सभ्यता के संस्थापक थे।

मोहन-जो-दड़ो की संस्कृति और भारत की आज-कल की संस्कृति पर एक दृष्टि डालते हुए हम इस आश्चर्यजनक नतीजे पर पहुंचते हैं कि न तो मोहन-जो-दड़ो के लोग ही नष्ट हुए हैं और न उनकी संस्कृति ही नष्ट हुई है। मोहन-जो-दड़ो निवासी और उनकी पुरातन संस्कृति हमें आज भी भारत के विविध भागों में दिखाई देती है। आर्यों और पुरातन आर्यों के समन्वय से एक नयी सभ्यता का जन्म हुआ जिसे हम हिन्दू सभ्यता कहते हैं। मोहन जो-दड़ो की संस्कृति को हम अपने भारतीय संस्कृति के इतिहास का आदि स्रोत कह सकते हैं।

वैदिक-संस्कृति के सात महान सन्देश

डाक्टर ए. सी दास, एम. ए , पी-एच डी.

वैदिक संस्कृति को ठीक-ठीक समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम उसकी अन्तर्निहित भावनाओं को और उसके संदेशों को पहले समझ लें। वेद का सबसे पहला संदेश है कि आर्य संस्कृति शुद्ध भारतीय संस्कृति है। उसने पञ्जाब में जन्म लिया और अन्य भारतीय संस्कृतियों की अपेक्षा वह सबसे पुरानी है। भारत ही प्राचीन देशवासियों की सभ्यता का उत्पत्तिस्थल है। यहीं हमारे पूर्वजों ने जन्म लिया और हजारों वर्ष तक इस सभ्यता के निर्माण में उन्होंने अकथनीय प्रयत्न किये। उन्होंने अपनी तपस्या से इस तरह की सभ्यता निर्माण की जो अपने दृष्टिकोण में उदार और सारी मानवता के कल्याण की भावना की द्योतक है। पश्चात्य विद्वान अपनी अनिश्चित खोज के आधार पर वैदिक सभ्यता को दो हजार ईसा पूर्व से पहले का नहीं मानते। किन्तु ऋग्वेद का गम्भीर अध्ययन हमें यह विश्वास करा देता है कि उनका यह अन्दाज बिल्कुल गलत है। ऋग्वेद के अन्दर इस बात के अनेकों प्रमाण मिलते हैं, जो हमे स्पष्ट करते हैं कि वैदिक संस्कृति अति प्राचीन है। वेदों के मन्त्रों से हमें पता चलता है कि जिस जमाने में ऋग्वेद की ऋचाएं लिखी गयीं, उस समय उत्तर भारत की भौगोलिक स्थिति दूसरे तरह की थी। ऋग्वेद के काल में सरस्वती और शतद्रु नदियां सीधे समुद्र में गिरती थीं। उस समय समुद्र पञ्जाब के ठीक दक्षिण में था जहां पर आजकल राजपूताना है।*

ऋग्वेद के अन्दर हमें और भी ऐसी ऐतिहासिक सामग्री मिली है, जिससे हमे प्राचीन भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में अपनी धारणा और अपने विचार बदलने पड़ेंगे। हमें यह मानना पड़ेगा कि हमारे पूर्वज अनन्तकाल से इसी मनोरम भूमि में पैदा हुए, पनपे और यहीं उन्होंने अपनी संस्कृति और सभ्यता का संगठन किया। यह उस जमाने की बात है जबकि संसार की दूसरी प्रचलित सभ्यताएं जिनका आज नाम और निशान तक मिट गया, उस समय अपनी प्रारम्भिक अवस्था में थीं। हमारी इस पुण्यभूमि का ज़र्रा ज़र्रा हमारे महान पूर्वजों के चरणों से पवित्र किया हुआ है। यही भूमि हमारे पूर्वजों की मातृभूमि है और यहीं हमारे पूर्वजों ने जन्म लिया और उन्नति की।

वेद का दूसरा महान संदेश

वेद का दूसरा महान सन्देश है कि हमारे पूर्वज एक संगठित जाति थे। आजकल की तरह उनका समाज असंख्य जातियों में बंटा हुआ न था। उनमें आपस के खान-पान में और शादी-ब्याह में कोई प्रतिबन्ध न था। ऋग्वेद की रचना को हम तीन महाकालों में बांट सकते हैं। इनमें तीसरे काल के अन्त में, दसवें मण्डल में, केवल एक मन्त्र ऐसा मिलता है, जिसमें चातुर्वर्ण्य का जिक्र है।* अनेक भाष्यकारों ने यह कहा है कि यह मन्त्र बाद में जोड़ दिया गया। लेकिन मैं इस बात पर विश्वास नहीं करता। इस मन्त्र से यह साबित होता है कि धीरे धीरे भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था का विकास हो रहा था। किन्तु यह वर्ण व्यवस्था गुण और कर्म के आधार पर प्रारम्भ हुई थी। कहीं भी इस बात का कोई सबूत नहीं मिलता कि जाति-पाति का बन्धन वैदिक काल में इतना ही कठोर था जितना आजकल है। उस समय कोई भी

---

* ऋगवेद ७,९५,२,३,३३,२

* ऋग्वेद १०,९०,१२

ऐसा प्रतिबन्ध न था जिसके अनुसार एक वर्ण के व्यक्ति दूसरे वर्ण में शामिल न हो सकें। उस समय भिन्न भिन्न जातियाँ भिन्न-भिन्न कर्म-वर्ग थीं और उनमें आपस में अन्तर्जातीय खान-पान और अन्तर्जातीय विवाहों का कोई बन्धन न था।

वैदिक काल में आर्यों की केवल एक ही जाति थी और बाद में उस एक जाति से गुण कर्म के अनुसार चार वर्ण निकले। प्रारम्भिक वैदिक काल में कोई जाति-पाति न थी। जब पहले पहल वर्ण व्यवस्था बनी तो वह बहुत ही लचीली थी। किसी एक वर्ण के लोग किसी दूसरे वर्ण में शामिल हो सकते थे। इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि उस जमाने में आपस के खान-पान में कोई बन्धन था। केवल ऐसे लोग जो गन्दा काम करते थे उनके ऊपर कुछ पाबन्दी लगा दी गयी थीं। किन्तु वह पाबन्दियां ऐसी नहीं थीं कि जिससे गन्दा काम करने वालों को हरिजन कहा जा सके। महाभारत में हमें एक ऐसे व्याध का नाम मिलता है जो धर्म-व्याध कहलाता था और जिससे अनेक धर्म-परायण ब्राह्मणों ने जाकर गुरु-दीक्षा ली थी। वैश्य तुलाधार भी ब्राह्मणों के आध्यात्मिक गुरु थे। इस बात से पता चलता है कि जाति-पाति का भेद-भाव प्राचीन भारत में नहीं था और ऋग्वेद के काल में तो था ही नहीं। आर्य लोग उदार वृत्ति के सगठित और आत्मनिर्भर मनुष्य थे।

वेद का तीसरा महान सदेश

वेद का तीसरा महान संदेश है कि स्त्रियों को पुरुषों के समान ही अधिकार थे। वैदिक काल में आर्य स्त्रियों का पद अत्यन्त उच्च था। बालविवाह का उस समय नाम निशान न था। लड़कियां जवान होने तक अपने पिता के ही घर में रहती थी और उसके बाद उन्हें अपने लिये पति चुनने का पूरा अधिकार था। गृहिणी की हैसियत से वह अपने घर की स्वामिनी होती थीं। नौकर-चाकरों पर उन्हें पूरा अधिकार होता था। वे अपने पति के साथ नित्य यज्ञ, हवन करती थीं और देवता और पितरों की पूजा करती थीं। उनके पति, उनकी संतान और उनके आत्मीय उनका आदर करते थे। स्त्रियां भी ऋषियों का पद प्राप्त कर सकती थीं। घोषा, लोप मुद्रा और विश्ववरा इसकी उदाहरण हैं। इन्होंने वैदिक मन्त्रों की रचना की है। विश्ववरा ने यज्ञ में होत्री का पद तक ग्रहण किया था। वैदिककाल की शक्तिदात्री, उदार स्त्रियां शक्तिशाली और उदार सन्तानों की जननी थीं। प्राचीन भारत कमजोर और कायरों का देश नहीं था। ऋषि तक ऐसी सन्तानों की कामना करते थे, जो धैर्यवान, वीर्यवान और बलशाली हों, जो युद्ध क्षेत्र में हर्ष के साथ अपने शत्रुओं का मुकाबला करें[1]। जननी ही अपनी सन्तानों के दिमागों को ढालती थीं। वे उनमें वीरता, सच्चाई और निर्भयता के भाव भरती थीं[2]। वैदिक काल में स्त्रियां श्रेष्ठ सामाजिक और राजनैतिक विचारों से पूर्ण थीं।

वेद का चौथा महान सदेश

वेद का चौथा महान सन्देश है कि हमारे पूर्वज जनतन्त्रात्मक विचारों के थे। स्वेच्छाचारी शासक और महन्तों का उनपर कोई असर नहीं था। वे अपने शासन-विधान को स्वयम् ही निर्मित करते थे। वे अपना राजा स्वयम् ही चुनते थे और इस तरह के राजा और प्रतिनिधि पचायत द्वारा चलने वाली सरकार को वह खुशी से राज-कर देते थे। जब शासक अपना कर्त्तव्य पूरा नहीं करते थे तो जनता उन्हें कर देना बन्द कर देती थी। जनता को अत्याचारी राजा को गद्दी से उतार देने तक का पूरा अधिकार था। हमारे अंग्रेज शासक यह बात बराबर हमारे कानों में डालते रहते हैं कि भारतीय जनता के अन्दर जनतन्त्रात्मक प्रवृत्ति तो कभी थी ही नहीं, और सबसे पहले अंग्रेजों ने ही इस तरह का शासन-विधान भारतभूमि में प्रचलित किया। वे हमसे यह कहते रहते हैं कि अभी हम लोगों को युगों तक अपने अंगरेज महाप्रभुओं

१—ऋग्वेद ५,२३ १,२,६,३१,१
२—ऋग्वेद ३,४,३

के संरक्षण में जनतन्त्रात्मक शासन की शिक्षा लेनी पड़ेगी। हमारा यह कहना है और यह मैं निःसंकोच भाव से कह रहा हूं कि अंगरेज़ों के इस थोथे दावे को वैदिक इतिहास सम्पूर्णतः ग़लत साबित करता है। वैदिक साहित्य का मनन करने से यह पता चलता है कि भारतीय आर्य जाति के अन्दर जनतन्त्रात्मक प्रवृत्ति कूट-कूट कर भरी थी। यह हो सकता है कि विपरीत अवस्था में उन्होंने कुछ काल के लिये अपनी इस प्रवृत्ति को थोड़ी देर के लिये भले ही दबाया हो।

वेद का पांचवां महान सन्देश

वेद का पांचवां महान सन्देश यह है कि हम स्वयम् अपने नैतिक और आध्यात्मिक बल से उन्नति कर सकते हैं और अपनी इस उन्नति के सन्देश को संसार की अन्य मानव जातियों के निकट पहुंचा सकते हैं। हमारी इसी सन्देश-भावना से भारत के एक बृहत् संस्करण विशाल-भारत का निर्माण हुआ। केवल वैदिक काल में ही नहीं उसके बाद के बौद्ध काल में भी बौद्ध प्रचारकों ने भारत के बाहर जाकर संसार के कोने-कोने में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। ऋग्वैदिक काल में आर्य व्यापारी अपने तिजारती जहाजों पर माल लादकर उस समय की दुनिया के सभ्य देशों में जाते थे। ऋग्वेद में इस बात की चर्चा है कि किस तरह हमारे यह प्राचीन व्यापारी बाहर के देशों से धन धान्य लाकर अपने देश को समृद्ध बनाते और भारत से अपनी महान् संस्कृति ले जाकर मैसोपोटामिया, फोनीसिया और मिस्र आदि देशों में उसका प्रचार करते थे। प्रोफैसर निलसन ने नार्वे में पाये गये कुछ अवशेषों के आधार पर इस बात का पता लगाया है कि प्राचीन काल में कुछ भारतीय व्यापारियों ने नार्वे जाकर वहां एक अत्यन्त उन्नत सभ्यता को जन्म दिया। प्रोफेसर निलसन को निश्चय है कि वे व्यापारी भारतीय ही थे।* इस बात के निश्चित सबूत मिलते हैं कि भारतीय व्यापारी चीन, जापान और अमरीका तक जाते थे। भारतीय व्यापारियों ने भिन्न-भिन्न देशों में अपने उपनिवेश क़ायम किये। उन्होंने जगह जगह जाकर महलों, इमारतों और मन्दिरों का निर्माण किया। जावा, सुमात्रा, चंपा और पश्चिम एशिया के कुछ हिस्सों में आर्य सभ्यता के असंख्य प्रमाण बिखरे हुए पड़े हैं। हमारी इस सन्देशवाहकता और प्रचार-भावना को सबसे बड़ा धक्का उस समय लगा जब आर्य जातियों ने अपना जातीय संगठन संकुचित और अनुदार बना लिया। उन्होंने स्वयम् अपना एक बड़ा अंग अन्त्यज कहकर काट दिया। सारा देश जाति-पांति के झूठे भेदों से टुकड़े टुकड़े हो गया। हर जाति और हर वर्ग एक दूसरे से अलग और स्वाधीन हो गया। इन सब बातों की वजह से कोई मिलाने वाली दृढ कड़ी न रह गयी। हम यहीं पर नहीं रुके। हमने आर्यों की चार जातियों को भी अनेक वर्गों और उपवर्गों में बांट दिया। हर वर्ग एक दूसरे से स्वाधीन और अलग हो गया। अन्तर जातीय विवाह और खान-पान के सारे सम्बन्ध टूट गये। भेद भाव का यह चक्र निरन्तर उग्रता से घूमता गया और हर एक के कन्धा पर ब्राह्मणों की नैतिक दासता लाद दी गयी। भारतीय सभ्यता एक गुलाम सभ्यता बनकर रह गयी। हमारी इसी जातीय कमजोरी ने नैतिक गुलामी का दुर्ग-द्वार खोल दिया। आज परिणाम स्वरूप हमें अपने इस महान् और प्राचीन देश का समस्त ऐश्वर्य और गौरव धूल में पड़ा लौटता दिखायी दे रहा है। आज सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक और राजनैतिक अधःपतन के बीच में से हम निकल रहे हैं। हम अपने को अशक्त और हतवीर्य पा रहे हैं। सभ्यता की दौड़ में हमारा कर्तव्य क्या है, हम इसे स्वयम् नहीं समझ पा रहे हैं। किन्तु यह निश्चित है कि हम उस समय तक स्वाधीन राष्ट्र नहीं बन सकते, जब तक हम अपने अन्दर के इस जातीय भेद-भाव को सर्वथा नष्ट नहीं कर देते; ऐसे भेद और उपभेद जिन्होंने प्रत्येक वर्गों को और सम्प्रदायों को क्षीण कर दिया है और हमें मानसिक और शारीरिक गुलामी के बन्धनों में जकड़ दिया है।

* Pre Historic Times, PP 77-71

वेद का छठवां महान सन्देश

वेद का छठवा सन्देश है कि भारत एक किसान देश है। यदि हमें राष्ट्र की हैसियत से उन्नति करना है तो हमें खेती को अमित प्रोत्साहन देना होगा। हमें अपने अर्थशास्त्र की धुरी अब शहरों से हटाकर गावों में बनानी होगी। आर्थिक दृष्टि से हमें अपने गाँवों को प्रोत्साहन देना होगा। हर आवश्यक वस्तु को, यहा तक कि अपने पहनने के कपड़ों को भी, हमें गावों मे बनाना पड़ेगा। वैदिक आर्य एक किसान जाति थे। झुण्ड की झुण्ड गायें उनके पास थीं, जो उनकी सबसे बड़ी सम्पत्ति थीं। वे अपनी आवश्यकता की हर वस्तु को स्वयम् तैयार करते थे। यूँ तो कहने के लिए हम गो माता (गभि-माता या गभि-देवता) के परम भक्त हैं, किन्तु वास्तव मे वर्तमान सभ्य ससार में गो माता का हमसे अधिक भयानक शत्रु कोई नहीं है। खेती, गो-पालन और ग्रामोन्नति प्राचीन पूर्वजों के प्रमुख धन्धे थे। किन्तु अपनी मानसिक गुलामी के दिनों में हमने अपने यही तीनों धन्धे अपढ़ और निपट मूर्ख मनुष्यों के हवाले कर दिये हैं। और इसका परिणाम यह हुआ कि हम राष्ट्र की हैसियत से नंगे, भूखे और अशक्त हो गये। हमे अपनी इस मानसिक गुलामी से ऊपर उठना होगा और फिर से हलधर बनना होगा। जाति-पाति के झूठे भेदों को भुलाकर हलों को हाथ में उठाना होगा और अपनी गायों की नस्ल को बढ़िया बनाना होगा। हमें अपने उन आर्य पूर्वजों की करुण भावनाओं को ध्यान में रखना होगा कि जिन्होंने अनेक मंत्रों में अपने पशुओं को देवता के सदृश्य माना है।* हमें वेद के महान् मत्रों को अपने दिल में बैठा लेना चाहिए और बहैसियत एक किसान राष्ट्र के यदि हमें जीवित रहना है और उन्नति करना है तो हमें वेद के इस महान सदेश को हर तरह से व्यवहार में लाना होगा।

वेद का सातवां महान सन्देश

वेद का सातवा महान सदेश यह है कि यदि हमें ब्रह्म से साक्षात्कार करना है तो हमें सबसे पहले आत्मदर्शन करना होगा, अपने आपको जानना होगा। जब हम अपने आप को जान लेंगे उस समय पूरी तौर से यह बात हमारी नज़रों में आजायेगी कि जो ब्रह्म आत्म-घट में है, वही ब्रह्म समस्त मानवता के घट-घट में विराजमान् है। फिर हमारी नजरों के सामने मानव संसार एक महान कुटुम्ब की तरह दिखाई देगा। हम न केवल बुद्धिवादी दर्शन-शास्त्री ही रहेंगे, बल्कि अपने नैतिक आदर्शों को व्यावहारिक रूप भी दे सकेंगे। सारा मानव समाज हमारे लिए एक वर्ग होगा और हम साम्प्रदायिक नीति और धार्मिक भेद भाव से ऊपर उठकर न केवल मनुष्यों में बल्कि प्राणिमात्र के अन्दर अपने ही रूप को देखेंगे और इस तरह हम अपने उन दिव्य ऋषियों के महान सदेश का, जिसे आज से ढाई हजार वर्ष पहले भगवान् बुद्ध ने दुहराया था, फिर से प्रचार करेंगे। यह वह सन्देश है जिसे प्राप्त करने के लिए भारतीय आत्मा आज व्याकुल और बेचैन है। यही भारतीय संस्कृति का मूल-मत्र है और यही वेदों के समस्त अन्य संदेशों से महान सन्देश है! आज सारी दुनिया इसी सन्देश को सुनने के लिए लालायित है। क्या हम दुनिया के कोने-कोने तक इस सदेश को पहुंचाकर सन्तप्त मानवता को सुख और आनन्द पहुँचा सकेंगे!

मानव जाति आज अपने स्वार्थों में अनुरक्त होकर खूंखार जगली जानवरों की तरह एक दूसरे को निगलने के घृणित काम में लगी हुई है। यदि हमें फिर से विश्व-गुरु का पद स्वीकार करना है, कि जिस पद पर हमारे पूर्वज हजारों वर्ष तक योग्यता पूर्वक आसीन रहे, तो हमें दीर्घ काल तक आत्मत्याग और कठोर अनुशासन के बीच से निकलना पड़ेगा। मानव कल्याण के लिए हमें बड़े से बड़े त्याग के लिए तैयार होना होगा। क्या हम वर्तमान सन्तप्त और पीड़ित ससार में भारतीय सस्कृति के इस महान सन्देश के प्रचार की ज़िम्मेवारी ले सकेंगे?

* ऋग्वेद ६,२८

भारतीय संस्कृति का दिग्दर्शन

डाक्टर देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर, एम ए., पी-एच. डी., डि लिट्, एफ. ए एस. बी.

पचीस तीस वर्ष पूर्व स्वर्गीय ए० एम० टी० जेक्सन ने हमारा ध्यान हिन्दू धर्म के आकर्षक तत्वों की ओर दिलाया था कि किस तरह मुसलमानों और यूरोपियनों को छोड़कर हिन्दू धर्म ने प्रत्येक विदेशी आक्रामक को अपनी सहति में शामिल करके उन्हें अपने में घुला मिला लिया। श्री जेक्सन लिखते हैं· "वे भारतीय अपने देश को वास्तव में बहुत थोड़ा जानते हैं, जो इस बात को नहीं समझते कि किस तरह उनकी सभ्यता ने मध्य एशिया की जगली जातियों को इतना शिक्षित और सभ्य बनाया कि खूखार तुर्कोमन कबीलों की बहुत सी शाखाए अनेक प्रख्यात हिन्दू राजपूत कुलों में परिवर्तित होगईं।" श्री जेक्सन की इस राय पर टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि अब हम यह जान गये हैं कि मुसलमानों के आने के पूर्व जितनी भी विदेशी जातिया भारत मे आईं उन सबों ने हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया। न केवल शक, पह्लव, हूण, गुर्जर और अन्य जगली जातियों ने ही हिन्दू धर्म को स्वीकार किया, बल्कि सभ्य यवनों और ग्रीकों ने भी हिन्दू सस्कृति और हिन्दू धर्म के सामने नम्रता से सिर झुकाया। वे न केवल एक या दूसरे हिन्दू सम्प्रदाय मे दीक्षित हुए, बल्कि उन्होंने अपने नामों को भी भारतीय नामो मे बदल लिया। हालाकि भारतवर्ष अपने आप एक महाद्वीप है फिर भी यह देखकर आश्चर्य होता है कि हिन्दू सस्कृति भारतवर्ष की सीमाओं से बाहर निकलकर अन्य देशों मे भी खूब फैली। भारतीय सभ्यता की लहरें सीमा-बन्धनों को तोड़कर पूर्व एशिया में तिब्बत, चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, बाली आदि में फैल गयीं। तिब्बत, चीन और जापान ने न सिर्फ़ बौद्ध धर्म को ही स्वीकार किया, बल्कि उन्होंने बौद्ध दर्शन को भी अपने जीवन में उतार लिया। जैसे जैसे हम हिन्दुस्तान से दक्षिण की ओर जाते हैं हम देखते हैं, कि अनेक देशों के नाम तक मूल सस्कृत नाम हैं, जैसे ब्रह्मा—ब्रह्मदेश, कम्बोडिया—कम्बोज और जावा—यव। यही नहीं स्याम की पुरानी राजधानी का नाम अयोध्या था और अनाम देश में चम्पा नामक स्थान था। इन देशों में बहुत से शिलालेख और मूर्त्तिया मिली हैं, जिनसे हम यह निश्चित नतीजा निकाल सकते हैं कि इन देशों में जो धर्म, राजनीति और सामाजिक सस्थाए प्रचलित थीं, वे ख़ास तौर पर भारतीय थीं। जो कैफियत पूर्व-उत्तर और दक्षिण-उत्तर की थी, वही भारत के पश्चिम-उत्तर मे भी थी। सर आरेल स्टीन ने चीन के दक्षिण और खोतान मे जो खुदाई की है, उसमें इस तरह के, निजी और सरकारी, सैकड़ों उल्लेख मिले हैं। और यह उल्लेख हमे क्या बताते हैं? निस्सन्देह यहा जो धर्म प्रचलित था वह तो बौद्ध धर्म था ही, किन्तु इन अवशेषों को देखकर यह पता चलता है कि इन देशों के लोगों ने और भी अनेक बातें भारत से सीखी हैं। लिखावट में जो लिपि इस्तेमाल की गयी है, वह भारतीय खरोष्ठि लिपि है। उन उल्लेखों की भाषा उस प्राकृत की तरह है, जो ईस्वी सदी के शुरू मे भारत मे प्रचलित थी। इस तरह पता चलता है कि खोतान के लोगों ने हजारों वर्ष पूर्व न केवल भाषा और लिपि का ही भारत से क़र्ज़ा लिया वरन् धर्म और सस्कृति का भी। प्राचीन भारतीय न केवल उपनिवेश बसाते गये बल्कि उन्होंने भारत के धर्म और उसकी सस्कृति का भी उन देशों में प्रचार किया। भारतवासी एशियाई देशों के शिक्षक और गुरू भी थे।

प्राचीन भारतीय संस्कृति

यदि शुरू-शुरू में भारतवासी एशिया की सभ्यता के निर्माता थे, तो निस्सन्देह उन्होंने अपनी सस्कृति और अपने साहित्य को बहुत ऊंचा उठाया होगा।

यूरोपियन लेखक प्रोफ़ेसर हीरेन प्राचीन भारतीयों को "कवि" कहता है। एक दूसरा यूरोपियन विद्वान मैक्समूलर भारत को 'दर्शन शास्त्र का देश" कहता है। एक तीसरा ब्राउन कहता है कि "भारत संसार के साहित्य और धर्म का आदि-पूर्वज है।" प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता की अनेक बातों की यूरोपीय विद्वानों ने प्रशंसा की है। भारतीयों की कल्पना-शक्ति की क्षमता ने उन्हें मूक बना दिया है। हम यहां पर प्राचीन भारतीय संस्कृति की थोड़ी सी बातों पर ग़ौर करेंगे, जिनके सम्बन्ध में अंगरेज़ राजनीतिज्ञ और यूरोपियन विद्वानों ने कुछ कहा है और जिनका हमारे प्राचीन धर्मग्रन्थों की कविताओं से सम्बन्ध है। माउण्ट स्टुअर्ट एलफिंस्टन कहता है "कि जिन लोगों ने मूल संस्कृत में उन कविताओं का अध्ययन किया है, उनकी प्रशंसा का कोई पार नहीं। इन कविताओं के सौन्दर्य ने हम में से उन लोगों को और भी अधिक आकर्षित किया है, जो स्वयम् कलाकार थे। उनकी प्रशंसा केवल उन टीकाकारों तक ही सीमित नहीं है, जिन्होंने ख़ासतौर पर भारतीय साहित्य का अध्ययन किया है। मिल मैन, विलसन और जोन्स से भी बढ़कर भारतीय साहित्य के प्रशंसक मौजूद हैं।"

डाक्टर अल्फ्रेड रसल वार्ल्स जैसा योग्य वैज्ञानिक, जो डारविन का समकालीन और उसका योग्यतम सहयोगी था, कहता है—"मैंने अभी महाभारत का अध्ययन समाप्त किया है, जो सचमुच बड़ा ही सुन्दर ग्रंथ है और मेरी समझ में तो इलियट से कहीं ज़्यादा सुन्दर है।" अंगरेज़ दार्शनिक हरबर्ट स्पेन्सर इलियट की इसलिये निन्दा करता है कि इलियट के विषय-तत्त्व निरन्तर पाशविक भावनाओं को प्रोत्साहन देते हैं और पढ़नेवाले के मन में खूंख़ार प्रवृत्तियां जगाते हैं। मानियर विलियम्स कहता है—"भारत का यह महाकाव्य महाभारत मनुष्य को 'होमर' से कहीं अधिक ऊंचे पैराये पर उठाता है। रामायण और महाभारत का युद्ध-क्षेत्र क्रूरताओं और बर्बरता से निकृष्ट नहीं बनाया गया। अयोध्या और लंका के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्पार्टा और ट्राय के मुक़ाबिले में ये जगहें सुरुचि और समृद्धि में कहीं चढ़ी बढ़ी थीं।"

जहां तक संस्कृत का सम्बन्ध है, हममें से बहुत से लोग जानते हैं कि जर्मन कवि गेटे ने जब कालिदास कृत शकुन्तला नाटक का जर्मन अनुवाद पढ़ा, तो वह प्रसन्नता से भर गया और गाने लगा।—

हे नवयुवती सुन्दरी, क्या तुम अपने ही यौवन-भार से जर्जरित हो उठोगी?

क्या तुम उन सब गुणों से प्रभावित होगी जिनसे आत्मा उत्फुल होती है?

क्या तुम पृथ्वी या आकाश के समन्वय से बनी हो?

शकुन्तला का नाम लेते ही ये सारे भाव मेरी कल्पना में छा जाते हैं।

कालिदास की इस अमर रचना ने गेटे के दिमाग़ पर इतना गहरा और ज़बरदस्त असर डाला कि कहा जाता है कि शकुन्तला नाटक ने ही उसे अपने 'फ़ास्ट' की बहुत कुछ कल्पना दी। कालिदास के समस्त नाटक और शूद्रक का मृच्छकटिक नाटक थोड़े से परिवर्तनों के साथ यूरोपीय रंगमंच पर खेला गया और बेशुमार जनता ने उसकी प्रशंसा की। संस्कृत कविता के सम्बन्ध में प्रोफेसर मेकडोनल का यह वाक्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—"जो लोग संस्कृत से पूरी तरह परिचित हैं वही प्राचीन संस्कृत साहित्य को पूरी तरह समझ सकते हैं। मेरा परिचित एक प्रसिद्ध यूरोपियन विद्वान् है, जिसे संस्कृत को छोड़ कर अन्य किसी भाषा के साहित्य में आनन्द ही नहीं मिलता।" पंचतंत्र और हितोपदेश की ही बात को ले लीजिये जिसका इंग्लिस्तान में काफ़ी अध्ययन किया जाता है; उस इंग्लिस्तान में जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह बहुत गद्यात्मक है। इन संस्कृत ग्रन्थों में अत्यन्त मूल्यवान् और सुभाषित श्लोक हैं। इनमें से एक श्लोक का जिसमें नश्वर जीवन का वर्णन है, अंग्रेज़ी अनुवाद इस प्रकार है—

"महा सागर की लहरों में तैरते हुए लकड़ी के दो लट्ठे आकर मिले और थोड़ी देर मिलकर हमेशा के लिए अलग होगये। मानव देहधारियों का मिलन भी ऐसा ही क्षणिक है।"

कौन कह सकता था कि ये पंक्तियां एक अंगरेज कवि पर बेहद असर डालेंगी? फिर भी हम देखते हैं कि मैथ्यु अर्नाल्ड ने ठीक इसी तरह के विचार प्रगट किये हैं। अपनी कविता 'दि टौरेंस ऐट बर्न' में उसने इसी तरह की मार्मिक पंक्तियां लिखी हैं—

"अनन्त समुद्र की सतह पर जिस तरह दो लकड़ियों के लट्ठे मिलकर अलग हो जाते हैं उसी तरह इस जीवन समुद्र में मनुष्य मनुष्य से मिलता है—मिलता है, फिर बिछुड़ जाता है।"

हिन्दू दर्शन शास्त्र के सम्बन्ध में प्रोफेसर वेबर कहता है—"इस क्षेत्र में और व्याकरण के क्षेत्र में भारतीय मस्तिष्क ने अपने अनन्त ज्ञान का परिचय दिया है।" हिन्दू दर्शन शास्त्रों का आधार उपनिषद और भगवद्गीता हैं। जर्मन विद्वान् शोपनहायर लिखता है—"उपनिषद् मनुष्य के धार्मिक अभिज्ञान का सबसे बहुमूल्य वर्णन है। इन सुन्दर रचनाओं ने मुझे बेहूदा कर्मकाण्डों और बन्धनों से मुक्त कर दिया। सारी पृथ्वी में उपनिषदों से बढ़कर सुन्दर और उन्नत बनाने वाला कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है। मुझे अपने जीवन में इससे बहुत संतोष मिला है और इसीसे मुझे मृत्यु में भी संतोष मिलेगा।" यह कहना व्यर्थ है कि शोपनहायर वर्तमान समय का एक सौम्य और महान दार्शनिक तत्त्ववेत्ता था और जब शोपनहायर ऐसा व्यक्ति उपनिषदों के सम्बन्ध में यह कहता है कि "इससे मुझे जीवन में शान्ति मिली है और इसी से मृत्यु में भी शान्ति मिलेगी" तो यह स्पष्ट है कि वह इन हिन्दू ग्रन्थों को दूसरे ग्रन्थों से, यहां तक कि ईसाई ग्रन्थों से भी ऊपर रखता है। हिन्दू धर्म शास्त्र का दूसरा मूल स्रोत गीता है, जिसे सन् १८७५ ई० में पहले पहल चार्ल्स विल्किन्स ने अंगरेजी में अनुवाद किया। अब तो अनेक यूरोपीय भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है और सारा संसार श्रद्धा और आदर के साथ इस ग्रन्थ को देखता है। यही नहीं बल्कि गीता इस समय विश्व-साहित्य का एक अंग बन गयी है। चार्ल्स विल्किन्स के अनुवाद की भूमिका में वारेन हेस्टिंग्ज का एक पत्र है। वारेन हेस्टिंग्ज अपने पत्र में लिखता है "जब कि भारतवर्ष में ब्रिटिश हुकूमत समाप्त हो जायेगी और भारतीय ब्रिटिश सत्ता केवल एक यादगार की चीज रह जायेगी, तब भी श्री मद्-भगवद्गीता सुरक्षित रहेगी और इसी प्रकार कोटि कोटि मनुष्यों को सान्त्वना देती रहेगी।" दर्शन-विज्ञान, उपनिषदों और भगवद्गीता का पूर्ण प्रकाश पाकर भारतवासी वेदान्त के अन्दर अपने चरम उत्कर्ष पर पहुंचते हैं। वेदान्त के सम्बन्ध में मैक्स मूलर लिखता है "यदि दर्शन मनुष्य की सुखद मृत्यु के लिये एक तैयारी है, तो मैं वेदान्त से उपयुक्त कोई दूसरी तैयारी नहीं जानता।" न केवल भारतीय दर्शन और महाकाव्य ही यूरोपीय मस्तिष्क पर व्यापक प्रभाव डाल रहे हैं, बल्कि प्राचीन भारतीय संस्कृति भी हर पहलू से वर्तमान यूरोपीय दुनिया पर अपना नैतिक प्रभाव डालकर उसे दूसरे सांचे में ढालने में मदद दे रही है। प्रोफेसर मेकडोनल ठीक ही कहते हैं "भारतीय संस्कृति और संस्कृत साहित्य के प्रति यूरोप का नैतिक कर्जा सचमुच बहुत अधिक है।" सन् १८८० में जब मैक्समूलर कैम्ब्रिज विश्व-विद्यालय में भारत के सम्बन्ध में व्याख्यान दे रहे थे, तो उन्होंने कहा था—"अपने विशेष अध्ययन के लिये हम ज्ञान के चाहे जिस अंग को लें, चाहे वह साहित्य हो या धर्म, व्याकरण हो या दर्शन व्यवस्था हो या कर्मकाण्ड, हर बात के योग्यतम ज्ञान के लिये हमें भारत की ही शरण में जाना पड़ेगा। चाहे हम इसे पसन्द करें, या न करें लेकिन मानव ज्ञान की सच में बहुमूल्य सामग्री केवल भारतवर्ष में प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के अन्दर ही खजाने की तरह भरी हुई है।"

भाषा की ही बात लीजिये। भाषा-विज्ञान के वर्तमान जन्म दाता प्रोफेसर बॉफ संस्कृत के सम्बन्ध

में कहते हैं, "संस्कृत, ग्रीक और लैटिन से कहीं ज़्यादा अधिक समृद्ध और सम्पूर्ण है और दोनों से कहीं अधिक उत्कृष्ट और वागीश है।" व्याकरण के सम्बन्ध में मैक्समूलर कहता है, "मैं चुनौती देता हूं कि कोई भी व्यक्ति मुझे कहीं भी भाषा के इतने व्यापक समुच्चय और शब्दों का इतना स्पष्ट वर्गीकरण निकाल कर दिखादे जितना कि पाणिनि के सूत्र में है।" इसीलिये इसमें कोई सन्देह नहीं कि भाषा-विज्ञान के समुचित अध्ययन के लिये संस्कृत भाषा का ज्ञान कितना जरूरी है, और इस दृष्टि से भाषा शास्त्री पाणिनि के सब से अधिक ऋणी हैं। मैक्समूलर यही कहता है कि भाषा-विज्ञान के अध्ययन के लिये संस्कृत उतनी ही जरूरी है जितनी ज्योतिष के अध्ययन के लिये गणित।" एक दूसरा जर्मन विद्वान् कहता है--"मेरे इस कथन का हेल्म हाज या एलिस खडन नहीं करेंगे कि संस्कृत ही दुनिया के भाषा-विज्ञान की सर्वोच्च प्रतिनिधि है।" भारत में पाचवीं सदी ईसा पूर्व में वैज्ञानिकों ने भाषा तत्त्व की जो व्याख्या की है, उससे अधिक व्यापक व्याख्या आज तक किसी ने नहीं की। यही बात पौराणिक इतिहास और धर्म के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। एक दूसरा यूरोपीय विद्वान् लिखता है कि—"होमर की कविता का आधार वैदिक उपाख्यान है।" धर्म के सम्बन्ध में यही विद्वान कहता है— "भारत की धर्म पुस्तकें धर्म के मूल भूत सिद्धान्तों के अध्ययन के लिये प्रोत्साहन देती हैं।"

भारत की आदि-संस्कृति का केन्द्र: मोहन-जो-दड़ो

भारतीय संस्कृति के दूसरे युग की बात छेड़ने के पूर्व संक्षेप में मैं सिन्धु की सभ्यता के सम्बन्ध में भी थोड़ी सी बात कहूंगा। स्वर्गीय राखाल दास बैनर्जी के प्रयत्नों से मोहन-जो-दड़ो में जो कुछ खोजें की गई हैं वे न केवल यही स्पष्ट करती हैं कि भारतीय सभ्यता अत्यन्त प्राचीन है, बल्कि यह भी बताती हैं कि विश्व-संस्कृति को गौरवमय शिखर तक पहुँचाने में भारत ने कितना महत्त्वपूर्ण हिस्सा लिया है। मोहन-जो दड़ो की सभ्यता की एक जो सब में महत्त्वपूर्ण और आश्चर्यजनक खोज है, वह यह है कि भारत की सभ्यता आर्यों के भारत आगमन के बाद से ही नहीं शुरू हुई। विद्वानों में यह ग़लतफहमी थी कि आर्यों के आक्रमण के बाद ही भारतीय सभ्यता की नींव रखी गई। इस का सप्रमाण खण्डन सर जान मार्शल, राय बहादुर चन्द्रा, डाक्टर स्टेला क्रैमरिश और श्री अतुलकुमार सूर ने किया है। यह बात पूरी तरह साबित हो गयी है कि भारतीय संस्कृति के निर्माण में आर्यों ने जितना हिस्सा लिया है, मोहन-जो-दड़ो के निवासियों ने उससे किसी तरह कम हिस्सा नहीं लिया। यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि बाद के हिन्दुओं के धार्मिक रस्म रिवाज और ऋग्वेद के आर्यों के धार्मिक रस्म रिवाज में बहुत अधिक अन्तर पड़ गया है। लेकिन मोहन-जो-दड़ो के धार्मिक विश्वासों और बाद के हिन्दुओं के धार्मिक विश्वासों में बेहद समता और सादृश्यता पाई जाती है। भारतीय संस्कृति का मूल स्रोत यही मोहन-जो-दड़ो है, जिसे सारी दुनिया आज विस्मय से देख रही है।

मध्यकालीन भारत का इतिहास

भारतीय इतिहास का दूसरा दौर उस समय शुरू होता है, जब इसलाम धर्मावलम्बियों के हमले प्रारम्भ हुये। यह दौर निश्चित रूप से सन् ११९१ से शुरू होता है, जब तराइन की दूसरी लड़ाई में शहाबुद्दीन ग़ोरी से हार कर पृथ्वीराज मारा गया। इसके पहले अनेक विदेशी जातिया भारत में आईं; लेकिन उन्होंने यहा आकर हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया। किन्तु मुसलमानों के भारत आने के समय हिन्दू धर्म एक पतित अवस्था से गुजर रहा था। वह सैकड़ों कर्मकाण्डों और रूढ़ियों से भरा हुआ एक निर्जीव धर्म रह गया था। असंख्य अनार्य देवी, देवताओं की पूजा और उपासना ही उस समय के हिन्दू धर्म का मुख्य आधार था। ईसाई धर्म की तरह इसलाम भी अपने स्वर्ण-युग में प्राचीन हिन्दू धर्म की ही तरह निर्मल और उदार था। इसलिये ये

मुसलमान अथवा बाद के ईसाई आक्रामक उस समय के हिन्दू धर्म की ओर उस तरह से आकर्षित न हुये, जिस तरह कि यवन ईस्वी सदी के पहले बौद्ध धर्म और वैष्णव धर्म की ओर आकर्षित हुए थे। जब भारतीय इतिहास का यह दूसरा युग शुरू हुआ उस समय भारत का सारा वातावरण युद्ध और घेरों, गुप्त मंत्रणाओं और षड्यन्त्रों, घृणा और धर्मान्धता, क्रूरता और रक्तपात से भरा हुआ था। किन्तु हमारी क्षमता और कार्यशीलता ने हमें इन्हीं पतित बातों में पड़ा न रहने दिया। धीरे धीरे प्रेम-बन्धन, भ्रातृ-भाव, विश्वास, मित्रता और स्नेह की भावनाएं जाग्रत हुई, उन्होंने जड़ पकड़ी और सभ्यता की निर्मल धारा पूर्व वेग के साथ फिर से बहनी शुरू हुई। हमारे इतिहासज्ञ न तो इस पृष्ठ-भूमि पर ही विचार करते हैं, न सांस्कृतिक समन्वय के इस सुन्दर रूप को ही महत्त्व देते हैं। इसलिये भारतीय इतिहास का यह मध्य काल ग़लत बयानियों और ग़लत नतीजों से भरा हुआ है। इस सम्बन्ध में इतिहास की चर्चा करते हुए जब हम वर्तमान इतिहासज्ञों को देखते हैं, तो हमें उनके ग्रन्थों में यही मिलता है कि अमुक मुसलमान शासक ने लोगों पर हर तरह की क्रूरता और बर्बरता की। वे हमें बताते हैं कि उस समय के मुसलमान शासक मूर्तिध्वंसक थे, मूर्तिपूजक नहीं। मेरी नजरों से जो विद्वान् गुजरे हैं, उनमें बहुत थोड़ों ने इस विषय में पक्षपात से ऊपर उठकर घटनाओं का निष्पक्ष प्रतिपादन किया है। श्री अतुलानन्द चक्रवर्ती ने "कलचरल फलोशिप इन इण्डिया" में सुन्दरता के साथ हिन्दू मुसलिम मेल की भावना का दिग्दर्शन कराया है और साबित किया है कि भारतीय जनता की इस असीम अनैक्यता के पीछे किस तरह एक मौलिक एकता काम कर रही थी, जिस पर किसी तरह से राजनैतिक मतभेद कोई स्थायी असर नहीं डाल सके। इन मुसलमान आक्रामकों को हमने हिन्दू धर्म का शत्रु कहकर उनके साथ बेहद अन्याय किया है। हिन्दू जाति और हिन्दू धर्म को न तो वे मिटा सकते थे और न उसके मिटाने की वे बात ही सोच सकते थे। मैंने यही बात बहुत पहले अपनी पुस्तक "स्लो प्रोग्रेस आफ इसलाम" में विस्तार से कही है। मेरी इस युक्ति का प्रतिपादन एक अनपेक्षित क्षेत्र से भी हुआ है, यानी "केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया", भाग ३; पृष्ठ ८८-८९ में भी हमें नीचे लिखी बातें पढ़ने को मिलती हैं—

"मुसलिम इतिहासकारों ने अपनी मध्यकालीन विजयों के सम्बन्ध में, बग़ावतों को दबाने, क़िलों को फतह करने, गांव और शहरों को जलाने, ज़िलों के ज़िले मिटाने, मन्दिरों को तोड़ने और मूर्तियों को बर्बाद करने, काफ़िरों को जहन्नुम भेजने, और हज़ारों स्त्रियों और बच्चों को गुलाम बनाने के जो बेतुके गीत गाये हैं, उनसे हमें यह धोखा हो सकता है कि उत्तर भारत का शुरू का मुसलिम आक्रमण इसलाम के प्रचार और मूर्तिपूजा के नष्ट करने के लिये एक धर्म-युद्ध था। और हम इस बात पर विश्वास भी कर लेते यदि हमारे पास इन लनतरानियों के विरुद्ध गम्भीर सुबूत न होते। मूर्तिध्वंसक महमूद ग़ज़नवी की सेना में हिन्दू घुड़सवारों की एक ज़बर्दस्त पल्टन थी। महमूद के लड़के मसूद ने अपने मुसलमान अफसरों को ख़ास तौर पर ताक़ीद की थी कि वे उसकी हिन्दू प्रजा की धार्मिक भावनाओं को चोट पहुँचाने की कोई छोटी सी बात भी न करें। यही नहीं उसने अहमद नियल्तगीन की बगावत दबाने का भार हिन्दू सेनापति तिलक के सुपुर्द किया। तिलक ने मुसलमान विद्रोहियों को जो अङ्ग-भङ्ग की सजा दी थी उसका भी मसूद ने समर्थन किया। उसने तिलक को अपने ऊंचे से ऊंचे मुसलमान उमराओं के बराबर रुतबा और ओहदा दिया। मुइज़्ज़ुद्दीन मुहम्मद ने लाहौर के मुसलमान शासक ख़ुसरो मलिक के ख़िलाफ़ जम्मू के हिन्दू राजा का साथ दिया और अपने सिक्कों पर उसने संस्कृत श्लोक ढलवाये। महमूद से लगाकर हिन्दुस्तान के हर मुसलमान शासक ने अपने स्वार्थ के लिये यही किया है। उन्होंने हिन्दू राजाओं और ज़मींदारों से सन्धि करके उन्हें अपना मनसबदार बनाया है और उनके पूर्वजों की रियासत

पर उन्हें क़ायम रहने दिया है। कहा जाता है कि १४ वीं सदी के आख़ीर में तैमूर के भारत आक्रमण का एक बहाना यह भी था कि यहां के मुसलमान शासक हिन्दू धर्म के प्रति प्रेम और उदारता बरतते थे। मुसलमानों की संख्या को देखते हुए उनका हित भी इसी में था कि वे इसके अतिरिक्त कोई दूसरी बात न करते।"

इसी तरह का धार्मिक विद्वेष समकालीन और वर्तमान भारतीय लेखकों में भी पाया जाता है।

हिन्दू मुसलिम विचार-धारा का सांस्कृतिक समन्वय

हिन्दू मुसलमानों के सांस्कृतिक समन्वय के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा सकता है। यहां मैं इसके विस्तार में नहीं जाना चाहता। इस बात का इशारा कर देना ही काफी है कि आपस के मेल जोल और सम्बन्ध से एकेश्वरवाद के सिद्धान्त को मानने वाले अनेक पन्थ और सम्प्रदाय पैदा हुए, जिनमें हिन्दू और मुसलमान दोनों शामिल थे। ये सम्प्रदाय हिन्दू धर्म और इसलाम के सर्वोत्तम सिद्धान्तों के आधार पर क़ायम हुए। गुरु नानक ने अपना प्रचार इसी वाक्य के साथ शुरू किया—

"ना हम हिन्दू ना मूसलमान"

दूसरे सन्त प्रचारक दादू थे जो एक हिन्दू धुनिये थे। दादू के प्रमुख शिष्य रजब नामक एक मुसलमान थे। रजब ने कहा है—"सृष्टि वेद है और सृष्टि-रचना क़ुरान है।" वास्तव में मध्य युग के सन्तों का यह आन्दोलन जनता का आन्दोलन था। जनता ने देख लिया था कि हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के मौलिक सिद्धान्त एक ही हैं और जनता ने बग़ैर मुल्लाओं और पंडितों की परवाह किये अपने लिये मुक्ति का समन्वयात्मक मार्ग निकाल लिया। जनता में एक दूसरे के धर्म की अच्छी बातों को स्वीकार करने की उदार भावना थी। इस समन्वयात्मक प्रवृत्ति का परिणाम सारे भारत पर बहुत सुन्दर पड़ा। सबसे पहले बङ्गाल को ही लीजिये कि वहां किस तरह हिन्दू और मुसलमानों में सांस्कृतिक समन्वय हुआ। "बेशुमार मुसलमान हिन्दू मन्दिरों में पूजा करते थे और हिन्दू मुसलमानों की मसजिदों में सिन्नी चढ़ाते थे। सौ वर्ष पूर्व टिपरा ज़िले के रहने वाले मिरज़ा हुसेन अली ने माँ काली की प्रशंसा में अनेक गीत रचे। यही नहीं वह अपने घर में बड़ी धूम धाम से काली की पूजा करते थे। ढाका के रहने वाले एक दूसरे मुसलमान उमरा ग़रीब हुसेन चौधरी सीतला देवी के परम भक्त थे। हिन्दू मुसलमान पीरों और औलियों के नाम पर अपने नाम रखते थे और उसी तरह मुसलमान हिन्दू देवी देवताओं के नाम से पुकारे जाते थे।" स्वर्गीय मौलाना मज़हरुल हक़ ने एक बार कहा था—

"जन्म से लेकर मृत्यु तक जीवन के हर क्षेत्र में मुसलमान जितने कर्मकाण्ड और रीति रिवाज बरतते हैं वे सब मौलिक रूप से हिन्दू हैं। मुसलिम घरों में बच्चों के जन्म के समय जो गीत गाये जाते हैं, उनमें श्रीकृष्ण का नाम काफ़ी आता है। मुसलमानों के शादी ब्याह के रीति रिवाज अधिकांश में हिन्दू हैं और मुसलमान औरतें ख़ास तौर पर इन रिवाजों के मानने पर ज़ोर देती हैं। मांग का सिन्दूर और भाल का टीका ये दोनों हिन्दू चीज़ें मुसलमान औरतों ने अपना ली हैं।"

मौलाना मज़हरुलहक़ ने आगे लिखा है कि उन्होंने अपने बचपन में मोहर्रम के दिनों में करबला की शहादत के मरसिये सुनकर हिन्दुओं को ज़ार ज़ार रोते देखा है। हिन्दुओं को हुसेन की शहादत की घटना सुनकर किसी भी शिया से कम दुःख न होता था। बङ्गाल के हिन्दू और मुसलमानों ने एक दूसरे पर इतना ज़बर्दस्त असर डाला कि दोनों ने परम पिता परमात्मा को एक नये नाम से याद करना शुरू किया। परमात्मा का यह नया नाम था—'सत्यपीर'। इस सम्बन्ध में कहा जाता है कि गौड़ का सम्राट हुसेन शाह इस 'सत्यपीर' पन्थ का जन्मदाता था और उसी के उदाहरण को लेकर हिन्दू और मुसलमान दोनों मिलकर सत्यपीर की पूजा करने लगे थे।

सांस्कृतिक समन्वय की वर्तमान लहर

अब हम भारत के इतिहास के तीसरे दौर यानी वर्तमान युग पर जरा गौर करें। यह दौर यूरोपीय और भारतीय सत्ता के संघर्ष के साथ शुरू हुआ। भारतीय सर जमीन पर विविध यूरोपीय राष्ट्रों ने अपने अपने लोभ का भयंकर प्रदर्शन शुरू किया। इस काल के प्रारम्भ में भारत ईर्षा, लोभ, लूट, अत्याचार और क्रूरता का अखाड़ा बन गया। यूरोपीय देशों की यह आपसी स्पर्धा अंगरेजी हुकूमत कायम होने के साथ समाप्त हुई। अंगरेजों के सम्पर्क से भारतवासियों को यह चिन्ता हो गई कि भारतीय संस्कृति के अंगरेजों के सम्पर्क मे आकर नष्ट हो जाने की ही सम्भावना है। अंगरेजों की लाई हुई पाश्चात्य संस्कृति के आवेग मे भारतीय संस्कृति के हर क्षेत्र पर असर पड़ना स्वाभाविक था। किन्तु भारतीय संस्कृति को पूरा अवसर नहीं दिया गया। भारतीय संस्कृति तो गंगा की सदा बहने वाली धारा के समान है। १३,८०० फुट ऊंची गंगोत्री से निकलकर और अपने मूल स्रोत से १५५७ मील बह कर गंगा समुद्र मे गिरती है। बीच में असंख्य नदियां उसमे आकर मिलती हैं, किन्तु फिर भी गंगा का व्यक्तित्व और अस्तित्व ज्यों का त्यों कायम रहता है। यही हाल भारतीय संस्कृति की अक्षय धारा का है। युगों के दौर मे उसमें अनेक संस्कृतियां आकर मिलीं। किन्तु भारतीय संस्कृति ने उन सब संस्कृतियों को अपने अन्दर खपाकर एक देह में लीन कर लिया और अपना भारतीय स्वरूप ज्यों का त्यों कायम रखा। भारत के प्रत्येक विश्वविद्यालय को इस भारतीय संस्कृति का अध्ययन आवश्यक कर देना चाहिये। इम्तहानों में इसके क्रमानुसार परचे होने चाहियें। इसके लिये यह आवश्यक है कि शान्त और निष्पक्ष भाव से कोर्स की पुस्तकें लिखी जाय। जब भारतीय संस्कृति के सम्पूर्ण रूप को विश्वविद्यालय के प्रत्येक विद्यार्थियों के सामने प्रकाश में लाया जायगा, तब वह पाश्चात्य संस्कृति के साथ उसकी तुलना कर सकेगा। मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार से भारतीय संस्कृति की समन्वयात्मक भावना पाश्चात्य संस्कृति की अच्छी अच्छी बातें लेकर उन्हें अपनी संस्कृति में घुला मिला लेगी।

भारत की समाज-व्यवस्था एक क्रान्ति के बीच मे गुजर रही है। अछूतों की ही समस्या को ले लीजिये। मैं भारतीय संस्कृति और सभ्यता का बड़ा जबर्दस्त भक्त हूं। किन्तु मैं यह कहने मे नहीं रुक सकता कि हिन्दू धर्म के ऊपर दो बातें भयंकर कलंक की तरह हैं—(१) अस्पृश्यता और (२) जाति-भेद। पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में आने के बाद भी बहुत कम हिन्दू ऐसे हैं, जिनके दिल में इन दोनों कलंकों के धोने की बात उठती हो। पश्चिम के संसर्ग मे आकर हम राजनैतिक क्षेत्र में जनतन्त्रवाद की बात कहने लगे हैं। किन्तु भारत एक देश नहीं है बल्कि यूरोप की तरह विविध जातियों में बटा हुआ, विविध धर्मों के मानने वालों और विविध भाषाओं के बोलनेवालों का एक सामूहिक राष्ट्र है, जहां विविध वर्गों के एक दूसरे से विरोधी हित हैं। इन सब को एक राष्ट्र बनाने की चेष्टा तब तक सफल नहीं हो सकती, जब तक हम समन्वयात्मक भारतीय संस्कृति के महत्व को पूरी तरह न समझ लें।

आर्य संस्कृति के मौलिक सिद्धान्त

श्री कन्हैयालाल एम. मुन्शी एम. ए., बी. एल., भू. पू. गृहमंत्री, बम्बई



श्री कन्हैयालाल एम. मुन्शी

वर्षों से मैंने इस बात की कोशिश की है कि मैं समझ सकूं कि आर्य संस्कृति का वास्तविक अर्थ क्या है ! प्राचीन आर्य अपनी संस्कृति को 'धर्म' कहकर पुकारते थे। उनके इस धर्म शब्द के अन्दर उनका विश्वास, जीवन का मूल्याङ्कन, उनके आदर्श और कर्म आदि सब का निचोड़ शामिल था। इसी धर्म के अन्दर उनका साहित्य, और उनका काव्य भी था। ग़रज़ यह कि ज़िन्दगी में जो कुछ सर्वोत्तम है, इस धर्म शब्द के अन्दर आ जाता था।

जहां तक आर्य सभ्यता का सम्बन्ध है वहां तक उसका ताल्लुक़ एक जाति विशेष से है, किन्तु जब हम आर्य संस्कृति की बात करते हैं, तो उसका किसी ख़ास जाति से या ब्राह्मणों के किसी ख़ास वर्ग से सम्बन्ध न था। हम कह सकते हैं कि आज भारतवर्ष के ब्राह्मणों के रक्त में कितना ही मिश्रित रक्त बह रहा है। भारतीय ऋषियों में हमें अनेक अनार्यों के नाम भी मिलते हैं। आर्य धर्म का संस्थापन और उसका प्रचार जिन लोगों ने किया है, उनमें अनेक ऐसे व्यक्ति भी थे, जो सांस्कृतिक दृष्टि से महान थे किन्तु अपने मिश्रित रक्त के कारण वे आर्य नहीं कहे जा सकते।

आज संस्कृति शब्द के सम्बन्ध में अनेक ग़लत धारणाएं प्रचलित हैं। बहुत से लोग संस्कृति को सामाजिक व्यवस्था के साथ मिलाकर देखते हैं। सामाजिक संस्थायें समय पाकर प्राणहीन हो जाती हैं, किन्तु वह संस्कृति ही है जो संस्थाओं को विकसित और उन्नति करने में मदद देती है। संस्कृति जीवन के उन समतोलों का नाम है, जो मनुष्य के अन्दर व्यवहार, ज्ञान और विवेक पैदा करते हैं। वह उनके सामाजिक व्यवहारों को निश्चित करती है और उनकी संस्थाओं को चलाती है; वह उनके साहित्य और उनकी भाषा को बनाती है; वह उनके जीवन के आदर्श उनके जीवन के सिद्धान्तों को प्रकाश देती है। वह समाज के भावनात्मक और आदर्श विचारों के बीच में निहित होती है, जो समाज और व्यक्ति को महत्त्व देते हैं। समतोलों को स्वीकार कर जब समाज सहस्रों वर्ष तक चलता है, तब संस्कृति महान रूप लेती है। वह साध्य नहीं साधन है। वह जीवन का उद्देश्य और जीवन का लक्ष्य है।

आर्य संस्कृति का सब में आवश्यक सिद्धान्त है—उसकी सामाजिक जीवन प्रणाली। आर्यों में कुलपति का बेहद महत्व था। आर्य लोग स्त्रियों के पद को भी इसलिये बेहद महत्व देते थे, ताकि उनके रक्त और उनकी संस्कृति की पवित्रता क़ायम रहे।

आर्यों की सामाजिक व्यवस्था की उन्नति में आर्य संस्कृति की कुछ ख़ास बातें महत्व रखती हैं।

वे ये हैं—(अ) कुटुम्ब में पिता की महत्ता के न केवल आदर दिखाकर ही स्वीकार किया जाता है, बल्कि वैदिक या पौराणिक काल से लेकर कुटुम्ब के समस्त पूर्वजों की पूजा की जाती है। हर धार्मिक कर्म-काण्ड में तीन पीढ़ियों तक के पूर्वजों के शामिल किया जाता है (ब) मा (पत्नी) और पिता (पति) में कोई भेद भाव नहीं किया जाता। उनकी सत्ता पूर्ण और अविच्छिन्न मानी जाती है।

बहुत से प्राचीन देशों में, यानी रोम और यूनान में भी इनमें से बहुत सी बातें स्वीकार कर ली गयी थीं, किन्तु भारत में इन उपरोक्त विचारों का धार्मिक कर्मकाण्ड, रूढ़ियों और धार्मिक विश्वासों के ऊपर भी प्रभाव पड़ा। इन्हीं दो विश्वासों का मेल करके प्रत्येक आर्य अपने पूर्वजों और अपने उत्तराधिकारियों के प्रति जीवन्त एकता स्थापित कर लेता है। जैसे ही लड़का पैदा हुआ वह कुल और गोत्र के समूह मे शामिल हो जाता है। हर स्त्री अपने पति के साथ अविच्छिन्न एकता में बध जाती है। वह न केवल वीर प्रसविनी ही थी, वरन् अपने स्वसुर-गृह की लक्ष्मी थी। पाराशर सूत्र के अनुसार वह अपने पति की सांस के साथ अपनी सांस, उसकी हड्डी के साथ अपनी हड्डी और उसके मास के साथ अपने मांस को एक करती है।

इस तरह आर्य संस्कृति ने कुलों का निर्माण किया, गृहस्थ जीवन के सांचे में ढाला और व्यक्ति का एक सामूहिक रूप दिया। मनुष्य केवल एक व्यक्ति है। अपनी इच्छाशक्ति से उसने अपने के उस कुल का एक अङ्ग बना लिया है, जिसका संस्थापक अनादिकाल का कोई पूर्वज था। स्त्रियों का भी अलग व्यक्तित्व है किन्तु कुल में पदार्पण करते ही वे अपने पति की अर्द्धांगिनी बन जाती हैं। सीता और सावित्री केवल पौराणिक उपाख्यान नहीं हैं, वह जीवित सिद्धान्त हैं, जिनके सम्बन्ध में करोड़ों स्त्रियां दिन में सोचती हैं, रात में उन्हीं का सपना देखती हैं और जीवन में उनके आदर्श की चिन्तना करती हैं कि कब वह उनकी तरह अपने पतियों में व्यापक रूप से मिलकर एक हो जायेंगी ? इस तरह वेदों की शिक्षा के आधार पर अनन्त पीढ़ियों तक उनका सांस्कृतिक सम्बन्ध क़ायम रहता है। समाज के प्रति व्यक्तियों के इस अटूट सम्बन्ध के कारण समय के घातक हमले भारत की समाज-व्यवस्था के कोई नुक़सान न पहुंचा सके।

आर्य संस्कृति की दूसरी विशेषता कर्म के अनुसार उसकी वर्ण व्यवस्था का संगठन है। पहला वर्ग विद्वान् बुद्धिमान और चरित्रवान व्यक्तियों का वर्ग है। दूसरा वर्ग संगठन, और रक्षा करने वालों का वर्ग है। तीसरा वर्ग उत्पादन और धन के वितरण करने वालों का वर्ग है और चौथा वर्ग समाज सेवकों का वर्ग है। समाज में सम्पूर्ण संगठन था। हर मनुष्य समझता था कि वह अपना 'स्वधर्म' लेकर पैदा हुआ है। 'स्वधर्म' से उसकी रुचि और उसके कर्म दोनों का बोध होता है। यह समाज व्यवस्था का सब में आवश्यक अंग है। ब्राह्मणों के प्रति आदर दिखाया जाता था जो शिक्षा, संस्कृति और संयम के आगार होते थे। संस्कृति और बुद्धि के उच्च आदर्शों को सामने रखकर वे जीवन यापन की कामना करते थे। यदि मानव जीवन को पशु की स्थिति में नहीं पहुंचाना है, तो समाज में इस तरह के मानवों के वर्ग को प्रधानता मिलनी ही चाहिए। हमारी वर्ण-व्यवस्था में प्रत्येक वर्ग दूसरे वर्ग पर निर्भर था। एक वर्ग दूसरे वर्ग से लाभ उठाता था। एक वर्ग दूसरे वर्ग को नष्ट करने की बात न सोचता था। इस वर्ण व्यवस्था के सभी वर्गों को स्वतन्त्र उन्नति का मौक़ा दिया गया, किन्तु यह अधिकार नहीं दिया गया कि वह वर्ण व्यवस्था को ही नुक़सान पहुँचा सकें।

यही वर्णाश्रम का ज़ाहिरा अर्थ था। किन्तु इस अर्थ के पीछे कुछ दूसरा गहरा अर्थ भी था। चारों जातिया एक दूसरे के ऊपर निर्भर और एक समान समाज की विविध अंग थीं। इन्हीं चारों जातियों के सहयोग से समाज की कल्पना की गयी थी, ऐसा समाज जो धर्म से प्रोत्साहन लेता था और धर्म

ही जिसका स्वयम् नियंत्रण करता था। आर्य संस्कृति का दूसरा मुख्य सिद्धान्त था आर्यावर्त के प्रति अडिग विश्वास। आर्यों ने सदा अपने देश को श्रद्धा और आदर से देखा है। उन्होंने उन लोगों का सम्मान किया है, जिन्होंने अपने देश की अखण्डता बनाये रखने के लिये अपने को बलिदान किया। वेद ही आर्य जाति के ज्ञान और बुद्धि का आदि स्रोत है, इस विश्वास ने आर्यों के इतिहास को पुरातन की भावना दी है।

आर्य संस्कृति की दूसरी महत्त्वपूर्ण वस्तु है संस्कृत साहित्य। संस्कृत न केवल शब्दविन्यास और साहित्य-सौन्दर्य की दृष्टि से ही एक उच्चतम भाषा है, बल्कि वह आर्य जाति के सांस्कृतिक आदर्शों का साकार रूप है। वह प्रत्येक सांस्कृतिक आर्य के हृदय और मस्तिष्क में 'आर्यावर्त' को गद्य और पद्य में अंकित कर देती है।

आर्य संस्कृति के इन समस्त आवश्यक तत्त्वों में मुख्य बात यह नहीं है कि व्यक्ति जिस कुल, जिस वर्ग जिस देश और जिस भाषा के बीच में पैदा हुआ उसको केवल स्वीकार कर ले, बल्कि वह अपने प्रयत्नों और अपनी कल्पना शक्ति से अपना कुल, अपना वर्ण और अपने आर्यावर्त्त को अपने जीवन में उतारे। आर्य धर्म के अन्दर जितने भी विविध विश्वासों, विविध सम्प्रदायों और विविध मतों का समावेश है, उन सब के अन्दर एक मौलिक सत्य दिखाई देता है। वह सत्य यह है कि जीवन 'जो कुछ है' वही नहीं है, बल्कि 'जो कुछ बनाया जा सकता है' वह है, और बनाया जा सकता है कुछ परिस्थितियों के कारण नहीं बल्कि अपने प्रयत्न और अपनी इच्छा शक्ति से। यही भावना आर्य संस्कृति के अन्दर व्यक्ति को मौलिक महत्त्व देती है। व्यक्ति समाज, देश और समाज व्यवस्था से भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और वास्तविक बन जाता है। समाज व्यवस्था और राष्ट्र तो व्यक्ति की ही दृढ़ इच्छा शक्ति के मूर्तमान परिणाम हैं। व्यक्ति से ही उन्हें जीवन-शक्ति और प्रेरणा मिलती है।

यह 'कुछ होने की इच्छा' आर्य संस्कृति का प्रमुख विश्वास है। व्यक्ति अपनी सतत चेष्टा से अपनी कल्पना और भावना को मूर्त रूप देता है। वह अपने दृढ़-संकल्प से 'कुछ अधिक बनने' की इच्छा को पूरा करता है।

चूंकि विचार ही सृष्टि के जनक हैं, इसीलिये उपरोक्त भावना का मूल आधार विचार-शक्ति ही है। जब व्यक्ति की कल्पना और इच्छा में संघर्ष होता है, तो कल्पना विजयी होती है। कल्पना ही के सहारे मनुष्य जो कुछ चाहता है उसका करना सहज होता है। कल्पना ही मनुष्य को शक्ति और उत्पादक प्रेरणा देती है। जब मनुष्य किसी वस्तु की ठीक-ठीक कल्पना कर लेता है, तभी वह उसको मूर्त रूप दे सकता है, क्योंकि उस समय उसकी कल्पना और इच्छा-शक्ति एक रूप होती हैं। जब इच्छा शक्ति प्रोत्साहित-कल्पना के सामने समर्पण करती है, तब कल्पना निरंतर रूप से किसी विशेष उद्देश्य की ओर प्रेरित होती है। उस समय वह इतनी मूर्तरूप हो उठती है कि उद्देश्य की प्राप्ति बहुत सहज हो जाती है।

किन्तु आर्य-संस्कृति जहा एक ओर अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए निरन्तर कर्म करने का आदेश देती है, वहा वह मनुष्य के सामने एक दूसरा आदर्श भी रखती है। वे आदर्श नैतिक आदर्श हैं।

ये नैतिक आदर्श हमारे सांस्कृतिक जीवन के महाव्रत हैं। सामान्यतया वे ये हैं—अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, आवश्यकता से अधिक अपने ऊपर व्यय न करना और अपरिग्रही रहना। यदि एक व्यक्ति अपने मन-क्रम-वचन से अहिंसात्मक है, तब वह अपने चारों ओर प्रेम का वातावरण पैदा कर देता है और इस प्रेम से वह मनुष्य और पशु सब को प्रभावित कर लेता है।

यदि कोई व्यक्ति सत्य का पालन करता है तो उसके कर्म उसको तुरन्त फल देते हैं। सत्य केवल घटनाओं की वास्तविकता का नाम नहीं है, वह तो मन-क्रम-वचन में सामंजस्य पैदा करना है। केवल

सत्य ही हमें सुन्दर ध्येय तक पहुँचा सकता है। सत्य के पालन से मनुष्य अपनी आत्मा की पूर्णता प्राप्त कर सकता है।

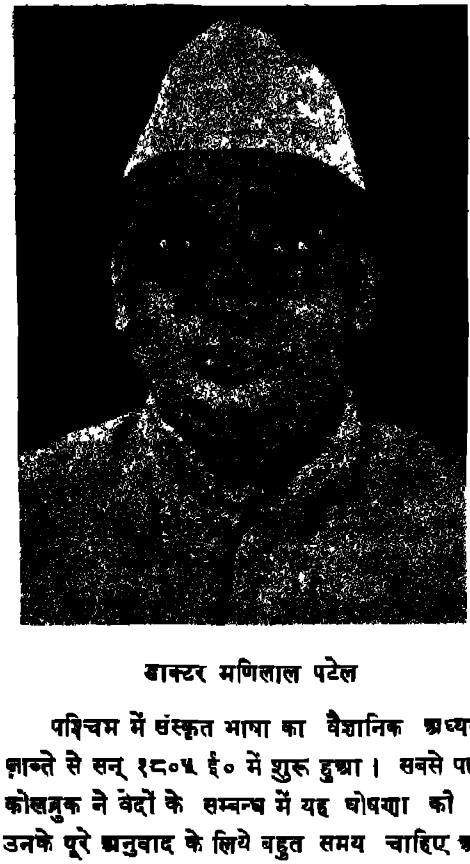
यही हाल चोरी न करने के महाव्रत का है। यह एक सच्चाई है कि जब मनुष्य धन की परवाह नहीं करता, तो धन उसके क़दमों पर लोटता है। जब मनुष्य अपने ऊपर कम से कम व्यय करता है, तो अपने अन्दर एक अमित शक्ति का अनुभव करता है। जब वह चीज़ों से मोह छोड़ देता है, तभी वह अपने जीवन का सच्चा मूल्य आँक सकता है तभी वह अपने जीवन का महत्व समझ सकता है; और जीवन के उद्देश्य को भी देख सकता है। यही आर्य संस्कृति का नैतिक आदर्श है। जब तक व्यक्ति इस नैतिक अदर्श का पूरा पूरा पालन नहीं करता, तब तक उसकी आत्मा पूर्णत्व प्राप्त नहीं कर सकती।

प्रश्न उठता है कि आख़िर जीवन है क्या? उसका उद्देश्य और उसका अन्त है क्या? आर्य-संस्कृति जीवन को अनन्त समझती है। इन्हीं महाव्रतों के सहारे व्यक्ति अनन्त पथ पर चल सकता है, तभी जीवन को कष्ट और दुःख के बन्धनों से छुटकारा दिला सकता है और तभी वह परमानन्द को पा सकता है। इन्हीं महाव्रतों के सहारे वह अपनी भौतिक अवस्था से ऊपर उठकर जीवन के उस पार की वस्तुओं को देख सकता है। आर्य संस्कृति भौतिक शक्तियों को जीवन के महान उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उपयोग करती है। यही भारत के अनन्त जीवन का महान रहस्य है। यही भौतिक शक्ति के ऊपर आत्मा की विजय है और यही मानवता के कल्याण की एक मात्र आशा है।



वेदों के यूरोपीय भाष्यकार

डाक्टर मणिलाल पटेल, एम. ए., पी-एच. डी.



डाक्टर मणिलाल पटेल

पश्चिम में संस्कृत भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन शाक्ते से सन् १८०५ ई० में शुरू हुआ। सबसे पहले कोलब्रुक ने वेदों के सम्बन्ध में यह घोषणा की कि उनके पूरे अनुवाद के लिये बहुत समय चाहिए और जो कुछ वेदों के अन्दर है, उसे पढकर पाठकों का कोई विशेष लाभ न होगा और अनुवादक की मेहनत भी व्यर्थ जायगी। किन्तु कोलब्रुक के इस निराशा से भरे वक्तव्य का वेदों की खोज पर कोई असर नहीं पड़ा। आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय ने मैक्समूलर द्वारा सायण भाष्य सहित ऋग्वेद के अनुवाद को सन् १८४९ ई० में प्रकाशित किया। प्रसिद्ध फ्रान्सीसी विद्वान लैंग्लॉय ने सन् १८४८ ई० में ऋग्वेद का फ्रान्सीसी भाषा में सम्पूर्ण अनुवाद किया। मैक्समूलर के अनुवाद, के प्रकाशन के बाद एच० एच० विलसन ने ऋग्वेद का अंगरेज़ी अनुवाद सायण भाष्य को सामने रखकर शुरू किया। विलसन के अनुसार सायण का भाष्य, ऋग्वेद की पेचीदगियों और गहन बातों को पाठकों के सामने स्पष्ट कर देता है। पश्चिम में विलसन के मत वालों को कुछ लोग ट्रेडीशनल विचारों का कहते हैं; और वे स्वयम् अपने को अनुदार संस्कृत भाषा वादी कहते हैं।

किन्तु शीघ्र ही यूरोपीय विद्वानों को यह मालूम हो गया कि महज़ सायण पर निर्भर होकर ऋग्वेद की पेचीदा समस्याओं को नहीं समझा जा सकता। रुडल्फ़ वान राथ ने इसीलिये ऋग्वेद की ही ऋचाओं की बारीक छान बीन शुरू की। उन्होंने विविध मण्डलों के भाषा-विषय, व्याकरण और शब्दों की पारस्परिक तुलना की और एक से भावों और एक से मन्त्रों को क्रमबद्ध किया। वेद के भारतीय भाष्यकारों की राय की परवाह न करते हुए राथ ने अपना महान भाष्य लिख डाला। उसकी भूमिका के पाचवें पृष्ठ में वह लिखता है कि सायण कई कारणों से ऋग्वेद का उपयुक्त टीकाकार नहीं है। राथ की इस राय को लगभग समस्त यूरोपीय टीकाकारों ने मान लिया था। उन लोगों ने केवल भाषा को ही वैदिक भाष्य का आधार बनाया। उनकी राय में व्याकरण और शब्दों के वर्गीकरण के स्पष्ट हो जाने के बाद वैदिक ऋचाओं का गहन अर्थ निकाला जा सकता था।

वेदों के इस तरह के भाष्यकारों को भाषावादी कहा जाता है। इस मत के लोगों के परिश्रम के परिणाम स्वरूप शीघ्र ही वेदों के कुछ भाष्य प्रकाशित हुए। उनमें से दो प्रमुख हैं—एच० ग्रासमैन का ऋग्वेद का शब्दकोष और ऋग्वेद का जर्मन अनुवाद जो सन् १८७६ ई० में प्रकाशित हुआ।

यूरोपीय विद्वानों में कुछ लोगों ने ऋग्वेद के भारतीय भाष्यकारों के विरुद्ध राथ के फ़ैसले को स्वीकार नहीं किया। उनकी राय में सायण और यास्क के भाष्य और यूरोपीय विद्वानों की भाषा-विज्ञान सम्बन्धी खोजों को मिलाकर ही ऋग्वेद के महत्त्व को पूरी तरह समझा जा सकता है। ए० लडविग ने इस राय से सहमत होकर ऋग्वेद का सम्पूर्ण जर्मन अनुवाद सन् १८८८ ई० में प्रकाशित किया। उसने प्रत्येक मन्त्र की विस्तृत टीकाएं कीं। हालांकि लडविग का यह अनुवाद ग्रासमैन की अपेक्षा कहीं ज्यादा अच्छा है, किन्तु फिर भी इसमें स्पष्टता और पूर्णता नहीं है।

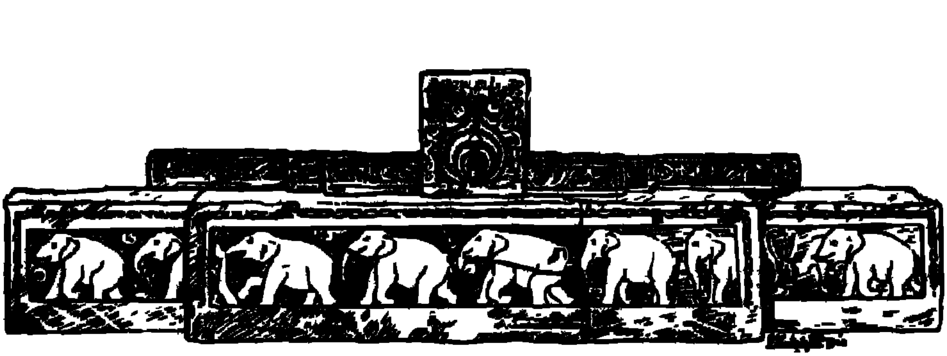
फ़्रान्सीसी विद्वान ए० बर्गेन का विश्वास था कि ऋग्वेद उपाख्यानों द्वारा ही समझाया जा सकता है। इस बात को उन्होंने सन् १८८३ ई० में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'रिलीजन वैदीक' में विस्तार के साथ लिखा है। उनके प्रमुख शिष्य पी० रेगनों की राय थी कि पूरा का पूरा ऋग्वेद केवल यज्ञ और बलिदान के कर्मकाण्डों को व्यापक रूप देने के लिये ही लिखा गया है।

किन्तु इन समस्त पश्चिमीय प्रयत्नों में सब में महत्त्वपूर्ण प्रयत्न भी पिशेल और गेल्डनर नामक दो मित्रों का है जिन्होंने 'वेदिश स्टडीं' नामक ग्रन्थ (तीन भागों में) सन् १९०५ ई० में प्रकाशित किया। हालांकि वे राथ के ग्रन्थ को पढ़कर ही वेदों के अध्ययन की ओर प्रेरित हुए थे, मगर फिर भी उन्होंने अपनी पुस्तक में राथ के एकतरफ़ा भाषा-विज्ञान की कसौटी की काफ़ी खिल्ली उड़ाई। अपने इस ग्रन्थ में पिशेल और गेल्डनर ने ऋग्वेद के विविध मण्डलों की ऋचाओं एक-एक मन्त्रों, शब्दों और वाक्यों की बारीक छान बीन की। दोनों की राय में ऋग्वेद शुद्ध भारतीय ग्रन्थ है। वे यूरोपीय विद्वानों से सहमत न थे कि ऋग्वेद एक इण्डो-जर्मेनिक (भारतीय-जर्मन) ग्रन्थ है। इसलिये शुद्ध भारतीय ग्रन्थ के रूप में वह तभी पूरी तरह समझ में आ सकता है, जब कि भारतीय भाष्यकारों का अध्ययन किया जाय और बाद के ब्राह्मण साहित्य से पूरी तरह परिचित हुआ जाय। ब्राह्मण साहित्य का जानना वैदिक भाष्यकारों के लिये बहुत ज़रूरी है। गेल्डनर और पिशेल की इस राय को भाषावादियों ने मूर्खतापूर्ण और व्यर्थ बताया, इस पर काफी तूफान उठा, लेकिन वह क्षणस्थायी रहा। इन दोनों विद्वानों ने ऋग्वेद के निचारों और ब्राह्मण ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए दोनों का विचार-साम्य दिखाया है। इसके बाद यह स्पष्ट हो गया कि ऋग्वेद शुद्ध भारतीय ग्रन्थ है तथा वह भारतीय संस्कृति का सबमें पुराना लेखा है और वैदिक आर्यों और यूरोपीय आर्यों के बीच में इतनी बड़ी खाई है, जिसको भाषा-विज्ञान पूरी तरह भरने में असमर्थ है। यही गेल्डनर और पिशेल के वैदिक भाष्य के मूल सिद्धान्त हैं!

यहां पर हमें ओल्डनबर्ग और एल० वान् श्रोडर के प्रयत्नों को भी नहीं भूलना चाहिए। ओल्डनबर्ग की पुस्तक 'रिलिजन डेस वेद' बर्लिन से सन् १८९४ ई० में प्रकाशित हुई थी और श्रोडर की पुस्तक सन् १९०८ ई० में प्रकाशित हुई। इन दोनों विद्वानों ने सबसे पहले हमारा ध्यान इस बात की ओर दिलाया कि हमें वेद के कुछ हिस्सों को पूरी तरह समझने के लिए उस समय के दूसरे धर्मों का अध्ययन करना चाहिए। यही बात दूसरे जर्मन विद्वान हिले ब्रायण्ट ने भी कही है। किन्तु उसकी पुस्तक 'वेदिश माइथालाजी' की बहुत सी बातों में संशोधन की ज़रूरत है। इन विद्वानों के अतिरिक्त एक महान वैदिक विद्वान प्रोफ़ैसर ए० ए० मैकडोनल्ड को भी नहीं भूलना चाहिये, जिसकी वैदिक खोजों और वेदों के अध्ययन का महत्त्व ससार के समस्त वैदिक विद्वान मानते हैं। प्रोफ़ैसर मैकडोनल ने इस सम्बन्ध में अनेक लेखों के अतिरिक्त 'वैदिक रीडर' और 'वैदिक माइथालाजी' नामक दो व्याकरण ग्रन्थ लिखे। उनका सब में महत्त्वपूर्ण लेख वह है, जो उन्होंने सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर के अभिनन्दन ग्रन्थ में लिखा है। अपने इस लेख में मैकडोनल ने यास्क और सायण की तीव्र आलोचना की है।

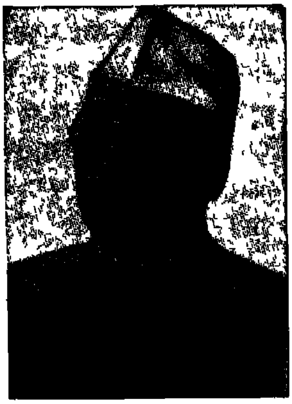
अच्छा होता कि प्रोफ़ेसर मेकडोनल ने वेदों के इन महान भाष्यकारों की केवल त्रुटियां ही न दिखाई होतीं, बल्कि वेदों को सुलभ बनाने में इनका जो महत्त्व-पूर्ण हिस्सा रहा है, उसकी भी दाद दी होती। किन्तु फिर भी प्रोफ़ेसर मैकडोनल बहुत ही उचित कहते हैं, "ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्र शुद्ध और स्पष्ट हैं, इसलिये ऋग्वेद के ऐसे नये वैज्ञानिक अनुवाद को भी पढ़ना चाहिए, जो पुराने भारतीय अनुवाद के साथ मेल खाते हों। किन्तु चूंकि ऋग्वेद भारतीय साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है, इसीलिये इसका बहुत सा हिस्सा स्वयम् भाष्यकारों की ही समझ में नहीं आया और इन हिस्सों को ठीक-ठीक समझने के लिए हमें ऋग्वेद का पूरा पूरा अध्ययन करना होगा। उसका व्याकरण, उसकी शब्दावलि, उसकी शब्द-ध्वनि और उसके छन्दों में इन कठिन हिस्सों को समझने की कोशिश करनी होगी।"

अपने प्रतिपादित नियमों के अनुसार वेदों के सम्पूर्ण अनुवाद की अपनी शुभ इच्छा को पूरा करने के लिए प्रोफ़ेसर मेकडोनल जीवित न रह सके। वैदिक साहित्य का कितना बड़ा कल्याण होता, यदि प्रोफ़ेसर मेकडोनल अपनी इच्छा के अनुसार वेदों का पूरा अनुवाद कर पाते।



हिन्दू संस्कृति के व्यापक सिद्धान्त

डाक्टर सैयद महमूद एम. ए., पी-एच. डी., बार-एट-ला., भूतपूर्व शिक्षा-मन्त्री, बिहार



डाक्टर सैयद महमूद

आर्य जाति ने इस मुल्क में आकर एक नई, स्थायी और निहायत रौशन संस्कृति और सभ्यता की बुनियाद डाली। इस सभ्यता में इतना स्थायित्व है कि बावजूद हज़ारों वर्ष बीत जाने पर भी इसकी सांस्कृतिक दीवारें इतनी ठोस हैं कि लगातार तूफ़ान के झोंके, जो मुख्तलिफ़ सूरतों में इस देश में उठते रहे, इसकी दीवारों को हिला न सके। ज़माने के पलटने और अनेक दुर्घटनाओं के कारण उसके चमकदार और रौशन सिक्के पर भले ही ज़ंग आ गया हो, लेकिन थोड़ा सा घिस कर चमकाने पर वह संस्कृति आज भी दुनिया को सभ्यता और शाइस्तगी का प्रकाश दिखा सकती है।

हिन्दुओं का धर्म बहुत ही प्राचीन है। हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में यदि यह कहा जाय कि यह बहुत से मज़हबों का सम्मिश्रण है, तो ग़ालिबन बेजा न होगा।

इस मज़हब की नींव किसी एक शख़्स ने एक वक़्त में नहीं डाली। बल्कि मुख्तलिफ़ ऋषियों और मुनियों ने, जो मुख्तलिफ़ ज़माने में पैदा हुए, हज़ारों साल के अरसे में इसे बनाया है। अगर इस मज़हब के सूक्ष्म सिद्धान्तों और इसकी महानता को जानने के लिये हम दिव्य ऋषियों और देवताओं के इल्म और अमल के तरीक़ों पर ग़ौर करें, तो उनमें हमें ईश्वरोपासना की पूरी शान और एकेश्वरवाद की पूरी तसवीर नज़र आयगी। गो यह सही है कि आजकल बहुत से हिन्दू मूर्ति पूजते हैं और मूढ जन देहधारी आदमियों को ईश्वर मानने लगे हैं, लेकिन दर असल हिन्दू धर्म में शुद्ध एकेश्वरवाद है। हिन्दू धर्म के अनुसार एक ईश्वर के अलावा दूसरे को मानना गुनाह है। वेदों की असली तालीम ईश्वर की एकता को ज़ाहिर करती है। जगह जगह उसमें लिखा है—"नहीं है वास्तव में कोई उपासना योग्य सिवाय एक ईश्वर के।" वेद की एक और ऋचा यह है—"मैं उस वास्तविक उपास्य देव को ख़ूब पहचानता हूं, जो सृष्टि पर छाया हुआ है, जो सूर्य से भी अधिक प्रकाशवान है और अन्धकार से दूर है। सिर्फ़ इस उपास्य देव को जानने से मुझे मृत्यु पर विजय मिल सकती है। सिवाय इसके मुक्ति का कोई दूसरा रास्ता नहीं है।" भगवद्गीता का एक श्लोक यह है--'मैं वह आत्मा हूं जो हर चेतन के अन्दर है और हर जड़ पदार्थ की गहराई के अन्दर है। मैं न कभी पैदा हुआ और न मरूंगा। कोई ऐसा वक़्त न था जब मैं मौजूद न था। प्रारम्भ और अन्त ख़्वाब हैं। न मैं कभी बदला हूं न कभी बदलूंगा। मृत्यु ने मुझे कभी छुआ तक नहीं।" एक दूसरा श्लोक है—"लोग उस एकेश्वर को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि कहते हैं, लेकिन वह सिर्फ़ अकेला है।"

आमतौर पर लोग यह समझते हैं कि हिन्दुओं के निकट ख़ुदा इनसान की सूरत में जन्म लेता है। और इसी को अवतार कहते हैं। अवतार से मतलब

है जिस्मवाला और ख़ास व्यक्ति। सब प्राणियों में ईश्वर का अश है। लेकिन सबको तो हम अवतार नहीं कहते। जो व्यक्ति अपने समय मे सबसे बड़ा धर्मवान होता है, उसी को भविष्य में लोग अवतार मानकर पूजते हैं। जिसमें अपने समय में सबसे अधिक धार्मिकता हो वही अवतार है। चुनाचे आज भी महात्मा गान्धी को बहुत से हिन्दू अवतार मानने लगे हैं और कुछ जमाने के बाद तो आमतौर पर वह अवतार माने जायेंगे। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि महात्मा गान्धी ईश्वर हैं और ईश्वर ने उनमे जन्म लिया है। बल्कि इसका सिर्फ यह अर्थ है कि वह अपने जमाने के परम धार्मिक व्यक्ति हैं। इस विषय को एक हिन्दू निम्नलिखित पद्य के अन्दर बहुत ख़ूबसूरती से समझा सकता है—

आदम को ख़ुदा मत कहो आदम ख़ुदा नहीं,
लेकिन ख़ुदा के नूर से आदम जुदा नहीं।

मरदाने ख़ुदा ख़ुदा न बाशन्द,
*लेकिन जख़ुदा जुदा न बाशन्द।**

अल्लामा अलबेरूनी नामक एक मशहूर मुसलमान विद्वान और ज्योतिषी महमूद ग़ज़नवी के समय मे हिन्दुस्तान आया और वर्षों तक हिन्दुस्तान मे रहकर उसने संस्कृत की शिक्षा प्राप्त की और हिन्दुओं को विद्यायें सीखीं। बड़े बड़े पण्डित उसका लोहा मानते थे। अलबेरूनी लिखता है—"हिन्दू मूर्तिपूजक कहे जाते हैं, मगर मूर्तिपूजा आम जनता में है, विद्वानों में मूर्तिपूजा नहीं है। वे तो एक ईश्वर को, जिसका आदि अन्त नहीं है, जो अन्तर्यामी है, पवित्र है, जो अपनी मर्ज़ी से जो चाहता है करता है, जो सर्व शक्तिवान है, सर्वज्ञ है, जो जीवन देता है, हुकूमत करता है, जो अपनी बादशाही में निराला है, जिसकी किसी से तुलना नहीं हो सकती, ऐसे ईश्वर को मानते हैं।"

* मनुष्य ख़ुदा नहीं है, लेकिन ख़ुदा से वह जुदा भी नहीं है।

अल्लामा अबुलफज्ल, अकबर का विख्यात वज़ीर और सलाहकार था, जिसने हिन्दुओं के सम्बन्ध में बहुत कुछ बातें मालूम की, लिखता है— "मैंने हिन्दू विद्वानों का बहुत संगति की और हर पन्थ और धर्म के उसूलों को मालूम करके इस किताब (आईने अकबरी) में इस ग़रज़ से लिखा है कि भविष्य में विद्वान लोग अफलातून, अरस्तू और सूफियों के बताए हुए सिद्धान्तों से इनकी तुलना करके बिना किसी पक्षपात के यह मालूम कर सकेंगे कि वास्तविकता क्या है। हिन्दुओं की पुस्तकों मे अमूल्य और उत्तम शिक्षाएं हैं।" फिर आम हिन्दुओं के सम्बन्ध में अबुलफज्ल लिखता है— "इस जमान के बाशिन्दे (हिन्दू) खुदापरस्त (ईश्वरोपासक), दयावान, परोपकारी, हसमुख, मिलनसार, अक़्लमन्द, मेहनती, न्यायवान, धैर्यवान, सहनशील, कार्यशील, नमकहलाल, दानी और वफादार हैं। विपत्ति के समय उनकी असलीयत ज़ाहिर होती है। सब लोग खुदा को एक मानते हैं और अगर ये लोग पत्थर और लकड़ी की मूर्ति या किसी और वस्तु की पूजा करते हैं, तो उसको मूर्ख मनुष्य मूर्ति पूजा समझते हैं। मगर मैंने बहुत से विद्वानों से मालूम किया है कि मूर्ति को बाज ईश्वरोपासकों ने अपनी दिलजमई का आधार बनाया है, ताकि इनका दिल दूसरी तरफ न भटके। वह एक ईश्वर की उपासना जरूरी समझते हैं। अपनी समस्त उपासना और आदतों मे उसी से मदद चाहते हैं और उसी को सबसे ऊपर समझते हैं।" वेद हिन्दुओं के सबसे पवित्र ग्रन्थ हैं, जो मुख्तलिफ वक्तों में लिखे गये हैं। इनमें सबसे मुख्य ऋग्वेद है, जिसका बड़ा हिस्सा उपासना और ईश्वर की प्रशसा और विशेषताओं से भरा हुआ है। लेकिन इसकी बहुत सी ऋचाएं ऐसी भी हैं, जिनसे प्राचीन हिन्दुओं के धर्म, उनकी भाषा, उनकी विद्या, उनके ज्ञान, उनके रहन-सहन और उनकी सभ्यता आदि ज़ाहिर होती है। ऋग्वेद और दूसरे वेदों से मालूम होता है कि हिन्दू जाति एक अत्यन्त सभ्य जाति थी, जिनका सम्पूर्ण

जीवन मुसल्कुत था। उनके दिलों में ईश्वर का डर और भलाई की इच्छा थी। उन्होंने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में बड़े-बड़े चमत्कार किये थे। हिन्दुओं का अध्यात्म, जो हमेशा इस मुल्क की प्रतिष्ठा और ज्ञान को बढ़ाता रहेगा, अब भी सभ्य मुल्कों के लिये मार्ग प्रदर्शन का काम करता है। प्राचीन ईरानियों और फिर अरबों के सम्पर्क से यूरोप निवासी हिन्दुओं की विशेषताओं से सदा लाभ उठाते रहे और अब तक उठा रहे हैं। दानशीलता, मुरव्वत, शराफत और रवादारी हिन्दुओं के खास गुण हैं। इनकी वीरता, मुरव्वत और शराफत की यहा एक मिसाल दी जाती है। इसको ग़ौर से सुनो और देखो कि प्राचीन हिन्दू अपने दुशमनों के साथ कैसा बर्ताव करते थे--

महाभारत की लड़ाई में जब दोनों तरफ के सैन्य दल सज धज कर बाहर आये और व्यूह रचना हो चुकी, तो यकायक युधिष्ठिर और अर्जुन व्यूह के बाहर निकले और अपने अपने हथियार फेंककर शत्रु की फौज की तरफ बढे। सब लोग हैरत में थे और इनकी फौज यह समझी कि शायद यह लड़ना नहीं चाहते। शत्रु यह समझे कि ये लोग हमारी विशाल सेना देख कर डर गये और सुलह के लिये आरहे हैं। दोनों तरफ के लोग निस्तब्ध थे। दोनों पाडव भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य के शिविर में गये और उनके चरणों में सर रखकर बोले "पूज्य गुरुओं ! हम आप के तुच्छ शिष्य हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है कि हमें आपके सामने अस्त्र लेकर खड़ा होना पड़ा और आपको भी विवश होकर हम छोटों के विरुद्ध अस्त्र उठाने पड़े। हमको इसकी शिकायत नहीं है कि आप जैसे गुरू, हमारे शिक्षक हमारे मुक़ाबले में लड़ने पर कटिबद्ध हैं, क्यों कि हमारे विरोधी दुर्योधन से आप वचन बद्ध हैं। मगर हम भी विवश हैं। हमने सुलह के प्रयत्नों मे कोई उपाय उठा नहीं रखा और न कोई कसर छोड़ी। अब जबकि लड़ाई सिर पर आ गई है, तो हमारा कर्तव्य है कि पहले आपको प्रणाम करें और आप से लड़ाई शुरू करने की इजाज़त मागें। अगर दूसरे शत्रु का मुक़ाबला होता, तब भी हम गुरू की हैसियत से बिना आपकी आज्ञा के बाहर न निकलते और अब अगरचे आप ही से युद्ध करना है, तब भी हम आप की इजाजत मांगने आये हैं। जब तक आप इजाजत न देंगे हमारे तीर तरकश से बाहर न निकलेंगे।

भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य पर इस नम्रता का बड़ा असर हुआ और आंखों में आंसू भरकर उन्होंने बहुत सी दुआएं दीं और कहा कि—"जाओ हम तुम को दिल से इजाजत देते हैं। तुम्हारी विजय तो उसी वक्त हो गई, जबकि तुम ऐसे शुद्ध विचार, ऐसी शराफत ऐसी वीरता और ऐसी नम्रता से अपने दुशमनों मे निःशस्त्र चले आये।" आज युधिष्ठिर और अर्जुन नहीं हैं। आज दुर्योधन की ख़ाक भी दुनिया में नहीं है। लेकिन पाण्डवों के इस कार्य की प्रलय तक प्रशसा होगी और यह घटना पीढी दर पीढी हिन्दू जाति के उच्चतम गुणों की गवाही देती रहेगी कि इस जाति के शासक विरोध और शत्रुता में भी उच्चादर्शों और व्यवहारों के कितने पाबन्द थे। इसके बाद महाभारत का युद्ध शुरू हुआ, जिसका परिणाम सब जानते हैं।

उपनिषद में है कि—"ईश्वर सत्य का नाम है, ईश्वर बुद्धि का नाम है, ईश्वर पुण्य का नाम है, ईश्वर असीम का नाम है और ईश्वर प्रेम का नाम है।" "प्रेम का शब्द आख़ीर में आया है और इसमें उद्देश्य है इस बात पर जोर देना कि "प्रेम ही अस्तित्व का आधार है। प्रेम से ही हमारा अस्तित्व है। प्रेम ही की ओर हम बढ़ रहे हैं और फिर प्रेम ही में हम समा जाते हैं।

भक्ति का यही मार्ग बताया गया है। हिन्दुओं का धर्म है नफरत को मिटाने का रास्ता नफ़रत नहीं है, बल्कि नफरत मुहब्बत से मिटती है। हिन्दू धर्म की कोई परिभाषा नहीं है। उसके ईश्वर के हज़ारों नाम हैं। वह ईश्वर के अनन्त गुणों को हज़ारों नामों से याद करता है। ईश्वर की प्रेमपूर्ण विशेषताएं उसके दिल पर छा जाती हैं। वह ईश्वर के प्रेम में सलग्न हो जाता है। यहा तक कि ईश्वर का कोई भय उसके दिल मे बाक़ी नहीं रहता और वह यूं बिला

उठता है—"जिस तरह ज़मीन और आसमान भय नहीं खाते और इससे उनको कोई नुकसान नहीं पहुँचता, उसी तरह मेरी आत्मा तुझसे भय नहीं खाती। जिस तरह सूरज और चाद निर्भय हैं और इससे उन्हें कोइ हानि नहीं, उसी तरह मेरी आत्मा (हे परमात्मा) तुझसे निर्भय है।" हजारों रीतियों से ईश्वर उसके पास आता है। जब वह मुसीबत और कष्ट को मिटाकर आता है, तो वह उसे 'माँ दुर्गा' के नाम से पुकारता है, जब वह उसके अपराधों को क्षमा करता है, तब वह उसे 'हरि' कहता है और जब वह विद्या के रूप मे आता है, तब वह उसे सरस्वती कहता है। हिन्दू किसी एक पुस्तक विशेष को अपने लिये मुक्ति दाता नहीं समझता। बहुत सी पुस्तकें हैं, जिनमें उसका आदर्श निहित है। लेकिन सिर्फ धर्म-पुस्तकों से ही हिन्दू के दिल को सन्तोष नहीं होता। उसका मजहब उसे सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति बनाना चाहता है। उसका मजहब उसे सिखाता है कि वह इसकी परवाह न करे कि कौन हिन्दू है और कौन मुसलमान, कौन ईसाई है और कौन पारसी, कौन यहूदी है और कौन बौद्ध ? सब ईश्वर की रचना हैं। और हर धर्म वाले की मुक्ति उसी के स्वधर्म पालन से होती है। एक सच्चा हिन्दू किसी मजहब को बुरा नहीं कहता और न वह अपने मजहब को सबसे अच्छा बताता है। एक बार विष्णु के एक पुजारी के दिल में शिव के पुजारी की ओर नफरत के भाव पैदा हुए। फिर जब वह विष्णु की पूजा में प्रवृत्त हुआ, तो देखता है मूर्ति का चेहरा दो हिस्सों में बंट गया है। एक तरफ विष्णु का चेहरा है और दूसरी तरफ शिव का। दोनों चेहरे धर्मान्ध पुजारी की ओर देखकर हस रहे हैं। इस क़िस्से से यही निष्कर्ष निकलता है कि मुक्ति के अनेक रास्ते हैं और किसी रास्ते को बुरा न कहो।

एक हिन्दू अपनी आत्मा को ज्ञान के प्रकाश में साधना के द्वारा मुक्ति दिलाना चाहता है। हिन्दू धर्म सत्य को सबसे महत्वपूर्ण और सबसे श्रेष्ठ गुण समझता है। उसके निकट सूर्य का प्रकाश, हवा का झोंका वर्षा की बूंदें और ईश्वर सबके लिये हैं और सबके हैं। भगवद्गीता दुनिया को यही शिक्षा देती है—"जो कोई भी मेरे पास किसी रास्ते से चलकर आता है, मैं उसके पास उसी रास्ते से पहुँचता हूं। बहुत से लोग भिन्न भिन्न रास्ते से मेरे पास पहुँचने की कोशिश में हैं और वे सब रास्ते मेरे हैं।" गीता के इस इशारे के बाद कौन सच्चा हिन्दू किसी दूसरे धर्म को बुरा कह सकता है ? यह श्लोक गीता का सार है और गीता का मौलिक सिद्धान्त जाहिर करता है। हिन्दू अपने ईश्वर को जगन्नाथ कहकर पुकारता है। उसे दुनिया भर की भलाई करने वाला समझता है। वह ईश्वर को सिर्फ अपना चाहने वाला नहीं समझता। हिन्दू के समस्त धार्मिक कर्तव्यों का सार यह है—

ईश्वर की उपासना, देवताओं और ऋषियों की प्रतिष्ठा और श्रद्धा, मा बाप की कद्र और इज्जत, दूसरे मनुष्यों के साथ रोज कोई न कोई नेकी करना, भूखों को खाना खिलाना, प्यासों को पानी पिलाना, जानवरों के साथ मेहरबानी का बर्ताव करना—ये बातें ईश्वर और मनुष्य के प्रेम बल्कि हर प्राणी के प्रति प्रेम को साबित करती हैं। "अपने ईश्वर और अपने पड़ोसियों से जिनमें पशु भी शामिल हैं प्रेम करो।"

वेद, जिनके सम्बन्ध में हिन्दुओं का विश्वास है कि वे अनादि हैं। गो सख्या में चार हैं मगर अकसर हिन्दू विद्वान चौथे वेद को नहीं मानते और कहते हैं इसकी अधिकतर ऋचाएं वही हैं जो ऋग्वेद में हैं। हर एक वेद कई मण्डलों में बटा है। इनमें पहले हिस्से में ईश्वर की प्रार्थनाएं और दुआएं हैं। दूसरे हिस्से में नसीहतें हैं, जो धार्मिक कर्तव्यों का आदेश देती हैं। इसके अलावा इनमें ईश्वर और अध्यात्म के सम्बन्ध मे भी चर्चा है। वेदों की मूल शिक्षा एकेश्वर के विश्वास को प्रकट करती है और बार बार वेदों में इसका ज़िक्र आता है, "कोई सच्चा नहीं है सिवाय उस ईश्वर के जो सब पर छाया है, कुल सृष्टि का स्वामी है, जिसने सृष्टि का निर्माण किया है।" हिन्दुओं का धर्म वास्तव में एक ईश्वर की भावना पर निर्भर है। इनके तमाम पन्थों के विद्वानों की इस सम्बन्ध में एक राय है—

(१) ईश्वर एक है (एकमेवाद्वितीयम्) जो वादहूलाशरीक का बिल्कुल शब्दार्थ है।

(२) उसकी विशेषताएं असख्य हैं। अनेक ऋषियों ने उसके विशेष गुणों की तादाद तीस लाख बताई है।

(३) लेकिन इनमे तीन विशेषताए मुख्य हैं, जिनसे सृष्टि स्थिर है और उसका दैनिक कार्य चलता है—

(अ) ब्रह्मा (उत्पत्ति करने वाला),

(ब) विष्णु (रक्षा करने वाला)

(स) शिव (मारने-जिलाने वाला, सजा और जजा देने वाला)।

(४) इन तीनों का प्रकाश एक एक खास शक्ति के द्वारा हुआ है और होना है—

(अ) ब्रह्मा ने अपनी बुद्धि (सरस्वती) से दुनिया को पैदा किया, यानी कर्ता मे बुद्धि निहित है।

(ब) विष्णु अपनी दया (लक्ष्मी) से दुनिया की रक्षा करने वाला है, यानी रक्षक मे दया निहित है।

(स) शिव अपनी प्रकृति (पार्वती) से दुनिया को सज़ा-जज़ा देता है। यानी सज़ा-जज़ा देने वाले में न्याय की भावना निहित है।

अर्थात् परमेश्वर में बुद्धि + दया + न्याय का समावेश है। अथवा ब्रह्मा + सरस्वती, विष्णु + लक्ष्मी और शिव + पार्वती मिलकर परमेश्वर के रूप हैं। यानी ईश्वर के तीनो विशेष गुणों का प्रकाश एक एक ख़ास शक्ति के द्वारा हुआ है। इसको ठीक से न समझ सकने के कारण लोगों मे यह ग़लतफहमी फैल गई है कि हिन्दू तीन ईश्वरों के क़ायल हैं और ईश्वर के लिये उन्होने एक स्त्री संगनी मुक़र्रर कर दी है। जिस तरह हिन्दू विद्वानों ने ईश्वर के भिन्न भिन्न गुणों को एक दूसरे से नुमाया करके उनके अलग अलग नाम दिये हैं, इससे भी यह ग़लतफहमी पैदा हो गई है कि हिन्दू ३३ कोटि ईश्वरों को मानते हैं। लेकिन यह ग़लतफहमी किसी तरह भी उचित नहीं; क्योंकि असली सिद्धान्त जिसकी निस्बत सब हिन्दू विद्वान और बुद्धिमान एकमत हैं, वह यह है कि ईश्वर एक है और उसमें कोई शामिल नहीं है। उसकी तीन व्यापक विशेषताए हैं, जो सृष्टि की उत्पत्ति, प्रबन्ध और नाश की कारण हैं। हर विशेषता के प्रकाश का तरीक़ा, जो इस दुनिया मे इन्सान को अनुभव होता है, इसमे निहित है कि ईश्वर बुद्धिमान कर्ता, दयावान रक्षक और न्यायवान शासक है।

यहा तक तो समस्त हिन्दू विद्वान एक मत हैं, मगर इसके अतिरिक्त ईश्वर के सम्बन्ध मे अनेक बातों मे काफी मतभेद है, जिससे हिन्दुओं के अन्दर अनेक पन्थ पैदा हो गये। हर पन्थ हर सिद्धान्त को अपने तरीके पर मानता है और दूसरे तरीक़ों को स्वीकार नही करता। ये सिद्धान्त कब और क्यों बहस के विषय बने, यह हिन्दुओं की सस्कृति और सभ्यता पर नजर डालने मे मालूम हो सकता है। हिन्दू विद्वानों ने एकमेवाद्वितीयम् का शब्दशः अनुवाद करके ईश्वर और दुनिया के बाहरी सम्बन्ध को तीन तरह से निश्चित किया है—

(१) श्री शंकराचार्य के अनुसार ईश्वर एक है। उसके अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं। सिवाय ईश्वर के और कोई मौजूद नहीं। इसलिये जो मौजूद है वह ईश्वर ही है। इसके सिवाय और कोई मौजूद नहीं। सृष्टि यदि मौजूद है तो वह ईश्वर का ही रूप है और कोई नहीं। ईश्वर ही सृष्टि है। ईश्वर से सृष्टि जुदा नहीं और सृष्टि मे ईश्वर जुदा नही।

श्री शंकराचार्य और उनके शिष्य एकेश्वरवाद के क़ायल हैं। यानी ईश्वर को सृष्टि से भिन्न नहीं समझते। ये लोग न सिर्फ यही मानते हैं कि "सब वही है और सब उससे है", बल्कि कहते हैं "जो चीज भी है वह उससे है"।

(२) श्री रामानुजाचार्य ने 'एकमेवाद्वितीयम्' का भाष्य दूसरी तरह से किया है। ईश्वर अलग बग़ैर दूसरे के है। ईश्वर के सिवाय यदि कोई दूसरा मौजूद है, तो वह सिर्फ उसी का ज़हूर है। और कोई नहीं। इसलिये जो मौजूद है और जो हमें महसूस होता है वह ईश्वर नहीं लेकिन ईश्वर से जुदा नहीं।

सृष्टि और ईश्वर में आपसी सम्बन्ध ऐसा है जैसे शरीर और आत्मा में है। आत्मा से शरीर ज़िन्दा है और बढता है। फिर भी शरीर जुदा है और आत्मा जुदा। दोनों एक दूसरे के लिये आवश्यक हैं। इसी तरह ईश्वर और सृष्टि एक दूसरे से अलग हैं। हालाकि ईश्वर बिना सृष्टि नही और सृष्टि बिना ईश्वर नहीं। मगर हम सृष्टि को ईश्वर नहीं कह सकते और न ईश्वर को सृष्टि कह सकते हैं। जिस तरह आत्मा से जीवित देह ख़ाली नहीं, उसी तरह यह जीवित सृष्टि ईश्वर से ख़ाली नहीं। ईश्वर सृष्टि में आत्मा के रूप में मौजूद है। यह सम्प्रदाय ईश्वर को सृष्टि से उच्चतर मानता है, हालाकि ईश्वर को सृष्टि से बिलकुल जुदा नहीं करता। यह "सब वही है" और "सब उसमे है" इन दोनों सिद्धान्तों को एक समझता है।

(३) श्री माधवाचार्य ने 'एकमेवाद्वितीयम' का यह अर्थ किया है—ईश्वर एक है, दूसरा ईश्वर नहीं है, ईश्वर के साथ कोई दूसरा शामिल नहीं है। इसलिये सृष्टि ईश्वर के साथ किसी तरह शरीक नहीं है। बल्कि सृष्टि ईश्वर से बिलकुल जुदा है। ईश्वर जुदा है और सृष्टि जुदा है। इन दोनों मे सिर्फ सृष्टि-कर्ता और सृष्टि का सम्बन्ध है। यह सम्प्रदाय "सबमें उसी का अस्तित्व है" के सिद्धान्त को नहीं मानता। ईश्वर को सृष्टि से बिलकुल जुदा और उससे उच्चतर समझता है। ये लोग "सब कुछ वही है" इसे नही मानते, बल्कि "उसी में सब कुछ है" के ही सिद्धान्त को मानते हैं।

इसके बाद दूसरा मुख्य प्रश्न यह है कि ईश्वर के सर्वव्यापी गुण में अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और शिव के गुणों में—कि जिनमें एक एक में सरस्वती, लक्ष्मी और पार्वती के भी गुण शामिल हैं—कौनसा गुण प्रधान है और मनुष्य के लिये सबसे अधिक मननीय है। अगरचे सिर्फ परमेश्वर की हस्ती ही उपासना के योग्य है, लेकिन कहा जाता है कि ईश्वर की हस्ती मानव-कल्पना से परे है, इसलिये उसकी उपासना मानव की तुच्छ बुद्धि से नहीं हो सकती। इसलिये मानव सर्वव्यापी परमेश्वर के केवल एक विशेष गुण की ही उपासना कर सकता है। वह ईश्वर के समस्त गुणों की न एक साथ कल्पना कर सकता है और न उनकी उपासना। इसलिये उसके लाखों गुणों में केवल एक गुण की ही उपासना मनुष्य से अच्छी तरह हो सकती है और वही उसके लिये ईश्वर की उपासना है। यह इसलिये कि गुण अपने आधार से अलग नहीं है और न अलग हो सकता है। लिहाज़ा सवाल पैदा होता है कि ईश्वर के तीन सर्वव्यापी गुणों में से कौनसा गुण है, जो दुनिया में अच्छी तरह प्रकट है; जिसकी उपासना करके मानव ईश्वर के निकट पहुँच सकता है। ईश्वर की निकटता लाभ करना ही उपासना का असली उद्देश्य है।

(१) शैव सम्प्रदाय, शिव के गुण को उपासना का मुख्य आधार मानता है,

(२) वैष्णव सम्प्रदाय, विष्णु के गुण को उपासना के लिये मुख्य समझता है, और

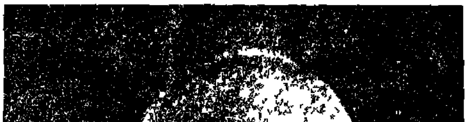
(३) लिंगायत सम्प्रदाय, कर्ता के गुण को उपासना का आधार बनाता है।

पवित्र वेद हमें बताते हैं कि मनुष्य दो रूपों में विभक्त है। एक स्थूल रूप में जिसके कारण देह का सचालन होता है और दूसरा सूक्ष्म रूप में, इससे काम, क्रोध, लोभ, मोह, नेकी, बदी आदि को मनुष्य स्वीकार या तिरस्कार करता है। हालाकि मनुष्य के ये दोनों रूप स्वतन्त्र हैं, लेकिन इनका सम्बन्ध उसी एक परमेश्वर की जात से है, जो सर्वव्यापी है और प्रत्येक वस्तु में छाई हुई है। मनुष्य का स्थूल रूप ही अपने सूक्ष्म रूप के समस्त पातकों का प्रायश्चित्त् झेलता है। वह जन्म जन्मान्तर तक अपने सूक्ष्म शरीर के कर्मों का फल भोगता रहता है। पशुओं और मनुष्य की ८४ लाख योनियों से उसे गुज़रना पड़ता है और जब तक उसके पापों का प्रायश्चित्त् पूरा नहीं हो जाता, वह कष्ट उठाता रहता है। इसके बाद जब उसके सारे पापों का क्षय हो जाता है, तब वह फिर इस अग्नि परीक्षा के बाद अपने कर्ता के समक्ष उपस्थित होता है। परमेश्वर ने मनुष्य को विवेक बुद्धि दी है, जिससे वह भले बुरे की तमीज़

भगवान बुद्ध का कर्मयोग

आचार्य धर्मानन्द कौसाम्बी

[आचार्य कोसाम्बी जी ने २३ साल की अवस्था मे भगवान बुद्ध के चरित्र से प्रभावित होकर गृह-त्याग किया। काशी में संस्कृत का अध्ययन किया। बौद्ध धर्म को समझने के लिये सिंहल और बरमा में बहुत दिनों तक मनन किया। अमरीका की हर्वर्ड यूनिवर्सिटी ने 'विसुद्धिमग्गो' ग्रन्थ के सम्पादन के लिये आपको बुलाया, और वहां चार बार जाकर आपने इस काम को पूरा किया। सन १९२९ में बौद्ध साहित्य के सम्पादन के लिये आप रूस गये। रूस ने आपको बहुत प्रभावित किया। १९३० में आपने सत्याग्रह में भी भाग लिया था। इसके बाद आपने "हिन्दुस्तानी संस्कृति आणि अहिंसा" नामक मराठी ग्रन्थ लिखा, जिसमे साम्यवाद और गान्धीवाद पर ऐतिहासिक विवेचना के साथ आपके विचार हैं। हम कोसाम्बी जी का पूरा परिचय किसी आगामी अङ्क में देंगे।]



आचार्य धर्मानन्द कौसाम्बी

छोटे छोटे समूह आपस में लड़ते लड़ते फिर एक राजसंस्था को अस्तित्व में ले आये। लड़ाई में जय मिलना देवताओं के ऊपर निर्भर करता है, इस विश्वास से अग्नियाग और देवताओं की पूजा का प्रचलन शुरू हुआ और ब्राह्मण वर्ग की स्थापना हुई। सुमेरियन इतिहास से मालूम होता है कि देवता की पूजा करने वाले ही पहले राजा बन जाते थे। सिन्ध प्रदेश में भी यही प्रथा आर्यों के पहले प्रचलित थी। सिन्ध प्रदेश का प्रमुख राजा वृत्र, जिसको इन्द्र ने मारा ब्राह्मण था। उसके मारने के बाद इन्द्र को ब्रह्महत्या लगी, यह कथा पुराणों में प्रचलित है। आर्यों के आगमन के बाद ब्राह्मण राजकीय सत्ता से अलग हो गये। देवता पूजा और अग्नियाग केवल यही इन लोगों के हाथ में रह गया। अग्नियाग करके आदमी स्वर्ग में देवताओं के साथ स्वर्ग-सुखों का अनुभव करता है, ऐसी एक कल्पना प्रचलित हो गई। आजकल के कर्म की जो कल्पना है, उसका अस्तित्व प्रमुख्य वैदिक वाङ्मय* में नहीं मिलता।

यह प्रश्न श्रवण संस्कृति के साथ उठा। वैदिक अग्नियाग त्याज्य समझ कर जो ऋषि मुनि जंगल में तपाचरण करते थे, उन लोगों में जीव-दया का उत्कर्ष होता गया। यज्ञ-पशुओं का मारना ही नहीं, बल्कि छोटे छोटे प्राणियों को भी सताना ठीक नहीं, ऐसा इन लोगों का विश्वास था। किसी तरह से प्राणियों के प्रति

[* वेद, ब्राह्मण और आरण्यक। यद्यपि उपनिषदों की गणना वैदिक वाङ्मय में होती है, तो भी उनके ऊपर श्रवण संस्कृति का प्रभाव काफ़ी मालूम होता है। —लेखक]

उपद्रव करने का नाम था हिंसा था, और ऋषियों की तपश्चर्या थी अहिंसा प्रधान। इसी अहिंसा से आत्मवाद का विकास हुआ। छोटे बड़े सभी प्राणियों में आत्मा होनी ही चाहिये; और आत्मा के मोक्ष के लिये तपश्चर्या करनी चाहिये, ऐसा एक मत बहुत से ऋषियों का हो गया। यही आत्मवाद प्रचलित कर्मवाद का उद्गम है।

ऋषियों की परम्परा से ही श्रवण-संघों की स्थापना हो गई। ऋषियों की तरह श्रवण जंगल में नहीं रहते थे। ये बस्ती के आसपास रहकर भिक्षान्न पर निर्वाह करते थे, और समय समय पर अपने तत्वज्ञान का सामान्य जन समूह को उपदेश देते थे।

इन संघों में निर्ग्रन्थों (जैनों) का संघ सबसे प्रभावशाली था। पूर्व कर्म से आदमी दुःख में गिरा है और इससे मुक्ति पाने के लिये घोर तपस्या करना आवश्यक है, ऐसी जैन साधुओं की मान्यता थी।

दूसरे जो सुप्रसिद्ध संघ बुद्ध पूर्वकाल में थे, उनमें मक्खलिगोसाल परिव्राजक संघ का नायक था। उनका मत यह था कि जीव चौरासी लक्ष योनियों में चक्कर खाते खाते परम विशुद्ध दशा में आकर तपस्वी होता है और मोक्ष पाता है। इसके पहिले ही प्रयत्न करके कोई मोक्ष नहीं पा सकता। यह कल्पना हिन्दू समाज में अंशतः आज भी मौजूद है।

केसकम्बली की तरह कोई कोई श्रवण संघ के नेता कर्म अकर्म का सब वाद झूठा मानते थे। उनका मत था चार महाभूतों से शरीर पैदा होता है और मरने के बाद उन्हीं चार भूतों में विलीन होता है। वे, जब तक आदमी जिन्दा है तब तक शरीर-स्वास्थ्य सम्पादित करना और भिन्न-भिन्न उपभोगों का आस्वाद लेना, परम धर्म मानते थे। लेकिन इन लोगों का बहुजन समाज पर ज्यादा प्रभाव नहीं था। ब्राह्मण क्षत्रिय आदि जातियों पर अग्नियागों का प्रभाव था, और सामान्य लोगों पर तपस्या प्रधान श्रवण साधुओं का।

इसी परिस्थिति में गोतम बोधिसत्व का जन्म हुआ। वे शाक्य क्षत्रियों में एक थे। शाक्य और कोलिय, जो पड़ोसी और सम्बन्धी थे, आपस में रोहिणी नदी के पानी के बारे में बहुत लड़ते थे। कई एक बार पानी का बांध तोड़ देने से दोनों को पानी नहीं मिलता था, जिससे खेती का बहुत नुकसान होता था। इस परस्पर के बैर का परिणाम यह हुआ कि शाक्यों और कोलियों की स्वाधीनता नष्ट हो गई और सार्वभौम सत्ता कोसल राज के हाथ में आ गई, पर तो भी रोहिणी नदी के लिये लड़ाई बीच बीच में चलती ही रही।

पाली वाङ्मय के प्राचीन अंश के अध्ययन से मालूम होता है कि युवक गोतम ने इस लड़ाई में भाग लेने से इन्कार किया और इसीलिये उनका गृह-त्याग करना जरूरी हो गया। यदि वह गृह-त्याग न करते, तो शाक्य उनके परिवार को अपने में से अलग कर देते। लेकिन केवल मात्र अपने कुटुम्ब की रक्षा करने की इच्छा गोतम की न थी। क्षत्रियों क्षत्रियों के युद्ध से समाज की जो हानि होती थी, उससे समाज का उद्धार हो सकता है या नहीं, इसका पता लगाना बुद्ध के गृह-त्याग का प्रधान उद्देश्य था। इस बात का ध्यान रखके बुद्ध चरित का अध्ययन करने से बहुत से तथ्यों पर प्रकाश पड़ेगा।

अनेक सम्प्रदायों का अभ्यास और तदनुसार तपश्चर्या करके गोतम को मालूम हुआ कि तत्कालीन कोई सम्प्रदाय इस समस्या का हल नहीं कर सकता। इसलिये उन्होंने तपश्चर्या छोड़कर स्वतन्त्र रूप से एक नये पथ का शोध शुरू किया और चार आर्य-सत्यों तथा उसके अन्तर्गत अष्टांगिक मार्ग का पता लगाया।

पहला आर्य-सत्य दुःख है। दुनियां में मनुष्य जाति जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु से दुःख पाती है। सबसे दुःख यह है कि आदमी जिस वस्तु की इच्छा करता है, वह वस्तु उसे नहीं मिलती। अर्थात् अप्राप्य वस्तु के लिये उसकी तृष्णा बढ़ती रहती है। और यही दूसरा आर्य-सत्य है कि तृष्णा से सब दुःखों का उदय होता है। तृष्णा के निरोध से ही दुःख का निरोध होता है, यह तीसरा आर्य-सत्य है। और यह

निरोध-प्राप्ति का रास्ता आर्य अष्टांगिक मार्ग है। यह चौथा आर्य-सत्य है। सम्यक दृष्टि, सम्यक संकल्प, सम्यक वाचा, सम्यक कर्म, सम्यक आजीव, सम्यक व्यायाम (प्रयत्न), सम्यक स्मृति और सम्यक समाधि, ये अष्टांगिक मार्ग के आठ अंग हैं।

इस तत्वज्ञान में आत्मा का कोई स्थान नहीं है। जो कुछ दुनिया में है सो दुःख है। और यह सारी मानव जाति का बाधक है। दूसरे को पीडित करके अपना सुख साधन करने की तृष्णा ही मनुष्य जाति के दुःख का प्रधान कारण है। दुःख का नाश तपश्चर्या अथवा अग्नियाग से नहीं हो सकता। जब तक मनुष्य जाति तृष्णा का नाश नहीं कर सकेगी, तब तक किसी न किसी तरह से दुनिया का दुःख बढ़ता ही रहेगा। इस तृष्णा के नाश का यही रास्ता है कि आदमी आदमी के साथ सम्यक बर्ताव करे, यही अष्टांगिक मार्ग का रहस्य है। सम्यक वाचा, सम्यक कर्म इत्यादिक पशु के साथ हो नहीं सकता। आदमी आदमी के साथ शुद्ध बर्ताव करने के लिये ही यह अष्टांगिक मार्ग बताया गया है। इतर प्राणियों के ऊपर दया करना भी आदमियों के लिये आवश्यक है। उन प्राणियों के साथ क्रूरता का व्यवहार करने से आदमी क्रूर होकर स्वजाति के साथ भी उसी प्रकार का बर्ताव करता है। इसलिये दया सार्वत्रिक होनी चाहिये।

बुद्ध के इस तत्वज्ञान का शीघ्र प्रचलित होना असम्भव था। मगध देश में श्रवणों की संख्या काफी थी। फिर भी इस मार्ग का उपदेश करने के लिये बुद्ध भगवान ने पंचवर्गीय भिक्षुओं को खोजते खोजते घोर गर्मी में गया से लेकर काशी तक नंगे पाव प्रवास किया। वहा आने के बाद भी पंचवर्गीय भिक्षुओं को मध्यम मार्ग समझाने में उनको बड़ा प्रयत्न करना पड़ा।

जिसने क्षत्रिय परम्परा छोड़ दी और जिसने तपस्या का त्याग करके श्रवण परम्परा को भी भंग कर दिया, उस धर्म संस्थापक का नास्तिक समझा जाना बिलकुल स्वाभाविक था। ब्राह्मणों का बुद्ध के ऊपर खुल्लमखुल्ला आरोप था कि वह चातुर्वर्ण्य संस्था को भंग करना चाहते थे। (चातुवण्णि-सुद्धिं पञ्ञापेति)१ और जैन उनको अकर्मवादी समझते थे। जब ये तपस्या ही नहीं मानते हैं, तब कर्म कहाँ रहा! आत्मा के मोक्ष के लिये तपस्या के अलावा दूसरा कर्म कौन हो सकता है!

वैशाली के सेनापति सिंह ने जैनों से सुनकर बुद्ध भगवान से प्रश्न किया कि आप अकर्मवादी समझे जाते हैं, क्या यह ठीक है? तब भगवान ने उत्तर दिया—"सच्चा कहने वाला मुझे अकर्मवादी भी कह सकता है। चूंकि मैं सब अकुशल कर्मों की अक्रिया करने का उपदेश करता हूं। दूसरा कोई सच कहने वाला मुझे क्रियावादी भी कह सकता है, क्योंकि सब कुशल कर्मों की क्रिया करने के लिये मैं उपदेश देता हूं।"

इस उपदेश तथा और अनेकों उपदेशों में बुद्ध अपने कर्मयोग का स्वरूप यह बताते हैं कि—सर्व अकुशल कर्मों का अर्थात् जिसमें मानव जाति की यत्किंचित हानि हो, पूर्णतया त्याग करना और जिन में मनुष्य जाति का विकास हो, उन कुशल कर्मों को सर्व प्रकार से परिपूर्णता करना, और इसमें भी 'मैं ये कुशल कर्म कर रहा हूं' ऐसा अभिमान न रखना। यह विचार संक्षेप से धम्मपद की निम्नलिखित गाथा में आ गया है—

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं ॥१८३॥ २

यही बुद्ध का अनासक्त योग कहा जाता है।

इस योग में बुद्ध ने आत्मा या परमेश्वर का सम्बन्ध क्यों नहीं रखा? कोई श्रवण अथवा ब्राह्मण संस्था उस युग में परमेश्वर को मानती ही नहीं थी। श्रवण (साधु) केवल आत्मा मानते थे, और इसमें बहुत विवाद उपस्थित था। एक सम्प्रदाय आत्मा के

---

१ अस्सलायन सुत्त मज्झिमनिकाय देखिये।

२ [सब पापों से अलिप्त रहना, कुशल कर्मों की परिपूर्णता करना और उसमें अपने चित्त को परिशुद्ध रखना, अहंकारादि से चित्त को मलिन न होने देना।]

लिये जो कारण देता था, उनका खण्डन केसकम्बली की तरह के श्रवण साफ साफ करते थे। वे शरीर नष्ट होने के बाद रहने वाली आत्मा मानना शुद्ध मूर्खता समझते थे। जितना आत्मवाद का बल था, उतना ही अनात्मवाद का था। उनमें से कौन वाद झूठा और कौन सत्य था, इसका निर्णय करना बिलकुल असम्भव था। इसलिये बुद्ध का कहना यह था कि इस प्रकार का वाद मनुष्य जाति के लिये खतरा है। उससे किसी का फायदा नहीं हो सकता। बुद्ध भगवान ने भिक्षुओं को बार बार कहा है—"तुम चार आर्य-सत्यों में स्थिर रहो और इस तरह के निरर्थक वाद में मत गिरो। दूसरे लोग कैसे चलते हैं, इसका विचार मत करो। स्वयं इस मार्ग पर चलकर दूसरे लोगों का कुकर्म हटा दो।" सल्लेख सुत्त में बुद्ध भगवान चुन्द भिक्षु से कहते हैं—"दूसरे जब हिंसक होते हैं, उसी समय में तुम लोग अहिंसक रहोगे, ऐसा शुद्ध मार्ग स्वीकार करो। · दूसरे परम लोभी होते हैं, तब तुम अत्यन्त निर्लोभी हो जाओ, ऐसे शुद्ध मार्ग पर चलो।" यह उपदेश विस्तृत है इसका साराश धम्मपद की निम्नलिखित गाथा में आ गया है—

अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने।
जिने कदरियं दानेन सच्चेन अलिकवादिन ॥
(२२३)

(क्रोध को क्षमा से, बुराई को भलाई से, कंजूस-पन को दान से और झूठ को सत्य से जीतें।) यानी दूसरे जब क्रोध के आवेश में हो जाय, तब तुम क्षमा-युक्त आचरण से उनपर जय प्राप्त करो। दूसरे जब दुष्टता का बर्ताव करें, तब तुम साधु आचरण द्वारा उन पर जय प्राप्त करो। दूसरे जब कृपणता का बर्ताव करें, तब दान के बर्ताव से उन पर जय प्राप्त करो। और असत्यवादियों को सत्य से ही जीतो।

ऐसा क्यों करना? इसका कारण निम्नलिखित गाथा में देते हैं—

न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो ॥ ५

(क्योंकि कि) वैर से वैर का शमन नहीं होता, क्षमा से ही वैर का शमन होता है, यह सनातन धर्म है।

बुद्ध का यह कर्मयोग अभी तक पूर्णतया सफल नहीं हुआ है। अशोक के युग में इसका कुछ प्रभाव मानव जाति पर पड़ा और इससे बहुत सा वैर भी नष्ट हो गया। फिर इसका सर्वथा अनुपालन करने में मानव जाति असमर्थ-सी हो गई। क्रिश्चियन धर्म ने इसका कुछ विकास करने का प्रयत्न किया। लेकिन इस्लाम के उदय के बाद क्रिश्चियन धर्म वाले भी हिंसा का प्रतिकार हिंसा से करने को धर्म समझने लगे। दोनों ही सम्प्रदाय परमेश्वर में अचल श्रद्धा रखने वाले थे, तो भी आपस में क्रुसेड्स् की तरह के भयंकर धर्म युद्ध को नहीं रोक सके। बुद्ध के युग में ईश्वरवाद नहीं था, यह हमारे देश का बहुत बड़ा सौभाग्य था, नहीं तो बुद्ध के इस वाद का भी जोरों से विरोध करना पड़ता। आत्मवाद इतना तीव्र न था कि जिसका परिणति क्रुसेडस् में हो जाय। इसका परिणाम यही होता था कि आदमी तपस्या में लग जाता और मनुष्य जाति की सेवा में अपनी सर्व सामर्थ्य को नहीं लगा सकता। बौद्ध धर्म जहा जहा गया, वहा वहा धर्म के लिये रक्त का एक बूंद भी नहीं गिरा। इसका कारण यही है कि यह धर्म ऐसे वादों से अलिप्त रहा।

आजकल परमेश्वर की भावना इतनी शिथिल हो गई है कि यह फिर क्रुसेडस् नहीं पैदा कर सकती। इसकी जगह पर आ गया है स्वदेशाभिमान। स्वदेश के लिये हिंसा क्या अथवा दूसरा कोई भी पाप वाञ्छ-नीय हो रहा है। इस देशाभिमान का प्रभाव सारी दुनिया पर पड़ रहा है। चीन और जापान बौद्ध होने पर भी इसी अभिमान के कारण लड़ रहे हैं। और इस लड़ाई को पाप समझने के बदले पुण्य समझ रहे हैं। यूरोप और अमरीका ने तो आज एक दो शताब्दी से इसी अभिमान में डुबकी लगा लिया है और उन लोगों का शासन हमारे ऊपर होने से हम लोग भी उन्हीं का अनुकरण कर रहे हैं।

किन्तु. इस अभिमान से हमारे देश का ऐक्य होना असम्भव है। हिन्दू और मुसलमान जातियों का अभिमान तो भिन्न भिन्न ही रहेगा और हिन्दू मे भी बंगाल, महाराष्ट्र, बिहार, पंजाब इत्यादिक देश यद्यपि अंग्रेजों की सर्वभौम सत्ता के अन्दर हैं, तो भी अंग्रेजी सत्ता के कमजोर होने पर इन सर्वजातियों का स्वदेशाभिमान जाग उठेगा और इस का शान्त करना कठिन हो जायगा।

हमारे सोशलिस्ट या कम्युनिस्ट भाई कह रहे हैं कि यह समस्या वर्गकलह में ही हल हो जायगी। मुसलमान हिन्दू अथवा दूसरे कोई देश के मजदूरों में बन्धुत्व बढ़ा कर इन लोगों को पूंजीवादियों के विरुद्ध खड़ा करने से पूंजीवाद नष्ट हो जायगा और सारी दुनिया में एक ही मजदूर वर्ग रह जायगा। इस से देशाभिमान के सारे झगड़े मिट जायगे। यह प्रयोग रूस में हो चुका है। इसमे रूसी साम्राज्य में जो जातिया हैं, उनमें एक प्रकार का संगठन भी हुआ है। लेकिन इससे दुनिया की समस्या हल नहीं हुई। हिटलर के हाथ में आने के पहले जर्मनी में ५० लाख कम्युनिस्ट वोटर थे। वे कहां गये? स्वदेशाभिमान के सामने ये ५० लाख कम्युनिस्ट शस्त्र उठाने से भी इन्कार करते, तो भी जर्मन रूस के विरुद्ध युद्ध न कर सकता। जर्मनी के प्रतिकार के लिये रूस वर्गकलह का सहारा नहीं ले सका। फिर उसी त्याज्य देशाभिमान के आश्रय में जाना पड़ा। जर्मनी की युद्ध-घोषणा के तुरन्त बाद मोलोतोव ने जो भाषण दिया, उसे पढ़िये अथवा मास्को रेडियो का प्रचार सुनिये। इन सारी बातों में रूसी स्वदेशाभिमान प्रतीत होता है। वर्गकलह का नाम सुनने में भी नहीं आता। तब जिस देश में रूसी जाति की तरह कोई सर्वव्यापी प्रबल जाति नहीं है, उस देश की समस्या कम्युनिज्म से कैसे हल हो जायगी?

हमारे देश के लिये और दुनिया के लिये फिर बुद्ध के बताये हुए कर्मयोग के बिना दूसरा रास्ता मुझे तो नहीं दीखता। महात्मा गान्धी जी ने इसका प्रयोग बहुत आगे बढ़ाया है। उसमें सिद्धि नहीं मिली इसलिये यह त्याज्य नहीं समझा जाना चाहिये। गान्धी जी ने ही अपने एक व्याख्यान में कहा है—"किन्तु अपने को निराश होने का कारण नहीं। बुद्धदेव की शिक्षा का आजतक पूरा अवकाश ही नहीं मिला। संसार की जिन्दगी में पचीस सौ बरस कुछ नहीं हैं। यदि भौतिक पदार्थों के विकास में करोड़ों वर्ष गुजर जाते हैं, तो विचार की तरह सूक्ष्म वस्तु और आचार के विकास के लिये चमत्कार की आशा क्यों करें?"

इसका अनुभव तो हमारे इतिहास में आ चुका है। बुद्ध भगवान के परिनिर्वाण के समय उनका एक छोटा सा बौद्ध संघ था। इसकी वृद्धि होने के बाद अशोक की तरह सार्वभौम राजा पर इस कर्मयोग का प्रभाव पड़ने में ढाई सौ वर्ष लगे। तो आजकल के जमाने में भी गान्धी जी के प्रयोग ५-१० वर्ष में फलद्रूप कैसे हो सकते हैं? यही हमारा सद्भाग्य है कि हिन्दुओं में से अधिकतर जन-समुदाय इस कर्मयोग का प्रयोग करना भी योग्य मानने लगा। इसका परिणाम कम से कम यह हो गया है कि चीन की तरह हमारा देश लड़ाई, क्रान्ति या विद्रोह से आक्रान्त होकर, और विपत्ति में नहीं गिरा है। सब स्वतन्त्र देशों की ओर देखिये और कहिये कि इसमें से कितने देश आज सुखी हैं? रूस की तरह कम्युनिज्म स्वीकार कर बहुत से कारखाने बनाना और जर्मन की तरह बलवान आक्रमणकारी के आ जाने से अपने हाथ से उन्हें तोड़ देना, कोई बुद्धिमत्ता है! इससे पहले ही ऐसा मार्ग खोजना आवश्यक है, जिसमें आक्रमणकारी कुछ भी नुकसान न कर सके। वरन् अपनी हिंसा का त्याग करे। वह रास्ता, जो बुद्ध भगवान ने बताया और जिसका प्रयोग गान्धी जी कर रहे हैं, वही हो सकता है। इसमें बहुत से विघ्न आवेंगे। जिनमें साम्प्रदायिकता और स्वदेशाभिमान ये दो बड़े हैं। हम लोगों को ख्याल रखना चाहिये कि यह कर्मयोग इन दोनों विघ्नों से अलिप्त रहे। और हम इसी कर्मयोग का विकास करके दुनियाँ की जटिल समस्या को हल करें।

संस्कृति क्या है ?

आचार्य गुरुदयाल मल्लिक



आचार्य गुरुदयाल मल्लिक

संस्कृति का अर्थ है सत्य, शिव, सुन्दरं और अद्वैतम् के लिये अपने मस्तिष्क और हृदय में आकर्षण अनुभव करना, उनसे प्रेम करना और अभिव्यंजन के द्वारा उनकी प्रशंसा करना। हर एक व्यक्ति कभी न कभी उनकी तरफ़ आकर्षित तो होता ही है; लेकिन उस आकर्षण को स्थायी रूप से अनुभव करना और आकर्षण के कारण जो अध्यात्मिक अनुभूतियां उत्पन्न होती हैं, उनको रूप देना बहुत कम लोग जानते हैं। ऐसी शक्ति तो केवल प्रभु की कृपा का फल ही है। जैसे हिमालय पर्वत के शिखर पर जब सूर्य्य की किरणें पड़ती हैं तो उस सुन्दर दृष्टि को बाहर की आंखों से तो सब देख सकते हैं और आनन्दित भी हो सकते हैं, लेकिन उस आनन्द को नृत्य या गीत या चित्र या साहित्य के रूप में प्रकाश करने की शक्ति कितनों में है? और अगर यह भी कहा जाय कि ऊपर आंख करके उस सुवर्णमयी चोटी को देखते ही कितने लोग हैं, तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं होगी; क्योंकि सच तो यह है कि स्वार्थ के दबाव से हमारी आंखें हमेशा जमीन की तरफ़ ही लगी रहती हैं और हम भूल जाते हैं कि आकाश में तारे चमकते हैं और बाग़ में फूल खिलते हैं और समाधि में प्रभु का परस मिलता है—अर्थात् कमल की तरह कीचड़ से ऊपर उठ कर सूरज की दिशा में मुंह करना हम नहीं जानते।

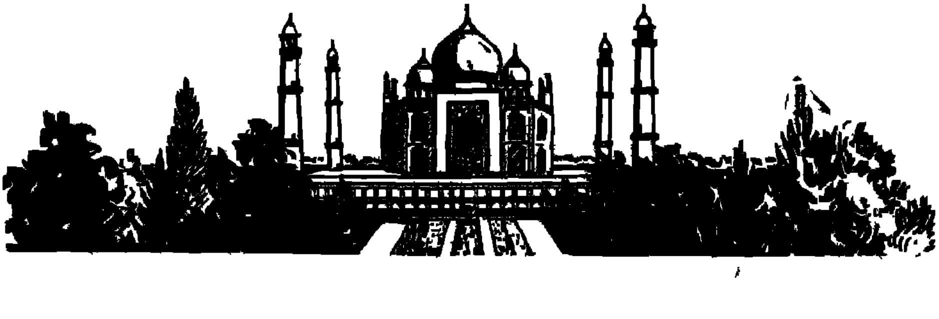
लेकिन यह कमल कैसा?

यह कमल वह है जो युग युगान्तर से आत्मा के उद्यान में खिलता आ रहा है। उसका खिलाने वाला प्रभु है। धन्य है वह शक्ति जिसे इस कमल की ख़बर मिली है या जिसने उसकी सुगन्ध को आघ्राण किया है या उसकी शुभ्र ज्योति को देखा है।

हमारे मध्ययुग के साधु-सन्तों ने इस कमल को न केवल देखा था, बल्कि उसकी ख़बर सबको पहुंचाने की कोशिश भी की थी। उनका अपना आध्यात्मिक जीवन तो सर्वदा सुगन्धित था ही, उन्होंने भारत के प्राणों को भी सुगन्धित कर दिया, और उनकी साधना की सुगन्ध अब तक हमारे गांवों में पायी जाती है। मेरा तो अपना यह विश्वास है कि अगर गांवों के लोगों में प्रभु के प्रति प्रेम अब तक पाया जाता है तो वह उन साधु-सन्तों की साधना का ही फल है। उन्होंने तो दैविक-कमल या सद्विचारों और सद् व्यवहार के बीज जगह-जगह बो दिये और जिस जिसने उस बीज को खाद दिया उसका बीज अंकुरित हुआ और उसने उस कमल की सुगन्ध और सौन्दर्य्य दोनों की ख़बर पा ली।

इसलिये संस्कृति को आत्मा-कमल का खिलाना ही कह सकते हैं। किसी मनुष्य की मानसिक शक्ति या हाथ का कौशल कितना ही ऊंचे दर्जे का क्यों न हो, उसको संस्कृति का सच्चा पुजारी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि संस्कृति का सच्चा पुजारी वही हो सकता है जो अद्वैतम् का आदर्श सामने रखता है और अपनी हर एक कृति में या अपने हर एक कर्म में उसका प्रमाण देता है। यह कहना इसलिये पड़ता है क्योंकि देखा गया है कि मानसिक शक्ति वाले द्वैत भाव को ज्यादा बढ़ाते हैं और बजाय जो एक है उसकी याद दिलाने के (वह एक सत्य हो या भगवान हो) अपनी ही तरफ़ ज़्यादा ध्यान खींचते हैं और ऐसे "मैं" और "तू", "मेरी" और "तेरी" का मन्त्र और भी ऊंचे स्वर से रटते हैं और औरों को भी रटना सिखाते हैं।

संस्कृति का उपासक बेशक सत्यं को देखे, सुन्दर को देखे, शिव को देखे, लेकिन उन सब को अद्वैतम् की खिड़किया समझकर ही देखे, नहीं तो वह संस्कृति का सच्चा और सीधा रास्ता भूल जायगा और उसकी कृतिया भूल भुलैया का एक खेल बन जायेंगी।



संस्कृति

भदन्त आनन्द कौसल्यायन



भदन्त आनन्द कौसल्यायन

जो शब्द सब से कम समझ में आते हैं और जिनका उपयोग होता है सबसे अधिक; ऐसे दो शब्द हैं, सभ्यता और संस्कृति।

इन दो शब्दों के साथ जब अनेक विशेषण लग जाते हैं, उदाहरण के लिये जैसे भौतिक सभ्यता और आध्यात्मिक सभ्यता, तब दोनों शब्दों का जो थोड़ा बहुत अर्थ समझ में आया रहता है, वह भी गलत मलत हो जाता है। क्या ये एक ही चीज हैं अथवा दो वस्तुएं? यदि दो हैं, तो दोनों में क्या अन्तर है? हम इसे अपने तरीके पर समझने की कोशिश करें।

कल्पना कीजिये उस समय की, जब मानव समाज का अग्नि देवता से साक्षात नहीं हुआ था। आज तो घर घर चूल्हा जलता है; जिस आदमी ने पहले पहल आग का आविष्कार किया होगा, वह कितना बड़ा आविष्कर्ता रहा होगा?

अथवा कल्पना कीजिये उस समय की जब मानव को सुई धागे का परिचय न था; जिस मनुष्य के दिमाग में पहले पहल यह बात आई होगी कि लोहे के एक टुकड़े को घिस कर उसके एक सिरे में छेद कर और छेद में धागा पिरो कर कपड़े के दो टुकड़े एक साथ जोड़े जा सकते हैं, वह भी कितना बड़ा आविष्कर्ता रहा होगा।

इन्हीं दो उदाहरणों पर विचार कीजिये; पहले उदाहरण में एक चीज़ है—किसी व्यक्ति विशेष की आग का आविष्कार कर सकने की शक्ति और दूसरी चीज़ है आग का आविष्कार। इसी प्रकार दूसरे सुई धागे के उदाहरण में एक चीज है सुई धागे का आविष्कार कर सकने की शक्ति और दूसरी चीज़ है सुई धागे का आविष्कार।

जिस योग्यता, प्रवृत्ति अथवा प्रेरणा के बल पर आग का वा सुई धागे का आविष्कार हुआ, वह है व्यक्ति विशेष की संस्कृति और उस संस्कृति द्वारा जो आविष्कार हुआ, जो चीज़ उसने अपने तथा दूसरों के लिये आविष्कृत की, उसका नाम है सभ्यता।

जिस व्यक्ति में पहली चीज़ जितनी अधिक वा जैसी परिष्कृत मात्रा में होगी, वह व्यक्ति उतनाही अधिक वा वैसाही परिष्कृत आविष्कर्ता होगा।

एक संस्कृत व्यक्ति किसी नई चीज़ की खोज करता है; किन्तु उसकी सन्तान, को वह अपने पूर्वज से अनायास ही प्राप्त हो जाती है। जिस व्यक्ति की बुद्धि ने अथवा उसके विवेक ने किसी भी नये तथ्य का दर्शन किया, वह व्यक्ति ही वास्तविक संस्कृत व्यक्ति है और उसकी सन्तान जिसे अपने पूर्वज से वह वस्तु अनायास ही प्राप्त हो गई है, वह अपने पूर्वज की भांति सभ्य भले ही बन जाय, संस्कृत नहीं कहला सकता। एक आधुनिक उदाहरण लें। न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का आविष्कार किया।

वह एक संस्कृत मानव था। आज के युग का भौतिक विज्ञान का विद्यार्थी न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण से तो परिचित है ही; लेकिन उसके साथ उसे और भी अनेक बातों का ज्ञान प्राप्त है, जिनसे शायद न्यूटन अपरिचित ही रहा। ऐसा होने पर भी हम आज के भौतिक विज्ञान के विद्यार्थी को न्यूटन की अपेक्षा अधिक सभ्य भले ही कह सकें; पर न्यूटन जितना संस्कृत नहीं कह सकते।

आग के आविष्कार में कदाचित पेट की ज्वाला की प्रेरणा रही। सुई धागे के आविष्कार में शायद शीतोष्ण से बचने तथा शरीर को सजाने की प्रवृत्ति का विशेष हाथ रहा। अब कल्पना कीजिये उस आदमी की जिसका पेट भरा है, जिसका तन ढंका है, लेकिन जब वह खुले आकाश के नीचे सोया हुआ रात के जगमगाते तारों को देखता है, तो उसको केवल इस-लिये नींद नहीं आती क्योंकि वह यह जानने के लिये परेशान है कि आखिर यह मोती भरा थाल क्या है? पेट भरने और तन ढकने की इच्छा ही मनुष्य की संस्कृति की जननी नहीं है। पेट भरा और तन ढका होने पर भी ऐसा मानव, जो वास्तव में संस्कृत है, निठल्ला नहीं बैठ सकता। हमारी सभ्यता का एक बड़ा अंश हमें ऐसे संस्कृत आदमियों से ही मिला है, जिनकी चेतना पर स्थूल भौतिक कारणों का प्रभाव प्रधान रहा है, किन्तु उसका कुछ हिस्सा हमें ऐसे मनीषियों से भी मिला है जिन्हों ने तथ्य विशेष को किसी भौतिक प्रेरणा के वशीभूत होकर नहीं, बल्कि उनके अपने अन्दर की सहज संस्कृति के ही कारण प्राप्त किया हैं। रात के तारों को देखकर न सो सकने वाला मनीषी हमारे आज के ज्योतिष ज्ञान का ऐसा ही प्रथम पुरस्कर्ता था।

भौतिक प्रेरणा, ज्ञानेप्सा क्या ये दो ही मानव संस्कृति के माता पिता हैं? दूसरे के मुंह में कौर डालने के लिये जो अपने मुंह का कौर छोड़ देता है, उसको यह बात क्यों और कैसे सूझती है? रोगी बच्चे को सारी रात गोद में लिए जो माता बैठी रहती है, वह आखिर ऐसा क्यों करती है? सुनते हैं कि रूस का भाग्य विधाता लेनिन अपने डैस्क में रखे हुए डबल रोटी के सूखे टुकड़े स्वय न खाकर दूसरों को खिला दिया करता था। वह आखिर ऐसा क्यों करता था? संसार के मजदूरों को सुखी देखने के स्वप्न देखते हुए कार्ल मार्क्स ने अपना सारा जीवन दुःख में बिता दिया। और इन सबसे बढ़ कर आज नहीं, आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व एक सिद्धार्थ ने अपना घर केवल इसलिये त्याग दिया कि किसी तरह तृष्णा के वशीभूत लड़ती कटती मानवता सुख से रह सके।

हमारी समझ मे मानव की जो योग्यता आग व सुई धागे का आविष्कार कराती है, वह भी संस्कृति है; जो योग्यता तारों की जानकारी करती है, वह भी संस्कृति है; और जो योग्यता किसी महामानव से सर्वस्व त्याग कराती है, वह भी संस्कृति है।

और सभ्यता? सभ्यता है संस्कृति का परिणाम। हमारे खाने पीने के तरीके, हमारे ओढ़ने पहनने के तरीके, हमारे गमना गमन के साधन, हमारे परस्पर कट मरने के तरीके, सब हमारी सभ्यता हैं? मानव की जो योग्यता उस से आत्म-विनाश के साधनों का आविष्कार कराती है, हम उसे उसकी संस्कृति कहें वा असंस्कृति? और जिन साधनों के बल पर वह दिन रात आत्म-विनाश में जुटा हुआ है, उन्हें हम उसकी सभ्यता समझें वा असभ्यता? संस्कृति का यदि कल्याण की भावना से नाता टूट जायगा तो वह असंस्कृति होकर ही रहेगी और ऐसी संस्कृति का अवश्यम्भावी परिणाम असभ्यता के अतिरिक्त दूसरा क्या होगा?

हम अनेक बार संस्कृति और सभ्यता के खतरे में होने की बात सुनते हैं। हिटलर के आक्रमण के कारण मानव संस्कृति तो खतरे में पड़ी कही ही जाती है, लेकिन उससे ज्यादा जोर से हम अपने देश में हिन्दू संस्कृति अथवा मुसलिम संस्कृति के लिये खतरे की बात सुनते हैं। ताजिये को निकालने के लिये पीपल का तना कट गया, तो हिन्दू संस्कृति खतरे में पड़ जाती है और मस्जिद के सामने बाजा बज गया, तो मुस्लिम संस्कृति कहीं की नहीं रहती? हम न तो 'हिन्दू

संस्कृति' को ही समझते हैं न मुस्लिम संस्कृति को। 'हिन्दुओं की संस्कृति' या 'मुसलमानों की संस्कृति' कुछ समझ में भी आती है, लेकिन यह 'हिन्दू संस्कृति' और 'मुस्लिम संस्कृति' क्या बला है? लेकिन जिस देश में पानी और रोटी का भी हिन्दू मुस्लिम बटवारा मौजूद हो, उसमें संस्कृति के बटवारे पर क्या आश्चर्य!

हिन्दुओं की संस्कृति में भी प्राचीन संस्कृति और नवीन संस्कृति का बटवारा मौजूद है। वर्ण-व्यवस्था के नाम पर मनुष्य समाज के बड़े कर्मठ हिस्से को पद दलित रखना ही कुछ लोगों की दृष्टि में प्राचीन हिन्दू संस्कृति है। वे उसी की रक्षा को स्वराज की स्थापना मानते हैं।

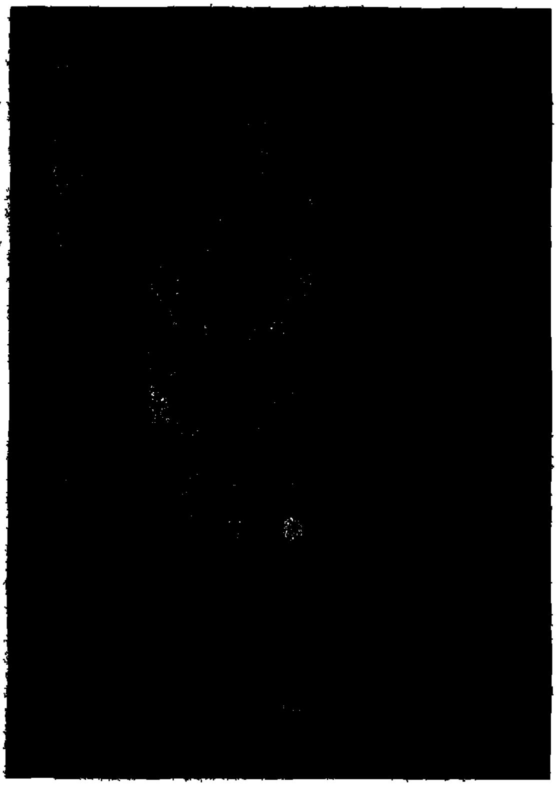
इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृति की छीछा-लेदर की हद नहीं। संस्कृति के नाम से जिस कूड़े करकट के ढेर का बोध होता, है वह न संस्कृति है न रक्षणीय वस्तु। क्षण क्षण परिवर्तित होने वाले संसार में कोई चीज़ पकड़कर बैठा नहीं जा सकता। मानव ने जब जब प्रज्ञा और मैत्री भाव से किसी नए तथ्य का दर्शन किया है तो उसने कोई ऐसी वस्तु नहीं देखी है, जिसकी रक्षा के लिए दलबंदियों की ज़रूरत है।

मानव संस्कृति एक अविभाज्य वस्तु है और उसमें जितना अंश कल्याणकर है, वह अकल्याणकर की अपेक्षा श्रेष्ठ ही नहीं स्थायी भी है।



भारत और चीन का सांस्कृतिक सम्बन्ध

प्रोफ़ेसर तान युन-शान



भारत और चीन दो सगी बहिनों की तरह हैं। आपसी सम्बन्ध और समानता को देखते हुए दोनों एक दूसरे से बेहद निकट और अभिन्न हैं। दुनिया के समस्त देशों के इतिहास और भूगोल को देख जाइये, भारत और चीन का जो सम्बन्ध है वह दुनिया के किसी दूसरे दो देशों में न मिलेगा। किन्हीं दो देशों की तुलना भारत और चीन के साथ नहीं हो सकती। चाहे जिस पहलू से और चाहे जिस तरह से देखिये यही बात सच्ची ठहरेगी। हमारे दोनों देश महान एशिया महाद्वीप के अंग हैं, भारत दक्षिण-पश्चिम में है और चीन उत्तर-पूरब में। हालांकि दोनों दो भिन्न भिन्न दिशाओं में फैले हुए हैं फिर भी दोनों एक गाड़ी के दो पहियों की तरह या एक पक्षी के दो पंखों की तरह हैं। अथवा यह कहना उपयुक्त होगा कि दोनों किसी व्यक्ति के दो हाथों, दो पैरों, दो कानों या दो आंखों की तरह हैं। भव्य और महान ऐश्वर्यशाली विराट हिमाञ्चल दोनों की रीढ़ की हड्डी, कन्धे, या गर्दन की तरह है, और यही कहना चाहिये कि हिमालय ही नदियों की विगलित धाराओं के रूप में दोनों देशों की रक्त-धारा या धमनियों का काम देता है। यद्यपि दोनों देश दो दिशाओं में बसे हुये हैं, फिर भी उनका भौतिक रूप एक सा है।

एक प्राचीन चीनी कहावत में एक महान देश और उसकी घनी आबादी का ज़िक्र आता है। भारत और चीन दोनों ही देश महान हैं और दोनों की आबादी घनी है। इसके अतिरिक्त दोनों देशों की ज़मीन उपजाऊ, रमणीक और समृद्धिशाली है। दोनों देशों की जनता ईमानदार और मेहनती है। हमारी उपजाऊ ज़मीन में थोड़े परिश्रम से ही बहुत पैदावार होती है। उससे न केवल दोनों देशों की जनता का काम चल जाता है, बल्कि इतना बचता है कि अन्यान्य देशों को भी हम बहुत कुछ दे सकते हैं।

हमारी सभ्यता अति धुंधले प्राचीन काल से शुरू होती है, जिसके निर्माण को हज़ारों वर्ष बीत चुके। चीन के इतिहास का जो निश्चित लेखा मिला है, उसके अनुसार चीन में हुआंग-ति साम्राज्य की नींव सन् २६९७ ईसा पूर्व में पड़ी। इस तरह चीनी पञ्चांग के अनुसार यह [illegible] वां चीनी संवत्सर है। किन्तु ऐतिहासिक काल के पूर्व का प्रागैतिहासिक काल भी हज़ारों वर्षों के इतिहास में आया होगा।

हज़ारों वर्ष पुरानी अनेक चीनी पुस्तकों के अनुसार चीनी सभ्यता हुआङ्ग-ति के साम्राज्य से १८ हज़ार वर्ष पहले प्रारम्भ हुई। पर ये उल्लेख इतने प्राचीन हैं कि इन पर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता। हुआङ्ग-ति के शासनकाल के बाद की घटनाओं का एक एक प्रामाणिक उल्लेख हमें मिलता है। इन उल्लेखों में किसी प्रकार के सन्देह की कोई गुंजाइश ही नहीं है। भारत के सम्बन्ध में प्राचीन चीनी ग्रन्थों मे बहुत कुछ वर्णन दिया हुआ है। प्राचीन चीनी ग्रन्थों के अनुसार प्राचीन भारत प्राचीन चीन की ही तरह एक महान देश था। वर्तमान इतिहासज्ञों ने अपनी खोजों से यह बात साबित की है कि वेदों का रचना-काल तीन हज़ार ईसा पूर्व से दो हज़ार ईसा पूर्व तक का है, और भारतीय सभ्यता लगभग पाच हज़ार वर्ष पुरानी है, इस बात के मानने मे किसी तरह का सन्देह रह ही नहीं जाता। लिपि का आविष्कार किसी भी सभ्यता की प्रगति का सबसे बड़ा और आवश्यक अङ्ग है। किसी भी देश की प्राचीन लिपि के जान लेने से उस देश की प्राचीन सभ्यता के इतिहास के जाना जा सकता है। चीनी लिपि हुआङ्ग-ति के समय में पूर्ण उन्नति कर चुकी थी। लेकिन उसके उन्नति करने में और पूर्णता तक पहुँचने में कम से कम सैकड़ों वर्ष अवश्य लगे होंगे। प्राचीन चीनी ग्रन्थों और उपाख्यानों के सम्बन्ध मे इतने अधिक प्रमाण मिले हैं कि उन्हें यहा उद्धृत करने की जगह नहीं। 'फ़ा-युवान-चु-लिन' नामक चीनी पुस्तक में, जिसका शब्दार्थ है "बौद्ध संसार के मोती" और जिसे प्रसिद्ध भिक्खु, ताओ-शिह ने ताङ्ग राजकुल के समय में लिखा था, इसमें भारतीय लिपि प्रणाली के सम्बन्ध में कुछ सुन्दर वाक्य मिलते हैं। उसमें लिखा है—"प्राचीन काल की लिपियों के तीन महान आविष्कारक हुये, इनमें पहला ब्रह्मा था, जिसने बायें से दायें की तरफ़ लिखना शुरू किया, दूसरा खारू था, जिसने दाहिने से बांई ओर लिखना शुरू किया और तीसरा त्स'अङ्ग-चिआ था, जो ऊपर से नीचे की ओर लिखता था।"

इसका अर्थ यह कि ब्रह्मा ब्राह्मी लिपि का आविष्कारक था, खारू खरोष्टि लिपि का आविष्कारक था और त्स'अङ्ग-चिआ चीनी लिपि का आविष्कारक था। यह चीनी आविष्कारक हुआन-ति के राज्य में एक पदाधिकारी था। वास्तव में चीनी लिपि का आविष्कारक त्स'अङ्ग-चिआ न था, उसने तो केवल चीनी लिपि-साहित्य का संकलन और सम्पादन किया। उपरोक्त पुस्तक के अन्दर नीचे लिखे वाक्य भी आते हैं, "ब्रह्मा सबमें जेठा था, उसके बाद खारू था, ये दोनों 'तिएन्चु' (भारत) में रहते थे और त्स'अङ्ग-चिआ सब में छोटा था और मध्य-राज्य (चीन) में रहता था।"

इस उद्धरण से साबित होता है कि भारतीय लिपि का आविष्कार सम्राट अशोक से बहुत पहले हुआ होगा, या कम से कम त्स'अङ्ग-चिआ के समय वह अपने चरम सीमा पर थी। हाल में पुरातत्त्व-वेत्ताओं ने भारत में जो खुदाइयां की हैं, उनसे यह बात निश्चित ही मालूम हो जायेगी कि भारतीय साहित्य के कब से लिपिबद्ध किया जाने लगा। फिर भी यह स्पष्ट है कि भारतीय और चीनी सभ्यता दोनों एक समान हैं और दोनों सम-कालीन हैं।

संसार के प्राचीन सभ्य देशों मे चार मुख्य हैं—(१) मिस्र (२) बाबुल (३) भारत और (४) चीन। इनमें से प्राचीन मिस्र और बाबुल ऐतिहासिक दृष्टि से अतीत के गह्वर में समा गये हैं। न केवल उनके मूल निवासी ही नष्ट हो गये, बल्कि अतीत की पट-भूमिका में ये सभ्यताए धुधले सान्ध्य-प्रकाश की तरह रह गई हैं। उनके देश और उनके शहर पुरातत्त्ववेत्ताओं के लिए खोज और खुदाई के स्थान मात्र रह गये हैं, और उनकी महान् विद्यायें तथा उनकी कवितायें लोगों के शोक संगीत की विषय मात्र हैं। युगों की दौड़ में अनेक युवक-राष्ट्र बने और बिगड़े। उन्होंने उन्नति की और उनका पतन हुआ। केवल दो देश चीन और भारत हज़ारों वर्ष से लेकर अब तक उसी तरह दृढ़ और गर्वोन्नत खड़े हैं।

हालांकि हमारे दोनों देश अनेकों बार विदेशियों द्वारा कुचले गये, रौंदे गये, और गुलाम बनाये गये, फिर भी हमारे उन्नत व्यवहार और आदर्श हमारी शिक्षाएं और हमारे रीति रिवाजों ने जंगली और हिंसक आक्रामकों को अपने अन्दर लीन करके उन्हें सभ्य और सुसंस्कृत बना लिया। इसलिये हमारे ये दोनों देश और देशों के मुक़ाबले में स्थिर और क़ायम रहे तथा दोनों सदा ऐश्वर्यपूर्ण रहे। भारत और चीन केवल इन दोनों देशों के इतिहास की यह आश्चर्य-जनक विशेषता है।

चीन के राष्ट्रीय स्वभाव में प्रेम और नम्रता ये दो ख़ास गुण हैं; और उन्हें पालन करने से मनुष्य 'जेन' (पूर्णत्व) प्राप्त करता है। भारत के राष्ट्रीय स्वभाव की भी जो मौलिक विशेषताएं हैं, वे हैं प्रेम और शान्ति, और जिनके पूर्णत्व का परिचय हमें 'अहिंसा' शब्द में मिलता है। भारत और चीन में दया, नम्रता, प्रेम और शान्ति चारों गुण एक ही अर्थ में प्रयोग होते हैं। चीन में जीवन का आधार दिव्य-पथ है। भारतवासी प्रकृति के साथ समन्वय को जीवन का आदर्श मानते हैं। वे सदाचार, संयम और विवेक पर बेहद ज़ोर देते हैं। जड़ और चेतन की एकाकारिता में भारतीय आदर्श पूर्णत्व पाता है। चीनियों में पितरों की पूजा का रिवाज है, जिससे वहां कुटुम्ब के प्रति प्रेम की भावना बेहद होती है। इसीलिये चीन में पीढ़ी दर पीढ़ी बड़े बड़े सम्मिलित कुटुम्ब क़ायम रहे। यही हाल भारतीय जनता का भी है। भारतवासी भी प्रेम को बेहद महत्त्व देते हैं। वे अपने गुरुओं और अपने बुज़ुर्गों के प्रति बेहद आदर दिखाते हैं। चीन भी यही करता है। सामाजिक व्यवहार में चीनी 'न्याय' और 'सद्भावना' को महत्त्व देते हैं। किसी से 'फ़ायदा उठाने' और 'नुक़सान होने' को वे कोई महत्त्व नहीं देते। बल्कि इन दोनों शब्दों से उन्हें सख़्त नफ़रत है। भारतवासियों का भी यही हाल है। सदाचार और लज्जा को भारतवासी आदर्श समझते हैं। लज्जा को स्त्रियां अपना आभूषण समझती हैं। यही चीन में भी है। सदाचार और नैतिक नियमों के सम्बन्ध में हमारे देश के ऋषियों और सन्तों ने भी बहुत ज़ोर दिया है। सन्त कन्फ्यू-शियस ने जनता के लिये 'वू-चाङ्ग' ५ नैतिक नियम बनाये हैं। वे ये हैं—(१) 'जेन', जिसका अर्थ है परोपकार, (२) 'यि' जिसका अर्थ है सचाई, (३) 'लि' जिसका अर्थ है औचित्य, (४) 'चिह', जिसका अर्थ है ज्ञान, (५) 'हिसान', जिसका अर्थ है विश्वास गनना। वर्धमान जिन और शाक्य मुनि बुद्ध दोनों ने पंचशील या पांच नैतिक नियमों का प्रचार किया है। वर्धमान ने कहा है (१) सच बोलो (२) पवित्र और सादा जीवन व्यतीत करो (३) किसी की हिंसा न करो (४) चोरी न करो (५) सदाचारी जीवन व्यतीत करो। बुद्ध ने कहा है (१) हिंसा न करो (२) चोरी न करो (३) व्यभिचार न करो (४) झूठ न बोलो (५) नशा न करो। चीनी जनता 'चिह जैन-चुङ्ग' या ज्ञान, परोपकार और साहस इन तीनों गुणों को मानवता के लिये आदर्श समझती है। भारतीय जनता भी शील, समाधि और प्रज्ञा को जीवन यात्रा के लिये प्रकाशस्तम्भ मानती है। भारत और चीन के इतिहास उस तरह के नैतिक आदर्शों की तुलना से भरे पड़े हैं।

हमारे राष्ट्रीय जीवन की ये कुछ समानताएँ हैं। जहां तक भारत और चीन के सांस्कृतिक समन्वय का सम्बन्ध है, यह दो हज़ार वर्ष से अधिक हुये शुरू हुआ। बुद्ध चरित में लिखा है कि एक बार भगवान बुद्ध को आचार्य विश्वामित्र ने अनेक पुस्तकों का उद्धरण देते हुए बताया था कि एक ऐसी किताब है, जिसे लोग चीनी ग्रन्थ कहते हैं। दूसरे बौद्ध ग्रन्थ "रत्न कथा" में हमें कुछ चीन प्रदेशों के नाम जैसे 'कु,' 'शु,' 'चिन' मिलते हैं। चीन के ग्रन्थों में इस तरह के अगणित उल्लेख मिलते हैं। उस समय जब कि आजकल के प्रमुख और शक्तिमान राष्ट्रों का कोई अस्तित्व ही नहीं था, जब कि आज के सभ्य देशों की जनता जंगली स्थिति में ही पड़ी हुई थी, जब कि वे लोग खेती-किसानी तक नहीं जानते थे, उस समय भारत और चीन धन और समृद्धि की दृष्टि से अपने शिखर पर थे।

उन्होंने ऐश्वर्यशाली और महान सभ्यताओं को जन्म दिया और उस समय की दुनियां में यूरोप अमरीका आदि जितनी उन्नति आज नहीं कर सके, उससे कहीं अधिक उन्नति चीन और भारत ने की। पाश्चात्य सभ्यता का क्या सार है, जिस पर गोरे मनुष्यों को इतना अभिमान है और जिसे आम जनता इतने आश्चर्य से देखती है! वह है—विज्ञान। भारत और चीन में इस पुराने ज़माने में विज्ञान का सूत्रपात हो चुका था। हज़ारों वर्ष पूर्व भारत में पंच विद्याओं का आविष्कार हो चुका था, जिन्हें चीन में 'वू-मिन' कहा जाता था। वे ये थीं—(१) शब्द विद्या (२) शिल्प कर्म स्थान विद्या (३) चिकित्सा-विद्या (४) हेतु विद्या और (५) अध्यात्म विद्या। जिन्हें उस समय चीन की छै कलाओं का ज्ञान था उन्हें आजकल 'लु ई' कहते हैं। वे थीं—(१) 'लि' नैतिकता (२) 'यु'—संगीत (३) 'सिह'—धनुर्विद्या (४) 'यु'—अश्व-संचालन (५) 'शु'—लिपि ज्ञान (६) 'सु'—गणित। इनके अतिरिक्त छै लिपियां थीं और 'लु-चिङ्ग' नामक छै धर्म-ग्रन्थ थे। इसके अतिरिक्त चिकित्सा शल्य क्रिया, गणित ज्योतिष, फलित ज्योतिष, कुम्हार का काम, निर्माण कला आदि विद्याएं थीं। वर्तमान पश्चिम की चीज़ें जैसे रेल, जहाज़, समुद्री लड़ाई के जहाज़ डुबकिनी किश्ती, तोपें, बन्दूकें, बम, टैंक, जहरीली गैस, मृत्यु-किरणों जैसे रक्तपात और क़त्लेआम के भयानक अस्त्र-शस्त्र हमारे चीन और भारत में न थे।

चीन और भारत के सांस्कृतिक सम्बन्ध की चरचा अनेक प्राचीन चीनी ग्रन्थों जैसे "लीह-त्सु" "चो-सू-चियी", "लि-सिन-चूआन", "सिह-लाओ-चिह" अर्थात् बुद्ध और लाओत्ज़े के ज़रूरी आदेश, "सिु-सु" अर्थात् लाल निवास, "चिङ्ग-लु" अर्थात् पौराणिक उपाख्यान और "फू-त्सु-तुङ्ग-चि" अर्थात् "बुद्ध का जीवन चरित" आदि। किन्तु यह तो मैं संक्षेप में कह रहा हूं। यह कोई विस्तृत वर्णन नहीं है। इतने प्राचीन काल की सही-सही तस्वीर पाना अत्यन्त असम्भव है। किन्तु एक बात बिलकुल साफ़ है और वह यह कि जब तक दोनों देशों का एक बहुत बड़े काल तक आपसी सम्बन्ध पूरी तरह क़ायम होकर न चलता रहता; तब तक हमें उस सम्बन्ध का इतना स्पष्ट और विस्तृत वर्णन न मिलता। भारत और चीन के सांस्कृतिक सम्बन्ध के ऐतिहासिक उल्लेख हमें निश्चित रूप से उस समय मिलते हैं, जब बौद्ध धर्म ने चीन में प्रवेश किया। बौद्ध धर्म चीन में सबसे पहले हान राज कुल के मिंगति साम्राज्य के दसवें वर्ष में, जो युङ्ग-पिङ्ग कहलाता है, यानी सन् ६७ ई० में पहुंचा; जब कि पहली बार एक चीनी सम्राट ने अपनी राजधानी लो-याङ्ग में बौद्ध धर्म को शाही संरक्षण दिया। किन्तु वास्तव में सन् ६७ ई० के बहुत पहले बौद्ध धर्म चीन में पहुंच चुका था। और चं नि गों के बौद्ध धर्म स्वीकार करने के बहुत पहिले हमारे दोनों देशों का सांस्कृतिक मेल जोल प्रारम्भ हो चुका था। हालाकि यह सही है कि सबसे पहले सन् ६७ ई० में चीनी सम्राट ने बाक़ाता बौद्ध धर्म का स्वागत किया और भारत और चीन का सांस्कृतिक मेल उसके बाद ज़ोरों से शुरू हुआ। अनेक भारतीय सन्त और विद्वान चीन पहुँचे और चीन के विद्वान और भिक्खु बहुत बड़ी संख्या में समय समय पर भारत पहुंचे। फिर बौद्ध धर्म को माध्यम बना कर चीनी और भारतीय संस्कृतियों के समन्वय का कार्य अधिक गम्भीरता से बढ़ा। चीन की पुस्तक "लि-ताइ-काओ-सेंग-च्वान" में जो एक महान भिक्खु के जीवन-वृत्तान्त का संकलन है, लिखा है कि दो सौ चीनी भिक्खुओं ने भारत जाकर सफलतापूर्वक भारतीय संस्कृति का अध्ययन किया और चौबीस भारतीय सन्तों ने आकर सफलतापूर्वक बौद्ध धर्म का प्रचार किया। किन्तु यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि आवागमन में कष्टों के कारण सैकड़ों चीनी भिक्खु और भारतीय पंडित मृत्यु को प्राप्त होगये होंगे; अथवा जिन्हें सफलता भी मिली होगी, उन्होंने अपने नाम और यश को लिपिबद्ध न करना चाहा होगा। एक दूसरी पुस्तक, जिसका नाम तांग-काओ-सेंग-चुआन" है और जिसमें तांग राजकुल के समय के प्रसिद्ध

भिक्खुओं का वर्णन है, उस ग्रन्थ में नीचे लिखी दो पंक्तियां हैं, जिनका अनुवाद इस प्रकार है—

"चांग-अन (चीन) के बहुत दूर पश्चिम में जहां विद्या प्राप्त करने जो सहस्रों व्यक्ति जाते हैं, उनमें से दस फी सदी भी तो नहीं लौटते !"

उपरोक्त उद्धरण से हमें मालूम होता है कि जो असंख्य व्यक्ति चीन से भारत आये, उनमें से बिरले ही ऐसे भाग्यशाली थे, जो वापस लौटकर चीन पहुंचे होंगे। यही हाल भारतीयों का भी हुआ होगा, जो चीन जाकर भारत सकुशल लौटे होंगे। उस ज़माने में यात्रियों को पैदल ही मध्य एशिया से होकर आना जाना पड़ता था। रास्ते में भयंकर मरुस्थल और गहन वन, हिमाच्छादित पर्वत और हिंसक पशु भरे पड़े थे। फिर भूख प्यास और सरदी से सभी नहीं बच पाते थे। जब यात्री चीन से भारत या भारत से चीन आते-जाते थे, तो वर्षों की कठोर तपस्या के बाद एक देश से दूसरे देश तक पहुंच सकते थे। उन मुश्किलों की कल्पना करने से ही हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। किन्तु दुनिया की जिन पवित्र आत्माओं ने इस तरह के कष्टों की रंच मात्र भी परवाह न करके संस्कृति और धर्म के महान सन्देश को कोटि कोटि जनता तक पहुँचाया, अपने उन पूर्वजों की इस साहसपूर्ण और कठोर तपस्या के प्रति हमारे मस्तक आदर और श्रद्धा के साथ झुक जाते हैं। उनके आदर्श से हमें उनके रास्ते पर आगे चलने के लिये बल मिलता है।

चीनी सभ्यता पर भारतीय संस्कृति का जो प्रभाव पड़ा है, उसे शब्दों में व्यक्त कर सकना असम्भव है। दर्शन-शास्त्र के दृष्टिकोण से कन्फ्यूशस और ताओ धर्मावलम्बियों के विचार "वे" राजकुल के समय से "सिन" राजकुल के समय तक (सन् २२० ई० से ४१९ ई० तक), भारतीय विचारों के साथ बिलकुल घुल मिल कर एक हो गये थे। समन्वय की यह क्रिया "ताग" राजकुल (६७८ से ९०६ ई०) के समय पूर्णता पर पहुंची और बाद में पांचों राजकुल (९०७ से ९५६ ई०) तक यही समन्वयात्मक भावना बनी रही। अन्त में सुग राजकुल (सन् ९६० से १२७६ ई०) के समय निहिसओ नामक प्रकाण्ड दर्शन शास्त्री का जन्म हुआ। जहां तक साहित्य का सम्बन्ध है, त्सिन और ताग राजकुल के समय के कथा-साहित्य, पौराणिक-साहित्य और सुगओ मिङ्ग (सन् १३६० से १६४२) राजकुल के समय दर्शन-विज्ञान पर भारतीय साहित्य का स्पष्ट और ज़बरदस्त प्रभाव दिखाई देता है। यहां तक कि चीनी लिपिबद्ध साहित्य के क्रम पर भी भारतीय प्रभाव पड़ा। ताग राजकुल के समय के एक बौद्ध सु-वेन ने संस्कृत वर्णमाला के आधार पर ३६ अक्षरों की एक वर्णमाला तैयार की, जिसके फलस्वरूप चीनी शब्दों के उच्चारण, उनकी ध्वनि और उनकी लै में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये। कला की दृष्टि से चीन में भारत की अनेकों बातें, जैसे पागोडा (चीनी बौद्ध मन्दिर) और मूर्त्ति निर्माण-कला और, चित्र कला आदि प्रचलित हुईं। जहां तक भारतीय धार्मिक ग्रन्थों के चीनी अनुवाद का सम्बन्ध है, वह तो एक आश्चर्यजनक वस्तु है। इतना शुद्ध और इतना उत्तम अनुवाद शायद ही दूसरा हो सकता था। आज कल के किसी भी राष्ट्र के अनुवादित ग्रन्थ इतने शुद्ध और इतने उत्तम नहीं हो सकते। बौद्ध धर्म के महत्वपूर्ण ग्रन्थों के सम्पूर्ण अनुवादों के अतिरिक्त प्राचीन भारत के अनेकों ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ। इनमें से हमें कुछ ग्रन्थों के नाम "सु-ई" राजकुल के कैटलाग (ग्रन्थ-सूची) में मिले हैं, जैसे ब्राह्मण गणित-ज्योतिष," "ब्राह्मण-गणित," "ब्राह्मण आयुर्वेद," "ब्राह्मण-फलित-ज्योतिष," "पचाङ्ग" और अर्थ गणित," "गान्धारी, पौराणिक उपाख्यान" आदि। इन पुस्तकों और दूसरी पुस्तकों की तादाद अगणित थी। एक एक पुस्तक के कई कई अनुवाद किये गये। और एक-एक पुस्तक सैकड़ों भागों में बंटी हुई थी। दुर्भाग्य की बात यह है कि यह साहित्य मौलिक रूप में लगभग नष्ट हो गया है। बौद्ध धर्म के जो ग्रन्थ अनुवादित हुये, उनमें जगह-जगह भारत की सामाजिक

और सांस्कृतिक स्थिति के अतिरिक्त धर्म, दर्शन, धार्मिक आचार-विचार, यम-नियम आदि पर भी प्रकाश पड़ता है। संक्षेप में भारत की शिक्षा, भारत के विचार, भारत के धार्मिक नियम और सामाजिक व्यवस्था, जन सामान्य के आचार-विचार आदि क़रीब-क़रीब सभी विषय चीनी अनुवाद ग्रन्थों में अनुवादित हैं। और इन सब ग्रन्थों ने चीन के जीवन पर ज़बरदस्त असर डाला है। हेतु और परिणाम, जीवन और मृत्यु, पाप और पुण्य, सज़ा और जज़ा आदि विविध विचारों और सिद्धान्तों का चीनी जनता के हृदय पर गहरा असर पड़ा और चीनी जनता के विचार उससे परिपक्व हुए तथा चीनी समाज-व्यवस्था में इन विचारों ने अपना निश्चित प्रभाव छोड़ा।

इस सब के विपरीत भारतीय सभ्यता पर चीनी संस्कृति का प्रभाव क़रीब क़रीब नहीं के बराबर है। चीन में हम हर जगह भारतीय कला और भारतीय साँचे की चीज़ देख सकते हैं, किन्तु भारत में हमें चीन की कोई मौलिक वस्तु नहीं दिखाई देती। ऊपर मैंने लिखा है कि भगवान बुद्ध से आचार्य विश्वामित्र ने "चीनी ग्रन्थ" नामक एक पुस्तक का ज़िक्र किया था। पर उस नाम का कोई ग्रन्थ अब भी भारत में है या नहीं, यह मैं नहीं जानता। उन कुछ चीनी ग्रन्थों में इस बात का उल्लेख है कि प्रसिद्ध यात्री हुआन-त्साग ने सत लाओत्ज़े के प्रसिद्ध चीनी ग्रन्थ, "ताओ-ते-चिङ्ग" (नीति दर्शन) का संस्कृत में अनुवाद किया था। किन्तु संस्कृत साहित्य का मेरा ज्ञान इतना थोड़ा है कि मैं यह नहीं जानता कि संस्कृत में क्या कोई ऐसी पुस्तक मौजूद है? यह एक विचारणीय विषय है कि चीनी संस्कृति पर भारत का प्रभाव इतना अधिक पड़ा, किन्तु भारतीय संस्कृति पर चीन का प्रभाव इतना कम क्यों पड़ा? यदि हम इन दोनों संस्कृतियों के मौलिक गुणों की तुलना करें, तो भारत का धर्म और दर्शन मानव इतिहास की अनुपम वस्तु है। किन्तु चीनी सदाचार और कला भी सर्वोत्तम और अद्वितीय हैं। चीन के अनेक प्राचीन ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनका अनुवाद हो सकता था और जिनका अनुवाद होना चाहिये था। फिर इतने अधिक प्राचीन भारतीय ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद हुआ और चीन के किसी भी महान् ग्रन्थ का संस्कृत में अनुवाद क्यों नहीं हुआ? मैंने बहुधा इस सम्बन्ध में सोचा है और मैं समझता हूं कि इसके तीन कारण हो सकते हैं— (१) भारत पर कुछ समय के लिये चीनी संस्कृति का प्रभाव पड़ा होगा, किन्तु युगों के दौर में यह प्रभाव नष्ट हो गया होगा। (२) भारतीय जनता के अन्दर अपने धर्म के प्रति इतना अधिक अनुराग रहा होगा कि उन्होंने अन्य धर्मावलम्बियों की तरह उत्साह के साथ केवल दूसरों को ही अपने धर्म की दीक्षा दी; लेकिन दूसरों से किसी सचाई को स्वीकार करने के लिये उनके मन ने गवाही नहीं दी। (३) यह कि चीनी भावना केवल ग्रहणशील थी कि दूसरे के दान को उन्होंने अपने अन्दर खपा लिया, किन्तु वे इतने शरमीले थे कि अपनी संस्कृति के प्रचार करने में उन्हें नम्रता के विपरीत बात दिखाई दी। बहर हाल मैं यह समझता हूं कि चीन ने भारत से बहुत कुछ लिया, पर भारत को दिया बहुत कम। उसे भारत के प्रति अपना आभार प्रदर्शन करना चाहिये और अपने जर्जर पात्र से अपने पड़ोसी की अभ्यर्थना करनी चाहिये।

फिर भी चीन ने व्यक्त रूप से न सही तो अव्यक्त रूप से ही सही भारतीय संस्कृति के लिये कुछ तो किया ही है। उसने विविध समयों में भारत से जो कुछ पाया है, उसे यत्न पूर्वक सचित और सुरक्षित रक्खा है, उसको स्वीकार किया है, उसका प्रचार किया है और उसको उन्नति दी है। बहुमूल्य भारतीय ग्रन्थों के चीनी अनुवाद सब के लिये आश्चर्य और आदर की वस्तु हैं। वे हमारे लिए खोज के अनन्त साधन हैं। यदि कोई व्यक्ति प्राचीन भारत को पूरी तरह समझना चाहता है, तो उसे मैं चीनी अनुवाद बेहद मदद देंगे। चीनी यात्रियों के कुछ मौलिक ग्रन्थ, जैसे फा-हियान का लिखा हुआ "फू कुओ-चि" अर्थात् बौद्ध देशों का वर्णन, या

हुआन-त्सांग का लिखा हुआ "सि-यू-चि" अर्थात् 'पाश्चात्य राज्यों का वर्णन' और ई-त्सिङ्ग का लिखा हुआ "नान-हाई-कुइ-चुआन" अर्थात् 'दक्षिणी समुद्र का सन्देश' आदि ग्रन्थ प्राचीन भारतीय सभ्यता के अध्ययन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण सामग्री हैं। इन यात्रियों की उपरोक्त पुस्तकों का अनेक विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है और ऐसे विद्वान और इतिहासज्ञ, जो प्राचीन इतिहास की खोजों में दिलचस्पी लेते हैं, इन यात्रा-वर्णनों का कुतूहल के साथ अध्ययन करते हैं। इन ग्रन्थों ने भारतीय संस्कृति की महानता की रक्षा का कितना अनुपम काम किया है! किन्तु चीन ने भारतीय सभ्यता की जो सब में बड़ी सेवा की है, वह बौद्ध धर्म के सम्बन्ध मे है। यह कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म ने हिन्दुस्तान में जन्म लिया, चीन में उसने विकास पाया और इसके बाद वह सारे संसार में फैला। मैंने एक बात उपमा के तौर पर एक बार कही थी कि बौद्ध धर्म भारत की एक सुन्दर कन्या है, जिसका चीन के साथ विवाह हुआ और जहां उसने सुखपूर्ण जीवन व्यतीत किया। पुत्र और कन्याओं से भरपूर उसका परिवार था और वहां उसके कोटि कोटि नाती पोते हैं। अपनी मातृभूमि के प्रति श्रद्धा अर्पित करने के लिए, इस महिला को फिर से अपने मायके (भारत) आना चाहिये। मेरी इस बात पर आचार्य क्षिति मोहन सेन ने कहा था—"किन्तु उसे अपने पति और अपने बच्चों को भी साथ लाना चाहिए।" आचार्य सेन महोदय की यह कितनी गम्भीर और महत्त्वपूर्ण टिप्पणी है! चीन का यह कर्त्तव्य है कि वह एक बार इस महिला को भारत भेजे और भारत का कर्त्तव्य है कि वह अपनी इस दुहिता का प्रेमपूर्ण स्वागत करे।

ऊपर मैंने हमारे दोनों देश भारत और चीन के सांस्कृतिक सम्बन्ध का निरूपण किया है। किन्तु यह हमारा दुर्भाग्य था कि पिछली कई सदियों से हमारा आपसी प्रेम सम्बन्ध धीरे धीरे कम होकर समाप्त हो गया। इसका कारण यही हो सकता है कि दोनों देशों की परिस्थिति में एकदम से कुछ व्यापक परिवर्तन हो गये। इसके साथ साथ यूरोप में वर्तमान विज्ञान ने बेहद उन्नति और शक्ति संचय की; और इतने ज़ोर से वह गरजा कि मानव-समुद्र की उठती हुई लहरों में औद्योगिक क्रान्ति का तूफान आ गया। चूंकि यूरोपीय सभ्यता का इतिहास अभी शैशव अवस्था में था, इसलिये उनका धर्म, उनका दर्शन और उनके नैतिक विचार परिपक्व नहीं थे और इसलिये वे इस तूफान को क़ाबू में नहीं कर सके। सब में दयनीय बात यह हुई कि उनके उत्पादन के ज़रिये ही उनके नाश के हथियार बन गये। उनकी धन की भूख और रक्त की प्यास ने उन्हें नाश के कुत्सित और पाप-पूर्ण अस्त्र-शस्त्र बनाने के लिये मजबूर किया। उनके भयङ्कर लोभ ने विनाशकारी युद्ध और लड़ाइयों को जन्म दिया। यूरोप का हर देश पागल हो उठा है और जीवन का हर काम मानों बिगड़ गया है और हर बात परेशानी पैदा कर रही है। पिछला महायुद्ध इस भौतिक पागलपन का एक बड़े पैमाने पर पहला प्रदर्शन था। इस पागलपन का पिछले महायुद्ध से भी अधिक भयङ्कर प्रदर्शन हम आज अपनी आंखों के सामने देख रहे हैं। न केवल पश्चिम ही इस विपत्ति से गुज़र रहा है, वरन् एशिया के देश भी इस विपत्ति से सन्तप्त हो रहे हैं। विशेषकर हमारे दोनों देश चीन और भारत इस भयङ्कर दुर्भाग्य के भवर के बीच से गुजर रहे हैं। जितनी हमारी संस्कृति उत्तम थी, उतना ही भयकर हमला हमें झेलना पड़ रहा है। हमारी सभ्यताओं के सम्बन्ध में बेहद ग़लतफ़हमी का प्रचार किया गया है, हमारा राष्ट्रीय जीवन नष्ट भ्रष्ट कर दिया गया है, हमारा सामाजिक जीवन कष्ट-पूर्ण अवस्था मे गुज़र रहा है और हमारी जनता को नफ़रत और अवज्ञा से देखा जा रहा है। नतीजा यह हुआ कि हमारे सामने अपनी ही इतनी ज़बर्दस्त राष्ट्रीय समस्याएं खड़ी हो गईं कि हमें भौतिकवाद के इस पागल तूफान से अपने को बचाने का अवकाश ही नहीं मिला। हम पिछले ज़माने के अपने महत्त्वपूर्ण और घनिष्ट राष्ट्रीय सम्बन्ध को स्थिर न रख सके।

हालांकि ज़ाहिरा तौर पर हमारा राष्ट्रीय सम्बन्ध टूट गया था फिर भी आध्यात्मिक रूप से एक दूसरे के प्रति हमारा प्रेम और हमारी सहानुभूति बराबर बनी रही। जैसे ही परिस्थिति अनुकूल हुई, हमारा परस्पर प्रेम-सम्बन्ध फिर पुराना जैसा ही क़ायम हो जायगा। सन् १९२४ में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर, आचार्य क्षितिमोहन सेन, आचार्य नन्दलाल बोस, प्रोफ़ेसर कालिदास नाग और हाल की पंडित जवाहरलाल नेहरू की चीन यात्रा से हमारे प्राचीन सम्बन्ध का फिर से सूत्रपात हो गया है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की चीन यात्रा ने चीनी मानस को जितना अधिक प्रभावित किया था, वह शायद हमारे प्राचीन सन्त भी न कर पाये थे। साधारणतया चीनी गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गान्धी को आधुनिक बुद्ध स्वीकार करते हैं। गुरुदेव के अङ्गरेज़ी ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद हो चुका है और उनके गीत 'स्ट्रे बर्ड्स' और 'क्रेसेंट मून' ने चीनी कविता के छन्दों और लय में क्रान्ति पैदा कर दी है। चीन में इस समय एक 'क्रेसेंट मून' सोसायटी है और एक 'क्रेसेंट मून' मासिक पत्रिका निकल रही है। ये दोनों चीज़ें डाक्टर हु-शिह ने भारतीय महाकवि और दार्शनिक की स्मृति में क़ायम की हैं। जहां तक समस्त एशियाई संस्कृतियों की पुनर्जागृति और भारतीय और चीनी संस्कृतियों के परस्पर सम्पर्क का गुरुदेव का आदर्श था, हमारे चीनी विद्वानों की उस ध्येय से पूर्ण सहानुभूति है। हमारे प्रमुख नेताओं और विद्वानों ने हमेशा इसी सम्बन्ध में सोचा है और दोनों देशों के सम्मिलित प्रयत्न से इस उद्देश्य की प्राप्ति की बुलंद कल्पना की है। अब समय आ गया है जब कि भारत और चीन अपने प्राचीन सम्बन्ध को फिर से पूरी तरह स्थापित करें।

इसी विचार को ध्यान में रखते हुए मैंने अपने नम्र तरीक़े से 'साइनो-इण्डियन कलचरल सोसायटी' नामक आन्दोलन पिछले ७-८ वर्षों से शुरू किया है। इस संस्था का उद्देश्य है कि दोनों देशों के साहित्य एक दूसरे में घुल जायं, हमारी संस्कृतियों का आदान प्रदान हो और हमारे दोनों देशों की जनता के बीच में बन्धु भाव और मैत्री बढ़े, जिससे हम सार्वभौमिक सुख शान्ति और मानव भ्रातृ-प्रेम की भावना को आगे बढ़ा सकें। चीन में हमारे अनेक प्रमुख विद्वानों और बौद्धों ने इस संस्था को अपनाया है और मुझे विश्वास है कि भारत में भी यहां के प्रमुख नेता और सांस्कृतिक विद्वान इस भावना का पूरी तरह समर्थन करेंगे।

इस समय की दुनिया भयंकर हिंसा और बर्बरता के बीच से गुज़र रही है। अभी आगे क्या क्या होगा, यह हमारी कल्पना से बाहर की बात है। क़त्लेआम के भयंकर से भयंकर हथियारों का प्रयोग किया जा रहा है। संसार की वर्तमान सभ्यता के सम्बन्ध में राजनैतिज्ञ कहते हैं कि यह एक राजनैतिक समस्या है, अर्थ शास्त्र के विद्यार्थी कहते हैं कि यह एक अर्थ शास्त्र की समस्या है। किन्तु वास्तव में दुनिया की वर्तमान समस्या केवल एक सांस्कृतिक समस्या है। यदि हम अपनी बीमारी का सांस्कृतिक इलाज न ढूंढेंगे, तो भविष्य को भयंकर नाश से कोई नहीं बचा सकता। पाश्चात्य शक्तियां हिंसा के भयंकर दानव के सामने नत मस्तक खड़ी हैं। इसीलिये भारतीयों और चीनियों का यह और भी आवश्यक कर्तव्य है कि वे मानव उद्धार की समस्त ज़िम्मेदारी अपने कन्धों पर लें। वास्तव में भारतीय और चीनी संस्कृतियां ही मानव आत्मा को नई जीवनधारा दे सकती हैं। भारतीय और चीनी संस्कृतियां ही एक मानव सभ्यता का निर्माण कर सकती हैं, जिसका उद्देश्य मानव मात्र का कल्याण होगा। यूरोप और अमरीका के दार्शनिक विद्वान्, जो अपनी संस्कृति की कमियों से पूरी तरह परिचित हो गये हैं, वे अपनी सभ्यता के महारोग की दवा भारतीय और चीनी संस्कृतियों के अन्दर खोज रहे हैं। अब समय आ गया है कि हम भारतीय और चीनी जागकर अपने पुराने राष्ट्रीय सम्बन्ध को फिर से क़ायम करें। अपने सांस्कृतिक समन्वय से हम अपने अन्दर एक नई रूह फूंक देंगे और एक नई मानव सभ्यता का निर्माण करेंगे। अपनी नई सभ्यता से हम समस्त मानव जाति का उसके दुःखों से उद्धार करेंगे। हमारे दोनों देशों ने अतीत में एक भव्य संसार का निर्माण किया था, क्या हम भविष्य में पुनः उस भव्य-संसार का निर्माण न कर सकेंगे।

शिव और उनके नृत्य

प्रोफ़ैसर भगवती प्रसाद पान्थरी एम ए

पौराणिक और तान्त्रिक साहित्य के विकाश ने हमारे यहां विभिन्न प्रकार की, देवी-देवताओं की, उपासना के बढ़ावा दिया। पौराणिक और तान्त्रिक विचार धाराओं का मूल वैदिक साहित्य ही था।

फलतः ये देवी-देवता सभी वैदिक और प्राक् वैदिक देवी-देवताओं के ही परिष्कृत और परिवर्द्धित स्वरूप के लिये रहे। यह पौराणिक विचारधारा लगभग गुप्त युग के समय बहुत बलवती हो गई और उसके अनुरूप कलाकारों की श्रेणियों ने देवी-देवताओं की मूर्त्तियों के ढालना आरंभ कर दिया। पौराणिक त्रिमूर्त्ति अर्थात् "ब्रह्मा, विष्णु और शिव" देव-परिवार में सर्वश्रेष्ठ माने गये, और तदनुसार इन्हीं की मूर्तियां अधिकतया बनाई जाने लगीं।



तीसरी शताब्दी ई० पू० की एक त्रिमूर्ति पेशावर के म्यूज़ियम में रखी हुई है। इस त्रिमूर्ति के तीन सिर हैं जो पृथक रूप से ब्रह्मा, विष्णु और शिव के द्योतक हैं।

किन्तु त्रिमूर्ति की यह धारणा वैदिक कालीन प्राचीनता के लिये है! अग्नि, वायु अथवा इन्द्र और सूर्य की वैदिक त्रिमूर्त्ति ही पौराणिक युग में चलकर ब्रह्मा, विष्णु और शिव की त्रिमूर्ति मे परिवर्तित हो गई। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय देवी-देवताओं के इतिहास में ब्रह्मा, विष्णु और शिव, की प्रमुखता है। यद्यपि तीनों एक ही परमात्मा के तीन रूप हैं जो उनके तीन पृथक गुणों के द्योतक हैं।

"एक मूर्त्तिरपि भिन्न रूपिणी या जगज्जनन पालन क्षये।" पौराणिक से ब्रह्मा सृष्टि के उत्पन्न करने वाले हैं, विष्णु जगत के पालनकर्त्ता हैं और जीवन के नष्ट करने वाली प्रवृत्तियों का संहार करने के लिये अवतार लिया करते हैं। संसार का प्रलय और विकाश करने वाले शिव अथवा रुद्र हैं, जो प्रलयकारी नटराज का परिवेश धारण कर संहार-काल में विकट नृत्य किया करते हैं।

त्रिमूर्त्ति की इस विचार-धारा में धीरे-धीरे ब्रह्मा का लोप हो गया। ब्रह्मा के गुण विष्णु और शिव में ही समाहित कर दिये गये। इसके दो कारण थे, प्रथम, यह कि स्तुति के नाते वे (ब्रह्मा) सभी पूजाओं में विद्यमान समझे जाने लगे, और दूसरा, यह कि सृष्टि-कर्त्ता के रूप से विश्व-निर्माण के पश्चात् उनका कार्य सम्पूर्ण हो गया और तदनन्तर किसी भी प्रकार की अभ्यर्थना उन्हें सजग करने में असमर्थ थी। इसीलिये आज हमारे यहां सम्पूर्ण भारतवर्ष में कठिनता से एक या दो मन्दिर ब्रह्मा के पाये जाते हैं।

ब्रह्मा के इस प्रकार लोप हो जाने पर विष्णु और शिव की प्रधानता हुई। विष्णु

के उपासक वैष्णव और शिव के शैव कहलाये।

वैष्णवों के अनुसार विष्णु—ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों के प्रतिरूप हैं। इसी प्रकार शिव, शैवों के अनुसार पूर्ण त्रिमूर्ति के प्रतीक हैं। विभिन्नता में एक-रूपता के सिद्धान्त का यह दार्शनिक स्वरूप है।

शिव, ब्रह्मा और विष्णु परस्पर भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं—शक्ति रूप में तीनों एक हैं और आकार रूप में तीनों अलग हैं। वस्तुतः परब्रह्म के त्रि-गुणों के वे तीन रूप अथवा त्रिमूर्त्ति हैं तथा प्रकृति में निहित तीन गुणों (सत्—रज-तम) के तीन प्रतीक हैं।

इस विवेचना को यहा पर अधिक न बढ़ाकर हम शिव और उनके नृत्यों के दार्शनिक स्वरूप पर अब प्रकाश डालेंगे।

शिव के रूप : भारतीय साहित्य में वर्णित शिव के दो प्रमुख रूप दिये गये हैं: एक शान्त और दूसरा रौद्र रूप। पहिला रूप शिव, महादेव या शम्भू और दूसरा भैरव नाम से प्रख्यात है। भैरव शिव का वैदिक मूल रूप रुद्र का ही विकसित और परिवर्तित स्वरूप है।

शम्भू के स्वरूप में उनका मस्तक अर्द्ध चन्द्र विभूषित होता है—हाथों में शूल, धनुष, पिनाक आदि लिए होते हैं, मस्तक पर तृतीय नेत्र होता है और वृषभ उनका वाहन होता है—

शंभो शिरसिन्दु कला वृषध्व
जोऽक्षि च तृतीय मप्यूर्द्ध्वम्।
शूल धनुः पिनाक वामार्द्धं वा गिरीसुतार्द्धम्
—वृहत संहिता

मत्स्य पुराण के अनुसार शिव सर्पों से अलंकृत रहते हैं—"भुजंगा भरणस्तथा।"

विभिन्न आकारों के अनुरूप उनके हाथों की संख्या चार, आठ, दस, बारह, और सोलह तक होती है। समाधि रूप में उनके चार या आठ हाथ होते हैं, किन्तु नृत्य करते समय उनके दस हाथ होते हैं और त्रिपुर राक्षस का दमन करते हुए उनके १६ हाथ हो जाते हैं—

नृत्ये दशभुजः कार्यो गजासुरवधे तथा।
तथा त्रिपुर दाहेच वाहवः षोड़शैव तु॥
चतुर्भुजोऽष्टबाहुर्वा ज्ञान योगेश्वरो मतः॥
—मत्स्य पुराण

हेमाद्रि के अनुसार वृष पर आरूढ़ शिव के पाच मुख होते हैं, जिनमें चार सौम्य और एक विकट होता है—

रुद्रस्य देवदेवं महादेव वृषारूढन्तु कारयेत्।
तस्याननानि कार्याणि पच यादवनन्दन।
सर्वाणि सौम्य रूपाणि दक्षिणं विकटं मुखम्।

भैरव का रूप रौद्र होता है, उनकी दंत-पंक्ति कराल होती है और सर्पों के भूषण तथा कपाल-मालाओं से अलंकृत होते हैं। सर पर योगी की जटा और हाथों की संख्या १२ होती है। (हेमाद्रि, अग्निपुराण)

लम्बोदरन्तु कर्त्तव्यं वृत पिंगल लोचनम्
दंष्ट्रा कराल वदनं फुल्लनासापुटन्तथा।
कपाल मालिनं रौद्रं सर्व्वतः सर्पभूषणम्।
—हेमाद्रि
भैरवाश्चार्कहस्तः स्यात् कूर्पे रास्यो जटेन्दुभृत
—अग्नि पुराण।

भारतीय कलाकारों के अवशिष्ट प्राचीन प्रतिमा-करण पुराणों के इन स्वरूपों पर ही निर्मित हुए हैं (Indian Images, Vol. I, By B. C. Bhattacharya PP-2-22)

किन्तु नृत्य करते हुए शिव की प्रतिमा उत्तर भारत में बहुत कम मिली हैं।

शान्त रूप में शिव हर-गौरा अथवा उमा-महादेव के स्वरूप में पाये जाते हैं। इस रूप में उमा उनकी बाईं जंघा पर आसीन होती हैं। शिव के इस रूप में दो या चार हाथ होते हैं और मस्तक पर तीसरा नेत्र खिला होता है। यह तीसरा नेत्र "ज्ञान-नेत्र"

है जिसके द्वारा पौराणिक गाथानुसार उन्होंने काम को भस्म किया था !

दाहिने हाथ में शिव त्रिशूल धारण किये रहते हैं और बाये हाथ की हथेली उमा के वक्षस्थल पर होती है। तथा महादेव के बाये भाग को देवगण स्पर्श किये रहते हैं—

चतुर्भुजं-द्विबाहुं वा जटाभारेन्दु भूषितम् ।
लोचनत्रय संयुक्तन्तु मैकस्कन्ध पाणिनम् ।।
दक्षिणेनोत्पलं शूलं वामं कुच भरं करम् ।
वामे तु संस्थिता देवी तस्योरौ बाहुगूहिता ।।
वामांशाम् देव देवस्य स्पृशन्ती लीलया क्वचित ।
—मत्स्य पुराण

उत्तरी भारत में पाये गये शिव के प्रतिमा-करण पुराणों में इन विवरणों के अनुसार ही मिलते हैं।

शिव का एक रूप अर्द्धनारीश्वर भी है। इसमें शिव और पार्वती एकाकार दिखलाये गये हैं। शिव वाला अर्द्ध भाग जटा, बालइन्दु और त्रिशूल लिये है; दूसरा अर्द्ध भाग उमा का है। उमा—पार्श्व कानों में कर्णफूल पहिने होती हैं, छाती उभरी हुई होती है और हाथ में दर्पण लिये रहती हैं।

अ न देव देवस्य नारी रूपं सुशोभनम् ।
ईशार्द्धे तु जटा भारो बालेन्दु कलयायुत: ।।
उमार्द्धे तु प्रदातव्यौ सीमन्त तिलका वुभौ ।
त्रिशूल वापि कर्त्तव्यं देव देवस्य शूलिन: ।।
वामतो दर्पणं दद्याद्युत्पल वा विशेषत: ।
स्तन भारमथार्द्धे तु वामे पीनं प्रकल्पयेत ।।
—मत्स्य पुराण

यह अर्द्ध नारीश्वर की मूर्ति ईश्वर के पुरुष और नारी तत्वों के समवाय को व्यक्त करती है।

शिव का स्वरूप आध्यात्मिक रूप से गुणातीत स्थिति तथा मंगल (शिवम्) को व्यक्त करता है। शिव मंगल की मधुमय प्रतिमा हैं। वे सत्, रज, और तम से उत्पन्न होने वाले सब गुणों से परे हैं—अपर हैं !

शिव का वाहन नान्दी धर्म का प्रतीक है।

गंगा अलौकिक शुचिता की प्रतीक है। सर्प—विकास, पुनर्जन्म और विनाश का प्रतीक है। शिव का रौद्र रूप रुद्र अथवा भैरव है और यह रूप विश्व-संहार का हेतु होता है ! समय सब कुछ नष्ट कर देता है। शिव और समय एक हैं। इसलिये शिव का एक नाम महाकाल भी है। उनके गले पर लिपटा हुआ और पूंछ को मुख में डाले हुए सर्प समय के आदि अन्त-विहीन चक्र को व्यक्त करता है। इसी समय के चक्र पर संसार का जीवन पलटे खाता फिरता है। समय के प्रत्यावर्तन के साथ विश्व परिवर्तित होता रहता है और सर्प की केंचुली बदलने की भांति मनुष्य नये-नये जीवन धारण करता हुआ जन्म मरण के चक्कर में पड़ा हुआ उठता-गिरता जाता है।

शिव का एक और नाम "वयोमोचे" अर्थात् 'आकाश रूपी जय वाला' भी है। अतः आकाश पर उदित होने वाला बाल-इन्दु उनके ही मस्तक पर उगता है। इसलिये शिव-मस्तक के अलंकारों में बाल-इन्दु भी दिया जाता है। ये ही शिव, अपने रौद्र वेश में रुद्र और भैरव स्वरूप में प्रकट होकर विश्व-संहार करते हैं। अतः सर्प जो मुंह से विष उगलता है, गले पर होता है और साथ ही त्रिशूल हाथ में लिये तथा कपाल-माला पहने होते हैं जो सब विनाश के प्रतीक हैं। विश्व को भस्म करने के लिये उनके हाथ में अग्नि भी होती । किन्तु अग्नि नष्ट नहीं करती, परिवर्तन लाती है, अतः शिव का सृष्टि विनाश परिवर्तन के लिये होता है। इस विकट रूप में वे नाच उठते हैं और संसार प्रलय की समाधि पर झुकने लगता है। किन्तु संहार के लिये ही नहीं सृष्टि के समय भी शिव मंगलमय होकर सृजन के आनन्दातिरेक में प्रफुल्ल होकर नाचा करते हैं।

शिव के विभिन्न रूपों में एक रूप नटराज का है जिसमें वे नृत्य किया करते हैं। सम्पूर्ण जगत उनकी रंग-भूमि होती है—जहां पर वे नृत्य करते हैं। इन नृत्यों के वे स्वयं कलाविद् तथा प्रेक्षक

होते हैं। अपने नृत्य के आनन्दातिरेक में वे एकाकी रहा करते हैं।

शिव के विभिन्न नृत्यों का भाव आदि गति-व्यंजक शक्ति को व्यक्त करना है।

शिव के प्रमुखतया तीन नृत्य हैं। प्रथम—सांध्य नृत्य है जो देवताओं के साथ हिमालय में हुआ था। शिव प्रदोष स्तोत्र में इस नृत्य का विवरण इस प्रकार है :—

"बहुमूल्य रत्नों से जटित सुवर्ण सिंहासन पर त्रिभुवन-माता को आसीन कर शूलपाणि कैलास के मस्तक पर नृत्य करते हैं। सरस्वती वीणा बजाती है, इन्द्र बाँसुरी पर खेलते हैं, ब्रह्मा झुझरी लिये रहते हैं, लक्ष्मी गाती हैं और विष्णु ढोल बजाते हैं और अन्य देवतागण चारों ओर खड़े रहते हैं।

"गान्धर्व, यक्ष, पतग, उरग, सिद्ध, साध्य, विद्याधर, अमर, अप्सरा और त्रिभुवन में रहने वाले सम्पूर्ण प्राणि इस ईश्वरीय नृत्य को देखने के लिये वहा एकत्रित होते हैं और गोधूलि के समय उस दैवी सगीत को श्रवण करते हैं।"

इस नृत्य के चित्र में शिव के केवल दो हाथ दिखलाये जाते हैं। इस समय उनके पैरों के नीचे असुर नहीं होता है। शैव साहित्य में इस नृत्य का कोई विशेष भाव नहीं व्यक्त किया गया है।

दूसरा विश्व-विख्यात नृत्य तांडव नृत्य है जो शिव के संहारिक रुद्र, भैरव अथवा वीर-भद्र के रौद्र और तामसिक स्वरूप को व्यंजित करता है।

यह नृत्य श्मशान में होता है। इसमें शिव दस हाथ युक्त होते हैं, और देवी को साथ लेकर विकट नृत्य किया करते हैं।

प्राचीन भारतीय प्रतिमा-करण में शिव के इस नृत्य के स्वरूप की बहुलता पाई जाती है। इस नृत्य के सर्वोत्कृष्ट प्रतिमा-करण एलोरा, एलिफेंटा और भुवनेश्वर में मिले हैं।

तांडव नृत्य का उद्भव उत्तर-आर्य युग का माना जाता है। (The Dance of Siv By Anand Coomaraswamy, PP-57-58)

शिव का तीसरा नृत्य नादान्त नृत्य कहलाता है। इस नृत्य की पौराणिक गाथा इस प्रकार दी गई है —"भगवान शिव को विदित हुआ कि तारा ग्राम के जंगल में १०,००० विपथ-धर्मी ब्राह्मण रहा करते हैं, वे इस संसार को नित्य बतलाते हैं, आत्मा का कोई ईश्वर नहीं स्वीकार करते, और कर्मों को ही मुक्ति का मार्ग बतलाते हैं।" इसलिये शिव उन्हें सत्य मार्ग पर लाना चाहते थे।

अतः शिव ने भगवान विष्णु को साथ आने के लिये कहा। शिव योगी के भेष में और विष्णु उनकी स्त्री का रूप धारण कर तारा ग्राम के जंगल में प्रविष्ट हुए। शिव को देखते ही ऋषि-पत्नियां उन पर मुग्ध हो गईं और इसी तरह ऋषि गण शिव की पत्नी के लिये उत्तेजित लालसा से भर आये। सारे आश्रम में बड़ी खलबली मची। किन्तु सहसा ऋषियों को मालूम पड़ा कि ये बातें सहज नहीं हैं। वे एकत्रित हुए और नवागन्तुओं पर मंत्र चलाया। परन्तु कोई असर न हुआ। तब उन्होंने यज्ञ से एक बाघ को उत्पन्न कर शिव को खाने के लिये भेजा। शिव धीमे से मुस्काये और सरलता से बाघ को उठा कर अपनी अंगुलियों से उसकी छाला को निकाल कर रेशमी वस्त्र की तरह अपने ऊपर लपेट लिया। तब ऋषियों ने कराल सर्प को उन पर दौड़ाया, किन्तु शिव ने माला की तरह उसे अपने गले पर डाल लिया। तब ऋषियों ने एक विकृत गदाधारी बौने (राक्षस) को उत्पन्न किया, किन्तु शिव ने उसकी पीठ पर अपने पांव टेक दिये और उसे कुचलते हुये नाचने लगे। ऋषि सब प्रयत्नकर थक गये। उधर नृत्य की लय और गति से प्रेरित होकर आकाश के पर्दे को उठा कर देवतागण नृत्य देखने के लिये एकत्रित होने लगे। इस वैभव को देखकर ऋषियों ने परमेश्वर शिव के सामने मस्तक झुका दिया और उनके अनुगामी हो गये।

तदनन्तर श्वेत वृषभ पर आसीन होकर पार्वती आईं और शिव उनके साथ कैलास लौट गये। विष्णु अपने वाहन सर्प आति-शेषन अनन्त के साथ पीछे

ही छूट गये। आति-शेषन शिव के नृत्य पर मुग्ध हो कर पुनः उसे देखने की इच्छा करने लगे। विष्णु ने उसकी इस इच्छा को देखकर उसे अवकाश दे दिया और उसे कैलास जाकर तपस्या करने को कहा। इसके पश्चात् सहस्र सिर वाला आति-शेषन उत्तर को चला गया। उसकी तपस्या की परीक्षा करने के लिये शिव ब्रह्मा का रूप धारण कर हंस पर आरूढ़ होकर आये। उन्होंने उसे स्वर्ग का लोभ दिखलाकर वरदान मांगने को कहा। किन्तु आति-शेषन ने केवल उस रहस्यपूर्ण नृत्य को देखने की अभिलाषा प्रकट की। वह किसी प्रकार भी अन्य वस्तुओं से संतुष्ट न हुआ। तब शिव पार्वती सहित हिम समान वृषभ पर आरूढ़ होकर प्रकट हुए। शिव ने तब उसे सारतत्व बतलाते हुए कहा कि वे विश्व की आत्मा हैं और उनका नृत्य ही विश्व की सृष्टि-जनन और प्रलय है, तथा मुक्ति प्रदान करने वाला है। यह नृत्य निरन्तर और नित्य है। तुम उसे पुनः विश्व के मध्य भाग तिलाई अथवा चिदाम्बर में देख सकोगे, (Myths of Hindus and Buddhists, by A Coomaraswamy, PP. 310-11)।

इसलिये शिव ने आति-शेषन को तिलाई जाने की आज्ञा दी। तिलाई के इस नृत्य पर दक्षिण में शिव नटराज की बहुत सारी प्रतिमायें बनी हैं—

नटराज प्रतिमायें शिव को नृत्य करते हुए दिखलाती हैं। शिव के इस समय चार हाथ हैं। उनके बाल गुथे होते हैं और निचली अलकें नृत्य के हिलोर में बहती हुई दिखलाई जाती हैं। उनके बालों में सर्प गुथा हुआ होता है तथा कपाल-मालाएं गले पर पड़ी होती हैं और गङ्गा सिर पर रहती हैं। मस्तक पर चांद होता है। दाहिने कान पर पुरुष कर्ण फूल और बांये कान पर स्त्री का आभूषण पहने रहते हैं। बदन पर मालायें, कड़े, आभूषित करधनी तथा अन्य आभूषणादि हाथ पैर पर पहने होते हैं। अनेक तथा कसे हुए वस्त्र भी उनके बदन पर होते हैं।

उनके एक दाहिने हाथ में डमरू होता है—दूसरा अभय-मुद्रा में उठा रहता है। बांये हाथों में एक में अग्नि होती है और दूसरा बौने राक्षस की ओर झुका रहता है।

शिव के नृत्य का भाव—

शैव साहित्य में इन नृत्यों का भाव स्पष्टतया दिया हुआ है। ये नृत्य शिव के पंच कृत्यों को व्यंजित करते हैं, जैसे—सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभव और अनुग्रह। ये ही कृत्य भिन्न रूप से ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेश्वर और सदा शिव के माने जाते हैं।

डमरू से सृष्टि का उद्भव होता है। विष्णु के शंख की तरह वह गति और जनन्-शक्ति का प्रतीक है। (The Ideals of Indian Art, Havell, P 79) अभय-हस्त स्थिति का प्रतीक है, अग्नि से संहार होता है और उठा हुआ पैर अनुग्रह का लक्षण है। इसी पैर के तले आत्मा की मुक्ति का स्थान है, जहां पर जन्ममरण के दुःख से छूटकर वह अनन्त आनन्द प्राप्त करती है।

त्रिकूट दर्शन में इस भाव को और स्पष्टतया व्यक्त किया गया है—

"शिव की शक्ति सर्वत्र है। सर्वत्र चिदाम्बर है और सर्वत्र नृत्य होता रहता है। शिव के पंच-नृत्य असीम हैं। उनके पंच-नृत्य पंच-क्रिया के व्यंजक हैं।

"जो व्यक्ति माया और महामाया से ऊपर हो गये हैं, उससे मुक्त हो गये हैं, वे ही इन नृत्यों को देख सकते हैं।

"शिव पानी, अग्नि, हवा और आकाश में नृत्य किया करते हैं। आकाश उनका शरीर है, काले मेघ बौना राक्षस हैं, अष्ट दिशायें उनकी आठ भुजायें हैं और तीन प्रकाश उनके त्रिनेत्र हैं।"

इस प्रकार संग्रहीत रूप शिव हमारे शरीर में से ही नाचा करते हैं। यही उनका नृत्य है। शिव के नृत्य का उच्चतम भाव यही है कि यह नृत्य हमारे हृदय में ही हुआ करता है। परमात्मा सर्वत्र है और सर्वत्र हृदय है। किन्तु ईश्वर तभी किसी के हृदय में नृत्य कर सकते हैं जब ईश्वर के अतिरिक्त अन्य सब

भावों और विचारों से वह हृदय रिक्त किया जा चुका हो, जिससे कि शिव उसमें प्रविष्ट कर नृत्य कर सकें।

शिव संहारक हैं और इस हेतु श्मशान पसन्द करते हैं। किन्तु वे नष्ट किस वस्तु को करते हैं? प्रलय के अन्त में केवल सृष्टि का ही वे नाश नहीं करते किन्तु आत्मा के बंधनों का भी नाश करते हैं।

श्मसान से अभिप्राय केवल मृतकों को दाह करने वाले स्थान से ही नहीं किन्तु शिव के भक्तों का हृदय भी श्मशान वत् है, क्योंकि कितनी ही विषय-वासनाओं को वहां जलाकर नष्ट किया गया है। वह स्थान जहां अहं को नष्ट कर वासनायें भस्म की गई हैं—वही श्मशान हृदय का मरघट शिव के नृत्य का श्मशान है।

दक्षिण के शैव साहित्य में शिव के नृत्य की इसी प्रकार बहुत सुन्दर व्यजना की गई है।

उण्मइ विलक्कम (The Dances of Siva, PP 22, 37, 39, by A. Coomaraswamy) में स्पष्ट बतलाया गया है कि हमारे पापों को नष्ट करने के लिये परमात्मा हमारी आत्मा में नृत्य करते हैं। इस तरह परमेश्वर माया के अन्धकार को विकीर्ण करते हैं। कर्म के बंधनों को तोड़कर मल, आणव और अविद्या का नाश करते हैं और आत्मा को आनन्द-सागर में ले जाते हैं। जो इस रहस्यपूर्ण नृत्य को देखते हैं—वे जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाते हैं।

शैव साहित्य में इस नृत्य को साथ ही शिव की क्रीड़ा अथवा लीला बतलाया गया है।

संक्षेपतः शिव के नृत्य का भाव प्रथमतः सृष्टि, जनन और प्रलय है, दूसरा भाव माया से छुड़ाकर मनुष्यों की आत्माओं को मुक्ति देना है और अन्तिमतः ईश्वर सर्वत्र है और विश्व का मध्य चिदाम्बर हमारे स्वच्छ हृदय में ही है और वहीं शिव का नृत्य हुआ करता है।



मातृभूमि भारत की सांस्कृतिक और भौतिक एकता

डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी एम. ए., डी. लिट्.

किसी भी राष्ट्र की एकता और अखण्डता के लिए बहुत सी बातों की आवश्यकता है। इसके लिये देश में एक भाषा, एक धर्म, एक राज्य, एक संस्कृति और एक आर्थिक प्रणाली की ज़रूरत होती है। किसी भी राष्ट्र को सम्पूर्ण रूप से एक बनाने के लिए जो सब में आवश्यक और मौलिक वस्तु है, वह है एक ऐसा देश जिसकी भौगोलिक सीमाएं बंधी हुई हों। इतिहास ख़ानाबदोश क़ौमों की सभ्यता-निर्माण की कोई गवाही नहीं देता। जब तक यह ख़ानाबदोश क़ौमें किसी एक देश में स्थिर होकर बस न गईं तब तक उन्होंने महान् सभ्यताओं का निर्माण नहीं किया।

मातृभूमि की भावना में ही राष्ट्रीय भावों को सब से अधिक उन्नति और प्रोत्साहन मिलता है। यही भावना देश में भक्ति पैदा करती है और विचारों को व्यावहारिक रूप देती है। मातृभूमि ही लोगों के अन्दर साहित्य, भाषा, धर्म, संस्कृति आदि बातों में विकास की भावना भरती है। मातृभूमि ही देश के अन्दर के विरोधी विचारों के लोगों को, विरोधी सम्प्रदायों को, भिन्न भिन्न रस्म रिवाजों और भिन्न भिन्न धर्म के लोगों को, और भिन्न भिन्न भाषा बोलने वालों को एक सूत्र में बांध देती है।

आज भारत को एक सम्मिलित, सम्पूर्ण, अखण्ड राष्ट्र बनाने का महत्त्वपूर्ण प्रयत्न चल रहा है; किन्तु इस देश में रहने वाले भिन्न भिन्न धर्मावलम्बी और भिन्न भिन्न जातियां जिनकी संख्या करोड़ों है, उस समय तक एक राष्ट्र नहीं बन सकते और न उनमें महान राष्ट्रीय शक्ति आ सकती है, जब तक कि वह यह न समझ लें कि उनकी एक ही मातृभूमि है, जिसकी वे सब सन्तान हैं और जिसकी उन्हें सेवा करनी चाहिए। वह सब एक ही ज़मीन में पैदा हुए हैं और एक ही ज़मीन में मरेंगे। जब तक भारत की इस भौगोलिक अखंडता की भावना समस्त जनता के अन्दर नहीं भरेगी तब तक बेचैन राजनैतिक नेताओं का भारत को एक राष्ट्र बनाने का सुन्दर स्वप्न पूरा नहीं हो सकता।

भारत एक लम्बा चौड़ा महान् देश है जो उत्तर से दक्षिण तक दो हज़ार मील लम्बा और पूर्व से पश्चिम तक १९०० मील से अधिक चौड़ा है। इसका क्षेत्रफल यूरोप के क्षेत्रफल से लगभग दो तिहाई है। यह ब्रिटेन से १४ गुना बड़ा और फ्रांस और जर्मनी से छै गुना से ज़्यादा बड़ा है। अपने इतने बड़े विस्तार के कारण ही यह देश आश्चर्यजनक विभिन्नता से भरा हुआ है। एक ओर हिमालय पर भयंकर सर्दी है, जहां हर समय अनन्त हिम-राशि जमा रहती है और दूसरी ओर कोंकण और कारोमंडल की गरमी है जो हर तरह असह्य है। ज़मीन की ऊंचाई एक जगह समुद्र की सतह के बराबर है तो दूसरी जगह इतनी ऊंची हो गई है कि जहां किसी तरह की सब्ज़ी नहीं होती और जहां बादलों, मेघों और तूफ़ानों की भी पहुंच नहीं है। वर्षा यदि चेरापूंजी में हर साल ४०० इंच होती है तो सिन्ध में केवल ३ इंच। जलवायु की विभिन्नता के कारण फूल, पौधे और पशु-पक्षियों में भी बेहद विभिन्नता है। किन्तु यह विभिन्नता यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। भारत की जन संख्या समस्त मानव आबादी की पञ्चमांश है। सभ्यता के विभिन्न स्तर को प्रकट करने वाले विभिन्न जातियों के लोग यहां बसते हैं, जिनकी भाषा और जिनके रस्म रिवाज, जिनके धार्मिक विश्वास और जिनकी संस्कृति एक दूसरे से बिलकुल भिन्न है। भारत वर्ष में कम-से-कम सात प्रकार की ऐसी मानव जातियां रहती हैं जिनको शरीर विज्ञान की दृष्टि से

हम आशा कर सकते हैं। यहां कम-से-कम १४ तरह के विभिन्न राष्ट्रों के लोग रहते हैं जो अपनी भाषा बोलते हैं और अपना साहित्य पढ़ते हैं। इस देश में कम-से-कम डेढ़ सौ तरह की बोली बोलने वाले लोग रहते हैं और इसके अतिरिक्त दुनिया के क़रीब-क़रीब सब प्रसिद्ध धर्म यहां प्रचलित हैं कि जिनमें प्रत्येक धर्म के कम से कम दस-दस लाख से अधिक पैरोकार हैं। सच पूछा जाय तो भारत वर्ष विविध धर्मों, विविध रीति-रिवाजों, विविध सम्प्रदायों, विविध संस्कृतियों, विविध पन्थों, विविध बोलियों, विविध मानव जातियों और विविध समाज व्यवस्थाओं का एक बहुत बड़ा अजायबघर है।

सरसरी तौर पर देखने वाले लोग भारतीय जीवन और भारतीय भौगोलिक विभिन्नता को देखकर हैरान हो सकते हैं; किन्तु हमारी इस विभिन्नता के भीतर ही एक एकता है। हमें अपनी इस विभिन्नता में ही एकता मिलती है। इस विभिन्नता से ही समष्टि की रचना हुई है। इसी विभिन्नता के रहस्य में ही सुबोधता छिपी हुई है। किन्तु बाहरी व्यक्ति हमारे विविध अंग-प्रत्यंग को देह से अलग करके देखते हैं। यह तो वही बात है जिस तरह एक अंधा व्यक्ति हाथी को छूकर उसके एक-एक अंग से उसकी कल्पना करे। भारत की अखण्डता को समझने के लिए हमें भारतीय मस्तिष्क की समन्वयात्मक शक्ति को समझना होगा। तभी हम यह समझ सकेंगे कि भारतीय जीवन किस तरह अपनी विभिन्नता को एकता का रूप दे सका और किस तरह उसने अपने अखंड भागों में सम्पूर्णता का विकास किया। हमारी समस्त विभिन्नता के पीछे एक मौलिक एकता है। हमारी इस विभिन्नता ने ही हमें अशक्त करने के बजाय शक्तिशाली और समर्थ बनाया है। सर हरबर्ट रिज़ले ने कहा था कि समाज की, नीति की, भाषा की, रस्म रिवाज की और धर्मों की जो विभिन्नता भारत में हमें स्पष्ट दिखाई देती है उन सब के पीछे एक निश्चित मौलिक एकता है जिसने हिमालय से लेकर कन्या कुमारी तक भारतीय जीवन को एक सूत्र में बांध रखा है।

आमतौर पर यह कहा जाता है कि भारत की जो हमें ज़ाहिरा एकता दिखाई देती है वह एक अंगरेज़ी राज्य की पैदा की हुई है। अंगरेज़ी राज्य ने हिमालय से कन्या कुमारी अन्तरीप तक जो शासन व्यवस्था क़ायम की हमारी यह ज़ाहिरा एकता उसी का परिणाम है। किन्तु वास्तव में हमारी यह मौलिक एकता भारतीय ब्रिटिश साम्राज्य से बहुत पुरानी है। यह कोई नई चीज़ नहीं है बल्कि उसके पीछे इतना पुराना इतिहास है जो ऐतिहासिक कालों को भेदकर हमें प्रागैतिहासिक काल तक पहुंचा देता है। इस बात के अनेकों प्रमाण मिलते हैं कि भारतीय धर्म, संस्कृति और सभ्यता के संस्थापक भारत की भौगोलिक एकता से पूरी तरह परिचित थे। उन्होंने जनता के ऊपर अपनी मातृभूमि की अखण्डता को स्वाभाविक रूप से ही व्यक्त किया है। प्राचीन भारतीय अपने महान देश को एक ही नाम 'भारतवर्ष' से पुकारते थे। इस देश के सिन्धम्, हिन्द अथवा इंडिया आदि नाम विदेशियों ने रखे हैं। सिन्धु नदी को प्राचीन ईरानी 'हिन्दु' कहा करते थे और यूनानी उसे 'इण्डस' कहा करते थे, इसी से बिगड़कर हिन्द या इण्डिया शब्द बने, किन्तु इण्डिया की तरह भारतवर्ष शब्द में केवल भौगोलिक भावना नहीं है। भारतवर्ष शब्द के पीछे एक गहरी ऐतिहासिक विशेषता है जो हमारी मौलिक एकता को ज़ाहिर करती है। यह एक बड़ा पुराना सिद्धान्त है कि बहुत सी चीज़ें एक नाम से तभी पुकारी जाती हैं जब उनके पीछे एकता की भावना हो। इसलिए हमारे प्राचीन ऋषियों ने अनेक जातियों, भाषाओं और धर्मों के होते हुए भी इस देश को एक भारतवर्ष के नाम से पुकारा। भारतवर्ष उसी तरह भरत से बना है जिस तरह रोम रोमुलस से। ऋग्वेद सबसे पहले आर्य जाति के इस महान नेता का ज़िक्र करता है। भारतीय इतिहास के उषः काल में भारतीय आर्य संस्कृति को इस महान् नेता ने अनेक संघर्ष और लड़ाई के बाद निश्चित

और व्यापक रूप दिया। ऐतरेय ब्राह्मण में इस महान् आर्य सम्राट का विस्तृत वर्णन मिलता है। श्रीमद्भागवत् में भी भरत को अधिराज यानी सम्राट के नाम से पुकारा गया है। श्री मद्भागवत के अनुसार भरत किरात, हूण, यवन, पौंड्र और उसी तरह की अनेक जातियों और कबीलों के राजाधिराज थे। भरत अपने समय की आर्य शक्ति के साकार ऐक्य रूप थे। उन्होंने समस्त देश को एक संस्कृति और एक धर्म और एक छाया में लिया। भारतवर्ष कहने मात्र से ही आर्य संस्कृति और सभ्यता का महान् गौरव हमारी आखों के सामने आ जाता है। सम्राट भरत प्राचीन आर्य संस्कृति की नव जाग्रति के प्रतीक थे। इस नव जाग्रति के पीछे हमारा उस समय का साहित्य, उस समय की सामाजिक संस्था, रीति रिवाज, राजनैतिक पद्धतियां और जातीय अनुशासन थे। इन सब ने मिलकर नवीन सांस्कृतिक एकता की नींव डाली। इन्होंने एक पताका के नीचे विविध धर्मों, विविध जातियों, विविध संस्कृतियों के लोगों को एकत्र किया, और एक सूत्र में बांधा किन्तु उन्हें इतनी स्वतंत्रता दी कि वे अपने-अपने धर्म और संस्कृति की भिन्न-भिन्न धाराओं को शक्तिशाली बनाते रहें और इस तरह देश की महान् जीवन धारा के साथ अपनी इन धाराओं को मिलाकर सारे देश में व्यापक संस्कृति का निर्माण करते रहें।

भारत की इस मौलिक एकता का प्रमाण सिर्फ़ यह उसका एक नाम ही नहीं है। इस एक नाम के अतिरिक्त और भी प्रमाण मिलते हैं। इनसे यह पूरी तरह साबित होता है कि प्राचीन काल में सार्वजनिक लोग भारतीय एकता के साहित्य को पूरी तरह समझते थे। ऋग्वेद जैसे ग्रन्थ में जो मानव उल्लेखों का प्राचीनतम प्रमाण है, प्राचीन ऋषियों ने मातृभूमि की एकता का गम्भीर आह्वान किया है। ऋग्वेद मातृभूमि को हृदय-मन्दिर में देवी की तरह स्थापित करता है। उनमें सबसे अच्छे ऋग्वेद के वे मन्त्र हैं जिनमें पञ्जाब की विविध नदियों की प्रशंसा की गई है, जिन नदियों के कारण देश में इतना व्यापार, इतनी संस्कृति और इतनी समृद्धि फैली। अपने देश की इन रक्तवाहिनी नदियों के पवित्र वर्णन से अधिक इस देश की एकता को स्थापित करने वाली दूसरी वस्तु नहीं हो सकती। ऋग्वेद का यह मन्त्र है—

> इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति
> शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
> असिक्निया मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये
> शृणुह्या सुषोमया॥

इस श्लोक को पढ़कर समस्त वैदिक भारत की मौलिक एकता की तसवीर आखों के सामने छा जाती है। यही नहीं वह राष्ट्रीयता को धार्मिक पवित्रता का रूप देती है। अपनी मातृभूमि को सर्वदात्री समझकर उसका ध्यान करना और उसकी पूजा करना आर्यों का धार्मिक कर्तव्य था। सारा राष्ट्र प्रतिदिन मातृभूमि की प्रार्थना करता था। ऋग्वेद का यह मन्त्र भारतीय एकता का, उस समय के भारत की राष्ट्रीय भावना का, बहुत बड़ा प्रमाण है। यह सही है कि इस मंत्र में केवल पञ्जाब का ही वर्णन है किन्तु उस समय तक आर्यों के सामने जो भौगोलिक सीमाएं थीं वह इस मंत्र में स्पष्ट हैं। उस समय की भारत भूमि के उत्तर में हिमाच्छादित पहाड़ थे, सिन्धु और सुलेमान की पहाड़ियां पश्चिम में थीं, समुद्र दक्षिण में था और गङ्गा-यमुना की उपत्यका पूर्व में थी। इन सीमाओं के अन्दर सिर्फ़ उत्तर भारत आता है और इस सारे क्षेत्र को वैदिक साहित्य में आर्यावर्त्त के नाम से पुकारा जाता है। मनु आर्यावर्त्त को नीचे लिखे शब्दों में वर्णन करते हैं—

> आसमुद्रात्तु वै पूर्व्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
> तयोरेवान्तरं गिर्य्योरार्य्यावर्त्तं विदुर्बुधाः॥

मेधातिथि, मनु के इस श्लोक पर नीचे लिखी टिप्पणी करता है—

"पर्व्वतयोर्हिमवद्विन्ध्ययोर्यदन्तरम् सच्य सः आर्य्यावर्त्तो देशो बुधैः शिष्टैरुच्यते।"

मेधातिथि की यह टीका अमर कोष से बिलकुल मिलती जुलती है—

"आर्य्यावर्त्त: पुण्यभूमि: मध्यं विन्ध्य-हिमालय: "।

इस तरह आर्यावर्त्त से हिमालय और विन्ध्या के बीच के भूभाग से तात्पर्य है।

जैसे जैसे भारत में आर्यों की आबादी बढ़ती गई वैसे वैसे आर्यावर्त्त की सीमाएं भी बढ़ती गईं। यहां तक कि उसमें दक्षिणापथ या दक्षिण भारत भी शामिल हो गया। वेदों में सप्त सिन्धु भावना का अधिक व्यापक रूप दिया गया है। ऋग्वेद में उपर्युक्त प्रार्थनाओं के अतिरिक्त, बढ़ती हुई भौगोलिक सीमाओं को अंकित करने वाली विविध नदियों के नाम शामिल कर लिये गये हैं और इस पौराणिक काल के समस्त भारत की एकता का स्वरूप हमारी आंखों के सामने आ जाता है—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्म्मदे सिन्धुकावेरि जलेस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

लाखों हिन्दू भक्त सारे देश में रोज़ सुबह अपने तर्पण में इस प्रार्थना को दुहराते हैं। पुराण के एक दूसरे श्लोक में भारत को निम्नलिखित सात पर्वतों का देश कहा गया है कि जहां भक्त लोग जाकर तपस्या कर सकते हैं और शान्ति पा सकते हैं—

महेन्द्रो मलय: सह्य शुक्तिमानृक्ष पर्व्वत:।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्व्वता:॥

एक दूसरा श्लोक है जिसमें विविध प्रान्तों और देश के विविध भागों में फैले हुए उन मोक्षदायी तीर्थों का वर्णन है—

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता: मोक्षदायिका:॥

इस श्लोक में भारतवर्ष को सात प्रमुख तीर्थ स्थानों का देश कहा गया है कि जहां प्रत्येक भक्त को अपने जीवन में एक बार अवश्य जाना चाहिए। सात तीर्थ धामों के अन्दर हमारा सम्पूर्ण देश आ जाता है। शंकराचार्य ने जिन चार प्रमुख तीर्थ धामों को मुकर्रर किया है वे देश के चारों कोनों पर हैं। उन चार धामों की यात्रा करके लोग समस्त देश को जान सकते हैं नीचे लिखे श्लोक में देश भर में फैले हुए वर्तमान शिव मन्दिरों का वर्णन है—

सौराष्ट्रे सोमनाथञ्च, श्रीशैले मल्लिकार्ज्जुनं।
उज्जयिन्यां तु महाकालं ओंकारं अमरेश्वरे॥
केदारं हिमवत्पृष्ठे डाकिन्यां भीमशङ्करम्।
वाराणस्यां च विश्वेशं त्र्यम्बकं गौतमीतटे॥
वैद्यनाथं चिताभूमौ नागेशं द्वारकावने।
सेतुबन्धे च रामेशं घुश्मेशञ्च शिवालये॥
एतानि ज्योतिर्लिङ्गानि सायं प्रात: पठेन्नर:।
सप्तजन्मकृतं पापं स्मरणेन विनश्यति॥

सती उपाख्यान में हमें उन ५२ जगहों के नाम मिलते हैं जहां सती के विविध अंग फेंके गये थे। एक उंगुली कलकत्ते में गिरी थी जो अब तक वहां कालीघाट के नाम से विख्यात है। जीभ कांगड़ा में गिरी थी जिसमें से अब तक ज्वालामुखी की लपट निकलती है। बांयां हाथ काशी में गिरा था जहां वह अन्नपूर्णा के नाम से मशहूर है। इस तरह भारत के ये भिन्न भिन्न स्थान प्रत्येक भक्त के हृदय में श्रद्धा और आदर उत्पन्न करते हैं और देश के प्रत्येक भाग को अनुपम पवित्रता से भर देते हैं और इस तरह भारत को एक विराट प्रांगण बना देते हैं। हमारी राष्ट्रीय भावना इतनी प्रबल थी कि हमारे यह तीर्थ और पवित्र स्थान भारत की ही सीमा के अन्दर प्रतिष्ठित रहे।

संस्कृत साहित्य में इधर से उधर तक मातृभूमि की भावना के अनुपम उदाहरण भरे हुए मिलते हैं। अथर्ववेद में मातृभूमि को वीर और धार्मिक पुत्रों की जननी कहा गया है। इसे शक्ति और शौर्य, व्यापार और वाणिज्य, विज्ञान और कला, महानता और धार्मिकता और असंख्य वनस्पतियों और पौधों की भूमि बताया गया है। ऐसी भूमि जिसके चारों तरफ़ समुद्र है और जिसको सिन्धु जैसी पवित्र नदी

उपजाऊ बनाती है और जिसे धन-धान्य से भरती है। ऐसी भूमि जहां हमारे पूर्वज पैदा हुए, जहां उन्होंने जीवन बिताया, जहां उन्होंने कर्म किया और जहां देवों के सामने असुर नत मस्तक हुये। ऐसी भूमि जहां संसार की ज़रूरी वस्तुएं प्राप्य हैं, जहां सब में सुन्दर वन हैं, जहां यज्ञ और हवन होते हैं, जहां शक्ति और शौर्य भरा पड़ा है और जहां के लोग देश भक्ति, त्याग, धार्मिकता और दया से भरे हुए हैं।*

संस्कृत ग्रन्थों में और अनेकों उद्धरण मिलते हैं जिनसे यह प्रगट होता है कि भारतभूमि दुनिया में सर्वोत्तम है और इस पृथ्वी में स्वर्ग की तरह है इसकी सबसे सुन्दर व्याख्या नीचे लिखे वाक्य से प्रकट होती है—

"जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी"

---

* "नानावीर्या ओषधीर्या विभर्ति..."

"यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यान्न कृष्टय: सम्बभूव: ।"

"यस्यां पूर्व्वे पूर्व्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्त्तयन् ।"

"गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्य ते पृथिवि स्योनमस्तु ।"

"भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यंसंस्कृतम्"

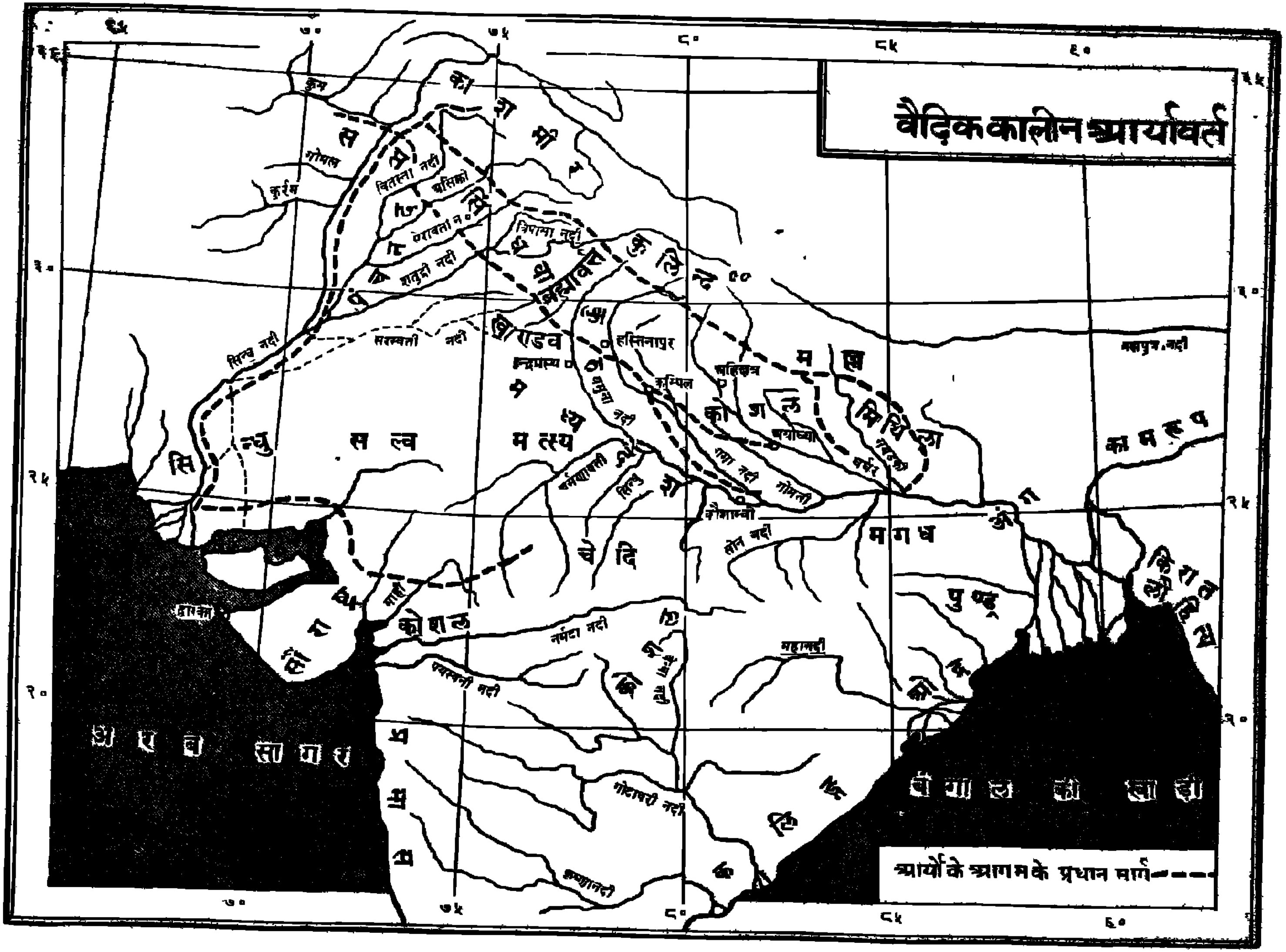
"यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबा: ।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभि: ।"

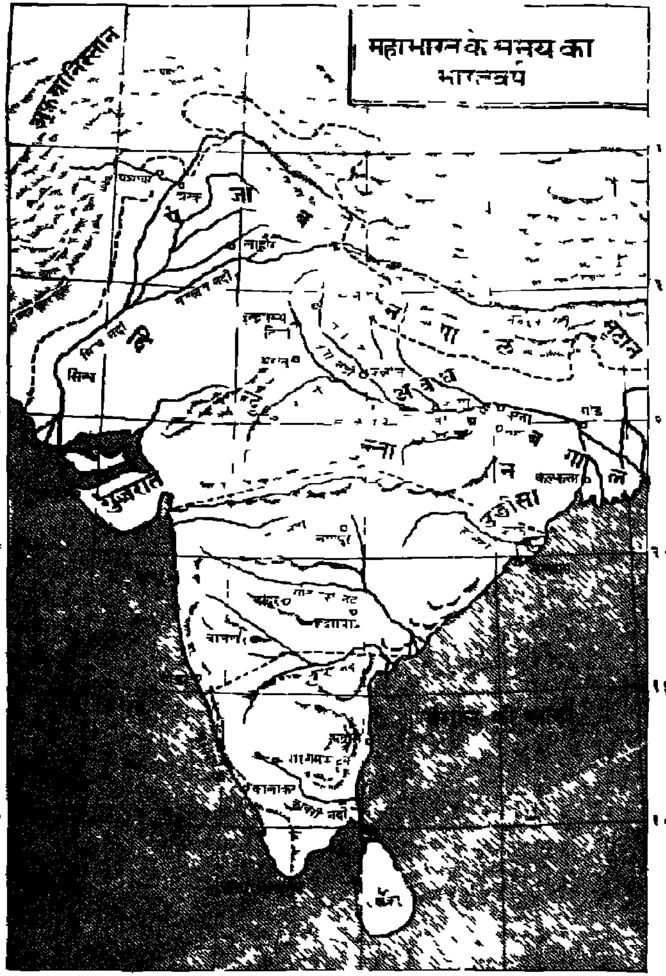
[अथर्ववेद—१२.२,३,५,११;१२ १ २२,४१]

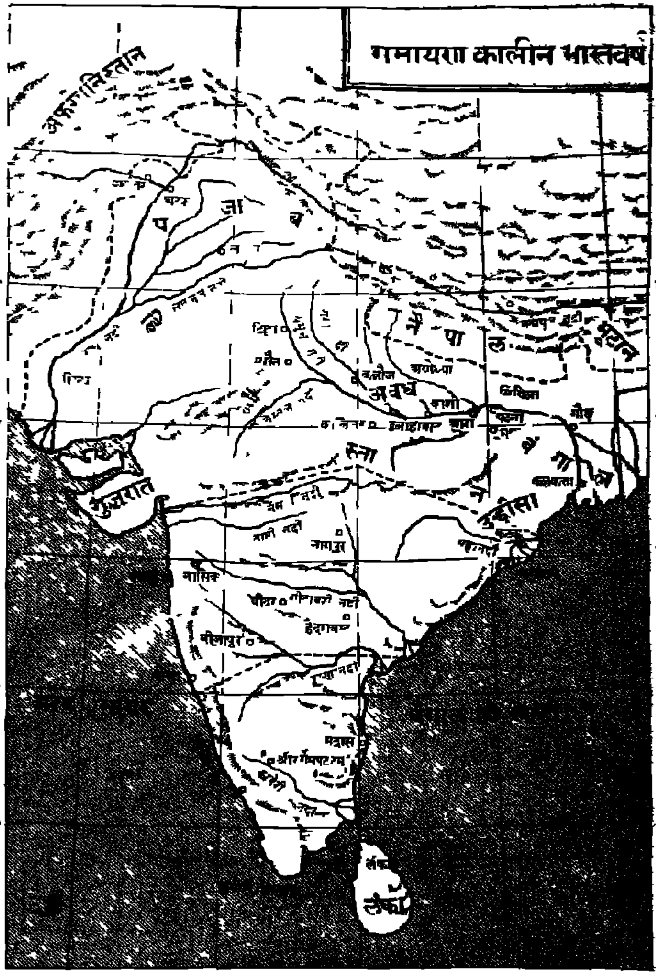
गायन्ति देवा: किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भूय: पुरुषा: सुरत्वात् ॥
जानीम नैतत्क्वकवयं विलीने
स्वर्गप्रदे कर्म्मणि देहबन्धम्।
प्राप्स्याम धन्या: खलु ते मनुष्या:
ये भारतेनेन्द्रिय विप्रहीना: ॥
[विष्णु पुराण—२३, २४, २६]

मातृभूमि के प्रति इसी भक्ति के कारण देश में उत्तर से दक्षिण तक अनेकों तीर्थस्थान बन गये हैं। उत्तर में काशी और दक्षिण भारत में कांजीवरम्; इन दोनों तीर्थ स्थानों में लोग एक से प्रेम और एक से आदर के साथ जाते हैं। दोनों पवित्र मन्दिरों के शहर हैं। उनके निर्माण में हमें कला के सुन्दर नमूने मिलते हैं। जगन्नाथ पुरी की प्रसिद्धि बहुत कुछ उसके समुद्र और उसके प्रमुख बन्दरगाह और व्यापार का केन्द्र होने के कारण थी। प्रयाग तीर्थराज कहा जाता है। उसका इतना महत्त्व इसलिये और बढ़ गया कि वह गंगा और जमुना के संगम पर है। इस तरह की तीर्थयात्रा की भावना जनता के अन्दर मातृभूमि की भौगोलिक एकता के भाव भर देती है। जनता के अन्दर यह भावना पैदा होती है कि भारत भूमि उत्तर से लेकर दक्षिण और पूर्व से लेकर पश्चिम तक एक महान देश है। सारे देश की रक्त धमनियां एक हैं। तीर्थ स्थान हमारे अन्दर संकुचित प्रान्तीयता को कभी पनपने नहीं देते। सारे भारतवर्ष में हमारी धार्मिक भावना ने इतने असंख्य तीर्थस्थान जगह-जगह बना दिये हैं कि उनको गिना सकना असम्भव है। महाभारत के पर्वों में इन तीर्थ स्थानों की एक विस्तृत सूची मिलती है। महाभारत में दो जगहों पर इनका वर्णन आया है। महाभारत में हमें नारद और धौम्य द्वारा तीर्थ स्थानों का वर्णन मिलता है। तंत्र चूड़ामणि में तीर्थ स्थानों की संख्या ५२ बताई गई है। देवी भागवत में यह संख्या १०८ दी हुई है। कुब्जिका तंत्र में भी तीर्थ स्थानों का सुन्दर वर्णन मिलता है। शिवचरित्र में महा पीठों की संख्या ५१२ और उपपीठों की संख्या २६ बताई गई है। कालिका पुराण में भी तीर्थ स्थानों का वर्णन पाया जाता है।

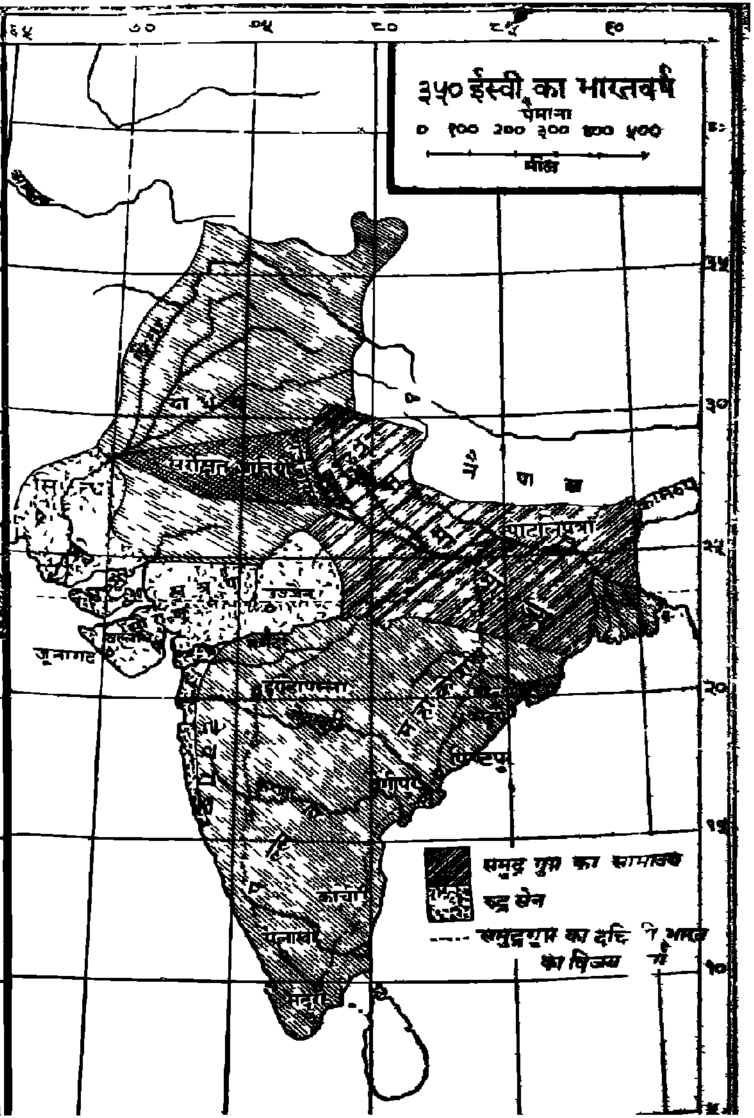
तीर्थ स्थानों के अतिरिक्त देश में कला के सुन्दर स्मारक भी फैले हुए हैं। ये कला के स्मारक हममें एक देशीयता की भावना भरते हैं। ये कला के स्मारक बौद्धों और जैनों द्वारा निर्माण किये गये हैं। बौद्ध और जैन धर्म कोई हिन्दू धर्म की उपशाखायें हैं। ईस्वी सदी के पूर्व में भारत से बाहर के लोग हिन्दू

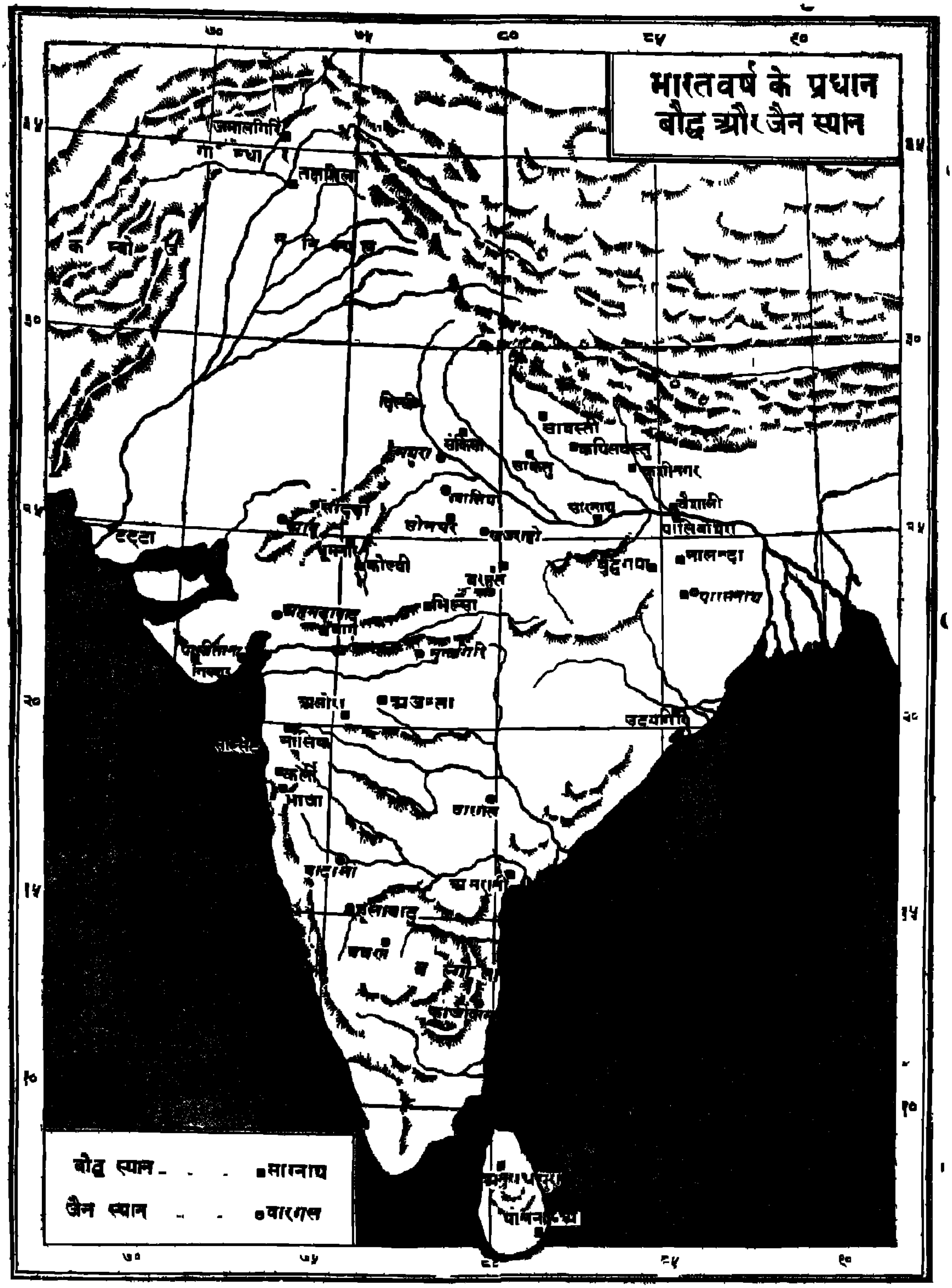

वैदिककालीन आर्यावर्त
आर्यों के आगमन के प्रधान मार्ग
सिन्धु नदी
सरस्वती नदी
वितस्ता नदी
असिक्नी
परुष्णी नदी
शतुद्री नदी
त्रिपाशा नदी
यमुना नदी
गंगा नदी
गोमती
सोन नदी
महानदी
नर्मदा नदी
पयस्वनी नदी
गोदावरी नदी
कृष्णानदी
ब्रह्मपुत्र नदी
कुरम
गोमल
हस्तिनापुर
इन्द्रप्रस्थ
काम्पिल
अहिच्छत्र
अयोध्या
कौशाम्बी
द्वारका
मगध
चेदि
मत्स्य
कोशल
पुण्ड्र
कामरूप
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी


महाभारत के समय का भारतवर्ष
अफ़गानिस्तान
गुजरात
उड़ीसा


रामायण कालीन भारतवर्ष
अफ़गानिस्तान
गुजरात
उड़ीसा
मद्रास
लंका


ईसा से २५० वर्ष पूर्व का भारतवर्ष
पैमाना मील
0 १०० २०० ३०० ४०० ५००
उज्जैन
पाटलिपुत्र
नर्मदा
गोदावरी
कृष्णा


३५० ईस्वी का भारतवर्ष
पैमाना
0 १०० २०० ३०० ४०० ५००
मील
पाटलिपुत्र
उज्जैन
जूनागढ़
कांची
समुद्रगुप्त का साम्राज्य
शक क्षेत्र



भारतवर्ष के प्रधान
बौद्ध और जैन स्थान
तक्षशिला
श्रावस्ती
कपिलवस्तु
वैशाली
पाटलिपुत्र
नालन्दा
बुद्धगया
नासिक
कार्ले
भाजा
बौद्ध स्थान - - - सारनाथ
जैन स्थान - - वारंगल

धर्म को बौद्ध धर्म के नाम से पुकारते थे। भारतीय बौद्ध काल में भारत में एक ऐसा महान साम्राज्य स्थापित हुआ', जो केन्द्रीय सत्ता से संचालित होता था; जिससे भारत को एक सी शासन प्रणाली, एक सा धर्म, पूर्व से लेकर पश्चिम तक एक सी निर्माण कला मिली। ऐसे बौद्ध धर्म ने जनता में एकता पैदा करने और जनता को आदर्श की दृष्टि से ऊंचा उठाने में महान प्रयत्न किया। बौद्धों ने भारत भूमि को महान बनाने में कोई कसर बाक़ी न रखी। बौद्धों के ज़माने में ही भारतीय राष्ट्रीयता ने अपना विकसित रूप ग्रहण किया। भारत ने चीन जापान, सीरिया, मिस्र, आदि देशों के साथ अपना सम्पर्क स्थापित किया। उस समय भारत से विदेशों को राज्य प्रतिनिधि, व्यापारी, मिशनरी, धर्मप्रचारक, वाणिज्य वस्तुएं, हमारी फिलासफी और हमारे आदर्श भेजे गये। हिन्दुओं के लिए तीर्थ यात्राओं की जो महत्ता है, बौद्धों के लिए स्मारक चिन्हों का भी उतना ही महत्व है। हिन्दुओं के जगह जगह तीर्थस्थान बन गये और बौद्धों ने सुन्दर स्मारक बनाकर देश की महानता को बढ़ाया। बौद्धों ने जगह जगह स्तूप और दागोबा बनाये; जगह-जगह विहार चैत्य, मठ और धर्म स्थान क़ायम किये। ये स्थान कहीं गुफा काटकर बनाये गये और कहीं-कहीं इमारतों के रूप में बनाए गये। जिस तरह हिन्दू तीर्थ स्थानों ने हमारे सुन्दर देश की भौगोलिक एकता का भाव पैदा किया उसी तरह बौद्ध स्तूपों ने भी देश की भौगोलिक एकता को पुख़्ता किया। दिल्ली तिरहुत, साची आदि जगहों की लाटें; विहार, नासिक, अजन्ता, एलोरा, करली, कन्हेरी, भजा, बेदसा, धमनार, उदयगिरि बाग आदि जगहों के चैत्य और विहार; मानिकयाल, सारनाथ, सांची, अमरावती के स्तूप; भरहुत, मथुरा, गया, साची, अमरावती, गान्धार आदि जगहों के मठ इस बात को साबित करते हैं कि किस तरह एक धर्म भावना ने सारे देश को एक सूत्र में बांधने का ज़बरदस्त प्रयत्न किया।

किन्तु भारत को एक देश के रूप में देखने के लिये भौगोलिक ज्ञान ज़रूरी है। इसलिए आवश्यकता है कि हम इस बात को जानें कि हमारे देश में भौगोलिक एकता की भावना कब और किस तरह पैदा हुई। इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि वैदिक काल में भारत की भौगोलिक सीमा में भारत का बहुत थोड़ा अंश शामिल था। ऋग्वेद में जिन भौगोलिक स्थानों का वर्णन आता है उनसे यह बात पूरी तरह साबित हो जाती है कि ऋग्वेद में २५ नदियों का वर्णन है। उनमें दो-तीन को छोड़कर बाक़ी समस्त नदियां सिन्धु नदी में गिरती हैं। एक जगह सप्त सिन्धव शब्द आर्य भारत के लिये इस्तेमाल किया गया है। सप्त सिन्धव का अर्थ है सात नदियों का देश। जिसमें ५ नदियां पंजाब की हैं और बाकी दो सिन्धु और काबुल नदी हैं। बाद में काबुल नदी को जगह सरस्वती का नाम मिलता है। दो एक जगह भारत की पूर्वी सीमा का वर्णन आया है। उसमें पूर्वी सीमा की अन्तिम रेखा पर यमुना-गङ्गा में गिर रही है। इस तरह भौगोलिक दृष्टि से वैदिक भारत के उत्तर में पहाड़ थे, सिन्धु नदी थी और सुलेमान पर्वत श्रेणी थी; पश्चिम में सिन्धु नदी थी, दक्षिण में समुद्र था और पूर्व में गङ्गा और यमुना नदियां थीं। विन्ध्या की उपत्यका और नर्मदा नदी का ऋग्वेद में कहीं वर्णन नहीं मिलता। इससे प्रकट है कि वैदिक ऋषियों को समस्त देश का पूरा ज्ञान नहीं था।

बाद के वैदिक साहित्य में भी हमें दक्षिण भारत का वर्णन नहीं मिलता। ऐतरेय ब्राह्मण में विश्वामित्र, आन्ध्र पौंड्र, शबर, पुलिन्द और मुनिबों का वर्णन करते हैं कि ये लोग आर्य वंशों के सम्पर्क में रहते थे। इसका अर्थ यही है कि आर्य उस समय विन्ध्या के उत्तर के समस्त देशों को जानते थे और उसके अधिकांश पूर्वी हिस्से से परिचित थे। जो कुछ प्रमाण हमें मिलते हैं उनके देखने से यही पता चलता है कि दक्षिण भारत में आर्यों के उपनिवेश सातवीं सदी ईसा पूर्व तक नहीं बन पाये थे। पाणिनि, जो सातवीं सदी ईसा पूर्व में हुआ है, बहुत से तीर्थ स्थानों और बहुत सी नदियों का वर्णन करता

है जो अधिकतर पंजाब और अफ़ग़ानिस्तान की हैं। दक्षिण की जिन जगहों का पाणिनि ज़िक्र करता है वे हैं कचेय अवन्ती, कोसल, करूषा (शाहाबाद, बिहार) और कलिंग।

उस समय के समकालीन पाली साहित्य से भी यही निष्कर्ष निकलता है। सुत्तनिपात में दक्षिणापथ शब्द आता है किन्तु दक्षिणापथ में समस्त दक्षिण नहीं था। इस शब्द से गोदावरी नदी के उत्तर तक का ही बोध होता है। प्राचीन बौद्ध धर्म की भौगोलिक सीमाओं का वर्णन हमें महापरिनिब्बान सुत्त में मिलता है, जिसमें नीचे लिखे प्रमुख नगरों का वर्णन आता है, जहा बौद्ध धर्मावलम्बी ब्राह्मण, वैश्य और राज्याधिकारियों का निवास था; जैसे—चम्पा, राजगृह, सवथिया, साकेत, कोसाम्बी और मगबाराणसी। इसका अर्थ यह है कि यह सीमाएं काशी, कोसल और मगध राज्य के अन्तर्गत थीं, जिसको आजकल हम अवध और बिहार कहते हैं। भगवान बुद्ध के स्मारक चिन्ह जिन गावों और नगरों में रक्खे गये वे भी इसी सीमा के भीतर आ जाते हैं। महापरि निब्बानसुत्त में ये जगहें हैं—राजगृह, वैसाली, कपिलवस्तु, अल्लकप्प, रामग्राम, वेथदीप, पावा और कुशीनगर। कुछ पाली पुस्तकों के अनुसार बौद्ध भारत १६ प्रदेशों में बाँटा गया है—(१) अग (२) मगध (३) काशी (४) कोसल (५) वज्जि (६) मत्त (७) मेति (८) वनसा (९) कुरु (१०) पाचाल (११) मच्छ (१२) सूरसेन (१३) अस्सका (१४) अवन्ति (१५) गान्धार (१६) कम्बोज। गोविन्द सुत्त मे हमें इससे कुछ अधिक विस्तृत भौगोलिक सीमाओं का वर्णन मिलता है जिसके अनुसार ब्राह्मण गोविन्द ने रेणु और छै अन्य क्षत्रिय राजाओं में भारत का बांटा—(१) कलिंग जिसकी राजधानी दतपुर थी (२) अस्सक जिसकी राजधानी पोतन थी, (३) अवन्ती जिसकी राजधानी माहिशमती थी, (४) सौवीर जिसकी राजधानी रोरुक थी, (५) विदेह जिसकी राजधानी मिथिला थी, (६) अंग जिसकी राजधानी चम्पा थी और (७) काशी जिसकी राजधानी वाराणसी थी।

ललित विस्तर नामक ग्रन्थ में भी ज़िक्र है कि जम्बूद्वीप (भारत) १६ भागों में बांटा गया था। उपर्युक्त ग्रन्थ में भगवान बुद्ध के जन्म को लेकर एक कथा है: प्रश्न था भगवान बुद्ध कहा और किस कुल में जन्म लें। नीचे लिखी जगहें चुनी गईं (१) वैदेहकुल (मगध), (२) कोसल राजकुल, (३) वंसराज राजकुल जिसका तिब्बती नाम वदस है और जिसकी राजधानी कोसाम्बी है, (४) वैशाली का नगर राजकुल, (५) प्रद्योतान राजकुल जा उज्जयनी में शासन करता था, चीनी उल्लेखों में उसे मावन्ती लिखा गया है, (६) मथुरा जहां कंस राजकुल था, (७) पाण्डवों की नगरी हस्तिनापुर, (८) मिथिला का नगर और (९) शाक्यों का देश जिसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। उपरोक्त ९ जगहें भगवान बुद्ध के जन्म के लिये चुनी गईं। किन्तु सिर्फ़ शाक्य वंश को छोड़कर और वंशों में कुछ न कुछ ऐब पाया गया। इसलिए भगवान बुद्ध ने शाक्य राजकुल में जन्म लिया।

इसी पुस्तक के १० वें अध्याय में बोधिसत्व ने ६४ तरह की लिपियों का ज़िक्र किया है उनमें नीचे लिखी जगहों और गुफाओं का वर्णन आता है (१) अंग (२) बग (३) मगध (४) सकारी (५) ब्रह्मवलि (६) द्रविड़ (७) दक्षिण (८) उग्र (९) दर्द (१०) खसाया (११) चीन और (१२) हूणों का देश। संस्कृत और पाली ग्रन्थों में जो उद्धरण हमें मिलते हैं उससे यह साबित होता है कि वैदिक काल और प्रारम्भिक बौद्ध काल में भारतीयों को जिन देशों का भौगोलिक ज्ञान था उसके अनुसार उन्हें दक्षिण भारत और सिंहल का पता न था। इनका ज्ञान बाद में हुआ।

भारत की भौगोलिक क्षितिज पर दक्षिण भारत का नाम पहले पहल चौथी सदी ईसा पूर्व में आता है। यदि पाणिनि को सारे भारत का ज्ञान नहीं था तो उसके टीकाकार कात्यायन को, जो कि मौर्यों के पहिले नन्ददास के समय में हुआ है, सारे भारत का पूरा ज्ञान था। कात्यायन पाण्ड्य, चोला और महिस्मात का ज़िक्र करता है।

यूनानी लेखों से जो प्रमाण हमें मिलते हैं उससे पता चलता है कि सिकन्दर के समय में भारतवासियों को समस्त भारत का पूरा ज्ञान था। यूनानी इतिहास लेखक, स्ट्रैबो लिखता है—"सिकन्दर ने सारे भारत की भौगोलिक स्थिति का लोगों से वर्णन सुना।" स्ट्रैबो ने अपने ज्ञान के आधार पर भारत के कुछ भागों की दूरी का ज़िक्र किया है जो क़रीब क़रीब बिलकुल ठीक है।

इतिहास से हमें पता चलता है कि मौर्य सम्राट के अन्तर्गत सारे भारत का उस समय के लोगों को पूरा ज्ञान था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में, जिसका रचयिता सम्राट चन्द्रगुप्त का मन्त्री चाणक्य समझा जाता है, सारे भारत की, जिसमें दक्षिण भी शामिल था, आर्थिक वस्तुओं का बहुत अच्छा वर्णन है। उसमें भारत के व्यापारी मार्गों को दो प्रमुख हिस्सों में बाटा गया है।

"हैमवतो दक्षिणापथाच्छ्रेयान हस्त्यश्वगन्ध-दन्ताजिनरूप्यसुवर्णपण्यास्सारवत्तरा" — इत्याचार्या।

नेति कौटिल्य.—कम्बलाजिनाश्वपण्यवर्जा शंखवज्रमणियुक्ताम्मु वर्णपण्याश्वप्रभूतश: दक्षिणापथे।

दक्षिणा पथेऽपि बहुश्वनि: ...

[भाग सात, अध्याय १२]

(१) उत्तर पथ जो हिमालय की ओर जाता है जो हिमावताह कहलाता है।

(२) दक्षिण पथ जो दक्षिणापथ कहलाता है। उस समय हिमावताह के रास्तों से हाथी, घोड़े, इत्र, चमड़ा, चादी, सोना आदि आता था और दक्षिण के पथ से शंख, हीरा, जवाहरात मोती और सोना आदि आता था। व्यापारिक दृष्टि से दक्षिणापथ, उत्तर पथ से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण था। लोगों को ज्ञान था कि दक्षिण भारत में खनिज पदार्थ की बहुतायत है। दक्षिण और सिंहल का कुछ हिस्सा मोती के लिए प्रसिद्ध था, जैसे ताम्रपर्णिका, कुल, चूर्ण आदि। कुछ पर्वत भी प्रसिद्ध थे मसलन पाण्ड्यकावाक और महेन्द्र। उत्तर में हिमालय में स्थित कुछ गांव चमड़े के लिए प्रसिद्ध थे जैसे विषि, महाविषि, आरोहा, बहलव आदि। नैपाल कम्बलों के लिए मशहूर था। काम्भोज (अफ़ग़ानिस्तान) सिन्धु, अस्त (पंजाब) घोड़ों के लिए मशहूर थे। पूर्वीय प्रान्तों में बंग, पौंड्र, सुवर्णकुड्यक (शायद कामरूप) मगध, काशी और कलिंग हाथियों के लिए प्रसिद्ध थे। दक्षिण में मदुरा, पश्चिम में अपरान्त अपने सूती कपड़े के लिए मशहूर थे। सौराष्ट्र हाथियों के लिए और सौवीर्य घोड़ों के लिए प्रसिद्ध थे। इसके अतिरिक्त विदेशों के नाम भी आते हैं जिसके साथ भारत का व्यापार होता था जैसे स्वर्णभूमि अपने सुगंधित द्रव्यों के लिए मशहूर थी। चीन अपने रेशमी कपड़ों के लिए प्रसिद्ध था और अरब (वनायु) अपने घोड़ों के लिए प्रसिद्ध था।*

अशोक की लाटें इस बात की पुख्ता प्रमाण हैं कि उस ज़माने के लोगों को सारे भारत का ज्ञान था। दक्षिण के स्वाधीन राज्यों में चोला, पाण्ड्या, सतिय पुत्र, केरल पुत्र, आन्ध्र और पुलिन्द का भी वर्णन मिलता है। कई सामन्त देशों का ज़िक्र आता है जैसे योण, कम्बोज, गान्धार, राष्ट्रिक, पितैनिक (शायद पैथान), नभतास। महेन्द्र की सिंहल की धर्म विजय को भी एक ऐतिहासिक सत्य समझना चाहिये।

मौर्य साम्राज्य के समय में सारे भारतवर्ष का ज्ञान और उसकी भौगोलिक एकता से सभी परिचित थे। इसीलिए समकालीन साहित्य में भारत की भौगोलिक एकता का इधर से उधर तक वर्णन भरा पड़ा है।

दक्षिण भारत के सम्बन्ध में पातञ्जलि (१५० ईसा पूर्व) का ज्ञान कात्यायन से बहुत अधिक था। अपने महाभाष्य में वह माहिस्मती के अतिरिक्त

* अर्थ शास्त्र, पृष्ठ ५०, ७५-८१ [मैसूर संस्करण]

वैदर्भ, कांचीपुर, केरल और मलाबार का भी ज़िक्र करता है।

रामायण और महाभारत का समय निर्धारित करना बहुत मुश्किल है। साधारणतया रामायण को महाभारत से प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है और यह इसलिये भी सच है कि रामायण में दक्षिण भारत का इतना विषद वर्णन नहीं मिलता जितना कि महाभारत में। रामायण में दक्षिण की जिन जगहों का जिक्र आया है वह हैं—उत्कल, कलिंग, दशार्ण, अवन्ति और विदर्भ। किन्तु ये सारी जगहें विन्ध्या से कुछ बहुत नीचे नहीं हैं। रामायण में इनके और विन्ध्या के बीच की केवल एक जगह का जिक्र आता है और वह है दण्डकारण्य। इस तरह का भौगोलिक ज्ञान सहज ही में यह मानने को विवश करता है कि रामायण सातवीं सदी ईसा पूर्व से पहले का ग्रन्थ है।

महाभारत में सभापर्व में सहदेव की दक्षिण विजय का वर्णन है जिसमें सहदेव ने पाण्ड्य, द्रविड़, उड़, केरल और आंध्र को क़ाबू में किया। भीष्मपर्व में सात प्रमुख पहाड़ों और २०० नदियों के नाम आते हैं, जिनमें दक्षिण की महानदी, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, नर्मदा, कृष्णवेनी, वेन, तुङ्गवेन शामिल हैं। वाण पर्व में निम्नलिखित दक्षिण के तीर्थों का वर्णन है—गोदावरी, पायोमिनी, अगस्त्य तीर्थ, वरुण तीर्थ, ताम्रपर्णि, गोकरण तीर्थ, कावेरी और कन्या तीर्थ (कन्या अन्तरीप)।

वराहमिहिर में भारत के ९ भागों का नीचे लिखा वर्णन आता है —

(१) मध्य भाग: जातिया—कुरु, पाञ्चाल, पाण्डु, सूरसेन, वत्स आदि; शहर—मथुरा, साकेत, नदिया—यमुना और सरस्वती।

(२) पूर्वी भाग: जातिया—अम्बष्ठ कौसलाक, पौण्ड्र, प्रागज्योतिष, ताम्रलिप्ति, और उत्कल, देश—कोसल, मिथिला, कासी, मगध पुण्ड्र, ताम्रलिप्ति, समतात्, उड़ आदि।

(३) दक्षिण पूर्व भाग : जातियां—चेदि, दशार्ण, निशाद आदि; देश—अंग (चेदि) उपवङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग, आन्ध्र, विदर्भ, आदि, पहाड़–विंध्या।

(४) दक्षिणी भाग: जातिया—आभीर, अवन्तक, चेर्य, कैर, वारिचर आदि, देश—वैदुर्य, भारुकच्छ, चित्रकूट, कांची, लंका, दक्षिण महासागर, सिंहल, तालिकट, वेल्लुर, चेरा, चोला, कच्छ, कर्नाटक, केरल, कोकण; वन—दण्डकारण्य, पहाड़—दर्दुर, कुसुम, महेन्द्र, ऋष्यमुख, सूर्प, नदियां—कावेरी, कृष्णा, ताम्रपर्णि, वेन आदि।

(५) दक्षिण-पश्चिम भाग: जातिया– आभीर, अर्व, बर्बर, किरात माकड़, पह्लव, सिन्धु सौवीर, युद्र, यवन आदि, देश—महार्णव, अनार्त, द्राविड़, कम्बोज, पारसव, सौराष्ट्र आदि।

(६) पश्चिमी भाग: जातिया—अपर्णाटक, हैहय, म्लेच्छ, सक, वैश्य आदि।

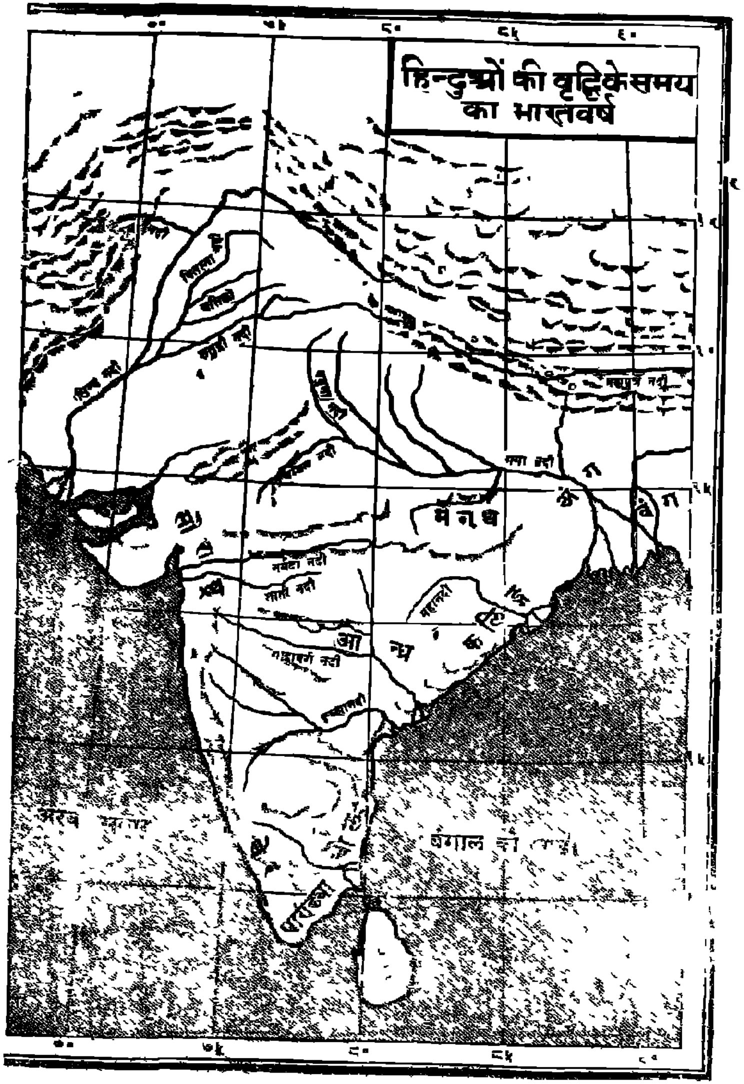
(७) उत्तर पश्चिमी भाग: में हारहौर, स्त्री-राज्य और वेनुमती नदी शामिल थीं।

(८) उत्तरी भाग: जातिया—हूण, कैकय, उदीच्य आदि; नगर—पुष्कलावती, तक्षशिला, देश—गान्धार, उत्तर कुरु, पहाड़—धनुष्मात, हिमवाल, कैलाश आदि, नदिया—यमुना।

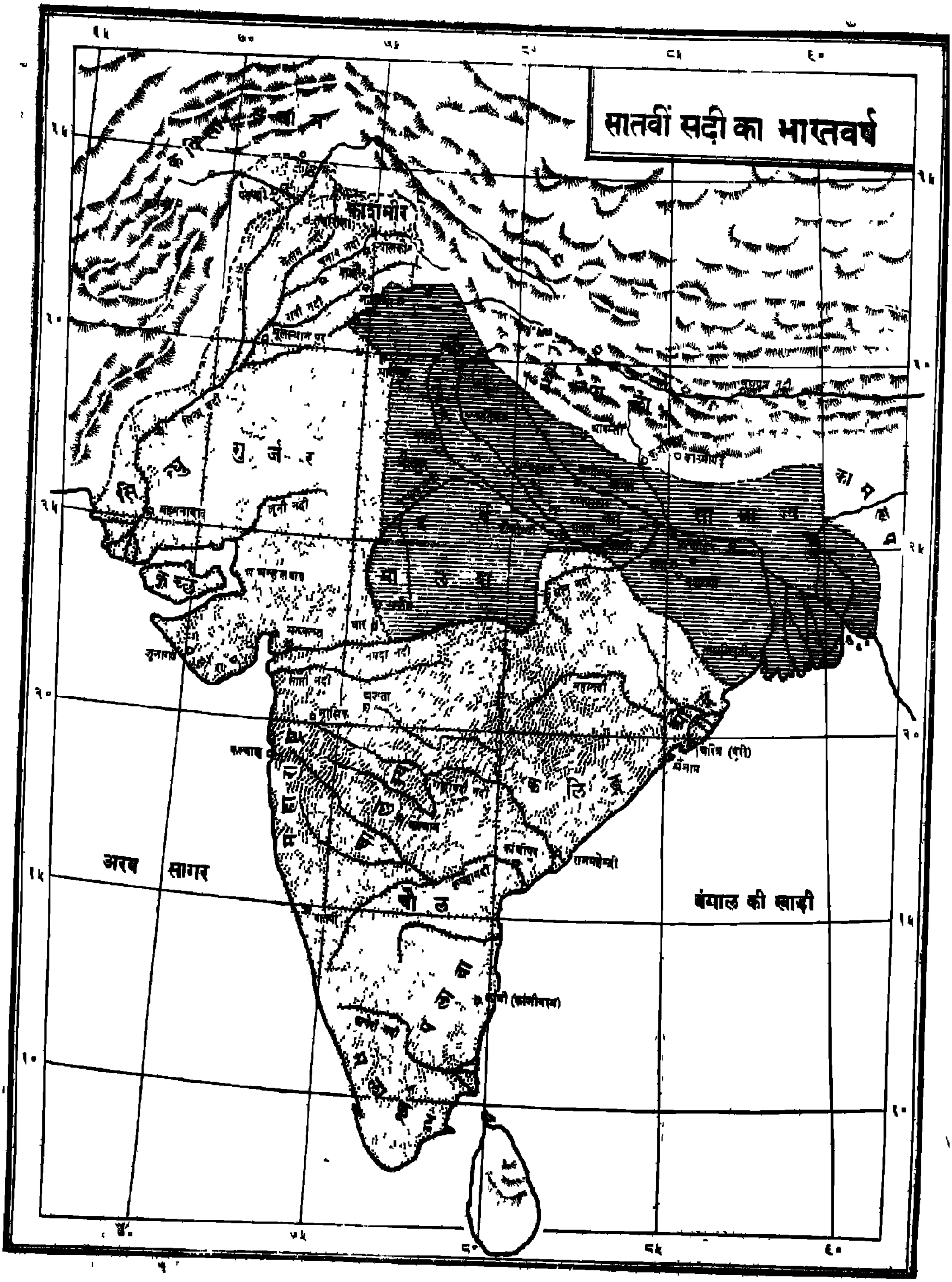
(९) उत्तर पूर्वीय भाग—काश्मीर।

उपरोक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत को प्राचीन काल में अपने देश की एकता और अखण्डता का धार्मिक और भौगोलिक ज्ञान था। और यह महज़ एक दिमाग़ी कल्पना न थी बल्कि लाखों व्यक्ति इस कल्पना को अपनी दैनिक प्रार्थना में दुहराते थे।

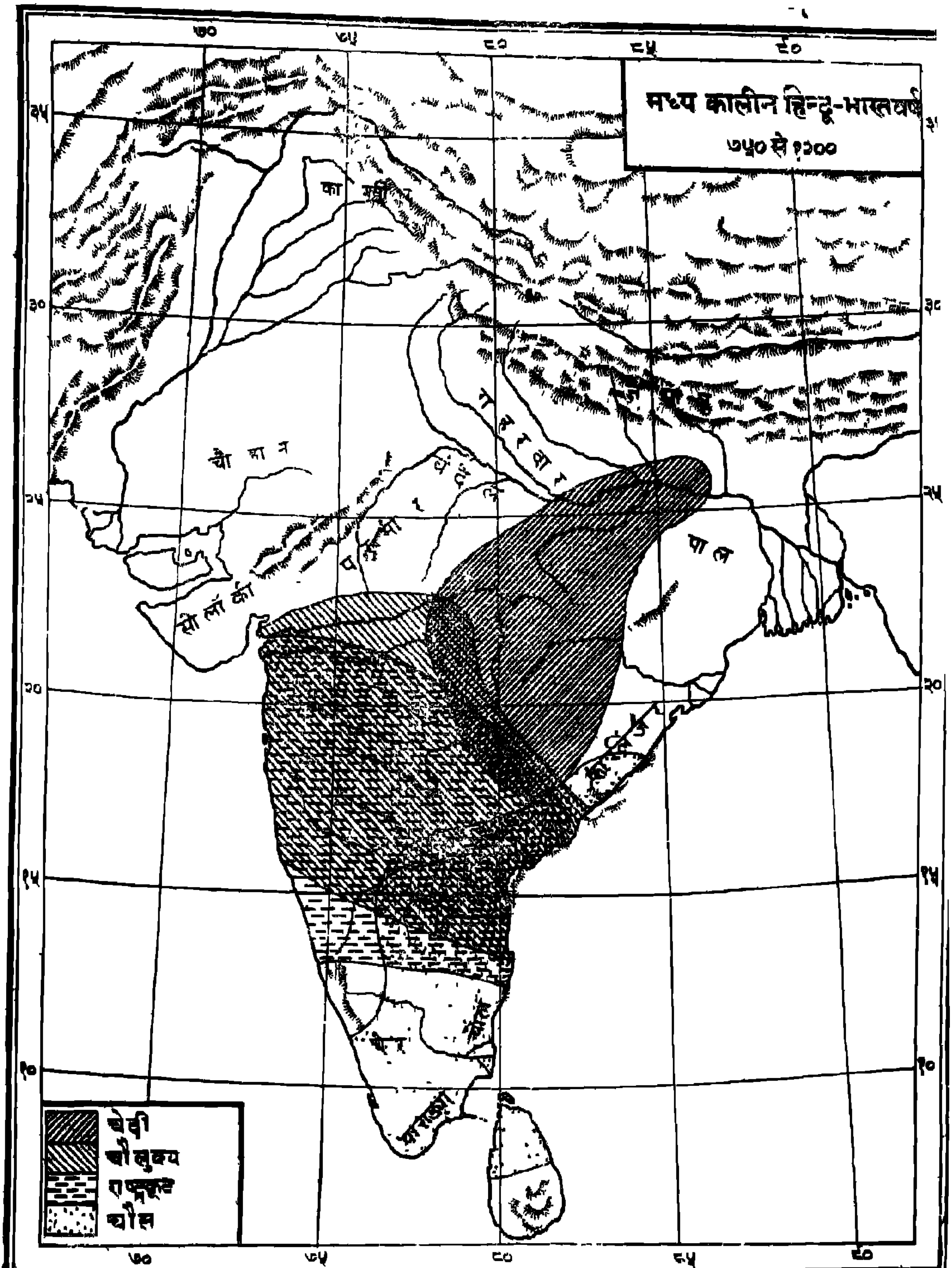
भौगोलिक और धार्मिक अखण्डता के अतिरिक्त भारतीय एकता को राजनैतिक दृष्टि से भी उपलब्ध किया गया था। मध्य काल में सारे भारत की एक राजनैतिक केन्द्रीय सत्ता अकबर के समय में क़ायम हुई। अकबर के सिंहासन के चारों ओर विविध धर्मों और विविध जातियों के लोग एकत्रित हुए। लोगों ने अनुभव किया कि सारा भारत राजनैतिक


हिन्दुओं की वृद्धि के समय का भारतवर्ष
मगध
आन्ध्र
बंगाल की खाड़ी

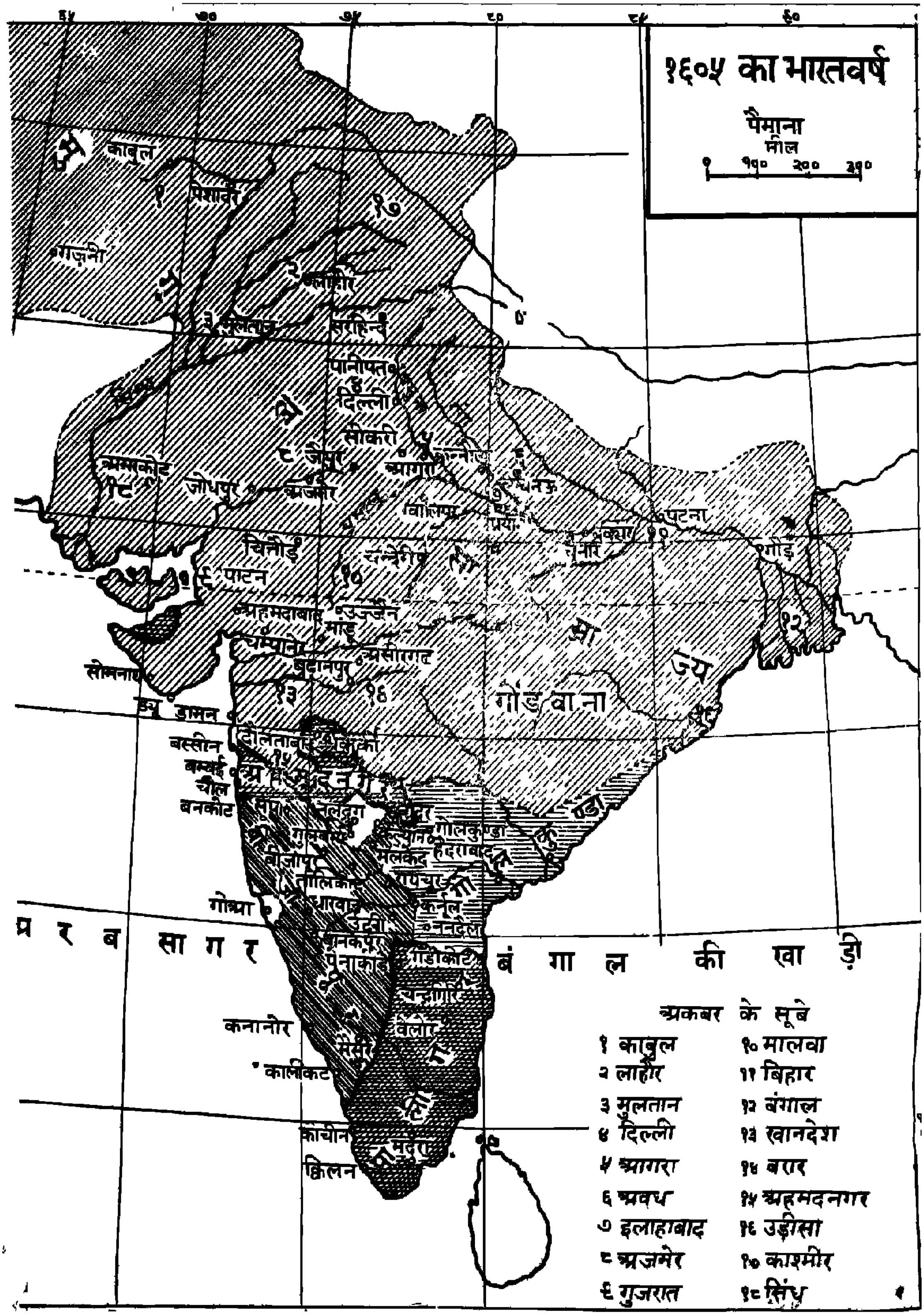

६४० ई० का भारतवर्ष
हर्ष का साम्राज्य
काबुल
श्रीनगर
लाहौर
मुल्तान
बीकानेर
जयपुर
सूरत
नासिक
ताप्ती नदी
सम्भलपुर
पुरी
अमरावती
मद्रास
बंगलौर
अरबसागर
बंगाल की खाड़ी



सातवीं सदी का भारतवर्ष
काश्मीर
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी



मध्य कालीन हिन्दू-भारतवर्ष
७५० से ११००
चेदी
चौलुक्य
राष्ट्रकूट
चौल
पाल



१६०५ का भारतवर्ष
पैमाना
मील
० १०० २०० ३००
काबुल
पेशावर
गज़नी
लाहौर
मुलतान
सरहिन्द
पानीपत
दिल्ली
सीकरी
आगरा
अमरकोट
जोधपुर
अजमेर
पटना
चित्तौड़
पाटन
अहमदाबाद
उज्जैन
माँडू
चम्पानेर
असीरगढ़
बुरहानपुर
सोमनाथ
डामन
गोंडवाना
बस्सीन
बम्बई
चौल
बनकोट
गोलकुण्डा
बीजापुर
गोआ
कनानोर
कालीकट
कोचीन
क्विलन
चन्द्रगिरि
वेलोर
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
अकबर के सूबे
१ काबुल
२ लाहौर
३ मुलतान
४ दिल्ली
५ आगरा
६ अवध
७ इलाहाबाद
८ अजमेर
९ गुजरात
१० मालवा
११ बिहार
१२ बंगाल
१३ खानदेश
१४ बरार
१५ अहमदनगर
१६ उड़ीसा
१७ काश्मीर
१८ सिंध

दृष्टि से एक राष्ट्र है। प्राचीन काल मे इस तरह का सम्राट हर्ष वर्धन (६०६-६४८) हुआ है। हर्ष वर्धन के राज्य की सीमाए उत्तर में नैपाल, दक्षिण मे नर्मदा, पश्चिम में मालवा और गुजरात तक फैली हुई थी और बाकी देश सम्राट हर्ष वर्धन को अपना अधिराज स्वीकार करता था। हर्ष वर्धन से भी पहले सम्राट समुद्र गुप्त ने चौथी शताब्दी में गंगा से लेकर तामिल नाड तक भारत की राजनैतिक एकता क़ायम की थी और उत्तर में आक्सस नदी तक और दक्षिण म सिंहल तक की शक्तियों के साथ उसकी मैत्री थी। समुद्र गुप्त से भी पहले ईसवी सदी पूर्व में सम्राट अशोक ने अफग़ानिस्तान से लेकर मैसूर तक भारत को एक झडे के नीचे इकट्ठा किया। सम्राट अशोक ने बाहर के अनेक देशों के साथ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित किया। अशोक से भी पहले भारत का ऐतिहासिक सार्वभौम सम्राट चन्द्रगुप्त हुआ था जिसने भारत को राजनैतिक एकता की भावना दी।

किन्तु चन्द्रगुप्त के पूर्व भी भारत में चक्रवर्ती सम्राट की कल्पना हो चुकी थी। चक्रवर्ती सम्राट के अभिषेक के लिये वाजपेय और राजसूय यज्ञों का विधान था। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार वाजपेय और राजसूय के अतिरिक्त सार्वभौम अधिराज को जाहिर करने के लिये दो और विधान थे जो 'पुनर्भिषेक' और 'अइन्द्र महाभिषेक' कहलाते थे। नीचे लिखे श्लोक मे सार्वभौम सम्राट की कल्पना होती है—

अहं सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां परमतां गच्छेयं साम्राज्य भौज्य स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्य राज्यं महाराज्यं आधिपत्यमहं समन्त पर्यायीस्यां सार्वभौम: सार्वायुष आन्तादापरार्द्धात् पृथिव्यै समुद्र पर्य्यान्ताया एक राडिति।

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार सबमें बड़ा सम्राट "आसमुद्रक्षितीश" होता था जिसकी सरहदें समुद्र तक फैली हों। ऐतरेय ब्राह्मण इस तरह के सम्राटों की नीचे लिखी सूची देता है—

(१) जन्मेजय पारीक्षित
(२) सार्यात मानव
(३) सतानिक सात्रजित
(४) अम्बष्ठ्य
(५) युधान श्रौष्टि
(६) विश्वकर्मा
(७) सुदास
(८) मारुत्त अवीक्षित
(९) अंग वैरोचन
(१०) भारत दौष्मन्ति
(११) दुर्मुख पाचाल
(१२) अत्यराति जामान्तपि

सतपथ ब्राह्मण में १३ राजाओं के नाम दिये हैं जो राजा सार्व्वभौमोश्वमेधेन यजन थे। सांखायन सूत्र में इस तरह के ७ राजाओं के नाम हैं। विविध पुराणों में अनेक सार्वभौम सम्राटों के नाम पाये जाते हैं।

कौटिल्य के अर्थ शास्त्र मे सार्वभौम राजाओं का वर्णन आता है और उसमें इस तरह के राजाओं की सूची मिलती है जो सारे भारत के अधिराज रहे। इस तरह के सार्वभौम राजाओं को "चातुरन्तो राजा" कहा जाता था। उनके राज्य की सीमाए देश के चारों कोनों को छूती थीं। देश के अन्दर उनकी सत्ता से इनकार करने वाला कोई न था। चारों ओर उनका सम्पूर्ण अधिकार था ("अनन्या पृथिवीं भुक्ते")। उनके राज्य "चक्रवर्ती क्षेत्रम" होते थे। उनके राज्य की सीमाए "हिमवत समुद्रान्तर चक्रवर्तिक्षेत्रम" होती थीं। अर्थ शास्त्र मे इस तरह के राजाओं के नामो की विस्तृत सूची दी गई है जिनमे युधिष्ठिर का नाम भी है। युधिष्ठिर ने इन्द्रप्रस्थ के दरबार मे भारत के कोने कोने से राजाओं को निमन्त्रित किया था ताकि वे सब आकर युधिष्ठिर को अपना अधिराज स्वीकार करें और उसे खिराज दें। महाभारत में उस समय के भारतवर्ष के राजाओं की सूची मिलती है जिनकी आपसी ईर्षा और दुशमनी ने महाभारत की लड़ाई कराई। राजा युधिष्ठिर ने इन सब लोगों को थोड़े काल के लिये एक सूत्र में

बाँध रखा। इन सब राजाओं को एकत्रित करने का विचार प्रकट करते हुए युधिष्ठिर ने कहा था।—

गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियं करा
न च साम्राज्य माप्तास्ते सम्राट शब्दो हि कृच्छ्रभाक्

युधिष्ठिर के मार्ग मे अखड सत्ता स्थापित करने में अनेक रुकावटें थीं। चारों ओर स्वाधीन राज्य थे जो अपनी अपनी सत्ता के विस्तार के प्रयत्न में लगे हुए थे। उत्तर में कौरवों की राजधानी हस्तिनापुर थी, पूर्व में मथुरा की नगरी में प्रबल राजा राज्य करता था, दक्षिण में मालवा का राजा भय और त्रास देता रहता था, पश्चिम में विराट का राज्य एक ईर्षालु राजा के हाथ में था; किन्तु इन सब में मगध का राजा जरासिन्धु सबसे अधिक पराक्रमी था! जरासिन्धु को क़ाबू में करना टेढ़ी खीर थी। भारतवर्ष के समस्त राजाओं को अपने अधीन करने के लिये युधिष्ठिर ने चारों दिशाओं में अपने चारों भाइयों को सेना सहित भेजा। अर्जुन उत्तर दिशा की ओर गये। अर्जुन ने कुलनींद, कालकूट, अनस्थ, स्वाकल द्वीप, भगदत्त, उलुक मोदपुर, वामदेव, सुदामन, सुसाकुल, देवप्रस्थ आदि को क़ाबू में करके किरातों और चीनियों को वश में किया। इसके बाद अर्जुन ने काश्मीर और बलख को जीतते हुए कम्बोज और दर्द आदि को अपने अधीन किया। तदुपरान्त उन्होंने हिमालय, कम्पिलवर्स, हालक और मानस झील के पास के राजाओं को जीता। अन्त में उत्तर कुरु को विजय करते हुए वह वापस लौट आये। दूसरी सेना भीम के अधीन पूर्व में भेजी गई। भीम ने द्रुपद, दर्शाण, पुलिन्द, चेदि, कोसल, अयोध्या, उत्तर कोसल उरुक्ष, तराई, काशी, मत्स्य, मालदा, मदाधर, वत्सभूमिय, भग. संतक वर्मक, मिथिला, मगध, कर्ण, वग आदि को जीतकर और उनसे खिराज लेकर उन्हें अपने वश में किया। सहदेव दक्षिण की ओर गये, नर्मदा को पार करके किष्किन्धा, महीष्मती को जीत कर वे दक्षिण भारत की तरफ पहुँचे। वहां उन्होंने द्रविड़, सत्यमिरहन, ताम्र, तिमिंगल कलिंग, आन्ध्र, उद्र, केरल, तालवण, सिंहल और दूसरे देशों को अपने क़ाबू में करके लौटते हुए सूरत और गुजरात को भी अपनी अधीनता में किया। नकुल पश्चिम की ओर गये और उन्होंने रोहितक, दक्षिण राजपूताना, महेत्था, सिवि, त्रिगर्त अम्बष्ठ, मालव पच, कई फटा, माध्यमका, वतधाम, पुश्कर, आभीर, पजाब, पल्लव, बर्बर किरात, यवन और शक आदि जातियों को जीतकर बहुमूल्य वस्तुएं राज्यकर के रूप में लेकर इन्द्रप्रस्थ लौटे। इस तरह एक बार सारा भारतवर्ष पाण्डवों की सत्ता के नीचे आ गया। सारे भारत के राजाओं ने पाण्डवों को सार्वभौम राजा स्वीकार किया। समस्त प्रान्त इस प्रकार केन्द्रिय शासन के साथ एक सूत्र में बध गये।

चक्रवर्ती सम्राट की वैदिक कल्पना पर बौद्ध विचार धारा ने एक दूसरा ही प्रभाव डाला। बौद्ध विचार धारा के अनुसार चक्रवर्ती सम्राट वह है जो अच्छे विचारों से भरा हो। बौद्धों ने भगवान् बुद्ध के अन्दर पारलौकिक दुनिया का एक चक्रवर्ती सम्राट स्वीकार किया। धर्म के रथ में बैठकर भगवान् बुद्ध ने सारी दुनिया को अपने वश मे किया। उनकी शिक्षाओं के मेघों ने कल्याण, भव्यता, और पवित्रता की वारिश की और लोभ, घृणा और अज्ञान की अग्नि को बुझाया।

इस बौद्ध विचार धारा की पटभूमिका में सम्राट चन्द्रगुप्त गद्दी पर बैठे। ऐतिहासिक दृष्टि से भारत का वही सबसे पहला सम्राट था। उसको पूर्ण सफलता मिली। उस समय की एक पुस्तक नीति शास्त्र में 'राजराजेश्वर' के अधिकारों का विवेचन किया गया है। सारे देश को एक मडल के रूप में देखा गया था जिसके अधिपति को मडलाधिप कहा जाता था। अर्थशास्त्र में इन सब बातों की व्याख्या की गई है कि मडलाधिप किस प्रकार 'एकैश्वर्य्य' प्राप्त कर सकते थे।

सबसे पहले हम कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव को अपने नाम के आगे 'महाराज' शब्द जोड़ते हुए

पाते हैं। यही तीनों राजा अपने नाम के पूर्व 'राजाधिराज' शब्द भी जोड़ने लगे। गुप्त वंश के सिक्कों में हमें 'महाराजाधिराज' 'परम भट्टारक' 'राजाधिराज' और 'चक्रवर्तिन' शब्द मिलते हैं। बाद में गुप्त वंश के अनेक सम्राट अपने नाम के पूर्व 'परमेश्वर' शब्द जोड़ने लगे। सिलादित्य सातवें के सिक्कों मे हमें 'परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर और चक्रवर्तिन' शब्द मिलते हैं। बंगाल में पाल राजाओं के नाम के पूर्व भी 'परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर' शब्द जोड़े जाते थे।

इस तरह इस बात के असंख्य प्रमाण हैं कि प्राचीन भारत भौगोलिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक दृष्टि से एक देश था। विस्तार में महान और रीति रिवाजों में विभिन्न होते हुए भी भारत में एक मौलिक एकता थी। "भारत हमारी महान मातृभूमि है" यह विचार प्रत्येक भारतवासी के हृदय में व्याप्त था।

भारत की संस्कृति और सभ्यता ने, उसकी भौगोलिक परिस्थिति और उसके ऐतिहासिक अनुभवों ने, उसके धार्मिक विचारों और उसके आदर्शों ने उसे एकता और अखंडता दी है और उसके व्यक्तित्व को सम्पूर्ण बनाया है। इन्हीं गुणों ने काल के घातक हमलों से भारत की रक्षा की है और संसार के सांस्कृतिक इतिहास में मानवता को कल्याण और शान्ति पहुंचाने के महान उद्देश्य को भारत के सहृदय मानस में अद्भुत शक्ति के साथ जाग्रत किया है।

भारतीय चित्रकला पर एक दृष्टि

श्री अजित घोष, एम. ए., बी. एल.

कला की जो सब में बहुमूल्य थाती आज भारत के पास है, वह है अजन्ता की गुफाओं की बौद्ध चित्रकला। वह कितनी महत्त्वपूर्ण है इस दृष्टि से अब तक उसका अध्ययन नहीं किया गया, न इसी बात की कल्पना की गई है कि संसार के कला के इतिहास में अजन्ता की चित्रकला का कितना प्रमुख स्थान है। यूनानी कला के सर्वोत्तम स्मारक भी उससे आगे नहीं जा पाते। एक बार तो ऐसा मालूम होता था कि संसार के कला समीक्षक अजन्ता की चित्रकला को सर्वोच्च स्थान देंगे, किन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं हुआ और दुनिया के कला विशारदों ने चीनी कला को अपने अध्ययन का विषय बनाया। शायद पाश्चात्य कलाकारों के लिये चीनी कला सुगम और जल्दी समझ में आने वाली है। अजन्ता की चित्रकला जातक कहानियों के अनुसार भगवान बुद्ध के जीवन और उनके पूर्व जन्मों के दृश्यों का संग्रह है। अजन्ता की गुफाओं को केवल इसीलिये नहीं चित्रित किया गया कि उन्हें शोभनीय बनाना था, जैसा कि पाश्चात्य देशों में सार्वजनिक स्थानों और भवनों के चित्रण में किया जाता है, बल्कि जिन भिक्खुओं ने अजन्ता की गुफाओं की दीवालों को चित्रों से विभूषित किया, उनके सामने एक महान उद्देश्य और एक पवित्र कर्त्तव्य था। भगवान बुद्ध की पुण्य गाथाओं के प्रति उनमें अमित श्रद्धा थी। वह श्रद्धा उनके जीवन का अंग थी। अजन्ता के चित्रकारों ने गुफा की दीवालों को अत्यन्त पवित्र भावनाओं के साथ कूची से रंगा होगा। अजन्ता की चित्रकला धार्मिक विश्वास का साकार रूप है। अजन्ता की चित्रकला से हम यहां कुछ थोड़े से उदाहरण देंगे। गुफा नम्बर एक में महा बोधिसत्त्व की एक भव्य और आश्चर्यपूर्ण चित्र कल्पना है, जिसे केवल भक्ति भाव के साथ हम देखने को विवश होते हैं। यहां कलाकार ने प्रतिभा और दया का आश्चर्यमय चित्रण किया है। चित्र की पृष्ठभूमि में दूसरी आकृतियां घटते हुए परिमाण में दिखाई गई हैं। बोधिसत्त्व के अन्दर दया और भक्ति मानो केन्द्रित हो गई है और वह कलाकार की श्रेष्ठता को साबित करती है। चित्रों की लकीरों में एक गति और भव्यता है। इसी गुफा की बाई दीवाल पर सखपाल की कहानी अत्यन्त सुन्दरता के साथ चित्रित की गई है। एक दूसरे चित्र में हम काशी के राजा को एक योगी से बात करते हुए देखते हैं। राजा हाथी पर शाही छत्र लगाये बैठा है। कलाकार ने इस कहानी को अत्यन्त सुन्दरता के साथ चित्रित किया है। सामने शाही जुलूस है, जिसमें राजा प्रमुख है, किन्तु पृष्ठभूमि में योगी की प्रमुखता है जिसके सामने बैठा हुआ नत मस्तक राजा फौरन ध्यान आकर्षित करता है। चित्र के अन्दर तीन दृश्य हैं—अन्तःपुर की स्त्रियाँ, शाही जुलूस, योगी और उसके भक्त। एक ही चित्र में तीनों दृश्यों को अपूर्व सुन्दरता के साथ चित्रित किया गया है। विशेषता यह है कि हर दृश्य में प्रमुख व्यक्ति को यथेष्ट प्रमुखता दी गई है और यह सब अत्यन्त मनोहर और सुन्दर ढंग से किया गया है। अजन्ता के चित्रकार किसी पद्धति विशेष के साथ इस तरह नहीं बंधे थे जिस तरह उनके पदाधिकारी जैन कलाकार। इन बौद्ध भिक्खु कलाकारों ने जीवन के दृश्यों को उसकी सुन्दरता और उसकी भव्यता के साथ इन गुफाओं में चित्रित किया है। ये बौद्ध भिक्खु बाह्य जीवन को इतनी स्पष्टता के साथ अंकित करते थे कि वह सब अब भी जीती-जागती सी दीवारों के ऊपर उन गुफाओं में मौजूद है। अजन्ता की इस चित्रकला के निर्माण में अनेक शताब्दियां लगी थीं



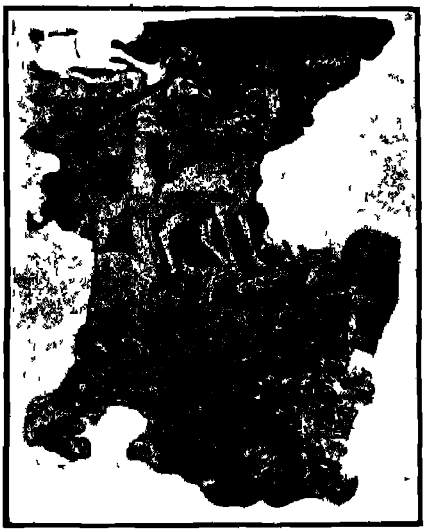
शृङ्गार का एक दृश्य
[गुफा नं० १७, अजन्ता]



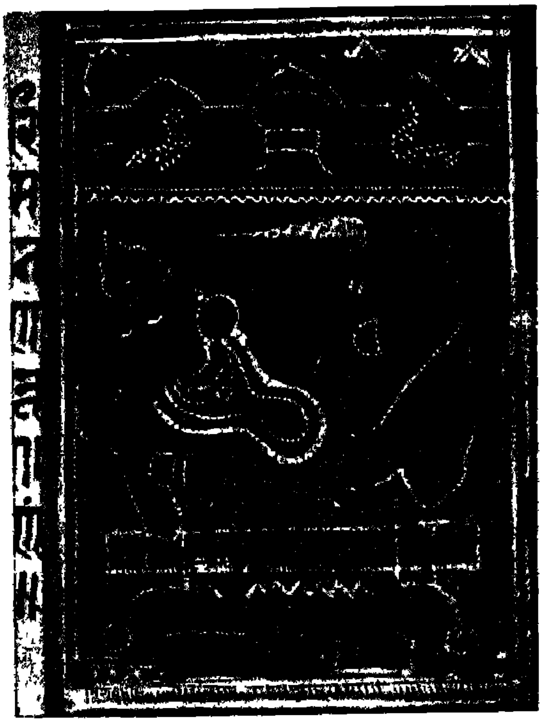
नागराज की कहानी
[गुफा नं० १, अजन्ता]



महाबोधि सत्व
[गुफा नं० १, अजन्ता]



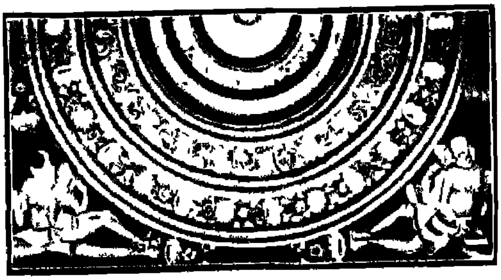
हिरनों का झुण्ड
[गुफा नं० ५, अजन्ता]



महावीर का जन्म
[कल्प सूत्र हस्तलिपि, १४८० ई०]



नेपाली हस्तलिपि का एक मिनियेचर चित्र



छत का पेनल [गुफा न० २, अजन्ता]



आकाश गामी अप्सरा, और गन्धर्व
[गुफा न० १७ अजन्ता]



बौद्ध हस्तलिपि का एक मिनियेचर चित्र

और अजन्ता की चित्रकारी में इन कई शताब्दियों के जीवन के विविध पहलू सदा के लिये ससार के सामने चित्रित पड़े हुये हैं।

गुफा नम्बर १७ के एक दृश्य को लीजिये। यह शृङ्गार का एक दृश्य है और चित्रकार के अनुपम कला-कौशल को ज़ाहिर करता है। आकृति और पोज़ के लिहाज से यह चित्र अद्वितीय है। सारा चित्र सुन्दरता से पूर्ण है। चित्र की प्रमुख आकृति के आगे बाक़ी समस्त आकृतिया गौण हैं और यह बात एकदम हमारे ध्यान को आकर्षित करती है। चित्र में शृङ्गार करती हुई महिला की आकृति अत्यन्त कलात्मक ढग से अकित की गई है। अपने सुन्दर भाव, भव्य पोज और दैवी रूप में वह उच्चासीन दिखाई देती है। गहन वस्तुओं को सहज लकीरों के रूप में शेय बनाया गया है। मानव आकृति और मानव जीवन को अत्यन्त सरल भावो में चित्रित किया गया है। यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि ये सुन्दर चित्र कलाकार की अपनी कल्पना के परिणाम थे। उनके सामने कोई साकार 'माडेल' नहीं था। उन कलाकारों ने अपने अपूर्व ज्ञान मे सौन्दर्य की इन आश्चर्यमय प्रतिमाओं को अंकित किया, जो अनन्त मदियों से उसी प्रकार साकार सी बनी हुई हैं। यह स्वाभाविक था कि जिन कलाकारों को सौन्दर्य का इतना व्यापक बोध हो वे प्रकृति को भी सुन्दरतम रूप में चित्रित करेंगे। वे चित्रों को सजाने के महत्व को भी समझते थे, इसीलिये न केवल वृक्ष, पौधे और पशुओं को ही चित्रित किया गया है, बल्कि छतों मे कई तरह की सुन्दर सजावटें बनाई गई हैं, फूलों के पेनल चित्रित किये गये हैं और पक्षियों को भी सुन्दरता के साथ अकित किया गया है।

इण्डिया सोसाइटी ने अजन्ता के अन्तिम चित्रों और समकालीन बाघ गुफा की चित्रकारी को पुस्तक रूप में प्रकाशित किया है। बाघ गुफा में भी अजन्ता की चित्रपद्धति को अमल में लाया गया है। अजन्ता की गुफाओं की चित्रकला हमारी खोई हुई कला की अन्यतम अवशेष है। बौद्ध चित्रकला का संसार में दूसरे देशों की चित्रकला पर क्या प्रभाव पड़ा इसका ज़िक्र हम यहां न करेंगे।

भारतवर्ष में बौद्ध चित्रकला का दूसरा रूप मिनियेचर चित्रकला यानी सूक्ष्म चित्रकला है। तीन शताब्दियों के बाद बौद्ध कला फिर से पुनर्जीवित हुई; लेकिन अबकी बार हस्तलिपियों और ग्रन्थों के चित्रों के रूप में। नेपाल के हस्तलिखित बौद्ध ग्रन्थ और बङ्गाल को 'अष्ट सहस्र प्रज्ञा पारमिता' के ग्रन्थ इसके उदाहरण हैं। वह सूक्ष्म चित्रकारी हम आसानी से अजन्ता की सुन्दरतम पद्धति मे ढूंढ सकते हैं, हालांकि इनमे से अधिकाश चित्र अजन्ता के बड़े भद्दे प्रतीक हैं। किन्तु एक बात ध्यान में रखनी होगी कि अजन्ता की भव्य दीवालों पर चित्रकला के टेक्नीक को विस्तार के साथ प्रदर्शन का मौक़ा मिला है और इन छोटे छोटे ग्रन्थों के लिये वैसा विस्तार सुलभ नहीं था। फिर भी इनकी सीधी सादी लकीरें और रगों का चयन इस बात को साबित करते हैं कि सचित्र ग्रन्थों की चित्रकला का वह प्रारम्भिक काल था। ताडपत्र की हस्तलिपि पर चित्राङ्कण की कल्पना एक चमत्कार है। इन छोटे छोटे चित्रों को यदि हम बड़ा बनाकर उनके असली रगों में उद्धृत करें, तो यह उनकी सुन्दरता के साथ अन्याय होगा और हम इन दो दो इच के सुन्दर चित्रों का कोई मूल्य भी नहीं आक सकेंगे। इनकी एकरगी प्रतिलिपियों से, हम इनके रेखाङ्कण और इनकी सजावट को भली भांति समझ सकेंगे, लेकिन रगों की सुन्दरता की कल्पना हम न कर सकेंगे। इन छोटे छोटे चित्रों में पाल युग की बौद्ध हस्तलिपि का एक मिनियेचर (छोटा) चित्र उस समय की इस चित्र प्रणाली का सब से सुन्दर और सब में अपूर्व नमूना है। एक पौराणिक उपाख्यान का यह चित्र-रूप अजन्ता पद्धति से बिल्कुल मिलता जुलता है। कोमल रेखाङ्कण, जिसमें सुन्दरतम रग भरा गया है, चित्र को भव्यता प्रदान करता है और चित्र की आकृति सुन्दर तथा दिव्य दिखाई देती है। कलाकार ने आश्चर्यजनक सफलता के साथ आकाश और भावों को चित्रित किया है। बादलों

के ऊपर उड़ती और तैरती हुई आकृतियां दिखाई गई हैं। अजन्ता के कलाकारों ने भी हवा में उड़ने की गति-विधि को आश्चर्यजनक सफलता के साथ अंकित किया है। जैन ग्रन्थों की मिनियेचर चित्रकला में अंग प्रत्यंग उभरे और नोकीले दिखाये गये हैं। जैन चित्रकारों ने मुंह को अंकित करने में खास दिलचस्पी दिखाई है। बौद्ध ग्रन्थों की चित्रकला में जिन रंगों का इस्तेमाल किया गया है वे लाल, नीले और पीले हैं। अजन्ता में जो रंग इस्तेमाल किये गये हैं, वे खास तौर पर धातुओं द्वारा निर्मित रंग हैं। 'सित्तन-वसल' के फ्रेस्को को छोड़कर हमें जैन चित्रकला का विराट रूप देखने को नहीं मिलता। सित्तनवसल फ्रेस्को जैनों का ही बनाया हुआ है, इसमें भी काफी सन्देह है। जैन चित्रकला मिनियेचर (छोटी) चित्रकला है। यह तेरहवीं शताब्दी से शुरू होती है। सबसे पुराना ताड़ पत्र का ग्रन्थ १२३७ ई० का है, किन्तु जिस ग्रन्थ में सब में सुन्दर मिनियेचर चित्रकला है, वह पन्द्रहवीं शताब्दी का है। ये हस्तलिपियां आजकल अप्राप्य हैं। हमारे म्यूजियमों में भी इस तरह का कोई ग्रन्थ नहीं पाया गया। मेरे पास पन्द्रहवीं शताब्दी के दो कल्पसूत्र हस्तलिखित ग्रन्थ हैं। बौद्ध कलाकारों की कलात्मक कल्पना अधिकतर धार्मिक वस्तुओं के चित्रण में ही प्रकट हुई है। फिर भी वह कल्पना व्यापक थी, और उसके अन्दर विविध रूप चित्रित किये जाते थे, किन्तु जैन कलाकारों के चित्रों में केवल आध्यात्मिक चित्र ही मिलते हैं। यदि ग्यारहवीं सदी की नैपाल की बौद्ध हस्त-लिपियों, और बंगाल की पाल युग की हस्तलिपियों और जैन मिनियेचर हस्तलिपियों की तुलना की जाय, तो इन सब की चित्रकला का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। बौद्ध चित्र लिपियों की चित्रकला इन सबसे कहीं अधिक अच्छी है। वह किसी कला रीति या पद्धति से बंधी हुई नहीं है। वह अपने समय की चित्रकला का एक अद्भुत सन्तुलन और समन्वय है। भिन्न-भिन्न रंगों को एक साथ मिलाकर उसमें निश्चित प्रभाव पैदा करना बौद्ध चित्रकला की विशेषता है। बौद्ध चित्रकला भावनात्मक कल्पना पैदा करती है, किन्तु जैन चित्रकला इसके बिलकुल विपरीत है।

शुरू शुरू के जैन मिनियेचर चित्र जहां तक उनके टेकनीक का ताल्लुक है, बेहद दिलचस्प हैं। ग्रन्थों के पृष्ठ पर मिनियेचर चित्रों के लिए जितनी जगह छोड़ी जाती थी, उसमें पहले स्वर्ण-रज का लेप किया जाता था और सोने की पत्तियां चिपकायी जाती थीं, उसके बाद गहरे अरुण रंग से चित्र में रंग भरा जाता था। यह भी सम्भव दिखाई देता है कि जैन कलाकार पहले स्कैच बना लिया करते होंगे। पहले स्वर्णिम डिज़ाइन की एक बड़ी रूप रेखा खींच ली जाती थी, फिर आंख, पलकें, कान और अंगुलियां आदि बना ली जाती थीं। परिणामतः यह होता था कि चित्र में मुख, वस्त्र, फूल और सजावट की चीज़ें ऐसी मालूम होती थीं जैसे स्वर्ण की बनाई गई हों। बड़ी बड़ी निकली हुई आंखें और उभरे हुए अंग-प्रत्यंग प्रारम्भिक जैन मिनियेचर कला की विशेषताएं हैं। और इन्हीं विशेषताओं ने उनको अस्वाभाविक बना दिया है। प्रारम्भिक जैन कला में सब में मूल्यवान् वस्तु है चित्रों के चारों ओर की अनुपम सजावट।

जैन चित्रकला के सम्बन्ध में जो मसाला प्राप्त हो सका है, उससे हमें तीन प्रकार की जैन चित्र पद्धति दिखाई देती है—

(१) सबसे प्रारम्भिक पद्धति १३ वीं से लेकर १६ वीं शताब्दी तक प्रचलित थी, और यह जैन कला में सब से प्राचीन पद्धति कही जाती है।

(२) जैन कला की दूसरी पद्धति १६ वीं सदी के मध्य से १७ वीं सदी तक की है जब कि जैन चित्र-कला मुग़ल चित्रकला के संसर्ग में आई।

(३) जैन चित्रकला की तीसरी पद्धति वह है जब १७ वीं शताब्दी के अन्त में जैन चित्रकला राजपूत चित्रकला से प्रभावित हुई और १८ वीं सदी में, राजपूत चित्रकला के अवनति के काल में, पूरी तरह से उसमें घुल मिल गई।

इन तीनों कालों की पद्धति में जो सबमें प्रमुख अन्तर दिखाई देता है, वह मुख के चित्रण में है।

हम मुख का केवल आधा भाग चित्रित पाते हैं। फिर मुग़ल काल में हम सुडौल अंग प्रत्यंग का चित्रण पाते हैं। जब राजपूत कला का प्रभाव शुरू हुआ, तब स्त्रियों का गोल चेहरा चित्रित किया जाने लगा और पुरुषों की मूँछें-डाढ़ी बनने लगीं। १५ वीं शताब्दी में मिनियेचरों में लाल और सुनहले रंगों की जगह सुन्दर नीला रंग और सुनहला रंग इस्तेमाल होने लगा। फिर अन्त में भद्दे से भद्दे लाल पीले रंग इस्तेमाल किये जाने लगे और सोना बिलकुल निकाल दिया गया। जैन मिनियेचरों की रेखाएं लचीली बनाई जाती थीं, इसीलिये वे रेखायें बुरी तरह मुड़ती हैं। देखकर मालूम होता है कि किसी अकुशल हाथों ने इन लकीरों को खींचा है। क़रीब क़रीब सभी हस्तलिपियों में ये मिनियेचर पाये जाते हैं। कभी-कभी ये बिलकुल एक दूसरे की नक़ल मालूम होते हैं। उनमें अच्छाई बुराई का अन्तर कलाकार का अपना व्यक्तिगत कौशल है। १५ वीं शताब्दी की हस्तलिपियों की जैन मिनियेचर कला उस समय की दूसरी चित्रकलाओं से बहुत घटिया ठहरती है। हस्तलिपियों के मिनियेचारों के मुक़ाबले में जैन पुस्तकों के कवर पर जो चित्रकलाएं होती थीं उनमें ख़ासी बाहुल्यता मिलती है। बाज़ बाज़ दफ़ा वही डिज़ाइनें थोड़े हेर फेर के साथ हमें इन पुस्तकों के कवर पर दिखाई देती हैं। पर इन कवर चित्रों में मौलिकता की अपेक्षा टैकनिक और सजावट को ज़्यादा महत्त्व दिया जाता था। इनमें जीवन के वास्तविक दृश्यों का चित्रण किया जाता था। ये सारे दृश्य समकालीन जीवन से लिये जाते थे। इनके प्रदर्शन में एक प्रतिभा होती थी। सुरुचि के लिहाज़ से भी ये चित्र बहुत सुन्दर ठहरते हैं। हमें अब तक जो कुछ ज्ञान हो सका है उससे यह कह सकना अत्यन्त कठिन है कि जैन चित्रकला का प्रादुर्भाव किस तरह हुआ। १५ वीं शताब्दी और उसके बाद तक की जो जैन चित्रकला हमें धार्मिक पुस्तकों में मिलती है वह साधारण जनता की ही उन्नत चित्रकला का रूप है। जनता की ही कला को विशेष रूप देकर एक ख़ास सांचे में ढाला गया है। यही कारण है कि जैन चित्रकला में स्त्री पुरुषों के आकार प्रकार रूढ़ि से जकड़े हुये हैं। जैन चित्रकला का स्वतन्त्र रूप से स्वयम् विकास नहीं हुआ। फिर भी वह अपने समय की वास्तविक और विशेष कला थी और अपनी वास्तविकता के ही कारण हम उसे जैन चित्रकला कहते हैं। इसके विपरीत जिस चित्रकला को रियलिस्टिक और भौतिक जैन चित्रकला कहा जाता है वह वास्तव में जैन चित्रकला है ही नहीं, और धार्मिक चित्रकला के मुक़ाबिले में उसे भौतिक कला का नाम देने का कोई कारण भी नहीं है। इसे हम जैन भौतिक चित्रकला कहें अथवा गुजराती चित्रकला कहें या चाहे जिस नाम से पुकारें, वास्तव में यह जनता की ही चित्रकला है। यह गुजरात की ग्रामीण चित्रकला है और इसके सम्बन्ध में श्री एन० सी० मेहता ने विस्तार के साथ सुन्दर ढंग से लिखा है।

बौद्ध, जैन और हिन्दू, इन तीनों चित्रकलाओं ने धार्मिक विश्वासों के अन्दर ही अपना मौलिक रूप पाया है। मुग़ल चित्रकला के साथ यह बात नहीं है। प्रारम्भिक मुसलिम चित्रकला पर जिसके साथ हमारा भारत में सम्पर्क हुआ, बेहद मंगोल प्रभाव था। उस समय के मिट्टी के बर्तनों और पाटरी से अधिक, चित्रकला पर मंगोल प्रभाव पड़ा। हमें इसके उदाहरण के लिये दूर जाने की ज़रूरत नहीं है। १३ वीं शताब्दी के प्रारम्भ के 'शाहनामे' के चित्रों को ही ले लीजिये। यह चित्रकला सादी और स्वाभाविक है, किन्तु सादगी और स्वभाविकता के साथ-साथ उसमें ऊंचे से ऊंचे दर्जे की सजावट भी है। मुसलिम, मुग़ल या यूनानी चित्रकला के सुन्दरतम नमूने हमें १५ वीं शताब्दी में मिलते हैं, जब कि प्रसिद्ध चित्रकार बिहज़ाद की कूची ने मिनियेचर चित्रकला को गौरवपूर्ण शिखर तक पहुँचा दिया। बिहज़ाद रेखाओं के चित्रण और भावों के प्रकाशन में अपूर्व कुशल और सबसे अधिक मौलिक था। बिहज़ाद का ही अन्तिम दिनों का समकालीन ईरानी चित्रकार मीरक रंग भरने की दृष्टि से अद्भुत समझा जाता है।

ईरानियों को अपनी राष्ट्रीय चित्रकला पर वास्तविक नाज था। निजामी की हस्तलिपि में जो मिनियेचर हैं उनका स्पष्ट रेखाङ्कण, शानदार दृश्य और रंगों का सुन्दर चयन ईरानी मिनियेचर कला के भव्य नमूने हैं। इस तरह के मिनियेचरों ने प्रारम्भिक मुग़ल कलाकारों को कल्पना और प्रोत्साहन दिया। मुग़ल बादशाहों ने ईरानी कला के लिये बेहद उत्साह दिखाया और उसकी प्रशंसा की।

सम्राट बाबर अपने रोज़नामचे में बिहज़ाद और दूसरे कलाकारों का ज़िक्र करता है। उसे पढ़कर स्पष्ट मालूम होता है कि सबसे पहला मुग़ल सम्राट ईरानी कला का कितना ज़बरदस्त प्रेमी और समर्थक था। अकबर के दरबार का सब में महान् और सबसे प्रसिद्ध ईरानी कलाकार ख़्वाजा अब्दुस्समद हुमायूं के साथ भारत आया था। हुमायूं ने उसे बालक अकबर को चित्र सिखाने का काम सुपुर्द किया था। इसी से स्पष्ट है कि हुमायूं भी कला का कितना प्रेमी था और कला को कितना प्रोत्साहन देता था। अकबर के चित्रकला प्रेम को अबुलफ़जल ने सदा के लिये अमर कर दिया है। अकबर ही मुग़ल चित्रकला का वास्तविक जन्मदाता है। अकबर विद्वानों और पण्डितों का बहुत बड़ा संरक्षक था और उसने बेशुमार दौलत ख़र्च करके एक शानदार पुस्तकालय इकट्ठा किया था। अकबर का दरबार एक आश्चर्य-जनक और कला का महान भंडार था। ईरानी चित्रकला के और ईरानी मिनियेचर चित्रकला के सुन्दर से सुन्दर नमूने अकबर के पुस्तकालय में मौजूद थे। निज़ामी की प्रसिद्ध हस्तलिपि 'ख़मीरा', जिसकी अबुलफ़ज़ल ने बेहद प्रशंसा की है, मेरे पास है और उस पर सम्राट की मुहर है। इस पुस्तक की ऐसी कोई दूसरी प्रति अब तक उल्लेख में नहीं आई जिस पर बादशाह की मुहर हो। अबुलफ़ज़ल केवल चार मुसलिम कलाकार और एक दर्जन से अधिक हिन्दू कलाकारों का वर्णन करता है, किंतु वह ख़ास तौर पर कहता है कि ख़्वाजा अब्दुस्समद अकबर के कला-भवन का डाइरेक्टर था और वह कलाकारों को चित्रकला की प्रेरणा देता था और उनका मार्ग प्रदर्शन करता था। इम्पीरियल लाइब्रेरी में ईरानी कलाकारों के सुन्दरतम चित्रों से अलंकृत जो पुस्तकें हैं, उन्हें देखकर यह प्रतीत होता है कि अब्दुस्समद और उसके कलाकार विद्यार्थी ईरानी चित्रकला के सुन्दर चित्रकार थे। अब्दुस्समद के नियन्त्रण और सम्राट अकबर के संरक्षण में बनाये हुए ९ चित्राङ्कित ग्रन्थों का ज़िक्र अबुलफ़जल करता है। इनमें 'हमज़ा नामा', 'रज़्म नामा' और 'अकबर नामा' ख़ास ग्रन्थ हैं कि जिनके अन्दर कला की सर्वोत्तम और सुन्दरतम सामग्री भरी पड़ी है। किन्तु अन्य ग्रन्थों का पूरा पता नहीं चलता।

इन चित्रों में शाही दरबार की शानो शौकत का चित्रण किया गया है। इनमें राजसी ऐश्वर्य, शोभा, शिकार और युद्ध आदि के दृश्य मिलते हैं। 'अकबर नामा' के चित्र जिन्हें अकबर के कलाकारों ने चित्रित किया है, कला संग्रह के सर्वोत्तम नमूना हैं। उसके एक चित्र में दिखाया गया है कि एक शिकारी नौजवान एक जलभैंसे का शिकार करके अकबर के पास लाया है। उसे देखकर अकबर को जो कौतूहल होता है उसे कलाकार ने बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित किया है। सामने का दृश्य तरह-तरह के सुन्दर चमक-दार रंगों से अंकित किया गया है। इन चित्रों के पीछे मुसलिम मीर इमाद के अपने हाथ की लिखी हुई कुछ पंक्तियां हैं। मीर इमाद की सुन्दर लिखावट की बेहद इज़्ज़त थी। सम्राट अकबर को मीर इमाद से इतना प्रेम था कि जब उसे इमाद की मृत्यु का समाचार मिला तो वह फूट-फूट कर रोने लगा।

मुग़ल चित्रकला प्रारम्भिक रूप में ईरानी चित्र-कला के पद-चिन्हों पर चलती रही। मुग़ल चित्रकला ने दस्युवृत्ति से ईरानी चित्रकला का कभी अनुसरण नहीं किया किन्तु मुग़ल चित्रकला में अपनी ही एक विशेषता थी। अबुल फ़ज़ल के अनुसार इस विशेषता के ही कारण ईरानी-मुग़ल-कला को भारतीय ईरानी कला के नाम से पुकारा गया। हालांकि उस भार-तीय ईरानी कला का मुख्य ध्येय दृश्यों का चित्रण

करना था, फिर भी व्यक्तियों के चित्रण ने भी कलाकारों का ध्यान अपनी ओर खींचा। अबुल फ़ज़ल अनेक उमरावों और दरबारियों के चित्रों के संग्रह का ज़िक्र करता है। 'हमज़ानामा' की शानदार चित्रकला के बाद मुग़ल चित्रकला ने एक विशेष रूप धारण किया। मुग़ल चित्रकला से तमाम विदेशी असर मिट गये। ख़ास तौरपर ईरानी चित्रकला का प्रभाव बिलकुल लुप्त हो गया। उसके बाद की चित्रकला वास्तविक भारतीय मुग़ल चित्रकला है। वह ख़ास तौर पर व्यक्ति विशेष का चित्रण है जिसे पोरट्रे कहा जाता है। जहांगीर के समय में मुग़ल चित्रकला ने सम्पूर्णता पाई। सम्राट जहांगीर चित्रकला का सबसे बड़ा संरक्षक माना जाता है। चित्रकारों द्वारा जहांगीर की बुढ़ापे की चित्रण की हुई बहुत सी तसवीरें मिलती हैं। ईरानी चित्रकला में जबकि रेखा और रंग का प्रभाव अधिक होता था मुग़ल चित्रकार भावों के प्रदर्शन पर ज़ोर देते थे। मुग़ल चित्रकार पोरट्रे खींचने में हमें बहुत कुशल दिखाई देते हैं। उसी तरह मुग़ल चित्रकला का सब में ख़ास पहलू है उसकी नाज़ुक और लहराती हुई लकीरें जो सफल पोरट्रे के चित्रण के लिए बेहद ज़रूरी हैं। रंगों की जो चमक हमें, हमज़ानामा, रज़्मनामा और अकबरनामा में दिखाई देती है वह जी को लुभा लेती है। किन्तु जहांगीर के समय की चित्रकला में अनेक उमरावों के चित्रों में हमें हलके रंगों की प्रधानता दिखाई देती है। निस्सन्देह उस समय तक भारतीय मुग़ल चित्रकला अपनी उन्नति की चरम सीमा तक पहुंच गई थी।



गंगा काँठे की संस्कृति[1]

श्री राय कृष्णदास



श्री राय कृष्णदास

कह नहीं सकते, कालिदास ने जिस समय हिमालय को 'अनेकरत्नप्रभव' कहा उस समय उनका ध्यान हिमालय-प्रसूत सर्वश्रेष्ठ रत्न गंगा की ओर गया था या नहीं। जो हो, हिमालय जिन आदर्शों को लेकर इतना ऊँचा उठा है और अटल, अचल, अलच खड़ा है, उन्हीं को हमारे जीवन में ढाल देने के लिये उसका अन्तस गगा का प्रवाह बनकर गगोत्री से गंगासागर तक व्याप गया है।

इस प्रकार गगा एक विस्तीर्ण शस्य श्यामला उर्वरता की ही जननी नहीं है, वह एक ऐसी महान् सस्कृति की जननी भी है जिसमें कर्म, ज्ञान और भक्ति अर्थात् मानवता के हाथ, मस्तिष्क और हृदय की शक्तियों का ऐसा विलक्षण समन्वय हुआ है कि, जब उसके पहले उपजी नील नद की सस्कृति और उसकी समकालीन उफ्रेतु तट की सस्कृति तथा इनसे बहुत इधर वाली कार्थेज, यूनान और रोम आदि की संस्कृतिया जाने कब की धराशायी हो चुकी हैं तब, गङ्गा काँठे की सस्कृति कुचली जा जाकर भी अपने अक्षयवट की भाति "फूलत फलत नित पल्लवित" है। गङ्गा के अमृत प्रवाह ने अपनी सस्कृति को भी अमरता प्रदान कर दी है। ऋषीकेश और हरद्वार में गङ्गा का अवगाहन करके किसने इस अमरता का अनुभव नहीं किया है! प्राणों का नया स्पन्दन नहीं पाया है! प्रवाह की उस उमड़ती हुई शीतलता से त्रिविध ताप की ज्वाला शान्त करके अपने तन और मन को दिव्य नहीं बनाया है!

गङ्गा काँठे की इस अमर देन का दर्शन करने के लिये आज के पांच हजार वर्ष पहले से चलना पड़ेगा—

ईसवी पूर्व तीसरी सहस्री में भारत के समस्त भाग में जिस जाति का दौरदौरा था वह कर्म प्रधान थी। अपने हस्त-कौशल से उसने जो उन्नति की थी उसे आज हम उसके बड़े बड़े नगरों के ध्वसावशेषों और रँगे चुंगे मिट्टी के बर्तनों में पाते हैं, जो हाथ की शक्ति की हो, 'कर्म'[2] की ही साख भरते हैं। इस सस्कृति को हम सिन्ध काँठे की सस्कृति के नाम से पुकारते हैं क्योंकि, इसके मुख्य अवशेष उस समय वाले सिन्ध के सातों के किनारे मोएन जो-दडो और हड़प्पा आदि में ही मिले हैं, किन्तु सभवत: यह अपने देश की और नदियों के कछारों में भी फैली हुई थी। इस सस्कृति का सम्बन्ध लघु एशिया तक था।

उन्हीं दिनों भारत के एक अन्य भाग—कश्मीर एव बृहत्तर हिमालय—में गोरी, सुनहले बाल और उठी नाक वाली लम्बे कद की एक दूसरी जाति

---

१ एक रेडियो भाषण का परिष्कृत और विस्तृत रूप।—लेखक

२ 'कर्म' अपने पारिभाषिक अर्थ में हस्त-कौशल का वाचक है।—लेखक

बसती थी, जिसका निजत्व ज्ञान—मस्तिष्क का विकास—था। उदाहरण के लिये, इस आर्य जाति के सिन्ध काँठे वाले पड़ोसी जिस भाले को हाथ से चलाकर वा हाथ ही से फेंककर आघात करते थे, आर्य मस्तिष्क ने उसे यान्त्रिक रूप देकर वाण बना डाला था जिसे चलाने वाला यन्त्र (धनुष) कमानी का आदिम पुरखा है—कमानी जो यन्त्र-विद्या की सबसे बड़ी शक्तियों में से है। उनके इस आविष्कार का यह करिश्मा था कि जहा एक आदमी अधिक से अधिक चार छः भाले अपने संग रख सकता और उन्हें अधिक से अधिक मिनट में दो तीन भाले के हिसाब से, दूर से दूर तीन सौ फुट तक फेंक सकता वहा, अब एक व्यक्ति तीर के रूप में हजारों भालों से लैस हो जाता, उन्हें मिनट में तीस चालीस के हिसाब से चला लेता और अपेक्षाकृत कम आयास पूर्वक हजार पाँच सौ फुट की दूरी तक पहुंचा देता।

उनका मस्तिष्क कुछ मूर्त विषयों की उन्नति तक ही सीमित रहा हो सो नहीं, वह अमूर्त का भी चिन्तन एव अन्वेषण करता। इसी दिमागी सक्रियता ने उन्हें एक ठिकाने पड़े रहने से भी विरत किया। 'चरैवेति चरैवेति' उन्होंने अपना सिद्धान्त बनाया और अपने मूल केन्द्र से नये नये प्रदेशों में फैलने के लिये वे निकलने लगे।

गगोत्री से चलकर गङ्गा कई धारों में बिखर जाती है। फिर बदरीनाथ के पहाड़ों में इन बिखरी धारों के सगम होने लगते हैं। बृहत्तर हिमालय—पामीर के पठारों—से निकलकर आर्यों के एक प्रमुख जत्थे, ऐलों (पिछले इतिहास के चन्द्रवश) ने एक ऐसे ही संगम पर पड़ाव किया। इन संगम के ठिकानों को प्रयाग कहते हैं, जैसे नन्दप्रयाग, रुद्रप्रयाग, देवप्रयाग इत्यादि। इन्हीं प्रयागों में से किसी एक में उस समय के ऐल राजा पुरूरवा ने एक बस्ती बसाई जिसका नाम प्रतिष्ठान पड़ा। बस यहीं से गङ्गा की देन का प्रभाव ऐलों पर पड़ना आरम्भ हुआ, जिस प्रभाव ने आगे चलकर उस महान् संस्कृति का निर्माण किया, जो आज दिन भारतीय संस्कृति कही जाती है, क्योंकि वह बदरीनाथ से रामेश्वर और जगन्नाथ से द्वारका तक व्याप्त है। इतना ही नहीं, यह व्यापकता एशिया के एक बहुत बड़े भू भाग और भारत महासागर के द्वीप समूहों तक पहुंचती है। किन्तु सच पूछिये तो पूर्वी गोलार्द्ध के प्रायः आधे भाग को अपनी छत्रच्छाया में आश्रय देने वाली यह संस्कृति वस्तुतः गङ्गा काँठे की संस्कृति है।

प्रतिष्ठान के प्रदेश में उस समय आर्यों का एक और जत्था पहले से ही बसता था जिसका नाम गन्धर्व था। मस्तिष्क का निजत्व तो उसके दाय में था ही, गङ्गा के पावन परोस ने उसके साथ उनके हृदय को भी सक्रिय बना दिया। आर्य मूलतः भयावने वरुण के उपासक थे जिसके आगे वे डरते कापते रहते और उसका दाक्षिण्य प्राप्त करने के लिये नरबलि तक चढ़ाते एव उसकी सिद्धि के लिये घोर तपस्या द्वारा अपने तन को छार खार कर डालते अर्थात् उनकी उपासना की प्रेरक शक्ति भय की भावना थी। गन्धर्वों के हृदय में श्रद्धा की भावना उपजी। वे अपने आराध्य को प्रेम की दृष्टि से देखते एव श्रद्धापूर्वक अग्निहोत्र द्वारा उसकी पूजा अर्चा करते। इस प्रकार गङ्गा के परोस ने उनके हृदय में यह प्रेम की तरग लहरा दी। अब उनके आराध्य उनके लिये अघोर और शकर थे। दानवी बर्बरता का स्थान अब मानवी श्रद्धा ने लिया। आसुर भाव से वे दैव भाव में आ गये। संस्कृति के विकास में यह एक बहुत बड़ा डग था। इस सम्प्रदाय को पुरूरवा ने भी अपनाया और यही आगे चलकर यज्ञ सम्प्रदाय के रूप में पल्लवित हुआ।

प्रतिष्ठान से ऐल आर्य और नीचे उतरे तथा अंबाले के पास टिके। यहीं कश्मीर के मान्व (सूर्यवशी) आर्य भी आ बसे थे। वहा से ये लोग पजाब और गङ्गा के दोआबे की ओर छिटके। गङ्गा तट पर उनकी सबसे पुरानी बस्ती कन्नौज प्रान्त में बसी। यज्ञ सम्प्रदाय का उस समय दौरदौरा था। गङ्गा किनारे अनेकों यज्ञ होने लगे। ऐसा समझा जाता है कि उस समय के जह्नु नामक राजा ने गङ्गा से

एक नहर निकाली थी। यह नहर संसार की सबसे पुरानी नहरों में रही होगी। आज भी उन्हीं दिनों की याद में गङ्गा का नाम जाह्नवी चला आता है।

जह्नु के सात आठ पीढ़ी बाद विश्वामित्र हुये। उन्हें गङ्गा तट ने ही इस सत्य का दर्शन कराया कि शारीरिक बल हेच है, वास्तविक बल आध्यात्मिक है—धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्। उन्होंने इस सत्य को ग्रहण ही नहीं किया, सिद्ध भी कर दिखाया। अपनी साधना द्वारा वे एक बहुत बड़े सम्राट से एक महर्षि हो गये और उन्होंने ईश्वर से वह माँगन माँगा जिससे बड़ा माँगन मनुष्य माँग ही नहीं सकता—"हे भगवान, तू मेरी बुद्धि को उचित प्रेरणा दे।" यह गायत्री, जिसकी जन्मभूमि गङ्गा की कछार है, आज भी करोड़ों भारतवासियों का महा मन्त्र है।

इसी काँठे में, विश्वामित्र के नाती भरत बहुत बड़े राजा और विजेता हुये। पहले पहल इस देश को एक इकाई का रूप उन्होंने ही दिया, और इसी कारण, उनके नाम पर इसका नाम भारत या भरतखण्ड पड़ा।

अब गङ्गा के काँठे में आर्य मेरठ से भागलपुर तक फैल चुके थे, जहां उन्होंने भरत के कुछ ही पीढ़ी बाद, बड़े बड़े नगर बसाये जिनमें मुख्य मेरठ जिले में हस्तिनापुर, रुहेलखण्ड में अहिच्छत्रा, फर्रुखाबाद के पास काम्पिल्य और पूरब में वाराणसी (आज दिन का बनारस) थीं। आर्य मूलतः गाँवों के बसने वाले थे, नगर की रीति उन्होंने यहाँ की पूर्व सभ्यता से सीखी थी। उस संस्कृति के और भी कितने ही अंग उन्होंने अपना लिये। इस प्रकार अब उनकी संस्कृति में ज्ञान, कर्म और उपासना तीनों ही का संगम हो गया। यह सांस्कृतिक त्रिवेणी जिसमें भक्ति की 'सुरसरि धारा' ज्ञान की सरस्वती और कर्म की यमुना मिलकर बह रही हैं, हमारे जीवन को निरंतर 'सकल मुदमंगल देनी' है। यही गङ्गा काँठे की संस्कृति की पूर्णता एवं विशेषता है, जिसने उसे सारे संसार की संस्कृतियों में 'आपूर्यमाणमचल-प्रतिष्ठम्' बना रखा है।

वैदिक मन्त्रकारों की विशद कल्पना ने इस त्रिगुण संस्कृति के विकास और व्यापकता का दर्शन विष्णु के त्रिविक्रम रूप में किया, जिन्होंने अन्धकार के असुर बलि को पाताल पठाकर अपने तीन डगों के विक्रम में सारे भूर्भुवः स्वः को उनके तले कर लिया। पुराणों ने इस चित्र को और समग्र किया। उस बौने का दुर्लभ चरणकमल जब आकाश चढ़कर लह-लहाया तो आनन्दमग्न ब्रह्मा ने उसे धोकर अपना कमण्डलु भर लिया और प्रेमविह्वल भोलानाथ ने अपने मस्तक पर चढ़ा लिया तथा यह त्रितेदमय गङ्गा की धारा त्रिलोक में व्याप उठी।

अस्तु, आर्यों के उन नगरों से उनकी नावें दूर दूर तक जाने लगीं, जिससे उनमें व्यापार की मंडियाँ बनीं। अच्छे अच्छे माल, विशेषतः काम्पिल्य, काशी और भागलपुर की ओर नामी और दामी कपड़े बनने लगे। इन नगरों के चारों ओर वाले जंगल साफ कर करके आर्य बस्तियां बसाने लगे। ऋग्वेद का बहुत बड़ा भाग उन्हीं प्रदेशों में बना। उसके अनेक मन्त्रों में इन प्रदेशों के राजाओं की दान स्तुतियाँ भरी हैं, जिनसे उस समय की गङ्गा काँठे की समृद्धि का अच्छा पता चलता है। उन दिनों से आज तक भारत की राष्ट्रभाषा गङ्गा काँठे की वाणी ही बनी हुई है जिसमें वेद, महावीर और बुद्ध के उपदेश, अशोक के धर्मलेख और अनेकानेक कवियों और साहित्यकारों की वाणी निरन्तर प्रस्फुटित होती रही है।

आर्य बस्तियों के छोर वाले जंगलों में ऋषियों के आश्रम होते, जहां की आध्यात्मिकता समूची भारतीय संस्कृति पर अपनी प्रभा डाला करती। इस प्रकार के हरे भरे शान्त, सुहावने तपोवन गंगोत्री से गङ्गासागर तक फैले थे, जिनके कारण हमारी संस्कृति एकांगी नहीं होने पाई अन्यथा, आज हमारी संस्कृति भी 'यूनानो मिस्र रोमा' की संस्कृतियों की भांति केवल इतिहास के पन्नों में रह गई होती।

उन्हीं दिनों रामचन्द्र के पूर्व पुरुष भगीरथ ने गङ्गा के ओर छोर की खोज कर डाली, जिसके कारण गङ्गा आज भी भागीरथी कही जाती है। पुराणों ने अपनी पद्धति के अनुसार, इस घटना को एक लोकोत्तर रूप में ढाला है। इस भगीरथ प्रयत्न की दुष्करता ने उसे एक कहावत बना दिया है और भगीरथ की यह कीर्ति हमारी पीढ़ी पर पीढ़ी में उत्साह तथा साहस भरती आई है।

गङ्गा की चर्चा में यमुना भी आप से आप आ जाती है। ये दोनों बहिनें हिमालय की पास पास वाली चोटियों से उतरती हैं और कुछ दूर तक पास ही पास दौड़ती रहती हैं। किन्तु यमुना से वह अन्तर नहीं सहा जाता। अपनी बड़ी बहन के आँचल में दुबककर वह गङ्गा बन जाती है और गङ्गा भी अपनी छोटी बहन की प्रीति से उसकी रंगत अपने पर चढ़ा लेती है। इसलिये हम यह कहे बिना आगे नहीं बढ़ सकते कि ई० पू० दूसरी सहस्री के मध्य में यमुना तट ने भारत का सबसे बड़ा व्यक्तित्व उत्पन्न किया।

कृष्ण ने अत्याचारी कंस का नाश करके अपने यादवों में पुनः पारं-परीण संघ शासन चलाया और आततायी कौरवों तथा उनके सहयोगी जरासंध और शिशुपाल आदि के संहार द्वारा देश को साम्राज्यवाद की भीषणता से बचा लिया। किन्तु उनका धार्मिक और आध्यात्मिक सन्देश इन राजनैतिक सुधारों से कहीं बढ़कर था। उस समय लोग या तो, स्वर्ग की लालच में, यज्ञ के नाम पर पूरे कसाई बन गये थे या घोर तपश्चर्या में प्रवृत्त होते, या फिर सब करना धरना छोड़कर अजगरी वृत्ति धारण कर लेते। कृष्ण ने इन तीनों अतिचारियों का तीव्र सक्रिय विरोध करके सिखलाया कि स्वर्ग कौन बड़ी चीज है, मनुष्य मात्र परमात्मा से एक हो सकते हैं क्योंकि आत्मा और परमात्मा, जिसका विराट रूप यह इन्द्रियगोचर ब्रह्माण्ड है, दो नहीं। लगन से अपना अपना कर्म करना और उसका फल परमात्मा को चढ़ा देना ही उसकी सच्ची पूजा है, तथा सब आडम्बरों को छोड़कर उसकी शरण में आना मोक्ष का एकान्तिक मार्ग है। कृष्ण के इस सन्देश ने एक नया चक्र प्रवर्त्तन किया। धर्म के नाम पर हिंसा का यह पहला सफल विरोध तो था ही इसने विश्व मात्र का बन्धुत्व और आत्मा का परमात्मा से एकत्व भी स्थापित किया तथा मनुष्य को कर्ममय भक्ति मार्ग में प्रवृत्त किया। गङ्गा की प्यारी बहन यमुना के कछार की यह देन निःसन्देह संसार की सबसे बड़ी देन है।

महाभारत युद्ध के बाद कृष्ण का यह महान् प्रवर्त्तन कई रूपान्तरों से देश भर में फैलता रहा। उपनिषदों में उस समय के अध्यात्मवाद और परमार्थ चिन्तन की चर्चा भरी पड़ी है। विशेषतः गङ्गा तटवर्ती कुरुपाञ्चाल के याज्ञवल्क्य कुल ने इस विषय का गंभीर मनन किया और आत्मा की अमरता उद्घोषित की। इतना ही नहीं, उन्होंने वेद की एक नई शाखा भी स्फुटित की और, आचार व्यवहार तथा दाय का वह मार्ग प्रवर्त्तित किया, जिसके पल्लवित रूप याज्ञवल्क्य स्मृति द्वारा आज भी प्रायः समूचे भारत का एक बहुत बड़ा जनसमुदाय अनुशासित होता है।

गङ्गा-काँठा इस समय आर्य बस्तियों से गछ गया था। उसके सोलह बड़े बड़े प्रदेशों में से ग्यारह इसी काँठे में थे। यही मध्यदेश भारत का हृदय था, जिस के विषय में यहा तक माना जाता कि महापुरुष, विद्वान्, शूरवीर और धनिक जब उत्पन्न होंगे, मध्यदेश में ही। इस मध्यदेश में काशी प्रदेश उस समय बड़ा उन्नत हुआ। यहा आयुर्वेद का जन्म तो बहुत पहले हो ही चुका था, अब कला, संगीत, संगतराशी, बढ़ईगीरी और वस्त्रों की बुनाई में भी विशेष उन्नति हुई। सुनहले कपड़े, काशी में उसी समय से बनते आ रहे हैं। यहा के वस्त्रों की बारीकी उस समय एक लोकोक्ति होगई थी, जिनका मूल्य दस दस हजार पण (एक सिक्का) तक होता।

इस सांसारिक उन्नति के साथ साथ आध्यात्मिक उन्नति में भी काशी अग्रसर थी। उपनिषदों में यहां के राजर्षियों के आख्यान मिलते हैं। यहीं तेईसवें

जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने कृष्ण के अहिंसावाद को जोरों से दोहराया तथा तप एवं साधना का उपदेश दिया और बुद्ध भगवान ने भी अपने दया, सदाचार और विश्व बन्धुत्व वाले मत का प्रचार यहीं से आरम्भ किया। बुद्ध के निर्वाण से कुछ पहले ई० पू० छठीं शती में गङ्गा तटपर संस्कृति के एक बहुत बड़े नये केन्द्र का जन्म हो रहा था, जो अगले एक हजार वर्ष तक इस पद पर प्रतिष्ठित रहा। मगध में गङ्गा के दक्षिणी तट पर पाटली गांव महानगर पाटलिपुत्र के रूप में परिवर्त्तित किया जा रहा था। बुद्ध उधर से होकर निकले थे और पाटलिपुत्र को बसते हुये देखा था, तथा उसे आशीर्वाद दिया था।

यह पाटलिपुत्र भारत की राजधानी हुआ। यहीं ई० पू० पांचवीं शती में नन्दों ने सिक्कों और तौलों का प्रचलन किया तथा पाणिनि-के-से संसार-श्रेष्ठ वैयाकरण को समादृत किया। यहीं चौथी शती में चन्द्रगुप्त मौर्य हुआ, जिसने भारत में यूनानियों के पैर नहीं जमने दिये। यहीं से उसके पथ-प्रदर्शक चाणक्य ने अपनी गंभीर नीति द्वारा उसका विशाल साम्राज्य बनाया तथा अर्थशास्त्र लिखा, जो आज भी राजनीति का नया से नया ग्रन्थ बना हुआ है और सबसे ऊपर यहीं चन्द्रगुप्त का पौत्र अशोक हुआ जिसने अपना शान्ति का सन्देश और धर्म-विजय भारत में ही नहीं, आधे एशिया तक प्रचारित किया। इस काल की विशाल प्रस्तर कला भी गङ्गा कछार की देन है। उसका सुदृढ़ पत्थर, उसकी सजीव गढ़न और उसका अप्रतिम ओप, तीनों ही चुनार के हैं। मौर्यों के बाद पाटलिपुत्र पर शुंग अधिष्ठित हुये जिन्होंने अपने सम्राट-सत्ता-सूचक अश्वमेध पर अश्वमेध किये, जिनके समय में महाभाष्यकार पतंजलि हुये, भारत के सर्व प्रमुख समाज शास्त्र मनुस्मृति की रचना हुई और मूर्ति तथा चित्रकला की एक देश व्यापी शैली प्रचलित हुई।

ईसवी दूसरी शती में विन्ध्य की पहाड़ियों से निकलकर भारशिव राजवंश ने शकों का सैकड़ों वर्ष पुराना उपद्रव निर्मूल किया। गङ्गा की संस्कृति के रक्षणार्थ उन्होंने कमर कसा था, अतएव गङ्गा को ही उन्होंने अपना राजचिन्ह बनाया। गङ्गा तट पर किये गये उनके दश अश्वमेधों की स्मृति आज भी प्रयाग के दशाश्वमेध में जीवित है।

भारशिवों ने जो काम आरम्भ किया था वह बराबर बढ़ता गया और चौथी शती में गङ्गा तट पर महान् गुप्तवंश का उदय हुआ जिसकी राजधानियाँ प्रयाग तथा पटना थीं। उन्होंने देश को उदात्त, समृद्ध और सुव्यवस्थित बनाया, उन्होंने एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया और उन्होंने बड़े बड़े यज्ञ किये। उन्होंने बहुत ही कलापूर्ण स्वर्ण मुद्रायें चलाईं। हूणों की आंधी को उन्होंने बैठ नहीं गॅवाँया, अपना अतुल पराक्रम लगाकर उसे देश बाहर धकेल दिया। इस काल मे हमारी कला, संगीत, वाङ्गमय और सामाजिक व्यवस्था की सब से अधिक उन्नति हुई एवं उन्हें देशव्यापी एकरूपता मिली, जो गङ्गा के कांठे से चलकर आस पास वाले द्वीपों जावा, सुमात्रा आदि तक फैल गई। गुप्तों के राजाश्रय ने ही संसार को कालिदास प्रदान किया। यदि गुप्तवंश इस देन के सिवा और कुछ न भी दे जाता तो उसकी कीर्त्ति मानव संस्कृति के इतिहास में अमर रहती।

सदा से गङ्गा तट पर धार्मिक, सामाजिक, व्यापारिक और आमोद प्रमोद के मेले होते आये हैं। ७ वीं शती में प्रयाग—त्रिवेणी तटपर—कन्नौज के सम्राट हर्षवर्द्धन की संरक्षकता में एक इसी प्रकार का धार्मिक मेला प्रति पांचवें वर्ष हुआ करता। हर्ष के सुव्यवस्थित साम्राज्य में ब्राह्मण और बौद्ध संप्रदाय बहुत कुछ हाथ में हाथ डाले चल रहे थे। उस मेले में सभी पन्थों के साधु महात्माओं का धार्मिक सम्मेलन होता और सम्राट् बहुत कुछ दान पुण्य करता। आज भी यह मेला प्रयाग वाले कुम्भ के रूप में चला आता है जिसमें लगभग आधे करोड़ तक की भीड़ हो जाती है। संसार का एक और बहुत बड़ा मेला गङ्गा-गंडकी के संगम पर हरिहर क्षेत्र (सोनपुर, बिहार)

में होता है, जहाँ भाँति भाँति के पालतू पशु भी बिक्री के लिये बहुतायत से आते हैं, और यों तो गंगोत्री से गङ्गा सागर तक पचासों बड़े बड़े मेले लगते हैं।

अब तुर्क और पठान विजेताओं का समय आया। भारत में आकर वे यहा के हो गये। जहां उन्होंने अपनी राजधानी बनाई उसका नाम देहली इस कारण है कि वह गङ्गा काँठे के प्रवेशद्वार की देहली है। फलतः उन्होंने गङ्गा काँठे की संस्कृति अपना ली। वे गङ्गा जल पीने के भी प्रेमी थे। मुहम्मद तुगलक, अकबर और औरंगजेब गङ्गा के पास हों वा दूर—उनके लिये गङ्गा जल पहुँचाया जाता। औरंगजेब के समय में तो उसके सब उमरा तक ऐसा ही करते। बिहार मे गङ्गा किनारे से ही सोलहवीं शती के आरंभ मे शेरशाह ने देश के माल-बन्दोबस्त का वह क्रम चलाया जो आज भी चालू है।

गुप्तकाल से ही गङ्गा का काँठा व्यापार और विद्या का बड़ा केन्द्र है। उस समय काशी और मगध से कपड़े इत्यादि तैयार होकर योरप मे रोम तक और दक्षिणी समुद्र में बर्मा, स्याम, जावा, सुमात्रा तक पहुँचते थे तथा वहाँ के माल यहाँ आते थे। भागलपुर के पास विक्रमशिला वाले अद्वितीय विद्यापीठ के सामने गङ्गा लहराया करती और सर्वोपरि काशी थी जहाँ समूचे भारत और बृहत्तर भारत के लोग विद्याध्ययन तथा आध्यात्मिक साधन के लिये आया करते। पिछले मध्यकाल में यहां बड़े बड़े विद्वान् और ग्रन्थकार तो हुये ही, यहीं से रैदास और कबीर ने अपनी सत वाणी देश में गुजाई और अकबर काल में गोसाईं तुलसी दास ने रामचरितमानस आन्दोलित किया, जिससे महत्त्व की दूसरी रचना अपने देश में पिछले हजार वर्ष से नहीं हुई है और जो तीन सौ वर्ष से भारत के एक बहुत बड़े भूभाग के विचार और आचार को ढालती आ रही है।

१७ वीं शती में प्रयाग के पास कड़ा मानिकपुर में गङ्गा तट पर सत मलूक दास हुये, जिनकी वाणी का अलबेलापन अनूठा है। मनुष्य की निजी स्वतन्त्रता को, जिसे पूंजीवाद के अभिशाप ने जकड़ रक्खा है, उन्होंने विश्वास दिलाया—

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कहि गये, सब के दाता राम॥

१८ वीं शती में गङ्गा किनारे कलकत्ता महानगर बसा। यहीं विलियम जोन्स के हाथों एशियाटिक सोसायटी की स्थापना हुई और प्रिन्सेप ने ब्राह्मी अक्षर पढे। ये दोनों घटनायें हमारे लिये १८ वीं शती की सबसे बड़ी घटना हैं, क्योंकि इनके कारण महाभारत काल से तुर्क काल के आरंभ तक का हमारा तीन हजार वर्ष लम्बा विगत हमें पुनः मिल चला, जो हमारी दृष्टि की सकीर्णता दूर होने का प्रमुख कारण हुआ। यहीं से राजा राम मोहन राय ने पहले पहल भारत को नये युग का सन्देश सुनाया और यहीं फोर्ट विलियम में हिन्दी और उर्दू गद्य का बीज रोपा गया। यहीं रवीन्द्र और अबनीन्द्र अवतरित हुये, जिन्होंने हमारे साहित्य और कला में नया जीवन प्रवाहित किया।

इस प्रकार ई० पू० तीसरी सहस्री से आज तक की हमारी चिरनन साथ ही चिरनूतन संस्कृति की जननी गङ्गा है, तभी वह हमारी 'गङ्गा मैया' है, विज्ञान में गङ्गा जल मे रोग-कीटाणु के नाश का प्रबल सामर्थ्य पाया है। गङ्गा का यह गुण उसकी उस आध्यात्मिक शक्ति का भौतिक प्रतीक है, जिसका अन्वेषण आयुर्वेद ने किया है—

तृष्णा-मोह-ध्वसनं दीपनं च
प्रज्ञां धत्ते वारि भागीरथीयम्।

गङ्गा की इसी मोहध्वसन और प्रज्ञाधारक शक्ति ने उसे इस संस्कृति की, जिसमें हृदय, हाथ और मस्तिष्क का अतुलित संतुलित समन्वय हुआ है, जननी बनाया है। गङ्गा में एक आकर्षण है जिसने बड़े से बड़े नगरों की भीड़ को ही नहीं, बड़े से बड़े व्यक्तियों की भीड़ को भी अपने किनारे खींचा है।

जिस प्रकार भारत का सब से पुराना जीवित नगर बनारस और सबसे नया नगर उसी बनारस का बढ़ाव, काशी विश्व विद्यालय की बस्ती है, जिससे हमारे भविष्य को बहुत कुछ आशा है, उसी प्रकार वैदिक मन्त्रों के गाने वाले ऋषियों से लेकर गीतांजलि गाने वाले रवीन्द्र तक इसी के तट पर हुये हैं। भरत से लेकर समुद्रगुप्त तक सम्राटों ने इसी के कांठे में से समूचे भारत को एकता के सूत्र में बांधा है और बुद्ध से लेकर दयानन्द तक के प्रचारकों ने इसी के तट पर से अपने सन्देश वितरित किये हैं। इस प्रकार गङ्गा हमारे लौकिक और पारलौकिक संस्कृति की एक मात्र जननी है, फिर हम उसे क्यों न साक्षात् ब्रह्मद्रव मानें और कैसे न दावा करें—

भागीरथी! हम दोस भरे, पै भरोस इहै क परोस तिहारे



भारतीय संस्कृति की अखण्डता

डाक्टर भूपेन्द्रनाथ दत्त

आजकल हिन्दुस्तान में लोगों को यह आदत हो गई है कि वे अलग अलग मज़हबों के लोगों की अलग अलग संस्कृतियाँ समझने और बयान करते हैं। इस देश में 'संस्कृति' शब्द आजकल सामाजिक और राजनैतिक भूलभुलैयाँ में फस गया है। कोई 'हिन्दू संस्कृति' की बात करता है, कोई 'इस्लामी संस्कृति' की, कोई 'बङ्गाली संस्कृति' की और कोई 'मराठा संस्कृति' की। अलग अलग राजनैतिक दलों के लोग हमेशा अपनी अपनी साम्प्रदायिक, फ़िरकेवाराना, जातीय, या प्रान्तीय संस्कृतियों की दुहाई देते रहते हैं और बार बार यही सुनने में आता है कि इन सब की संस्कृतियाँ ख़तरे में हैं।

इसलिये यह जरूरी है कि हम इस बात का पता लगाने की कोशिश करें कि मानव संस्कृति क्या चीज़ है, और साथ ही साथ हिन्दुस्तान की संस्कृति या संस्कृतियाँ क्या चीज़ हैं? अंग्रेजी में संस्कृति को 'कलचर' कहते हैं। कलचर शब्द का निकास लातीनी भाषा से है और उसका मतलब मनुष्य की तालीम और उसका परवान चढ़ना है। इसीलिये किसी जाति या क़ौम की कलचर का मतलब उस जाति या क़ौम की तालीम या उसका परवान चढ़ना है। किसी भी मनुष्य समूह के उन सब कारनामों को उस समूह की कलचर या संस्कृति कहते हैं, जिन कारनामों के द्वारा वह समूह मानव उन्नति की सीढ़ी पर ऊपर को चढ़ता है। जो संस्थायें किसी क़ौम को शुरू की प्राकृतिक अवस्था से ऊपर उठाती हैं, वे उस क़ौम की संस्कृति की पैदावार समझी जाती हैं। जो मनुष्य समूह शुरू की क़ुदरती या असभ्य अवस्था से जितना ऊपर उठ चुकता है, उतनी ही उसकी संस्कृति ऊंची मानी जाती है।

सभ्यता के लिये अंग्रेजी ज़बान में 'सिविलीज़ेशन' शब्द काम में लाया जाता है। अंग्रेज़ों ने सिविलीज़ेशन और कलचर दोनों को मिलाकर क़रीब क़रीब एक कर दिया है। सिविलीज़ेशन शब्द भी लातीनी ज़बान से ही निकला है। सिविलीज़ेशन या सभ्यता का मतलब मनुष्य का उन दस्तकारियों, हुनरों और कलाओं में शिक्षा पाना है, जिनके ज़रिये कोई क़ौम या उसकी सभ्यता उत्तरोत्तर उन्नति करती है। लेकिन जर्मन भाषा में 'कलचर' शब्द का अर्थ ज़रा भिन्न है। जर्मन भाषा में कलचर का मतलब मनुष्य की मानसिक शक्ति की उपज से लिया जाता है। इस तरह की किसी उपज से जब आम लोग फ़ायदा उठाने लगते हैं, यानी जब कोई इस तरह की ईजाद सबके काम में आने लगती है, तब वह चीज़ या वह ईजाद क़ौम की सभ्यता का अङ्ग बन जाती है। इसलिये जर्मन परिभाषा के अनुसार मनुष्य के किसी कारनामे या उसकी किसी ईजाद का सब किसी के काम में आने लगना ही सभ्यता या सिविलीज़ेशन है। इसलिये किसी क़ौम के अन्दर कलचर की इस तरह की पैदावारें मनुष्य के अधिकाधिक सभ्य होने में जितनी ज़्यादा काम में लाई जावेंगी, उतनी ही उस क़ौम की संस्कृति अधिक उच्च मानी जावेगी; और क़ुदरती तौर पर उतना ही दूसरे लोग उस क़ौम को ज्यादा 'सभ्य' समझेंगे।

यूरोप में लोग यूरोपियन सभ्यता की बात करते हैं। यह वह सभ्यता है जो यूरोपियन महाद्वीप की सब जातियों और सब क़ौमों को एक समान अपनी गोद में लिये हुए है। शुरू में यूरोपियन सभ्यता की ये चीजें यूनान और रोम की मिली हुई संस्कृति से ली गई थीं। उसके बाद यूरोप की जो जो क़ौम उन्हें अपनाती गई, वह क़ौम उतना उतना ही मनुष्य-जीवन में अधिकाधिक उन्नत और अधिकाधिक सभ्य होती चली गई। आगे चलकर मानव जाति के ये कारनामे तमाम यूरोपियन क़ौमों की संयुक्त सम्पत्ति

बन गये। इन इनसानी कारनामों की ताजा से ताज़ा पैदावारों को जो क़ौम जितना ज्यादा अपनाती गई, उतना ही वह मानवता में ऊपर उठती गई। इसकी सबसे अच्छी मिसाल उन्नीसवीं सदी ईसवी के बलकान के देश हैं। बलकान के अलग अलग देश जितना जितना अपने को तुर्कों की अधीनता से आज़ाद करते गये, और जितना जितना वे अपने यहाँ पश्चिमीय यूरोप की संस्थाओं और शिक्षा के तरीक़ों को जारी करते गये, उतना उतना ही वे मध्यकालीन अज्ञानता और पतन के बन्धनों से आज़ाद होते गये। नतीजा यह हुआ कि यूनान और बलगारिया के लोगों में आजकल की नई संस्थायें और जीवन का नया दृष्टिकोण फैलता गया और दूसरी ओर उनके पुराने मालिकों—साम्राज्यप्रेमी तुरकों—में अज्ञानता, अन्ध-विश्वास, हठधर्मी और पतन बढ़ता गया। यहां तक कि तुर्कों को 'यूरोप का रोगी' (सिकमैन आफ यूरोप) कहा जाने लगा। ठीक यही दृश्य पूर्वीय एशिया में देखने को मिला। यहां पर जापान ने आजकल की सभ्यता और शिक्षा के नये नये तरीक़ों को अपनाकर अपने अन्दर नई जान पैदा करली और दुनिया की क़ौमों को अग्रतम श्रेणी में जगह ले ली। दूसरी ओर जापानियों ही के सह-जातीय कोरिया निवासी और उनके पुराने गुरू चीनी पीछे ढकेल दिये गये, यहां तक कि आजकल के जापानी उन सबको जंगली कहने लगे। इस बीसवीं सदी में सोवियत् यूनियन और तुर्की के कमाल अतातुर्क के कारनामों की मिसालें भी चमकती हुई मिसालें हैं। कहते हैं कि लेनिन जब रूसी सोवियत् प्रजातन्त्र का पहला प्रेज़िडेण्ट बना, तो उसने कहा—"रूस को अपनी एशियाई बर्बरता (असभ्यता) से बाहर निकल आना चाहिये।" इसी-लिये रूस ने पुराने ज़माने की यादगारों के खण्डहरों को हटाकर, अपनी नई समाजवादी रचना के अनु-कूल नयें तरीक़े अपनाकर एक नई सभ्यता को जन्म देना शुरू कर दिया। नतीजा यह हुआ कि सोवियत् यूनियन आज अनेक बातों में दुनिया का अग्रगामी है। इसी तरह तुर्की में जब कमाल अतातुर्क के हाथों में सत्ता आई, तो कमाल ने कहा—"तुर्की के कन्धों के ऊपर जो एक पहाड़ जैसा बोझ (पुराने ज़माने का) पड़ा हुआ है उसे हटाना होगा।" इसीलिये कमाल ने मध्यकालीन पुराने ज़माने की जंजीरों को तोड़ फेंका और नई तुर्की की रचना करने में उसने मनुष्य की नई से नई ईजादों से काम लेना शुरू किया। फिर भी उस देश में इसलामी कलचर को कोई नुक़सान नहीं पहुंचा। यही बात अब ईरान, अफ़-ग़ानिस्तान और जावा में हो रही है। ये सब देश इसलामी देश हैं। लेकिन वहां कहीं धर्म या कलचर को कोई ख़तरा नहीं।

अब हम भारतवर्ष की तरफ़ आते हैं। यह देश एक छोटा सा महाद्वीप है। इसकी एक अपनी संस्कृति है, जिसे लोग आमतौर पर 'एक विशेष संस्कृति' कह कर बयान करते हैं। मोह में आकर कुछ लोग इसे "हिन्दू संस्कृति" भी कहते हैं। एक समय था जब कि "भारतीय" और "हिन्दू" दोनों का एक ही अर्थ था। लेकिन इसलाम के आने के साथ यहां के लोगों के अलग अलग हिस्से हो गये। कुछ विदेशी मुसल-मान भारत में आकर बस गये और भारतवासियों की एक बहुत बड़ी संख्या ने इसलाम धर्म स्वीकार कर लिया। इस घटना ने इस देश में मनुष्य के जीवन को दो टुकड़ों में बांट दिया। लोग धर्म या मज़हब के नाम पर दो अलग अलग गिरोह बना बैठे, और इसी तरह सोचने लगे।

यह ठीक है कि भारतीय जीवन में इसलाम के साथ साथ नई चीज़ें दाख़िल हुईं। लेकिन सवाल यह है कि इनमें से कितनी चीज़ें हिन्दुओं ने अपने में हज़म करली और कितनी नहीं कर सके। इतिहास से पता चलता है कि शुरू के मुसलमान आक्रामक इस देश में खपकर हज़म हो गये। यहां तक कि मलिक काफ़ूर नाम के एक आदमी ने, जो हिन्दू से मुसलमान हुआ था, अलाउद्दीन खिलजी के लिये दक्षिण भारत को विजय किया; और इसी तरह का एक दूसरा व्यक्ति ख़ुसरो दिल्ली के तख़्त पर बैठा। ग़यासुद्दीन तुग़लक भी, जिसने ख़ुसरो को तख़्त से

हटाया और खुद उसकी जगह ली; एक हिन्दू जाट माता के पेट मे पैदा हुआ था। हेमू नाम के एक हिन्दू ने अपने अफ़ग़ान स्वामी के नाम पर मुग़लों के हाथों मे दिल्ली का तख़्त छीनने के लिये युद्ध किया।

शुरू के विदेशी मुसलमान इस देश की भूमि में पूरी तरह हिल मिल गये, और इसलाम भारतीय संस्कृति का एक अङ्ग बन गया, यह बात इस चीज से भी साबित है कि हिन्दुस्तान के एक हिस्से को उसी समय मे मुसलमान अपने ख़ास पवित्र तीर्थों में शुमार करने लगे। सिहल द्वीप (लङ्का) मे "आदम की चोटी" नाम का एक पहाड़ है, जहा मुसलिम रिवायत के अनुसार कहा जाता है कि मनुष्य जाति के सब से पहले पुरखा हजरत आदम स्वर्ग से उतरे, और उनके साथ साथ वह मोर उतरा था, जो उन्हें स्वर्ग मे बहका कर पृथ्वी पर लाया था। दुनिया के मुख़्तलिफ हिस्सों से आकर बहुत से मुसलमान अपने इस पवित्र तीर्थ की यात्रा करते हैं।[१] इसलिये उस जमाने के हमारे सबसे पहले राष्ट्रीय कवि मीर खुसरो ने अपने एक फारसी पद में कहा है—"ये बात सच है कि हिन्दुओं का रंग सावला है, लेकिन यह देश सब देशों से अच्छा है।" बहिश्त और इस देश में कुछ न कुछ सम्बन्ध ज़रूर रहा होगा, नहीं तो हज़रत आदम और वह मोर स्वर्ग से इस देश में न उतरते। इसके अलावा मुसलमान सूफ़ियों, हिन्दू सन्तों और नवीन वैष्णवों का एक दूसरे पर जो प्रभाव पड़ा, वह इस बात का ज़बर्दस्त सबूत है कि इन दोनों धर्मों के विचार और आदर्श किस तरह भारतीय संस्कृति में मिलकर एक हो गये। इस एकता की अन्तिम और अमिट मिसालें हमें उन तरह तरह की कलाओं के अन्दर मिलती हैं, जो मनुष्य की आत्मा की उपज और उसका ज़हूर मानी जाती हैं। भारतीय इतिहास के मुसलमान-काल की चित्रकला, गान-विद्या और निर्माण-कला में हमें दोनों तरफ़ की कल्पनाओं और आदर्शों का इतना सुन्दर मेल दिखाई देता है कि दोनों मिलकर साफ़ एक "भारतीय संस्कृति" की रचना करते हुये मालूम होते हैं। इसी तरह मुसलिम भारत की नई संस्कृति में हमें प्राचीन भारतीय संस्कृति का ही विकास दिखाई देता है। लोग आगरे के ताज को देखकर आनन्द के उन्माद में चिल्लाने लगते हैं—'ताज एक मोजज़ा है, चमत्कार है; ताज एक स्वप्न है!" लेकिन हैवेल के अनुसार ताज हिन्दू और बौद्ध कला का वह विकसित रूप है, जिसने इसलाम की नई ज़रूरतों के अनुसार नया रूप धारण किया।[२] कला की यह प्रगति सबसे पहले सहसराम में शेरशाह के मक़बरे में दिखाई देती है और उसकी पराकाष्ठा ताज में नजर आती है। इससे पहले गौड़ की अदीना मसजिद और अहमद नगर की मसजिद दोनों में पहले की शुद्ध हिन्दू कला दिखाई देती है। इसी तरह बाद के ज़माने के बनारस के शिव-मन्दिर, नदिया के महाराज कृष्णचन्द्र की बनाई हुई शिव-निवास की इमारतें तथा और बहुत से मन्दिर साफ़ हिन्दू और मुसलिम कलाओं के मेल के नमूने हैं। इस तरह संस्कृति के मैदान में यानी मनुष्य के कारनामों के मैदान में हम इस समय हिन्दू असर को मुसलिम असर से अलग नहीं कर सकते।

भारत एक देश है और सदा एक रहा है। दिल्ली या गौड़ के तख़्त पर चाहे कोई बैठा हो या न बैठा हो, अलग अलग धर्मों और सम्प्रदायों के लोग यहा हमेशा मिल जुल कर एक ही तरह जीवन बिताते रहे हैं। दस्तकारियों में, तिजारत और उद्योग धन्धों में धर्मों या सम्प्रदायों के अनुसार कभी कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा। जो दस्तकारिया यहां विदेशी दस्तकारों ने आकर जारी कीं, उन्हें भी सब धर्मों और सम्प्रदायों के भारतवासियों ने अपनाया और बढ़ाया। उदाहरण

१ Travels of Ibn Batuta, translated by H A R Gibb.

२ E. B. Havell—History of Indian Architecture.

के लिये सोने चांदी के काम, रेशम के काम, सलमे-सितारे के काम और इसी तरह की दूसरी नफीस दस्तकारियों में हिन्दू और मुसलमान का कोई फ़र्क़ नहीं।[३]

सामाजिक जीवन में दोनों धर्मों के लोग पूरी तरह हिल मिलकर रहते रहे हैं और दोनों का एक दूसरे पर काफी असर पड़ा है। विशेषज्ञों की राय है कि इसलाम के सम्पर्क में आकर हिन्दुओं की संस्थायें इस तरह बदली हैं, और इस तरह नया रूप धारण किया है कि उनमें इसलाम के असर साफ दिखाई देते हैं। दूसरी तरफ मुसलमानों ने हिन्दू संस्थाओं और रिवाजों को इस दर्जे तक अपनाया है कि उनकी ये संस्थायें और रिवाज बिलकुल हिन्दू रिवाजों की नकल मालूम होते हैं।[४] हिन्दुस्तान के मुसलमानों के सामाजिक विकास की खोज अभी तक गहराई के साथ नहीं की गई। फिर जाहिर है कि बहुत सी जातियों ने मुसलमान हो जाने के बाद भी अपनी पुरानी सामाजिक संस्थाओं, रिवाजों और विश्वासों को ज्यों का त्यों क़ायम रखा।[५] मसलन यहां के मुसलमानों में भी वैसी ही अलग अलग जातियां हैं, जिनमें एक दूसरे के साथ शादियां नहीं होतीं, जैसे 'अशराफ' और 'अतराफ'; बिलकुल उसी तरह जिस तरह हिन्दुओं में ब्राह्मण और शूद्र। बहुत सी अछूत जातियों के मुसलमान हो जाने पर भी उनके साथ वैसा ही सलूक जारी रहता है जैसा हिन्दुओं में होता था, जैसे लालबेगी इत्यादि। इसी तरह हिन्दुओं में 'कालू' यानी तेली जाति के लोग मुसलमान होकर 'खालू' कहलाने लगे और उसके बाद भी उन्होंने अपनी अलग जाति और अपनी पंचायत को उसी तरह क़ायम रखा (Vide Gaits' Ethnolgical Report in the Census of India)। हिन्दू 'जुगी' मुसलमान होकर 'जुलाहे' या मोमिन हो गये, लेकिन उनकी अलग जाति और पेशा दोनों उसी तरह कायम रहे। 'हलालखोरों' को जिनकी एक अलग जाति ज्यों की त्यों कायम है, मर्दुमशुमारी में कभी मुसलमान लिख लिया गया है और कभी हिन्दू। बंगाल के 'पटनियों' को जो एक तरह के दस्तकार हैं, मुसलमान लिखा जाता है, लेकिन उनके सबके नाम आज तक हिन्दू नाम होते हैं। जो राजपूत मुसलमान हो गये वे मुसलमान होने के बाद भी 'खानजादे' या 'रांगड़' या 'राजपूत' ही कहलाते रहते हैं। यही हालत जाटों और गूजरों की है।

गुजरात और कच्छ के जो 'बोहरे', 'खोजे' और 'मैमन' हिन्दू धर्म छोड़कर मुसलमान हो गये हैं और जो पहले वहां के बनिये थे, उनके पुश्तैनी पेशे उसी तरह क़ायम हैं और आज तक याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार इन लोगों के सब काम काज चलते हैं; उसी के अनुसार उनकी सम्पत्ति का बटवारा होता है और उसी के अनुसार अदालतों में उनके मुक़दमे फैसल होते रहे हैं। अब हाल मे दिल्ली की सेण्ट्रल असेम्बली ने एक क़ानून पास किया है, जिससे आइन्दा के लिये इन लोगों के मुक़दमे मुसलिम शरीयत के मुताबिक़ तय किये जाया करेंगे। जो लोग हिन्दुओं और मुसलमानों के मेल न हो सकने की बात करते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि पञ्जाब और गुजरात के बहुत से मुसलमान आज तक शरीयत के क़ानून को नहीं मानते थे। इसके अलावा बहुत सी, ऐसी सम्प्रदायें मौजूद हैं, जो मुसलमान गुरुओं की क़ायम की हुई हैं और जिनमें बहुत से हिन्दू शामिल हैं। इसी तरह बहुत सी हिन्दू गुरुओं की क़ायम की हुई सम्प्रदायों में मुसलिम चेले शामिल हैं। कबीर पन्थियों और दादू पन्थियों दोनों में, हिन्दू और मुसलमान दोनों शामिल हैं। नदिया (बंगाल) की 'साहबधानी' सम्प्रदाय एक मुसलिम

३ History of India—by James Mill
४ Edward Gait—Ethnological Report, Census of India 1931.
५ See Gait, Amir Ali—Musalmans of India Mazharul Haque's Writings etc

भक्त की चलाई हुई है।[६] जहां तक खाने कपडे जैसी छोटी छोटी चीज़ों का सम्बन्ध है, हिन्दुस्तान के मुसलमान वह कपड़े नहीं पहनते, जो दूसरे देशों के मुसलमान पहनते हैं। पाजामा कोई मुसलमानी पोशाक नहीं है। मुसलमानों के हमले से पहले इस देश के हिन्दू (सरहदियों के से) थैलेनुमा पाजामे पहनते थे।[७] लुंगी जो दक्षिण एशिया की सब क़ौमें पहनती हैं, धोती ही का एक रूप है। लुंगी का रिवाज एक बौद्ध देश बर्मा से इस देश में आया और आजकल बंगाल के हिन्दुओं में भी इसका रिवाज बढ़ता जा रहा है। अचकन और चपकन दोनों ख़ास भारतीय पोशाकें हैं। दूसरे किसी मुसलिम देश में ये नहीं पहनी जातीं। ये दोनों चीजें पुरानी हिन्दू पोशाक के ही ज़रा बदले हुए रूप हैं।[८] यूनानी यात्री मेगस्थनी ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में क्षत्रिय लोग एक लम्बा कोट पहनते थे, जो पैरों तक आता था। बहुत मुमकिन है कि आज कल जिसे हम पारसी कोट कहते हैं, वह उसी पुराने लम्बे कोट का एक रूप हो! वेद में लिखा है कि वरुण देवता एक क़ीमती समूर (फर) का कोट पहिना करते थे।

खाने पीने के मामले में बहुत से लोगों को और ख़ासकर विदेशियों को यह भ्रम है कि हिन्दू निरामिष भोजी हैं। सच है कि अधिकांश हिन्दू मांसाहारी हैं। सीख़ के क़बाब, भुने हुए गोश्त और पुलाव इन सब का प्राचीन हिन्दुओं में काफी रिवाज था।[९] 'शल्य मांस' यानी सीख़ के क़बाब और 'पलौना' यानी पुलाव दोनों पुराने भारतीय भोजन हैं। इन बातों में लोगों को बड़े अजीब अजीब भ्रम रह जाते हैं। स्वर्गीय प्रोफ़ैसर आज़ाद ने अपनी पुस्तक 'आबे हयात' में लिखा है कि पुलाव इस देश में ईरान से आया था। यह बात बिलकुल ग़लत है। जर्मनी के एक प्राच्य विशारद हेन (Hehn) ने पता लगाया है कि चावल के लिये अंग्रेज़ी शब्द 'राइस' कहां से निकला।[१०] उनका कहना है कि यह शब्द भारत से गया है। उन्होंने लिखा है कि संस्कृत में चावल को 'व्रीहिः' कहते हैं। यूनानी इसे यहां से ईरान ले गये वहां वह 'व्रि' (Vries) कहलाने लगा। अरबी में भी उसका यही नाम पड़ा। ईरान से चावल यूरोप गया। वहां जर्मन भाषा में उसका नाम 'रीस' (Reis) और फ्रेंच भाषा में 'रिज़' (Riz) पड़ा। चावल दक्षिण भारत की पैदावार है। शुरू में वेदों में इसका ज़िक्र नहीं मिलता। प्राचीन ईरान में भी चावल नहीं होता था और न प्राचीन ईरानी चावल खाते थे,[११] और न चावल अरब में होता है। पुराने हिन्दू साहित्य में 'पलौना' का, यानी चावल और मांस मिलाकर पकाने का, ज़िक्र है। सोलहवीं सदी की लिखी हुई बंगला महाभारत में भी 'पलौना' का ज़िक्र आता है। मुसलमानों के सीख़ के क़बाब और पुलाव पुराने हिन्दुस्तानी खानों की नक़लें हैं।

प्रोफ़ैसर आज़ाद ने ही यह भी लिखा है कि चपाती इस देश में बाहर से आई थी। यह बात भी सन्देह की है। सिकी हुई रोटी का ईरानी नाम 'नान' है। नान तय्यार करने में ख़मीर इस्तेमाल किया जाता है और उसे तन्दूर में सेंका जाता है। पश्चिम एशिया में यूरोपियन ढङ्ग की रोटी इस्तेमाल होती है अर्थात् आटे में ख़मीर मिला लिया जाता और फिर उसकी रोटी सेंकी जाती है। बल्कि यह कहना चाहिये कि यूरोप की डबल रोटी पश्चिम एशिया की रोटी का एक उन्नत रूप है। हिन्दुस्तानी 'रोटी' एक शुद्ध हिन्दुस्तानी चीज़ है। इस लेख के लेखक के

६ नदिया काहिनी—कुमुद बिहारी मल्लिक।

७ Reports of Arab Travellers and Alberuni's Prolegomena of India

८ Rajendralal Mitra—Indo-Aryans.

९ 'हरिवंश' और अन्य संस्कृत नाटक।

१० Hehn—Kultur Pflan Zendes Ostens.

११ M N. Dhalla—History of Zoroastrianism, P. 370.

अनुसार हिन्दुस्तानी शब्द 'रोटी' वैदिक शब्द 'पुरोदा' से बना है। पुरोदा से ही आजकल का हिन्दुस्तानी 'परौठा' या 'परेठा' बना है, और इसी से 'रोटी' शब्द निकला है। लेखक जब तुर्की में था तो उसने रोटी शब्द के निकास के बारे में तहक़ीक़ात की। यह शब्द न अरबी है न ईरानी। चपाती या उसकी छोटी शक्ल रोटी बिना खमीर की चीज़ें हैं। इनमें से किसी में खमीर काम में नहीं आता। ये दोनों चीजें शुद्ध हिन्दुस्तानी हैं। रोटी शब्द किसी यूरोपियन भाषा से नहीं निकला। इसके लिये लातीनी शब्द 'पानिस' (Panis) है, जिसका फ्रेंच रूप 'पाँई' (Pain) है। पुर्तगाली शब्द 'पाव रोटी' हिन्दुस्तानी और यूरोपियन दोनों शब्दों के मेल से बना मालूम होता है। हिन्दुस्तानी इसे 'डबलरोटी' कहते हैं।

इसी तरह 'हलवा' शब्द है। इसमें सन्देह नहीं कि शुरू में यह मिठाई हिन्दुस्तान की नहीं थी। लेकिन जिस शक्ल में हिन्दुस्तान में हलवा बनता है, उस शक्ल में तुर्की इत्यादि में उसे कोई नहीं जानता। हिन्दुस्तानी शक्ल का हलवा 'मोहन भोग' कहलाता है। (शायद मोहन भोग शब्द वैष्णव है और बाहर से आये हुये हलवे का वैष्णव रूप है)। हलवा अब शुद्ध हिन्दुस्तानी हो चुका। यह हिन्दू सस्कृति का एक अङ्ग है और इसकी विदेशी शक्ल भी बदल चुकी।

इस तरह आजकल के हिन्दुस्तान में हम हिन्दू रहन सहन और मुसलिम रहन सहन में भेद नहीं कर सकते। इन पंक्तियों का लेखक जब पंजाब और दिल्ली की यात्रा कर रहा था, तो जगह जगह उसे वही खाना हिन्दू घरों में मिला, जो मुसलमान घरों में। वहा के हिन्दू और मुसलमान दोनों शुरू में मीठी चीज खाते हैं। बंगाल में न हिन्दू ऐसा करते हैं न मुसलमान। डाक्टर और वैज्ञानिक लोग वैज्ञानिक ढङ्ग से खून की परीक्षा करके देख चुके हैं कि इस देश के हिन्दू और मुसलमान दोनों एक ही खून, एक ही नस्ल और एक ही जाति से हैं।[१२]

अन्त में हम देखते हैं कि हर प्रान्त के साहित्य को बढ़ाने में हिन्दू और मुसलमान दोनों ने एक बराबर और मिलकर हिस्सा लिया है। बगला साहित्य, हिन्दी साहित्य और उर्दू साहित्य तीनों, हिन्दू और मुसलमान साहित्यिकों की मिली जुली कोशिशों से पैदा हुए और फले फूले हैं। मजहबी उसूलों और मजहबी रिवाजों में थोड़ा बहुत फर्क है। लेकिन भारतवर्ष का हमेशा ही यह सिद्धान्त रहा है कि दुनिया इस तरह के सब मत-मतान्तरों और रस्म रिवाजों के भेदों के लिये काफी बडी है। किन्तु इसमें भी जगह जगह हिन्दुस्तान के मुसलमानों के आम रस्म रिवाज बहुत कुछ वही हैं, जो हिन्दुओं के। भारतीय समाज विज्ञान के मशहूर विद्वान प्रोफ़ेसर विनय कुमार सरकार ने लिखा है—"यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि हिन्दुस्तान के मुसलमानों के बहुत से रस्म रिवाज और उनके तौर तरीक़े ठीक वैसे ही हैं, जैसे हिन्दुओं के सस्कार। दोनों के रिवाज उस समय से शुरू होते हैं, जबकि न कोई हिन्दू था और न कोई मुसलमान, जबकि बगाल में और सारे भारत में वह आदिमवासी रहते थे, जिन्हें अभी उस समय तक हिन्दू नाम भी नहीं दिया गया था।"[१३] इस तरह मज़हबी उसूलों का फ़र्क़ और अलग अलग रस्म रिवाज एक सयुक्त कौम या एक राष्ट्र के बनने में रुकावट नहीं हो सकते। यूरोप के विविध देशों में, चीन में, जापान में हर एक में कई कई धर्मों के लोग मौजूद हैं। किन्तु इससे उनकी एकता, राष्ट्रीयता, अखंडता और उनकी शक्ति में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता।

फिर भी हमारे इस देश में हिन्दू संस्कृति और मुसलिम सस्कृति की अलग अलग आवाज़ें उठाई जाती हैं। अलग अलग मजहबों का होना एक दूसरी चीज़ है। इनमें अन्तर हो सकता है, लेकिन इनसे संस्कृति के एक होने में बाधा नहीं पड़ती और न एक राष्ट्रीय संस्कृति की उन्नति रुक सकती है।

---

१२ P Macfarlane's Paper (Indian Science Congress 1937)

१३ Villages and Towns as Social Patterns, P 350

संस्कृति का मूल सम्बन्ध देश और उसकी आर्थिक स्थिति से होता है। हर देश की वैज्ञानिक, औद्योगिक और आर्थिक ईजादें और कारनामे सब के भले के लिये होते हैं और सब की मिली जुली सम्पत्ति होते हैं। सब का उनमें हिस्सा होता है। हर देश, और समाज की बुनियाद देश की इसी आर्थिक स्थिति पर होती है। आर्थिक उन्नति का मज़हब या सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध नहीं। जो समाज आर्थिक तरक्क़ी करेगा और अपनी संस्थाओं को उन्नति देगा उसे सब को अपनी गोद में लेकर चलना होगा। इससे भी बढ़कर यह बात है कि संस्कृति और सभ्यता अन्तर्जातीय चीज़ें हैं, वे अन्तर्राष्ट्रीय हैं। इन्हें इन छोटी छोटी हदों के अन्दर बांधकर नहीं रखा जा सकता।

समाज-विज्ञान के विद्वान हमें बताते हैं कि मनुष्य की सभ्यता किस तरह बढ़ती है। मनुष्य पहले एक दूसरे की नक़ल करते हैं, एक दूसरे की चीज़ों को अपनी तबियत और अपनी ज़रूरत के अनुसार ढाल कर अपनाते हैं और सब मिलकर फिर नई नई ईजादें करते रहते हैं।[१४] एक मानव समूह के कारनामों की दूसरा समूह नक़ल करता है, फिर उन्हें अपनी ज़रूरत के मुताबिक़ बदलता है और फिर आगे बढ़ने के लिये नई ईजादें करता है। इस तरह मानव संस्कृति दुनिया भर में फैलती रहती है और एक गिरोह की संस्कृति दूसरे गिरोह की सम्पत्ति बनती रहती है।[१५] यही प्रगति भारतवर्ष के इतिहास में बराबर दिखाई देती रही है।

भारतीय विद्वान पहले अपनी सभ्यता का प्रारम्भ वेदों के काल से गिना करते थे। लेकिन जब से सिन्धु नदी की उपत्यका में एक और प्राचीन सभ्यता का पता चला है, तब से भारत की सभ्यता का सिलसिला तीन हज़ार साल ईसा से पहले तक पहुंचने लगा है। यदि भारतीय सभ्यता का प्रारम्भ यहीं से हुआ हो तब भी वह सभ्यता केवल भारतीय नहीं थी। सर जान मार्शल ने उस प्राचीन भारतीय सभ्यता का ज़िक्र करते हुए उसे प्राचीन यूरो अफ्रीकन संस्कृति का एक हिस्सा बताया है[१६] और पुरातत्व की दृष्टि से उन्होंने उस पुरानी भारतीय सभ्यता और बाबुल के ज़माने से पहले की इराक़ की सुमेरी सभ्यता में अनेक समानतायें दिखाई हैं। इसके अलावा वेदों की छानबीन करने से भी हमें पता चलता है कि वैदिक सभ्यता उन संस्कृतियों के समूह का एक अङ्ग थी, जिनमें ईरान, मध्य एशिया (अनान) और उत्तर भारत सब शामिल थे। प्राचीन वैदिक समय के भारतवासी और प्राचीन ईरानी दोनों की संस्कृति बहुत दरजे तक एक संस्कृति थी। इसके बाद जब हम ऐतिहासिक समय में आते हैं, तो हम देखते हैं कि प्राचीन भारत और प्राचीन यूनान इन दोनों में भी गहरा सांस्कृतिक सम्बन्ध था। यूरोप के पुरातत्त्ववेत्ता इस बात पर जोर देते हैं कि भारतीय बौद्ध मूर्तिकला पर ईरान और यूनान की कलाओं का काफी असर पड़ा।[१७] इसके बाद भारत ने ईरान की सासानी संस्कृति को प्रभावित किया।[१८] और ख़लीफाओं के ज़माने की अरब सभ्यता पर भी भारत का गहरा असर पड़ा। यूनानी संस्कृति का भारतीय संस्कृति पर जो असर पड़ा उसे अभी तक भारत के इतिहास में ठीक ठीक महत्त्व नहीं दिया जाता। यह एक अजीब बात है कि बहुत से यूनानी शब्द संस्कृत

१४ Tarde—Imitation

१५ Elliot Smith—The Diffusion of Culture

१६ Mahen-jo-Daro and Indus Valley Civilization.

१७ A. Grundwedet—Buddhist Art in India, translated by A C. Gileson, 1901

१८ Dr Dhalla—History of Zoroastrianism P 278.

में आकर मिल गये हैं।[१९] प्राचीन भारतवासी दूसरों से नई चीजें सीखने में सकुचाते नहीं थे। ज्योतिष विद्या में उन्होंने "यवन आचार्यों" को अपने से बढ़कर माना है। सच यह है कि जब से हिन्दुस्तानियों में अहकार और अहमन्यता बढ़ी[२०] तभी से भारतीय मस्तिष्क दूसरों से अलग हो गया और तभी से भारत का पतन होने लगा। मुसलमानों के हमले ने हमारी इस सकुचित मनोवृत्ति को तोड़ा और भारत का फिर से दूसरे देशों के साथ सम्बन्ध जोड़कर उसे दुनिया का एक अङ्ग बनाया। अङ्गरेज़ों के आने के साथ और अंगरेजी भाषा के द्वारा आज कल की शिक्षापद्धति के फैलने के साथ साथ[२१] हिन्दुस्तान फिर अपने असली रूप में आ रहा है। भारत ने फिर बाहर से ज्ञान संचय करना और साथ ही साथ दुनिया के सस्कृति-समूह में अपनी सचित सम्पत्ति को शामिल करना शुरू कर दिया है।

किसी भी देश या जाति की सस्कृति केवल वहीं की उपज से नहीं बनती। प्रारम्भिक समय की सीधी सादी मनुष्य जातिया, जो अपने छोटे मोटे लकड़ी पत्थर के देवी देवताओं को पूजती रहती हैं, अपना एक अलग रूप धारण कर लेती हैं। लेकिन थोड़े ही दिनों में बाहर से एक दूसरे के असर उनपर पड़ने शुरू हो जाते हैं। राजनैतिक उलट फेर और क्रान्तियाँ उनकी दीवारों को तोड़ देती हैं। उन्हें दूसरों की चीजें और दूसरों के विचार अपनाने पड़ते हैं। जब ये छोटे छोटे गिरोह या क़बीले मिलकर बड़े बड़े राष्ट्र बनते हैं, तो वे एक दूसरे के सीधे सादे धार्मिक विचारों और तरीक़ों को अपनाते हैं। यही प्रगति पहले भारत में रह चुकी है और अब भी यही प्रगति जारी है। वेदों से पहले के विचार, विश्वास और रस्म रिवाज, जो इसी देश के अन्दर पैदा हुए थे, वैदिक विचारों और विश्वासों के ज़रिये बदल गये या उनमें रल मिलकर एक होगये। भाषा विज्ञान के विद्वान बताते हैं कि वेदों के अन्दर आर्यों और द्रविड़ों से पहले के भी शब्द मौजूद हैं। 'तबू' (Taboo) शब्द भी, जो पॉलीनीशिया की भाषा का माना जाता है, अथर्ववेद में मिल चुका है।[२२]

इस बात की अनन्त मिसालें दी जा सकती हैं कि जिसे हम हिन्दू सस्कृति और हिन्दू सभ्यता कहते हैं वह कोई खास वैदिक चीज़ नहीं है बल्कि आर्यों से पहले की शुद्ध भारतीय चीजों, आर्य चीजों, और बहुत सी विदेशी चीजों से मिलकर बनी है। यहां तक कि यह सवाल उठाया जा सकता है कि वैदिक सस्कृति में से कितना अंश 'इण्डो एर्यिन' था और कितना 'इण्डो-यूरोपियन'। मानव-जाति-विज्ञान और समाज-विज्ञान के निष्पक्ष पढ़ने वालों के लिये सारी मनुष्य जाति एक है। अलग अलग समूह या कौमें केवल एक ही तने की शाखें हैं। दुनिया में आज कोई अलग अलग तरह की जातिया या बुनियादी तौर पर अलग अलग नसलें नहीं हैं, ये सब केवल अलग अलग समूह (Ethnic groups) हैं।[२३] इसी तरह भारतवासी भी केवल एक एथनिक ग्रप या समूह हैं। सर०, एच० एच० रिज़ले ने लिखा है—"भारतीय जीवन की अनेक विभिन्नताओं के पीछे एक बुनियादी एकता है जो भारतवासियों को दुनिया के दूसरे देशों से अलग करती है।"[२४] इस प्रकार भारतवासी एक अलग समूह, एक अलग एथनिक ग्रुप हैं। साथ ही हम यह भी देख चुके हैं कि ऐतिहासिक समय से पहले और

१९ (a) R L Mitra—Indo-Aryans, (b) ? N. Bannerji—Hellenism in India.

२० अलबेरूनी आदि।

२१ Marx and Engels on India, Edited by Dr Mulkraj Anand.

२२ S. Levi—Pre-Dravidinism and Pre Aryanism in the Vedas, tr. by P. Bagchi

२३ Haddon and Huxley—The Europeans.

२४ H. H. Risley—Peoples of India.

ऐतिहासिक युग में भी इस देश के लोग बाहर की संस्कृतियों से बहुत कुछ लेते रहे हैं और एक बड़े अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति-समूह का अङ्ग रहे हैं। मानव-जाति-विज्ञान के एक यूरोपियन विद्वान ने दिखाया है कि जिस तरह का हल भारतवर्ष के लोग खेती के काम में लाते हैं, उसी तरह का दक्षिण रूस के प्रान्तों के किसान इस्तेमाल करते हैं,[२५] यानी इस मामले में भारतीय संस्कृति उस संस्कृति का एक अङ्ग है, जो अब भी भारत से दक्षिण रूस तक फैली हुई है। इस से यह बात और अच्छी तरह ज़ाहिर होती है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति कभी केवल भारत तक ही सीमित नहीं रही।

फिर भी कुछ लोग यह कहते हैं कि हिन्दू संस्कृति एक अलग संस्कृति है क्योंकि उसमें वर्णाश्रम धर्म, आचार के ख़ास नियम और शुद्धता के अजीब अजीब क़ायदे मौजूद हैं जो दूसरों में नहीं हैं। लेकिन इस तरह के आचार और शुद्धता के नियम और विचार बहुत सी पुरानी क़ौमों में रह चुके हैं और आज भी बहुत सी पुरानी और अर्ध सभ्य क़ौमों में मौजूद हैं।[२६] चार वर्णों की सामाजिक व्यवस्था भी कोई ख़ास हिन्दू या भारतीय आर्य पद्धति ही नहीं थी। ज़रथुस्त्री, ईरानी, बाबुल निवासी, मिस्री, और पुराने ट्यूटन तक कभी न कभी इस तरह के चार वर्णों की प्रथा को मानते थे।[२७] और बहुत से इसी तरह के सामाजिक रिवाजों के बारे में, जो ख़ासतौर पर हिन्दू रिवाज समझे जाते हैं, राइस डेविड लिखता है—"अपनी बिरादरी के अन्दर विवाह करने या बिरादरी से बाहर विवाह करने के नियम, ख़ास ख़ास जातियों के विशेष अधिकार, एक साथ खाने या न खाने का अधिकार, ये सब रिवाज सिर्फ़ भारतीय या आर्य रिवाज ही नहीं हैं बल्कि दूर दूर तक फैले हुए मिलते हैं। आजकल के हिन्दुस्तानी जाति भेद की भावना और बहुत दरजे तक उसके व्यवहार और नियम भी दूसरे देशों की इन प्राचीन और व्यापक प्रथाओं से मिलते हुए हैं।"[२८]

जिस तरह हिन्दुस्तान में एक जाति के लोग दूसरी जाति के लोगों के साथ भोजन नहीं कर सकते इसी तरह चौदहवीं और पन्द्रहवीं सदी के जर्मनी में भी लोग एक दूसरे के साथ खाने से परहेज़ करते थे। जर्मनी में उन दिनों पुरोहितों की बिरादरी जो 'कैलेण्ड गिल्ड्स' कहलाती थी मामूली लोगों के साथ एक ही मेज़ पर बैठकर खाने से इनकार करती थीं, [२९] ठीक उसी तरह जिस तरह ब्राह्मण पुरोहित अपने अब्राह्मण यजमानों के साथ खाने से इनकार करते थे।

फ़र्क़ यह है कि आजकल के दूसरे सभ्य देशों के लोगों ने इस तरह के पुराने छुआछूत और शुद्धाशुद्धि के रिवाजों और विश्वासों को छोड़ दिया है, परन्तु हिन्दू जो बाहर की हालत के कारणों से एक हज़ार

२५. Feitschrift der Ethnologic (Berlin).

२६. (a) Crowley—Mystic Rose (b) B N Datta—Taboo in Various Peoples of the world (Calcutta Review 1940)

२७. (a) Dr Dhalla—History of Zoroastrianism, (b) Brested—History of Ancient Egypt, (c) Ramsay Muir-Asianic Elements in Greek Religion (d) Bluktschli The state, (e) Jastrow—Aspects of Religious Beliefs and Practice in Babylonia and Assyria P 366

२८. Rhys Davids—Dialogues of Buddha, P 97

२९. (a) Wilda—Das Gilderwesen in Mittelalter, (b) Brentano—On the History and Development of Guilds and the Origins of the Trade Unions, Pt I

वर्षों से मृत.प्राय हो रहे हैं, अभी तक उन पुरानी चीज़ों को और अपनी इस पृथकता को चिपटे हुए हैं। वे समझते हैं कि ये रूढ़ियें और रस्म रिवाज जिनका निकास अत्यन्त प्राचीन समय के प्रारम्भिक अनगढ़ और अनुन्नत विचारों से है, उन्हें बाहर के हमलों से बचाये रखती हैं। अपनी अज्ञानता में वे इन रूढ़ियों और रस्म रिवाजों को सनातन और ईश्वरीय समझ बैठे हैं, जब कि उनके चारों तरफ़ की दूसरी क़ौमें अपने अपने यहां राष्ट्रीयता की इन प्राचीन अनुन्नत बुनियादों से ऊपर उठ चुकी हैं और उठती जा रही हैं। जब कि दूसरी क़ौमें अपने अपने यहां के समाज को अधिक उच्च, अधिक योग्य और अधिक शक्तिशाली बनाने के प्रयत्नों में लगी हुई हैं। इस देश के हिन्दू और मुसलमान अपनी पुरानी रूढ़ियों को चिपटे हुए हैं और उन्हीं को अपने ऐहिक और सामाजिक जीवन का मुख्य आधार समझते हैं।

आजकल की दुनिया के इतिहास को देखने से यह मालूम होता है कि जिस क़ौम में जितनी अधिक सामाजिक क्षमता होगी, उतना ही वह जीवन संग्राम में अधिक देर तक ठहर सकेगी। अधिक सामाजिक क्षमता के लिये उन्नततर सांस्कृतिक योग्यता ज़रूरी है और किसी भी गिरोह के बहैसियत एक क़ौम के ज़िन्दा रहने के लिये सब से बड़ी और आख़िरी ज़रूरत सांस्कृतिक योग्यता है। इसलिये हमें भारतीय संस्कृति का मूल्य अपनी और उस संस्कृति की उन्नति की दृष्टि से करना चाहिये। इलियट स्मिथ ने प्राचीन क़ौमों की सभ्यताओं की उन्नति और अवनति को रेखा-चित्रों से प्रकट किया है और यह दिखाया है कि इन रेखा-चित्रों में कई बार उन्नति की चोटियां दिखाई देती हैं। अंग्रेज़ों से पहले के भारतवर्ष में उसने इस तरह की दो चोटियां दिखाई हैं। इलियट स्मिथ के इस चित्राङ्कण पर एतराज भी किया जा सकता है। लेकिन यह बात बिलकुल सच है कि भारतीय संस्कृति की रेखा फिर एक बार ऊपर को जा रही है। इस मामले में इलियट स्मिथ ने हिन्दुओं और मुसलमानों के लिये अलग अलग चित्र या अलग अलग रेखायें नहीं खींचीं। इलियट स्मिथ के अनुसार तुर्कों के हमले से भारतवर्ष में एक नया युग प्रारम्भ हुआ और मुग़लों के समय में भारतीय सभ्यता की रेखा फिर एक बार ऊपर को बढ़ती हुई दिखाई दी।

लेकिन अगर हम यह कहें कि मुसलमानों और हिन्दुओं के लिये इस तरह के चित्र में अलग अलग दो रेखायें खींची जानी चाहियें, क्योंकि मुसलमान और हिन्दू दो अलग अलग सम्प्रदाय हैं और भारत केवल एक "भौगोलिक शब्द" है तो हिन्दू और मुसलिम समाजों की जातियों और उपजातियों के लिये भी और उनकी संस्कृतियों लिये हमें अलग अलग रेखायें खींचनी पड़ेंगी; अन्यथा ये रेखायें बिलकुल ठीक न होंगी और न ठीक स्थिति को चित्रित कर सकेंगी। ऐसी सूरत में हिन्दू संस्कृति के अन्दर हमें अलग अलग प्रान्तों और जातियों और बिरादरियों के भेद दिखाने होंगे। यदि हम हिन्दू संस्कृति की बात करते हैं तो हमें हिन्दुओं के अन्दर अलग अलग जातीय संस्कृतियों की भी बात करनी होगी। वास्तव में साम्प्रदायिकता के पुजारी जिस तरह संस्कृति शब्द का उपयोग करते हैं, उस तरह हमें मानना होगा कि हिन्दुओं की अलग अलग जातियों की अलग संस्कृतियां हैं, जिनमें से हर एक की अपनी अपनी विशेषताएं हैं और मुसलमानों की भी अलग अलग सामाजिक श्रेणियों में और अलग अलग प्रान्तों में अलग अलग संस्कृतियां और विशेषताएं दिखाई देंगी। ऐसी हालत में हिन्दू संस्कृति और मुसलिम संस्कृति की बात करना बिलकुल बे मायने है।

भारत की संस्कृति एक संस्कृति है, ठीक उसी तरह जिस तरह भारत एक देश है और भारतवासी एक राष्ट्र है। ज़्यादा से ज़्यादा यह कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति के अलग अलग युग और अलग अलग पहलू हैं। निस्सन्देह यह सच है कि इस देश में अलग अलग धर्मों के लोग हैं, जिनके एक दर्जे तक अलग अलग समाज हैं। लेकिन इन भेदों के होते हुए भी इन अलग अलग मज़हबों और समाजों ने अनेक तरह से एक दूसरे पर असर डाला

है। इस सच्चाई से कोई भी इनकार नहीं कर सकता कि हिन्दू विचारों का तरह तरह से सूफी विचारों पर असर पड़ा है और ठीक उसी तरह हिन्दुओं के सुधार आन्दोलनों पर इसलाम का असर पड़ा है। आपस के इस सांस्कृतिक मेल का ही नतीजा है कि बख्तावर सिंह और ग़ाज़ी राम जैसे हिन्दुओं के नाम होते हैं और बाबू लाल, शेख़ मोहम्मद लाल,[३०] रामदयाल और देवजी पीरज़ी जैसे मुसलमानों के नाम होते हैं। बंगाल के मुसलमान किसानों में काली, दुःखी, कन्हई और तीनकौड़ी जैसे नाम भी होते हैं। बहुत से भारतीय मुसलमानों के नाम इसलाम से पहले के ईरानी नाम हैं। बहुत सों के इसलाम से पहले के अरबी नाम हैं जैसे रुस्तमख़ाँ, हातिमताई इत्यादि। बहुत से ऐसे रस्म रिवाज जो हिन्दुस्तान के मुसलमानों में पाये जाते हैं और हिन्दुओं में नहीं पाये जाते और जिन्हें मुसलिम संस्कृति के अङ्ग बताया जाता है, वास्तव में इसलाम से पहले के अरब और ईरान के रिवाज हैं, जैसे चटाई या फर्श पर बैठकर खाना ज़रथुस्त्री रिवाज था।[३१] पुराने ज़माने के हिन्दू एक नीची छोटी लकड़ी की तिपाई पर खाना रखकर खाया करते थे, जैसा कि अभी तक पंजाब और राजपूताने में खाते हैं। मिलते वक्त हाथ मिलाने का रिवाज भी किसी न किसी शक्ल में प्राचीन भारत में मौजूद था। जहां तक जनता का सम्बन्ध है बङ्गाल में 'सत्य पीर' की पूजा, युक्त प्रान्त में 'ग़ाज़ी मियां' और 'पांच पीर' की पूजा, इसी तरह पंजाब[३२] में किसी और पीर की पूजा और आमतौर पर देश में पीरों के लिये भक्ति; चेचक की देवी 'शीतला' की पूजा[३३] 'ओला बीबी' की पूजा और सुन्दर बन में 'बन-बीबी' की पूजा, इन सबका, हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों में एक समान रिवाज है। एक विचित्र बात यह है कि 'ओला बीबी' और 'बन बीबी' इन दोनों देवियों के पुरोहित केवल मुसलमान ही होते हैं। इसके अलावा जिन तरीक़ों की वजह से हिन्दुस्तान के मुसलमान हिन्दुओं से अलग पहचाने जा सकते हैं वे अधिकतर ग़ैर इसलामी ईरानी तरीक़े हैं।

इस प्रकार यदि हम भारतीय सभ्यता के सब पहलुओं को मिलाकर देखें तो यह नहीं कहा जा सकता कि इस देश में अलग अलग संस्कृतियां एक साथ एक दूसरे के पास पास मौजूद हैं। यहां पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि जिस चीज़ को हिन्दू संस्कृति कहा जाता है उसका कितना अंश भारतीय है, और जिसे भारतीय मुसलिम संस्कृति कहा जाता है उसका कितना अंश हिन्दुस्तान से बाहर का है? यदि कुछ ऊपरी रस्मों और रिवाजों की बिना पर साम्प्रदायिकता के पुजारी भारतीय सभ्यता को टुकड़ों में बाटना चाहें और उसकी बिना पर एक दूसरे के गले काटने लगें, तो अन्त में छान बीन करते करते हमें यह मानना पड़ेगा कि ये ऊपरी फर्क़ की चीज़ें या रिवाज शुद्ध अशुद्ध, पाक-नापाक जादू टोने इत्यादि के प्रारम्भिक विचारों पर क़ायम हैं। किन्तु कोई क़ौम जितनी ज्यादा सभ्य या 'संस्कृत' होती जाती है उतना ही वह इस तरह के प्रारम्भिक विचारों और विश्वासों से ऊपर उठती जाती है। सच यह है कि हिन्दुस्तान की सभ्यता इस मामले में अभी मध्य-कालीन युग से बाहर नहीं निकली। अत्यन्त पुराने समय के सब रिवाजों और रूढ़ियों को हम नित्य और सनातन कहकर पुकारते हैं। और ऐसा ही समझते हैं। भारतवर्ष और औद्योगिक यूरोप में यही बड़ा फर्क़ है; एक अभी तक एक युग में है और दूसरा दूसरे में। इसी को हिन्दुस्तान अपनी विशेषता समझ बैठा है! किन्तु जब यह देश उन्नति करेगा और औद्योगिक मैदानों में

---

३० Ram Babu Saxena—A History of Urdu Litrature.

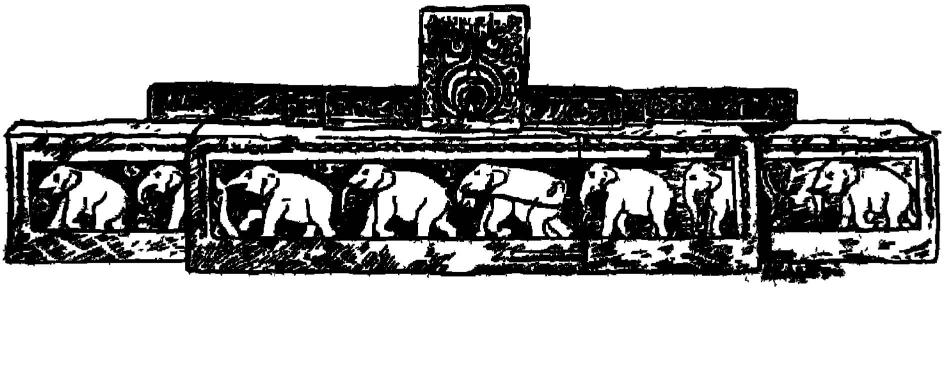
३१ Dr. Dhalla—Zoroastrian Civilization.

३२ राहुल सांकृत्यायन—मेरी लद्दाख यात्रा।

३३ एक मित्र के अनुसार इलाहाबाद ज़िले में कबे में भी हिन्दू मुसलमान दोनों शीतला देवी की पूजा को जाते हैं और जहां के पण्डे हिन्दू और मुसलमान दोनों हैं।

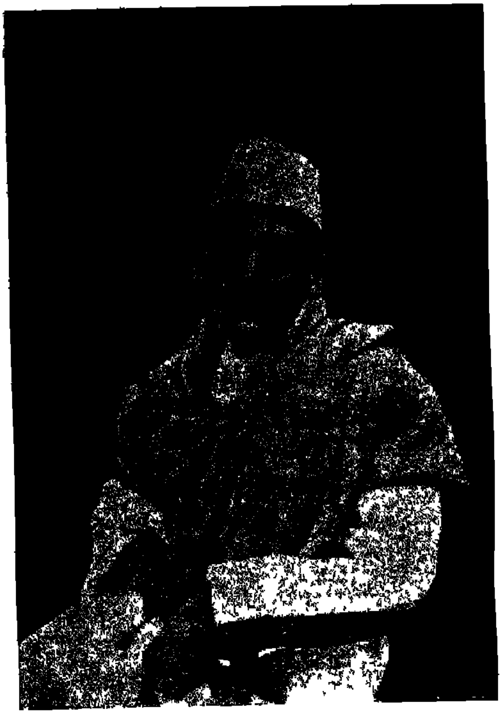
आगे बढ़ेगा तो उस समय की सामाजिक शक्तियां नई समाजिक नैतिक व्यवस्था को जन्म देंगी और दुनिया के बारे में हमारे नये विचार होंगे।

इस तरह हमारी आशा भविष्य पर है। हमें अपनी हर रूढ़ि या *रिवाज को नित्य और स्थायी नहीं समझ* लेना चाहिये और न अपनी कठिनाइयों के हल से निराश होना चाहिये। मनुष्य समाज एक सदा तेज़ी से आगे बढ़ते रहने वाली चीज़ है। जो समाज इस तरह से नहीं बढ़ता वह दुनियाँ के जीवन संग्राम मे रास्ते से भटक जाता है। भारत को यदि उसकी इस मृतःप्राय अवस्था से बाहर नहीं निकाला जा सकता, यदि भारत अपनी समस्त पुरानी रूढ़ियों को चिपटा रहा, तो वह इस दुनिया में सदा के लिये जीवन के मार्ग मे हटाकर एक ओर फेंक दिया जायगा। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने भूतकाल के ही राग न अलापते रहें और प्राचीनतम ज़माने की रूढ़ियों को ईश्वरीय मान कर न चिपटे रहें, बल्कि दुनिया के इतिहास पर नज़र डालें। इस बात को समझें कि दुनिया की सभ्यता और सामाजिक संस्थायें कभी एक सी नहीं रहतीं बल्कि सदा तेज़ी से बदलती रहती हैं। नये भारत को काल और *वस्तुस्थिति के अनुसार नई संस्थायें विकसित* करनी होंगी। हमारी आशा नव भारत पर अवलम्बित है। वही भविष्य की रचना करेगा। हमें पुरानी भारतीय संस्कृति या इस समय की भारतीय संस्कृति पर ही नहीं अटकना चाहिये, बल्कि भविष्य की तरफ़ और भावी संस्कृति की तरफ निगाह डालना और उसी का विचार करना चाहिये। हमारे सौभाग्य से नव भारत ने इस तत्व को जान लिया है। हमे पुरानी रूढ़ि पूजा के खण्डहरों को साफ कर देना होगा। हमें अब "भारतीय संस्कृति" के भावी रूप की ही बात सोचनी चाहिये। उस भारतीय संस्कृति की जो सदा एक और अखंड रही है और एक और अखंड ही रहेगी।



मुहब्बत का रङ्ग

पंडित माखनलाल चतुर्वेदी



[इस कहानी के पीछे भी एक लम्बी कहानी है। परिडत जी ने इसे बिलासपुर डिस्ट्रिक्ट जेल में सन १६२१ में राजबन्दी की स्थिति में लिखा था। वहीं से परिडत बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के पास 'प्रभा' में प्रकाशित होने के लिये भेजा। परिडत जी के पास इसकी कोई दूसरी प्रतिलिपि न थी और दुर्भाग्य से 'प्रभा' कार्यालय से यह बिना छपे ही खो गई।

कहानी खोगई किन्तु कहानी का प्लाट परिडत जी की स्मृति में चक्कर काटता रहा। सन १६३० में जब परिडत जी जबलपुर सेण्ट्रल जेल में थे, तब उन्होंने दुबारा इस कहानी को लिखा और श्री हरि प्रसाद जी के द्वारा 'विशाल भारत' में प्रकाशित होने को भेजा, किन्तु दुर्भाग्यवश कहानी फिर लापता हो गई। ऊब कर परिडत जी ने कहानी का कथानक एक तरुण मित्र को दिया, पर वे उस कथानक के साथ समुचित न्याय न कर पाये। अन्त में मार्च सन १६४० में परिडत जी ने तीसरी बार इस कहानी को काग़ज़ पर उतारा। इस तरह २० वर्षों के बाद अपने चौथे जन्म में यह कहानी हिन्दी पाठकों के सामने आ रही है।]

(१)

छरहरा जवान। गोरा बदन। चेचक के दाग़। कानों में सोने के दो बहुत पतले बाले पड़े हुए। आंखों में कल रात काजल लगाया था, जो अभी, दूसरे दिन के तीसरे पहर तक धुला नहीं था, मानों खाये हुए प्याज की बू हो, जो मिटने के लिये और वक्त मांगती हो। मांग पट्टी के बाल। हाथ में चांदी की, एक कांच का टुकड़ा लगी हुई अंगूठी। बोलने में उबासी आ रही थी, मानों कहीं से थक कर आया हो, और सोने की तैयारियां कर रहा हो। कुछ गुस्सैल स्वभाव,—मानों सारा संसार उसके रूप को हाट में रहन रखा हुआ हो। गर्व से कुछ बनकर, कुछ मटक कर चलने की आदत। बैलों जैसे कांधे हिलें, और हाथी जैसे बेकाबू पांव धूलवाली सड़क पर पड़ें कि धुएं जैसी कुछ धूल मुंह तक उड़े, और अंगारे जैसे पांवों पर कुछ धूल राख जैसी चढ़ जाय। आदमी होकर, ज़रा में चिढ़ पड़ने, और थोड़े में रो पड़ने की आदत। झट से चमक उठने का स्वभाव। अपनी औरों पर की हुई भलाइयों की लांबी फेहरिस्त अपनी स्मृति की जेब में, किन्तु उससे दस गुनी बड़ी औरों द्वारा अपने पर किये गये अपकारों की फेहरिस्त। और इस बात का अल्हड़ अज्ञान कि अपकारों के औरों द्वारा होने पर भी, उपकारों की फेहरिस्त अपनी ही तबीयत में छोटी होने के क्या मानी होते हैं। बनकर, सजधज कर, शहर की बीच सड़क पर से निकलने का स्वभाव। विदेशी व स्वदेशी और सर्वदेशी के भाव से परे, बिलकुल ठेठ देसी। बो पतली, लाल किनारेदार, पर दाहिने

घुटने पर पैबन्द वाली धोती। कुरता ज़रा कुछ मैला-सा, पर सफेद मलमल का, जिसके नीचे लाल रेशम की जाकिट। सफेद कुरता मैल से, और रेशम की जाकिट से संयुक्त झाई खाकर, सफेद कम दीखे, बैंगनी ज़्यादः। पान ठूसकर खाने, उसकी लाली की अंगुलियां दीवारों पर पोछने, और उससे बिगड़े ओंठ, कुरते से, सभाल कर पोंछने की दक्षता! ओंठों पर पानी। मूछों का कुछ कुछ आरोप-सा हो ऐसी उम्र,—शायद मर्दाने कपड़े बदन पर होने के कारण। मोगली जुल्फ रखने की ख़बरदारी, और मुड़ी जुल्फ के गालों पर आने पर, उन्हें मुड़ा हुआ रखने के लिये, पीले चन्दन की, दोनों गालों पर दो बूंदें। सिर पर पाग, ज़रा टेढ़ी बनक कुछ इन्दौरी। रियासत अनुराधा पुर के निवासियों के सर पर प्रायः ऐसी ही पाग होती है। पाग का रंग मोतिया, पीलेपन की झाई मारता हुआ। किन्तु उसकी नोक पर, कपाल पर लटकने वाली नई सभ्यता की 'द्वितीय चोटी' की कृपा से, तेल की कालिमा। दांतों में, सोने की कीलें। हाथ में, अंगुलियों की पोरों पर मेंहदी लगी हुई। प्रश्न पूछने पर, गुर्राकर घूरने, उपेक्षा से जवाब देने, और फिर शरमा जाने का लहजा। हाथ में बुंदेलखंडी लाठी, पूरबी नहीं जिसमें ऊंची गांठें होती हैं, और नीचे लोहे की सिमियां लगी होती हैं। सीधी, सादी, पोली लाठी, जिसमें ऊपर सूत का, श्रावण की राखी फैशन का, रंगीन फुंदा लगा हुआ, और बीच बीच में चार चमड़े के बन्द लगे हुए। ठिगना क़द, उम्र को छुपाने का संयुक्त हथियार सा; आकर्षण का विक्रम अमर रखने का रामबान नुसख़ा सा। देखने में गुस्सा, किन्तु बोलने में मुसकाहट; मानों सतपुड़ा की इन दो घाटियों के बीच, कोई समथर ज़मीन ही न हो, जहां स्टेशन बन सके, और आदत की गाड़ी ठहर सके। पड़ौस में रहने वाले जालौन गांव के मालगुज़ार के बिगड़ैल लड़के द्वारा फेंके हुए, काग़ज़ के चित्रों वाले सिगरेट केसों को जेब में सभाल कर रखने की सावधानता। कपड़े रंगने और उन्हें सवारने की अच्छी थियोरेटिकल जानकारी, और उस पर जहां तहां मुंह मारना। गुलेल रखने, और उसे अपनी नज़र ही की तरह, बेगुनाहों पर, छुपकर आज़माने की कुछ सफल, और अधिक असफल आदत।

और यह कहानी, मैं उन लोगों के लिये तो लिख ही नहीं रहा जिन्हें दुनिया में फ़ुरसत नहीं है; या फ़ुरसत कम है। इसका चरित्र नायक कोई हो, पाठक किसी को भी मानें, किन्तु इसका पाठक, और इसका आत्मा तो वही हो, जिसे जल्दी नहीं पड़ी है।

हां तो, कपड़े रंगने की जानकारी, मगर जात तेली। नाम भोला, वल्द बच्चू। साकिन अनुराधा पुर राज का अनुराधापुर शहर। किराये से गाड़ी चलाने का रोज़गार। अनुराधा पुर, गांव होकर, 'राज' होने से शहर। महल में शहर चमके, सड़कों पर गांव। रेल से दूर—६७ मील। हीरापुर स्टेशन से बैलगाड़ी चौथे दिन पहुंचे। सड़क कच्ची।

(२)

तो सुस्ती किस बात की आती है? नसीबन ने कहा, ज़रा संभल कर यों सोचते हुए, मानों अपना हक़ आजमाती हो।

रमज़ान बोला, तुम तो बस वैसी ही हो, बेल जैसी—बेर देखा न बबूल, सर चढ़ने को दौड़ पड़ीं।

जो लिपटता है, वह तो सर तक चढ़ेगा ही। कांटे में बदन कंटवाना, क्या कोई यूं ही अपना रोज़गार बनायेगा। दस बीस चुभने वाली बातें सुनाते हो, और फिर सफेद लम्बी डाढ़ी हिलाकर मुसकरा देते हो—यह सर चढ़ाने का न्यौता जो देते हो—अरे हां। जानते हो, आख़िर लड़का है! उसमान फ़ौत हुआ है, तब उसे मुंह लगा रखा है। और आज ज़रा सी बात पर उसे नाराज़ करते हो। खिलौना तुम न ले दोगे, तो कौन लेदेगा!

रमज़ान रंगरेज़ है। नसीबन उसकी स्त्री है—रंग रेज़िन। उनके एक ही एकलौता लड़का था—उसमान। कोई ११ बरस हुए वह आठ बरस की उमर में मर गया। करीमन, उसमान की मां, और रमज़ान की दूसरी औरत, सौर से बाहर होते ही मर चुकी थी। उसमान को, उसकी 'बड़ी मां' नसीबन ने

पाला था। उसमान के मरने के बाद, रमजान की तबीयत कहीं नहीं लगती थी। वह कपड़े रंगता तो, हौज़ों के बने रंग की तरफ ही देखता रहता, और तीसरे पहर से शाम हो जाती। रंगे कपड़े सुखाते समय दरख्तों की तरफ देखता तो, दरख्तों, उनकी डालियों, उनके पत्तों, और दरख्त पर बैठे पक्षियों की तरफ ही देखता रह जाता। नसीबन ने देखा, पुत्र शोक, एक ऐसा नाला है, जो उतरती उम्र के रमज़ान से लांघा न जायगा। उसने रमजान की याद के पैर रखने, और सकट के आरपार आने जाने के लिये, एक सजीव पुल ढूंढ दिया। वह था—बच्चू तेली का लड़का भोला। बड़ी बड़ी आंखें, गोरा बदन, कोई १०–११ बरस की उमर। रमजान से बाबा कहता। और मुहल्ले में यदि कोई उसे डाटता तो रमजान से आकर लिपट जाता। एक खूंटे से बंधते बंधते पशुओं को, घर और घरवालों से मुहब्बत हो आती है; भोला तो आदमी का बेटा था।

(३)

अब भोला बीस वर्ष का हो चला था। वह रमज़ान से जब बोलता, अधिकार की भाषा में। रमज़ान दिन भर उससे विनोद करता रहता। विनोद ऐसी तदबीर की, जिससे भोला की बेवकूफी की बातें टालने में सहारा मिलता, देरी से की जा सकने वाली बातों को जल्दी से करने की जिद करने पर देरी लगाने के लिये समय निकल आता, और किसी अटपटी और अनहोनी सी बात की ज़िद यदि भोला करता, तो विनोद वह समय का वह खाली मैदान था, जो समस्याओं पर सोचने और उन्हें सुलझाने का समय दे देता। विनोद, अकरणीय कार्यों पर, न करने की बात कहने पर, जी पर ठेस न लगने देने, अधिकार का सिंहासन डावाडोल न होने देने, और चेहरे पर गुस्से से शिकन न पड़ने देने का मुलायम मसाला था।

भोला को उसके एक दोस्त ने न्यौता दिया है कि, अनुराधापुर रियासत से लगी, विशाखापुर रियासत के एक गांव, सोनामाटी को, वह अपने दोस्त की बारात में आवे। तारुण्य, बारात में जाना, मित्र का न्यौता, जाति में 'कुछ हूं' दिखलाने की साध, और खूबसूरती—इन सबके साथ अगर हो चरम दारिद्र्य, तो वह गावों-खेड़ों की, खून में रवानी और बदन पर मांस रखने वाली तरुणाई को, मौत के घाट ले जाने तक विद्रोहिनी बना डालता है! भोला, अपने चाचा के यहां रहता था, जो ग़रीब था, और चोरी के अपराध में दो बार सज़ा पा चुका था। उसके न मा थी, न उसके बाप था। नसीबन ही उसकी अम्मा थी, और रमज़ान उसका बाबा। अधिकार की यह बुरी आदत है कि वह अपनी मर्यादा सदैव ही लांघता आया है।

आज, रमजान से भोला ने कहा—बाबा, आज हमारी पगिया रँग दो।

'वाह रे लाट साहब के बेटे, न ढंग के कपड़े, न पैरों में जूतियां, और पगिया रँग दो!' जबाब पाया।

ना बाबा, जूतों में तो तेल देकर रख दिया है। जूते तो खरीद लिये। कपड़े को रेशम की 'जाकट' क्या बुरी है—हां मलमल का कुरता मैला है, उसे मैं धो लूंगा। न हो, उसे भी तुम रँग दो।

'रँग दो! अरे लाट साहब, शादी तेरी है, या तेरे दोस्त की! ब्याह में रँगा कुरता तो दूल्हा पेहना करता है। तेरा कुरता कैसे 'रँग दो'। बारात में जाकर तो तू दुलहिन मांगने लगेगा।

भोला या तो खुश होना जानता था, या गुस्सा होना। विवेक का कोई मध्य बिन्दु उसके स्वभाव के ठहरने के लिये न था! उसने अपनी बाजी गिरती देख, नसीबन से कहा—देखा न अम्मा तुमने! आज बाबा, मेरी बात के पैर न जमने देंगे।

रमजान ने क़हक़हा लगाया—अरे तेरी बात के पैर न सिर, जमें तो कौन जमे, और कैसे जमें।

नसीबन ने कहा—अच्छा कुरता न रँगो। वह दूल्हा का ही रँगा रहने दो। पगिया तो उसकी रँग दो।

और भोला की ओर मुखातिब होकर कहा—

बेटा, तेरी पाग ले आ।

पुरुष पर स्त्री के अधिकार की बात पर, मानव जन्म से ही विश्वास करता है। भोला तो बरसों की २० वीं २१ वीं सीढ़ी पर था।

नसीबन उठी, उसने हुक्के में तम्बाकू भरी। अंगारे चढ़ाये। हुक्के की नाल, अपनी ही फूंक से ठीक की। और रंगीन घर की उस साम्राज्ञी ने, तम्बाकू की वह नियामत अपने बूढ़े सम्राट के सामने पेश की।

रमज़ान ज़रा खांसा, फिर उसने अपना मुंह अपने गले पर पड़े गमछे से पोंछा, और हुक्के की गुड़गुडी मुंह में लेकर धीरे धीरे इस तरह गुड़गुड़ाने लगा, मानों जाड़े के दिनों, देर से लौटकर आया हुआ कबूतर, अपने घोंसले में, अपने परिवार को पंखों में दबा, प्यार से गुरगुरा रहा हो।

बचपन में, एक स्वस्थ बच्चा, अनेक बड़े आदमियों की दौड़ और फुर्ती अपने में रखता है। हुक्के की तम्बाकू अभी सुलगी भी न थी, कि भोला अपनी पाग लेकर आ गया। और उसे रमज़ान के पैरों पर फेंक दिया—मानों वह उसकी आत्ममर्यादा हो, जो पगिया रँगवा लेने के लिये रिश्वत की तरह, पैरों पर बिखेरा गया हो।

रमज़ान ने हुक्के की गुड़गुडी मुंह से न हटाते हुए, पाग समेटी, और उपेक्षा से नसीबन की तरफ फेंकी। और कहा—यही आठ-नौ जगह फटी पगिया है न, जिसे महज़ अच्छा रँग देने से वह इस तेली के बेटे को, ब्याह में रँगीला दीखने वाला छैला बना देगी।

"देखो अम्मा, बाबा कैसी बातें करते हैं"—भोला ने कुढ़कर कहा। और आंसू बहाते हुये अपनी पाग खुद समेटने लगा।

नसीबन बोली—ठहर, ज़रा ठहर तो। आंसुओं से रँगने से तो यह पाग, रंगीन होने से रही। इसे तो रँग से ही रँगना होगा। अच्छा कौनसा रंग चाहिये पाग का?

भोला बोला—बनिया बैठने तो देता नहीं, और कहे भुकता या तौलना! बाबा कुछ बोलें भी तो!

अरे तो बाबा के बेटे, आज तो रंग तैयार नहीं है। रंग के तैयार करने में चौबीस घण्टे लगेंगे। वक्त की घड़िया भी क्या कोई बिस्तरा है, जिसे जब चाहा लपेट लिया, और जब चाहा फैला दिया! और तेरी अम्मा क्या हो गई—

'मैंने तो अभी कुछ नहीं कहा'—नसीबन ने ज़रा तमक कर कहा। और कहा, यह चीनी मिट्टी की माट में रंग तैयार जो रखा है!'

रमज़ान, ज़रा खांसकर बोला—यह तो मोतिया रंग है।

भोला का मन, निराशा के बरसाती नाले में डूबते, थाह पा गया। बोला—मुझे भी तो मोतिया रँग का ही पाग चाहिये।

नसीबन बोली—लो अब तो रंग दो!

रमज़ान ने हुक्का हटा दिया। और अपनी मिरजई के बन्द खोलते हुए बोला—भोला लड़का है। मगर तुम तो नन्हीं नहीं हो। जानती हो कि वह चीनी मट्टी की माठ है। रियासत के फरमारवा की पागें रँगने के लिये वह रंग तैयार किया गया है। घोड़ा बादशाह का हिन हिनाये और कल्लू मोदी अपनी खुड़जी उस पर रखने दौड़े,—अजब मसल है! भोला को बारात में क्या जाना है, तुम्हें उसे सिंगारने के लिये चारों खूंट जागीर भी छोटी मालूम होती है।

नसीबन ने, पगिया उठाई और पानी में भिगोने लगी।

भोला बोला—अम्मा, मैं एक तो पगिया मोतिया रंग में रँगवाऊंगा, दूसरे बाबा जान, मुझे मेरी पाग वैसे ही बांध कर देंगे, जैसी नवाब साहिब की पागें बांधा करते हैं और तीसरे स्वयं बाबा रँगेंगे, तो पगिया रँगी जायगी—नहीं तो भोला बारात न जायगा।

सन्धि की शर्तें रखदी गईं। बूढ़ा रमज़ान, अपना निर्मल हास्य बखेर कर बोला—बादशाह सलामत की पागें, भिनसारी रात रँगी जायंगी। और तेरी तो पहले रंगी जानी चाहिये। फिर नसीबन से बूढ़ा

बोला—यह क्या मजाक करती हो ? यह पगिया कैसे रँगी जायगी ?

नसीबन बोली—नवाब साहब की पगिया ज़िन्दगी भर रंगी है, और ज़िन्दगी भर रँगेंगे। क्या उस रंग में एक डोब, किसी ग़रीब की पगिया को नहीं मिल सकता ? और आखिर नवाब साहब की पागें भी तो तुम्हीं बधी-बंधाई, डब्बों में बन्द करके दोगे ? तब क्यों न तुम, एक पाग इस 'छोरे' की, उसी ढब पर बांध दो।

रमजान चिढ़ा—बोला औरत जात जो हो ! क्या जानो नमक की कीमत, और रोटियों के हीले को। मैं तो रईस की पाग के रँग में, भोला की पाग नहीं डुबोऊंगा।

नसीबन ऐसे चौंकी, जैसे उसकी आखें खुल गई। बोली तुम मर्द हो।

और भोला की पाग उठाकर गीली ही, भोला के पास फेंक दी। और कहा जारे बेटा। बिना माँ बाप के छोरों को, पाग रँगते वक्त रगरेज भी यह मालूम कर देना चाहते हैं, कि वे बिना मा बाप के हैं, और ग़रीब हैं। ग़रीब, ग़रीब को धुतकारे, और अमीर अमीर की सी कहे, इसे दुनियां कहते हैं।

भोला के मुंह को लकवा मार गया। गीली पाग, नसीबन की देहरी पर ही पड़ी छोड़कर वह चुपचाप चला गया।

(४)

रमज़ान बोला—लड़के की आंखों पर गुस्सा भरा था।

नसीबन ने कहा—गुस्सा किस पर करेगा अभागा।

रमज़ान - क्यों ?

नसीबन—पूछने क्यों हो ? पगड़ी पीछे बारह आने ही तो मिलते हैं। इन पैसों भी क्या भोला महंगा है ?

रमज़ान—वह रईस है। उसके रंग में मैं इसकी पाग कैसे डुबा दूँ ?

नसीबन—कैसे ? वैसे ही, जैसे मैं ज़रूरत पड़ने पर अपने बेटे उसमान की पाग डुबो देती। उसमान—

बूटा दिल उठा—उसमान !

नसीबन ने कहा—भोला ने तुमसे उसमान का दुलार पाया है। तब आज पाग रँगवाने और बधवाने कहा जावे।

(५)

दलील वजनदार थी। हाईकोर्ट का फैसला था। दावा मय ख़र्चे के स्वीकृत हो गया।

× × ×

अनुराधापुर के रईस, सोना माटी के पास के अपनी रियासत के गाव, गोलन डोह से शिकार करके लौट रहे थे। नवाब साहब के साथ, धारनी गढ़ के राजा शार्दूल सिंह, दो शिकारी, दो सरदार, और एक घुड़सवारों की टुकड़ी थी। जब मोहन पुर के नाले से, सरकारी सवारी गुजर रही थी, तब बैल-गाड़ियों के पास खड़े लोगों के झुण्ड के बीच, एक गोरे से छोकड़े को उन्होंने अपनी सी, ठीक अपनी सी पाग बाधे देखा। पाग का बाँध वही था, बनक वही थी, पेच वैसे ही कसे थे, रंग भी वही था। रईस ने अपने सर से पाग उतारी और देखा। यह रईस की पाग थी, जो सर से उतर रही थी। दोनों मिलाया ! दो पागें, एक भीड़ में खड़े किसी ख़ूबसूरत उठाईगीरे की और दूसरी अपनी--दोनों, आपस में, अगर राई बढ़ती न थीं, तो तिल घटने के लिये भी तैयार न थीं। दुखती चोट, और अनहोना दुर्भाग्य मानों ऐसी चीज़ें हैं जो होकर रहें। जब रईस ने अपनी पाग उतारी तब भोला मुसकरा दिया। दो घंटे के बाद जिबह किये जाने वाले जानवर भी हरी घास को, बड़े स्वाद से खाते हैं।

एक सिपाही घोड़े से उतरा। उसने नाले की घाटी पर चढ़ती हुई बैलगाड़ियों को रास्ते ही में ठहराया। उन सब गाड़ियों में तीन ऊपर चढ़ चुकी थीं। दो घाटी से फिसलकर नाले में वापस नीचे आ गिरी थीं। और दो अभी चढ़ी ही न थीं। अब इसके बाद से पूछ ताछ शुरू हुई।

किस गांव की बारात है ?

अनुराधापुर की ग़रीब परवर !

कौन ज़ात हो ?

तेली सरकार !

क्या पेशा करते हो ?

अपना ही पेशा—तेल बेंचते हैं !

कहां जा रहे हो ?

घर—अनुराधापुर ही तो चल रहे हैं।

फिर, मोलिया पाग के छैल छबीले की तरफ़ घूम कर, सिपाही पूछने लगा—

तू कहा रहता है बे लौंडे ?

वहीं अनुराधापुर !

किसका लौंडा है ?

तेली का लड़का हूं।

क्या नाम है तेरा ?

भोला।

बाप का नाम

बच्चू

तेरा बाप क्या करता है ?

दूल्हे के बाप ने, बीच ही में कहा, इसके मा बाप कोई नहीं है सरकार। ग़रीब है बेचारा।

सिपाही ने फिर पूछा—

तेरी पाग किस रँगरेज़ ने रँगी है बे ?

रमज़ान बब्बा ने।

सिपाही ने भट से पाग उतारी और एक सा रंग, एक सी बनक, एक सी सुन्दरता देखकर भी यह ग़रीब की पाग थी, जिसे सिर से सदा के लिये उतारते हुए भी, सिपाही के हाथ में, झिझक की जगह न थी ! सिपाही ने घूर कर लड़के को इस तरह देखा, मानों खा जायगा। भोला सहम गया।

दोपहर होता आ रहा था। मज़दूर, खेतों में गेहूं काटने में जुटे हुए थे। छोटे बच्चे, पशु धन को पानी पिलाने नाले पर ले जा रहे थे। आमों के मौर महँक भी रहे थे, और झर भी रहे थे। सड़क की धूल उड़कर, राहगीरों के मुंह, उनकी आंखों और आंखों की पलकों के बालों तक को मटमैला किये हुए थी। गांव की मज़दूरिनें, गेहूं की पूलें बांधते हुए गा रही थीं—

जी में एक पहेली बूझी
दुनिया आज हरी कल सूखी।

और शास्त्रों को रटे हुए पण्डित जी गेहूं के फूलों की भीख मागते हुए, एक हाथ में सुलगी हुई चिलम और बगल में डंडा दबाये अपने ज्ञान को तुलसी की इस वाणी के द्वारा औंधाये चले जा रहे थे।

'धरा को सुभाव इहै तुलसी
जो फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना'

और खेतों में, छोटे छोटे बच्चे, वृक्षों पर चहकते पक्षियों को ढेले मार मार कर उड़ा रहे थे। हर इंच, हर मंज़िल, दर पर दर, और पग पर पग, मौसम की तरह बैल गाड़िया धीरे धीरे चली जा रही थीं।

(७)

सीतलासहाय कास्टेबल रमज़ान को खोजता हुआ बोला—चलो बब्बा तुम्हें दरबार ने बुलाया है !

नवीबन ने पूछा—क्या नबाब साहब बहादुर आ गये।

सिपाही—हा, अभी लौटे हैं।

रमज़ान—हमारा रईस बड़ा नामी है। परखू कहीं पागें देखी, तबियत बहाल हो गई। फरमाया—इस बार पागों की रंगाई नहीं मिलेगी, इनाम मिलेगा। रमज़ान बब्बा, धारनीगढ के राजा साहब, इन पागों की रंगाई-बधाई देखकर बाग़ बाग़ हो गये हैं। कल आकर इनआम ले जाना। सो उसी का बुलावा आया दीखे है। यह कहकर, कास्टेबल से कहा—हवालदार साहब, बैठो, चलता हूं।

हवलदार बोला—सरकार ने जल्दी ही याद किया है। चलो। वे इस वक्त दफ़्तर में हैं।

रमज़ान ने मिरजई पहनी। वह उसके पास उसके ईमान की तरह एक थी। जिस पर, उसकी बात की तरह एक ही रंग चढा था। और उसके अनुभव की तरह पुरानी थी। और डाढ़ी पर हाथ फेर कर, वह

अपने पेट की मजबूरी की लाचारी से रँगे हाथों, चल पड़ा महल की तरफ।

× × ×

फरमा रवां, कुर्सी पर बैठे थे। और एक टेबल पर सजाकर ६ पागें रखी थीं। कहना न होगा, कि इन छै पागों में से रईस की एक पाग, हटा दी गई थी, और भोला के सर से उतारी हुई पाग, इनमें मिलाकर रख दी गई थी। नवाब साहब ने पूछा—ये सब पागें हमारी ही हैं न रमज़ान?

रमज़ान—आप ही की तो दीखती हैं हुज़ूर छै पागें ही तो परसू रंग कर, ख़ादिम दे गया था।

नवाब—तब, तुम चोर हो, बेईमान हो।

रमज़ान का स्वभाव, इस वक्त आंवलों की मोट था, जो फैल गया था, और समेटे न सिमट रहा था। उसने धीरज संभाला और कहा—

रमज़ान से हुज़ूर का नमक खाया है। उसकी पीढ़ियों में बेईमानी नहीं है।

नवाब—दरबार के पागों की धुलाई रंगाई बधाई तुम्हें क्या दी जाती रही है?—

रमज़ान—बारह आना फ़ी पाग ग़रीब परवर

नवाब—और उस तेली के लौंडे ने क्या धुलाई दी थी।

रमज़ान की गांठ अब सुलझ गई। वह धीरज से बोला हुज़ूर वह छोटा सा बच्चा है।

धारनीगढ़ के राजा ने इसी वक्त कहा—आपका रँगरेज़ आपको भी छोटा बच्चा समझता है, और बहलाने की कोशिश कर रहा है!

नवाब—बेईमान, साफ़ साफ़ बता। तेली के लौंडे की पाग का रंग, और बनक, दरबार की पाग के रंग की क्यों है?

रमज़ान—ख़ता माफ हो सरकार, यह नमक का, रोटियों का, रंग है, और वह मुहब्बत का रंग है। वह मेरे बेटे की तरह है।

इरादों के काले, ज़बान के खूंख़ार, क़लम के शाहंसा; पैसों के भरपूर, रहम के खाली, और टूट पड़ने में जंगली जानवर को अधिकारी कहते हैं।

घोड़े का हंटर उठा नवाब ने कहा—मुहब्बत का रंग हरामज़ादे। ले तुझे इस शायरी का मज़ा चखाऊं।

रमज़ान ने छत की तरफ देखा—मानों शैतान के घर में ख़ुदा को ढूंढ़ रहा हो। सिर ऊंचा किया—मानों प्रेम सर्वनाश के समय भी दामों से ऊपर उठ कर खड़ा रहना चाहता हो।

रमजान ने कहा, माफ करो ग़रीब परवर, ग़रीबों को बेटे बेटी समझें अन्नदाता। रईस, समुद्र की तरह इस समय, अपने आवेश में ख़ुद डूब चुका था। रमज़ान पर—

हंटर, फिर हंटर, फिर हंटर! रमज़ान खड़ा रहा। महल के पत्थर पिघल उठना चाहते थे। सारे अधिकारी मानों सोचते थे कि आज राजधानी के सुहाग इन्साफ पर हंटर पड़ रहे हैं। पर बिकी जीभ, और कायर कलेजे से टुकुर-टुकुर देख रहे थे।

चोर हमारी पाग चुराकर उस तेली के लौंडे को दे दी!

रमजान धक्के मार कर निकाल दिया गया। उसकी मिरजई ख़ून से लथ पथ थी।

मसजिद में नमाज पढ़ी जा रही थी। मंदिर में पूजन हो रहा था। गिरजा घर का घंटा बज रहा था। और रमज़ान अनुराधापुर की सड़क पर इस तरह जा रहा था, मानों हिमालय शिखर से ठुकराया हुआ हिम-खंड है, जो गङ्गा बनाता चला जा रहा हो।

गाड़ियां लौटीं कि, ख़बर देने भोला, रमजान बब्बा के घर गया। कान्सटेबल द्वारा बुलावा सुनते ही वह राजमहलों की ओर दौड़ा।

रास्ते में लड़खड़ाता, कराहता, और आंसू और ख़ून साथ साथ टपकाता रमजान मिल गया। उसे ख़ून से लथ पथ देख कर भोला उसके पैरों में लिपट कर बोला यह क्या है बाबा—

रमजान बोला—मुहब्बत का रंग ऐसा ही हुआ करे है बेटा!

पाञ्चाल पथ

श्रीमती सत्यवती मल्लिक

बहिन सत्यवती मल्लिक का शैशव और कौमार्य काश्मीर में ही बीता है। प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच ही उनकी सहज आत्मा विकसित हुई है। उनका हृदय सदा प्रकृति के बीच ही तोष पाता है। प्रस्तुत लेख उनकी डायरी के रूप में लिखा हुआ पांचाल शिखर की यात्रा का वर्णन है, जहां वे गत वर्ष अपने पुत्र चि० केशव मल्लिक और अन्य बाल-मित्रों के साथ गई थीं। रावलपिंडी से श्रीनगर जाते हुए पांचाल शिखर की मनोहर चोटिया देखने का अवसर बहुतों को मिला होगा किन्तु यह बहिन सत्यवती का ही साहस और सौभाग्य था कि वे उस शिखर तक पहुँची।

रावलपिंडी से श्रीनगर, मोटर बस मे
१६ मई, १९४१ ई०

ऊंचे ऊंचे पाचाल शिखर की ओर।

वह धूल धूसरित झाड़ झखाड़, वन बीहड़ों युक्त धरातल, ऊंचे से अब कितना मनोमोहक लगने लगा है।

दोनों ओर के महान भूधरों की विस्तृत ढलान पर जलमग्न खेतियां और चरणों तले मानों अंजलि भरे आरती उतारती-सी चन्द्रभागा।

प्रभात किरणें अभी फूटी नहीं, किन्तु पश्चिम की ओर सुदूर में हिम जड़ित मुकुट धारण किये वे नोकीली चोटिया किस अदृश्य आलोक का आभास पा झलमला उठी हैं!

प्रत्येक मोड़ के बाद उठती ऊंचाई, और उन्हीं गिरि-शृंगों का बढ़ता व्यवधान तनिक भयावना गहन रूप धारण कर रहा है। इस विस्तृत गहनशून्यता के ऊपर एक बड़ा सा पक्षी पख फैलाए मानों अगाध सागर में तैर रहा था।



दो ही दिन में तो, मेरे सिमटे प्राणों ने इतना भव्य रूप! इतनी विराटता पाई है। चूने पत्थरों की प्राचीरों में से सीमित क्षितिज के टुकड़े और गमलों में लगे किंचित फूल पत्तों अथवा कभी कभी उन पर अकेली मंडराने वाली तितली को नित्य प्रति देखते देखते मेरा बद्ध मानस क्या इसी भव्यता के लिये आकुल हो उठता था!

वाणी जहा मौन हो जाती है, पलकें जहां झपक नहीं ले पातीं, तन मन की समस्त क्रियाएं रोमाञ्चित हो केवल दो बूद अश्रु भर लाती हैं; ऐसे पुलक के क्षण मेरे भीतर छा रहे हैं। उस पक्षी के डैनों-सी शक्ति प्राप्त करने को, उन झिलमिलाते किरीटों के अतुल सौन्दर्य को, अमर शान्ति को क्षण भर स्पर्श करने को भुजाएं व्यग्र हो उठती हैं।

पाञ्चाल का काल्पनिक रूप* मेरे बाल नेत्रों के सम्मुख सदा ही निर्मम रहा है। जम्मू काशमीर के ऐन मध्य में हिमपरित ऊंची बृहत् प्राचीर, जिसकी ढलान पर बरफ में दबे कहीं कहीं घोड़े का कान, कहीं पूंछ और कहीं मनुष्यों की अस्थियां, पर पीछे तो स्वयं इस शिखर पर ४० फुट तुषार देखी है। पतझड़ के दिनों में आंसू भर कर अनेक बार विदा ली है, लू से तपते हुए थके हारे यहीं पहुंच कर शीतल सांस ली है—पांचाल शिखर के पास जाते ही सदा ऐसा लगा है कि मानों घट का पट खोल दोनों भुजाएं फैलाये जननी आंचल में लेने को आतुर हो।

किन्तु आज का रुचिर परिधान! ऐसा सौन्दर्य! नेत्र मानों आज कुछ विशेष पा रहे हों। हिम के दोशाले सम्भवतः अभी अभी उठे हैं और उनके स्थान पर श्वेत गुलबहार (डेजी), पीले फूल (बटर कप), जंगली गुलाब हरित पल्लवों पर इठला रहे हैं—नव पल्लव युक्त तरुओं से लिपटी वन लताएं! और इसकी गोद में दुलार पाती हुई नव जात शिशु सी वितस्ता।

× × ×

वर्षों के उपरान्त बहार के दिनों में इस सजला श्यामला भूमि के अन्तर से उठी सौरभमय मत्त पवन, दूर तक खिले लाल पोस्त, श्वेत नीले शोसन के फूल देख देख आल्हादित हो रही हूं—किन्तु जानें क्यों पर्वतों से हटकर नीचे समतल पर अंकुर विहीन धान की जलमग्न खेतियों में बार बार उन किरीटों की प्रतिच्छाया आकर्षित कर रही हैं, मानों रह रह कर—

दूर कहीं अज्ञात दिशा से इङ्गित आवाहन हो

सिङ्खिपुर

१४ जुलाई ५१

बाहर भयङ्कर तूफान! निविड़ नीरव अँधियारी निशा, ऊंचे ऊंचे पेड़ों से घिरा सघन वन। इन्हीं के काष्ठ से निर्मित घोंसले में पड़ी हूं। साथी दिन भर के थके और क्षुधा से विकल हैं। उन्हें मुझसे काफी आशा है। किन्तु इस समय तो हिला तक नहीं जाता। उनमें से दो साहसी व्यक्ति स्वयं ही बड़ा सा पतीला चाय का बना लाये हैं और बाकरखानियां (काशमीरी कुलचे) डाल कर खा रहे हैं। चाय से कुछ नहीं बना तो बादामों पर धावा बोल दिया। यहां आकर पता लगा कि इधर आगे खाने को कुछ भी नहीं मिलेगा। सो मुझे हिसाब लगा कर साथ लाई हुई रसद में से चार दिन की व्यवस्था करनी है। सब्जी में केवल थोड़े से आलू, प्याज, बैंगन और थोड़े से टमाटर हैं। खैर कड़म का साग तो कहीं *मिल ही जायगा* ····

तूफान मानों लकड़ी की दीवार को भेदकर भीतर आना चाहता है। वृक्षों से सांय सांय की भीषण ध्वनि, जिसका आकर्षण ही प्रायः वनों में घेर लाता है, उठ रही है।

साथी सो गए हैं, लैम्प धीमा जल रहा है, ज्योत्सना भरी एवं ग्रह-नक्षत्रों से पूर्ण रात्रियों में वन की शोभा अनेक बार देखी है। किन्तु जी होता है खुली खिड़की में से आज इस झंझा की रात में वसुन्धरा के दृश्य से उठे अत्यन्त गोपनीय द्वन्द को देखती रहूं। इस गहन तमो सागर में हमारा यह घोसला मानो तैर रहा हो। जंगली जानवरों के भय से सहसा खिड़की बन्द कर लेती हूं।

आज का सारा दिन पलट-पलट कर आ रहा है। मोटरबस से बैठे बैठे श्रीनगर से शुपइयाँ तक के ३५ मील, चैत वृक्षों पर झुकी हुई अंगूर की बेलों से शोभित वितस्ता के तीर पर कई गांव ·····

पुनः—

घोड़े सब आगे निकल गये हैं, एक अज्ञात दिशा की ओर। बिना पूरा प्रबन्ध किये चल पड़ने की चिन्ता से घिरी पैदल जा रही हूं। किन्तु आधा मील आगे, जैसे ड्योढी के भीतर क़दम रखते ही वही विराटता। थोड़ी दूर पश्चिम में किसी बबर सिंह की बृहत् पीठ

* जम्मू काशमीर बेनी रोड बनने से पूर्व यह मार्ग पैदल अथवा घोड़ो द्वारा बहुत कठिनता से पार किया जाता था।

के आकार सी चील वृक्षों से घिरी पहाड़ी, नीचे दूर समतल में रेत पत्थरों पर झलकती दो तीन धाराएं।

सहसा एक सुमधुर गीत की गूंज—

आश्चर्यचकित हो चारों ओर देखती हूं, गाने वाले मुझे दिखाई नहीं पड़ते। शब्द भी स्पष्ट नहीं उतरते। एक स्वर पहले ऊंचे से तान भर कर उठता है। पुन. उस एक ही चरण को द्रुतलय में बार बार दुहराते हुए अनेक स्वर। ओह! इन ऊंची मेढ़ों के पार शाली (धान) फूट आई है और वहीं से मानों स्वत मां प्रकृति के मुंह से यह मधुर लय गुञ्जरित हो रही है।

कुछ क़दम आगे—

दीर्घ लय में एक करुण गान। सांझ घिर आई है। अन्तिम किरणें नीचे समतल धाराओं पर, सामने सिंह की पीठ जैसी पहाड़ी पर नव वधू के अंचल सी झलमला रही है। इधर पास ही ढलान पर अखरोट के पेड़ तले तीन व्यक्ति बैठे मस्त तान में गा रहे हैं। इस गीत के अर्थ भी नहीं समझ सकी। किन्तु मेरे मन प्राण रोमाञ्चित हो उठे। नीरव स्थान में संगीत का कितना महत्व है। नदी की छल छल, वायु की सांय सांय, पक्षियों के कलरव की भांति मानव हृदय से प्रस्फुटित इस शुद्ध सान्ध्यगीत को प्रकृति का करुण विहाग कहूं या महाकवि के शब्दों में

> याखुन बेलार शेषेर छाया, पाखिराजाय,
> आपन कूलार माझे……
> सन्ध्या पूजा घण्टा याखुन बाजे
> … जैले दिवस गेले……

दो क्षण खड़े होकर सुनती हूं पर रुकने को समय कहां है? साथी आगे जा चुके हैं। संगीत की गूंज से फैले कम्पन को वहीं छोड़ तेज़ चाल से आगे बढ़ जाती हूं। एक छोटे पुल को पार कर दोनों ओर धानी रंग के पक्के गेहूं के खेतों में से होता हुआ सीधा नीरव पथ। दो पैदल जाने वाले साथी मिल गये हैं।

"शिव है शिव! तभी तो उसके गले में चांदी की सी रेखा है।" साथी का संकेत ऊपर अनन्त की ओर जहां एक वृहत् श्याम घन शिव लिङ्ग के आकार की रजत रेखा लपेटे है।

चील वृक्षों में से पुनः नीलाकाश तले मादक पवन में मानों तैरते हुए ये छै मील कट चुके हैं। सातवें मील में कुछ बस्ती के चिन्ह नजर आने लगे। हम सबके कानों में एक वृहत् प्रपात की काल्पनिक ध्वनि गूंज रही है। हमारी इच्छा है रात भर वहीं प्रपात के समीप ही कलकल निनाद सुनते रहें।

किन्तु "रात घनी होती जा रही है। आगे मील तो चार ही हैं पर रास्ता खतरनाक है। यहीं सिद्ध पर, बंगला में विश्राम कीजिये।" अपने पथ प्रदर्शक घोड़े वालों का कथन स्वीकार करना पड़ा है।

प्रभात होने से पूर्व ही हमें इस पान्थशाला को छोड़कर चल देना है। अब भी मेरी आंखों के सामने 'प्रताप पुस्तकालय' (श्रीनगर) में सुरक्षित वह सौ वर्ष पुरानी पुस्तक का पन्ना खुला पड़ा है, जहां से काशमीर उपत्यका के इस वृहत् प्रपात का वर्णन ही मुझे निमंत्रित कर लाया है।

× × ×

उजाला होने लगा है, साथियों के जागने से पूर्व ही दूर तक देख आई हूं। रात का भयावना सुनसान वन देवदारु के आकाश तक ऊंचे उठे वृक्षों में छिपे पक्षियों के मधुर संगीत से गूंज उठा है। घोसला वास्तव में दो कमरों की कोठी की शक्ल में परिवर्तित हो गया है। रजत अवगुण्ठनों के मध्य में से स्वर्ण रश्मियां फूट फूटकर मील भर के घेरे में उगे वन कुसुमों पर पड़ रही हैं। सामने ओस-बिन्दुओं से जगमगाते ऊंचे कद तक के पीले फूलों में खड़ी देवाङ्गना-सी एक सुन्दरी वन कन्या गौओं को आहाते से बाहर कर रही है। ऐसे अनुपम सौन्दर्य का आवेग मेरे भीतर न समाकर छलक उठा है। कलम लेकर सुदूर कहीं किसी स्नेही तक मानों यह रस धारा उड़ेलना चाहती हूँ।…

१५ जुलाई, प्रभात

'कौंसिल नाग नामक झील की यात्रा कर रही हूं। मेरे साथ के०, अ०, सु०, इ०, म०,

भा० हैं। इस समय बरामदे मे बैठी सूर्योदय का......

"सामान तय्यार है !" "घोड़े वालों ने मानों मेरे मुंह को चेतावनी देकर झटक दिया। दूर जाना है, स्थान स्थान पर छिटके सौन्दर्य को एक दृष्टि भर देख लेना ही पर्याप्त है।"

गुलमर्ग का तरह हरे भरे मैदानों और घने वृक्षों में से छनछन कर आती हुई प्रभात किरणों मे से होते हुए एक ऐसे स्थान पर आ पहुंची हू, जहा मार्ग दो ओर को विभक्त हो गया है। साथी जाने किस ओर को चले गये हैं। किससे पूछू ? नितान्त अपरिचित निस्तब्ध पथ मौन उत्तर देते हैं। मील भर तक एक ओर निराश लौट आने पर तनिक उतराई में दूसरी ओर को।

झर झर ! झर झर ! झर झर ! हा ! हा ! हा !

उल्लसित ध्वनिया, सुरम्य पवन मे वन्य पल्लवों का दोलायमान करती हुई, मानों साक्षात् वन लक्ष्मी नृत्य कर कर रही हो।

निश्चय ही प्रपात उन्हों ने देख लिया है।

अहरबल प्रपात
दोपहर

राशि राशि अति स्वच्छ जल धाराए नर्तन करती हुई ऊपर से आती हैं, पुनः मिलकर छोटी सी झील के आकार में हो जाती हैं और वह पूरी की पूरी झील लगभग सौ फुट मे दोनों ओर के वृहत् चट्टानों के कपाट में से हो वेगपूर्वक गिर रही है। इसी कपाट पर बैठे बैठे इन चचल तरगों के आने जाने और विलीन होने का क्रम देख एक हलका व्यथित भाव उठ खड़ा हुआ है। किन्तु इसी क्रम में तो प्रभा का सौन्दर्य निहित है और मेरे चिर पिपासित नेत्र इस निरन्तर प्रवाह के आदि स्रोत की ओर लगे हैं। प्रपात की ध्वनि में, उसके वृहत् रूप मे कुछ रौद्र भाव हैं। पर वह सामने शिला पर छाया में (जहा प्रपात के छींटे मानों पुनः ऊपर लौट आना चाहते हैं) एक सुन्दर पक्षी गम्भीर भाव मे किसी असीम आनन्द का स्पर्श कर रहा है।

साथी वस्त्र उतार कर प्रवाह में कूद पड़े हैं। वेग अधिक है, मध्य में एक सूखे स्थान पर पहुंचने की उनकी चेष्टा बार बार विफल हो जाती है।..

दो शिलाओं को जोड़कर भोजन बनाने की व्यवस्था की है। यात्रा मे जीवन का यह सक्षिप्त रूप कैसा सुहाना है ! धुए मे काली कुछ शिलाए, सूखे फलों के कुछ छिलके कभी पूर्व इधर आने वाले पथिकों की कौतुक क्रीड़ाओं को प्रकट कर रहे हैं।

पहाड़ी लड़का जो सूखा ईंधन दे गया है—आश्चर्य है पैसे की अपेक्षा प्याज अथवा सब्जी लेने को अधिक उत्सुक था ![1] घोड़े लगभग आधा मील ऊपर फूलों से आच्छादित वन में छोड़ दिये गये हैं। स्नान भोजन मे निवृत्त हो हम पुनः चल देंगे।

कुगवटन

कल रात मे भी अधिक तूफान, रह रह कर वर्षा के झकोरे। कभी अन्धकार को चीरती विद्युत शिखा। दूर मीलों मे आकर टकराता हुआ झझा का स्वर।

साथियों को खाना अभी खिलाकर इस नये घोसले के बाहर कोने में गरम वस्त्रों में लिपटी बैठी हूं। इसी प्रकार एक वेगवान लहर अनायास ही—मानों सरोवर में उठ उठकर झकोर रही है। अन्तर के उफान अन्तर में ही घिरे रहने पर सुख पाते हैं, प्रकृति के महान उद्वेगों की नाई प्रतिक्षण उठने वाले अपरिमित चचल भाव देख स्वयं ही वैचित्र्य मे भर उठती हू।..

और ये छाया से अज्ञ मज्ञ अतीत के क्षण, मानो दुहराते हुए चल चित्र की भाति—

अहरबल प्रपात से चलकर ऊचे इधर को। नदी के शीतल जल से स्नात् अलसाया तन, वहीं

---

१ इन पहाड़ों की ऊचाई यद्यपि अत्याधिक नहीं है, तो भी इधर न कोई बस्ती है और न किसी प्रकार की उपज—। जम्मू स्टेट की ओर से आए हुए कहीं कोई बिरले गूजर परिवार यहा मिल जाते हैं।

२ कुँगवटन की ऊँचाई साढ़े नौ हजार फुट के लगभग है। कुँग शब्द का अर्थ केसर है।

अखरोटों और हरियाले वृक्षों की छाह में लेटे रहने को जी चाहता है। ऊपर जहा तक दृष्टि पहुचती है, चोटियों तक रग बिरगे फूल ही फूल छाये हैं। नीचे अन्तर को स्पर्श करता हुआ नदी का धीमा सगीत... एक झपक में जैसे सुनती हू—

आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै
नान्यस्तापा कुसुमशरजादिष्ट सयोग साध्यात

किन्तु पथिक सोने का समय नहीं!

आगे बढकर उस पार दो पर्वतों के मध्य में से होती एक और वेगवान धारा इस नदी में आ मिली है।

"इस नदी का नाम?"

"विश्व नदी"

"और वह सामने का नाला?"

"गुरु वटन"

घोड़े वाला लाहौर तक हो आया है। हरा चश्मा लगाता है। काश्मीरी भाषा में उत्तर न दे पजाबी हिन्दी मिलाकर बोलने में, अपने अन्य साथियों की अपेक्षा गौरव समझता है।

देखती हू दो मील आगे आकर जहां न कोई पन्थी है, न पक्षी की आवाज, न नदी का साथ, केवल वन पुष्पों से दूर दूर छाये सौरभ मे साथी वृक्षो से घोड़े बाध ढलान पर सोये हैं। उनके मुखो पर दोपहरी की क्लान्ति है।..

दो पुलों को पारकर इधर को विश्व नदी से विदा लेते हुए कुछ क्षोभ सा होता है। किन्तु यदि नदी में सगीत है, तो उसमे टटकर इन जडी बूटियो भरे मैदान मे गुजरित मर्मर का भी कम महत्व नहीं। साथियों मे से दो व्यक्ति घोड़ा दौड़ाकर आगे निकल गये और शेष बहुत पीछे। चढाई तनिक अधिक हो चली है। मैंने भी घोड़ा ले लिया है। पहाड़ी पार कर अपने को अद्भुत स्थान में पाती हू। छोटी छोटी पर्वत मालाओं से घिरा विस्तृत हरा मैदान, अन्तिम किरणें तक शिखाओं पर दमक रही हैं। दूर कहीं धुआँ निकलते दीखता है। घोड़ा सरपट चाल से मैदान में होकर एक झोपड़े तक पहुँचाना चाहता है, जहा द्वार पर एक नन्ही पर्वत कन्या निकल आई है। दो कुत्ते भोंकने लगे हैं। एक गाय कुछ कुपित भाव से, कुछ आश्चर्य से देखने लगी है, मानों उन्हें हमारा आगमन न सुहाया हो। उतर कर रासें थाम वहीं नीचे बैठ जाती हूं।

कुगवटन का काल्पनिक चित्र, जिसका आभास नीचे सिद्धपुर तथा शुपइया के लोगों ने दिया था, मिट मिटाकर इस मनोहारिणी उपत्यका में स्थित केवल इस सरकारी बगले के रूप में रह गया है।

साथी सब इस भाल आये हैं। उनका कहना है आध मील पर एक जगह चीनी और चाय, दूध, मक्खन मिल सकता है। इतना क्या कम सन्तोष जनक है?

\+ × ×

तूफान थम रहा है। हल्की बूदें शेष रह गई हैं। कहीं कहीं क्षितिज मे ज्योति फूटने के लक्षण हैं। न जाने किस समय वह अन्तर मे उठी झंझा आज के दिन के सौन्दर्य-चिन्तन मे स्वतः ही सान्त्वना पा गई है। और कहा से कहा तक पहुँच गई है...

वन देवी तेरे चरणों में मेरे प्राण अधीर .

. . पथ जोहते, नीड़ खोजते ..

× × ×

१६ जुलाई

यात्रा का आज तीसरा दिन है। पान्थशाला से चलते तैयार होते भोर हो गई। कुछ पाथेय लेकर शेष सामान वाले घोड़े कुगवटन मे छोड़ दिये गये। लौटकर रात्रि में पुनः यहीं निवास करना है। पान्थशाला से आधा मील ऊपर चढाई के बाद पुनः सघन वन! कुछ कुछ कदमों के अन्तर पर हम सब हौले हौले मानों किसी शाही दरबार में से होकर गुजर रहे हों। प्रतिक्षण उल्लास, उछल कूद प्रकट करने वाले साथी प्रत्यूष के इन पुण्य क्षणों में नितान्त

मौन हैं; मानों वे अपने ही यौवन वसन्त की प्रतिच्छाया सर्वत्र बिखरी देख सस्मित हो उठे हैं। देवदारु के लाल, भूरे पुरातन तृणों ने मार्ग ऐसा स्निग्ध बना दिया है कि पदचाप भी सुनाई नहीं पड़ते और उनके रक्त वर्ण नव किसलयों से स्मरण हो आता है—

"भित्त्वा सद्यः किशलयपुटान् देवदारुद्रुमाणां,.. "

हरी छांह ही छांह! कभी कहीं ऊपर से छनछन कर आती हुई निस्तेज प्रकाश की सुधा धारा, जाने किसी महामहिमामयी के अम्बर तक उठे कर पल्लवों से अर्घ्य रूप में स्खलित हिम प्रपात, उसके हास्य रूप में नव हरित पल्लवों से ढके कल कल ध्वनित मधुर जल के स्रोत, कभी गहन शान्ति में नूपुरों से झरते वन फूल, कहीं तितलियों का उड़ता हुआ जोड़ा। किसी अदृश्य झाड़ी में से उठकर ऊपर को गुंजार भरती हुई कोई श्यामा! और कभी एक मत्त पवन के झोंके का स्पर्श!

अरे! यह सब आयोजन किसके निमित्त है? यवनिका जैसे गिरती है। क्रमशः रहस्य खुलता जाता है।

नहीं! अब पक्षी नहीं, वृक्ष नहीं, तितलियाँ और भौंरे भी नहीं, एक और ही साम्राज्य है! दोनों ओर नंगी पथरीली विस्तृत पर्वत श्रेणी के मध्य में पितृ गृह से नई बिछुड़ी दुहिता—विश्वनदी।

छोटी छोटी झीलों अथवा प्रपातों के आकार में मुड़ मुड़कर पीछे देखती हुई मानों आगे न बढ़ना चाहती हो।

चढ़ाई कठिन हो रही है। पथ दीर्घ होता चला जा रहा है। कभी थमकर सांस लेने बैठ जाते हैं। साथी लम्बे डग रखते हुए मानों युग युग से इसी महापथ के राही! आगे निकल गये हैं।

हैं! ठीक वैसे ही मर्कत मणियों से जगमगाते हिम किरीट, जो उस दिन पाचाल शिखर के आरोहण के समय देखे थे, समीप होते आ रहे हैं।[1] मन उत्साह से भर उठता है। क्या वास्तव में हम उसी दिशा में जा रहे हैं? और सत्य ही मेरी भुजाओं में उस पक्षी के डैनों सी शक्ति भर आई है क्या?

"कुथे जासो? सर ऊपर चले ओ".. [2]

अरे! क्या मनुष्य की आवाज़ है? इस मलिन वेश धारणी गुजरी का साथ मुझे सुहाने लगा है।

"हे पहाड़ी मुकसी ना ते पौंच रह सो।"[3]

कुछ क्षणों में ही उसने मुझे यक्ष किन्नर देवों के स्वप्न लोक से लाकर एक दम धरा पर पटक दिया है।

"तुसी लोक अकलमन्द ओ, बख्तावर ओ, असी-लोक बेअकल, ग़रीब, ते जंगली आँ, असाँ की कोई दवा दस्सो?"

उन्मुक्त वायु, जल, आकाश से निर्मित इस मनोमोहक प्रदेश विहारिणी के पीले दांतों, संग्रहणी से मारे कुरूप चेहरे और मलिन वस्त्रों पर एक अवहेला की दृष्टि डाल आगे निकल जाती हूं।

एक और गूजर परिवार झोपड़े से बाहर निकल आया है, इन पहाड़ी स्त्रियों की उत्सुकता भरी काली मोटी प्रखर आंखों के आगे देखने की हिम्मत नहीं होती।

एक दम नीचे उतर पर एक तेज धारा के पास सु० और छोटा साथी खड़े हैं। घोड़े धारा पार करना नहीं चाहते, पर सु० घुड़सवारी में प्रवीण है। धारा में पड़े एक लट्ठे पर चढ़ चाबुक ले किस फुरती से उसे पार छोड़ आई है, फिर दूसरे को भी और अब मेरे घोड़े को भी जो दूर से ही भय के कारण हिन-हिनाने लगा था पार लेजा रही है। मेरा पैर लट्ठे से फिसल गया और मैं बरफीली धारा में बह चली।

१—श्री नगर से कौंसिल नाग के लिये प्रस्थान करते समय हमें तनिक भी इस दिशा में आने का भान न था।

२—कहां जाओगी क्या सर की ओर?

३—यह पहाड़ी समाप्त होने पर पहुँच जाओगी।

सु०. .सु०...पकड़ो...बचाओ—कठिनता से बच कर निकल पाई हू। मुझे गीले वस्त्रों की अपेक्षा पर्स में पड़े कुछ नोटों की अधिक चिन्ता थी। जिन्हें सुखाते बेर सु० की हँसी रुकती नहीं और छोटा साथी सहम सा गया है। सु० को हँसने दो। फिर सवार हो जाओ। गीले वस्त्र स्वतः किसी समय सूख जाएंगे, यद्यपि किरणों मे तनिक भी उष्णता प्रतीत नहीं होती।

अब हम उन्हीं नाकीली चोटियों के ऐन नीचे से होकर जा रहे हैं। वे मानों चारों ओर ऊचे ऊचे प्रपातों द्वारा विहस कर हमारी अभ्यर्थना कर रही हैं। किन्तु विकट चढ़ाई को देख साहस नहीं होता। इन्हीं किरीटों से स्खलित, इन्हीं बृहत् प्रपातों के बीच मे विस्तृत समतल पर पीत पुष्पों से ढँकी कई छोटी छोटी झीलें हैं।

"यह सत पुखरन है।"[१]

मुझे अवाक् खड़े देख घोड़े वाला स्वतः कह उठता है और मैं और भी आश्चर्य से भर उठती हू। इससे पूर्व एक स्थान को इसने महीनाग कहा था।[२]

हिमालय के शिखर पर इस अतुल सौन्दर्य के मध्य में खड़े हो मुझे अनेक पुण्य तीर्थों से घुमाते हुए दृष्टि बङ्गाल के पोखरों तक ले गई है। और इन पहाड़ी लोगों के मुख से निकले यह सर, विश्व, सत पुखरन, मही आदि शब्द मिट्टी में चिरकाल से दबे नगीनों की भांति लगते हैं। वह कौन सी कड़ी थी, जिसने हमें बांध रखा था?

फिर रास्ता नहीं, मोज़े उतारो, चप्पल उतारो, घोड़े काम नहीं देते, प्रपात, झरने, सब मिलकर एक ही वृहत् मुख हो गये हैं। सत पुखरन की इन्हीं हिम धाराओं को पारकर आगे अल पत्थर[१] की सी सीधी चढ़ाई। दम फूल जाता है। सोचती हू जल की धारायें एक साथ जहा चट्टानों में से उफन उफन-कर आ रही हैं, सम्भवतः विश्व नदी का यही उद्गम होगा। किन्तु नहीं। थोड़ा ऊपर जाकर पुनः अदृश्य।

साथी हम लाल फूलों से भरे कच्चे पहाड़ को लाघ कर ऊपर खड़े रूमाल हिला हिलाकर अन्तिम लक्ष्य तक पहुचने का संकेत कर रहे हैं। .ओह! अन्तिम कपाट खुल गये। कुछ क्षण कोई बोलता नहीं, हसता नहीं, स्तब्ध निर्निमेष, मानों किसी भव्य सिंहासन के सम्मुख चकाचौंध से।

× × ×

कौंसिल नाग झील मे[२]

दो बृहत् शिलाओं के सहारे साड़ी फैलाकर मैंने छत-सी बनाली है। ऐसा पुण्य पर्व जाने कब मिलेगा। झील के एक किनारे गले तक जल में उतराई हुई कभी पलकें खोलती हू कभी मूदती हूं। सामने तीनों ओर तिरछे नोकीले, उपमाहीन वर्ण लिये हिमपूरित किरीटों के मध्य में, मानों पाचाल का हृदय स्थल—अगाध, शान्त नील जल-राषि। पलक मूदते ही पाचाल शिखर से लेकर गुलमर्ग तक विस्तृत शृङ्खला का भव्य स्वरूप छा जाता है। नाना वर्ण मेघ पुञ्जों से शोभित शिखरों पर, कहीं झीलों में तैरते हिम खण्ड, कहीं मीलों तक हरित दोशाले ओढ़े मनस्वी से देवदारु के वन। अगर, कपूर से सुवासित अनन्त स्रोत।

---

१ सत पुखरन का अर्थ है सात झीलें। बंगला मे भी पोखर तालाब को कहते हैं।

२ कौंसिल नाग झील से जल की अनेक धाराएं पर्वत के भीतर से (underground) होकर आती हैं। इन्हीं धाराओं से मिलकर विश्व नदी का निर्माण हुआ है। इनमें एक धारा जहां दिखाई पड़ती है, उस स्थान को मही नाग कहते हैं। यहां का जल अत्यन्त मधुर है।

---

१ अल पत्थर भी बारह हजार फुट की ऊंचाई पर एक छोटी सुन्दर झील है।

२ कौंसिल नाग झील प्राय. एक मील से अधिक के घेरे में है। ऊंचाई लगभग १२,५०० फुट है।

एक ओर जिसके चरणों तले गहन गम्भीर चन्द्र भागा, दूसरी ओर वेरीनाग से प्रसूत वितस्ता, इधर विश्व नदी; चिट्टी नदी, निगल, फिरोजपुरी अनेक नदी नाले और न जाने कितने उल्लसित झरझर गुंजन लिये मंगल मय, मनोरम दृश्य ।

बाल्यकाल की वह निर्ममता हट आज गिरिराज पाचाल के प्रति मेरा हृदय बार बार उमड़ तथा श्रद्धा से अवनत हो रहा है। रोम रोम में जिस असीम शान्ति का, जिस निखिल सौन्दर्य का स्पर्श कर रही हूं, वे पुण्य क्षण तो केवल अनुभव की ही वस्तु हैं ।

नेत्र खोलती हूं सर्वत्र नील जलद समूहों ने उतर कर उन किरीटों की निधि को हम मानवों से अदृश्य कर लिया है ! पर यह और भी सुन्दर है !

अब बूंदें, ओले, गर्जन, सब कुछ अवरुद्ध ।

कापते बदन को गर्म वस्त्रों से ढाक उस ओर शरण चाहती हूँ, जहा एक मात्र निरापद वृहत् चट्टान तले साथी स्टोव जलाने का विफल प्रयास कर रहे हैं ।



एकांकी नाटक—

अशोक का शोक

डाक्टर रामकुमार वर्मा, एम. ए पी-एच डी.

नाटक के पात्र

१ सम्राट अशोक—मगध के सम्राट
२ तिष्यरक्षिता—सम्राट अशोक की रानी
३ उपगुप्त—बौद्ध भिक्षु
४ चारुमित्रा
५ स्वयंप्रभा] तिष्यरक्षिता की परिचारिकाएं
६ राजुक—द्वार-रक्षक
७ पुष्य—शिविर-रक्षक
स्त्री, प्रहरी आदि
स्थान—कलिंग का शिविर
काल—ई० पू० २६१



[२६१ ई० पू० सम्राट अशोक ने अपने शासन के तेरहवें वर्ष में कलिंग पर चढ़ाई कर दी है। उसका कारण यह है कि कलिंग नरेश सम्राट अशोक की सत्ता स्वीकार करने में अपना अपमान समझता है। उसने भारत से बाहर भी अपने उपनिवेश स्थापित कर रक्खे हैं। सम्राट अशोक को यह सहन नहीं हो सकता। उसने उज्जैन और तक्षशिला में आत्माभिमान की जो दीक्षा प्राप्त की है, वह कलिंग नरेश के स्वातंत्र्य प्रेम से समझौता नहीं कर सकती। और जब अशोक ने महाराज चंद्रगुप्त के वंश में जन्म लिया है, तो वह कैसे अपने अधिकार से आंख मूंद सकता है? इस समय उसका राज्य उत्तर में हिन्दुकुश से लेकर दक्षिण में पेनार नदी तक है और पश्चिम में अरब सागर से लेकर बंगाल की खाड़ी तक है। सिर्फ कलिंग एक मतवाले नाग की तरह सिर उठाये हुए विषम दृष्टि से अशोक की ओर देखता है। अशोक उस नाग का सिर कुचलना चाहता है। उसने इस वर्ष कलिंग पर चढ़ाई कर दी है।

उसकी सैन्य-शक्ति अपार है। पैदल घुड़सवार, रथ और हाथियों को उसने कलिंग की सीमा पर अड़ा दिया है। वे आगे बढ़ते चले जा रहे हैं। सम्राट अशोक स्वयं सैन्य संचालन करते हैं। उनका शिविर उनकी सेनाओं के साथ है। वे युद्ध के अतिरिक्त किसी भी विषय पर बात नहीं करना चाहते। उनका व्यक्तित्व दृढ़ और तेजस्वी है। ऊंचा क़द और भरे हुए अंग, जिन पर शस्त्र सजे हुए हैं। एक बड़ी ढाल उनकी पीठ पर कसी हुई है और तलवार उनके हाथ का भाग बन गई है। सुन्दर मुखाकृति जिसमें अभिमान और उत्साह का चित्र शक्ति की रेखाओं से खिंचा हुआ है। मस्तक पर शिरस्त्राण और कानों में कुंडल। भौंहें मिली हुई और ओंठ कसे हुए। शरीर पर सटा हुआ वक्ष। उनकी चाल में सतर्कता और दृढ़ता। वे अपने व्यक्तित्व के प्रभाव

से ही कुछ क्षणों तक विपक्षी को अप्रतिभ बना देते हैं। अपनी विजय को विपक्षी की मृत्यु की रेखाओं से ही गिनते हैं। वे दया के अनुकूल नहीं — क्रूरता के प्रतिकूल नहीं।

उनका शिविर इस समय गोदावरी तट पर है। दूर पानी के बहने और शिलाओं से टक्कर खाने की आवाज है। शिविर के चारों ओर लताओं और गुल्मों का जाल है। समस्त वातावरण में शांति और सौंदर्य है, जो कभी कभी किसी सैनिक की ललकार से या पक्षी के तीखे स्वर से भग हो जाता है लेकिन फिर शान्त हो जाता है— जैसे एकाकी मार्ग में चलती हुई कोई स्त्री ठोकर खाने से चीख उठे, लेकिन फिर अपने मार्ग पर चलने लगे। शिविर के परदों पर शस्त्र त्रिकोण में या लबी रेखाओं के रूप में सजे हुए हैं। जगह जगह पर युद्ध के वस्त्र टँगे हुए हैं।

इस समय शाम के छः बजे हैं। सम्राट् अशोक युद्ध से नहीं लौटे। उनकी रानी तिष्यरक्षिता इस शिविर में बैठी है। या तो सम्राट् अशोक ही महारानी तिष्यरक्षिता को अपने साथ युद्ध-कौशल का नमूना दिखलाने के लिए ले आये हैं, या सम्राट् का वियोग सहन न कर सकने के कारण या उनकी कुशल कामना करते हुए, उन्हें अपनी दृष्टि-पथ में रखने के लिये तिष्यरक्षिता ही सम्राट् अशोक के साथ चली आई हैं। इस समय वह अपने कक्ष में बैठी हुई चित्र बना रही है। शिविर के कक्ष में ऐश्वर्य बरस रहा है। स्तंभों में स्वर्णलताएँ लिपटी हैं, और उन पर रत्नों के फूल हैं, जो प्रकाश में ज्योति-मडल बन जाते हैं। नीलम और मोतियों की झालरों से कक्ष की दीवालों पर समुद्र की फेनिल लहरों का आभास उत्पन्न किया गया है। पीछे एक महराब दिख रही है, जिसके दोनों ओर एक एक हाथी घुटने टेके हुए हैं। चारों ओर दीपस्तंभ हैं, जिनमें दीपक जल रहे हैं और उसी स्तंभ में फूल के आकार के पात्र से सुगंधि-धूम निकल रहा है। कक्ष के बीच में एक ऊंचा और सजा हुआ आसन है। उससे हटकर कोने की ओर चार छोटे छोटे कुर्सीनुमा आसन हैं। उन आसनों में से एक पर तिष्यरक्षिता बैठी हुई है। उसके सामने चित्रफलक पर एक अधबनी तस्वीर है, जिसमें प्रकृति का सौंदर्य अपनी पूर्णता को लिये तिष्यरक्षिता की तूलिका में से उतर रहा है।

कमरे में निस्तब्धता है। तिष्यरक्षिता चित्र बनाने में लीन है। रुक कर एक ही स्थान पर खड़ी रह कर वह भिन्न भिन्न कोणों से चित्र की ओर देख रही है। दो क्षणों तक चित्र देखने के बाद, वह अपनी तूलिका से दीपस्तंभ के पात्र पर शब्द करती है। एक परिचारिका प्रवेश कर दोनों हाथ जोड़ कर प्रणाम करती है।]

तिष्य०—चारु ! देख यह चित्र कितना अच्छा बन रहा है !

चारु०—बहुत अच्छा महारानी जी।

तिष्य०—चारु, मैंने चाहा कि इसी जगह की प्रकृति का चित्र बना लूं। यहाँ रहते रहते ये पेड़, ये झुरमुट, ये फूल, मुझे बहुत अच्छे लगने लगे हैं। लता खिलती है तो मालूम होता है जैसे उसके सुहाग के दिन आए हैं। और गोदावरी तो ऐसे बहती है, जैसे किसी के छूने पर उसे रोमांच हो आया है। तुझे भी तो यह जगह अच्छी लगती होगी !

चारु०—हाँ महारानी जी, मुझे बहुत अच्छी लगती है।

तिष्य०—तब तो यह युद्ध समाप्त हो जाने दे। फिर तेरा विवाह इसी जगह रचाऊँगी। इन्हीं पेड़ों के नीचे मडप होगा और इन्हीं फूलों से तेरी माँग भरूँगी।

चारु०—महारानी जी, आपका चित्र बहुत अच्छा बना है।

तिष्य०—तू अपने विवाह की बात इस तरह उड़ा देना चाहती है ! इसी चित्र में तेरे विवाह का भी चित्र होगा।

चारु०—महारानी जी, आप अपनी तूलिका को कष्ट न दें। आपकी कला हम लोगों के लिए बहुत ऊँची है।

तिष्य०—तू बहुत मीठी बातें करती है चारु, लेकिन मेरी कला जीवन के हर एक चित्र को अपना अंग समझती है। यही दृश्य देख—कितना साधारण है पर मुझे तो बहुत प्रिय है।

चारु०—यह तो यहीं पास के कुंज का चित्र है।

तिष्य०—हां, चारु मैं कल वहाँ गई थी महाराज के साथ। वे न जाने कैसे हो गए हैं! सब समय युद्ध की बातें करते हैं। तेरे कलिंग देश पर जब से उन्होंने चढ़ाई कर दी है तब से तो उन्होंने सारा राज्य कार्य महामात्रों पर ही छोड़ रक्खा है। आज दो वर्ष पूरे होने जा रहे हैं और कलिंग पर उनका क्रोध वैसा ही बना हुआ है।

चारु०—यह मेरे देश का दुर्भाग्य है।

तिष्य०—मैं चाहती हूँ चारु कि यह लड़ाई शीघ्र ही समाप्त हो जाय। सच मान, यह युद्ध मुझे अच्छा नहीं लगता। हमारे सुख और शान्ति के जीवन में जहाँ हंसी का फूल खिलना चाहिए वहाँ आह और कराह काँटे की तरह चुभ जाती है।

चारु०—महारानी जी, लड़ाई में यही आह और कराह तो तलवार का संगीत बनती है।

तिष्य०—अच्छा चारु, यह बता तू ने कभी लड़ाई लड़ी है?

चारु०—नहीं महारानी जी!

तिष्य०—तू लड़ाई जानती ही नहीं किसे कहते हैं? जीवन भी तो एक लड़ाई है। पुरुष की स्त्री से लड़ाई स्त्री की पुरुष से लड़ाई। स्त्री-पुरुष की पुरुष-स्त्री से लड़ाई! तू ने कभी लड़ाई लड़ी ही नहीं?

चारु०—नहीं महारानी जी।

तिष्य०—विवाह होने से पहले इसका अभ्यास जरूर कर ले!

चारु०—जी, महारानी जी।

तिष्य०—और चारु, मैं भी महाराज से लड़ना चाहती हूँ। वे यह युद्ध बन्द कर दें। मुझे यह अच्छा नहीं लगता। कितने वीरों का रोज खून होता है। आज जिन वीरों से देश की उन्नति होती, वही व्यर्थ मर रहे हैं—जो वीर मिट्टी छूकर सोना बनाते, वही आज मिट्टी हो रहे हैं!

चारु०—सच है महारानी जी।

तिष्य०—लेकिन कलिंग के लोग लड़ना भी अच्छी तरह से जानते हैं, नहीं तो मगध की सेना के सामने कौन टिक सकता है? दो वर्षों से तो यह लड़ाई चल रही है।

चारु०—अभी बहुत वर्षों तक चलेगी महारानी जी!

तिष्य०—[आवेश में] क्या कहा चारु, तू महाराज की शक्ति का अपमान करती है!

चारु०—महारानी जी, क्षमा कीजिए इसमें महाराज की शक्ति का अपमान है। मेरे कलिंग के लोग वीर हैं। वे माता की तरह अपनी भूमि का आदर करते हैं। जब तक एक भी वीर है, तब तक तो कलिंग की जय का घोष वायु को सहन करना ही होगा!

तिष्य०—तू विद्रोह की बातें करती है चारु।

चारु०—महारानी जी, मैं विद्रोह की बातें नहीं करती, मैं अपने देश के गौरव की बातें कह रही हूँ।

तिष्य०—तब तो तू महाराज के साथ विश्वासघात कर सकती है!

चारु०—महारानी जी, मैंने महाराज अशोक की सेवा उस समय से की है, जब उनका राज्याभिषेक भी नहीं हुआ था। आपके चरणों की छाया में मैं बड़ी हुई हूँ। जब मैं महाराज की सेवा में कलिंग से आई थी, तब तो युद्ध की बात ही नहीं थी। आज मेरा देश कलिंग संकट में है, तो महारानी जी, मुझे उसके सम्बन्ध में कुछ कहने की आज्ञा भी नहीं मिलेगी!

तिष्य०—चारु, तुझे पूरी आशा है किन्तु मैं महाराज का अपमान सहन नहीं कर सकती!

चारु०—संसार में उनका अपमान करने की क्षमता किसी में नहीं है महारानी जी। और मैं तो उनकी आजन्म सेविका हूँ।

तिष्य०—लेकिन जब से कलिंग युद्ध हुआ है, तब से मैं महारानी होकर भी तुझ से डरती हूँ।

चारु०—महारानी जी, आप मुझे आत्महत्या की ओर प्रेरित करती हैं।

तिष्य०—[हँस कर] मैं तो तुझसे हँसी कर रही थी चारु, तू भी कभी हमसे विश्वासघात कर सकती है? ...चारु, मुझे प्यास लग रही है।

चारु०—जो आज्ञा [कटोरे में पानी भरकर देती है दो घूँट पीकर] लेकिन चारु, यह युद्ध मुझे नहीं चाहिए। कितने दिनों से इस शिविर में रहते हुए जैसे मेरा मन सूखा जा रहा है। यदि महाराज का निर्णय ग्रहण कर सकती, तो चारु मैं पाटलीपुत्र से कलिंग के इस शिविर में न आती। रात्रि में युद्ध की समाप्ति पर उनके दर्शन कर लेती हूँ तो जैसे वृक्ष से पृथ्वी बन जाती हूँ। आज कहूँगी कि वे कलिंग का युद्ध बंद कर दें। लोगों को सुख से साँस लेने देना भी तो दया की क्रूरता पर विजय है। मुझे तो इस विजय पर ही संतोष है।

चारु०—आज्ञा देती हैं।

तिष्य०—फिर बतला क्या उपाय करूँ चारु, महाराज तक्षशिला में रह कर बड़े क्रूर बन गए हैं। कहते हैं पूज्य पितामह, जिन्होंने निर्भय सिल्यूकस की प्रचंड सेना का नाश कर दिया था, जिन्होंने अलक्षेन्द्र के राज्य की दिशा बदल दी थी, तक्षशिला के ही तो विद्यार्थी थे। पितामह के योग्य पौत्र बनने का आदर्श जो है उनके सामने।

चारु०—हाँ महारानी, जी।

तिष्य०—अच्छा चारु, आज महाराज से एक बात पूछूँगी कि आपके पूज्य पितामह ने तो सेल्यूकस पर विजय पाकर उनकी सुन्दरी कन्या पर भी विजय पाई थी। क्या आपकी विजय में भी किसी ....

चारु०—महारानी जी, क्षमा करें। कलिंग देश वीरों का देश है, कन्याओं का नहीं!

तिष्य०—क्या कलिंग देश में कन्याएँ होती ही नहीं? चारु, तू तो अपने देश की तारीफ़ करते करते ऊबती नहीं। महाराज की तारीफ़ क्यों नहीं करती जिन्होंने कलिंग में युद्ध होने पर भी कलिंग देश की सेविका को अपने देश से नहीं निकाला।

चारु०—महारानी जी, महाराज अशोक सम्राट् हैं। मेरे यहाँ रहने से उनका क्या बनता-बिगड़ता है।

तिष्य०—आचार्य चाणक्य ने शत्रु के विषय में क्या कहा है जानती है? कहा है—शत्रु कभी छोटा नहीं होता।

चारु०—महारानी जी, मैं अपने पद से अलग होने की आज्ञा चाहती हूँ।

तिष्य०—[हँस कर] बस, बुरा मान गई! बात बात पर आज्ञा चाहती है। और तू सेविका होकर भी मेरी सखी है। अच्छा देख, मेरा चित्र और ध्यान से देख!

चारु०[ध्यान से देखते हुए]—महारानी जी! आपने तो टूटे हुए वृक्ष बनाए हैं और और उनमें लाल रंग भर दिया है।

तिष्य०—बोला इसमें क्या रहस्य है?

चारु०—मैं चित्रकला नहीं जानती महारानी जी।

तिष्य०—अरे, यह तो साधारण समझ की बात है। यह चित्र मैं महाराज को दिखलाना चाहती हूँ—उनसे कहूँगी देखिए, आपने कलिंग के वीरों को तो खून से नहला ही दिया है। अब आपकी तलवार इन बेचारे वृक्षों पर भी पड़ी है और उनकी शाखों और टहनियों से यह रक्त निकल रहा है।

चारु०—महारानी जी, आपकी बात की थाह नहीं ली जा सकती।

तिष्य०—चारु!

चारु०—महारानी जी!

तिष्य०—महाराज अभी नहीं आए?

चारु०—नहीं महारानी जी!

तिष्य०—देख यह गोदावरी का सुरम्य तट, ये पानी की लहरें जैसे सौंदर्य की मालाएँ हों जो आप से

आँख मूँद कर खड़ी होती है और तट पर किसी का हृदय न पाकर टूट जाती है !

चारु०—हां, महारानी जी ।

तिष्य०—और ये जो पक्षी उड़ते चले जा रहे हैं जैसे प्रेम की ग्रंथियाँ हैं, जिन्होंने आकाश में उड़ना सीख लिया है। अच्छा सुन, यह समस्त वातावरण तेरा नाच देखना चाहता है। तू नाच सकेगी ?

चारु०—जो आज्ञा महारानी जी !

तिष्य०—जा जल्दी पैर में संगीत भर ला। [जाती है। तिष्या थोड़ी देर प्रकृति की ओर देखती है, फिर अपने चित्र के पास आकर तूलिका उठाती है और धीरे धीरे उसमें रंग भरने लगती है। धीरे धीरे गाती जाती है—

अली, पहिचान गया कलि को !

[चारु पैर में नूपुर पहनकर आती है और तिष्य के सामने खड़ी होती है।]

चारु०—आज्ञा है ?

तिष्य०—मेरी, और उस कली की भी जो नाच के साथ खिलना चाहती है ।

चारु० प्रणाम कर नृत्य करती है। कुछ समय तक नृत्य होता है। तिष्य तन्मय होकर देखती है, कभी बीच बीच में प्रशंसा करती जाती है, अकस्मात् महाराज अशोक की जय का घोष; नृत्य रुक जाता है। तिष्य चारु को देखती है और चारु तिष्य को।

महाराज अशोक की जय ! सम्राट अशोक की जय।

[शीघ्रता से एक परिचारिका का प्रवेश]

परि०—महारानी जी, महाराज शिविर में लौट रहे हैं। [जाती है।]

चारु०—महारानी जी, अब क्या होगा !

तिष्य०—कुछ नहीं। तू अपने नूपुर उतार दे।

चारु०—[सिर हिलाकर] जो आज्ञा। [बैठकर नूपुर उतारने लगती है। एक पैर का नूपुर उतर जाता है, लेकिन दूसरे पैर का नूपुर उतारने में उलझ जाता है और प्रयत्न करने पर भी नहीं उतरता है। इतने में ही जयघोष के साथ महाराज अशोक का प्रवेश। तिष्य और चारु प्रणाम करती हैं। अशोक अभयमुद्रा में हाथ बढ़ा देते हैं।]

अशोक—विजय देवी, आज युद्ध में फिर विजय ! ओह, तुम्हारी मंगल कामनाओं में कितनी शक्ति है ! विजय, विजय, विजय ! [हाथ उठाता है।]

तिष्य०—महाराज की विजय हो !

चारु०—महाराजाधिराज की विजय हो !

अशोक—देवी, शत्रुओं की संख्या बहुत अधिक थी। हाथी और घोड़े जैसे दुर्भाग्य की तरह अड़े हुए थे, लेकिन तुम्हारी मंगल कामना ने मुझे और मेरे वीरों को ऐसी शक्ति दी कि वे सूखे पत्तों की तरह बिखर कर चूर हो गए। मेरी शक्ति के पीछे देवी, तुम्हारी मंगल कामना है। चारुमित्रा, देवी पर पुष्प वर्षा हो !

[चारुमित्रा आगे बढ़ने के लिये पैर उठाती है कि उसके पैर का नूपुर शब्द कर उठता है।]

अशोक—[चारु के पैरों पर दृष्टि गड़ाकर] अरे यह क्या नृत्य ! संग्राम भूमि में रंगभूमि ! [प्रश्न-सूचक मुद्रा में चारु ?]

चारु०—महाराज, क्षमा चाहती हूँ।

अशोक—मेरी युद्धभूमि में केवल भैरवी का नृत्य हो सकता है, चारुमित्रा का नहीं।

चारु०—महाराज · · ···

अशोक— और उस भैरवी नृत्य में तलवारों का संगीत होगा, नूपुरों का नहीं !

चारु०—महाराज··· · ··

अशोक—मेरे युद्ध के उत्साह में कोमलता भरने वाली चारुमित्रा, तुझे क्या पुरस्कार चाहिए ! रत्नों का हार, मोती की माला ?

चारु० – मुझे दंड दीजिये महाराज !

अशोक—मेरे युद्ध के उत्साह में कोमलता भरने वाली चारुमित्रा, तुझे दंड ही मिलेगा। तू इस नीति से मुझे युद्ध करने से रोकना चाहती है ! लो ! कलिंग से उत्पन्न शरीर कलिंग का ही साथ देगा ! विश्वासघातिनी ! चारुमित्रा !! (पुकार कर) रक्षक !

[राजुक का प्रवेश]

अशोक—राजुक, चारुमित्रा जलते हुए अंगारों पर नाचना चाहती है ! आग तैयार हो !

रा०—जो आज्ञा ! [प्रणाम कर प्रस्थान ।]

अशोक—चारुमित्रा, दूसरे पैर मे भी नूपुर पहन ले । एक पैर से पूरी ध्वनि नहीं निकलेगी । दूसरा पैर नूपुरों की प्रतीक्षा में है ।

[चारु—दूसरे पैर में भी नूपुर पहनने के लिए झुकती है ।]

तिष्य०—महाराज !

अशोक—देवी !

तिष्य०—महाराज, चारु का दोष नहीं है ।

अशोक—देवी, चारु का दोष नहीं है ? यह कैसी बात कहती हो ? कलिंग के शरीर में कलिंग की आत्मा का मगध के साथ क्या व्यवहार हो सकता है ? चारु जानती है कि मेरे क्रोध में उसका देश जल रहा है । वह मेरे क्रोध की ज्वाला को शांत करने के लिये अपने संगीत और नृत्य का प्रयोग करना चाहती है । मुझे नहीं सुना सकती तो तुम्हें सुना कर तुम्हारे द्वारा मुझ में कोमलता का सचार करना चाहती है । मैं देख रहा हूँ तुम्हारे स्वभाव को भी उसने दया से भर दिया है ।

तिष्य०—महाराज, दया करना तो स्त्री का स्वाभाविक अधिकार है । चारु मुझे क्या दया से भर सकती है । किन्तु महाराज, चारु निरपराध है । आपके वियोग के क्षणों को काटने का यह मेरा साधारण उपाय था । मैंने ही चारु को आज्ञा दी थी कि वह नृत्य करे ।

अशोक—तुमने आज्ञा दी थी ?

तिष्य०—हाँ, महाराज, युद्ध के भयानक क्षणों में स्त्री के एकाकी हृदय को कौनसा सहारा है ? संगीत नृत्य, चित्रकला ! यही तो !

अशोक—चारु, अपनी ओर से नृत्य करने नहीं आई !

तिष्य०—नहीं महाराज ! उसे क्षमा कीजिये !

अशोक—अच्छा, अशोक ने किसी को भी अपराध करने पर क्षमा नहीं किया, किंतु इस समय क्षमा करता हूँ । [चारु की ओर देखकर] चारु, तुम्हें क्षमा करता हूँ । अच्छा हो कि तुम्हारा नृत्य मैत्री-नृत्य बनकर मगध की विजय के लिए युद्ध में हो । और यदि ऐसा न कर सको तो फिर यह नृत्य अपने कलिंग के कटते हुए वीरों के शवों और मुंडों के लिए रहने दो । [पुकार कर] राजुक !

[राजुक का प्रवेश]

अशोक—आग तैयार हो गई ?

रा०—जी ।

अशोक—उस आग मे उन कायरों को शीतल करो जो आज युद्ध भूमि से पीछे हटे हैं ।

रा०—जो आज्ञा । [जाता है] ।

अशोक—और सुनो—यह मत सुनना कि वे रथचालन कौशल से सावधानी के साथ पीछे हटे । युद्धभूमि के अतिरिक्त प्रत्येक भूमि वीरों के लिये कलंक-भूमि है ।

रा०—जो आज्ञा !

[जाता है]

अशोक—चारु, जा, इन संगीत भरे पैरों को विश्राम की आवश्यकता है ।

चारु०—प्रणाम कर—[सिर झुकाकर जाती है ।]

अशोक—देवी, कलिंग से युद्ध करते समय मुझे ज्ञात होता था जैसे पाटलीपुत्र की शक्ति से एक प्रलय उत्पन्न हुआ है, जो कलिंग को खून के समुद्र में डुबाना चाहता है । तक्षशिला, गान्धार, उज्जैन और तोशली के बड़े बड़े वीर मेरी घूमती हुई दृष्टि की दिशा में ही अपनी तलवार घुमाते थे । सेना की एक एक टुकड़ी पानी की लहर की तरह बढ़ती और धीरे धीरे बड़ी होकर शत्रुओं की तलवार से टकराती थी । वे तलवार भी नहीं घुमा सकते थे । उस समय मुझे तो ऐसा ज्ञात होता था कि मेरी तलवार भी एक तलवार थी, जिसके सामने घूमा हुआ हथियार भी लक्ष्य भ्रष्ट हो जाता था ।

तिष्य०—महाराज इतना रक्तपात······

अशोक—मैंने अपनी सेना का अर्धव्यूह बनाकर आक्रमण किया था । शत्रु सोचते थे जैसे सहस्रों सूय-

केतु एक विशेष आकार में कसे हुए मौत की आग लेकर आ रहे हैं। न जाने कितने शत्रु हाथियों के पैरों से पिस गये—सैकड़ों घोड़ों के पैरों में उलझकर खून से लथपथ हो गए। मालूम होता था खून का नाला महानदी में मिलने के लिए जा रहा है।

तिष्य॰—महाराज, इतना भयानक युद्ध!

अशोक—मुझ पर भी एक वीर ने तलवार चलाई! मैंने तक्षक की तरह अपना सिर बचा लिया। उसकी तलवार वायुमंडल में खाली चक्र बनाकर रह गई। अपने निष्फल हुए आक्रमण के वेग से वह मुड़ गया। उसके मुड़ते मैंने अपने तलवार की नोक उसकी पसलियों में घुसेड़ दी। उसकी ललकार आह में बदलकर खून में डूब गई। वह टूटे हुए पेड़ की तरह ज़मीन पर बेल बनकर गिर पड़ा।

तिष्य॰—महाराज आपका युद्ध कौशल भयानक है!

अशोक—फिर मैं मरे हुए घोड़े की पीठ में पैर टेक कर लड़ता रहा। शत्रुओं के नायक वीर भद्र की तलवार जैसे ही आगे गिरने के लिए अर्धचंद्र बना रही थी वैसे ही मैंने झुक कर कक्ष भाग से कंधे पर ऐसा वार किया कि उसकी तलवार अपने वेग में भुजा समेत उड़ कर एक हाथी की पीठ में घुस गई। हाथी शत्रु-पक्ष को कुचलता हुआ भाग खड़ा हुआ। उसी वक्त सेना के पैर उखड़ गये और आज की विजय ने देवी, तुम्हारे गले में माला पहिना दी!

तिष्य॰—महाराज बहुत भयानक युद्ध है। अब सहन नहीं हो सकता।

अशोक—देवी, तुम बहुत कोमल हृदय हो। यह युद्ध तुम्हारे लिए नहीं है। इसीलिए तो मैं चाहता था कि तुम पाटलीपुत्र ही में रहो। किन्तु तुम्हारा ही अनुरोध मुझे विवश कर सका कि तुम्हें साथ ले आया।

तिष्य॰—महाराज यदि मैं एक अनुरोध और करूं।

अशोक—क्या?

तिष्य॰—यह युद्ध रोक दीजिए!

अशोक—यह क्या कह रही हो देवी? युद्ध का रक्त आज पाटलीपुत्र की उन्नति का रक्त जाल है। किसी भी साम्राज्य की सीमा तलवार से ही खींची जाती है और सीमा को स्थायी रखने के लिये उस रेखा में रक्त का रंग भरा जाता है! [कक्ष में दृष्टि डालता है। चित्रफलक पर दृष्टि डाल कर] अच्छा, यह तुमने बड़ा सुंदर चित्र बनाया है!

तिष्य॰—हाँ, महाराज, आपको पसंद है?

अशोक—बहुत सुन्दर है। यह तो उस कुंज का है, जहाँ बैठकर मैंने युद्ध का कार्यक्रम बनाया था।

तिष्य॰—हाँ महाराज, मैं भी साथ थी।

अशोक—तो ये वृक्ष टूटे हुए क्यों दिखाये गये हैं?

तिष्य॰—महाराज युद्ध की तेजी में आपकी तलवार शत्रुओं पर पड़ने के साथ ही इन वृक्षों पर भी पड़ी है। वे भी बेचारे कट गये हैं, और उनसे रक्त निकल रहा है।

अशोक—तो रक्त के स्थान पर लाल रङ्ग की क्या आवश्यकता! सच्चा रक्त भरो इनमें। वह तो बहुत मिल सकता है। मैंने कितने खूनों की शारीरिक सीमा नष्ट कर उन्हें पृथ्वी पर बहने में पूर्ण स्वतन्त्रता दी है। वहीं से रक्त लो।

तिष्य॰—महाराज, मेरा हृदय काँप रहा है इस युद्ध की भयानकता से। आप क्यों इतने वीरों के रक्त से राज्यश्री को अग्नि-का रूप देना चाहते हैं!

अशोक—देवी, अग्नि में तप कर ही कोई वस्तु पवित्र होती है! आज मेरी तलवार में शक्ति है। उसका अधिक से अधिक उपयोग होने दो।

तिष्य॰—जैसी महाराज की इच्छा लेकिन मुझे बहुत दु:ख है इस क्रूरता पर महाराज [सिर झुका लेती है]।

अशोक—[मनाते हुए] तुम दुःखी हो देवी! नहीं दुखी होने की क्या बात। तुम तो दया की देवी हो। तुम्हें तो किसी के दुःख से भी दुःख होने लगता है। मैं यथाशक्ति तुम्हारे सद्भावों की रक्षा तो करता हूं। देखो देवी आज तुम्हारी दया की ढाल ने मेरे दंड के कृपाण को खूब रोका......

अशोक—देवी, तुम्हारी दया की ढाल ने मेरे दंड के कृपाण को खूब रोका!

तिष्य०—महाराज, चारु निरपराध थी।

अशोक—रणभूमि की दृष्टि से, या रंगभूमि की की दृष्टि से?

तिष्य०—महाराज वह सेविका है, आपके चरणों की छाया ही में वह कृपा के जल से बड़ी हुई है।

अशोक—किन्तु आवश्यकता से अधिक बढ़ने पर उसे काटने छाँटने की आवश्यकता होगी। देवी, मैं अपने शिविर में शत्रु-पक्ष के किसी व्यक्ति को अब रहने की आज्ञा नहीं दे सकता।

तिष्य०—किन्तु अब वह शत्रु-पक्ष की कहाँ है महाराज! वह तो उस समय से आपकी सेविका है, जब कलिंग से युद्ध भी नहीं हुआ था।

अशोक—किन्तु कृपा की दृष्टि राजनीति की दृष्टि नहीं होती देवी! आज युद्ध से लौटते समय मैंने चारु के संबंध में विचार किया था।

तिष्य०—युद्ध से लौटते समय!

अशोक—हाँ, युद्ध से लौटते समय कलिंग के कुछ व्यक्ति मुझे प्रणाम कर रहे थे, मुझे उनके प्रणाम में चारु का प्रणाम दीख पड़ा। यदि इस समय चारु नृत्य न भी करती तो भी मैं उसे दण्डित तो करता ही!

तिष्य०—किन्तु वह बेचारी!

अशोक—राजनीति तिष्यरक्षिता नहीं है देवी, जो दया से तरल हो जावे। लेकिन आज तुम्हारे कहने से मैंने राजनीति को स्त्री का हृदय बना दिया।

तिष्य०—महाराज, आपकी कृपा। आप विश्राम कीजिये!

अशोक—देवी, मुझे विश्राम! पितामह चंद्रगुप्त ने २४ वर्ष के शासन में कितना विश्राम लिया! तक्षशिला से मगध तक पृथ्वी का प्रत्येक कण उनकी आहट सुनकर काँपता था। बहुत से छोटे छोटे राज्यों को एक संघ में गूंथकर उन्होंने अपनी राज्यश्री को विजयमाल पहनाई थी। सेल्यूकस निकेटर से उन्होंने गांधार और सीमाप्रांत लेकर आर्यावर्त के मुकुट में कुछ रत्न और जड़ दिये थे। मैं उन्हीं की सन्तान हूँ देवी। विश्राम के लंबे क्षणों में राज्यसीमा संकुचित हो जाती है।

तिष्य०—ठीक है महाराज, पर कलिंग युद्ध ने आपको बहुत उत्तेजित कर दिया है!

अशोक—कलिंग अपने को सम्राट् मानता है। वह पाटलीपुत्र का आधिपत्य नहीं मानता। सुमात्रा और जावा में उसने अपने उपनिवेश स्थापित कर रक्खे हैं। जलयानों में विहार करता है और समझता है कि वह आर्यावर्त्त का सम्राट् है। तिष्या, वह मेरे शासन के मार्ग को एक स्तूप बनकर रोकना चाहता है। मैं आचार्य उपगुप्त के उपदेशों की भाँति उसे भी ठोकर मार देना चाहता हू।

तिष्य०—महाराज आचार्य उपगुप्त में और कलिंग में समानता नहीं हो सकती।

अशोक—क्यों नहीं! आचार्य उपगुप्त बौद्ध धर्म के सबसे बड़े नेता हैं, कलिंग विद्रोहियों का सबसे बड़ा नेता है। मैं बौद्ध धर्म और कलिंग दोनों का नाश करूंगा।

तिष्य०—क्षमा, दया, करुणा, महाराज! आचार्य उपगुप्त कल यहाँ आए थे। उन्होंने कलिंग के भीषण रक्तपात को देखकर कहा था कि बुद्धि का अक्षय कोष मनुष्य थोड़ी-सी भूमि के लिये मनुष्यत्व को मिट्टी में मिला देना चाहता है। कलिंग के संबंध में कहा था कि अहंकार [illegible] नहीं हुआ है और होगा।

अशोक—यह व्यंग्य [illegible] किया गया है देवी!

तिष्य०—महाराज उनके कथन में भी सत्य है। क्या अहंकार का नाश नहीं होना चाहिये?

अशोक—अहंकार और राज्य धर्म में अंतर है। राज्य धर्म पाटलीपुत्र का अधिकार है और अहंकार कलिंग की वृत्ति है। उसे अपनी सेना का अहंकार है। उसके पास साठ हज़ार पैदल, सात सौ हाथी और एक हज़ार घुड़ सवार हैं। समझता है कि वह इन्द्र का वंशज है। मैं अपनी सेना के हाथों से उसके अहंकार के पौधे को उखाड़ फेकूंगा तिष्या!

तिष्य०—कितनों का एक बखेड़ा महाराज!

अशोक—उसमें आर्यावर्त्त को नहलाकर पवित्र करना चाहता हूँ देवी!

[नैपथ्य में भयानक तुमुल ! किसी स्त्री का क्रन्दन स्वर—अशोक का नाश हो ..अशोक का सर्वनाश हो !! प्रहरी का स्वर—पुष्य—मार डालो इसे भी !]

तिष्य०—[कान बन्द कर क्रन्दन स्वर से] नहीं, महाराज ! [अशोक के वक्षस्थल में छिप जाती है। अशोक जोर से आवाज देता है] नहीं। [फिर उसकी पीठ पर हाथ फेर कर] शान्त हो ! शान्त हो—मैं अभी देखता हूँ। [अशोक तिष्य को सम्हाल कर आसन पर बिठलाता है, फिर शिविर की खिड़की से देखता हुआ] पुष्य, इस स्त्री को मेरे शिविर में भेजो।

[तिष्य अपने दोनों हाथों से नेत्र बंद किये हुए है। अशोक तिष्य के दोनों हाथों को आँखों से हटा अपने हाथों में लेता है।]

अशोक—देखो, मैं अभी देखता हू कौन है !

तिष्य०—महाराज, मैं आपका अमंगल नहीं सुन सकती। [आकाश की ओर देखते हुए] महाराज का मंगल हो, महाराज का मगल हो, महाराज का मगल हो।

अशोक—कोई स्त्री है, [illegible] मे एक बच्चे को लिए हुए है !

तिष्य०—मैं पूछूं भी वह कौन है—वह क्यों ऐसी अशुभ बात मुख से निकालती है ?

अशोक—अवश्य—तुम्हीं पूछो। मैं शस्त्र बदलने जाता हूँ। [जाता है]

[प्रहरी एक स्त्री को लेकर आता है। तिष्य के संकेत से प्रहरी हट जाता है। वह स्त्री लगभग २५ वर्ष की होगी। उसके बाल और वस्त्र अस्त व्यस्त हैं। वह अपने बच्चे को गोद में लिए हुए है। उसकी मुद्रा पागल स्त्री की तरह है।]

तिष्य०—आओ, आओ, देवी, तुम कौन हो !

स्त्री०—[विस्फारित नेत्रों से एक बार ही फूट कर] ओह, रानी ! अशोक का सर्वनाश हो—अशोक का सर्वनाश हो...मुझे भी मार डालो, मुझे भी मार डालो।

तिष्य०—ठहरो ठहरो, तुम महाराज के सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकतीं। चुप रहो। क्या चाहती हो !

स्त्री०—मैं क्या चाहती हूं ! मेरे बच्चे के टुकड़े टुकड़े कर डालो। यह अभी मरा नहीं है। [पुत्र की ओर देखकर] लाल, अभी तुम मरे नहीं हो। ये लोग तुम्हारे टुकड़े टुकड़े कर डालेंगे, तब तुम मरोगे। तब तक कुछ तो बोलो—बोलो मेरे लाल ! [अपने बच्चे को अपने हाथों ही में झकझोरती है।]

[अशोक का प्रवेश। वह दूर चुपचाप इस तरह खड़ा हो जाता है कि तिष्य के पीछे है और तिष्य की दृष्टि उस पर नहीं पड़ती। स्त्री अपने बच्चे को देखकर]—तेरा खून इतना मीठा है मेरे बच्चे ! राजा तक उसे पीना चाहता है ! और खून हो तो अपने नन्हे से कलेजे को सामने रख दे। ये सब मिल कर पीलें।

तिष्य०—क्या तुम्हारा बच्चा मर गया है ! कैसे !

स्त्री०—अशोक राक्षस ले गया मेरे बच्चे को। राज्य नहीं चाहता था मेरा लाल, लेकिन मेरे लाल को अशोक ले गया। ले गया इसे—

अशोक—[आगे बढ़ कर] यह क्या कह रही हो तुम ? ठीक तरह से बतलाओ तुम्हारा न्याय होगा। यह बच्चा कैसे मरा ?

स्त्री०—मुझे न्याय नहीं चाहिए—नहीं चाहिए ! पाटलीपुत्र से न्याय उठ गया ! इसके पिता को सैनिकों ने घेर कर मारा और जब मैं इसे बचाने लगी तो इसके फूल से कलेजे में भाला घुमेड़ दिया उन राक्षसों ने। मेरे बच्चे को राज नहीं चाहिए था। मेरा छोटा राजा तुम्हारा राज नहीं चाहता था। तब भी इसे—तब भी इसे .....

अशोक—ठहरो मैं उन दुष्टों को दंड दूँगा। वीरों के लिए उनका भाला है, शिशुओं के लिए नहीं !

तिष्य०—महाराज न्याय होना चाहिए बेचारी स्त्री का !

अशोक—होगा और अवश्य होगा !

स्त्री०—मैं अब न्याय लेकर क्या करूँगी ! लाओ महाराज, मैं तुम्हें राजतिलक कर दूँ। अपने बच्चे के खून का तिलक लगा कर—महाराज अशोक... चक्रवर्ती अशोक...

अशोक—मैं अभी न्याय करूँगा। पुष्य ...

[प्रहरी का प्रवेश]

अशोक—इस स्त्री को विश्राम शिविरों में ले जाकर अपराधियों की पहिचान कराओ मैं अभी आता हूँ। जाओ...

[जाने को उद्यत होता है]

अशोक—और उन अपराधियों को बंदी कर मेरे सामने अभी उपस्थित करना। समझे।

प्रहरी—जो आज्ञा। [स्त्री से] चलो। [स्त्री को बलपूर्वक ले जाता है।]

स्त्री०—[जाते हुए नैपथ्य से] मेरा बच्चा, मेरा लाल ! [धीरे धीरे शब्द क्षीण हो जाता है। कुछ देर तक स्तब्धता रहती है। अशोक विचार-मग्न हैं, तिष्य कहती है।]

तिष्य०—महाराज, मुझे मूर्छा सी आ रही है।

अशोक—देवी, विश्राम करो। मैं अभी न्याय करूँगा।

तिष्य०—महाराज, यह रक्तपात अब बन्द हो!

अशोक—एक छोटी सी घटना राज्य की बढ़ती हुई बेल को काट दे! यह घटना तुम्हारा चित्र नहीं है देवी, जिसमें तूलिका के हलके झटके से राज्य की बेल कट जाय! देवी, युद्ध में तो यह सब होता ही है!

तिष्य०—महाराज, मैं क्या करूँ!

अशोक—विश्राम करो। मैं विश्राम शिविरों में अभी जाता हूँ। सेना के विश्राम की क्या व्यवस्था है, घायलों की क्या शुश्रूषा हो रही है, यह मुझे देखना है। [पुकार कर] राजुक ! [राजुक का प्रवेश।]

अशोक—महामात्रों से कहो कि अश्व तैयार हों। उन्हें मेरे साथ नैश-निरीक्षण करने के लिए चलना होगा।

रा०—जो आज्ञा महाराज ! [जाता है।]

अशोक—देवी महाराज बिंदुसार ने राज्य की सीमा नहीं बढ़ाई। वे कदाचित् यह उत्तरदायित्व मेरे लिए छोड़ गए हैं। सम्राट चन्द्रगुप्त के परिश्रम की परंपरा कुछ वर्षों तक तो चले !

तिष्य०—कब तक महाराज !

अशोक—जब तक कि पाटलीपुत्र का प्रवासी नागरिक कलिंग के जनपद में निवासी होकर रहेगा।

[राजुक का प्रवेश]

रा०—महाराज, महामात्र और अश्व तैयार हैं !

अशोक—अच्छा, जाओ, मैं अभी आता हूँ। [तिष्य से] देवी, आज उस स्त्री का न्याय भी करूँगा और निरीक्षण भी। सैनिकों को पुरस्कार और दंड की व्यवस्था एक साथ ही होगी। देवी, मंगल कामना करो कि मगध चिरजीवी हो।

तिष्य०—महाराज, मेरे दुःख में भी मगध चिरजीवी हो।

[अशोक का प्रस्थान।]

तिष्य०—वायु के प्रवाह की भाँति सदैव अस्थिर! अभी आए और अभी चले गए! मैं क्या करूँ! [चित्र की ओर दृष्टि डालती है।] यह चित्र ! [क्रोध से फाड़ कर फेंक देती है। पुकार कर] स्वयंप्रभा !

[स्वयं प्रभा का प्रवेश वह प्रणाम करती है।]

स्व०—महारानी जी, यह क्या? यह चित्र किसने फाड़ दिया ! ओह...इतना सुन्दर चित्र !

तिष्य०—मैंने—मैंने इसे नष्ट कर दिया।

स्व०—मैं इसे जोड़ सकती हूँ ?

तिष्य०—नहीं। इसे उठा कर बाहर फेंक दे।

[स्वयप्रभा फटे हुए चित्र के टुकड़े एकत्रित करती है।]

तिष्य०—स्वयंप्रभा, महाराज गए?

स्व०—जी महारानी जी, पाँच महामात्रों के साथ अभी अभी गए हैं!

तिष्य०—चले गए। तू क्या कर रही थी ?

स्व०—महारानी जी, आपके सुंदर गीतों की स्वरलिपि लिख रही थी!

तिष्य०—सब को नष्ट कर दे। महाराज यह सब कुछ नहीं चाहते!

स्व०—महारानी जी, बड़े सुंदर गीत हैं!

तिष्य०—इस विषय में बात मत कर! जा

[स्वयमप्रभा जाना चाहती है।]

ति०—चारु कहाँ है?

स्व०—महारानी जी, अभी तो यहीं थी। कदाचित् शिविर कक्ष में हो!

तिष्य०—रो रही थी?

स्व०—महारानी जी, उदास तो बहुत थी। ज्ञात होता था कि उसके आँसू सूख गए हैं, किन्तु हृदय रो रहा है।

तिष्य०--तूने उससे बातें कीं?

स्व०—महारानी जी, मैंने आपके गीतों की स्वरलिपि पूछी, वह कुछ भी नहीं कह सकी!

तिष्य०--बेचारी चारु! आज चारु पर महाराज बहुत अप्रसन्न हुए!

स्व०--महारानी जी, उससे कभी कोई अपराध ना हुआ नहीं।

तिष्य०—कहते थे कि वह कलिंग की है, शत्रु-पक्ष की।

स्व० महारानी जी, आज तक महाराज की सेवा उसने जितनी श्रद्धा और शक्ति से की है, उतनी पाटलीपुत्र की किसी सेविका ने नहीं। वह तो महाराज के अंतःपुर की अंगरक्षिका की तरह है।

तिष्य०—हाँ, मैं भी यही समझती थी।

स्व०—महारानी जी, महाराज की इच्छा ही उसके कार्य का नाम है। वह कैसे विश्वासघातिनी हो सकती है?

तिष्य०—कहते थे राजनीति की दृष्टि दया की दृष्टि नहीं है।

स्व०—महारानी जी, राजनीति भी कोई राजनीति है यदि उसमें सच्ची सेवा और सच्चे प्रेम में संदेह उत्पन्न हो जाय!

तिष्य०—यही संदेह तो शायद उनके जीवन की सफलता है। उन्होंने शत्रु के छोटे से छोटे कार्य को अपनी शक्ति से छिन्न-भिन्न कर दिया। आज मेरी प्रार्थना पर ही उन्होंने चारु को क्षमा किया।

स्व०—महारानी जी, आपकी करुणा ने महाराज की शक्ति के साथ रह कर राज्य को संतुलित किया है।

तिष्य०—स्वयप्रभा, आज मेरी करुणा सीमा तक पहुँच गई!

स्व०—कैसे महारानी जी!

तिष्य०—एक स्त्री के छोटे से बच्चे को सैनिकों ने मार डाला।

स्व० —हाँ, महारानी जी, मैंने सुना!

तिष्य०—महाराज न्याय करने गए हैं। देखें, क्या न्याय करते हैं। मैं तो आज बहुत अशांत हूँ!

स्व०—महारानी जी, विश्राम कीजिये......

[नेपथ्य में—बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि।]

स्व०—आचार्य उपगुप्त का कंठ-स्वर महारानी जी!

तिष्य०—[स्वस्थ होकर] जाकर उन्हें यहाँ ले आ। मैं बहुत विह्वल हो रही हूँ।

स्व०—जो आज्ञा महारानी जी। [स्वयप्रभा जाती है]

तिष्य०—महात्मा उपगुप्त......

[सम्हल कर उठती है और स्वयं आसन ठीक करती है। प्रतीक्षा दृष्टि से द्वार की ओर देखती है। स्वयप्रभा के साथ महात्मा उपगुप्त का प्रवेश। महात्मा उपगुप्त बौद्ध भिक्षु के वेश में हैं। गैरिक वस्त्र धारण किए हुए हैं। हाथ में मधुकरी का पात्र।]

तिष्य०—प्रणाम करती हूँ महाभिक्षु जी!

उ०—[अभय हस्त] सुखी रहो देवी! क्या महाराज नहीं हैं?

तिष्य०—महात्मन्, वीर पुरुष घर नहीं रहते। रणक्षेत्र ही उनका घर है।

उ०—देवी, रणक्षेत्र हृदय को शांति नहीं दे सकता! तथागत ने कहा है—अहंकार और ईषणा का नाश करो। यह युद्ध अधिकार-लिप्सा है, इसका अंत नहीं है देवी!

तिष्य०—महात्मन् आपका उपदेश महाराज के कानों तक पहुँचा ?

उ०—देवी, महाराज नीतिकुशल हैं। मेरी बातें सुनते हैं। मुस्कुरा कर कहते हैं—आप थक गए होंगे महाभिक्षु, विश्रामगृह आप की प्रतीक्षा कर रहा है।

तिष्य०—महात्मन्, यह युद्ध बंद होना चाहिये। मैं इस अत्याचार को सहन नहीं कर सकती।

उ०—देवी, इस अत्याचार को कौन सहन कर सकता है! एक लाख आदमी तो रणक्षेत्र में मर गए। तीन लाख घायल हुए हैं, जो एक लाख के पथ का अनुसरण करना चाहते हैं। देवी, रक्त की नदियाँ बह निकली हैं जो महानदी की समानता करना चाहती हैं। कलिंग राज्य के घर फूल की पखुड़ियों की तरह गिर रहे हैं। देवी, तुम कुछ नहीं कर सकतीं ?

तिष्य०—महात्मन्, आज मैं रानी न होकर एक साधारण स्त्री होती, तो किसी प्रकार आत्म-बलिदान कर महाराज के मन की दशा बदल देती। स्त्री होकर पति के मार्ग की बाधिका बनने का साहस मुझमें नहीं होता। राज्य-वंश की मर्यादा कैसे नष्ट करूँ। महात्मन्, मैं रानी होकर साधारण स्त्री भी नहीं रही!

उ०—तो कहता हूँ देवी, शांत होओ। जब तक मनुष्य 'आर्य-सत्य' से परिचित नहीं होता, उसे दुःख उठाना ही पड़ता है। तथागत ने कहा है—भिक्षुओ मैं सब बन्धनों से—लौकिक और अलौकिक से—रहित, हो गया। अनेक के लाभ के लिए विचरण करो, अनेक के हित के लिए विचरण करो, संसार के प्रति करुणा के लिए विचरण करो, देवताओं और मनुष्यों के कल्याण के लिए विचरण करो। देवी, मुझे विश्वास है, महाराज अशोक इस धम्म शिक्षा को मानकर संसार का कल्याण करेंगे।

तिष्य०—भिक्षुराज, मुझे विश्वास नहीं होता।

उ०—समय की प्रतीक्षा करो। महाराज में परिवर्त्तन होगा। जब किसी व्यक्ति में शक्ति की क्षमता होती है, तो बुरे मार्ग से अच्छे मार्ग पर और अच्छे मार्ग से बुरे मार्ग पर जाने में विलम्ब नहीं लगता। महाराज अशोक में शक्ति की क्षमता है और वे बुरे मार्ग पर हैं। किसी भयानक भावना से उनके हृदय की दिशा-परिवर्तन संभव है। वे विजय के आकांक्षी हैं। विजय प्राप्त करें, किन्तु हिंसा से नहीं, अहिंसा से। वे शासन करना चाहते हैं, करें किन्तु क्रोध से नहीं करुणा से। वे विनाश करें, किन्तु जाति का नहीं अपनी इच्छा का। वे ज्ञान प्राप्ति में प्रयत्नशील हों, राज्य प्राप्ति में नहीं। ज्ञान अमर है, राज्य क्षण भंगुर है!

तिष्य०—महाभिक्षु, आपका ज्ञान सुनकर हृदय को शांति मिलती है।

उ०—शांति लाभ करो देवी, यही पथ निर्वाण का है। अच्छा देवी, अब मैं जाऊँगा। [उठ खड़े होते हैं।]

तिष्य०—महात्मन्, आशीर्वाद दीजिये कि राज्य में शांति हो।

उ०—ऐसा ही हो!

तिष्य०—महात्मन्, मधुकरी स्वीकार कीजिये।

उ०—जैसी इच्छा

तिष्य०—मैं अपने हाथ से लाऊँगी।

[तिष्य०—भीतर जाती है।]

स्व०—महात्मन्, आपसे एक प्रार्थना करना चाहती हूँ।

उ०—कैसी!

स्व०—महात्मन्, आप चारु को तो जानते हैं ?

उ०—हाँ, हाँ, महाराज की सेवा में सतत रहने वाली!

स्व०—आज वह बहुत दुःखी है!

उ०—क्यों ?

स्व०—महाराज का उस पर से विश्वास उठ गया है!

उ०—इसलिये कि वह कलिंग से उत्पन्न है ?

स्व०—जी हाँ।

उ०—तो उसके लिये उचित तो यही है कि वह महाराज की सेवा और भी संलग्नता के साथ करे। सदेह को सेवा से नष्ट कर दे! वह इस समय कहाँ होगी!

स्व०—महाराज के बाहरी शिविर में !

उ०—अच्छा, मैं उससे मिलता जाऊँगा। उसे संतोष और शांति देकर फिर मैं सघाराम जाऊगा।

स्व०—महात्मन् , बड़ी कृपा होगी आपकी !

उ०—यह तो तथागत की आज्ञा है।

[तिष्य मधुकरी लेकर आती है।]

तिष्य०—मुझे अपने हाथों आपकी सेवा मे मधुकरी लाने में विशेष हर्ष होता है महात्मन् !

उ०—यह तुम्हारी दया है देवी !

[तिष्य उपगुप्त को मधुकरी देती है।]

उ०—अच्छा, अब जाऊँगा।

तिष्य०—महात्मन् , प्रणाम।

उ० सुखी रहो।

तिष्य०—स्वय, महाभिक्षु को शिविर-द्वार तक पहुँचा दो।

स्व० जो आज्ञा।

[स्वय का उपगुप्त के साथ प्रस्थान]

तिष्य०—[सोचते हुए] तिष्य, तेरी दशा एक कीड़े की तरह है, जो ऐसी लकड़ी में रहता है जिसके दोनों ओर आग लग रही है। तू कहा रहेगी !

[स्वय का प्रवेश] महारानी, महाभिक्षु जी जाते समय आपके लिए स्वस्ति वचन कह गए हैं।

तिष्य०—तथागत को प्रणाम। स्वयप्रभा, या तो मैं संघाराम चली जाऊँगी या वनवासिनी हो जाऊँगी।

स्व०—महारानी जी, आप शान्त हों।

तिष्य०—नहीं स्वयप्रभा, अब मुझे इस राज्य—श्री से घृणा हो रही है। उसके सजाने के लिए कितने मनुष्यों को बलि देनी पड़ रही है। रात दिन युद्ध की बातें सुनते सुनते जैसी मेरी श्रवण-शक्ति विद्रोह कर रही है। अब मैं और कुछ सुनना नहीं चाहती। देख, इतनी अच्छी प्रकृति है। यहाँ ये पेड़ और पर्वत कैसे सुख मे दीख पड़ रहे हैं—ये तो किसी से लड़ने नहीं जाते, किसी का खून नहीं बहाते; लेकिन रात दिन इन पर हरियाली छाई रहती है, फूल खिलते रहते हैं। निर्झर इनके चरणों को धोते रहते हैं। इन्हें किस बात की कमी है ! यह मनुष्य ही रात दिन न जाने किस सुख के लिए दूसरे का सुख नष्ट करने में जुटा रहता है ! खून की नदियाँ बहाता है।

स्व०—महारानी जी, जीवन का सत्य यही है।

तिष्य०—और स्वयप्रभा, अगर मैं स्त्री न होकर इसी पास के पेड़ की एक कली होती, तो आनन्द के साथ बसन्त के एक प्रातःकाल में खिलकर सारे ससार को एक बार हँसती हुई आँखों से देख लेती और शाम होने पर सूर्य के पीछे पीछे मैं भी चली जाती। स्त्री होकर—और महारानी होकर—मैं सुखी नहीं हूँ स्वयंप्रभा। जीवन के सत्य से बहुत दूर जो जा पड़ी हूँ।

स्व०—महारानी जी, आपका हृदय शान्त हो।

तिष्य०—स्वयप्रभा कैसे शान्त हो ? शान्ति का उपाय करने के बदले मे अशान्ति की लहरों में बही जा रही हूँ। पास में कोई कूल–किनारा नहीं है। मालूम होता है कलिंग युद्ध की समाप्ति होते होते मेरा जीवन भी समाप्त हो जायगा !

स्व०—महारानी जी, दुखी न हों। ऐसी बातें न करें !

तिष्य०—मैं महाराज के सामने बहुत साहस कर कुछ बातें कहना चाहती हूँ। या तो मैं कह नहीं सकती या महाराज की दृष्टि मुझे कहने नहीं देती। साहस कर दो एक शब्दों में यदि कुछ कहती भी हूँ, तो महाराज की वीरता की लहर में मेरे शब्द बुद्‌बुद् की भाँति बह जाते हैं।

स्व०—महारानी जी, आप जो कुछ भी कह सकती हैं, महाराज के सामने उतना कहने की शक्ति ससार के किसी व्यक्ति में भी नहीं है।

तिष्य०—किन्तु उसका परिणाम कुछ नहीं। स्वयप्रभा, चारु को बुलाएगी ?

[नैपथ्य में महाराज अशोक की जय—जय !]

तिष्य०—स्वयप्रभा, रहने दे, किसी को मत बुला। महाराज आ रहे हैं।

[चिंतित मुद्रा में अशोक का प्रवेश। तिष्य प्रणाम करती है। स्वयप्रभा अधिक झुककर प्रणाम करती है।]

अशोक—देवी, न्याय नहीं हो सका !

तिष्य०—महाराज, उस स्त्री का न्याय !

अशोक—हाँ देवी, वह स्त्री उसी शिविर में आत्महत्या करके मर गई !

तिष्य०—मर गई ! [करुण स्वर में] आह, बेचारी स्त्री !

अशोक—मैंने पुष्य को आज्ञा दी थी कि वह उस स्त्री को विश्राम शिविर में ले जाकर खड़ी कर दे। शिविर का प्रत्येक सैनिक उसके सामने आए और वह स्त्री उस सैनिक को पहिचाने, जिसने उसके शिशु की छाती में भाला घुमेड़ दिया था। मुझे ज्ञात हुआ कि १२३ सैनिक घरों में घुसे थे। उन्हीं १२३ सैनिकों के भाग्य का निर्णय था, किन्तु उस स्त्री ने १७ सैनिकों के आने पर एक बार अपने बच्चे को चूमा, हृदय मे चिपटा लिया और अट्ठारहवें सैनिक की कमर से छुरी निकाल कर स्वय आत्महत्या कर ली ! पुष्य उसे रोक ही नहीं सका और वह खून की नदी में तड़पने लगी। देवी, उसने मेरे न्याय पर विश्वास नहीं किया। उसने मेरी राज्यसत्ता मे बढकर अपने बच्चे को समझा !

तिष्य०—महाराज, माता का हृदय संसार के किसी वैभव से नहीं तुल सकता। वह सबसे बड़ा है।

अशोक—किन्तु माता के हृदय में विशालता भी तो होती है !

तिष्य०—पहले वह अपने बच्चे के लिये होती है महाराज ! आप अनुमान कर लीजिये कि इस युद्ध में जितने वीरों की मृत्यु हुई है, उनकी माताओं के हृदय की क्या दशा होगी !

अशोक—मैं देख रहा हूँ देवी ! आज एक बच्चे की माँ ने मेरे सारे साम्राज्य को तुच्छ सिद्ध कर दिया !

तिष्य०—महाराज आर्यावर्त्त के सबसे बड़े वीर हैं।

अशोक—देवी, आज विश्राम शिविर में जाने पर ज्ञात हुआ कि एक लाख से अधिक सैनिक अभी तक युद्ध में मारे जा चुके हैं, जिनमें आधी से अधिक सख्या कलिंग के सैनिकों की है। तीन लाख सैनिक घायल हुए हैं। उनकी माताओं के हृदय की क्या अवस्था होगी !

तिष्य०—[आश्चर्य और दुःख में] महाराज, चार लाख वीर संग्राम की बलि हुए हैं !

अशोक—जब कलिंग नरेश को ज्ञात हुआ कि चार लाख वीर इस सग्राम भूमि की बलि हुए हैं, तब उसने यह संधि-पत्र भेजा है। [संधि-पत्र खोलते हुए] आज पाटलीपुत्र की विजय हुई, किन्तु देवी उस स्त्री की आत्महत्या ने मेरा ध्यान संग्राम में मरे हुए वीरों की माताओं की ओर आकर्षित कर लिया है और मेरी विजय में जैसे उल्लास के बदले अभिशाप तड़प रहा है।

[बाहर कोलाहल होता है। "चारु" "चारु" "क्या हुआ", "अभी प्राण शेष हैं," "कहाँ चोट लगी है" ? "यह कैसे हुआ," "शान्त शान्त" की आवाज आती है।]

अशोक—[चौंक कर] यह कैसा शब्द। राजुक !

[राजुक का प्रवेश]

रा०—महाराज, चारुमित्रा का मृत शरीर बाहर है।

अशोक—[पुन: चौंक कर] चारुमित्रा का मृत शरीर !

तिष्य०—ओह चारु—[सिर झुकाकर बैठ जाती है।]

रा०—जी हा, उन्हें तलवार का गहरा घाव लगा है ! आचार्य उपगुप्त उनके साथ हैं।

अशोक—शीघ्र ही भीतर लाओ।

[चारुमित्रा का शरीर लेकर दो प्रहरी आते हैं। साथ में उपगुप्त भी हैं।]

अशोक—महाभिक्षु को अशोक का प्रणाम ! महात्मन्, यह क्या ! [प्रहरियों से] वह शरीर नीचे रखदो ! ओह चारुमित्रा ! [प्रहरी शरीर रख देते हैं।]

तिष्य०—ओह मेरी चारु, मेरी चारु !!

उ०—देवी शान्त हों। महाराज, यह चारुमित्रा की स्वामिभक्ति का प्रमाण है !

अशोक—स्वामिभक्ति ! कैसी स्वामिभक्ति ! अभी जीवित है चारु !

उ०—महाराज, अभी जीवित तो है, पर वह अचेतावस्था में है।

तिष्य०—महात्मन्, क्या हुआ, क्या हुआ !

उ०—देवी, शान्त हो। चारुमित्रा ने आज संसार के सामने यह घोषित कर दिया कि एक नारी में कितनी शक्ति है, कितनी क्षमता है !

अशोक—किस प्रकार महात्मन् !

उ०—मैंने सुना था कि आपने चारुमित्रा पर अविश्वास किया था !

अशोक—हाँ, वह कलिंग की अधिवासिनी थी। अविश्वास होना स्वाभाविक था।

उ०—किन्तु महाराज उसने बाल्यावस्था से आपकी सेवा की थी और आज उस सेवा से उसने अपने कलिंग को अमर बना दिया !

अशोक—मैं उत्सुक हूँ महाभिक्षु, चारु के सम्बन्ध में सुनने के लिये !

उ०—महाराज ! आर्यावर्त्त जानता है कि आपने रक्त की नदी से कलिंग युद्ध में कितने वीरों को रणक्षेत्र में सुला दिया है। आपने रक्त की नदी से कलिंग की भूमि को लाल बना दिया है। और अब तो आपकी विजय निश्चित भी है।

अशोक—मैंने विजय प्राप्त कर ली महाभिक्षु, यह सन्धि-पत्र है।

उ०—महाराज इस सन्धि-पत्र से अधिक मूल्यवान चारु का बलिदान है !

अशोक—[आश्चर्य से] बलिदान !

तिष्य०—मेरी चारु ने अपना बलिदान कर दिया !

उ०—हाँ, महारानी जी, महाराज के अविश्वास से उसे हार्दिक दुःख हुआ था। आज वह महाराज के बाहरी शिविर से महाराज से आज्ञा लेकर चली जाती और महानदी की लहरों में विश्राम करती, किन्तु उसके पूर्व ही उसे विश्राम करने का अवसर मिल गया !

अशोक—किस प्रकार ! शीघ्र बतलाइये।

उ०—महाराज ! यदि चारुमित्रा के चरित्र गान में कुछ विलम्ब लग जाय, तो आप मुझे क्षमा कीजिये। उसका चरित्र ही ऐसा है ! आज चारुमित्रा आपके बाहरी शिविर में आपके लौटने की प्रतीक्षा कर रही थी, किन्तु सम्भवतः आज आपके लौटने में देर हुई !

अशोक—हाँ आज मैं शिविरों के निरीक्षण के लिए चला गया था। अभी तक मैं अपने बाहरी शिविर में शयन के लिए नहीं पहुँचा।

उ०—महाराज, उस शिविर में आप पर आक्रमण करने के लिए कलिंग के कुछ सैनिक छिपे हुए थे। वे सन्ध्या से ही मगध सैनिकों के वस्त्र में शिविर में घूम रहे थे। चारुमित्रा को उन पर सन्देह हुआ। उसने उनसे बातें कर यह जान लिया कि ये कलिंग के सिपाही हैं।

अशोक—[आश्चर्य से] फिर !

उ०—महाराज, देवी चारुमित्रा ने उन्हें धिक्कारते हुए कहा—कि कायरो, तुम लोग मेरे देश कलिंग के नाम को कलंकित करने वाले हो ! यदि महाराज अशोक को मारना है, तो युद्ध में तलवार लेकर क्यों नहीं जाते ! यहां चोरों की तरह घुस कर एक वीर पुरुष से छल करते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती !

अशोक—चारुमित्रा तुम धन्य हो ! तुम देवी हो !

उ०—महाराज ! उन सैनिकों ने चारुमित्रा को लालच दिया ! कलिंग की विजय का स्वप्न दिखलाया, किन्तु चारुमित्रा ने कहा कि मैं अपने स्वामी से विश्वासघात नहीं कर सकती। मैं देशभक्ति को जितना आदर देती हूँ, उतना ही स्वामिभक्ति को !

अशोक—चारु, तू अमर हो !

उ०—महाराज, चारु निश्चय ही अमर होगी। उसने उन सैनिकों को हट जाने के लिए ललकारा। जब वे नहीं हटे तो कक्ष में टँगी हुई आपकी तलवार लेकर उसने उन सैनिकों पर आक्रमण कर दिया।

तिष्य०—धन्य चारु, चारु सैनिक भी है !

उ०—हाँ, देवी, दो सैनिक तो घायल होकर भाग गए, लेकिन एक सैनिक की तलवार चारु के कंधे पर लगी और वह गिर पड़ी। उसी समय मैं पहुँचा, वह कायर वहाँ से भाग कर पास की झाड़ी में छिप गया।

देवी चारु ने अचेत होने से पहले सारी कथा मुझे टूटे-फूटे शब्दों में सुनाई थी।

अशोक—धन्य है चारु, आज तूने अपने देश कलिंग को अमर कर दिया।

तिष्य०—महाराज, मेरी चारु......

अशोक—महारानी, अधीर मत हो। चारु ने जो कार्य किया है, वह नारी जाति के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा जायगा। और सुनो देवी, आज से अशोक ने...अत्याचारी अशोक ने युद्ध को सदैव के लिए छोड़ दिया।

सब०—महाराज अशोक की जय!

उ०—प्रियदर्शी महाराज अशोक की जय!

अशोक—महाभिक्षु, आज से मैं अहिंसा का पालन करूँगा। और देखूँगा कि किसी मनुष्य का रक्त इस पृथ्वी पर न पड़े। प्रत्येक स्थान पर, सिंहासन पर, अंतःपुर में, विहार में, मैं जनता की सेवा करूँगा। आज से मेरा महान् कर्तव्य होगा कि मैं सब जीवों की रक्षा का अधिक से अधिक प्रबन्ध करूँ।

उ०—देवानामप्रिय प्रियदर्शी महाराज अशोक की जय!

अशोक—मेरे आदेशों को शिलालेख के रूप में लिखवा कर समस्त आर्यावर्त में प्रचार कर दो कि अशोक आज से उनकी रक्षा करने वाला उनका बन्धु है।

चारु०—[बेहोशी दूर होने पर] महाराज अशोक की जय!

तिष्य०—ओह, चारु, चारु, मेरी चारु, तू अच्छी है!

अशोक—चारुमित्रा की जय! चारु!

चारु०—महाराज, क्षमा! आपकी आज्ञा थी कि मगध की ओर से तलवारों के साथ भैरवी नृत्य सीखूँ! पूरी तरह नहीं सीख सकी, क्षमा हो!

अशोक—चारुमित्रा, तू पाटलीपुत्र की शोभा है, उसके गौरव की विभूति है।

चारु०—महाराज, आग के अंगारों पर नाचने का अवसर तो आपने नहीं दिया, अब मैंने अंगारों पर अपनी देह रखने का अवसर आप से माँग लिया! [तिष्य से] क्षमा करें देवी!

तिष्य०—ओह चारु, तू अच्छी हो जायगी।

चारु०—नहीं देवी! महाराज अशोक की जय! [आँख बंद कर लेती है। अशोक अवाक् हो चारुमित्रा की ओर देखते रह जाते हैं।]*

[परदा गिरता है]

* इस नाटक का सर्वप्रथम अभिनय इलाहाबाद यूनिवर्सिटी 'विमेन्स' हॉस्टल द्वारा श्री चन्द्रावती त्रिपाठी एम० ए० के निर्देशन में १६ नवम्बर १९४१ को हुआ। भूमिका इस प्रकार थी—

१—अशोक—कुमारी कुमुदिनी गुप्ता
२—तिष्यरक्षिता—कुमारी शकुन्तला चतुर्वेदी
३—चारु—कुमारी लवंगलता जोशी बी० ए०
४—उपगुप्त—कुमारी सुरेन्द्रमोहिनी सिनहा
५—राजुक—कुमारी चन्द्रकान्ता कोचर
६—स्त्री—कुमारी कमला सक्सेना बी० ए०
७—पुष्य—कुमारी राजकुमारी कोहली

ऐ आदमी के बेटे !

मुहम्मद साहब ने एक बार कहा—

मरने के बाद अल्लाह पूछेगा—"ऐ आदमी के बेटे ! मैं बीमार था और तू मुझे देखने नहीं आया !"

आदमी कहेगा—"ऐ मेरे रब्ब ! मैं तुझे देखने के लिये कैसे आ सकता था, तू तो सारी दुनिया का मालिक है ?"

अल्लाह फिर पूछेगा—"ऐ आदमी के बेटे ! मैंने तुझसे खाना मांगा था और तूने मुझे खाना नहीं दिया !"

आदमी कहेगा—"ऐ मेरे रब्ब ! तू तो सारी दुनिया का मालिक है मैं तुझे खाना कैसे दे सकता था ?"

अल्लाह पूछेगा—"ऐ आदमी के बेटे ! मैंने तुझसे पानी माँगा था और तूने मुझे पानी नहीं दिया !"

आदमी कहेगा—"ऐ मेरे रब्ब ! मैं तुझे कैसे पानी दे सकता था, तू तो सारी दुनिया का मालिक है ?"

अल्लाह जवाब देगा—"क्या तुझे मालूम नहीं था कि मेरा एक बन्दा बीमार था और तू उसे देखने नहीं गया ? क्या तुझे यह मालूम नहीं था कि अगर तू उसे देखने जाता तो सचमुच मुझे उसके पास पाता ? क्या तुझे मालूम नहीं था कि मेरे एक बन्दे ने तुझसे खाना मांगा था और तूने उसे खाना नहीं दिया ? क्या तू नहीं जानता था कि अगर तू उसे खाना देता तो मुझे उसके साथ देखता ? मेरे एक बन्दे ने तुझसे पानी मांगा और तूने उसे पानी नहीं दिया ! अगर तू उसे पानी देता तो सचमुच मुझे उसके साथ पाता !"

[—मुसलिम]

भारतीय संस्कृति और शिल्प-कला

डाक्टर राधाकमल मुकर्जी, एम. ए, पी-एच डी

भारतवासी अपने समस्त जीवन को धार्मिक दृष्टि से देखते हैं। यहां जीवन के प्रत्येक अंग को धर्म का अंग समझा जाता है। भारतीयों का धर्म उन्हें बताता है कि जीवन की समस्त कल्पनाएं उच्च आदर्श से प्रेरित होती हैं। इस विचार-धारा के कारण कला और शिल्प की उन्नति को बेहद क्षेत्र मिलता है। हिन्दुओं के परिष्कृत मस्तिष्क के अनुसार कला और शिल्प उस दैवी शक्ति के एक अंग हैं, जो जीवन के समस्त तत्वों मे व्याप्त है। इसलिये हिन्दू संकुचित भाव से ऊपर उठकर प्रकृति में भी सौन्दर्य देखते हैं। आदर्शों के क्षेत्र का सौन्दर्य सदाशील है। भारतीय कलाकारों को यह ईश्वर का स्वतः दिया वरदान है। भारतीय कलाकार अपनी आन्तरिक प्रेरणा पर अधिक निर्भर करते हैं। वह बाह्य जीवन की सीमा में संकुचित होना उपयुक्त नहीं समझते, इसलिये समस्त सौन्दर्य के आदि स्रोत में जो लय, गति, समानाकार और विचार हैं, वे सब विश्वकर्मा द्वारा निर्मित हैं। विश्वकर्मा को ही भारतीय कलाकार अपनी भक्ति की भेंट चढ़ाते हैं। वही विश्वकर्मा प्रत्येक कलाकार को कला और उद्योग की प्रेरणा देता है। महाभारत के अन्दर विश्वकर्मा को कलाओं का स्वामी कहा गया है। उसे देवताओं का बढ़ई और समस्त आभूषणों का गढ़ने वाला बताया गया है। उसी ने देवी देवताओं के रथों का निर्माण किया। कलाकार उसी की उपासना करते हैं और उसे अमर देवता के रूप में निरन्तर पूजते हैं। शिल्पकार अपना काम प्रारम्भ करने के पूर्व न केवल उसकी पूजा करते हैं, बल्कि उसकी प्रशंसा के अनेक गीतों और मन्त्रों से उसकी प्रार्थना करते हैं, और विपत्ति से बचाने और अपने काम में सहायता देने की उससे दुआ मांगते हैं। हर साल दशहरा के दिन शिल्पकारों के यहां पुरोहित उसका आवाहन करते हैं—

विश्वकर्म्मन्निहागच्छ तुलाबन्धमलंकुरु।
शिम्पाचार्य्याय देवाय नमस्ते विश्वकर्म्मणे, स्वाहा॥

वह शिल्पी को न केवल धन धान्य प्रदान करता है, बल्कि उन्हें कला कौशल में भी निपुण बनाता है—

शिल्पनैपुण्यादि वृद्धिपूर्व्वक श्रीविश्वकर्म्म प्रीतिकामो गणपत्यादि देवता पूजापूर्व्वक विश्वकर्म्म पूजामहं करिष्ये।

उसका ध्यान करते हुए कहा जाता है—

दशपाणि महावीर सुचित्रकर्म्मकारक।
विश्वकृत विश्वधृक् च स्वत् रसना मानदण्ड धृक॥

उसे प्रणाम करते हुए कहते हैं—

शिल्पाचार्य्य महाभाग देवानाम कार्य्यसाधक।
विश्वकर्म्मन्नमस्तुभ्यम् सर्व्वाभीष्ट प्रदायक॥

'रूपावलीय' नामक ग्रन्थ में उसका आकार और गुण इस प्रकार वर्णन किया गया है।

"हे विश्वकर्मा, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूं। तुम प्रख्यात हो, तुम स्वतंत्र हो, तुम महान हो और न्यायपूर्ण हो। तुम्हरे भाल में पांच तिलक लगे हुए हैं, तुम्हारे दस हाथ हैं। एक हाथ में पुस्तक है, दूसरे में कलम है, तीसरे में तलवार है, चौथे में कुठारिका है, पांचवें मे जुम्बीर है, छठवें मे प्याला है, सातवें में जलपात्र है, आठवें में माला है। तुम्हारे गले पर नागराज और एक पाश है। तुम्हारे भाल से दृढ़ता टपकती है, तुम्हारी मुद्रा से दया प्रकट होती है। तुम स्वर्णिम यज्ञोपवीत पहने हुए हो"

शिल्प और कर्म्मकार औज़ारों और हथियारों की अक्षत और चन्दन लेकर पूजा करते हैं। ये औज़ार विश्वकर्मा की देन समझे जाते हैं। शिल्पी विश्वकर्मा द्वारा प्रदत्त औज़ारों को उपयोग करने वाला एक

निमित्त मात्र है। इस तरह भारतीय संस्कृति के अनुसार कला परम पुरुष के प्रकाश की एक किरण है। वह काल्पनिक नहीं बल्कि वास्तविक चीज है। देवता और स्वय प्रभु कर्म्मकार और शिल्पियों को मदद देते हैं। वे उसके हृदय में अपना सौन्दर्य प्रकट करते हैं। कलाकार का कार्य एक पवित्र कार्य समझा जाता है। मनु ने कहा है—

"शिल्पी का हाथ सदा पवित्र होता है। उसकी निर्माण की हुई प्रत्येक वस्तु पवित्र होती है। बाजारों में बिकने वाली वस्तुओं और उसके निर्मित भिक्षा-पात्र तक पवित्र होते हैं—यह एक निश्चित नियम है।"

कर्म्मकार और शिल्पकार के ऊपर कर्म के सिद्धान्त का भी बहुत सुन्दर प्रभाव पड़ता है। मनुष्य के कर्म्म अनेक जन्मों तक उसका साथ नहीं छोड़ते। इसलिये जो व्यक्ति विशेष प्रकार की शिल्पकला का ज्ञाता होता है और वह उस शिल्प और कला को कार्य-रूप में परिणित नहीं करता, तो मृत्यु के उपरान्त उसे नर्क मे जाना पड़ता है। जो मेमार और चित्रकार झूठ बोलकर दूसरों से पैसा लेते हैं, वे गरीब हो जाते हैं। जो मेमार और चित्रकार श्रद्धापूर्वक कर्म करते हैं, वे कर्मों का फल पाते हैं और दूसरे जन्म में राजा या उमरा बनते हैं। निर्माणकार और चित्रकार जो अपने कर्म को धर्म की भावना से नहीं करते, तो जब उन्हें अपने काम की समाप्ति पर पैसा मिलता है, उस पैसे को लेकर वे घर जाते हैं, तो चाहे वह हजार मुद्रा क्यों न हो, उनके पास खाने तक के लिए नहीं बचता, न उन्हें पहनने के लिये लंगोटी मिलती है। यह उन्हें पिछले जन्म की सजा मिलती है। मरने के उपरान्त वे नर्क में जाते हैं और लाखों वर्ष तक उनको यातनाएं भुगतनी पड़ती हैं। इससे बचने पर उनका शरीर लूला-लँगड़ा हो जाता है और उन्हें अत्यन्त कष्ट के दिन बिताने पड़ते हैं। इस "माया, मत्सर" प्रकृति के अन्दर असंख्य रूपों और सौन्दर्य को देखना, यही भारतीय संस्कृति का मूल गुण है। इसका निदर्शन हमें न केवल हिन्दू त्योहारों और उत्सवों में मिलता है, बल्कि विविध कलाओं और शिल्प कलाओं में भी दिखाई देता है। हिन्दू कलाकार फूलों, पौधों पक्षियों और पशुओं के आकारों और रूपों से अपनी कलाकृतियों को सजाते हैं। वे दूध, पत्ती फूल आदि से ईश्वर की पूजा करते हैं। वे पशुओं और पक्षियों को अपने जीवन का साझीदार समझते हैं। इन सब को वे अपनी कलाकृतियों में स्थान देते हैं। शिल्प कला में कमल के फूल की आकृति मुख्यतः दिखाई देती है। भारतीय शिल्प-संस्कृति में कमल उसका प्रतीक है। पानी में तैरता हुआ वह असीम अस्तित्व का परिचायक है। यह सुन्दर कल्पना भारतीय कलाकारों की सब में श्रेष्ठ कल्पना है। कला के हर क्षेत्र में कमल का प्रदर्शन दिखाई देता है। हिन्दुओं के घरों में जो लोटा इस्तेमाल किया जाता है, वह भी कमल का ही एक रूप होता है। दूसरे अन्य फूलों में श्वेत दूर्वा, कमलिनी, गुलाब आदि और फलों में आम को भी प्रमुख स्थान दिया गया है। कपड़ों पर आमतौर से फूलों की सजावट होती है। अलग अलग फूलों के बूटे और फूलों के गुच्छों की जाली कपड़ों पर बनाई जाती है। फूलों में गुलदाऊदी और गेंदा बहुतायत से काढे जाते हैं। काश्मीरी शालों में ये फूलदार बूटियां चन्द्राकार और तुरंग के रूप में काढी जाती हैं। पान की बूटी पान की पत्ती के रूप में बनाई जाती है और चादरों पर फूलों का कसीदा भरा जाता है, उसको झालर कहते हैं। जब इस तरह के अगणित फूल बने होते हैं, तो उसे 'पत्र हजारा' कहा जाता है और जब पूरा कपड़ा इस तरह के फूल पौधों से कढा होता है, तो उसे 'फेलवार' कहते हैं।

मुसलमानों का लोटा टोंटीदार होता है। यह इसलिये कि इसलामी आचारों के मुताबिक़ बहते हुए पानी से शुद्धि क्रिया करनी चाहिये। टोंटी की धार बहता हुआ पानी माना जाता है। हिन्दू और मुसलमानों के बरतनों की शक्लों और उनके इस्तेमाल ने हमारे देश में धातुओं की वस्तुओं को भिन्न भिन्न रूप दिये हैं।

कपड़े की बिनाई और लकड़ी के काम में जो पक्षियों की शक्लें बनाई जाती हैं, उनमें मोर मुख्य

है। यह लम्बे रूप बनाया जाता है। पक्षी अपने कन्धे की ओर देखता होता है। मोर के अतिरिक्त जिन दूसरे पक्षियों को डिज़ाइन में प्रधानता दी जाती है, वह हैं हंस—ब्रह्मा का वाहन—और गरुड़। शेर हाथी; घोड़े, और लोमड़ी भी डिज़ाइनों में आ जाते हैं। जो धर्म जितना अधिक जानदार होता है, उतने ही पक्षियों और पशुओं की डिज़ाइनों में विभिन्नता होती है। जब धर्म मृत प्राय स्थिति को पहुंच जाता है, तब उसके मानने वाले कलाकारों की डिज़ाइनें भी रूढ़ियों की शिकार हो जाती हैं। हिन्दू शिल्पकार अपनी कल्पना द्वारा कला के नमूने ढालते रँगते और बनाते हैं। उनके साकार माडेल नहीं होते। देश के राष्ट्रीय जीवन में उन्हें अपनी कला के नमूने मिलते हैं। हालांकि विदेशियों की नजरों में उनका कोई मूल्य नहीं होता, फिर भी उनका सम्बन्ध हमारे धार्मिक विश्वासों के साथ होता है। धर्मभीरु भारतीयों के हृदय में इन धार्मिक नमूनों की इज्जत बहुत अधिक है। हिन्दू शिल्पकार अपने जातिगत ज्ञान, कल्पना और अपनी श्रद्धा पर निर्भर करते हैं। अपना काम शुरू करने के पहले वे एकान्त में शास्त्र के अनुसार धुले हुए कपड़ों को पहिन कर प्रार्थना करते हैं। वे ध्यान मग्न हो कर कला-वस्तुओं की कल्पना करते हैं। शिल्पकार को यह भी हिदायत है कि स्वप्न में भी अनायास जो ज्ञान प्राप्त हो, उसको भी हृदयगम करे। वह प्रार्थना करता है—"हे देवादि देव मैंने जिस काम की कल्पना अपने दिमाग में की है, उसे वास्तविकता में परिणित करने की कुशलता दे।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हमारे देश में असंख्य प्रकार के नमूने और सजावटों के तरीक़े प्रचलित हैं। घर घर में अपनी अपनी तरह के पैटर्न और अपनी अपनी तरह के नमूने बनते हैं। अहमदाबाद में हमें कला के नमूनों में बरगद के पेड़ और उसकी फैली हुई साप जैसी जटाए दिखाई देती हैं। यह नमूना हमें पत्थरों, लकड़ी, सन्दलों और हाथी दांत के कामों पर मिलता है, यह नमूना कीमख़ाब, दूसरे कपड़ों, सोने-चांदी के बरतनों, और गहनों पर भी दिखाई देता है। यहां तक कि अहमदाबाद की कला में यह नमूना कला का एक ख़ास अङ्ग बन गया है। निर्माण कला में पौराणिक दृश्यों को बहुधा इस्तेमाल किया जाता है। लकड़ी की वस्तुओं पर कृष्ण-बलराम को बड़ी सुन्दरता और सफ़ाई के साथ खोदा जाता है। शरद पूर्णिमा की रात्रि में गोपियों के साथ कृष्ण के दृश्य दिखाये जाते हैं और उन पर आकाश से फूलों की वर्षा होती हुई दिखाई जाती है। राधिका के वियोग में व्याकुल कृष्ण और उनके मिलन की मधुरता के भाव को भी कला की वस्तुओं पर अङ्कित किया जाता है। परमात्मा का जब पृथ्वी पर अवतरण होता है, तो प्रकृति हर्ष से फूल उठती है, हर कुञ्ज, हर पेड़, हर पक्षी, हर पशु यहां तक कि पानी में मछलियां भी गाने लगती हैं। शाम को घरों की ओर लौटती हुई गायों आदि का दृश्य बड़ी मार्मिकता के साथ हमारी कला की वस्तुओं पर अंकित किया जाता है। लकड़ी के कामों में चण्ड और मुण्ड को सहार करती हुई चामुण्डा देवी और वीणा बजाती हुई सरस्वती का दृश्य भी अंकित किया जाता है। विशेषतः बंगाल में हाथी दांत के कामों में महिषासुर को अपने बरछे से भोंकती हुई मां दुर्गा दिखाई जाती है। लोग कला की वस्तुओं पर लक्ष्मी, सरस्वती और गणेश की तस्वीरों को पसन्द करते हैं। भारतवर्ष के प्रत्येक गांव में कुम्हार घरेलू इस्तेमाल के बरतनों के बनाने के बाद देवी और देवताओं की मिट्टी की छोटी छोटी मूर्तियां बनाते हैं। ये मूर्तियाँ कलापूर्ण और सुन्दर मूर्तियों की नमूना होती हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि हिन्दू कला और शिल्प विशेषतया आदर्शवादी और धार्मिक है। भारत के कलाकार और भारत के शिल्पकार अपनी कलाओं में धार्मिक और पौराणिक बातों का प्रदर्शन करते हैं। हिन्दू कलाकार और शिल्पकार न केवल देवताओं की प्रार्थना ही करते हैं, बल्कि वे प्रार्थना को प्रोत्साहन भी देते हैं। आये दिन की पूजा उन कलाओं पर समुचित प्रभाव डालती है।

मन्दिरों में पूजा के सिलसिले में जो बरतन इस्तेमाल किये जाते हैं, उनमें भी कला की कल्पना को बहुत कुछ प्रोत्साहन मिलता है। सारे देश मे पंचपात्र, कोसी, आचमन, धूपदानी आरती दान घंटे-घड़ियाल कला के सुन्दर तम नमूने होते हैं। सजावटों और कला के रूप में इनका काफी इस्तेमाल किया जाता है। इसके अतिरिक्त कमल के पैटर्न का सिंहासन कला के नमूने की बड़ी सुन्दर वस्तु है। जनता की इस धर्म-भावना ने हमारे देश की कारीगरी और शिल्प-भावना को बहुत प्रभावित किया है। मन्दिरों की वस्तु और घरों की पूजा वस्तुओं के बनाने की काफी माग रहती है।

शिल्पकारों के कुछ धार्मिक त्यौहार भी होते हैं। भादों में सक्रान्ति के दिन विश्वकर्मा की पूजा होती है। बढ़ई, लोहार, नाई, कुम्हार, सलारी और कसारी (कसेरा) उस दिन अपना कोई काम नहीं करते। वे अपने औज़ारों को तेल से रगड़ कर खूब चमकाते हैं, फिर उन पर घी और गंगा जल, चन्दन, अक्षत आदि छिड़क कर उनकी पूजा करते हैं। किन्तु बङ्गाल में भाद्र संक्रान्ति का यह दिन नहीं मनाया जाता। बङ्गाल में विजयादशमी के दिन हिन्दू शिल्पकार कोई काम नहीं करते। बङ्गाल में इसके लिये विजयादशमी का दिन नियत है। खास तौर पर वहा के बुनकर उस दिन अपना काम नहीं करते हैं। उस दिन वे करघा की पूजा करते हैं। उस पर फूल-फल, चन्दन, अक्षत आदि चढ़ाते हैं। त्रयोदशी के दिन नये सिरे से काम शुरू होता है।

तेली, तमोली और गन्ध-बनिया वैशाखपूर्णिमा के दिन बेला, चमेली और सुगन्ध आदि से गान्धेश्वरी देवी की पूजा करते हैं। दुर्गा की मूर्ति भी स्थापित की जाती है और उसमे अपने वाणिज्य को बढ़ाने की प्रार्थना की जाती है—

वाणिज्यवृद्धिपूर्वक श्री दुर्गा प्रीतिकामो
श्री दुर्गापूजाहं करिष्ये

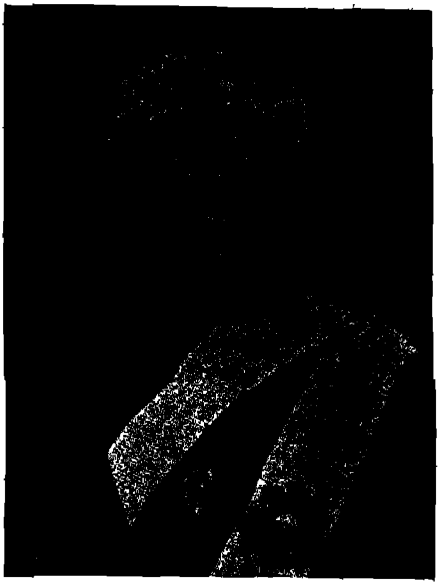
व्यापारी लोग वैशाख और रामनवमी के दिन छुट्टी मनाते हैं और उसी दिन से अपना नया हिसाब किताब शुरू करते हैं।

वेदों की रचना का समय-विस्तार

महामहोपाध्याय डाक्टर आर शाम शास्त्री एम. ए., पी-एच. डी

प्राचीन काल के अन्य सभ्य देशों की तरह वैदिक काल के आर्यों को भी वर्ष-गणना की रीति का स्पष्ट और ठीक ठीक ज्ञान था। गर्मी, वर्षा और जाड़े की ऋतुओं के नियमित चक्र ने संसार के लगभग समस्त प्राचीन निवासियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया था। वे इस बात से परिचित हो गये थे कि ये ऋतुएं क्रमानुसार बारह बारह महीनों के बाद आती हैं। शुरू शुरू में उन्होंने चान्द्र तिथियों के हिसाब से बारह महीनों या ३५४ दिन के वर्ष की कल्पना की होगी। किन्तु इस सिद्धान्त के अनुसार थोड़े काल के उपरान्त ही उन्हें ऋतुओं का ठीक ठीक समय निर्धारित कर सकना बहुत कठिन जान पड़ा होगा। इस बात के लिये किसी प्रमाण की ज़रूरत नहीं है कि समस्त कृषि प्रधान जातियों को ऋतुओं के शुरू और अन्त होने की निश्चित जानकारी आवश्यक है। जिस किसी ने ऋग्वेद का बहुत थोड़ा सा अंश भी पढा है, उसको इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं हो सकता कि कृषि वैदिक कालीन आर्यों का एक महत्वपूर्ण धन्धा था और पूर्णिमा और शुक्ल दूज के दिन यज्ञ करना वैदिक कालीन आर्यों के लिये धार्मिक और नितान्त आवश्यक था। यह बहुत सम्भव है कि शुरू शुरू में अपने कृषि के हित में ऋतुओं के ठीक ठीक और यज्ञ आदि के लिये पूर्णिमा आदि तिथियों का निश्चित बोध करने में वैदिक ऋषियों को बहुत परेशानी हुई होगी। सौर वर्ष के स्थान पर चान्द्र वर्ष के कारण जो गड़बड़ी हुई, उसके सम्बन्ध मे 'सतपथ ब्राह्मण' (काण्ड ६, १, ४) में लिखा है—

"ऋतुओं को इच्छा हुई कि वे भी देवताओं के समान यज्ञ में हिस्सा पावें, और उन्होंने कहा, 'हमें भी यज्ञ में हिस्सा दो! हमें यज्ञ के अंश से वंचित न करो। हमें भी यज्ञ में हिस्सा दो!' किन्तु देवताओं ने इसे स्वीकार न किया। जब देवताओं ने इसे स्वीकार



न किया तो ऋतुएं देवताओं के ईर्षालु और नृशंस शत्रु असुरों के पास गईं। तब वे असुर धनधान्य से इतने पूर्ण हुए कि देवताओं ने उसे सुना और जबकि असुरों में प्रधान अभी जोत बो रहे थे, उनके अन्य लोग कटाई और मड़ाई कर रहे थे। उनके लिये बग़ैर जोते हुए ही फसलें पकने लगीं।"[१]

इस उद्धरण से यही अर्थ निकलता है कि देव और असुर चाहे वे हिन्दू और ज़रथुस्त्री रहे हों या आक्रामक आर्य या भारत की आदि जातियां रही हों; ऋतुओं के सम्बन्ध में उनका ज्ञान बहुत गड़बड़ था, जबकि एक वर्ग उसे बोने की ऋतु समझता तो दूसरे के लिये वही काटने की ऋतु होती थी।

यजुर्वेद में इस तरह के वाक्य बहुधा आते हैं— "ऋतुओं में गड़बड़ हो सकती है" (६.५, ३), और "यदि उचित रूप से निश्चित तिथियों पर यज्ञ किये

१ Prof. Eggeling's Translation.

जांय, तो ऋतुएं अपनी जगह निश्चित रहती हैं।" (६, ३, ३, १८ और ७, १, १०)।

इसका अर्थ यह है कि वैदिक ऋषियों ने अनुभव से चान्द्र तिथियों के वर्ष के अनुसार ऋतुओं का समय निर्धारित करने की निरर्थकता देखली और वे चार तरह की वर्ष गणना का आविष्कार करने में सफल हुए। वे वर्ष ये थे—३५४ दिन का चान्द्र वर्ष, ३६० दिन का सावन वर्ष, ३६५¼ दिन का सौर वर्ष और ३६६ दिन का नक्षत्र गणना के अनुसार वर्ष। चान्द्र वर्ष और नक्षत्रों की गणना के अनुसार निश्चित किये वर्ष के अन्तर को ठीक करने के सम्बन्ध में सतपथ ब्राह्मण (११, १, २, १०) में निम्नलिखित वाक्य आते हैं—

"वास्तव में जो लोग पूर्णिमा और शुक्ल दूज के दिन यज्ञ करते हैं, वे (समय के साथ) दौड़ लगाते हैं। यह १५ वर्षों की अवधि में करना चाहिये—इन १५ वर्षों में ३६० पूर्णिमा और शुक्ल दूज होती हैं और एक वर्ष में ३६० रात्रियां होती हैं। वह इन रात्रियों को प्राप्त करता है। फिर उसे अगले १५ वर्षों तक यज्ञ करना चाहिये। इन १५ वर्षों में ३६० पूर्णिमा और शुक्ल दूज होती हैं और एक वर्ष में ३६० दिन होते हैं। इस तरह वह इन दिनों को प्राप्त करता है।"

भगवद्गीता* के पाठकों को यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि सूर्य जब तक छै महीने दक्षिणायन में रहता है, हिन्दू उसे रात्रि समझते हैं और जब सूर्य छै महीने उत्तरायण में रहता है तो उसे दिन समझते हैं। इसके अनुसार उपरोक्त वाक्य का यह अर्थ होता है कि १५ नक्षत्र-वर्षों में यज्ञ करने वाले को प्रत्येक २४ घंटों के १८० दिन मिलेंगे या प्रत्येक १२ घन्टों की ३६० रातें मिलेंगी। दक्षिणायन में प्रति १२ घंटों के १८० दिन रात्रि में शुमार किये जाते हैं। दूसरे शब्दों में ३६६ दिन के १५ नक्षत्र वर्षों में ६ मलमास या अधिकमास पड़ते हैं, क्योंकि ३५४ दिन के प्रत्येक चान्द्र-वर्ष से नक्षत्र-वर्ष १२ दिन बढ़ जाता है। इस तरह १५ नक्षत्र वर्षों में १५×१२=१८० मलमास के दिन पड़ेंगे।

इससे यह जाहिर होता है कि चान्द्र वर्ष में लगातार ३० वर्षों तक गड़बड़ी चलती रहती थी और ३० वर्ष के बाद वह फिर उपयुक्त हिसाब से शुरू होता था। इन तीस वर्षों तक उसमें मलमास के दिन न जोड़े जाते थे। यजुर्वेद में ज्योतिषियों के दो दलों का जिक्र आता है, जिनमें एक दल 'उत्सर्गी' कहलाता था, जो बीच में मलमास के दिन जोड़ता था, किन्तु दूसरा दल चान्द्र वर्ष को स्वतः ही ठीक होने देता था। यजुर्वेद इस दूसरे दल की वकालत नीचे लिखे शब्दों में करता है—

तदाहुर्यां वै त्रिरेकस्याह्न उपसीदन्ति दह्रं वै साऽपराभ्यां दोहाभ्यां दुहेऽथ कुतस्सा धोक्ष्यते यां द्वादशकृत्व उपसीदन्तीति। संवत्सरं सपाद्योत्तमे मासि सकृत्पृष्ठान्युपेयुस्तद्यजमाना यज्ञं पशूनवरुन्धते। समुद्रं वै एतेऽनवारमपारं प्रप्लवन्ते ये संवत्सरमुपयन्ति [७,५,३]

"इसलिये वे कहते हैं:—(गाय) जिसे वे दिन में तीन बार दुहते हैं, अगले दो बार दुहने में बहुत थोड़ा दूध देगी। फिर वह गाय कैसे दूध देगी, जिसे वे १२ बार दुहने बैठते हैं। इस तरह वर्ष पूरा होने पर अन्तिम मास के अन्त में वे छै 'पृष्ठ दिवस' मनाते हैं। इस तरह यज्ञ करने वाले अपनी बलि (वर्ष) और बिना दुही हुई गायों को बचा रखते हैं। इस तरह यज्ञ करने वाले मलमास युक्त वर्ष लेकर ऐसी स्थिति में होते हैं, जैसे किसी असीम समुद्र में तैर रहे हों।"

वर्ष को तीन बार दुहने का अर्थ है वर्ष में चार चार महीने के तीन भाग, और बारह बार दुहने का अर्थ है बारह मलमास। 'पृष्ठ' शब्द छै दिन के समय के लिये प्रयुक्त होता है, जो शायद यजुर्वैदिक काल में सप्ताह के लिये इस्तेमाल होता था।

जो दल मलमास जोड़ने के विरुद्ध था, उसके सम्बन्ध में नीचे लिखे वाक्य आते हैं:—

* भगवद्गीता, ८,२४, २५

यदहर्नोत्सृजेयुर्यथा दृतिकुरूपनद्धो विपत्येवं संवत्सरो विपतेत् । आर्तिमार्च्छेयुः पौर्णमास्या मासान् संपाद्याहरुत्सृजन्ति संवत्सरायैव तदुदानं दधति । तदु सत्रिण उदानंति नार्तिमार्च्छंति । पूर्णमासे वै देवानां सुतः । [७,५,६]

"यदि वे दिन को नहीं छोड़ते, तो जिस तरह एक चमड़े की हवा से भरी थैली फूट जाती है, उसी तरह वर्ष भी बैठ जाता है और वे आफत में फंस जाते हैं। जो (मलमास का) दिन वे छोड़ देते हैं, वह मास के साथ मिलकर पूर्णिमा को निश्चित करता है और वर्ष को जीवन देता है। इस तरह यज्ञ करने वाले पुरोहितों को जीवन मिलता है और वे आफत में नहीं पड़ते। पूर्णिमा के दिन देवताओं को 'सुत' (सोमरस) की अञ्जलि दी जाती है।"

मलमास जोड़ा जाय या न जोड़ा जाय इस विषय को लेकर मालूम होता है कि वैदिक काल के ज्योतिषियों में खासी चलचल और गरमा गरमी रही। यजुर्वेद में इस सम्बन्ध में नीचे लिखा उद्धरण आता है :—

उत्सृज्यां ३ नोत्सृज्या ३ मिति मीमांसते ब्रह्मवादिनः तद्वाहुरुत्सृज्यमेवेत्यमावस्यां च पौर्णमास्यां चोत्सृज्यमित्याहुरेते हि यज्ञं वहत इति ते त्वाव नोत्सृज्ये इत्याहु. ये अवांतरं यज्ञं भेजाते इति । [७,१,७]

"ब्रह्मवादी इस पर बहस करते हैं कि वे इसे छोड़ें—या न छोड़ें। वे कहते हैं कि इसे अवश्य छोड़ना चाहिये। वे कहते हैं कि इसे नये चान्द्रदिवस पर और पूर्णिमा पर छोड़ना चाहिये, क्योंकि वही दिन यज्ञ के दिन हैं। किन्तु जो लोग कहते हैं कि उसे नहीं छोड़ना चाहिये; वे इसलिये कहते हैं कि नया चान्द्रदिवस और पूर्णिमा विशेष यज्ञों के दिन हैं।"

किन्तु यह स्पष्ट नहीं लिखा है कि दिनों या महीने या चार महीनों में मलमास जोड़ने या न जोड़ने का प्रश्न सौरवर्ष के सम्बन्ध में था या नक्षत्रवर्ष के सम्बन्ध में ? ऊपर की बहस यज्ञों के सम्बन्ध में है। ये यज्ञ 'गवाम आयने' या 'गोपथ' कहलाते थे और गोपथ चूंकि मलमास के दिन मिला कर बनाया जाता था इसलिये उपरोक्त उद्धरण ३६६ दिन के मलमास के सम्बन्ध में ही होगा। उपरोक्त उद्धरण में मलमास के चाहे जिस रूप की बहस हो, चाहे वह सौरवर्ष, नक्षत्रवर्ष या चान्द्रवर्ष के अन्तर को दूर करने के लिये हो या सौरवर्ष में दिन का हिस्सा जोड़ने के लिये हो, यह बात बिलकुल निश्चित है कि वैदिक ऋषि मलमास की समस्या से पूरी तरह परिचित थे। यह स्वतः प्रमाणित वास्तविकता है कि जब तक किसी जाति को वर्ष, मास और दिन गिनने न आयें और उस समय-गणना में उसे कोई ग़लती दिखाई न दे, तब तक वह जाति स्वप्न में भी मलमास जोड़ने की बात नहीं सोच सकती। इसलिये यह स्पष्ट है कि वैदिक ऋषियों ने वर्ष, मास और दिन गिनने का कोई तरीक़ा निकाल रखा होगा। किन्तु यह भी एक मानी हुई बात है कि वैदिक काल में, चाहे उसका समय कुछ हो, लिखने की कला से लोग परिचित न थे। लिखने की कला के अभाव के कारण किसी भी बात की याद स्मृति में रखनी पड़ती थी। इस बात के कहने की ज़रूरत नहीं कि वैदिक ऋषि स्मरणशक्ति के बढ़ाने को बहुत महत्व देते थे। कितने वर्ष बीतते जाते हैं, इस बात का हिसाब कैसे रखा जाय, इसके लिये वैदिक ऋषि प्रति वर्ष किसी न किसी छन्द में ऐसे नए नए मंत्र रचते थे, जिनके अक्षरों की संख्या ३६० होती थी। चूंकि 'सावन' वर्ष में ३६० दिन ही होते थे, इस हिसाब से मंत्रों के अक्षर उतने दिनों की अवधि को व्यक्त करते थे। सतपथ ब्राह्मण में पारिप्लवोपाख्यान (१३,४,३,१-१५) में इस विचार की पुष्टि मिलती है। होत्री द्वारा दस-प्राचीन राजाओं और उनके अश्वमेध यज्ञों के कार-नामों को व्यक्त करने वाले मंत्रों पर टीका करते हुए सतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

"इन चमत्कार कहानियों में, राजाओं की कहानी, समस्त धर्म, समस्त वेद, समस्त देवता, समस्त प्राणियों और सच पूछा जाय तो होत्री जो

कुछ भी जानता है, इन कहानियों में हमें बताता है। जो भी इसे (सुन लेता है) जान लेता है, वह राजत्व और जनता के ऊपर प्रभुत्व प्राप्त करता है। वह वेदों का ज्ञाता बनता है और देवताओं को सन्तुष्ट करके सब प्राणियों के ऊपर अपनी श्रेष्ठता को स्थापित करता है। यह क्रम बार बार पूरे वर्ष तक चलता रहता है और फिर भी समाप्त नहीं होता, चलता ही रहता है, इसलिये इसे चक्राकार या क्रमगत (कहानी) कहा जाता है। ३६×१० दिन तक होत्री इसे कहता है—बृहति छन्द में ३६ मात्राएं हैं और पशुओं का सम्बन्ध बृहति छन्द से है। बृहति के द्वारा वह अपने लिये पशुओं का आयोजन करता है। [१३,४,८,१५,][1]

ऐतरेय आरण्यक[2] में इस बात को और भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्रत्येक दिन मन्त्र के प्रत्येक अक्षर को जाहिर करता है.—

"एक हजार बृहति छन्दों से यह सम्पूर्ण होता है और वह मन्त्र पूर्ण है जिसमें एक हजार बृहति छन्द हों, जिनके ३६,००० अक्षर हों। एक सौ वर्ष में इतने ही (३६,०००) दिन होते हैं। व्यजनों से रातें बनती हैं और स्वरों से दिन।"

इससे यह स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि ३६० दिन के सावन वर्ष को ३६, ३६ दिन के दस हिस्सों में बांटते थे और इन दस हिस्सों को विविध पशुओं का नाम देते थे और ३६ अक्षरों के १० बृहति छन्दों में भी प्रत्येक वर्ष के दिनों का हिसाब रखते थे जिनकी वे एक वर्ष में या एक नियुक्त अवधि में रचना करते थे। प्राचीन मिस्री भी वर्ष को ३६ हिस्सों में बांटते थे।[3] मिस्रियों को यह ज्ञान हजरत ईसा के सैकड़ों वर्ष पूर्व था। चूंकि ये दोनों देश एक दूसरे से स्वाधीन यह समय-गणना प्रणाली ईजाद नहीं कर सकते इसलिये यही सम्भव है कि मिस्रियों ने यह वर्ष-गणना आर्यों से सीखी। इस बात के प्रमाण मौजूद हैं कि आर्यों को यह ज्ञान बहुत पहले से था। हमारी दलील यह है कि प्रति वर्ष वैदिक मन्त्रों में ३६ अक्षरों के १०-१० छन्द जुड़ते जाते थे। इससे दोनों काम पूरे होते थे— बीते हुए दिनों का भी हिसाब रहता था और देवताओं की पूजा और यज्ञ आदि की तिथियों में भी कोई गड़बड़ न होती थी।

'वेद' शब्द से भी यही तात्पर्य है। वेद शब्द का दो अर्थों में उपयोग होता है—(१) 'कुश[1] (घास) की संख्या' और (२) 'पवित्र मन्त्रों का संग्रह'। वेद का शाब्दिक अर्थ है 'ज्ञान'। इससे स्पष्ट है कि वैदिक कवि वेद से कुश (घास) की संख्या और पवित्र मन्त्रों के अक्षरों की संख्या (जिनसे उनके युग का प्रारम्भ हुए कितने दिन बीते) इन दो बातों का हिसाब रखते थे। हिन्दुओं में अब भी यह रिवाज है कि वे समस्त यज्ञों में 'वेद' यानी कुश की ग्रन्थियां बनाते हैं और यज्ञ के बाद उन्हें हवन कुण्ड में डाल देते हैं। प्राचीन मेक्सिको के निवासी दिनों या वर्ष का हिसाब रखने के लिये उतनी ही बेंतों के टुकड़ों का बण्डल बनाते थे। प्रेस्काट अपनी 'हिस्ट्री आफ मैक्सिको' में लिखता है कि "मैक्सिको वाले ५२ वर्षों का एक युग शुमार करते थे और उसे वे 'गट्ठा' या 'बण्डल' कहते थे और इसके लिये वे उतनी ही बेंतों को रस्सी से बांधकर एक साथ रखते थे।" इसलिये यह बहुत सम्भव है कि मैक्सिकोवासियों का जो काम बेंतों के बण्डल से पूरा होता था वही वैदिक कवि कुश से पूरा करते थे। वैदिक मन्त्र दिमाग और कान को मधुर लगते थे तो वैदिक कुश आंखों को सन्तोष देते थे। इस तरह ये दो प्रकार के वेद वर्ष और दिनों का हिसाब रखने और उनमें किसी तरह की गलती न होने देने के सच्चे उपाय थे। जब कि वैदिक कुश को ४ अथवा ५२ वर्षों के युग के बाद यज्ञ में आहुति की तरह छोड़ देते थे, वैदिक मन्त्रों को जिनमें नई से नई और बिलकुल शुरू से पुरानी

१ Prof Eggeling's Translation

२ Prof Muller's Translation

३ देखो इनसाइक्लोपीडिया बिट्रैनिका में जोडियाक

१—देखो हाग द्वारा अनुवादित ऐतरेय ब्राह्मण के पृष्ठ ४२ और ७६

ऋचाएं शामिल होती थीं, इतनी सावधानी के साथ कण्ठस्थ कर लिया जाता था कि उनका एक भी अक्षर घट बढ़ नहीं सकता था। सभी प्राच्य विशारद इस बात को जानते हैं कि ब्राह्मण लोग वैदिक मन्त्रों की रक्षा पर बेहद ज़ोर देते थे और अब भी देते हैं। किन्तु यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती कि वैदिक मन्त्रों के अक्षरों में बाद में कुछ भी हेर फेर नहीं किये गये और या मन्त्रों के क्रम में भी कोई परिवर्तन नहीं किया गया। हमें यजुर्वेद के ही मन्त्रों के विभाजन में तीन क्रम मिलते हैं जो 'कृष्ण यजुर्वेद,' 'शुक्ल यजुर्वेद' और 'मैत्रायणीय यजुर्वेद' कहलाते हैं। उनके क्रम और उनके पाठों में यत्रतत्र इतना अन्तर मिलता है कि यह मानने के लिये विवश होना पड़ता है कि वेदों के क्रम और विषय-तत्त्व में भी थोड़े बहुत हेर फेर अवश्य हुए होंगे। फिर भी एक लम्बे काल तक वेदों से दो मतलब सिद्ध हुए—(१) देवताओं की उपासना और (२) दिनों और वर्ष की गणना। हमारे इस कथन की पुष्टि ऋग्वेद के इतने अधिक मन्त्रों से होती है कि उन सबको यहां उद्धृत कर सकना असम्भव है। उनमें से हम यहां कुछ दे रहे हैं—

अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः।

ऋग्वेद १,६७,३

वह्निर्वा यत्स्वपत्याय वृज्यतेऽर्को वा श्लोकमाघोषते दिवि।

ग्रावा यत्र वदति कारुरुक्थ्य के स्तस्येदिन्द्रो अभिपित्वेषु रण्यति॥

ऋ० १,८३,६

तदूचुषे मानुषेमा युगानि कीर्तेन्यं मघवा नाम बिभ्रत।

ऋ० १,१०३,४

इमानि तुभ्यं स्वसराणि येमिरे व्रता देवानां मनुषश्च धर्मभिः।

ऋ० ३,६०,६

युगे युगे विदथ्यं गृणद्भ्योऽग्ने रयिं यशसं धेहि नव्यसीम्।

ऋ० ६,८,५

वीळु चिद् दृळ्हा पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्नङ्गिरसो रवेण।

चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अहः स्वर्विविदुः केतुमुस्राः॥

ऋ० १,७१,२

ये ते वृषणो वृषभास इन्द्र ब्रह्मयुजो वृषरथासो अत्याः।

ताँ आ तिष्ठ तेभिरा याह्यर्वाङ् हवामहे त्वा सुत इन्द्र सोमे।

ऋ० १,१७७,२

धेनुं न त्वा सुयवसे दुदुक्षन्नुप ब्रह्माणि ससृजे वसिष्ठः।

त्वामिन्मे गोपतिं विश्व आहा न इन्द्रः सुमतिं गन्त्वच्छ॥

युजे रथं गवेषणं हरिभ्यामुप ब्रह्माणि जुजुषाणमस्थुः

ऋ० ७,१८,४

आ नक्ता बर्हिः सदतामुषासोशन्ता मित्रावरुणा यजेह।

ऋ० ७,४२,५

सा त्वं न इन्द्र धियसानो अर्कैर्हरीणां वृषन्योक्त्रमश्रेः

ऋ० ५,३६,२

तं वां रथं वयमद्या हुवेम पृथुज्रयमश्विना संगतिं गोः।

ऋ० ४,४४,१

अभी न आ ववृत्स्व चक्रं न वृत्तमर्वतः।

नियुद्भिश्चर्षणीनाम्।

ऋ० ४,३१,४

इमा ब्रह्म ब्रह्मवाहः क्रियन्त आ बर्हिः सीद।

वीहि शूर पुरोळाशम्।

ऋ० ३, ४१,३

सहज बुद्धि हमें यही मानने के लिए विवश करती है कि वैदिक ऋषि दिनों की गणना मंत्रों के अक्षरों और कुश आदि से करते थे। इन चीज़ों का कोई पौराणिक या धार्मिक तात्पर्य नहीं हो सकता। ऋग्वेद की उपरोक्त और अन्य ऋचाओं से मुख्य आशय यह निकलता है कि इन्द्र और अग्नि शुक्ल दूज और पूर्णिमा की विशेष तिथियों के नाम थे और इनके आने का ज़िक्र बार बार आता है। यह समझ लेने पर हम उस कथा को अच्छी तरह समझ सकते हैं कि जिसके अनुसार किसी पक्षी या गाय द्वारा शुक्ल दूज के लाने का ज़िक्र मिलता है। 'जगती' और 'त्रिष्टुभ' छन्दों में दो या तीन अक्षरों की कमी हो जाने की कहानी प्रचलित है। उस समय मंत्र के अक्षरों से दिनों की गणना होती थी। यदि नया चन्द्रमा या पूर्णिमा का चन्द्रमा छन्द के अक्षरों की संख्या से दो या तीन दिन बाद निकलता तो उस समय के प्रचलित तरीक़े से लोग कहते कि नये चन्द्रमा को लाने में यह छन्द दो या तीन अक्षरों से घट गया। उस काल में एक प्रथा यह भी थी कि यज्ञ मंडप के बीच में अलग-अलग सूखी और हरी दूर्वा बिछा देते थे। सूखी दूर्वा दिन की प्रतीक थी और हरी दूर्वा रात्रि की प्रतीक थी। इन्हीं दूर्वाओं को देखकर लोग प्रार्थना मंत्र कहते रहते थे।

इसलिए यह स्पष्ट है कि प्रत्येक युग की समाप्ति पर उस युग में जितने दिन होते थे उतने ही अक्षरों के मंत्र रचे जाते थे। इस तरीक़े से वैदिक ऋषि बीते हुए दिनों का हिसाब रखते थे और इसी हिसाब से वे दूज और पूर्णिमा की तिथियों को ठीक ठीक अनुमान कर सकते थे। इसी तरीक़े से वे मलमास के दिनों और यज्ञ के विशेष दिनों का भी हिसाब रखते थे। इसी सिद्धान्त को सामने रखकर सतपथ ब्राह्मण के रचयिता ने ऋग्वेद के समस्त अक्षरों को जोड़ डाला है और हिसाब लगाया है कि पूरा ऋग्वेद कितने वर्षों में लिखा गया—

'प्रजापति ने अपने मन में सोचा कि सृष्टि की जितनी भी वस्तुएं हैं वे सब त्रिगुणों में आ जाती हैं तो मैं अपने लिए एक ऐसी देह बनाऊं कि जो इन त्रिगुणों को अपने अन्दर रख सके।

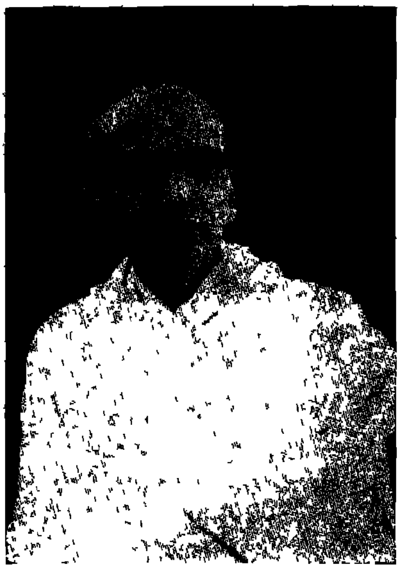
"उसने ऋग्वेद के मंत्रों को १२ हज़ार बृहति (हर बृहति छन्द में ३६ अक्षर होते हैं) में बांटा, (यह इसलिए) कि प्रजापति ने इतने ही मंत्रों की रचना की थी। तीसवें भाग में पंक्ति[२] (पंक्ति में ४० अक्षर होते हैं) को रखा चूंकि ३० भागों में बृहति रखा गया इसलिये महीने में ३० रातें होती हैं। इसके बाद प्रजापति ने पंक्ति की रचना की। कुल पंक्ति १०,८०० हैं।

"फिर उसने अन्य दो वेदों को १२ हज़ार बृहति में लिखा। ८ हज़ार यजु में और ४,००० साम में। इन दोनों वेदों में (भी) प्रजापति ने इतने ही मंत्रों की रचना की" [सतपथ ब्राह्मण १०, ४, २, २२, २४,]

यहां पर प्रजापति से तात्पर्य वर्ष से है। ऊपर के उद्धरण में प्रजापति का प्रयोग वर्ष के अर्थ में ही किया गया है। प्रजापति की देह से तात्पर्य एक युग या कुछ वर्षों के एक काल से है। वैदिक आर्य ३६० दिन के सावन वर्ष को मानते थे और ३६५ ¼ सौर वर्ष के अन्तर को वे हर चौथे सावन वर्ष के बाद २१ दिन जोड़ कर पूरा करते थे। इस तरह ऋग्वेद के ३६ अक्षरों के १२,००० बृहति मंत्रों के ४,३२,००० अक्षर हो जाते हैं। इस हिसाब से ४,३२,००० दिन या १२०० सावन वर्ष होते हैं। इस तरह सतपथ ब्राह्मण के रचयिता के अनुसार सम्पूर्ण ऋग्वेद १२०० वर्षों में लिखा गया। सतपथ ब्राह्मण का रचयिता यजुर्वेद का और सामवेद का रचना काल भी १२०० वर्ष मानता है इस हिसाब से समस्त वेद २४०० वर्षों में लिखे गये। किन्तु अन्य बातों को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि यजुर्वेद और साम-वेद के मंत्रों की रचना ऋग्वेद के मंत्रों की तरह दिनों की गणना को ध्यान में रखते हुए नहीं हुई।

यूरोप में वैदिक देवता मित्र

पण्डित सुन्दरलाल



"पुराना ईरानी धर्म यानी अवस्ता का धर्म उसी सोते से निकला है, जिससे हिन्दुस्तान के ऋषियों का धर्म; यानी दोनों उस धर्म से निकले हैं, जिसका ईरानियों और हिन्दुस्तानियों दोनों के पूर्वज पालन करते थे।" [1]

तीन हज़ार साल पहले के ईरानी वरुण, इन्द्र, अग्नि, वायु, सोम, मित्र आदि वैदिक देवताओं की पूजा करते थे। वेदों का 'असुर विश्व वेदस्' या 'असुर मेधा' अवस्ता का 'अहुरमज़्द' है। 'मित्र' का नाम अवस्ता में मिथ् है। दोनों शब्दों का दोनों भाषाओं में एक ही अर्थ है। अवस्ता में ठीक उन्हीं शब्दों में मिथ् की स्तुति की गई है, जिन शब्दों में ऋग्वेद में मित्र की। संस्कृत में 'मित्र' का अर्थ 'सूर्य' भी है। ईरानी भी सूर्य के रूप में मिथ् की पूजा करते थे। अवस्ता और ऋग्वेद दोनों में मित्र को 'सत्य' और 'ज्योति' का देवता माना गया है। ऋग्वेद और अवस्ता में मित्र और वरुण के नाम अकसर साथ साथ आते हैं। वरुण को 'तेजोमय आकाश' और मित्र को 'आकाश का तेजपुंज' कहा गया है। दोनों का साथ साथ नाम लिया जाता है और दोनों को प्राणियों और वनस्पतियों में जान डालने वाला बताया गया है। [2] ईरान में ज़रथुस्त्र के बाद मित्र और वरुण को अहुरमज़्द ही के अलग अलग नाम बताकर अहुरमज़्द के साथ ही मिला दिया गया। ४०४ ई० पू० में ईरान भर में सम्राट आर्तक्षत्र दूसरे के समय अहुरमज़्द के साथ साथ मित्र (मिथ्) की भी पूजा होने लगी और मिथ्री सम्प्रदाय के नाम से ही एक बहुत बड़ी सम्प्रदाय क़ायम हो गई।

ईरान के पड़ोसी बाबुल में हज़ारों वर्ष पहले से 'सूर्य' की पूजा होती थी। सूर्य बाबुल का सब में महान देवता था। ईरानियों ने जब बाबुल को विजय किया, तो मित्र को सूर्य के साथ मिलाकर एक कर लिया। धीरे धीरे सूर्य के रूप में ही मित्र की पूजा होने लगी। उसके सैकड़ों मन्दिर बन गये। मित्र को ही अहुरमज़्द का प्रतिनिधि और सूर्य को उसका सबसे ज़्यादह शानदार और चमकदार रूप मान लिया।

जिस समय बौद्ध धर्म भारत की सीमाओं से निकल कर पूर्वीय देशों की ओर फैल रहा था, ठीक उसी समय वैदिक ईरान से ज़रथुस्त्री धर्म की यह निहायत दिलचस्प मिथ्री या मिथ्री सम्प्रदाय पश्चिम के देशों की ओर फैल रही थी। मिथ्री सम्प्रदाय की दिग्विजयों के मुक़ाबले में किसी भी

---

१ The Zend-Avesta, Part I, Introduction by James Darmesteter, P, LVII

२ ऋग्वेद-५,६२,१; ६,५१,१; ६,६७,५; ७,६२,३।

सम्राट की राजनैतिक दिग्विजय फीकी मालूम होती है।

न सिर्फ़ उन मुल्कों में जिन पर ईरानियों की हुकूमत थी, बल्कि उन देशों में भी जो बिलकुल खुद मुख़्तार थे, यहां तक कि ईरानियों के प्रतिस्पर्धी रोमी साम्राज्य के अन्दर भी, मिथ्री धर्म के शान्त और सच्चे उपदेशक रास्ते की सैकड़ों तरह की मुसीबतों को सहते हुए पहुँचते थे। न उनके दिलों में कोई राजनैतिक मतलब छिपा हुआ था और न किसी तरह का स्वार्थ। मानव मात्र के प्रति प्रेम ही उन्हें बढ़ाए लिये चला जाता था। उनकी तपस्या उनका आत्मबल और उनका चरित्र लाखों के दिलों को खींच लेता था। नतीजा यह हुआ कि इन सब देशों में मिथ्री (मित्री) धर्म फैलता चला गया—

"एक समय था जब कि पश्चिम में स्पेन से लेकर पूरब में अनातोलिया (एशिया कोचक) तक और उत्तर में इङ्गलिस्तान की उस दीवार से लेकर जिस तक किसी समय रोमियों का राज्य था, दक्खिन में सिकन्दरिया और मेम्फी (मिस्र की राजधानी) तक लातीनी (रोमी) दुनिया के हर कोने में मित्र की पूजा होती थी, और इससे भी बढ़कर बात यह थी कि रोमी साम्राज्य के सर्वहारा वर्ग की जनता ही नहीं, बल्कि रोमी फौजों के सेनापति, रोमी सूबों के गवर्नर और खुद रोम के सम्राट तक मिथ्र (मित्र) की पूजा करते थे।" [१]

"आज के दिन यूरोप में शायद कोई भी अजायबघर ऐसा नहीं है, जिसमें इस मित्र देवता का कोई न कोई चिन्ह, धातु या पत्थर में उभरा हुआ या खुदा हुआ, कोई न कोई लेख या चित्र या कोई न कोई देखने के क़ाबिल यादगार मौजूद न हो।" [२]

हज़रत ईसा के जन्म से चार सौ साल पहले से लेकर उनकी मृत्यु के लगभग चार पांच सौ साल बाद तक एक एक कर पच्छिमी एशिया, मिस्र और अफ़रीका के दूसरे उत्तरीय देशों के अलावा यूनान, बलकान, इटली, पोलैण्ड, जर्मनी, फ्रान्स, बेल्जियम, आस्ट्रिया, हंगरी, स्वीजरलैण्ड, स्पेन और इंगलिस्तान यानी सारे यूरोप में—जहां जहां थोड़े बहुत आदमी भी सभ्य या अर्ध सभ्य कहला सकते थे, मिथ्र (मित्र) के बेशुमार मन्दिर थे और मिथ्र ही की पूजा होती थी। इंगलिस्तान में नार्थम्बरलैण्ड, राचस्टर, कैम्बक फोर्ट, आक्सफोर्ड, यार्क, मैनचेस्टर और लन्दन में मिथ्र के मन्दिर और उसकी मूर्तियां भरी हुई थीं। रोम और बाक़ी इटली उसके उपासकों से ठसाठस था।[३]

जिस वक्त बौद्ध धर्म की महायान सम्प्रदाय प्रशान्त महासागर से लेकर मध्य एशिया तक की दुनिया को विजय करती जा रही थी, ठीक उसी वक्त और उन्हीं तरीक़ों से मज़्दयस्नी ईरानी वैदिक धर्म की मिथ्री सम्प्रदाय मध्य एशिया से लेकर अटलांटिक महासागर तक की बाक़ी आधी दुनिया को, जिसमें सारा यूरोप शामिल था, विजय कर रही थी।

हज़रत ईसा के बाद की शुरू की सदियों में रोम के एण्टोनाइन सम्राट, जिनके सुशासन में रोम ने अपूर्व वैभव प्राप्त किया, मिथ्री धर्म के ही मानने वाले थे। उनके समय में मित्र की उपासना सारे रोमी साम्राज्य में फैल गई। सम्राट कैमोडस (१८०-१९२ ई०) के समय में लिखा है कि यह धर्म साम्राज्य के अन्दर "ज्वाला की तरह चमक उठा।" सम्राट डायोक्लीटियन (२४५-३१३ ई०) मित्र का बहुत बड़ा भक्त था। सम्राट जूलियन जो अपनी पवित्र ज़िन्दगी, अपनी नेकी, अपनी उदारता, अपने विश्व प्रेम, अपनी विद्वत्ता और प्रजापालकता के लिये मशहूर है, रोम का अन्तिम मिथ्री सम्राट था।

यूरोप में मित्र देवता की इस व्यापक उपासना के तीन ख़ास सबब गिनाये जा सकते हैं—

(१) इतिहास से पता चलता है कि शुरू की इनसानी क़ौमें जो क़ुदरत की किसी न किसी जड़

१ Mithaism, by W J Phythian Adams M A, P 3

२ Ibid, P 4.

३ Ibid, PP 21-26

ताक़त के रूप में ही परमात्मा के दर्शन करना चाहती हैं और कर सकती हैं, किसी भी चीज़ से इतना असर नहीं लेतीं जितना प्रकाश के भण्डार, सब प्राणियों को जान और गरमी देने वाले चमचमाते हुए सूर्य से। खासकर यूरोप के ठण्डे देशों के लिए सूर्य और भी ज़बरदस्त बरकत था और वहां की अर्ध सभ्य कौमों के लिये इस नए धर्म के पहुंचते ही अपने पुराने देवताओं को छोड़कर या उनके साथ साथ मित्र की पूजा करने लगना और अन्त में मित्र को ही अपना सबसे बड़ा देवता मान लेना क़ुदरती था।

(२) मित्र की पूजा के साथ साथ जो नए नए कर्मकाण्ड और कई नए त्योहार ईरान से यूरोप पहुँचे, वे यूरोप के लोगों के दिलों को और भी ज्यादह लुभाने वाले थे। रविवार सूर्य का ख़ास दिन है। इसलिये हर रविवार को मिथ्री लोग काम काज बन्द करके छुट्टी मनाते थे। इतवार की छुट्टी का रिवाज यूरोप में मिथ्री धर्म से ही शुरू हुआ। मकर सक्रान्ति को जिस दिन सूरज दक्षिणायन रहने के बाद उत्तर की तरफ मुड़ना शुरू करता है मित्र के उपासक सूरज के जन्म का दिन समझते थे और बड़े उत्साह और समारोह से हर साल उसका त्योहार मनाते थे। २५ दिसम्बर मित्र देवता का सबसे बड़ा त्योहार था। तीन महीने बाद जब सूरज निरक्ष (ईक्वेटर) को पार कर उत्तरायण में जाता था, मिथ्रियों का दूसरा बड़ा त्योहार होता था जिसे अब लोग ईस्टर कहते हैं। मिथ्री मन्दिरों की मूर्तियां, दो मशालों वाले चित्रों के साथ मित्र की अजीब त्रिमूर्ति, मन्दिर में पवित्र जल और पवित्र अग्नि, उसको हर वक्त जलते रखना और वहां की पूजा वग़ैरह, सब बातें बड़ी चित्ताकर्षक होती थीं।

(३) लेकिन जिस बात ने यूनान के फ़िलासफ़रों, सिकन्दरिया के ज्योतिषियों और वैज्ञानिकों और रोम के राजनीतिज्ञों को इस ईरानी धर्म की तरफ़ खींचा, वह उसके ऊंचे आध्यात्मिक सिद्धान्त, उसका कठोर आत्म संयम और दूसरे धर्मों के साथ उसकी उदारता थी। इतिहास लेखक एडेम्स लिखता है कि उस ज़माने का मिथ्री धर्म "एक ज़िन्दा और अमली धर्म था जो रूहानी ताक़त से भरा हुआ था और जिसमें बहुत सी ऊंची और प्रबुद्ध सचाइयां शामिल थीं।"

रोमी सेना के अन्दर यह धर्म बहुत ही ज्यादह तेज़ी के साथ फैला जिसकी वजह बयान करते हुए ऐडम्स लिखता है--"जिन लोगों की जान रोज़ ख़तरे में रहती थी और जिनके प्रचलित धार्मिक विश्वास के अनुसार मरने के बाद सिवाय नेस्त हो जाने के और कोई आशा न हो सकती थी, उन्हें इस धर्म ने मरने के बाद भी अनन्त जीवन की आशा दिलाई।"

यही लेखक आगे चलकर लिखता है—"रोमी साम्राज्य उस वक्त एक ऐसी ज़मीन की तरह था, जो बारिश न होने के कारण सूखी और बंजर पड़ी थी। उस साम्राज्य में न किसी तरह का सदाचार पैदा हो सकता था और न कोई मानसिक जीवन। ऐसे मौक़े पर मिथ्री धर्म एक ऐसी ज़ोरदार लहर की शक्ल में एशिया से चलकर सारे रोमी साम्राज्य के ऊपर बह निकला, जिस लहर ने वहां की सोई हुई आत्माओं को फिर से जगा दिया और बंजर ज़मीन में हरियाली पैदा कर दी। जो आत्माएं सच्चे ज्ञान की प्यास से तड़प रही थीं या जो ख़ाली निःशंक अज्ञान के जंगल में सूख सूख कर ख़ाक हो रही थीं, उन सबको इस धर्म ने मानसिक और नैतिक आहार पहुंचाकर फिर से तरोताज़ा कर दिया। इन सबके सामने उसने एक नई आशा रखी, उन्हें एक नई रोशनी दी, उन्हें एक सच्चा सन्देश सुनाया और उन्हें असली नई ज़िन्दगी का रास्ता दिखाया।"

मिथ्री धर्म ने ही सबसे पहले यूरोप वालों को भलाई और बुराई का फ़र्क़, आत्मा की अमरता, मरने के बाद की ज़िन्दगी, कर्मों के फल और मोक्ष का विश्वास दिलाया। उस वक्त तक यूरोप के जन समाज को इन बातों की कोई कल्पना न थी। सदाचार के सम्बन्ध में इस धर्म के असूल बिलकुल स्पष्ट थे। रोम का आख़री मिथ्री सम्राट जूलियन लिखता है कि—

"इस तरह के बिलकुल साफ़ साफ नियमों की एक फ़ेहरिस्त थी, जिन पर अमल करने से हर श्रद्धालु भक्त को परमानन्द यानी मोक्ष प्राप्त करने का विश्वास हो सकता था।"१

मिथ्री धर्म में मामूली लोगों के लिये सच्चाई, नेकचलनी, एक दूसरे से प्रेम का व्यवहार और ऊंची रूहानी जिन्दगी की इच्छा रखने वालों के लिये साधना यानी सलूक के दरजे बदरजे नियम और साधकों के एक दूसरे के बाद सात दरजे थे। हर दरजे की बाज़ाब्ता दीक्षा दी जाती थी। सबसे पहले साधक को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि मैं "जिन्दगी भर मिथ्र के एक सिपाही की हैसियत से अन्याय और बुराई की ताक़तों के साथ लड़ता रहूंगा।" इसके बाद उसे १२ इम्तहानों में से निकलना पड़ता था। उसे जलती हुई धूप और चीरती हुई सरदी में नंगे बदन खड़ा रहना पड़ता था, उसे लम्बे लम्बे सजल और निर्जल उपवास रखने पड़ते थे, उसे डूबने के कष्ट का अनुभव करने के लिये जल के अन्दर डुबकी दी जाती थी। इन सब तपस्याओं की गरज होती थी, उसे सख़्ती का आदी बनाना और इस काबिल कर देना कि दुनिया की विषय वासना उसके मन को वश में न कर सके। इस तरह धीरज, इन्द्रिय संयम और मिथ्र के नाम पर पूरे आत्मसमर्पण की शिक्षा लेने के बाद उसके माथे पर 'क्रूश' का सा एक निशान बनाया जाता था, उसका नया 'बपतिस्मा' होता था जिसका मतलब यह था कि अपने सब पिछले पापों से उसे छुटकारा मिल गया। इस तरह साधकों के सात दरजों को एक दूसरे के बाद पार करते हुए आख़ीर में हर मिथ्री साधक की 'जीवित मृत्यु" का एक संस्कार होता था; जिसके बाद समझा जाता था कि साधक अब दुनिया की तरफ से मरकर आध्यात्मिक पुनर्जन्म प्राप्त कर चुका और इस शरीर की मृत्यु के बाद अनन्त जीवन और नित्य सुख का हक़दार होगया।

बिला शुबह इस तरह का धर्म उस समय के यूरोप की समाजी और दिमाग़ी हालत में ग़रीब और अमीर, पढ़े और बेपढ़े सबकी आध्यात्मिक प्यास को बुझाने और उन्हें आध्यात्मिक तरक़्क़ी की तरफ़ ले जाने का सुन्दर ज़रिया था। यही वजह थी कि उसे यूरोप में इतनी जबर्दस्त सफलता मिली।

दूसरे धर्मों के प्रति मिथ्र धर्मावलम्बियों के सलूक का सबसे सुन्दर नमूना अन्तिम मिथ्री रोमी सम्राट जूलियन था। 'उसका जीवन एक सच्चे दार्शनिक और सच्चे तपस्वी का सा कठोर जीवन था।" उसने अपने दरबार के अन्दर सम्राट दारा (ईरान) प्रथम सम्राट हर्ष वर्धन सम्राट अकबर, और खलीफा हारूरशीद की तरह सब धर्मों के विद्वानों का जमा करके यूनान के नये अफलातूनी दर्शन और दुनिया के उस समय के सब धर्मों की अच्छी अच्छी और हितकर बातों को लेकर एक समन्वय पैदा करने की वह कोशिश की जिसके बारे में कहा गया है कि --

"दुनिया के इतिहास में धार्मिक समन्वय की उससे ज्यादह बड़ी कोशिश कभी नहीं की गई।"*

धर्मान्ध ईसाइयों द्वारा जूलियन की हत्या के थोड़े दिनों के अन्दर मिथ्री धर्म न सिर्फ रोमी साम्राज्य में बल्कि सारे यूरोप से लोप होना शुरू हो गया। फिर भी पाचवीं सदी ईस्वी तक इस सम्प्रदाय के लाखों आदमी स्विजरलैण्ड, हंगरी और दक्षिण जर्मनी में पाये जाते थे। उनकी टूटी हुई मूर्तियां, लेख और मन्दिरों के पत्थर अभी तक अजायबघरों में देखने को मिलते हैं। ईसाई धर्म ने कब, क्यों और कैसे मिथ्र के उपासकों को चुन चुन कर यूरोप से मिटाया इसकी कहानी अत्यन्त करुण और दर्दनाक है।

मिथ्री धर्म यूरोप से मिट गया किन्तु ईसाई धर्म के ऊपर वह अपनी छाप—क्रिसमस, ईस्टर, क्रूस, बपतिस्मा आदि के रूप में सदा के लिये छोड़ गया है।

१ Emperor Julian–"Convivium" P. 336.

* Encyclopedia Brittanica, See Julian.

पांच हज़ार वर्ष पूर्व की सुमेरी संस्कृति

सर लिओनर्ड वूली



हजरत ईसा से हजारों वर्ष पूर्व दजला और फिरात नदियों के किनारे किनारे अनेक नगर आबाद हो चुके थे। प्रत्येक नगर में एक मन्दिर होता था जहां का पुरोहित ही उस नगर का राजा होता था। प्राचीन सुमेरी उसे 'पटेसी' कहते थे। धीरे धीरे इन अनेक नगर राज्यों को मिलाकर सारे देश में एक केन्द्रीय सत्ता क़ायम हुई। इस केन्द्रीय सत्ता की पहली राजधानी क़िश नगर में स्थापित हुई। फिर क़िश के बाद राजनैतिक सत्ता का केन्द्र एरेक नामक नगर बना। किश और एरेक में लगभग २५ राजाओं ने राज्य किया। एरेक के बाद उर का पहला ऐतिहासिक राजकुल शुरू हुआ। उर की सत्ता का प्रारम्भ ३१०० ईसा पूर्व माना जाता है। उर राजकुल का संस्थापक मेस-अन-नि-पद्द समझा जाता है।

उर में खुदाई करते हुए हमें एक क़ब्रिस्तान मिला है जिसकी पुरानी क़ब्रें ईसा से कम से कम ३५०० वर्ष पहले की हैं। इस क़ब्रिस्तान से प्राचीन सुमेर की संस्कृति और सभ्यता, रीति रिवाज और शिल्पकला का यथेष्ट परिचय मिलता है। साधारण नागरिकों की लाशों को दफनाने के लिये ज़मीन में ५ फुट लम्बा चौड़ा गड्ढा खोद लिया जाता था और उसी में लाश को चटाई से लपेट कर दफ़न कर दिया जाता था। कुछ अण्डाकार शक्ल के मिट्टी के बर्तन मिले हैं जिनमें मुर्दे को पैर सिकोड़ कर पहले बन्द कर देते थे फिर इन बर्तनों को दफ़न कर दिया जाता था। कुछ निजी चीज़ें जिन्हें मृत मनुष्य अपने जीवन में उपयोग करता था उसकी क़ब्र में रख दी जाती थीं। बाज़ बाज़ मुरदे धड़ से ऊपर जले हुए मिले हैं। किन्तु इस तरह की अधजली लाशें अधिक पुरानी मालूम होती हैं। धनिकों की लाशों को भी ज़मीन में गड्ढा खोदकर दफनाया जाता था लेकिन उनके ऊपर ईंट या पत्थर की इमारत खड़ी की जाती थी। मक़बरों में चारों ओर मेहराबें होती थीं। छत और दीवारों में मिट्टी का गारा इस्तेमाल होता था लेकिन दीवार के भीतर की तरफ़ उम्दा चूने का प्लास्टर होता था। कितने अचरज की बात है कि इतने पुराने ज़माने में भी सुमेरी लोग सतूनों, मेहराबों, डाट और गुम्बद जैसी उन सब इमारती कारीगरियों से पूरी तरह परिचित थे जिनका बनाना उसके हज़ारों साल बाद तक भी यूरोप वालों को न आता था।

इन क़ब्रों में सोने और चांदी का बेहद सामान पाया गया है। न सिर्फ़ पहनने के ज़ेवर बल्कि बरतन, हथियार और औज़ार तक क़ीमती धातुओं के बने हुए मिले हैं। रोज़मर्रा के प्रयोग की चीज़ें तांबे की बनी हुई हैं। पत्थर की बहुत सी गंगालें मिली हैं। क़ीमती पत्थर तश्तरियों, प्याले और गहने बनाने के काम आते थे। इन सब वस्तुओं को देखकर यह मानने को विवश होना पड़ता है कि लगभग ५५०० वर्ष पूर्व सुमेरी संस्कृति अपने चर्मोत्कर्ष पर थी।

उर में अमरीकन और ब्रिटिश पुरातत्व विभाग की ओर से जो खुदाइयें हमने कीं उनमें रानी

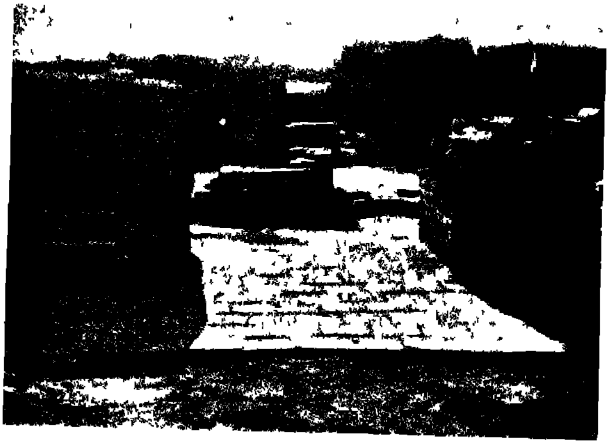
शुब अदस का मक़बरा ख़ास चीज है। क़ब्रिस्तान के अन्दर दो क़तारों में महल की दासियों के अस्थिपञ्जर पड़े थे। एक ओर तारों का एक बाजा (हार्प) और बाजे के ऊपर बाजा बजाने वाले का अस्थिपञ्जर पड़ा हुआ था। क़ब्र में रानी के कफ़न को सहारा दिये दो मानव अस्थिपञ्जर और पड़े थे। मालूम होता है कि और कई प्राचीन देशों की तरह सुमेर में कबरों के अन्दर दास दासियों को ज़िन्दा दफन करने का भी रिवाज था। लेकिन ये क़बरें बहुत अधिक पुरानी हैं। इसके बाद की किसी क़ब्र में इस तरह के अस्थिपञ्जर नहीं मिलते। उर के पहले राजकुल के समय यह रिवाज बन्द हो चुका था।

उर की सुमेरी संस्कृति के पीछे भी सैकड़ों वर्षों के अनुभवों का इतिहास फैला हुआ होगा। सुमेरियों को धातुओं की गलाई, ढलाई और बनाई का परिपूर्ण ज्ञान था। उनके बनाये हुए फरसे, कुल्हाड़े और अन्य औज़ार उस ज़माने के मिस्री कारीगरों के बनाए हुए औज़ारों और हथियारों से अधिक उत्कृष्ट हैं। हज़रत ईसा से ३५०० पूर्व सुमेरी कला जिस दर्जे की तरक़्क़ी कर चुकी थी उसे कोई दूसरी पुरानी सभ्यता नहीं पहुँची।

उर की खुदाई में हमें ५५०० वर्ष पुरानी एक सुमेरी राष्ट्रीय पताका मिली है। यह पताका सीप और लाजवर्द की बनी हुई है। इस पर तीन पंक्तियों में चित्रकारी है। नीचे की पंक्ति में रथ हैं जिनमें चार चार गधे जुते हुए हैं। घोड़ा उस समय तक सुमेर में न था। हर रथ में एक एक रथवान और एक योद्धा है। बीच में पैदल सेना है। ऊपर की पंक्ति में राजा युद्ध के क़ैदियों का निरीक्षण कर रहा है। अनेक उल्लेखों से पता चलता है कि उस ज़माने में तनख़्वाहदार सेना न होती थी। लड़ाई के अवसर पर हर नागरिक को युद्ध में शरीक होना पड़ता था और राजा लड़ाई में स्वयं सब से आगे रहकर लड़ता था।

सुमेरी नगरों में रहन सहन ख़ासे ऊंचे दरजे का था। दो दो मंज़िल के पक्के मकान होते थे जिनकी बनावट मोहन जो-दड़ो के नीचे दरजे के मकानों से मिलती है। घर का सदर दरवाज़ा आंगन में खुलता था। आंगन पक्की ईंटों से पटा होता था। आंगन में पानी का एक घड़ा रखा रहता था। जो भी आदमी बाहर से मकान में आता था उसे पहले पैर धोने पड़ते थे। हर मकान में पटी हुई नालियां होती थीं जिनसे मकान का पानी बाहर सड़क की बड़ी नाली में गिरता था। मकान पक्की ईंटों के बने होते थे। दीवारों पर गारा फिरा होता था। सुमेर में गरमी अधिक पड़ती थी इसलिये मकानों में नीचे के तल्ले में खिड़की न होती थी। हर मकान में नीचे का एक बड़ा कमरा, जो गली में खुलता था, मेहमानों के लिये होता था। रसोई, पक्का पाखाना और गुसलख़ाना और नौकरों के रहने की जगह नीचे के तल्ले में ही होती थी। अकसर मकानों में एक मन्दिर और बलि और यज्ञ के लिये वेदी भी होती थी। कमरों में लोग ज़मीन पर चटाई बिछाकर बैठते थे। छोटी छोटी तिपाइयों के ऊपर थाली रखकर भोजन करते थे। ज़्यादा समृद्ध घरों में दरियां, कालीन और तांबे या चांदी से मढ़े सोफ़ और आराम कुर्सियां भी होती थीं, जिनपर कामदार कुशन पड़े रहते थे। नीचे के तल्ले में घर के छोटे से मन्दिर या वेदी के ठीक नीचे परिवार का क़ब्रिस्तान होता था। यह क़ब्रिस्तान एक बन्द डाटदार तहख़ाना होता था। परिवार में जब किसी की मृत्यु होती थी तब यह तहख़ाना खोला जाता था। मुरदे को कपड़ा पहनाकर चटाई में लपेट कर उसमें रख दिया जाता था। पानी का एक प्याला उसके ओठों से लगाकर रखा जाता था। रहने के मकान के नीचे मुरदे गाड़ने का सुमेर में आम रिवाज था। कभी कभी उस मकान का दरवाज़ा ईंटों से बिलकुल चुनकर मकान वाले कहीं और रहने लगते थे। उर में हमने जो खुदाई की उसमें किसी मकान में दस, किसी में बीस और किसी में तीस तीस लाशें तक मिली हैं।

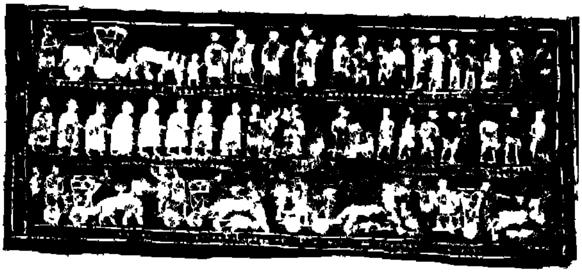
सन् २१७० ई० पू० के लगभग उर का नगर इलाम (दक्खिनी इराक़) की सत्ता ने बरबाद कर



पाच हजार वर्ष पुराने सुमेर की राजधानी—उर



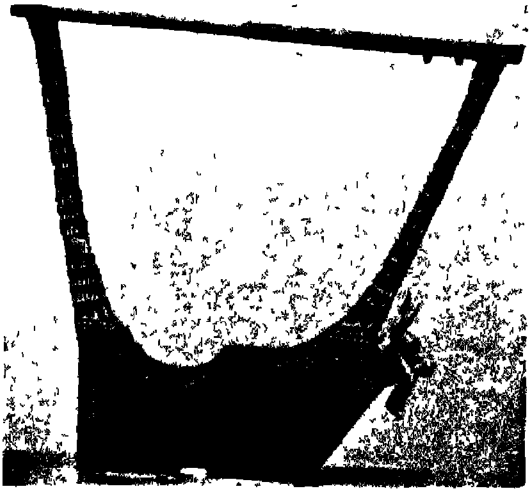
उर में खुदाई से निकले हुए मिट्टी के बर्तन



सुमेरी राष्ट्रीय पताका



पाच हजार वर्ष पूर्व उर की सुमेरी रानी शुब अदम का मुकुट और गले में पहनने के जडाऊ आभूषण



रानी शुब अदम की क़ब्र में पाया गया एक हार्प बाजा

दिया। निप्पर के शहर में हमें एक शिलालेख मिला है जिसमें लिखा है—

"उन्हों ने देश को बरबाद कर दिया और मुल्क का इन्तज़ाम नष्ट कर दिया।

"वे प्रलय की तरह आये और चारों ओर तबाही फैला गये! ऐ मेरे प्यारे सुमेर, तुम्हें उन्होंने क्या से क्या कर दिया? नगर को जमीन से मिला दिया और मन्दिरों को गिरा दिया।"

सुमेरियों ने इराक में एक ऐसी सभ्यता को जन्म दिया था जो हजारों वर्ष तक फलती फूलती रही। आजकल की इमारतों की सबसे बड़ी देन, मेहराब कम से कम ५५०० वर्ष पूर्व सुमेर ने दुनिया के लिये तिरसे में छोड़ी थी। गुम्बद और डाटों का इस्तेमाल भी सुमेर में ५५०० वर्ष पूर्व प्रचलित था। किन्तु सुमेर की भौतिक देनों से बढ़कर उसकी विचारों की देन थी। यूरोप की सभ्यता साफ साफ सुमेरी विचारों की नींव पर ही क़ायम हुई। हज़रत मूसा की दस आज्ञाओं की बुनियाद में सुमेरी आज्ञायें ही हैं। वे दसों आज्ञाएं ज्यों की त्यों सुमेरी ग्रन्थों से ले ली गई हैं। सुमेरियों से ही यहूदियों ने समाज को व्यवस्था दी और कानून बनाना सीखा और यहूदियों से आजकल की सारी ईसाई दुनिया ने उसे अपनाया और वह असली तौर पर नहीं तो कम से कम उसूल के तौर पर उसी को अपना आदर्श मानती है।

वह ज़माना बीत चुका जब समझा जाता था कि यूनान ने दुनिया को ज्ञान सिखाया। इतिहास की खोजों ने हमें बताया है कि किस तरह यूनान के जिज्ञासु हृदय ने लीदिया से, खत्तियों से, फीनीशिया से, क्रीट से, बाबुल से और मिस्र से अपनी ज्ञान की प्यास को बुझाया। लेकिन उस ज्ञान की जड़ें कहीं अधिक गहरी जाती हैं और इन सब सभ्यताओं के पीछे हमें सुमेर का छिपा हुआ हाथ नज़र आता है।

सुमेरी बहुत से देवी देवताओं को पूजते थे जिनमें चांद और सूरज भी थे। चाद उनका ख़ास देवता था। चांद को वे सूरज से बड़ा मानते थे। लेकिन इन सब देवी देवताओं से ऊपर और इन सब का बनाने वाला वह एक परमेश्वर को मानते थे जिसे वे 'इल' कहते थे। सुमेर में इल का कोई मन्दिर न था। उसे निराकार ही माना जाता था। सुमेरी ग्रन्थों में लिखा है कि 'इल' अवर्णनीय और अनिर्वचनीय है। सुमेरियों के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में केवल 'इल' था और सब शून्य था। इस शून्य में से मीठे पानी का एक चश्मा 'अप्सु' पुरुष रूप में प्रकट हुआ और चारों ओर फैल गया। अप्सु के बाद प्रकृति ने 'तियामत' खारे समुद्र के रूप में प्रकट होकर अप्सु के संयोग से सृष्टि की रचना की। सुमेरी ग्रन्थों में इस तरह अप्सु को सब का पिता और तियामत को सब की माता कहा गया है। इन्हीं से अन्य सब देवी देवता पैदा हुए।

सुमेरी मानते थे कि देवता इनसान की तरह वासनाएं रखते हैं लेकिन उनका पद मनुष्य से ऊंचा है। वे अमर हैं और आदमी के ऊपर दया रखते हैं। उनका विश्वास था कि देवताओं और आदमियों के अलावा सृष्टि में दानव भी रहते हैं। समझा जाता था कि यही दानव आदमी को पाप के पथ की ओर ले जाते हैं। सुमेरियों का सिद्धान्त था कि पाप की सजा मनुष्य को इसी जन्म में मिल जाती है। सुमेरी आठ प्रकार के पाप मानते थे—

(१) ईश्वर और देवताओं की पूजा में अश्रद्धा, (२) आपस की फूट, (३) झूठ बोलना, (४) झगड़ा करना, (५) व्यापार में बेईमानी, (६) पड़ौसी का माल हड़पना, (७) पड़ौसी के साथ असद् व्यवहार और (८) व्यभिचार।

सुमेरी संस्कृति ने ईसा से हज़ारों साल पहले एक ऐसे समाज की रचना की थी जिसमें समाज की संहति को क़ायम रखते हुए हर आदमी को पूरी आज़ादी थी। हर एक के लिये उन्नति के साधन मौजूद थे। राज्य के क़ानून सदाचार की बुनियाद पर क़ायम थे। वे व्यक्ति को सच्चा और ईमानदार बनने की प्रेरणा देते थे। यही कारण था कि सुमेरी समाज हज़ारों वर्ष तक व्यवस्थित और समृद्ध बना रहा।

तन्त्र का आध्यात्मिक और सांस्कृतिक निरूपण

पंडित देवीदत्त शुक्ल, सम्पादक 'सरस्वती'

वैदिक धर्म जब सङ्कुचित होकर केवल कुछ ब्राह्मणों का धर्म रह गया तब सर्व साधारण के कल्याणार्थ महेश्वर और महेश्वरी ने सरल विधि से देवी और देवताओं की आराधना का उपदेश किया। वही लोककल्याणकारी महामहोपदेश लोक में तन्त्र-शास्त्र के नाम से प्रसिद्ध है। बौद्धों के अभ्युदय के प्रारम्भ होने के पहले एशिया के रथक्रान्त अश्वक्रान्त और विष्णुक्रान्त नाम के भूखण्डों में इस धर्म ने अपना प्राधान्य क़ायम कर लिया था। तन्त्रों में उक्त तीनों क्रान्तों में जो भूखण्ड बताये गये हैं, उन सब में वर्तमान समय के भारत, बलूचिस्तान, अफग़ानिस्तान, मध्य-एशिया, तिब्बत, चीन के दक्षिणी प्रान्त, अनाम, कम्बोडिया, कोचीन, चीन, सियाम, ब्रह्मदेश और भारतीय द्वीप पुंजों आदि का समावेश होता है। आगम-धर्म का एक समय इन समस्त देशों में व्यापक प्रचार था। किन्तु बौद्ध धर्म और जैन-धर्म के उत्कर्ष के साथ साथ आगम-धर्म का पराभव प्रारम्भ हुआ।

तन्त्र-शास्त्र का अपना परमात्मवाद अलग है। वह परब्रह्म परमात्मा का अस्तित्व स्वीकार करता है। वह बताता है कि परब्रह्म अवस्था चतुष्टय के परे है। वह निर्गुण है अचिन्त्य है, अनिर्वचनीय है। योग द्वारा आत्मज्ञान से ही उसका अनुभव होता है। तन्त्र-शास्त्र यह भी बताता है कि ब्रह्म निष्कल और सकल है अर्थात् वह कला रहित और कला सहित है। कला प्रकृति का नाम है। निष्कल अर्थात् प्रकृति रहित ब्रह्म ही परब्रह्म है और सकल ब्रह्म अर्थात् प्रकृति-युक्त ब्रह्म उसका दूसरा रूप है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। अतएव सकल ब्रह्म सगुण है। इसके पहले वह निर्गुण था। सकल ब्रह्म शक्ति रहित है, तथापि उसमें शक्ति का अस्तित्व है, जिससे सृष्टि होती है। वास्तव में ये दोनों अर्थात् ब्रह्म और शक्ति एक ही वस्तु हैं, केवल नाम का भेद है।

✓ शक्ति अनादि रूपा है। वह ब्रह्म रूपा है। वह निर्गुण और सगुण है। वह चैतन्य रूपा है और सारे प्राणियों को प्रकट करती है। वह आनन्द रूपा है, जिसके द्वारा ब्रह्म स्वयं अपने आपको प्रकट करता है।

प्रारम्भ में एक मात्र निष्कल ब्रह्म था। उसने इच्छा की कि 'अहं बहुस्याम.', मैं अनेक हो जाऊं और वह हो गया। शक्ति के इस प्रादुर्भाव से पर-ब्रह्म का यही रूप पूजा का विषय है। इसी का सगुण ध्यान होता है। तन्त्र में यह सशक्ति ब्रह्म 'शिव-शक्ति' कहा गया है। इसी से नाद का उद्भव हुआ। उस नाद से विन्दु प्रकट हुआ। शारदा में लिखा है—

सच्चिदानन्द विभवात् सकलात् परमेश्वरात्
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादात् विन्दु समुद्भवः।

अर्थात् सकल और सच्चिदानन्द ब्रह्म से शक्ति उद्भूत हुई, शक्ति से नाद और नाद से विन्दु। इसी विन्दु के रूप में उच्च कोटि का शाक्त-साधक शिव-शक्ति का ध्यान करता है। सूक्ष्म शरीर की दशा का नाम 'कामकला' है। यही मन्त्र का मूल है। जब देवी मूल मन्त्रात्मिका' कही जाती है, तब उसका तात्पर्य इसी सूक्ष्म शरीर से है। यह विन्दु वृत्ताकार है। इसका केन्द्र ब्रह्मपद है। यही प्रकृति-पुरुष का अधिष्ठान है। इसकी परिधि माया कहलाती है। इसमें विद्युत्प्रभ त्रिकोण स्थित है। यह त्रिकोण सारे अस्तित्व मात्र के 'शब्द' का प्रतिनिधित्व करता है। यह त्रिकोण चन्द्रमण्डल से घिरा है।

विन्दु चणक के समान कहा गया है। जैसे चना अपने छिलके के भीतर दो भागों में विभक्त है, उसी प्रकार उक्त विन्दु प्रकृति पुरुष का स्वरूप है।

इसको शब्द ब्रह्म या अपर ब्रह्म कहते हैं। तब पराशक्तिमय शिव और शक्ति इन दो तत्वों में सघटित होता है। देवी उन्मुखी होती है, उसका मुंह शिव की ओर हो जाता है, इससे माया का आवरण टूट जाता है और सृष्टि का कार्य शिव और शक्ति या हं और सः के विभाजन से प्रारम्भ होता है। शारदा में कहा गया है कि देवता पराशक्तिमय स्वय फिर विभाजित होता है। वह विन्दु, बीज और नाद में विभक्त होता है। विन्दु नाद या शिव है।

शब्द ब्रह्म शक्तियों की – सत्व, रज और तम गुणों के सहित ज्ञान, इच्छा और क्रिया की शक्तियों की—त्रिमूर्ति में अपने आपको प्रकट करता है।

परविन्दु से निकली रौद्री—रुद्र और उनकी शक्ति। इनका रूप अग्नि है और इनका कार्य ज्ञान है। फिर वामा—विष्णु और उनकी शक्ति निकली है। इनका रूप सूर्य का है और इनका कार्य क्रिया है। तब ज्येष्ठा—ब्रह्मा और उनकी शक्ति निकली। इनका रूप चन्द्रमा है और इनकी क्रिया इच्छा है। इसी से देवी को इच्छा-शक्ति, क्रिया शक्ति और ज्ञान-शक्ति कहते हैं। शक्ति माया और मूल प्रकृति दोनों है। माया से ब्रह्म अपने को भिन्न भिन्न रूपों में प्रकट करता है, जैसा कि वह है। मूल प्रकृति उसकी वह अव्यक्त स्थिति है, जो व्यक्त होने पर—नाम रूप से विश्व होती है।

देवी महाशक्ति है। वह महामाया है, क्योंकि उसी की माया से इस ससार का उद्भव होता है। माया की अधीश्वरी होने से वह महामाया है। वह अविद्या है, क्योंकि बन्धन में डालती है। वह विद्या है, क्योंकि मुक्त करती है और संसार का सहार करती है। वह प्रकृति है और सृष्टि के पहले होने से आद्या शक्ति है। वह वाचक शक्ति है।

देवी 'परब्रह्म रूप' में रूप और गुण से परे है। देवी के तीन रूप हैं। पहला पररूप है, जिसे कोई नहीं जानता। दूसरा मन्त्र रूप है जो उसका सूक्ष्म रूप है। तीसरा स्थूल रूप—हाथ पैर वाला रूप है, जिसका वर्णन तान्त्रिक और पौराणिक स्तोत्रों में किया गया है। प्रकृति के रूप में देवी ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर का कारण है, अतएव नर और नारी दोनों रूप उसके हैं। परन्तु उसका ध्यान स्त्री-रूप में ही होता है।

महादेवी के रूप में वह सरस्वती, लक्ष्मी, गायत्री, दुर्गा, त्रिपुर सुन्दरी, अन्नपूर्णा और उन सब देवियों के रूप में जो ब्रह्म के अवतार हैं, विद्यमान है।

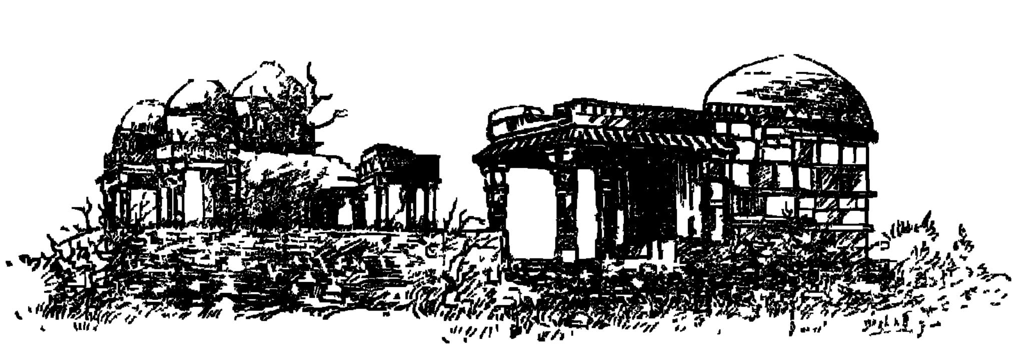
सती, उमा, पार्वती और गौरी के रूप में देवी शिव की अर्द्धाङ्गिनी है। दक्ष के यज्ञ के पहले सती के रूप में उसने अपने आपको शिव के सामने दस सिद्ध रूपों में प्रकट किया, जो दस महाविद्यायें कहलाती हैं। काली, कमला, छिन्नमस्ता, भुवनेश्वरी, मातगी, षोडशी, धूमावती, बगला, तारा और भैरवी, यही दश महाविद्यायें हैं।

जगज्जननी के इन्हीं रूपों की पूजा तन्त्रों में वामाचार से ही विदित है। इस आचार के साधक के तीन भाव या स्वभाव बताये गये हैं। ये पशु, वीर और दिव्य भाव हैं। पशु भाव में रजोगुण, तमोगुण पर प्रभाव डालता है, जिससे भ्रान्ति, तन्द्रा और आलस्य का उद्भव होता है। पशु शब्द पाश से बना है। पशु वह मनुष्य है जो दया, मोह, भय, लज्जा, घृणा, कुल और शील आदि आठ पाशों से बँधा है।

'कुब्जिका तन्त्र' में लिखा है—"पशुभाव वाले लोग पशु, ही होते हैं। पशु यन्त्र नहीं छूता, न मन्त्र का जप करता है। वह यज्ञों और तन्त्रों को सन्देह की दृष्टि से देखता है, मन्त्रों को अक्षर मात्र समझता है, गुरु के प्रति श्रद्धा नहीं रखता, मूर्ति को पत्थर का टुकड़ा समझता है, देवताओं में भेद करता है, और बिना मत्स्यमास के पूजा करता है। अज्ञानवश सदा नहाया-धोया करता है, सदा दूसरों की निन्दा किया करता है।"

दिव्य भाव का लक्षण कुब्जिका तन्त्र के सातवें अध्याय में यह दिया गया है—जो नित्य स्नान-सन्ध्या

करता है, स्वच्छ वस्त्र धारण करता है, भस्म या रक्त चन्दन का त्रिपुण्ड लगाता है, और रुद्राक्ष की माला पहनता है, जप और अर्चना करता है, नित्य दान करता है, वेद, शास्त्र, देव और गुरु पर नित्य विश्वास रखता है, सभी देवों का कल्याण रूप मानता है, वह स्त्रियों के पैरों पर नत मस्तक होता है और उन्हें सदा गुरुवद् मानता है (स्त्रीणां पादतल इष्ट्वात्र गुरुवद् भावयेद् सदा)। वह देवी की रात में पूजा करता है और पान की बीड़ा खाकर अर्थात् भोजन के उपरान्त जप करता है और कुल वृक्ष का अभिवादन करता है (कुलवृक्ष = कुल स्त्री जो मन्त्र तन्त्र की ज्ञाता हो, चाहे वह दूती-द्वारा लाई गई हो, पुंश्चाली हो या वेश्या हो, वृद्धा हो चाहे युवा हो)। वह आद्या को सब कुछ अर्पण कर देता है। वह इस विश्व को शक्ति से व्याप्त तथा देवतामय समझता है। शिव सब में हैं और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में शिव = शक्ति व्याप्त है यही भाव सदा रखता है। देवता-भाव प्राप्त करने तथा उसे बनाये रखने का निरन्तर प्रयत्न करता रहता है। दीक्षा ग्रहण करनी पड़ती है और अभिषेक कराने पडते हैं। शक्ति की साधना के लिए साधकों को दीक्षा के बाद अभिषेक होता है। अभिषेक ८ प्रकार के हैं। पहला 'शाक्ताभिषेक', साधना का मार्ग ग्रहण करने के समय दिया जाता है। इसके बाद 'पूर्णाभिषेक' होता है। इस अभिषेक मे साधक दक्षिणा चार के बाद का आचार ग्रहण करता है। अपने मन्त्र का पुरश्चरण करने के बाद ही साधक इसका अधिकारी होता है। तीसरा 'क्रम दीक्षाभिषेक' है। यह अभिषेक होने पर साधक यज्ञोपवीत को माला की तरह पहनता है। इसके बाद अनेक परीक्षाओं के अनन्तर 'सम्राज्याभिषेक' और 'महा सम्राज्याभिषेक' होता है। अन्त में कठिनतर 'योग दीक्षाभिषेक' होता है। इन संस्कारों तक साधक पञ्चाङ्ग पुरश्चरण कर चुकता है। योगदीक्षाभिषेक के बाद पञ्चाङ्ग योग करने पर उसका 'पूर्ण दीक्षा भिषेक' होता है, उसके बाद 'महापूर्णदीक्षाभिषेक', का अधिकार होता है और इस स्थिति में वह शिखा-सूत्र त्याग कर परमहंसगति को प्राप्त करता है। शाक्तों को उच्चस्तर तक पहुचने के लिए अर्थात् दिव्य भाव प्राप्त करने के लिए ये सभी संस्कार कराने पड़ते हैं, क्योंकि शाक्त साधक की साधना का अन्तिम लक्ष्य दिव्य भाव ही है। ऐसा ही शाक्त मार्ग के आचार्य सर जान उडरफ महोदय ने निरूपण किया है।



आर्य तथा द्रविड़ संस्कृतियों का समन्वय

श्री ब्यौहार राजेन्द्रसिंह एम एल ए.

भक्ति के उद्गम से दक्षिण भारत का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। भागवत माहात्म्य में भक्ति अपने को द्राविड़े उत्पन्ना कहती है—

उत्पन्ना द्राविड़े साह
वृद्धि कर्णाटके गता।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे
गुर्जरेजीर्णतांगता ॥
(भा मा १-४८)

स्वय भागवत पुराण में इस बात का उल्लेख है कि कलियुग मे नारायणभक्त सारे भारत में यत्र तत्र बिखरे हुए मिलेंगे, किन्तु वे द्रविड़ देश में कावेरी और ताम्रपर्णी नदियों के तट पर विशेष रूप से पाये जावेंगे।

क्वचित्क्वचिन्महाराज
द्रविड़ेषुचभूरिशः।
ताम्रपर्णीनदी यत्र
कृतमाला पयस्विनी ॥
कावेरी च महापुन्या
प्रतीचीं च महानदी ॥
(भा ११-५-३६-४०)

श्री आयंगर का दावा है कि वैष्णव धर्म के सभी आचार्य तथा शैवों के आदि गुरु द्रविड़ देश ही में उत्पन्न हुए हैं।[1]

श्री फर्कहार भागवत् को भी ९०० ई० में दक्षिण देश ही में रचित मानते हैं।[2] किन्तु श्री कृष्णस्वामी आयंगर सत्य के अधिक समीप जान पड़ते हैं, जब वे कहते हैं कि भक्ति का उद्भव यद्यपि उत्तर भारत में ही हुआ था, किन्तु उसका विस्तार दक्षिण ही में हुआ। सर रिचर्ड टेम्पल तो यहां तक कहते हैं कि वैष्णव धर्म में दक्षिण भारतीय भक्ति मार्ग की स्पष्ट छाप दिखाई देती है।[3] चाहे हम सारा श्रेय दक्षिण को न भी दें, तो भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि भक्ति मार्ग के उत्तर कालीन विकास में दक्षिण का काफी हाथ रहा है। इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि दक्षिण के पल्लव तथा विजयनगर साम्राज्य केवल संस्कृत साहित्य ही के संरक्षक न थे, किन्तु वैष्णव और शैव पथों के भी बड़े भारी आश्रयदाता थे।

इस बात में मतभेद है कि[4] द्रविड़ लोग भारत के बाहर से आये अथवा दक्षिण ही के मूल निवासी हैं।[5] श्री फ्रेज़र इन दोनों ही के लिये कोई निश्चित प्रमाण नहीं पाते, किन्तु इतना तो निश्चय है कि बहुत काल तक उत्तर और दक्षिण भारत का सम्बन्ध विच्छिन्न रहा। युगों तक विंध्याचल दोनों के बीच बड़ा भारी बाधक सिद्ध हुआ। अन्त में अगस्त्य सरीखे ऋषियों ने इन दुर्गम बाधाओं को कष्ट सहन कर पार किया और आर्य सभ्यता का प्रकाश दक्षिण में फैलाया। बौद्ध और तमिल साहित्य में भी हमें अगस्त्य और उनके शिष्यों के वर्णन मिलते हैं।

आर्यों का प्रभाव दक्षिण भारत पर कब से पड़ना प्रारम्भ हुआ इस बात में भी मतभेद है। बरनेल की राय में ७०० ई० तक भी यह प्रभाव अधिक नहीं था,[6] किन्तु गोविन्द स्वामी सिद्ध करते हैं कि ईसा पूर्व

---

१ Early History of Vaishnavism, Page II.

२ Outline of Religious Literature in India

३ India and Western World.

४ Risley, "Peoples of India".

५ Rapson, "Encyclopedia Brittanica" P 393.

६ "Indian Antiquery" 1872, P 310

१ ली से ६ वीं शताब्दी के भीतर आर्य प्रभाव दक्षिण में काफी फैल चुका था।[1]

दक्षिणी भाषाओं में तमिल ही सब से प्राचीन, समृद्ध और सुसंस्कृत भाषा है। इसका मुख्य कारण बाहरी सभ्यताओं का संसर्ग माना गया है। ई० सन् के बहुत पहिले पाण्ड्य, चोल और चेर नामक तमिल राज्य काफी उन्नत और समृद्ध थे, और उनका व्यापारिक सम्बन्ध न केवल उत्तरी और पश्चिमी भारत में था, वरन् भूमध्यसागर के देशों तक फैला हुआ था।[2]

इस संसर्ग का प्रभाव साहित्य और संस्कृति पर पड़े बिना नहीं रहा। कन्नड़ साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। उत्तर से आये हुए संस्कृतज्ञ जैन विद्वानों ही के प्रभाव से कन्नड़ व्याकरण तथा लिपि का प्रारम्भ हुआ।[3] तेलगू लिपि पर ई० पू० २५० में अशोक लिपि की दक्षिणी शाखा का ही प्रभाव पड़ा था। कन्नड़ की संस्कृत प्रचुरता ही के कारण उसे सौतेली मा कहा गया है।[4] कन्नड़ और तेलगू प्रान्तों के बीच कोई भौगोलिक बाधा न होने के कारण दोनों भाषाओं का आदान प्रदान बराबर चलता रहा और एक दूसरे से वे प्रमाणित होती रहीं। वैष्णव पंथ के उदय के बाद तो तमिल संस्कृति ने भी कन्नड़ पर अपना प्रभाव डालना प्रारम्भ कर दिया।[5]

मलयालम साहित्य का उदय तो बहुत बाद में हुआ। जैन कवियों की रचनाओं ही से उसका प्रारम्भ होता है। १० वीं सदी के पहिले स्वतंत्र भाषा के रूप में उसके कोई प्रमाण नहीं पाये जाते। १२वीं सदी का "रामचरितम्" नामक एक उत्तम काव्य उसमें पाया जाता है। तमिल की अपेक्षा मलयालम् में संस्कृत शब्दों की बहुत अधिक प्रचुरता होने ही से यह सिद्ध होता है कि उत्तर भारत की भाषा का प्रभाव दक्षिणी भाषाओं पर उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।

श्री स्टीनकोनो ने भी द्रविड़ साहित्य पर आर्य प्रभाव स्वीकार किया है।[1] आयंगर तो यहां तक कहते हैं कि जिस प्रकार भारत का इतिहास आर्यों के आगमन से प्रारम्भ होता है, उसी प्रकार दक्षिण भारत का इतिहास भी आर्यों के दक्षिण भारतीय संसर्ग से प्रारम्भ होता है। भण्डारकर का कथन है कि ई० पू० सातवीं सदी तक उत्तर भारत के आर्यों को दक्षिण का कुछ पता ही न था।[2] श्री. कुक मानते हैं कि प्राचीन काल से द्रविड़ भाषा, साहित्य, कला और संस्कृति स्वतंत्र रूप से उन्नत होती चली आई है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि आर्य संसर्ग के पूर्व भी द्रविड़ भाषाएं काफी उन्नत हो चुकी थीं, तो भी आत्मज्ञान के प्रचारक ब्राह्मणों, जैनों और बौद्धों के प्रभाव से उत्तर भारतीय आर्य संस्कृति के सम्पर्क में आने से उनमें अभूतपूर्व उन्नति हुई।

इस बात के काफी प्रमाण हैं कि जहां जहां बौद्ध भिक्षु और जैन सिद्ध अपने सिद्धान्तों के प्रचारार्थ गये, वहां वहां उन्होंने अपने देश की बोलियों को साहित्यिक रूप दिया और उन्हीं को अपने प्रचार का माध्यम बनाया।[3] जिस प्रकार ब्राह्मणों के प्रभाव से संस्कृत की उन्नति और प्रचार हुआ, उसी प्रकार जैनों और बौद्धों के प्रभाव से लोक भाषाओं की उन्नति हुई। ये धर्म जिस प्रकार धर्म और नीति में सुधार वादी थे, उसी प्रकार भाषा-क्षेत्र में भी। उन्होंने लोक धर्म के लिये लोक भाषा ही की आवश्यकता अनुभव की और

१ Ibid 1912, P. 727.

२ "India and Western World"
Ch 5, "Some Contributions of South India to Indian culture" ch. 18.

३ Rice, Kanaris Literature.

४ Ibid

५ Ibid

१ Encyclopedia Brittanica, VIII, P. 551

२ Bombay Gazetteer.

३ Rapson. Impereial Gazetteer 35.

स्वयं बुद्ध ने संस्कृत छोड़कर पाली का आश्रय लिया था और बुद्धों की वाणी को लोक भाषा मे प्रचलित करने का आदेश किया था, तब उनके शिष्यगण क्यों न ऐसा करते ।

पल्लव राज्य के पूर्व तमिल साहित्य मे हमें ऐसे "सङ्गम" का उल्लेख मिलता है, जो साहित्यिक कार्य के लिये राजाओं द्वारा नियुक्त किये गये विद्वानों के समूह थे।[1] इससे अनुमान होता है कि इमसे पहिले व्यक्तिगत रूप से कार्य करने वाले कवियों के द्वारा साहित्य की काफी उन्नति हो चुकी होगी। इस प्रकार के तीन 'सङ्गमों' का उल्लेख हमें मिलता है। आयगर इनकी तिथि पहली या दूसरी सदी मानते हैं। ये एक प्रकार के वीरगाथापूर्ण काव्य थे। इन काव्यों से पता लगता है कि तमिल देश धन-धान्य, वाणिज्य, व्यापार तथा धर्म संस्कृति में कितना सम्पन्न और उन्नत था। वहां बौद्ध और जैन धर्मों का काफी प्रचार हो चुका था। अशोक के साम्राज्य की दक्षिणी सीमा तमिल राज्य की उत्तरी सीमा से प्रायः मिलती जुलती थी, अतः वहां बौद्ध धर्म का प्रवेश होना स्वाभाविक ही था। इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि इन दोनों मतों तथा तीसरे शैव मत वाले सब हिल-मिल कर रहते थे।[2]

बाद के साहित्य में अवश्य ही इस बात का इशारा मिलता है कि उक्त दोनों मतों का शैव मत से कुछ विरोध हो गया था। ह्यून त्साग के वर्णन से प्रकट होता है कि अकेले काची नगर में १ लाख बौद्ध भिक्षु, अनेक जैन साधु तथा ८० ब्राह्मण मत के मन्दिर मौजूद थे। कई बौद्ध स्तूपों के भग्नावशेष भी उसे मिले थे, जिससे प्रगट होता है कि ब्राह्मण मत उन्नति पर था और शेष दो मत अवनति पर। पाचवीं छठीं सदी तक इन मतों के प्रति विरोध के भाव अधिक बढ़ गये थे।

कलिंग और आन्ध्र राज्य, जो कि दक्षिण भारत के प्रधान राज्य थे, उन पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। ई० पू० २६२ में अशोक ने कलिंग पर चढ़ाई की, किन्तु भयानक नर हत्या के कारण उसे निर्वेद हुआ। पश्चात्ताप करते हुए उसने जो कुछ कहा, उससे प्रगट होता है कि कलिंग में ब्राह्मण भिक्षु तथा अन्य मतावलम्बी रहते थे। अशोक के बाद कलिग ने फिर स्वाधीनता प्राप्त करली। कलिंग के जैन राजा खारवेल ने हाथीगुम्फा आदि गुफाओं में जैन मूर्तियों का निर्माण कराया। इससे प्रगट होता है कि आर्य संस्कृति के चिह्न कलिंग में मौजूद थे। कलिग की सीमा से लगे होने के कारण आन्ध्र पर भी इसका प्रभाव पड़ा। मौर्यों के पतन के बाद १९४ ई० पू० में आन्ध्रों का उदय हुआ। इन्होंने पहिले श्री काकुलम् तथा बाद में अमरावती मे अपनी राजधानी बनाई, जहां कि आन्ध्रों द्वारा निर्मित बौद्ध स्तूप पाये गये हैं। आन्ध्र साम्राज्य की सीमा दोनों समुद्रों को ही स्पर्श नहीं करती थी, किन्तु विदिशा और उज्जैन तक फैल चुकी थी।[1]

इसके नगर रोम आदि से विस्तृत व्यापार के कारण धन-धान्य से पूर्ण थे। आर्थिक समृद्धि के साथ धर्म और संस्कृति में भी आगे बढ़े हुए थे। राजा सातकर्णि द्वारा वैदिक विधान के अनुसार अनेक बार अश्वमेध यज्ञ के वर्णन[2] से हमें आर्य धर्म के कर्म-काण्ड का दक्षिण में प्रचार होने तथा आन्ध्र नृपतियों के आर्य धर्म के संरक्षक और संवर्धक होने के प्रमाण मिलते हैं।[3] ५ वीं सदी में आन्ध्र साम्राज्य के पतन के बाद हमें अनेकों राजवंशों का उदय मिलता है। महाराष्ट्र में जैन कदम्ब, उत्तर में राष्ट्रकूट, इसके भी उत्तर में चालुक्य तथा बिलकुल दक्षिण में पाण्ड्य राज्य स्थापित थे। इन सब प्रदेशों में वैदिक, बौद्ध तथा जैन मत तीनों साथ साथ

१ Ayangar, P. 9
२ Frazer E. R. E. (V) P 23

१ Cambridge History, P 551.
२ Buhlar Arch. Survey of Western India, V, P 60.
३ Oxford History of India

उसी को अपने लोक धर्म का वाहन बनाया। जब प्रचलित थे। किन्तु राज घरानों ही तक इनका अधिकतर प्रचार था। सर्वसाधारण में हमें प्राचीन द्रविड़ धार्मिक विश्वासों का प्रचार मिलता है। धन धान्य से सुसम्पन्न वैदिक कर्मकाण्ड का प्रचार होना जितना स्वाभाविक था, उतना ही अधिक सुख सम्पत्ति के कारण, प्रतिक्रिया स्वरूप सन्यास-प्रधान जैन और बौद्ध मतों का प्रचार होना भी स्वाभाविक था। साथ ही जन साधारण के विश्वासों से सामजस्य स्थापित करने की वैदिक धर्म में अद्भुत क्षमता थी। जैन या बौद्ध मतों की अपेक्षा जनसाधारण के विश्वासों से वैदिक धर्म का अधिक साम्य भी था। अथर्व वेद के तत्र मत्र के साथ द्रविड़ जादू टोना की अधिक समानता थी।

काल्डवेल, ह्वाईटहेड तथा मेवेल आदि के वर्णनों से पता लगता है कि द्रविड़ ग्राम देवता पत्थर पर किसी देवी की आकृति, वृक्ष में निवास करने वाली भूत प्रेतात्माए अथवा नाग आदि होते थे। इन की प्रसन्नता के लिये बलिदान की प्रथा प्रचलित थी। इनके मन्दिरों के पुजारी जादू टोना तथा वैद्यक में निपुण होते थे। देवता के सामने बलिदान या नृत्य गीत करना इनका पूजा विधान था।[1]

इसी नृत्य-गीत-पद्धति को मन्दिर-पूजा के आवश्यक अग के रूप में, विष्णु तथा शिव मन्दिरों में प्रचलित कर वैष्णव आलवार तथा शैव आदियार सन्तों ने अपनी समन्वय बुद्धि का परिचय दिया। आगे चलकर शक्ति उपासना में भी द्रविड विश्वास की स्पष्ट छाप लक्षित होती है, जिसमें पृथ्वी को मातृरूप मानकर उनकी उपासना की जाती और उन्हें बलिदान आदि से सन्तुष्ट किया जाता था।

बहुत से लोग तो रुद्र शिव की उपासना को भी द्रविड़ देश में प्रचलित मानकर यह सिद्ध करते हैं कि आर्यों के रुद्र तथा द्रविड़ों के रुद्र में इतनी समानता थी कि दोनों ने एक दूसरे के गुणों का आपस में आदान-प्रदान करके एक ऐसे देव की रचना की थी, जो दोनों को समान रूप से ग्राह्य हो सका। आर्य जाति जो कि नवीन रूप से द्रविड़ देश में आई हुई थी, उसे अपने तथा द्रविड़ जाति के धार्मिक विश्वासों में सामञ्जस्य करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ और उसने फिर अपनी समन्वय बुद्धि से काम लिया। इसी कारण वह अपने कार्य को सुदूर दक्षिण देशों तक फैलाने में समर्थ हुई।

यहा पर हम तमिल साहित्य के सब से प्राचीन और उस महान ग्रन्थ का उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं, जो कि साहित्यिक और राजनीतिक दृष्टि से केवल भारतीय साहित्य ही का नहीं, वरन् विश्व साहित्य का एक रत्न माना गया है। उस ग्रन्थ का नाम 'कुरल' है। इसे निरुवल्लुवर नामक एक जुलाहे ने रचा था। इसके समय के विषय में मतभेद है। आयगर इसकी रचना कौटिल्य के बाद मानते हैं। और श्री पिल्ले पहली सदी मानते हैं। इस ग्रन्थ में सर्व-सम्मत नीति-तत्वों का इतना सुन्दर वर्णन है कि वैदिक, जैन तथा बौद्ध सभी इसे अपने आचार्यों द्वारा रचित बताने में चढ़ाऊपरी करते हैं। निरुवल्लुवर ने धर्म को नैतिक आधार पर स्थापित किया है। उन्होने सन्यास की निन्दा कर क्रियात्मक धर्म का प्रतिपादन किया और एकेश्वर वाद के आधार पर अहिंसात्मक नीति धर्म की स्थापना की। इस ग्रन्थ से अच्छी तरह सिद्ध होता है कि ईस्वी सन् के आरम्भ के पूर्व ही वैदिक आर्य संस्कृति ने दक्षिण में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था।

---

1 White Head:—Village Cods of South India Imperial Gazettier P. 322
Caldwel.—Comparative Dravidian Grammer

भारतीय संस्कृति में ज्ञान और कर्म का सम्बन्ध

प्रोफ़ैसर राजाराम शास्त्री

मोटे तौर पर किसी समाज की संस्कृति उसके ज्ञान तथा कर्म की परम्परा को कहते हैं। किन्तु वस्तुतः ज्ञान का समावेश कर्म में ही हो जाता है। यह कैसे होता है, यही हमें भारतीय संस्कृति में देखना है। भारतीय संस्कृति के मूल प्रतिपादक ग्रन्थ वेद हैं, और कर्म मीमांसा दर्शन वेदों की मीमांसा है, वही भारतीय संस्कृति की मीमांसा है। अतः हमें अपने विषय के लिए उसी का आधार लेना होगा।

वेदों में भारतीय समाज के परम्परित व्यवहार या कर्म का प्रतिपादन है, इसी से उनकी मीमांसा कर्म-मीमांसा है। विद्वानों से यह छिपा नहीं है कि कर्म-मीमांसा के आदि रूप में कर्मों का प्रतिपादन उनके अनुभूत फलों के आधार पर ही होता था, किन्तु पीछे जब उन कर्मों की एक परम्परा बन गई और वे अभ्यास-सिद्ध होगये, तब उनके फलों को निरन्तर दृष्टि के सम्मुख रखना अनावश्यक हो गया और इसलिये उनके हेतुरूप फलों को समाज ने विस्मृति के गर्भ में डाल दिया। ऐसी स्थिति में कर्मों का प्रतिपादन अनुभूत फलों से विमुक्त हो गया। कर्मों में स्वतः प्रेरणा आ गई और विधियों की स्वतन्त्र प्रामाणिकता हो गई। उन्हें और किसी प्रमाण की आवश्यकता न रही। इसी कारण प्रत्यक्ष अनुमानादि के अतिरिक्त आप्त वाक्य से भी वेद का प्रामाण्य अलग माना गया, क्योंकि आप्त वाक्य भी अन्ततोगत्वा किसी न किसी व्यक्ति के सहेतुक और सफल अनुभव पर आश्रित होता है और उस व्यक्ति द्वारा प्रतिपादित होता है, और वेद का विषय सामाजिक कर्म था, जिसकी सफलता व्यक्तिगत अनुभव के क्षेत्र के बाहर की वस्तु है। इसी अर्थ में कोई व्यक्ति उसका प्रतिपादक भी नहीं कहा जा सकता। वह तो समाज के अनेक अवयवों के घात-प्रतिघात के फलस्वरूप अनेकों की इच्छाओं के टकर से और (फिर भी या इसीलिये) सभी इच्छाओं से स्वतन्त्र—सामाजिक परिणाम के सामाजिक अनुभव से सिद्ध होता है। हर व्यक्ति के कर्म का जो सामाजिक परिणाम होता है, वह सीधे उसके कर्म से प्रसूत फल से मेल नहीं खाता, बल्कि कभी तो उससे सर्वथा विपरीत होता है। यह फल हर व्यक्ति को अपने कर्म के फलस्वरूप अपने अन्दर से नहीं बल्कि, बाहर से आता हुआ प्रतीत होता है। जब तक वह समाज के अनेक अवयवों के घात-प्रतिघात के नियमों का तारतम्य और उनके सामुदायिक वर्तन की प्रणाली न समझ ले, तब तक सामाजिक कर्मों के फल व्यक्ति के लिये अदृष्ट और अपूर्व ही रहते हैं। फिर कोई व्यक्ति उनके लिये कैसे प्रमाण हो सकता है और उनका प्रतिपादक कैसे कहा जा सकता है? किसी व्यक्ति को किसी कर्म का आविष्कारक तथा प्रमाण तक माना जा सकता है, जब वह अपने अनुभव से किसी कर्म के स्वाभाविक फल को देखे और इस अनुभव के आधार पर उस फल की कामना करने वाले दूसरे लोगों के लिये उस कर्म का प्रतिपादन करे, और दूसरे भी अपने अनुभव से उसकी बात की परीक्षा कर सकें। जैसे किसी वैद्य ने किसी औषधि के प्रयोग का फल देखकर उसका प्रतिपादन किया, तथा अन्य लोगों ने भी उसके प्रयोग द्वारा वही फल प्राप्त किया, तब उस वैद्य को उसके लिये आप्त प्रमाण और उस का आविष्कर्त्ता माना जायगा। किन्तु सामाजिक कर्म के फल का अनुभव इस प्रकार व्यक्तिगत रूप में नहीं होता। सारे समाज के अनुभव समष्टिगत अनुभव पर आश्रित होते हैं; इसीलिये कोई व्यक्ति उसके लिये आप्त प्रमाण या उसका आविष्कर्त्ता नहीं माना जा सकता। वेदों को अपौरुषेय और ऋषियों को केवल अध्येता मानने का यही कारण है, और इसीलिये व्यक्तिगत अनुभवसिद्ध कर्म वैदिक विधियों के क्षेत्र से सर्वथा निकाल दिये गये हैं और इन अदृष्ट फलों वाले

सामाजिक कर्म प्रत्यक्षादि व्यक्तिगत अनुभवमूलक प्रमाणों से सर्वथा स्वतंत्र प्रमाण माने गये। अर्थात् सामाजिक कर्मों का आविष्कार बोधपूर्वक अथवा अबोधपूर्वक सामाजिक शक्तियों के सामाजिक अनुभव से हुआ और इन शक्तियों के व्यापार के नियमों के पूर्ण ज्ञान के अभाव में, हम प्रत्यक्षादि प्रमाणों के आधार पर व्यक्तिगत रूप में फलप्राप्ति न देखकर इन सामाजिक कर्मों का तब तक तिरस्कार नहीं कर सकते, जब तक ये प्रत्यक्ष रूप से कुफल न उत्पन्न करने लगें। क्योंकि इनका आरम्भ ही यह बताता है कि प्रत्यक्ष फल न होने पर भी इनका कुछ न कुछ अप्रत्यक्ष फल तो होता ही है। हां, यदि प्रत्यक्ष रूप से ये कुफल उत्पन्न करने लगें, तब अवश्य उनका तिरस्कार किया जाना चाहिये। क्योंकि सामाजिक व्यवस्था कोई व्यक्तिगत प्रयोगों की वस्तु नहीं है। व्यक्तिगत प्रयोगों के लिये सारे समाज को खतरे में नहीं डाला जा सकता। समाज की गति अर्थात् इतिहास तो निरीक्षण की चीज है। इतिहास ही बतायेगा कि कौन सा कर्म किस समय अनुपयोगी हो गया। और जब ऐसा हो जाय, तब उन्नतिशील समाज में उसका तिरस्कार होना ही चाहिये। 'इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' इसी सिद्धान्त के अनुसार भारतीय समाज में पीछे बहुत से वैदिक विधान का त्याग कर दिया गया। सारांश यह है कि सामाजिक कर्म की सार्थकता असार्थकता में समाज की गति ही प्रमाण है, यदि उस कर्म समुदाय से समाज सुरक्षित और अबाधरूप से उन्नतिशील है, तो वह उपादेय है, और यदि वह समाज की उन्नति में बाधक होता है तब वह हेय है। यही सामाजिक कर्म के स्वतः प्रामाण्य का सिद्धान्त है। इस प्रकार कर्म आपाततः फल विधान से स्वतन्त्र हो जाते हैं और उनका ज्ञान तथा प्रतिपादन मूलतः सत्यात्मक न होकर विध्यात्मक ही रह जाता है। 'अमुक कर्म का अमुक फल होता है' इसके स्थान में 'अमुक कर्म करो या करना चाहिये' इस प्रकार हो जाता है। अमुक कर्म इसलिये न करना चाहिये कि उसे कोई ज्ञान फल होना सिद्ध है, बल्कि वे कर्म स्वयं सिद्ध हैं, अतः श्रद्धा अथवा सामाजिक भावना प्रसूत प्रेरणा से ही वे सिद्ध होते हैं और इस भावना को सामाजिक अनुभव अथवा संस्कार की निधि वेदों से ही जाना जा सकता है। चूंकि वे शब्दों में सामाजिक भावना को ही व्यक्त करते हैं, इसीलिये उनमें इस भावना के अर्थ अर्थात् सामाजिक कर्म को सिद्ध करने की स्वाभाविक शक्ति है। उन शब्दों और उन अर्थों का निसर्गतः नित्य सम्बन्ध है। अतः इन अर्थों में शब्द ही प्रमाण है। प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाण वस्तुस्थिति प्रतिपादक होते हैं, कर्म-प्रेरक नहीं। वे किसी स्थित वस्तु की सत्ता को सिद्ध करते हैं, कर्म की सिद्धि नहीं; क्योंकि कर्म कोई स्थित वस्तु नहीं है, जिनका ग्रहण मात्र करना हो। ये तो भावना द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। यहां केवल 'चित्' का नहीं, 'सत्' का प्रश्न है। प्रत्यक्षादि प्रमाण केवल ग्रहणात्मक और निष्क्रिय हैं। शब्द प्रमाण ही रचनात्मक और सक्रिय है। इस अर्थ में शब्द प्रमाण का सत्यात्मक ज्ञान के सम्पादन में प्रयोग नहीं किया जा सकता। वह केवल कर्मपूरक विधानात्मक ही हो सकता है। इसीलिये "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यम तदर्थानाम" का सिद्धान्त है। भले ही वेदों में सत्यात्मक वाक्य और शब्द आयें, किन्तु उनका वेदत्व इनमें नहीं है। ये वाक्य कर्म-प्रेरणा के सहायक रूप से ही ग्रहण किये जा सकते हैं। उनका सत्यत्व वहां अपेक्षित नहीं है। प्रेरकत्व ही अभीष्ट है। यदि वे विधियों से, कर्म की प्रेरणाओं से नहीं जोड़े जा सकते, तो वे श्रुति नहीं हो सकते क्योंकि वे व्यर्थ हैं। सत्यात्मक ज्ञान की स्वतन्त्रता से इनकार नहीं किया गया है। किन्तु कर्म के मामले में सामाजिक व्यवहार के प्रतिपादक ज्ञान में ऐसे ज्ञान को स्वीकृति नहीं मिल सकती, जो केवल व्याख्या करे, विधान नहीं; जो केवल विवेचनात्मक हो रचनात्मक नहीं, जो समाज निर्माण की चेष्टा न उत्पन्न करे, जो सक्रिय अर्थात् क्रिया की ओर ले जाने वाला न हो, जिसकी सार्थकता, जिसका प्रयोग क्रिया में न हो सके। इस क्षेत्र में तो सब ज्ञान कर्म के लिये

हैं। कर्म ही में उसकी परिसमाप्ति है, और कर्म ही के द्वारा उसकी प्रामाणिकता है। सामाजिक कर्म के सिद्धान्तों का यही स्वरूप होता है—कि अमुक कर्म से अमुक इष्ट सिद्धि होगी। यह इष्ट कोई वर्तमान सिद्ध वस्तु नहीं है, जिससे प्रत्यक्षादि द्वारा इसकी प्रमा हो सके। उसकी प्रमा तो उसके लिये कर्म करने से ही हो सकती है। सिद्धान्त यदि व्यवहार में इष्ट-दाता हुआ तो सही है नहीं तो गलत। इस प्रकार सिद्धान्त व्यवहार का पूर्व रूप है और व्यवहार सिद्धान्त की कसौटी और उसका प्रेरक हेतु, निमित्त या प्रयोजन। सिद्धान्त और व्यवहार दोनों एक शृङ्खला की कड़िया बनकर वस्तुस्थिति का निर्माण या उसमें परिवर्तन करते हैं, और परिवर्तित वस्तु-स्थिति फिर नये पूर्णतर सिद्धान्त तथा व्यवहार के लिये आधार बनती है, अथवा यों कहिये कि सिद्धान्त और व्यवहार को शुद्ध और परिमार्जित करती है। इस प्रकार एक ओर सिद्धान्त और व्यवहार तथा दूसरी ओर वस्तुस्थिति, एक ओर पुरुष दूसरी ओर प्रकृति, एक ओर ज्ञाता और कर्त्ता दूसरी ओर ज्ञेय और कर्म; एक ओर सत्य, दूसरी ओर शिव— दोनों पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के द्वारा परिवर्तित और विकसित होते हैं। जीवन के ऐतिहासिक विकास की यही द्वंद्वात्मक गति है।

किन्तु, क्या यह बात सामाजिक व्यवहार के प्रतिपादक ज्ञान पर, सामाजिक कर्म के सिद्धान्तों पर ही लागू होती है? क्या सत्यात्मक ज्ञान, प्रत्यक्षादि द्वारा प्राप्त ज्ञान भी सचमुच क्रिया से स्वतंत्र है? क्या सामाजिक व्यवहार का प्रतिपादक ज्ञान ही नहीं वरन सभी ज्ञान कर्म ही के लिये नहीं हैं और ज्ञान मात्र की परिसमाप्ति कर्म ही में और उसकी प्रामाणिकता कर्म ही के द्वारा नहीं है? प्रभाकर के मत से कोई भी ज्ञान केवल वर्तमान सिद्ध वस्तु का द्योतन नहीं करता। सभी ज्ञान की अन्तिम सार्थकता कर्म में ही होती है। इस दृष्टि से ज्ञान मात्र के स्वरूप पर सामान्यतः और सत्यात्मक ज्ञान के मूल प्रत्यक्ष ज्ञान पर विशेषतः विचार कर लेना चाहिये।

कर्म मीमांसा में ज्ञान अपनी 'उत्पत्ति' और 'ज्ञप्ति' दोनों में स्वतः प्रमाण है। जिन कारणों से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, वही उसे प्रमाणित भी करते हैं। इसी प्रकार जब ज्ञान होता है, तभी वह प्रमाण भी होता है। और उसको प्रमाणित करने के लिये किसी दूसरे साधन की आवश्यकता नहीं है। सभी ज्ञान प्रामाणिक माना जाता है, जब तक कि कोई विशेष ज्ञान अप्रमाणित न सिद्ध हो जाय। हम सदा यही मानकर चलते हैं कि ज्ञान सत् है, किन्तु यदि उसका कोई अंश मिथ्या सिद्ध होता है, तो उसकी अप्रामाणिकता का कारण हम ज्ञान से बाहर अन्य अवस्थाओं में ढूढते हैं, जिन्होंने ज्ञान की स्वच्छन्द सिद्धि में बाधा डाली होगी। ज्ञान की अप्रामाणिकता का कारण ज्ञान के साधन में किसी दोष का होना है, जिसे 'कारण दोष' कहते हैं। जैसे यदि कोई मनुष्य एक वस्तु विशेष को देखकर 'रजत्' समझता है किन्तु पीछे वह देखता है कि वह 'शुक्ति' है, या इसी प्रकार पहले सर्प समझी हुई वस्तु को नजदीक जाने पर रस्सी देखता है, तो उसका पहिला ज्ञान मिथ्या सिद्ध हो जाता है। यह मिथ्यात्व पश्चाद्वर्ती ज्ञान—बाधक प्रत्यय—की प्रतिकूलता से ज्ञात होता है। मिथ्या ज्ञान या ज्ञान के अप्रामाण्य के विषय में मीमांसा का मत न्याय वैशेषिक के मत के अनुकूल है। किन्तु ज्ञान के प्रामाण्य के संबंध में दोनों का मतभेद है, जिसका मुख्य कारण न्याय वैशेषिक में प्रतिपादित सद् ज्ञान या प्रमा का स्वरूप और उसे प्रमाणित करने का प्रकार है। न्याय वैशेषिक में प्रमा की परिभाषा 'वस्तु' की अनुरूपता बताई गई है, किन्तु इसकी जो कसौटी बताई गई है, उससे इस बात का निश्चय नहीं होता कि ज्ञान वस्तु के अनुरूप है या नहीं। अत. प्रकारान्तर से 'संवादि-प्रवृत्ति' द्वारा परीक्षा करने की एक विधि बताई गई है। 'संवादि प्रवृत्ति' का अर्थ है सफल क्रिया। इस प्रकार एक दूसरा अनुभव या ज्ञान ही कसौटी का काम देता है। जैसे किसी वस्तु के पानी होने के ज्ञान की कसौटी यह दूसरा ज्ञान होगा कि उससे प्यास बुझती

है। किन्तु यदि पहले ज्ञान को दूसरा ज्ञान प्रमाणित करता है, तो दूसरे ज्ञान को भी उसी प्रकार प्रमाणित करने के लिये एक तीसरा ज्ञान चाहिये। इस प्रकार अनवस्था दोष हो जायगा। और यदि यह भी मान-लिया जाय कि दूसरे ज्ञान को प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, तो भी वह ज्ञान से बाहर तदनुरूप किसी वस्तु की सत्ता को सिद्ध नहीं करता। कोई व्यक्ति पानी का स्वप्न देख सकता है और स्वप्न ही में उसे पीकर अपनी प्यास भी बुझा सकता है। यहा पर सवादि प्रवृत्ति अर्थात् सफल क्रिया तो है किन्तु ज्ञाना-नुरूप कोई 'वस्तु' नहीं है। इस कसौटी से तो केवल दो अनुभवों की अनुकूलता मालूम होती है। और इस कसौटी को पर्याप्त मान लेने से 'सद्वाद' का आधार ही जाता रहता है, क्योंकि 'वस्तु की अनु-कूलता' अप्रमाणित ही रह जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि न्याय वैशेषिक 'सद्वाद' मे आग्रह तो करते हैं, किन्तु सदसद् ज्ञान की समस्या के हल में उसका निर्वाह नहीं कर पाते और उसका दार्शनिक आधार ही खो देते हैं। वास्तव में सद्वाद और ज्ञान के परतः प्रामाण्य का सिद्धान्त—ये दोनों एक साथ नहीं रह सकते। इसी कारण मीमासा दर्शन अपने सद्वाद के अनुकूल स्वत. प्रामाण्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है, और सर्वज्ञान को प्रमाण मान लेने से उसे किसी और साधन से जाचने की आवश्य-कता सामान्यतः उसे नहीं होती है।

इस प्रकार हम देखते है कि ज्ञान का मीमासक सद्वादी है और कोई ज्ञान ऐसा नहीं होता, जो अपने से बाहर किसी अनुरूप वस्तु को नहीं दिखलाता। किन्तु यहाँ सभी ज्ञान स्वतः प्रामाण्य के सिद्धान्ता-नुसार सद् माना जाता है और उसकी जाच तभी आवश्यक होती है जब उसके प्रामाण्य में कोई संशय उत्पन्न हो। वस्तुतः प्रभाकर यह स्वीकार नहीं करते कि ज्ञान कभी भी अपने आप में—ज्ञान रूपेण—ग़लत हो सकता है। फिर प्रश्न यह होता है कि मिथ्या ज्ञान क्या है और वह कैसे उत्पन्न होता है। मिथ्या ज्ञान की व्याख्या शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से नहीं हो सकती। ज्ञान को स्वरूपतः व्यवहार का साधन मानकर ही मिथ्या ज्ञान की व्याख्या की जा सकती है। प्रभाकर के अनुसार सर्वज्ञान क्रिया का प्रेरक है। और व्यावहारिक उपयोगिता की इस नई कसौटी पर सद् ज्ञान मिथ्या ज्ञान से सर्वथा पृथक हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि ज्ञान स्वरूपतः तो कभी धोखा नहीं दे सकता। किन्तु वह ऐसा हो सकता है कि 'उससे काम चले' या 'उससे काम न चले'। पहली हालत में वह सद्ज्ञान या प्रमा होगा, दूसरी हालत में असद्-ज्ञान या अप्रमा। अप्रमा भी ज्ञानत्वेन तो उतना ही मूल्य रखती है जितना कि प्रमा किन्तु उसमें व्यावहा-रिक मूल्य नहीं है। और उसे 'अप्रमा' कहने का यही आशय होता है कि उसका उपयोगी होने का दावा मिथ्या सिद्ध होता है। तदनुसार उसके सशोधन के बाद जब अप्रमा के स्थान पर प्रमा का उदय होता है, तो उसके ज्ञान रूप में कोई परिवर्तन नहीं होता, किन्तु उससे प्रेरित कर्म का त्याग मात्र होता है। (और अप्रमा के कारण जिस कर्म का त्याग हुआ है प्रमा उसे प्रेरित करती है।) साराश यह कि ज्ञान के मिथ्यात्व के बोध या निराकरण का प्रभाव चेतना के क्रिया पक्ष पर देखा जाता है, न कि ज्ञान पक्ष पर। किन्तु यहा पर कुमारिल प्रभाकर के मत में सशोधन उपस्थित करते हैं। उनके अनुसार भी प्रमा अप्रमा द्वारा प्रेरित कर्म को बाधित करती है। किन्तु यह उसका तात्कालिक फल नहीं है। उसका तात्कालिक फल तो वस्तु या विषय के सबध में हमारे ज्ञान का संशोधन है। तब इस संशोधित ज्ञान का ही प्रभाव हमारी क्रिया पर भी पड़ता है।

कुमारिल के इस सशोधन के प्रकाश में प्रभाकर द्वारा निर्णित ज्ञान और क्रिया के समन्वय में भी कुछ सशोधन आवश्यक हो जाता है। और उसी सशोधन से दोनों का सम्बन्ध होता है। वास्तव में ज्ञान क्रिया का साधन मात्र नहीं, उसका एक अश ही है। वह क्रिया से भिन्न स्वरूपतः सिद्ध वस्तु नहीं है। उसकी क्रिया से पृथक स्वतंत्र सत्ता नहीं है। वह अपने स्वरूप को सिद्ध करने के लिए भी क्रिया की अपेक्षा

रखता है। वह क्रिया के अंग रूप से ही समझा जा सकता है। वह क्रिया से व्यावृत कोई स्थिर वस्तु नहीं, क्रिया का ही आरम्भ है। ज्ञान से क्रिया तक एक ही अनवरत् शृंखला है। और यह शृंखला चक्रवत् है। ज्ञान से क्रिया और क्रिया से फिर ज्ञान—इस प्रकार एक वृत्त बनता है। किन्तु यह वृत्त ज्ञाता अथवा कर्ता (व्यक्ति या चेतना) में ही पूर्ण नहीं होता। बाह्य वस्तु भी इसका अविच्छेद्य अंग है। विषयी विषय से अपना सम्बन्ध ज्ञान और क्रिया द्वारा जोड़ता है। क्रिया द्वारा वह विषय को परिवर्तित करता है और ज्ञान द्वारा उसे समझाता है। इस प्रकार किसी वस्तु का प्राथमिक ज्ञान विकसित होकर उस वस्तु को बदलने की चेष्टा (क्रिया) के रूप में व्यक्त होता है। इस क्रिया का जो प्रभाव वस्तु पर पड़ता है, उसका अर्थात् क्रिया द्वारा परिवर्तित वस्तु का फिर परिवर्तित ज्ञान होता है। और फिर वह परिवर्तित ज्ञान परिवर्तित क्रिया के रूप में व्यक्त होता है। इसी प्रकार यह अनन्त विकास चक्र चलता रहता है, जिसमें ज्ञान भी पूर्णतर और शुद्धतर होता जाता है और तदनुसार क्रिया भी। दूसरी ओर इसके फलस्वरूप वस्तु का भी विकास होता जाता है। एक शब्द में विषयी और विषय दोनों विकसित होते जाते हैं। विषयी विषय को विकसित करने की चेष्टा में अपना भी विकास करता जाता है।

इस दृष्टि से अप्रमा ज्ञानत्वेन भी उतना ही मूल्य नहीं रखती, जितना कि प्रमा और उसके संशोधन के बाद जब अप्रमा के स्थल पर प्रमा का उदय होता है, तो उसके ज्ञान रूप में कोई परिवर्तन नहीं होता और ज्ञान के मिथ्यात्व के बोध या निराकरण का प्रभाव चेतना के ज्ञान पक्ष पर नहीं देखा जाता ऐसी बात नहीं है। ऐसी स्वतो व्याहत बात ज्ञान को क्रिया से सर्वथा पृथक एक स्वतंत्र, स्थिर, निष्क्रिय और अविकासी वस्तु मानकर ही कहनी पड़ती है। ज्ञान की सक्रिय और विकासी कल्पना के लिये यद्यपि अप्रमा स्वरूपतः सर्वथा मूल्य रहित नहीं है, किन्तु मूल्य की मात्रा में प्रमा उससे बढ़ी हुई है। इस दृष्टि से अप्रमा और प्रमा सर्वथा विरुद्ध वस्तुएं ही नहीं हैं। उनमें ऐक्य भी है। अप्रमा प्रमा का अल्पांश ही है। असत्य वास्तव में अर्द्ध सत्य है, सत्य की ही एक मात्रा का नाम है, जो सदा विकसित होती रहती है। यह सदसद् ज्ञान की समस्या का द्वंद्वात्मक समन्वय है।

इस दृष्टिकोण से सत्यात्मक ज्ञान और कर्म प्रतिपादक सिद्धान्त में भी पार्थक्य नहीं रहता। बीज रूप से सत्यात्मक ज्ञान भी कर्म प्रतिपादक होता है। सिद्धान्त सत्यात्मक ज्ञान की ही एक विकसित मंज़िल है, जो सत्यात्मक ज्ञान और क्रिया के मध्य में पड़ती है। इस प्रकार पूरी शृंखला चार कड़ियों में विभक्त हो जाती है। सत्यात्मक ज्ञान, कर्म प्रतिपादक सिद्धान्त, कर्म और वस्तु।



मज़ार

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार



श्री चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार

(१)
जिन्दगी में

भीख मांगते हुए, लोगों की दया भावना को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये, जिन बातों की जरूरत होती है, आक़ा में उनमें से एक भी बात नहीं थी। न वह लँगड़ा, लूला, अंधा या अपाहिज था और न इस तरह का कोई भेस ही वह बना सकता था। उसकी मोटी और भद्दी आवाज में न कोई सुर या लोच थी और न वह उसमें किसी तरह की द्रावकता लाने का प्रयत्न ही करता था। फिर भी वह भिखमंगा था और भीख मांगते मांगते उसने अपनी ज़िन्दगी के इक्यावन साल निकाल दिये थे। आक़ा के माँ-बाप अपने भिखमंगे बेटे का नाम 'आक़ा' रखकर उसके साथ, जो हर समय दोहराया जाने वाला क्रूर मज़ाक़ कर गए थे, उसका चाहे और कोई अच्छा या बुरा प्रभाव हुआ हो या नहीं, इतना अवश्य हुआ था कि भिखमंगे आक़ा के स्वभाव में एक ख़ास तरह की ज़िद और ख़ास किस्म की अकड़ शामिल हो गई थी। पेशे की दृष्टि से इस बात ने उसे और भी अधिक असफल बना दिया था।

एक असफल भिखारी के रूप में सारी जिन्दगी बिताकर बुढ़ापे में आक़ा लगभग एक निष्काम और अनासक्त भिखमंगा बन गया था। भीख मांगने में भी वह कोई बहुत दिलचस्पी नहीं दिखाता था। इधर-उधर घूम-फिर कर भीख मांगते वह कभी दिखाई नहीं देता था। अनाज के आढ़ती लाला सरजूमल की दूकान के ठीक सामने एक ख़ाली जगह पड़ी हुई थी। इस जगह बरगद का एक विशाल वृक्ष छाया हुआ था। इस वृक्ष की ठण्डी छाया में आक़ा एक तपस्वी के समान बैठा या लेटा सदैव दिखाई देता था। भीख मांगने के लिये अक्लमन्द भिखमंगों ने जो बीसों आशीर्वचन ईजाद कर रक्खे हैं, उन सबसे आक़ा को जैसे नफरत थी। न किसी तरह का आशीर्वचन न किसी तरह का आर्तनाद। रह रह कर बहुत ही मोटी, खुरदरी और भद्दी आवाज़ में वह "हू !" "हू !" चिल्ला उठता था। वह भी बहुत जल्दी जल्दी नहीं। घण्टे भर में सिर्फ बीस-पच्चीस बार। जैसे अपने आसपास के प्राणि-जगत को बीच-बीच में वह बता देना चाहता हो कि वह भी है! वह भी जीवित जगत का अंश है! वह कोई बरगद की जड़ या तने का हिस्सा नहीं, वह भी है! अलग है! जिन्दा है!

'हूं!' 'हूं!' की इस संगीत विहीन आवाज़ से आकृष्ट होकर कितने राहगीर आक़ा को भीख देते होंगे, यह कहना कठिन है। परन्तु एक बात पक्की है, और वह यह कि बरसों से इस हुंकार के दिन-रात के लिसनर (Listener—श्रोता) होते हुए भी

कम से कम लाला सरजूमल ने आक़ा को कभी एक कौड़ी की भी भीख नहीं दी।

गरमियों के दिन थे। अब के गरमी इतनी तेज़ थी कि बड़े-बूढ़ों को अपनी उम्र पर अभिमान करने का एक और अवसर मिल गया था। 'हमने पिछले ७५ सालों में कभी इतनी गरमी नहीं देखी!'; 'आज से ८० साल पहले एक बरस इतनी तेज गरमी पड़ी थी!' आदि। ग़रीब आक़ा ने भी अनुभव किया कि सचमुच पिछले ५१ बरसों में कभी इतनी तेज गरमी नहीं पड़ी। जहां तक याद काम करती है, पिछले बीसों बरसों की गरमियां इस घने बरगद की छाया में आक़ा ने मजे मजे में निकाल दी थीं। मगर अब के? अब के तो सूरज उभरने के साथ ही जैसे आग बरसने लगती है। नौ बजते न बजते तेज लू चलने लगती है। और यह लू जैसे रास्ते की सभी चीजों को चुभ कर पार कर जाना चाहती है। दोपहर के ६ बजे तक इस लू की तीक्ष्णता और चुभने की शक्ति जैसे प्रतिक्षण बढ़ती ही चली जाती है।

आक़ा अपनी परेशान जिन्दगी में पहली बार परेशान नजर आया। आधी सदी की विभिन्न तेज मौसमों में पका हुआ उसका शरीर इस साल की तेज़ गरमी को भी शायद बरदाश्त कर जाता। परन्तु इस गरमी का एक असर यह भी पड़ा कि लोगों की आमदरफ़्त बन्द-सी हो गई। आक़ा को पहले भी बहुत कम भीख मिलती थी, अब तो वह लगभग बन्द ही हो गई। वह रोज़ देखता था कि जलती हुई और तेज़ लू के थपेड़े उसकी 'हूं!', 'हूं!' को एकदम व्यर्थ और अश्राव्य सा बना देते हैं। बरगद की शाखाओं पर बैठे परिन्दों को छोड़ कर उसकी यह जीवन की पुकार और कोई नहीं सुन पाता।

नतीजा यह हुआ कि आक़ा भूखा रहने लगा। भूख और गरमी दोनों ने मिल कर उसे बहुत जल्द कमज़ोर बना दिया। यहां तक कि उसकी 'हूं!', 'हूं!' की आवाज़ भी क्षीण होती चली गई।

आख़िर एक दिन आक़ा से रहा नहीं गया। तीन दिनों से पानी और बरगद के सूखे बीजों को छोड़ कर और कुछ भी उसके पेट में नहीं गया था। लाचार होकर बरसों का नियम उसने तोड़ डाला और एक दिन दोपहर को वह अपनी जगह छोड़ कर बाजार में भीख मांगने के लिए चल दिया।

आक़ा का ख़्याल था कि बरसों के बाद उस का इस तरह चल-फिर कर भीख मांगना राहगीरों और दूकानदारों को बहुत अधिक प्रभावित करेगा। परन्तु बहुत शीघ्र उसे मालूम हो गया कि वह ग़लती पर था। ५१ बरस के बाद पहली बार आक़ा की आवाज़ सचमुच करुण और भीगी-भीगी-सी हो उठी थी, परन्तु फिर भी वह किसी राहगीर को प्रभावित नहीं कर सकी। तेज गरमी के कारण शायद लोग अपने सहज मनुष्यत्व में नहीं थे। भीख मांगते-मांगते आक़ा बाजार के दूसरे किनारे तक जा पहुँचा, और किसी ने उसे एक पाई तक भी नहीं दी। आक़ा की निराशा और वेदना का अन्त नहीं रहा।

बाजार के दूसरे किनारे बरफ के किसी कारख़ाने की दूकान थी। बूढ़े आक़ा ने अपनी बची खुची बेशरमी और लाचारी की अनुभूति को जाग्रत कर इस दूकान पर भी भीख मांगी। दूकान वालों ने उसे चना देना चाहा, मगर जब वे इस बात में कामयाब न हुए, तो खीज कर अथवा तमाशे की भावना से दूकान के मालिक ने ८, १० सेर का बरफ का एक बड़ा-सा टुकड़ा आक़ा के सामने फेंक दिया और कहा—"जा बाबा, जा, लस्सी बना कर पी!"

क्षण भर के असमंजस के बाद आक़ा ने बरफ का वह भारी टुकड़ा उठा लिया और चुपचाप अपनी रोज़ की जगह की ओर लौट चला। रास्ते भर में उसने किसी से भीख नहीं मांगी। उस तेज दोपहरी में बरफ का स्पर्श उसे एक अननुभूत शीतलता दे रहा था।

चलते-चलते अचानक दूकानदार की बात जैसे उसकी अन्तरात्मा की पुकार बन गई। बरफ़ डाल कर यदि वह दूध की कच्ची लस्सी जी भर कर पी सके, तो सचमुच उसकी आत्मा तक तृप्त हो जाय।

बरफ़ वाली मीठी कच्ची लस्सी पीना मानों बूढ़े आक्रा के जीवन की सब से बड़ी साध बन गई।

तेज चाल से चल कर लगभग १०, १२ मिनटों में आक्रा बरगद के निकट जा पहुंचा। बरफ का टुकड़ा कभी वह एक हाथ पर रखता था, कभी दूसरे हाथ पर और कभी वह उसे दोनों बाहुओं में दबा लेता था। टुकड़ा लिए-लिए वह लाला सरजूमल की दूकान के सामने जा खड़ा हुआ।

बरसों के बाद आक्रा को अपनी जगह छोड़ कर दूकान पर आया देख कर भी लाला सरजूमल को जैसे इस बात में कोई अचम्भा नजर नहीं आया और अनायास ही उनके मुंह से निकल गया—"जाओ, माफ़ करो बाबा!"

आक्रा ने यथासम्भव समझाने की कोशिश करते हुए कहा- "दूध की लस्सी पीनी है लाला जी! जरा एक आना दे दीजिए!" यह कह कर उसने बरफ का वह बड़ा टुकड़ा लाला जी को दिखा दिया। जैसे वह बताना चाहता हो कि लस्सी का आधा सामान तो उसके पास पहले ही मौजूद है!

एक भिखमंगे के मुंह से ऐसी अनोखी मांग सुन कर लाला सरजूमल को जैसे आग लग गई। उन्होंने डांट कर कहा - "अबे हमारी दूकान को तूने ससुराल समझ रक्खा है क्या? भाग यहां से!"

मगर आक्रा वहां से नहीं हिला। सिर्फ अपनी हार्दिक इच्छा, बिना लाग-लपेट के, उसने फिर से दोहरा दी। लाला सरजूमल ने उसे बहुतेरा डांटा, फटकारा, बुरा भला कहा, परन्तु वह उनकी दूकान के सामने से नहीं हटा।

पांच सात मिनटों की कशमकश के बाद आक्रा लाला सरजूमल की दूकान के सामने जैसे धरना देकर बैठ गया। बरफ का टुकड़ा नंगी धूप में क्रमशः पिघलता चला जा रहा था। आक्रा के सब चीथड़े उससे गीले हो गए। परन्तु अब भी उसके पास बरफ जरूरत से बहुत ज्यादह थी।

लाला सरजूमल ने हजार कोशिशें की। मगर आक्रा वहां से नहीं हिला। उन्होंने यह दलील तक भी पेश की कि भिखमंगे मनचाही चीज़ नहीं पाया करते। मीठी लस्सी पीना भिखमंगों का काम नहीं। उसके पास बरफ है, तो वह पेट भर कर ठंडा पानी पीले, और ऐश करे। मगर आक्रा नहीं माना। वह वहीं डटा रहा।

दलील, गाली गलौज मारपीट की धमकी, इन सब में से किसी भी बात का असर आक्रा पर नहीं पड़ा। मगर वक्त का असर उस पर पड़ना लाजमी था। घण्टे भर की जिद् के बाद आक्रा ने अनुभव किया कि बरफ का टुकड़ा, पिघल पिघल कर बहुत ही छोटा रह गया है!

आक्रा की अन्तरात्मा जैसे अचानक विद्रोह कर उठी। सहसा वह उठ खड़ा हुआ, और बाकी बचा हुआ बरफ का टुकड़ा लाला सरजूमल की दूकान की देहलीज पर फेंक कर चुपचाप वह बरगद के वृक्ष के नीचे, अपने सदा के स्थान की ओर लौट चला। चरम-निराशा भरे स्वर में उसके मुंह से निकला—"अच्छा!" और इस 'अच्छा' का अन्तिम भाग एक लम्बे उच्छवास में परिवर्तित हो गया।

इस छोटी-सी, या शायद बहुत बड़ी, घटना ने आक्रा का दिल तोड़ दिया। सांझ को और उससे अगले दिन की सुबह लाला सरजूमल ने पाया कि सामने के बरगद के नीचे से 'हू!', 'हू!' की आवाज आनी बन्द हो गई है।

मालूम होता है, जिद्दी आक्रा ने अपने आसपास के मानवीय जगत का तीव्र प्रतिरोध करने की भावना से आमरण अनशन करने का निश्चय कर लिया था। सारी उम्र भूख से डरते डरते जैसे आज अचानक ही उसने भूख को चुनौती दे डाली। तीन दिनों का भूखा और घण्टों का प्यासा आक्रा बरगद की छाया में चुपचाप लेटा रहा।

सुबः शाम जो राहगीर उस ओर से गुजरते थे, उनका ध्यान लाश के समान निश्चल और शान्त पड़े हुए आक्रा की ओर जाना स्वभाविक ही था। एक छोटी-मोटी भीड़ उसके चारों ओर हर वक्त जमा रहने लगी। आक्रा के इस मूक प्रतिरोध ने चारों ओर

के वातावरण में जैसे एक ख़ास तरह की विभीषिका और ख़ास तरह का आतंक पैदा कर दिया। इस आतंक से प्रभावित होकर अनेक राहगीरों ने आक़ा को अनेक तरह से भोजन देने का प्रयत्न किया। मगर आक़ा ने किसी चीज को स्वीकार करना तो एक ओर रहा, न किसी की बात सुनी और न किसी खाद्य पदार्थ की ओर देखा।

लोगों का कौतूहल क्रमशः बढ़ने लगा। उसी परिमाण में आक़ा के चारों ओर की भीड़ भी बढ़ने लगी। लोगों को एक नई क़िस्म का तमाशा मिल गया। आदमी अपनी जिन्दगी से कभी इतना अधिक बेज़ार हो जा सकता है, यह बात लोगों के लिए अकल्पनीय और अदृष्टपूर्व थी। आक़ा का यह आमरण उपवास बहुत शीघ्र शहर भर की चर्चा का विषय बन गया। सारी उम्र आक़ा बाकी भिखमगों से भिन्न बन कर रहा था। ज़िंदगी में तो आक़ा की यह भिन्नता उसके काम नहीं आई, परन्तु अब इसी भिन्नता के आधार पर लोकमत ने अनायास ही उसे भिखमंगे के बजाय 'एक पहुंचा हुआ फ़क़ीर' बना दिया।

आख़िर एक सुब. लोगों ने देखा कि बरगद के नीचे आक़ा की जगह उसकी लाश पड़ी हुई है। लोकमत की आर्थिक भावना ने अब क्रियात्मक सहानुभूति का रूप ले लिया। शहर भर में एक ख़ास क़िस्म का आतंक-सा छा गया और आक़ा के कफन और ताबूत के लिये चन्दा जमा किया जाने लगा।

साझ के समय जब आक़ा की लाश का जलूस निकला, तो हज़ारों आदमी उसकी अरथी के साथ थे। मां बाप का रक्खा नाम मरने के बाद काम आया और आक़ा एक भिखमंगे फकीर से पहुंचा हुआ फ़क़ीर बन गया।

बहुमत लोगों की राय बन गई कि आक़ा की कब्र उसी जगह बननी चाहिये, जहां बैठे रहकर उसने सारी उम्र साधना की, जिस जगह पड़े रह कर स्वेच्छापूर्वक उसने अपने प्राणों का त्याग किया। शहर की मुख्य सड़कों का चक्कर काट कर जुलूस उसी बरगद के नीचे वापस आ गया और सूर्यास्त के साथ ही साथ हजारों मनुष्यों की उस भीड़ के सामने आक़ा के शव को उसी जगह दफना दिया गया। म्युनिसिपैलिटी के अधिकारी शहर की भूमि के अपहरण को चुपचाप देखते रहे। भीड के काम में बाधा देने की हिम्मत किसी को भी नहीं हुई।

रात ही रात में बरगद के उस वृक्ष के नीचे एक नया मज़ार तैयार हो गया।

(२)
मरने के बाद

क : आषाढ़ महीने की पहली तारीख को हर साल पीर आक़ा के मज़ार पर हिन्दू और मुसलमानों का एक सम्मिलित मेला होता है। उस दिन सारे शहर में राह चलते को बरफ मिली मीठी लस्सी पिलाई जाती है।

ख : म्युनिसिपैलिटी इस जगह शहर के बच्चों के लिए एक पार्क बनाना चाहती थी, मगर पीर आक़ा के मज़ार की सुरक्षा के लिए शहर के हिन्दू और मुसलमानों ने वह उत्साह दिखाया, जिसके सामने म्युनिसिपैलिटी तो क्या प्रान्तीय सरकार को भी हार माननी पड़ी।

ग : आक़ा के मज़ार पर प्रतिदिन जितनी भेंट पूजा भक्तों या दर्शनार्थियों की ओर से चढ़ाई जाती है, आजकल उससे भिखमगों और फकीरों की एक पूरी फ़ौज पल रही है।

शान्तिनिकेतन में

श्री देवेन्द्र सत्यार्थी

मैं पान्थ जो हूँ—दूर दूर का राही। शायद इसी लिये यह पान्थ निवास मुझे इतना पसन्द है। यह सड़क, जिसके किनारे यह मकान खड़ा है, पच्छिम की तरफ़ सन्थालों के गाँवों से जा मिली है।

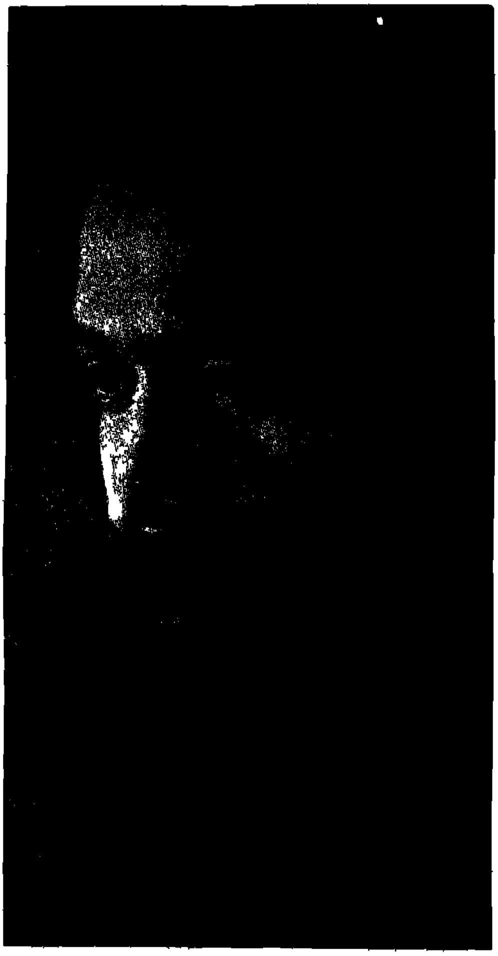
हंसे जाओ, सन्थाल छोकरियो, तुम्हारी हंसी में तो धरती खिल खिलाती है।

सवेरा होते ही सन्थाल स्त्रियां गाँव से निकल पड़ती हैं और पान्थ निवास के सामने से गुज़रती हुई अपने काम पर चली जाती हैं। भूख है, सदियों की ग़रीबी है और बड़ी कठिन मज़दूरी में जीवन गुज़रता है, पर रोज़ रोज़ के जीवन की कड़वी सचाईयां उन की हंसी नहीं मार सकीं। शाम को इसी सड़क से वे वापस आ जाती हैं, दिन भर की मेहनत से थक कर।

शहर और गांव तो मैंने बहुत छान मारे हैं। लोग भी मैंने बहुत देखे भाले हैं। बार बार मेरा मुंह पान्थ-निवास की तरफ़ घूम जाता है। जब मैं यहां आता हूं इसी कोने वाले कमरे में ठहरता हूँ। बारह साल से मैं इसे जानता हूं। अब यह मेरा कमरा है।

अपनी खिड़की से, जो सड़क की तरफ़ खुलती है, उस छिदरी छाया वाले वृक्ष की तरफ देखता रहता हूं, जिस के नीचे चौकड़ी भूले हुये हिरन की तरह कोई सन्थाल आ खड़ा होता है। वह बांसुरी पर अपना गान छेड़ता है। सदियों से यह बांसुरी जागती रही है। सदियों से यह गान जारी है—

क्या हैं आखिर हम सब मिल कर,
हम सब मिल कर ?
अनगिनत वृक्षों का इक झुरमुट!
बार बार बज बज उठते हैं
ढोल पुराने वक्षों के
लचक लचक जाती हैं कमरें
बाजू काले चमकीले
लचकें जैसे कमल हवा के
हलके नरम थपेड़ों से।
क्या हैं आखिर हम सब मिल कर,
हम सब मिल कर ?
अनगिनत वृक्षों का इक झुरमुट ?



लेखक

वे भाव जो पहली बार इधर आने पर एक पुरातन सन्थाल लोक गीत में मुझे मिल गये थे, मेरे मन में नाच उठते हैं। यह कैसा गान है? बांसुरी वाले की आँखों में आत्म-सम्मान झलकता है।

यह जा, वह जा, वह दूर निकल जाता है। दूर से गान की आवाज़ सुनता हूँ तो मालूम होता है कि दूरी नज़दीकी में बदल रही है। सोचता हूं कि सन्थाल न होते तो शान्ति निकेतन की पृष्ठ-भूमि का बहुत सारा सौन्दर्य फीका पड़ जाता।

इधर ये लोग कब आये?

अठारवीं शताब्दी के आखिरी दिनों में।

सन्थाल परगना (बिहार) में वर्षा न होने के कारण खेत बांझ रह गये थे। अकाल से बचने के लिये कुछ लोग इधर आ निकले। होशियार जमींदारों की चाँदी हो गई। मामूली मजदूरी पर वे अपनी पथरीली भूमि को खेती के लायक बनवाते चले गये। अब भी ये लोग अनथक मेहनत करते हैं। सवेरे के प्रकाश में उन्हें अपनी खिड़की से देखता हूं तो चाहता हूं कि एक सन्थाल से पूछूँ कि रात को भर पेट खाने को मिल गया था या नहीं और जल पान कितना मजेदार रहा।

"सब के-सब सन्थाल अपना मुह खुला रखकर ही चलते हैं, जिस से स्पष्ट होता है कि जीवन-यात्रा में उन्हें बार बार असफलता मिली है और जीवन संग्राम के लिये उन की बुद्धि और उन का अनुभव अपर्याप्त रहा है। सूक्ष्म हास्य और विनोद नहीं देख पाता. तो इन को दबी हुई जाति ही बताता। अगर इन लोगों को किसी खास लक्षण ने बचाया है, तो इन के संगीत और इन के नृत्य में प्रकट होने वाले जीवनानन्द ने। जापानी लोगों के बारे में कहा जाता है कि चाहे जितना संकट, दुःख, अपमान अथवा पराजय आ पड़े, जापानी हंसता ही रहेगा। यह कोई बनावटी शिष्टाचार नहीं, परिस्थिति चाहे जितनी विकट हो, जापानी अपना आत्म विश्वास खोता ही नहीं। वह जानता है कि उसका व्यक्तित्व परिस्थितियों से बढ़ा चढ़ा है, और समय पाते ही परिस्थितियों को परास्त करने की क्षमता उस में है। ये सन्थाल भी वैसे ही आत्म विश्वासी मालूम होते हैं। सम्भव है यह आत्म विश्वास न हो, बल्कि परिस्थिति का वास्तविक अज्ञान हो···यह सात्विक अज्ञान न होता तो असहाय और अनाथ बच्चे कभी बड़े न हो पाते और अनन्त आकाश का विस्तार देखकर आदिम निवासी कल्पना के भार से ही दब जाते··· अगर हम जीना चाहते हैं, इन्हें अपने जैसा बना कर अपने साथ लिए बिना चल नहीं सकते।"[१]

हँसे जाओ खिलखिलाकर, भोले सन्थालो! बजाये जाओ बांसुरी। गाये जाओ गान पुराने। पर जीवन से लड़ना होगा। अपने बल पर। दब कर न रह जाना। कौन खाता है तरस किसी पर? स्वयं लड़ना होता है दूरन्देशी के बल पर।

छिदरी छिदरी छाया वाले वृक्ष के नीचे एक बुड्ढा सन्थाल आ बैठा है। अपने कमरे की खिड़की से मैं उसे देख रहा हूं। उसके पास जा बैठने को जी चाहता है। लो अब तो सुन्दरम् भी उसके पास आ बैठा है। वह इस बुड्ढे का पेन्सिल स्केच बनाने आया होगा। मैं भी देखूँ चल कर।

बुड्ढा मुसकरा रहा है, सुन्दरम भी और मैं भी।
कितने भोले लोग हैं ये सन्थाल!
जी हां।

कितने भोले लोग हैं ये सन्थाल, ऐसा कहने में सुन्दरम् का लाभ है। वह स्वयं क्यों भोला बनना पसन्द नहीं करता? यदि आदमी यों अपना स्केच न बनाने दे और अपने समय की कीमत मांगना सीख ले, तो सुन्दरम् के होश आ जाएं। दक्षिण हिन्दुस्तान का यह सुन्दरम् आखिर कैसा विद्यार्थी है! चित्रकार बनकर वह पैसे कमायेगा और बहुत सम्भव है यही स्केच जो वह इस समय बना रहा है पाच सात आने में किसी टूरिस्ट के हाथ बेच डाले...पर इससे इस बुड्ढे को क्या लाभ? उसे अगर इस समय दो

१—'सन्थाली मुरली', काका कालेलकर, 'विशाल-भारत' [फरवरी १९३८]

रसगुल्ले ही खिला दिये जांय, तो वह सुन्दरम् की तरफ़ अहसान-भरी निगाह से देखने लगे।

एक अंग्रेज़ टूरिस्ट कह रहा है, "सन्टाल बहुत अच्छा लोग है।"

मैं सोचता हूं, काश हम सब इतने अच्छे होते। अब अगर मैं यह बात खुल्लम-खुल्ला इस टूरिस्ट से कह दूं तो वह शायद झल्ला कर कह उठे, "आम टो सन्टाल नाइ बनने सकटा!"[1]

कल सुन्दरम् ने एक सन्थाल छोकरी का स्केच बनाया था। पेन्सिल चलाते चलाते वह कह रहा था, "सौंदर्य क्या केवल रंग तक सीमित है? गोरे रंग और तीखी नोक की पलक से परे भी सौंदर्य की सरहदें फैलती चली गई हैं।"

उस समय मैं सोच रहा था; काश सुन्दरम् ने यही बात सन्थाली भाषा में या सरल बंगला में कही होती तो वह छोकरी अपने सौंदर्य की प्रशंसा सुनकर समझती कि उसे उसके समय की क़ीमत मिल गई है, और यह सोच करके शायद उसके जूड़े का फूल नीचे को ढल गया है, वह उसे ठीक करने लग जाती, पर वह तो बुत बनी बैठी रही थी। सम्भवतः यह उसका पहला अनुभव तो न था!

सात पौष को शान्ति-निकेतन का जन्म दिन मनाया जाता है। यह 'सातइ पौष' वर्षों से एक मेले का रूप धार चुका है। सागर की उछलती हुई लहरों की तरह सन्थाल छोकरियां बस तट पर आती हैं और उनके अट्टहास आश्रम के शान्त वायु-मण्डल में हलचल पैदा कर देते हैं।

अपनी पेन्सिल तेज कर लो, सुन्दरम्!

हां, भाई, सातइ पौष आ गया एक वर्ष बाद। आज मैं नई स्केच बुक में काम शुरू करूंगा।

पहले किसका स्केच बनाओगे?

किसी दाढ़ी वाले का।

मैं जो हूं।

[1]—हम तो सन्थाल नहीं बन सकता।

लहरों के रेले देख लीजिये। एक लहर मेरी अपनी पत्नी है। सन्थाल छोकरियों की देखा देखी उसने पुराने ढंग के गिलट के बने हुये कांटे ख़रीद कर अपने कानों में पहन लिये हैं। सन्थाल स्त्रियां उसे देखती हैं और अजब अन्दाज से मुसकराती हैं। सुन्दरम् ने जल्दी जल्दी उसका एक स्केच बना डाला है।

यह स्केच मुझे दे दो, सुन्दरम् भाई।

नहीं यह मेरे पास रहेगा।

अब कविता (मेरी कन्या) अपनी माता का स्केच लेने की जिद कर रही है। सुन्दरम् उसके लिये इसी तरह का दूसरा स्केच बना रहा है।

मेरे मन में एक सन्थाल लोक-गीत के भाव जाग रहे हैं।

माता पिता हैं चांद और सूरज
भाई बहन हैं तारे सारे, सारे—
सूरज की किरनों से मेरा जन्म हुआ है
नाम है सूरजमुखी, प्यारे!

पहले पहल कब यह फूल खिल उठा था? क्या यह धरती कभी इतनी बांझ हो जायगी कि ये फूल खिलने से रह जांय? क्या मेरी अपनी पत्नी भी एक सूरजमुखी है?

मास्टर मोशाय[1] आ रहे हैं। बहुत ख़ुश नजर आते हैं। इन मानवीय लहरों के रेले निस्सन्देह उन के दिल के सागर-तट को छू-छू जाते हैं। वे क्या सोच रहे हैं? मैंने अपना कैमरा खोल लिया है।

मास्टर मोशाय! अपना फोटो खैंच लेने दीजिये आज!

मेरा फोटो?

जी हां!

अपने विशेष अन्दाज़ से वे फिर कह उठे हैं, "मैं तो इतना सुन्दर नहीं हूं। यों ही फिल्म ख़राब

[1]—श्री नन्दलाल बोस, कला भवन के आचार्य; नवीन हिन्दुस्तानी चित्रकला के निर्माताओं में प्रथम श्रेणी के व्यक्ति।

करोगे। किसी सन्थाल लड़की का फोटो क्यों नहीं ले लेते ?

(२)

क्या सोच रहे हो, पण्डित जी ?

कुछ नहीं।

पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी[1] उमर में मुश्किल से मुझसे एक आध वर्ष बड़े होंगे, पर उन्हें मिलने से पहले उनके लेख पढ़कर श्री प्रेमचन्द तक को ख्याल था कि उनकी उमर पचास से तो क्या कम होगी। शुक्र है मुझे यह ग़लत फहमी न हुई थी।

पहले पहल पण्डित जी मुझे कलकत्ता में मिले थे। यह कोई आठ वर्ष पहले की बात है। उस समय भी वे यों ज़ोर से क़हक़हे लगाया करते थे। जो आदमी उनकी निगाह में न जँचे, उसकी तरफ टिकटिकी बाँध कर देखते रहने से वे उन दिनों भी उकताते न थे।

रात को उनके लिये एक पलँग पर बिस्तर लगाया गया और मैं स्वयं एक बड़ी मेज़ पर चादर बिछाकर लेट गया। पण्डित जी मेरी तरफ टिकटिकी बाँधकर देखते रहे। आखिर मैंने कहा, "शास्त्रों में ब्रह्मचारी के लिये यही हिदायत की गई है कि वह नरम बिस्तर पर न सोये।"

विवाह के कुछ ही महीनों के बाद मैं पत्नी को घर पर छोड़कर चला आया था। किसी तरह यह समझने लगा था कि मैं फिर से ब्रह्मचारी बन गया हूँ। और फिर जब पण्डित जी को पता चला कि मैं विवाहित हूँ तो उन्होंने ज़ोर से क़हक़हा लगाया।

क्या सोच रहे हो, ब्रह्मचारी जी !

कुछ नहीं।

अकसर वे तिलोत्तमा को याद किया करते हैं। इस अप्सरा के सम्बन्ध में पुराणों में यह बतलाया गया है कि ब्रह्मा ने जगह जगह से तिल तिल भर सौंदर्य जमा किया और फिर इससे तिलोत्तमा की रचना की। पण्डित जी का ख्याल है कि अगर ब्रह्मा ने सिर्फ यह मसाला जमा किया होता और यह न सोचा होता कि आखिर इससे किसी तरह की चीज़ तैयार करनी होगी, तो शायद यह सौंदर्य का ढेर अपने आप में सब से असुन्दर चीज़ सिद्ध होता। इस अप्सरा के जन्म का हवाला देकर पण्डित जी कहा करते हैं, "लोकगीतों के खोजी को भी अपनी तिलोत्तमा की मूर्ति की कल्पना कर लेनी चाहिये।" मैं कह दिया करता हूँ—"अपनी तिलोत्तमा की कल्पना मैंने कर रखी है, पण्डित जी !"

पण्डित जी यह मानते हैं कि कुछ लोकगीत इतने सरस और मार्मिक होते हैं कि कालिदास और भवभूति भी उनके सामने हेच नज़र आते हैं, पर सभी गीतों पर तो यह बात लागू नहीं होती। वह यह दलील दिया करते हैं, 'लोक-मानस भी गीतों को जन्म देते समय उन्हीं भावों से स्पन्दित और आन्दोलित हुआ है जिनसे कालिदास और भवभूति प्रभावित हुये थे। इसी तरह घास और बाँस प्रकृति के एक ही महकमे से सम्बन्ध रखते हैं पर कोई भला आदमी बाँस की जगह घास का प्रयोग नहीं करेगा···हमारे पड़ोसी सन्थाल लोग पुराने रहन सहन पर मुग्ध हैं। हम उन से स्नेह कर सकते हैं पर इसका भाव यह तो नहीं कि हम स्वयं भी सन्थाल बन जाँय। सन्थाल बनकर हम समय का अपमान करेंगे आज की सभ्यता क्या चाहती है ? यही ना कि हम नये युग के साथ साथ चलें 'हाँ तो मैं कह रहा था कि लोकगीतों के निर्माता कालिदास, भवभूति और रवीन्द्रनाथ की बिरादरी ही से हैं पर इसका भाव यह तो नहीं कि आज का कवि लोकगीत लिखने लगे और कालिदास, भवभूति और रवीन्द्रनाथ से मुंह मोड़ ले। क्या यह बात अफसोस करने के योग्य नहीं कि हमारे कुछ युवक कवि अब गीत लिखने लगे हैं ताकि खद्दर-प्रचार में मदद दें ! और हमारे कुछ साहित्य-सेवी उनकी पीठ ठोंकने लगे हैं।'

जब भी लोकगीतों के बल पर जनता के दुःख सुख का जिक्र छेड़ता हूँ, पण्डित जी बात का रुख़ बदलकर मेरा ध्यान उस सभ्यता की तरफ़ मोड़

[1] शान्तिनिकेतन में हिन्दी और संस्कृत के अध्यापक और 'हिन्दी भवन' के आचार्य।

देते हैं जो उनके ख़्याल के अनुसार प्राचीन आर्यों के हिन्दुस्तान में आने से पहले इस देश में मौजूद थी। मुझे हँसी आ जाती है। मुझे विश्वास है कि यदि कोई प्रगतिशील साहित्य-सेवी उनका भाषण सुन ले तो ज़रूर उन्हें प्रतिक्रियावादियों की श्रेणी में गिनने लगे !

अपनी बात पण्डित जी यों शुरू किया करते हैं, 'लोकगीतों की सहायता से हम एक पुराने संसार को प्राप्त कर लेंगे जिसे या तो हम भूल चुके हैं या जिसे हम ग़लत समझ बैठे हैं। राजनीतिक रूप से तो आर्य लोगों ने हिन्दुस्तान को जीत लिया था, पर उस सभ्यता को जो पहले से यहां मौजूद थी और इस विशाल देश के हर भाग में ज़रा ज़रा फ़र्क़ के साथ सांस ले रही थी, आर्य लोग पराजित न कर सके थे...आज भी हमारे जन-साधारण के रस्म-रिवाजों में आर्यों से पहले की उस सभ्यता की कुछ न कुछ झलक पाई जाती है। प्राचीन लोकगीत उस सभ्यता पर प्रकाश डाल सकते हैं। पुरातत्त्व विभाग वालों को यह बात बुरी न लगे तो मैं कहूँगा कि प्राचीन लोकगीतों का महत्त्व मोहेंजोदड़ो सरीखे खण्डहरों से कहीं ज़्यादा है।'

यह सुनकर मैं सोचने लगता हूं कि क्या ये शब्द उन्हीं पण्डित जी के मुख से निकल रहे हैं जो कहा करते हैं कि सन्थाल बनकर हम समय का अपमान करेंगे !

एक बार लिथुआनिया का एक प्रोफ़ेसर शान्ति-निकेतन देखने आया था। अपने भाषण में उसने बताया कि पिछले पांच सौ वर्षों से उसका देश ईसाई धर्म के पंजे तले रहा है और बराबर स्वाधीनता के लिये लड़ता रहा है। ईसाई विजेताओं ने पुराने राष्ट्रीय साहित्य को नष्ट कर दिया। अब जब इस देश को आज़ादी मिल चुकी है वह अपनी पुरातन राष्ट्रीय संस्कृति को फिर से ज़िन्दा करना चाहता है। लोगों के पास सिर्फ़ वे गीत बच पाये हैं जो सदियों से उनके ओंठ चूमते आये हैं। इन गीतों के प्रकाश में लिथु-आनिया अपनी खोई हुई दुनिया को ढूँढ लेना चाहता है। लोकगीतों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं और अभी कई संग्रह तैयार किये जा रहे हैं।

पण्डित जी कहा करते हैं कि उस प्रोफ़ेसर ने उन्हें बताया था कि लिथुआनिया की पुरानी सभ्यता पर हिन्दुस्तानी संस्कृति का बहुत असर रह चुका है। जब एक व्यक्ति वहां दूसरे व्यक्ति से मिलता था तो 'राम राम' (?) कहा करता था और जब कोई मर जाता था तो उसके सम्बन्धी 'राम नाम सत्त' (!) कहा करते थे। मैं कहता हूँ "लिथुआ-निया के लोकगीतों पर कोई पुस्तक अंग्रेज़ी में ज़रूर मिल जायगी, और ये सब बातें मैं बहुत ध्यान से पढ़ूंगा, पण्डित जी।"

एक बार पण्डित जी ने भी अपने गाँव[१] में लोकगीतों का अध्ययन शुरू किया था। माता दाई (शीतला) की पूजा के एक गीत में एक पद ऐसा भी आता था जिसमें यह पता चला कि माता दाई का विवाह किसी "अलीसेर" (अलीशेर ?) से हुआ था। उन्होंने यह गीत लिख कर एक हिन्दू मित्र को दिखाया तो वह बोला, 'हिन्दू स्त्रियों को यह गीत गाना बन्द कर देना चाहिये।' फिर जब यह गीत श्री मनमोहन घोष एम० ए० को दिखाया गया तो वे बोले, यह "अलीसेर अलीशेर का बिगड़ा हुआ रूप नहीं है बल्कि किसी बौद्ध महायान मरमी का विकृत नाम होगा। इससे मिलता जुलता एक नाम मैंने बौद्ध भिक्षुओं में पाया भी है।"[२]

पण्डित जी कहा करते हैं, "कौन कह सकता है कि "अली सेर' का ज्ञान हमारी किसी बड़ी जानकारी का साधन नहीं होगा !"

---

१ युक्त प्रान्त बिहार की सीमा पर बलिया ज़िला

२ बहुत से बौद्ध गान और बौद्ध देवी देवताओं के नाम लोक गीतों में छिपे हैं। इस दिशा में डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त ने बङ्गाल के कुछ गीतों का अनुसन्धान किया है। पर हिन्दी में अभी किसी अध्येता ने इस ओर ध्यान नहीं दिया—सम्पादक

सन्थाली गीतों के बारे में पण्डित जी दिलचस्पी से सुनते सुनाते हैं। एक बार वे क्षिति बाबू[1] के साथ घूमने निकले तो उन्होंने देखा कि सन्थाल स्त्रियों की एक टोली हाथ में पुआल की मशाल जलाते हुये गाती चली जा रही है। ये स्त्रियां दूर निकल गई, तो क्षिति बाबू ने पूछा, "कहिये, क्या सुना ?" और जब पण्डित जी ने बताया कि गङ्गा पूजने जाती हुई स्त्रियाँ उनके अपने गाँव में भी इसी लय में गाया करती हैं, तो क्षिति बाबू बोले, "गङ्गा आर्यों का शब्द नहीं है। उनके यहाँ आने से पहले भी यह हिन्दुस्तान की स्थानीय जाति में प्रचलित था। ये सन्थाल भी उसी प्राचीन जाति में से हैं। आप के प्रान्त की स्त्रियों ने गङ्गा-पूजा का यह गीत किसी जमाने में सन्थाल स्त्रियों से ही सीखा होगा।"

मेरे संग्रह में पण्डित जी को एक गुजराती दुलहन का दु:खान्त गीत बहुत पसन्द है। उस बेचारी का अपना पति एक घरेलू ग़लतफ़हमी के कारण सोने के कटोरे में जहर घोलकर उसे पिला देता है। सारे गीत पर वेदना का वायु मण्डल छा रहा है। 'ऐसा कोई गीत सन्थालों में भी ज़रूर मिलना चाहिये,'' यह कहते हुये वे किसी गहरी सोच में खो जाते हैं।

पण्डित जी अकसर कहा करते हैं कि कभी किसी लाटरी में यदि उन्हें पचहत्तर लाख रुपये मिल जायें तो पाँच लाख रुपये मुझे दे देंगे ताकि मैं लोक गीतों का प्रकाशन बड़ी सुन्दरता से कर सकूँ।

उन्हें अपने वेतन का काफ़ी भाग पीछे घर पर भेज देना होता है। रात की नींद हराम करते हैं तब जाकर कुछ लेख लिख पाते हैं। इससे कुछ आमदनी हो जाती है, पर उन्हें यह डर लगा रहता है कि कहीं कोई यह एतराज़ न करे कि इतने लेख लिखने वाला प्रोफ़ेसर कालिज के काम में कैसे मन लगाता होगा!

कलकत्ता में प्रगतिशील लेखकों के कुल हिन्दुस्तान सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन अभी अभी ख़तम हुआ था। अगले ही दिन जब इसके प्रधान डाक्टर मुल्कराज आनन्द यहाँ पधारे, पण्डित जी से भी मिले थे। शुरू में डाक्टर आनन्द ने पण्डित जी के सामने एक घण्टे तक अपनी बात जारी रखी। पण्डित जी बुत बने सुनते रहे; बीच में कुछ भी बोलेंगे तो निस्सन्देह प्रतिक्रियावादी सिद्ध होंगे, यही डर लगा रहा।

शायद असली प्रगतिशील लेखक वही है जो जब भी किसी आदमी से मिले एक घण्टे तक अपनी बात सुनाता रहे और सुनने वाले को अपनी ज़बान से एक भी शब्द न कहने दे।

प्रगतिशील लेखकों के इस सम्मेलन के सिलसिले में सुब्बाराओ और रेड्डी बुरी तरह झगड़ रहे हैं। इस की भी एक कहानी है:—

ये दोनों लड़के आन्ध्रदेश के हैं। रेड्डी कालिज की पढाई ख़तम कर चुका है और अब संगीत का अभ्यास बढ़ा रहा है। सुब्बाराओ अभी आई० ए० के दूसरे वर्ष में पढ़ता है। जब डाक्टर आनन्द को मालूम हुआ कि यहां से वे एक आदमी को तेलुगू साहित्य की कुरसी के लिये सम्मेलन में ले जा सकते हैं तो वे बहुत खुश हुये।

रेड्डी से पूछा गया तो उसने जाने से इनकार कर दिया। बोला, "मैं लेखक ही नहीं, प्रगतशील लेखक कहां!" पर सुब्बाराओ मान गया।

जब से सुब्बाराओ सम्मेलन से लौटा है उसका जीवन दूभर हो गया है। रेड्डी उसका मज़ाक़ उड़ाता रहता है। आज किंचित में हाथा-पाई तक नौबत पहुँच गई·· रेड्डी बोला "तेलुगू साहित्य पर सीधी तरह कुछ कहो तो तुम्हारी योग्यता का अन्दाज़ा लगाऊँ। वाह बिना कुछ समझे बूझे प्रगतिशील लेखक भी बन बैठे। कलकत्ते के सम्मेलन में तेलुगू साहित्य की कुरसी पर बैठकर तुम ने सारे आन्ध्रदेश का अपमान किया है। मैं तुम्हें कभी क्षमा नहीं कर सकता।"···बस इसी पर हाथा पाई होने लगी।

पण्डित जी कह रहे हैं 'अपने शान्तिनिकेतन से जिसे हम हिमालय पर्वत पर शुरू करने वाले हैं,

[1] श्री क्षितिमोहन सेन, शान्ति निकेतन में 'विद्या भवन' के आचार्य।

आप की लोक गीत सम्बन्धी पुस्तकें प्रकाशित होंगी, हम ऐसा प्रबन्ध करेंगे कि वहां ऐसी हाथा-पाई कभी न हुआ करे।'

मैं कहता हूँ, "पण्डित जी, ये हाथापाईयाँ तो रहती दुनियाँ तक जारी रहेंगी...छोटी हाथापाईयाँ... बड़ी हाथापाईयाँ !"

(३)

सातइ पौष के मेले पर पिछले वर्ष श्री सी० एफ० ऐंड्रूज़ से भेंट करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वे यों मिले थे जैसे कोई बाप वर्षों के बिछुड़े हुये बेटे से मिलता है। चीना भवन की ओर उनके साथ जाते हुये मैंने देखा कि वे सभी से बग़लगीर होकर मिलते हैं। सामने कोई सन्थाल आ जाता तो वे उसे भी छाती से लगा लेते। मुझे यों महसूस हो रहा था कि मैं स्वयं हज़रत ईसा मसीह के हमराह चल रहा हूँ।

इस बार उन्हें कलकत्ता में काम था। इस लिये सातइ पौष के फ़ौरन बाद चल दिये। वे कह रहे थे, "कौन जाने अगले सातइ पौष पर तुम किधर रहो और मैं किधर रहूँ। पिछले वर्ष की तरह अब के हम फिर मिल सके, यह कुछ कम बात नहीं है। तुम्हारे कार्य से मुझे बहुत दिलचस्पी है। हर कार्य एक साधना माँगता है, एक धुन; और मैं तो समझता हूँ कि गाँव वालों के गीत बड़ी ख़ूबी के साथ हिन्दुस्तान का धड़कता हुआ दिल हमारे सामने ले आते हैं।"

चलते चलते वे कह गये कि मैं उन्हें उनके फोटो जल्द भेजूँ। क्रिसमिस की सुबह को उनका जो फोटो लिया था उसमें उनकी भरपूर हार्दिक खुशी को दिखाने का यत्न किया था। उन्हें एक दूसरा फोटो और भी पसन्द आता जिसमें कविता—मेरी कन्या, उनकी गोद में बैठी है।

वे कह रहे थे "जीवन की एक बड़ी ख़ुशी मुझे उस समय मिलती है, जब किसी बच्चे का हाथ मेरी दाढ़ी को छू रहा होता है, यों लगता है कि वह कोई बच्चा नहीं है, बल्कि मेरा अपना बचपन यह रूप धारण कर मेरे पास आ निकला है और पूछ रहा है—तुमने समझा था मैं तुम्हें छू न सकूँगा !"

मानवीय लहरों के वे जबरदस्त रेले अब नज़र नहीं आते। पान्थ-निवास के सामने वाली सड़क पर फिर वही खामोशी छा रही है।

दूर से बाँसुरी की लय कान तक पहुँचती है और समय गुजरता रहता है प . . न करके।

सवेरा, दोपहर शाम।

वर्तमान भूत बन जाता है। भविष्य वर्तमान बन जाता है। गाने से पेट तो नहीं भरता, पर गाना भी ज़रूरी है। सदियों से यह बाँसुरी काँपते डगमगाते आदमी का सहारा रही है, सदियों से वह कभी सोई नहीं। यह यहां न होती तो शान्ति-निकेतन का बहुत सारा सौंदर्य फीका पड़ जाता। और मैं तो समझता हूँ गुरुदेव की कविता भी इससे प्रभावित हुई है।

आसाम से लौटकर दार्जिलिंग में गुरुदेव से मिला था तो उन्होंने मेरी ऑटोग्राफ़-बुक में ये शब्द लिख दिये थे।

दुनिया की स्याना नगोश हस्तियो !
मेरे शब्दों में छोड़ जाओ अपनी आवाज़।

मैं सोचने लगा था कि सन्थालों ने भी, जो अठारहवीं शताब्दी के आखिरी दिनों में इधर के गावों में आ बसे थे और जो रोज इस सड़क पर चलते हैं जो पान्थ निवास के सामने से गुजरती है, गुरुदेव की कविता में ज़रूर अपनी खोज छोड़ी होगी।

कल ही की बात है। मैं गुरुदेव को कुछ फोटो दिखला रहा था। एक सन्थाल छोकरी के चित्र पर उनका ध्यान जम गया। मैंने पूछा "आपको यह चीज़ पसन्द आई ?"

"हाँ," वे बोले "इसका नाम होना चाहिये, धरती की पुत्री। किस तरह आखें झुका रखी हैं इस ने ! यह लाज तो खेतों की लाज है जो धान की तरह उगती है.. ज़रूर यह धरती की पुत्री है।"

"तो इसे आप रख लीजिये," मैंने खुश होकर कहा।

गुरूदेव ने मुसकराकर मेरी तरफ देखा और तसवीर अपने सेक्रेटरी के सुपुर्द कर दी।

"मैं तो समझता हूँ," मैंने कहा, "कि वह सन्थाल लड़की जिसने अपने गीत में दरिया किनारे की चट्टान तले सोये हुये पानी से अपने प्यार की तुलना की है और किसी युवक को सम्बोधन करके कहा है कि वह बाँसुरी न बजाये ताकि यह सोया हुआ पानी जाग न उठे, ज़रूर कोई ऐसी ही कुवारी होगी . "

"मेरा भी यही विचार है," गुरूदेव बोले।

उत्तरायण[1] के दरवाजे से जरा परे सड़क के किनारे किंकर दा[2] सीमेंट कंकरीट से दो तीन कद्दे आदम मूर्त्तियाँ बनवा रहे हैं।

एक सन्थाल स्त्री ने सिर पर टोकरा उठा रखा है, एक पुरुष काँवर उठाये हुये है, पास ही उनका कुत्ता हुक्म में बँधे हुये आदमी की तरह खड़ा है। पहले काठ के ढाँचे खड़े किये गये थे। अब सीमेंट कंकरीट से काम किया जा रहा है। जब ये चीजें पूर्ण हो जायेंगी तो आश्रम का सौंदर्य और भी बढ़ जायगा। परे गाँवों से आते हुये सन्थाल सुबह के प्रकाश में दूर से इन मूर्त्तियों को देखकर क्या सोचा करेंगे, यही सोच रहा हूँ। दिल कहता है कि यह चीज तो आज से बहुत पहले बन जानी चाहिये थी।

किंकर दा कह रहे हैं, "ये मूर्त्तियाँ बहुत ज्यादा फिनिश नहीं की जांयगी, वैसी ही सादा और खुरदरी हालत में रहेंगी जैसे कि आज से कई वर्ष पहले एक अप्सरा की मूर्ति में तजुरबा किया गया था जो अब भी कला-भवन होस्टल के समीप खड़ी है।"

मैं कहता हूँ, "देवताओं और अप्सराओं की मूर्त्तियां तो बहुत बनाई गईं पर स्वयं धरती के वासियों का यह प्रतिनिधित्व अलग विशेषता रखता है।

दूर से सन्थाल बाँसुरी के स्वर समीप आने लगते हैं। मेरे मन में वही पुराना गीत जाग उठता है जो बारह वर्ष पहले प्रथम बार इधर आने पर सुना था—क्या हैं आखिर हम सब मिलकर ?.. अनगिनत वृक्षों का इक झुरमुट ![3]

बजाये जाओ बाँसुरी, भोले सन्थालो ! गाये जाओ गान नये पुराने। गाना भी जरूरी है। शक्तियों का बोझ जो झेलना होता है। तुम्हारे गीतों में गाती है धरती माता, अच्छी प्राचीन धरती माता ! पर जीवन होगा अपने बल पर। दब कर न रह जाना। कौन खाता है तरस किसी पर ? . हाय, जीवन की कड़वी सच्चाईयाँ !...[4]

१—कवीन्द्र के सुपुत्र का निवास स्थान।

२—कला-भवन के एक कलाविद्

३—यह और दूसरा एक गीत, जिनका इस लेख में प्रयोग हुआ है, हिन्दी में पलटाये हुये हैं।

४—उपरोक्त लेख लेखक ने दो वर्ष पूर्व जनवरी ३६ में लिखा था और अप्रकाशित पड़ा था। थोड़े बहुत हेर-फेर के साथ यह प्रकाशित किया जा रहा है। हमारा विश्वास है तब से अब तक प्रगतिशील लेखकों के सम्बन्ध में श्री देवेन्द्र सत्यार्थी जी ने अपनी राय अवश्य दोहराई होगी।—सम्पादक

एक लोक प्रचलित कहानी

मेरा लाल राजा से भी बड़ा !

श्री विष्णु

पुराने ज़माने के एक शहर में एक स्त्री रहती थी। घास छीलकर पेट पालती और राम का नाम लेती। उस काल की व्यवस्था के अनुसार उसकी जाति नीची थी। उसका शरीर भी जर्जर था और वस्त्र भी फटे हुये। परन्तु उसके नेत्रों में प्रकाश था, मन में उमग थी और शरीर की जर्जरता में जीवन चमकता था। इसका कारण उसकी भरी हुई गोद थी। उसके जीवन का वरदान उसकी छाती से चिपका हुआ था। वह उसका प्रतिरूप था परन्तु उसके लिये वह पृथ्वी का चाद था। स्नेह से विभोर वह उसे चूम लेती और कहती—मेरा लाल बहुत बड़ा, राजा से भी बड़ा।

लोग सुनते और मुस्कराकर आगे बढ जाते। कुछ उसकी स्पर्धा पर कटाक्ष करते। कुछ उसे स्नेह का स्वर समझकर गदगद होते, परन्तु ज़्यादातर वे लोग थे, जो थे तो मानव पर ऊंचे थे। भौतिक नाप तोल में नहीं, परन्तु कहते थे वे आत्मिक नाप में ऊंचे हैं। वे ही लोग उस नीच वर्ग की 'माता' के उन शब्दों को सुनकर कहते—छी: अभागिन नारी ! तेरी इतनी स्पर्धा !!

'तेरा काला कलूटा बच्चा राजा से भी बड़ा ?'

'राजा वह जो परमेश्वर का स्वरूप है !'

'जो स्वय परमेश्वर है !'

पहिले तो वह स्त्री सुनकर मुस्करा देती, परन्तु उनका स्वर दिन पर दिन तीव्र होता गया। अपशब्द, ताड़ना सभी को बिखरे फूलों की तरह उसने अपने ऊपर लिया, परन्तु कहती रही—मेरा लाल बहुत बड़ा, राजा से भी बड़ा।

क्रुद्ध होकर अब उन लोगों ने कहा—'राजा ने सुन लिया तो कोल्हू में पिलवा देंगे।'

'तेरी सात पीढियां तहखानों में सड़ेंगी।'

'तेरी जात बिरादरी तेरे साथ सूली पर लटकेगी।'

और सचमुच एक दिन राजा ने सुन ही तो लिया। व्यवस्था के कान लम्बे होते हैं। सुनकर क्रोध उमड़ आया, बोले—उस नीच नारी की इतनी स्पर्धा ! उसे सभा में उपस्थित करो।

व्यवस्था में भूचाल आ गया। दूत दौड़ कर उस नीच नारी की झोपड़ी पर पहुँचे और स्वर में तीव्रता साकार करके बोले—तुझे राजा ने बुलाया है।

राजा ने बुलाया है—उस स्त्री के सम्बन्धी हठात काप उठे। लहू पानी बन गया और शरीर निर्जीव !

लेकिन वह स्त्री थी शान्त गम्भीर ! कांपी वह भी लेकिन उसी तरह जिस तरह परीक्षा में सर्व प्रथम आने वाला विद्यार्थी पारितोषक लेते वक्त कापता है। उसने आगे आकर कहा—मैं राजा के पास चलूगी !

(२)

राजा की सभा इन्द्र सभा की तरह सजी हुई थी। मणि मुक्ताओं से जड़ित स्वर्ण सिंहासन पर राजा बैठे थे शान्त गम्भीर ! ऋषिवर्ग काषाय वस्त्र धारण किये राजा के दाहिनी ओर गम्भीरता में बृहस्पति का अनुरूप कर रहे थे। बाईं ओर कौषेय वस्त्रों में महातेजधारी प्रधान तथा अन्य मंत्री, सचिव तथा सामन्त थे। फिर वर्गाकार स्थिति में अन्य व्यवस्था के अधिकारी, आत्मीय, नागरिक तथा सुधी गण थे। शूद्र गण अपने-अपने स्थानों पर स्तम्भ की तरह स्थिर थे। मौनता सर्वत्र व्याप्त थी। ऐसे ही समय उस स्त्री को लेकर दूतों ने राज सभा में प्रवेश किया। सब की दृष्टि एक साथ उठी और क्षण भर के लिये उठी क

उठी रह गई। मन इतने में बोल उठा—अरे! इस नीच स्त्री की इतनी स्पर्धा !!

ऋषि गण उसकी ढीठता पर मुस्कराये! सामन्त गण क्रुद्ध हुये। प्रधान मन्त्री उपेक्षा से दूसरी ओर देखने लगे और राजा क्षणिक मुस्कराहट से बोले—यह है वह स्त्री!

स्त्री ने गोद के बालक को जमीन पर बैठा कर राजा को साष्टाग दण्डवत किया। बोली—राज राजेश्वर की जय हो!

राजा कठोर हुये—तुम कहती हो कि तुम्हारा बेटा राजा से भी बड़ा है!

स्त्री के नेत्र पृथ्वी में गडे रहे—जी राज राजेश्वर!

'अब भी कहती हो?'

'जी, राज राजेश्वर!'

राजा आख़िर राजा थे। क्षण भर के लिये विचार-मग्न होकर बोले—'कारण बता सकती हो?'

'अवश्य राजन्!'

तो बताओ—राजा फिर कठोर हो उठे और सभा में उत्सुकता उमड़ आई! अचरज से अनेक आँखें उसी स्त्री और बच्चे पर स्थिर हो गईं। स्त्री ने पहिली बार सिर उठाया। वह काँप रही थी। उसके चेहरे का रंग बदल रहा था। उसने हाथ जोड़ कर कहा—राज राजेश्वर की जय हो! एक प्रार्थना है।

कहो—राजा बोले!

एक विषधर नाग मँगा दीजिये—स्त्री ने प्रार्थना की।

विषधर नाग—सभा फुस फुसाई!

विषधर नाग—राजा दोहरा गये।

जी, राज राजेश्वर—स्त्री ने दृढ़ होकर कहा।

उस स्त्री की प्रार्थना राजा की आज्ञा के कारण पूरी की गई। कुछ ही क्षणों में फुंकारते हुये नागराज को लेकर सँपेरा वहाँ आ गया। सभा में भय की एक लहर दौड़ गई, लेकिन वह स्त्री उसी तरह काँपती काँपती हाथ जोड़े खड़ी थी। उसने फिर कहा—एक और प्रार्थना है, राज राजेश्वर!

कहो—राजा अचरज के साथ पर स्थिरता से बोले!

स्त्री ने कहा—राजेश्वर! मैं प्रार्थना करती हूँ कि आपकी सभा में जो मनुष्य इस नाग को पकड़ सके वह आगे आजाये।

सभा में मौत का सन्नाटा साकार हो उठा। कोई नहीं बोला, कोई नहीं हिला।

राजा बोले—अभागिन नारी! इसे पकड़कर कौन मरना चाहेगा। यह तो काल है।

स्त्री मुस्कराई—राजन! जो काल के प्रेम को जीत सकता है, क्या ऐसा कोई भी व्यक्ति सभा में नहीं है? आप भी नहीं राजेश्वर!

नहीं—राजा बोले।

है—स्त्री ने नम्रता से कहा।

कौन—सारी सभा एक साथ राजा के स्वर में चिल्ला उठी!

यह बच्चा!—स्त्री ने कहा और शीघ्रता से अपने बच्चे को उठा कर नागराज की पिटारी के पास बिठा दिया। पलक मारते यह सब हो गया। सभा भूचाल के झटके मे हिल हिल उठी। राजा उस क्षण देख भी नहीं सके, पर जब स्थिर होकर सबने देखा तो वह काला कलूटा बच्चा किलकारी मारकर हंस रहा था और नागराज परम स्नेही बन्धु की तरह उसके हाथों को चूम रहे थे।

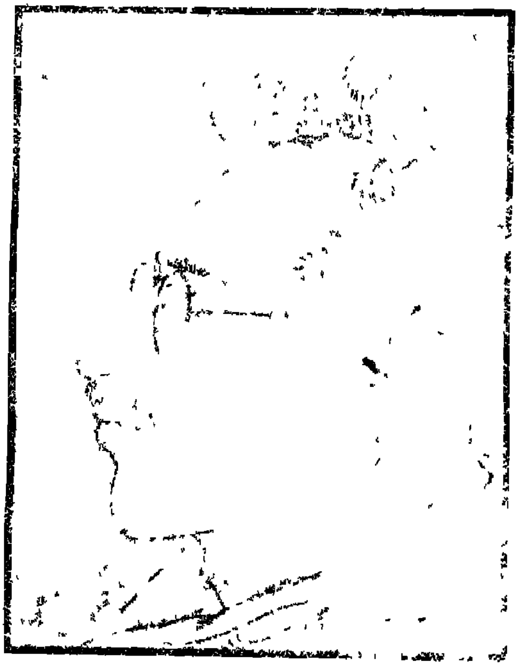
तब उस स्त्री ने गर्व से गद्‌गद् होकर कहा—मेरा लाल बहुत बड़ा, राजा से भी बड़ा!

× × ×

और उसके कुछ क्षण बाद मौत की बाट जोहते हुये उसके अनेक सम्बन्धियों ने जब उसे मणि-मुक्ताओं से लदा हुआ देखा, तो वे अचरज से पागल हो उठे।

कबीरदास के "निर्गुण राम"

श्री हज़ारी प्रसाद द्विवेदी



कई बार कबीरदास के आलोचकों ने आश्चर्य प्रकट किया है कि उन्होंने निर्गुण राम की उपासना कैसे बताई। वेदान्त ग्रथों में ब्रह्म ज्ञान के कई प्रकार के अधिकारी बताये गये हैं। उत्तम अधिकारी ब्रह्म के चैतन्य मय स्वरूप की उपलब्धि करके जीते ही जीते मुक्त हो जाता है। अर्थात् ज्ञान प्राप्त होने के बाद यद्यपि उसका शरीर कुछ दिनों तक आहार-निद्रा आदि विकारों का वशवर्ती रहता है, पर वस्तुतः उसका आत्मा छुटकारा पा गया होता है। जिस प्रकार कुम्हार का चाका डडे के घूर्णन वेग को हटा लेने पर भी पुराने वेग के कारण कुछ और देर तक घूमता रहता है, उसी प्रकार जीवन्मुक्त का शरीर कुछ और काल तक चलता रहता है, पर असल में उसका आत्मा मुक्त हो गया होता है। "जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्था रूप जो माया है वही त्रैलोक्य का कारण है। जो कुछ दिख रहा है वह सभी इस माया के ही कारण। किन्तु परं ब्रह्म के दर्शन के बाद माया की मरीचिका जाती रहती है और जाग्रत् असत्य भासने लगता है। सकल वस्तु-स्वरूप वह पर ब्रह्म नाम रूप और क्रिया से रहित है। किन्तु जो इस जगत् को माया के बल से सृष्टि करता है वह ईश्वर है। यही ईश्वर सब कुछ मे प्रविष्ट हो रहा है।" (आत्मज्ञान ४-५) उत्तम अधिकारी इस तत्त्व को शम-दम-नियम-सयमादि अभ्यास के द्वारा आयत्त कर लेता है (पच० ९ २०) परन्तु बुद्धि की अत्यन्त मदता के कारण या साधनों के अभाववश जो व्यक्ति उत्तम अधिकारी नहीं हो सका वह क्या करे? क्या वह सगुण की ही उपासना करे और 'परं निर्गुणं ब्रह्म' की आशा छोड़ दे? पचदशी में विद्यारण्य स्वामी ने उत्तर में कहा है कि नहीं; वह निर्गुणतत्त्व की उपासना करे। यदि कहो कि जो वाणी और मन के गोचर है ही नहीं उसकी उपासना कैसे हो सकती है? तो उल्टे तुम्हीं से प्रश्न किया जा सकता है जो वस्तु वाणी और मन के परे है अर्थात् जिस तक न तो वाणी पहुँच पाती है और न मन, उसका अनुभव भी तो सभव नहीं है, उसका जान लेना भी तो सभव नहीं दिखता। फिर यदि यह संभव है तो उपासना क्यों सभव नहीं है? [पंचदशी ९ ५४-५७] विद्यारण्य स्वामी के इस कथन में ही कबीर के आलोचकों का उत्तर पाया जा सकता है। क्योंकि उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट भाषा में कहा है कि निर्गुण ब्रह्मतत्त्व की उपासना असम्भव नहीं है (९-५५)।

कुछ साम्प्रदायिक पण्डितों की ओर से इस प्रकार के 'रहस्योद्घाटन' का दावा किया गया है कि 'सन्त मत के प्रवर्तक आदि गुरु कबीर साहब...के विचार हैं कि जो मन्दाधिकारी सत्त्वशुद्धि के अभाव से आत्म-

विचार नहीं कर सकता, वह निर्गुण ब्रह्मोपासना भी नहीं कर सकता। क्योंकि महावाक्य-जन्य परोक्ष-ज्ञान से होने वाली ब्रह्मोपासना मन की कल्पना है। इस कारण उसमे हृदय के विकार अहंकारादिक की निवृत्ति नहीं हो सकती, प्रत्युत महा-अहंकार की उत्पत्ति होती है, जो कि वासना वाले मन्दाधिकारियों को हानि पहुँचा सकती है। जो हृदय वासना-पंकिल है उसमे ब्रह्मदेव की प्रतिष्ठा किस प्रकार हो सकती है? अतः विकारों को दूर करने के लिए भी विषयानित्यता और परिणाम-विरसता (अर्थात् विषय अनित्य हैं और परिणाम में विरस हैं) इत्यादिक विचार ही उपयुक्त हैं।······कामनादिक विकार वाले पुरुष पूर्वोक्त विचार के बिना ब्रह्मोपासना से आत्म-साक्षात्कार नहीं कर सकते, अतः विकार-निवृत्ति के लिये विचार करने की अनुमति सद्गुरु ने इस प्रकार दी है—

करु विचार जिहि सब दुख जाई।
परिहरि झूठा केर सगाई॥
भव अति गरुआ दुख करि भारी।
करु जिय जतन जो देखु विचारी॥
खरा खोट जिन्ह नहिं परखाया।
चहत लाभ तिन्ह मूल गँवाया॥
इत्यादि।

वस्तुत. यम-नियमादि अनुष्ठानपूर्वक किये जाने वाले संसारानित्यादि विचार से सत्त्व शुद्धि हो जाने पर ब्रह्मोपासना की आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रसग में विद्यारण्य स्वामी के इस मत पर शका प्रकट की गई है कि—

यावच्चिन्त्यस्वरूपत्वाभिमानः स्वस्य जायते।
तावद्विचिन्त्य पश्चाच्च तथैवामृतिधारयेत्।[1]
—पंच० ६. ७८

इस देश में विद्यारण्य स्वामी के भक्तों और समर्थकों की कमी नहीं है। वे विद्वान और समर्थ भी हैं। निश्चय ही वे इस शका का जवाब दे लेंगे। हमें यहा उस उलझन में पड़ने की कोई ज़रूरत नहीं है। पर कबीरदास के नाम पर प्रचलित पदों और साखियों का सीधा सादा अर्थ करने पर हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि निस्सदेह कबीरदास ने आत्मविचार को बहुमान दिया है, पर जो लोग उसके अधिकारी नहीं हैं उनके लिये 'निर्गुण राम' के जपने का उपदेश भी दिया है। निर्गुण राम के जप का अर्थ वही है जो महावाक्यों के चिन्तन का अर्थ है। नाम-जप का महावाक्य चिन्तन मे इतना अन्तर जरूर है कि नाम-जप करने वाला, जहा विचार मे बिल्कुल शून्य रह सकता है, वहा महावाक्यों का मनन करने वाला किसी-न किसी कोटि के विचार में लगा ही रहेगा। महावाक्यों के स्मरण से अपने मे ब्रह्मत्वाभिमान होने का मतलब ही है कि अपने को ब्रह्म समझते रहने का अभ्यास करना। कबीरदास 'भाई' सबोधन के द्वारा साधारण सासारिक जीवों को सबोधन करते हैं और उन्हें अपना व्यक्तिगत उपदेश देते हैं—'हे भाई, निर्गुण राम का जप करो। अविगति की गति लखना सहज नहीं है (तुलनीय०—अवाङ् मनस गम्यस्य वेदन न च संभवेत्—पंच० ९ ५६)। वेद और पुराण, स्मृति और व्याकरण, शेष, गरुड़ और कमला भी जिसे नहीं जान सके। (उसे जानने की चेष्टा करना साहस का कार्य है।) सो कबीरदास की सलाह है कि हरि की छाया पकड़ो—उन्हीं की शरण

---

1 उपनिषदों में 'मैं ही ब्रह्म हूँ' [बृह ४ १०], 'वह तू ही है' [छान्दोग्य ६-८-७] आदि महावाक्यों से ब्रह्म के साथ जीव की अभिन्नता बताई गई है। यह अभिन्नता जानने की चीज है। ज्ञान से ही वह प्राप्त होती है। पर जो व्यक्ति इस ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सका है, उसके लिये यह विधान किया गया है कि वह तब तक इन महावाक्यों का मनन करता हुआ अपने को ब्रह्म से अभिन्न समझने का प्रयत्न करता रहे, जब तक उसे अपने में ब्रह्मत्व का अभिमान [—मानना] न हो जाय। उक्त उद्धरण में इसी विचार का विरोध किया गया है।

में जाओ। [1] अरे ओ पगले, भूला भूला क्यों फिर रहा है ? कामनाओं का त्याग कर, हरि का नाम जप, वही अभय पद का दाता है,—कबीरा की यह कोरी बात गाठ बाध ले। [2] इस राम के साथ विषयों का कुछ अग्नि तृण का-सा सबंध है। यह कहना कि पहले वासनायें हट जांय तभी राम आयेंगे नहीं तो "वासना पंकिल हृदय में ब्रह्मदेव की प्रतिष्ठा" सम्भव नहीं है, विषयों को राम से जबर्दस्त समझने के समान है। कम-से-कम कबीरदास वासना को राम की अपेक्षा ज़बर्दस्त मानने को तैयार नहीं थे। एक बार उनके राम—उनके निर्गुण ब्रह्म—जिसके हृदय में आ जाते हैं, वह अनायास ही मति बुद्धि पा जाता है। लालच और विषय रस मे आपादमस्तक डूबे हुए व्यक्तियों से ललकारते हुए कहते हैं कि भाई, तरे वही जिन्हों ने राम रस का आस्वादन किया। बकवादी तो डूब मरे क्योंकि उन्होंने राम को कभी याद ही नहीं किया। [3] ऐ मेरे मन तू अवि नाशी हरि का ही भजन कर। उन्हें छोड़कर और कहीं न जा। अगर तू विषय रूप दीप के पास फिर रहा है, तो निश्चय मान कि तू पतिंगा होकर जल जायगा। जिस प्रकार भ्रमरी के ध्यान में मगन कीट खुद भी भ्रमरी बन जाता है, उसी प्रकार तू राम नाम में ऐसा लौ लगा कि स्वयं राम-मय हो जा (तुल०—पंचदशी ७ ७८)। देख भाई, यह ससार बड़ा गुरु गम्भीर है, इस ससार सागर में चारों ओर विकार की लहरें तरंगायित हो रही हैं, तुझे आर पार कुछ भी नहीं सूझता। अरे ओ मेरे मनसाराम, इच्छा के इस अपार भवसागर के लिये एक मात्र नैया राम है। बाबा, उसी की शरण जा, फिर देख यह महान ससार समुद्र बछड़े के खुर के समान छोटा हो जाता है कि नहीं। [4]

राम के इस परम प्रसाद और अनुग्रह की याद दिलाने वाले पद मे क्या यही कहा गया है कि वासना-पंकिल हृदय वाला मदाधिकारी—जिसे विशाल भवसमुद्र में आर-पार कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा, जो चारों ओर तरंगायित विषय-वीचि को देख

---

१ निर्गुण राम जपहु रे भाई।
अविगति की गति लखी न जाई॥
चारि वेद जाके सुमृत पुराना।
नौ व्याकरना मरम न जाना॥
सेस नाग जाके गरड़ समाना।
चरन कँवल कवला नहिं जाना॥
कहै कबीर जाकै भेदै नाहीं।
निज जन बैठे हरि की छांही॥
— क० ग्र० पद ४६

२ परिहरि काम राम कहि बौरे सुनि सिख बधू मोरी।
हरि कौ नांव अभैपद दाता कहै कबीरा कोरी॥
—क० ग्र० पद ३४६

३ रमनां राम गुन रमि रस पीजै।
गुन अतीत निरमोलिक लीजै॥
निरगुन ब्रह्म कथौरे भाई।
जा सुमिरत सुधि बुधि मति पाई॥
विष तजि राम न जपसि अभागे।
का बूड़े लालच के लागे॥
ते सब तिरे राम रस स्वादी।
कहै कबीर बूड़े बकवादी॥
—क० ग्र० पद १७५

४ अब कहु राम नाम अविनासी।
हरि तजि जियरा कतहुँ न जासी॥
जहां जाहु तहां होहु पतंगा।
अब जनि जरहु समुझि विष संगा॥
राम नाम लौ लाय सुलीन्हा।
भ्रिंगी कीट समुझि मन दीन्हा॥
भव अति गरुवा दुख करि भारी।
करि जिय जतन जु देखु विचारी॥
मन की बात है लहरी विकारा।
तुहि नहिं सूझै वार न पारा।
इच्छा के भव सागरै, बोहित राम अधार
कहैं कबिर हरि सरन गहु, गोबछ खुर विस्तार॥
बीजक रमैनी, २०

कर रहा बुद्धि दो रहा है,—निर्गुण उपासना का पात्र नहीं है ? बल्कि उल्टे इस पद में क्या यह नहीं बताया गया कि अज्ञान पूर्वक ध्यान करने से भी आदमी परम पद पा लेता है ! आखिर कीट-भ्रमरी का प्रसिद्ध उदाहरण इसी बात को बताने के लिये ही तो प्रयुक्त होता है। फिर यह क्या आश्चर्य का विषय नहीं है कि इस पद को उपासना के प्रत्याख्यान में प्रमाण स्वरूप पेश किया गया है !! कवीर दास ने राम नाम की अपरपार महिमा वर्णन के प्रसंग में द्विधा रहित भाषा में कहा है कि गणिका और अजामिल जैसे अज्ञानी पापी भी पार हो गये।[१]

परन्तु यह राम या हरि कौन है ? परब्रह्म, अपर ब्रह्म, ईश्वर या और कुछ ? इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि हरि, गोविन्द, राम, केशव, माधव आदि पौराणिक नामों को कबीर दास कचित् कदाचित् ही सगुण अवतार के अर्थ में व्यवहार करते हैं। एक दम नहीं करते, ऐसा नहीं कहा जा सकता। पर जब वे अपने परम उपास्य को इन नामों से पुकारते हैं तो सगुण अवतारों से उनका मतलब नहीं होता। उनका 'अल्लाह' अलख-निरजन देव है, जो सेवा से परे है, उनका 'विष्णु' वह है जो संसार रूप में विस्तृत है; उनका 'कृष्ण' वह है जिसने ससार का निर्माण किया है; उनका 'गोविन्द' वह है जिसने ब्रह्माण्ड को धारण किया है, उनका 'राम' वह है जो सनातन तत्त्व है; उनका 'खुदा' वह है जो दस दरवाज़ों को खोल देता है, 'रब' वह है जो चौरासी लाख योनियों का परवरदिगार है, 'करीम' वह है जो इतना सब कर रहा है; 'गोरख' वह है जो ज्ञान से गम्य है, 'महादेव' वह है जो मन को जानता है, 'सिद्ध' वह है जो इस चराचर दृश्यमान जगत् का साधक है, 'नाथ' वह है जो त्रिभुवन का एक मात्र यती है;—जगत् के जितने साधक हैं, सिद्ध हैं, पैगम्बर हैं वे इस एक की ही पूजा करते हैं। अनन्त हैं इसके नाम, अपरंपार है उसका स्वरूप। वही कबीर दास का भगवान् है (कबीर ग्रंथावली पद ३२७)। यह राम निरंजन है उसका रूप नहीं, रेखा नहीं, वह समुद्र भी नहीं, पर्वत भी नहीं; धरती भी नहीं, आकाश भी नहीं, सूर्य भी नहीं, चन्द्र भी नहीं, पानी भी नहीं, पवन भी नहीं, ..—समस्त दृश्यमान पदार्थों से विलक्षण, सबसे न्यारा (क० ग्र० पद २१९)। वह समस्त वेदों से अतीत, भेदों से अतीत, पाप और पुण्य से परे, ज्ञान और ध्यान का अविषय, स्थूल और सूक्ष्म से निवर्जित, भेख और भीख के अगम्य, डिंभ और रूप से अतीत—अनुपम त्रैलोक्य-विलक्षण परम तत्त्व है (क० ग्र० पद २२०)।

जैसा कि शुरू में ही कहा गया है, कबीर दास उत्तम अधिकारी के लिये इस 'अवाङ्-मनस-गोचर' परब्रह्म की उपासना को बहुत महत्त्व नहीं देते। परन्तु वे इस बात में खूब सावधान हैं। वे बार बार याद दिला देते हैं कि यह जो उपासना बताई जा रही है, वह सगुण अवतार की नहीं है, वरन् निर्गुण राम की है।

इतना ही नहीं वह भाव और अभाव दोनों से परे है अर्थात् न तो यही कहा जा सकता है कि वह भाव रूप है और न यही कहा जा सकता है कि वह अभाव रूप है—वह "भावाभाव विनिर्युक्तः" है[१]। फिर उसे किसी पक्ष विशेष के द्वारा भी नहीं समझाया जा सकता। न तो वह द्वैत पक्ष का विषय है न अद्वैत पक्ष का प्रतिपाद्य। असल में सयाना साधु वही है जो निष्पक्ष भाव से उसको भजता है। जैसे तिनके से तिनका बँधा होता है, वैसे ही सब लोग एक दूसरे से बँधे हुए हैं। जिसे आत्मदृष्टि प्राप्त है वही ठीक ठीक देख पाता है। वह जानना एकमेक होकर

---

१ अजामेल गजगनिका पतित करम कीन्हा।
 तेऊ उतरि पार गये राम नाम लीन्हां॥
 —क० ग्र० पद ३२०

१ कहां न उपजै उपजा नाहिं जाणैं
 भाव अभाव विहूनां।
 उदै अस्त जहां मति बुधि नाहीं
 सहजि राम ल्यौ लीनां॥
 —क० ग्र० पद १०६

जानना है। एकमेक अर्थात् प्रेम प्रीति में भरे मन को परम प्रीति के एक मात्र आश्रय भगवान् में लीन कर देना। इसे ठीक ठीक कह कर नहीं समझाया जा सकता। यह पूर्ण की पूर्ण दृष्टि से पूर्ण को ही देखना है।[१] वह अद्वैत वादी की भांति चिदात्मक ब्रह्म सत्ता में चैतन्य का विलय नहीं है, बल्कि जैसा कि स्वयं कबीर ने ही कहा है सहज भाव से एकमेक हो कर राम से मिल रहना है। सहज भी ऐसा वैसा 'सहज' नहीं—परम प्रेमाश्रय भगवान् में सहज ही मिल रहना सहज है।[२]

फिर उसे न तो भीतर कहा जा सकता है न बाहर। बाहर कहो तो सद्गुरु लज्जित होंगे क्योंकि सद्गुरु रूप में वह भीतर ही बैठा है—वह स्वयं सद्गुरु है और समस्त जगत् को, जो हम देख रहे हैं और पहचान रहे हैं, वह इसीलिये कि वह भीतर बैठा हुआ दिखा रहा है और पहचनवा रहा है। इस सद्गुरु राम को बाहर कैसे कहे? फिर अगर भीतर कहें तो सारा संसार, समूची बाह्य रूप में दृश्यमान सृष्टि झूठी हो जाती है। असल में वह बाहर से भीतर तक ऐसा व्याप्त हो रहा है कि कह कर समझाया नहीं जा सकता। न तो वह दृष्टि का विषय है (बाह्य) और न मुष्टि का (आन्तर)। वह अलख है अगम है अगोचर है। उसे पुस्तक में लिख कर प्रकट नहीं किया जा सकता। उसे वही भली भांति जानते हैं, जो पहचानते हैं। जो नहीं जानते वे कहने पर विश्वास ही नहीं करेंगे।[१]

इसी त्रिगुणातीत, द्वैताद्वैत विलक्षण, भावाभाव-विनिर्मुक्त, अलख अगोचर अगम्य प्रेमपारावार भगवान् को कबीर दास ने 'निर्गुण राम' कह कर संबोधन किया है। वह समस्त ज्ञात तत्वों से भिन्न हैं फिर भी सर्वमय हैं। वह अनुभवैकगम्य है—केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है। इसी भाव को बताने के लिये कबीरदास ने बार बार 'गूंगे का गुड़' कह कर उसे याद किया है। वह किसी दार्शनिक वाद के मानदण्ड से परे है, तार्किक बहस के ऊपर है, पुस्तक की विद्या से अगम्य है, पर प्रेम से गम्य है, अनुभूति का विषय है, सहजभाव से भावित है—यही कबीरदास का निर्गुण राम है। भक्त लोग इस राम को जानते हैं और राम भी भक्तों को पहचानते हैं। नैन की व्यथा बैन जानती है बैन की वेदना श्रवण। पिंड का दुख प्राण जानता है, प्राण का दुख मरण। आस का दुःख प्यास को मालूम है प्यास का दुःख पानी को। कबीरदास का निश्चित विश्वास है कि इसी प्रकार राम भक्त के दुःख को जानते हैं[१]।*

१ पषा पषी के पेषनै सब जगत भुलानां।
निरपष होइ हरि भजै सो साध सयांनां।
ज्यूं षर सूं षर बांधिया यूं बंधे सब लोई।
जाकै आतम द्रिष्टि है साचा जन सोई।
एक एक जिनि जाणियां तिनही सच पाया।
प्रेम प्रीति ल्यौ लीन मन ते बहुरि न आया।
पूरे की पूरी द्रिष्टि पूरा करि देखै।
कहै कबीर कछु समुझि न पाइ,
या कछु बात अलेखै।
वही, पद १८१

२ सहजै सहजैं सब गए,
सुत बित कामिणिकाम।
एकमेक ह्वै मिलि रह्या,
दासि कबीरा रांम॥
सहज सहज सब कोइ कहै,
सहज न चीन्हैं कोइ।
जिन्ह सहजै हरि जी मिलै,
सहज कहीजै सोइ॥
—वही पृ० ४२ साखी ४०८

१ जन की पीर हो राजा रांम जानै
कहूँ काहि को मानैं।
नैन का दुख बैन जानै बैन का दुख श्रवनां।
प्यंड का दुख प्रान जानै प्रान का दुख मरनां।
आस का दुख प्यास जानै प्यास का दुख नीर।
भगति का दुख राम जानै कहै दास कबीर॥
—क० ग्रं० पद २८३

*हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बंबई से शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली पुस्तक कबीर के एक अध्याय में से

मध्यकालीन भारत में हिन्दुओं की स्थिति

डाक्टर मेहदी हुसेन एम ए., पी-एच. डी. (लन्दन), डी. लिट (पेरिस)

मैंने विश्ववाणी के नवम्बर अङ्क में उपर्युक्त शीर्षक से कुछ लिखा था। यह उसी के सिलसिले में दूसरा लेख है। उस पहिले लेख के पाठकों को यह विदित हो गया होगा कि हिन्दुओं की तत्कालीन दशा के विषय मे असत्य कल्पनायें फैली हुई हैं। यह भी कहा जाता है कि उस समय हिन्दुओं की आर्थिक परिस्थिति बड़ी शोचनीय थी और इसके लिये अला-उद्दीन खिलजी तथा मुहम्मद बिन तुगलक को दोषी ठहराया जाता है। परन्तु तत्कालीन इतिहास को देखने से इसका दूसरा ही रूप मिलता है, वह यह कि भारतवर्ष धन धान्य से परिपूर्ण था और हिन्दू बड़े धनाढ्य थे। उस काल के विदेशी यात्रियों के लेखों तथा उनकी लिखी हुई पुस्तकों से पता चलता है कि उस समय भारतवर्ष अतुल धन से भरपूर था। मसालिक-उल-अबसार* के सम्वाददाता भारतवर्ष के असख्य धन को और सुलतान मुहम्मद की बख-शीशों को देख देखकर चकित हो जाते थे। एक सम्वाददाता का कहना है कि "सुल्तान मुहम्मद इतना खर्च करता है, लेकिन उसके मुल्क की आधी आमदनी भी खर्च नहीं हो पाती।" इस सम्वाददाता ने लिखा है कि "सुलतान मुहम्मद ने कोई फ़तह हासिल की थी, जिसमें इतना सोना हाथ लगा था कि तेरह हज़ार बैलों पर लाद कर लाया गया था।" मसालिक-उल-अबसार के सम्वाददाता का कथन है कि "हिन्दुओं को धनोपार्जन और धन एकत्रित करने का चाव है। जब वह परस्पर मिलते हैं, तो एक दूसरे से पूछते हैं 'कहो तुमने कितनी रोकड़ इकट्ठी कर ली,' कोई कहता है कि 'मेरे घराने में मेरे दादा के समय से रुपया इकट्ठा हो रहा है और मैं द्रव्य-सचय करने वालों की दूसरी पीढ़ी मे हूँ,' तथा कोई कहता है कि 'मेरे वश में मेरे परदादा के समय से रुपया इकट्ठा होता चला आया है तथा मैं धन-एकत्रित करने वालों की तीसरी पीढ़ी में हूं जो द्रव्य कई पीढ़ियों मे एकत्रित होता चला आ रहा है, मैं उसका अनुमान क्या बताऊँ।' हिन्दुओं की आदत है कि रुपया इकट्ठा करने के अभिप्राय से अपने घरों में गड्ढा खोद लेते हैं, दीवारों में मोखे बना लेते हैं और उनका मुह बन्द कर देते हैं। बस एक छोटा सा छेद खुला रहने देते हैं, जिसके द्वारा उसमें रुपया डाल तो सकें, लेकिन निकालना आसान न हो। लेन-देन के समय वे बड़ी बुद्धिमत्ता से काम लेते हैं। इस डर से कि कहीं खोटा माल न आजाए, वह न तो चाँदी सोने के आभूषण लेते हैं और न टुकड़े। लेते हैं तो चाँदी सोने के सिक्के लेते हैं। कुछ हिन्दू घरानों में यह प्रथा प्रचलित है कि जिस किसी घर मे अशर्फियों की एक बोट (देग) भर जाती है, तो घर का मुखिया छत के ऊपर एक झण्डा गाड़ देता है। इस प्रकार एक एक मकान में दस दस झण्डियां गड़ जाती हैं। किसी किसी मकान की छत पर दस से अधिक झण्डियां मैंने अपनी आँखों से देखी हैं।"

शेख बरहानउद्दीन अबूबकर बन कला मुहम्मद बज्जी सूफ़ी का कथन है कि "सुल्तान मुहम्मद ने एक बार देवगढ़ के किसी निकटवर्ती शहर पर चढ़ाई

---

* मसालिक-उल-अबसार शहाबुद्दीन अहमद का प्रसिद्ध संकलन है। उसमें सुलतान मुहम्मद के समय की वे घटनाएं हैं जिन्हे तत्कालीन यात्रियों ने अपनी आँखों देखे हाल शहाबुद्दीन अहमद के सम्मुख वर्णन किये जिन्हें उसने उपरोक्त पुस्तक में लिख लिया था। वह स्वयं कभी भारतवर्ष नहीं आया। उसकी किताब का नाम मसालिक-उल-अबसार है। यह पुस्तक अब प्राप्य नहीं है। ब्रिटिश म्यूजियम में तथा पैरिस में उसकी एक जिल्द अब भी मौजूद है। उसी के आधार पर हमने यह लेख लिये हैं। मसालिक-उल-अबसार में चौदह प्रकरण हैं। पहले प्रकरण में हिन्द व सिन्ध के हालात हैं, उनसे चौदहवीं सदी ईसवी की दशा और सभ्यता का पता चलता है।

करने के अभिप्राय से सेना भेजी। देवगढ़ मे हिन्दू रहते हैं और वहाँ के अधिकारी राय कहलाते हैं। जब इस प्रदेश का राजा बादशाही सेना से तंग आ गया, तो उसने बादशाह से यह निवेदन कहला भेजा—'यदि बादशाह मुझे चैन से रहने दे, और मेरे राज्य से वापस अपनी राजधानी को चला जाय तो जितना धन वह मुझसे चाहे मैं उसकी राजधानी तक भेज देने का वचन देता हूँ। मेरे पास बादशाह केवल ढोने वाले जानवर भेज दे। उन पर खजाना लाद कर मैं उसकी राजधानी को भेज दूँगा।' जब बादशाह को यह मालूम हुआ तो उसने हुक्म दिया कि युद्ध बन्द कर दिया जावे और राजा को जीवित ही दरबार में लाया जावे। जब राजा बादशाह की शरण में लाया गया, तो बादशाह ने उसकी बड़ी आवभगत की और कहा—"यह तो बताओ कितना रुपया जानवरों पर लाद कर तुम मेरे पास भेज सकते हो?" राजा ने उत्तर दिया, "मुझसे पहले इस गद्दी पर सात राजा और बैठ चुके हैं। उनमें से हर एक ने एक एक खजाना छोड़ा है। हर खजाना मन्नर बबीन* का है और यह सब खजाने मेरे पास अब तक सुरक्षित हैं।" यह सुनकर बादशाह बहुत खुश हुआ और उसने आज्ञा दी कि इन सब खजानों पर शाही मुहरें लगा दी जायें। फिर उसने राजा से कहा कि दिल्ली चलकर रहो और इस सूबे मे अपना मंत्री तथा अधिकारी नियुक्त कर दो। उचित यह है कि तुम इस्लाम धर्म स्वीकार कर लो। राजा जब इस्लाम धर्म स्वीकार करने को राजी नहीं हुआ, तो बादशाह ने उसे अपने धर्म पर क़ायम रहने की इजाजत दे दी। राजा ने अपने राज्य के लिए सेनापति नियुक्त कर दिये और स्वयं बादशाह के साथ चला गया और उसके दरबार मे रहने लगा। बादशाह ने राजा के खर्च के लिए समुचित रकम बांध दी और उसका प्रदेश अपने राज्य में मिला लिया। चूंकि अब राजा की प्रजा बादशाह की प्रजा बन गई थी, इसलिये बादशाह ने समुचित धन उन लोगों में बाँटने के अभिप्राय से वहाँ भेज दिया। परन्तु बादशाह ने राजा के खजाने में से कुछ व्यय नहीं किया और उन सबको शाही मुहरें लगा कर छोड़ दिया।

सुल्तान मुहम्मद के शासन-काल में भारतवर्ष के सब शहरों मे हिन्दुओं की अधिकता थी और वे अच्छी दशा मे थे, उन्हें पूरी आजादी थी। किसी प्रकार का उन्हें कोई बन्धन न था। हिन्दुओं को अपने त्योहार मनाने की स्वतंत्रता थी। मुगल सम्राटों ने हिन्दुओं के रक्त मे अपना रक्त मिला दिया था। उन्होंने हिन्दू राजकुमारियों से विवाह किये। हिन्दुओं के साथ सुल्तान मुहम्मद का सम्बन्ध न तो पारिवारिक था और न कोई मित्रता का, बल्कि एक शासक के रूप में था। वह उनकी रक्षा करता, तथा उनका पक्ष लेता था। उसकी हार्दिक इच्छा रहती थी कि हिन्दू सब फले फूलें। वह उन्हें राजभक्त बनाना चाहता था। सुल्तान मुहम्मद का हिन्दुओं के साथ बिलकुल वैसा ही व्यवहार था, जैसा मुसलमान के साथ तथा हिन्दुओं का भी सुल्तान से कोई विरोध न था। उसके पच्चीस साल के शासन काल में हिन्दुओं के धार्मिक कामों को कोई धक्का न पहुँचा। किसी मन्दिर की ईंट तक नहीं निकाली गई। कांगड़ा विजय में एक भी मूर्ति न तोड़ी गई। एलोरा के मन्दिर दौलताबाद* के निकट थे। अगर सुल्तान को हिन्दुओं से कुछ दुश्मनी होती अथवा मन्दिरों को तोड़ने का सुलतान मुहम्मद का कोई सिद्धान्त होता तो, वह सब से पहले एलोरा के मन्दिरों को नष्ट भ्रष्ट करता। परन्तु यहां तो किसी मन्दिर को ठेस तक न पहुँचाई। हिन्दू घोड़ों पर सवार होते थे, हथियार बाँधते थे और तीर चलाते थे। सेना के ओहदे भी उनके लिये खुले हुये थे। अलाउद्दीन खिलजी के समय में भी हिन्दू

* बबीन का आशय एक बड़े हौज से है जिसके भीतर चारों कोने पर उतरने के लिये सीढ़ियां बनी होती हैं।

* दौलताबाद को सुल्तान ने अपनी मुख्य राजधानी तथा 'कुब्बतुल इसलाम' [इसलाम का चिन्ह] बनाया था।

सेनापति बादशाही सेना में मौजूद थे। सुल्तान मुहम्मद के शासन में तो उनका होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। ईरान या मुगलिस्तान की फतह के लिये जो लशकर थोड़े से वक्त में भरती किया गया था उसमें राजपूत भरे पड़े थे।

इस काल में हिन्दू मुसलमानों में पूरा सम्पर्क स्थापित था तथा मुसलमान सूफियों ने हिन्दुओं पर बेहद प्रभाव डाला था। हिन्दू बड़े बड़े सूफियों को ऋषियों की तरह समझते थे। सूफी बड़े उदार हृदय तथा शान्तिप्रिय होते थे। शेख निजाम उद्दीन औलिया की शिक्षा थी कि हिन्दू और मुसलमान दोनों समान हैं। सुल्तान शमसउद्दीन के समय में भारतवर्ष पर चंगेज़खानी मुग़लों (मंगोलों) के आक्रमण आरम्भ हो गये थे। हिन्दुओं को यदि आपत्ति थी तो मुग़लों* से, न कि मुसलमानों से। मुसलमानों को हिन्दुओं की सहायता करने के लिये ईश्वर ने भारतवर्ष में भेजा था, उनके द्वारा प्रकृति की इच्छा पूर्ण हुई तथा मुसलमानों ही के कारण हिन्दुओं को उनसे छुटकारा मिला।

* जो मुसलमान नहीं थे

इतिहास फीरोज शाही में लिखा है कि "मुसलमान सीना निकालकर मुग़लों के सम्मुख जाते और तलवारें मार मार कर उनके मुंह फेर देते!" मुग़लों के आक्रमणों का और मुसलमानों की योग्यता का एक बड़ा परिणाम यह निकला कि हिन्दुओं के हृदय में मुसलमानों के लिये स्थान हो गया और पारस्परिक सहानुभूति तथा केन्द्रीय शासन का बीज पड़ गया।

अलाउद्दीन खिलजी ने गाँवों की सामाजिक-परिस्थितियों में नये सिरे से सुधार किये। लोगों पर किये जाने वाले अत्याचारों को दूर किया। हिन्दू सरदारों तथा गाँव के चौधरियों के अत्याचारों को, जो वे अपने आश्रितों पर करते थे, रोका, और उसमें पूर्ण सुधार किये। अव्यवस्थित और बेढङ्गी बातों को सुव्यवस्थित तथा नियमानुकूल बनाया और समुचित नियम जारी किये। सुल्तान मुहम्मद ने हिन्दुओं को, जो पहिले से ही अच्छी दशा में थे और भी योग्य बना कर दिखाया *

*इन सब बातों का विस्तृत वर्णन मेरी किताब 'मुहम्मद बिन तुगलक' में पाठकों को मिलेगा। यह पुस्तक लन्दन में छपी है।—लेखक

मंझन (संस्कृति)

महात्मा भगवानदीन



अनगिनत बार सोचा विचारा पर कभी इस बात से तसल्ली न हुई कि आदमी कोरा जिस्म ही है। आदमी निरा मिट्टी का पुतला नहीं, इसमे जान भी है और यह जान जिस्म से बिल्कुल जुदी क़िस्म की चीज़ है। इसी जान को किसी बोली में आत्मा, किसी में रूह और किसी में सोल कहते हैं। इसका एक प्यार का नाम 'आपा' भी है।

मस्तक को हज़ारों बार समझाया कि देख तू ही सब कुछ है। मन को भी अनेकों बार कहा कि तू ही सब कुछ है। पर वे बहकावे में न आये और बोल उठे कि हम बोल नहीं रहे हैं; बज नहीं रहे हैं; बुलाये और बजाये जा रहे हैं। बोलने और बजाने वाला कोई और ही है।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है वह सिर्फ़ इस लिये कि मझन (संस्कृति) जैसे मज़मून पर आत्मा के माने बिना कुछ लिखा ही नहीं जा सकता।

यह आत्मा हमेशा से है और हमेशा तक रहेगा। जान भी इसी का नाम है और लफ़्ज़ जीना इसी जान से बना है। जानकारी भी इसी जान का एक रूप है। इसलिये जान अमर है, वह जीती ही रहेगी। उसका नाम उसकी ख़ासियत का सुबूत है। जान हमेशा से जिस्म के साथ है और उसी के साथ रहेगी। कुछ लोगों का यह भी ख़याल है कि जान जिस्म के साथ हमेशा से है तो मगर हमेशा रहेगी नहीं। यह बात ठीक है या ग़लत इस पर बहस की ज़रूरत नहीं। जान जिस्म के साथ हमेशा तक नहीं रहेगी, और कभी बिल्कुल ख़ालिस होकर भी रह सकेगी, ऐसा मान लेने मे हमारा कुछ फ़ायदा है या नहीं इसे एक ओर रखकर यह तो साफ़ ही है कि हमारा नुकसान कुछ नहीं है।

जान जिस्म के साथ हमेशा से है इससे तो हमारा कुछ नुक़सान नहीं, हमेशा उसी के साथ रहेगी, इसमे भी हमारा कुछ बनता बिगड़ता नहीं। पर टोटे की बात तो यह है कि जिस्म के साथ रहने से जान की रोशनी असली रंग लिये हुये न निकल कर जिस्म का रंग लिये हुये निकलती है। इतना ही नहीं बाहरी दुनियाँ की रोशनी हमारी जान तक ज्यों की त्यों न पहुंचकर जिस्म के रंग में रंगी हुई पहुँचती है, जिसकी वजह से सोसायटी का सही ढाँचा नहीं बन पाता। हम असली आनन्द का मज़ा नहीं ले पाते और सुख-दुख जैसी दो पहलू वाली चीज़ उस आनन्द की जगह बना बैठते हैं।

समझने के लिये बादल की गरज और बिजली की चमक लगनी तो चाहिये थी सुहावनी पर लगती है डरावनी। बच्चे ही नहीं बड़ी उम्र वाले भी उस

गरज और चमक से डर जाते हैं। डरता आदमी नहीं—वह मिट्टी का पुतला है। डरता जिस्म नहीं—वह मिट्टी है। डरती है जान—डरना जिसकी ख़ासियत नहीं। डर और बहादुरी दोनों ही जान की ख़ासियतें नहीं। जान तो अटल है। उसका यह अटलपना जिस्म के साथ मिलकर डर या बहादुरी का नाम पा लेता है। बहादुरी-बुजदिली भी सुख दुख की तरह जान और जिस्म ने मिलकर गढ़ी हैं। डर जान के ख़्याल से कोई चीज़ ही नहीं। शक होने पर जान और जिस्म मिलकर जिस बेतुकेपन से काम कर बैठते हैं, उसी का नाम डर पड़ गया है।

शेर के सामने आ जाने से जो डर आदमी को लगता है, उसके उस पर दो असर होते हैं। या तो वह घबराकर बेहोश हो जाता है या गुस्से में आकर उसे मारने लगता है। घबराहट और गुस्सा न जिस्म की ख़ासियत है न जान की। जान की ख़ासियत है हमेशा अटल बनी रहना। ऐसे मौक़े पर अटल बने रहने की ख़ासियत को किसी बोली में क्षमा किसी में अफो कहते हैं। शान्ति भी इसी का नाम है। गुस्सा और घबराहट इसी अटल रहने की ख़ासियत की नई चीज़ बन गये हैं।

शेर को मारते वक्त एक दूसरा ख़्याल भी साथ रहता है और वह ये कि हम शेर से बड़े हैं। इसका नाम है घमंड। घमंड भी न जिस्म की ख़ासियत है न जान की। जान की ख़ासियत है हमेशा एकसा बना रहना और अटल रहना। घमंड से बचकर अटल बने रहने की ख़ासियत को किसी बोली में समता कहते हैं किसी में कुछ। यही समता जिस्म के साथ मिलकर जब हमसे बाहर होती है तो घमंड बन जाती है।

एक तीसरी बात शेर को मारते वक्त हमसे ख़ा-मुख़ा हो जाती है। उस वक्त हम यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि हम शेर से बड़े हैं और इसके सुबूत में हम हाथों को फैलाते हैं, हवा भरकर बदन को फुलाते हैं यानी हम जो नहीं है वह बनकर दिखाते हैं। यह बनना भी न जान की ख़ासियत है न जिस्म की। जान की ख़ासियत है हमेशा अटल रहना। दिखावे के मौक़े पर अटल बने रहने को किसी बोली में 'ऋजुता' किसी में सरलता और किसी में कुछ और कहते हैं।

शेर को मारते वक्त एक बात और भी होती है। और वह ये कि हम समझते हैं कि हम दुनियां की सब चीज़ों के मालिक हैं, शेर नहीं। इसी ख़्याल का नाम है लालच। यह लालच भी न जान की ख़ासियत है न जिस्म की। जान की ख़ासियत है अटल रहना, अडिग रहना। लालच में न पड़कर अडिग रहने को किसी बोली में शुचिता और किसी में कुछ और कहते हैं।

बस अब यह समझ में आ गया कि जान की यह कोशिश कि जिस्म और बाहरी दुनियां के असर उसकी ख़ासियतों को बिलकुल न बिगाड़ सकें या कम से कम बिगाड़ सकें, सी का नाम संस्कृति है। संस्कृति की आख़िरी मंज़िल है, गुस्से, घमंड, दिखावे और लालच पर पूरा क़ाबू। यानी एक लफ़्ज़ में अपने को पहचान लेना और अडिग रहना। ऐसा कितने दिन में होगा यह कौन जाने। मुसलिम संस्कृति, हिन्दू संस्कृति, ईसाई संस्कृति वग़ैरः या हिन्दुस्तानी तमद्दुन, चीनी, तमद्दुन, रूमी तमद्दुन वग़ै. या पच्छमी कल्चर और पूरबी कल्चर जैसी चीज़ें कहां से पैदा हो गईं कौन जाने। संस्कृति, तमद्दुन, कल्चर मक्खन ये सब एक जान, आत्मा, रूह, सोल इन्हीं की हुआ करती हैं।

संस्कृति के लिये सीधा सादा लफ़्ज़ मक्खन बड़ा अच्छा लगता है। क्योंकि मक्खन में आत्मा अपने आपको हमेशा माँझती रहती है और यह जिस्म अदल बदल कर हमेशा उसे गदा करता रहता है। इसीलिये तो मानव समाज की या बनी नोय इंसान की इस तरफ की हुई कोशिशें सैकड़ों बार बरबाद हुई हैं हो रही हैं और होती रहेंगी। जब तक की आत्मायें इतनी न समझ जाय कि जिस्म और बाहरी असर उन पर कोई असर न डाल सके। वह दिन कैसा होगा उसकी ख़्याल के ज़रिये भी तसवीर नहीं खींची जा सकती।

सम्पादकीय-विचार

संस्कृति अङ्क

(१)

दुनिया के देशों और समाजों की इस समय की प्रधान आवश्यकताओं और उनकी समस्याओं को सामने रखकर 'विश्ववाणी' के ये विशेषाङ्क, 'संस्कृति अंक' के नाम से प्रकाशित किये जा रहे हैं।

इस समय की संसार की स्थिति पर हम जिधर भी नज़र डाले हमें एक ही दृश्य दिखाई देता है, जिधर देखो उधर एक संस्कृति या कलचर दूसरी संस्कृति या कलचर से टकरा रही है, ये सब अलग अलग संस्कृतियां इस समय एक दूसरे के साथ ज़िन्दगी और मौत के संघर्ष में जुटी हुई हैं।

पश्चिमी और पूरबी संस्कृतियां और सभ्यताएं आपस में भयंकर टक्करें ले रही हैं।

इन संस्कृतियों के मातहत हर देश, देशभक्ति को, यानी स्वयं अपनी सेवा और अपनी ही पूजा को, अपना असली मज़हब बनाकर, अपनी ही सभ्यता, संस्कृति और विशेषताओं को मानव जीवन का सार समझ कर, उन्हें चिपटे रहने और दूसरों को उनका अनुयायी बनाने के अथक प्रयत्न में लगा हुआ है।

इसके साथ साथ पुराने मज़हब और उनसे पैदा हुई और उनसे सम्बन्ध रखने वाली संस्कृतियां और तहज़ीबें, अपने आपको बाहरी हमलों से बचाए रखने की कोशिशों में, और भी ज़ोरों के साथ, अपनी पुरानी लकीरों की फ़कीर बन रही हैं।

इन मज़हबों के अन्तर्गत सैकड़ों सम्प्रदाएं अपने विशेष रस्म रिवाज, आचार विचार, खान पान, रहन सहन, लिबास, शादी विवाह इत्यादि को ही मानव संस्कृति का आख़री शब्द मानकर उन्हीं के मंत्र जपने को अपना असली मज़हब और ज़िन्दगी का असली मक़सद बनाए हुए हैं।

दूसरे देशों की तरह, बल्कि उनसे कहीं ज़्यादह भयंकर रूप में, ये सब संघर्ष जो हमने ऊपर दिखाए हैं हिन्दुस्तान के जीवन के टुकड़े किये डाल रहे हैं और हर तरफ़ से उसकी उन्नति और उसके निस्तार के रास्ते बन्द कर रहे हैं।

(२)

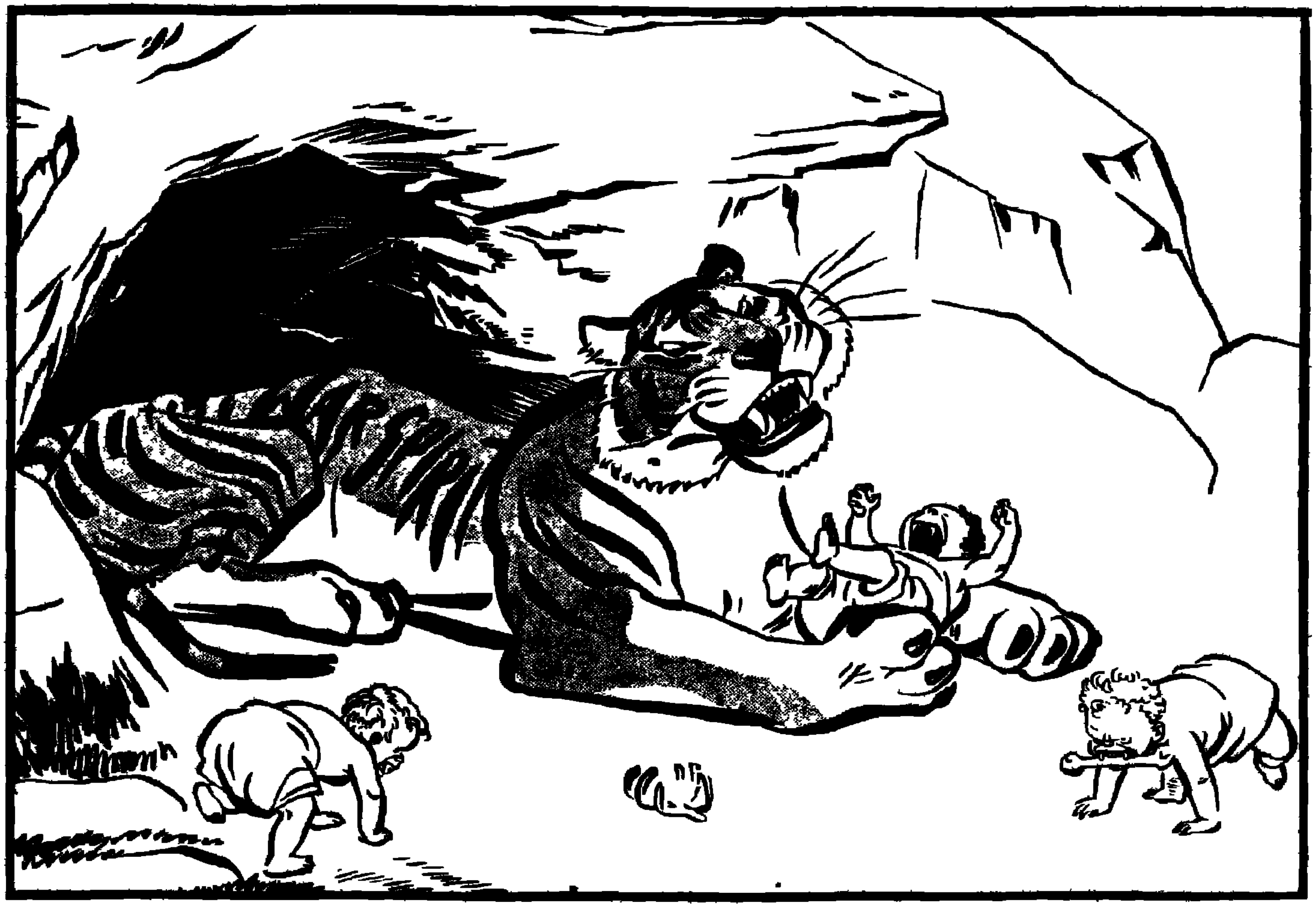
एक तरफ़ तो हर देश, हर जाति और हर सम्प्रदाय अपने अपने धार्मिक और सांस्कृतिक सांचों को सबसे अच्छा समझकर उन्हें इस तरह सुरक्षित रखने की कोशिशों में लगी हुई है; दूसरी तरफ़ प्रकृति और काल दोनों मिलकर अपनी चक्की, अपने मिश्रण-चक्र इतनी तेज़ी और ज़ोरों से चला रहे हैं कि इन्सानी ज़िन्दगी के अब तक के इतिहास में उसकी कोई मिसाल नहीं मिलती।

पहाड़, जंगल, रेगिस्तान, समुद्र, झीलें और नदियां जो इनसान के एक गिरोह को दूसरे गिरोह से स्थायी तौर पर अलग करके रखती थीं अब अपनी इस पुरानी ताक़त को बिल्कुल खो चुकीं।

रेलें, जहाज, हवाई जहाज, भाप, बिजली, सिनेमा, अख़बार, रेडियो वगैरह, जाने अनजाने सारे मनुष्य समाज को बड़ी तेज़ी के साथ एक सांचे में ढाल रहे हैं।

राजनैतिक मैदान में विराट साम्राज्य, जिनकी बुनियादें अपने मातहत देशों की आर्थिक और सांस्कृतिक ज़िन्दगी में भी गहरी पैवस्त होती जा रही हैं, और जो अपनी हकूमत को चलाने और लोगों की शहरी ज़िन्दगी को व्यवस्थित और काबू में रखने के लिए, एक से तरीक़ों और एक सी मशीनरी से काम ले रहे हैं, अनजाने और अपनी मरज़ी के ख़िलाफ़, इनसानी दुनियां को एक सांचे की ओर ले जा रहे हैं।

राजनीति की तरह ही तिजारत, उसका ढङ्ग, उसकी नीति, उसकी मिक़दार और उसका फैलाव, उसकी शिक्षा, उसकी संस्थाएं, उसके विषयों और उसके तरीक़ों की सार्वभौम समानता, साइन्स की



पश्चिमी-संस्कृति द्वारा प्रतिपालित बीसवीं सदी की मानव-जाति

[श्री डेविड लो के सौजन्य से]

तरक़्क़ी और दुनियां पर उसका प्रभुत्व, और इन सब के साथ साथ इनसानी दिल और दिमाग़ पर तर्क और न्याय की प्रधानता,—ये सब चीजें राजनीति के साथ मिलकर एक महान, अटल और बेरोक स्टीम रौलर की तरह, पुराने सांचों को कुचल कुचल कर और चूर चूर कर, समस्त मानव संसार में समानता और एक तल पैदा कर रही हैं।

इन सारी विराट शक्तियों के असर से समस्त पुराने मानव समाज के मज़हबी, राजनैतिक और आर्थिक सांचों का, अर्थात् उसकी सारी संस्कृति का नए सिरे से निर्माण हो रहा है। ऐसी स्थिति मे लाजमी है कि हम इन प्रश्नों की ओर ध्यान दें कि संस्कृति का वास्तविक स्वरूप क्या है, उसकी उपयोगिता क्या है, और संस्कृति किस तरह पैदा होती है या पैदा की जा सकती है।

बिना गम्भीरता के साथ इस ओर विशेष ध्यान दिये न हमें सच्चे रास्ते मिल सकते हैं और न सच्चे रास्तों पर चलने की हममें शक्ति पैदा हो सकती है, हमारे इन विशेषांकों का यही एक मात्र उद्देश्य है, और इसी उद्देश्य को सामने रखकर हम हिन्दुस्तान और दूसरे देशों के कुछ विचारशील विद्वानों की व्याख्याओं का संग्रह मुख़्तलिफ़ दृष्टिकोणों से लिखा हुआ अपने पाठकों के सामने पेश कर रहे हैं, इस आशा से कि इन से उन्हें अपने देश की सांस्कृतिक समस्याओं के उचित हल ढूंढ निकालने और उन पर अमल करने में सहायता मिलेगी।

(३)

इसके साथ साथ हम अपने पाठकों का ध्यान दो एक और बातों की तरफ़ दिलाना चाहते हैं।

यह एक आम ख़याल है और इस अंक के अकसर लेखों मे भी यह भावना झलकती है कि मानव उन्नति और उसका विकास एक कुचक्र में फंसा हुआ है। देश और जातियां बराबर संस्कृति और सभ्यता के ऊंचे से ऊंचे शिखरों पर पहुँचती रहती हैं और फिर नीचे से नीचे गर्तों में गिरती रहती हैं। इस ज़ाहिरा स्थिति ने हमारे दिलों पर यह असर डाल दिया है कि अभागी मानव जाति की क़िस्मत में ही कोई अन्तिम और स्थायी-उन्नत स्थल नहीं है।

यह विचार केवल भ्रम है। इस भ्रम का एक मात्र कारण यह है कि हम सार्वभौम मानव जीवन की ओर ध्यान न देते हुए अपनी कसौटी को अलग अलग जातियों के उन्नति और पतन की परीक्षा तक ही परिमित रखते हैं। अगर हम समस्त मनुष्य जाति के इतिहास पर एक व्यापक नज़र डालें तो हमें साफ मालूम हो जावेगा कि मानव जाति सामूहिक रूप से भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक तीनों क्षेत्रों में बराबर एक साफ़ सीधे और विशाल उन्नति-पथ पर बढ़ी चली जा रही है।

आदि-मानव और उसकी संस्कृति का इतिहास यह साफ साबित करता है कि नीची से नीची पाशविक हालतों से गुजरकर इनसान ने कैसे अपने बुद्धि बल द्वारा पशु संसार पर प्रधानता और प्रभुत्व हासिल कर लिया, मोहन जो दड़ो के खण्डहर यह बताते हैं कि आज से पांच हज़ार वर्ष पहले तक मानव जीवन और पशु जीवन में कितना गहरा और विशाल अन्तर हो चुका था। मोहन जो दड़ो एक अकेली ही ऐसी घटना नहीं है, बल्कि बहुत सी पिछले समय की मिटी हुई सभ्यताओं का एक बाक़ी रहा हुआ निशान है। मोहन जो दड़ो का और उन सभ्यताओं का, जिनका कि वह एक अवशेष है, अगर हम आजकल के मानव संसार की सांस्कृतिक स्थिति से मुक़ाबला करें तो हमे यह साफ नज़र आ जायगा कि पिछले पांच हज़ार साल में मानव संस्कृति के हर क्षेत्र में कितना ज़बरदस्त अन्तर पड़ा है और कितनी अधिक उन्नति हुई है। इसलिए वास्तव में सांस्कृतिक कुचक्र का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

दूसरी बात जो ध्यान देने योग्य है वह यह है कि इनसान ने हैवानों पर अपने बाहुबल से नहीं बल्कि बुद्धिबल से प्रभुत्त्व प्राप्त किया है। बुद्धिबल की सहायता से ही उसने अपने बाहुबल को बेहद बढ़ा लिया, जिसका मुक़ाबला हैवान किसी हालत में

न कर सके। इससे भी ज़्यादह मनुष्य की सांस्कृतिक उन्नति और शक्ति का पता इन कामों से लगता है कि धीरे धीरे समयान्तर में उसने पशुओं को मारने की जगह उन्हें पालना और उनसे काम लेना और दरख़्तों को काट फेंकने के बजाय खेती करना शुरू किया। पशुपालन और खेती के इस विकास ने ही मनुष्य के और पशु संसार और वनस्पति संसार के बीच संघर्ष और स्पर्धा की जगह सहकारिता और सहयोग के परस्पर सम्बन्ध को क़ायम कर दिया।

मानव संस्कृति के विकास के बाहुबल और सहकारिता ये दो ही राज-पथ हैं। एक ओर मनुष्य की भौतिक संस्कृति लकड़ी, पत्थर, ताँबे, काँसे, लोहे को अपनी उन्नति का सोपान बनाती हुई आग, भाप, बिजली इत्यादि के शिखरों पर पहुंचती है, और दूसरी ओर सहयोग और सहकारिता के क्षेत्रों में मानव संस्कृति बड़े से बड़े मज़हब, ऊंची से ऊंची सभ्यताएं और विशाल और विराट साम्राज्य उत्पन्न करती है। इस सारी सार्वांगिक चौमुखी और असीम उन्नति को देखने से हमें मनुष्य की पिछले ज़माने की कामयाबी और भविष्य की सांस्कृतिक उन्नति के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

अगर हम आजकल के मनुष्य का किसी जानवर से या उन जानवरों से, जैसे बन्दर, लंगूर, बनमानुस इत्यादि, जिनसे मनुष्य की उत्पत्ति कही जाती है, मुक़ाबला करें, तो हमें कुछ अन्दाज़ा हो सकता है कि मनुष्य की (१) शारीरिक संस्कृति (२) मानसिक संस्कृति (३) नैतिक संस्कृति (४) आध्यात्मिक संस्कृति (५) हृदय या भावनाओं की संस्कृति (६) सामाजिक संस्कृति, (७) कलात्मक संस्कृति इत्यादि सब क्षेत्रों में कितनी असीम उन्नति हो चुकी है साथ ही यह भी साफ़ ज़ाहिर है कि अभी तक मनुष्य की उन्नति-शक्ति का अन्त नहीं आया, बल्कि साधनों के बढ़ते जाने के साथ साथ इस उन्नति के फैलते और बढ़ते जाने की अनन्त गुंजाइश दिखाई देती है।

[४]

हमने ऊपर कहा है कि बाहुबल और सहकारिता दोनों ने मिलकर आजकल की इनसानी दुनिया की रचना की है। इन दोनों शक्तियों में से मानव समाज में किस को कौन सा स्थान दिया जावे यह सदा से सब में बड़ी समस्या रही है, और आज भी कोई दूसरी समस्या गम्भीरता और महत्व में इससे बढ़कर नहीं है। 'विश्ववाणी' के इन अंकों के लेखों में जगह जगह इस समस्या पर रोशनी मिलेगी। निस्सन्देह इस विषय में बहुत बड़े मतभेद हैं। हमारे ख़याल में इनसान का सांस्कृतिक इतिहास यह साफ़ बताता है कि मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन या उसकी सामूहिक सभ्यता दोनों धीरे धीरे पाशविकता और हिंसात्मक साधनों के इस्तेमाल को कम करके, और सहकारिता और नैतिक साधनों को बढ़ाकर ही अपने सांस्कृतिक लक्ष्य तक पहुँचने में अधिक सफल हुई हैं। इस विषय में भी भयंकर भ्रम हैं। इन भ्रमों का असली कारण यह है कि हम अकसर जीवन की जटिलता की वजह से व्यक्तिगत सांस्कृतिक विकास और सामाजिक सांस्कृतिक विकास दोनों के तात्विक स्वरूप को देख नहीं पाते। व्यक्तिगत और सामाजिक संस्कृति को समझने के लिये अगर हम मानव जीवन के इतिहास का गहराई और गम्भीरता के साथ विश्लेषण करें तो हम लाज़मी तौर पर एक ही नतीजे पर पहुंचेंगे, वह यह कि व्यक्तिगत संस्कृति का विकास, वह चाहे शारीरिक हो, मानसिक हो, नैतिक हो, या आध्यात्मिक दो अंशों में बांटा जा सकता है। एक व्यक्ति की जानकारी के क्षेत्र का अधिकाधिक विशाल होना, और दूसरे उन साधनों और उस शक्ति का पैदा होना जिनकी सहायता से मनुष्य अपने इस बढ़ते हुये ज्ञान को अपने पसन्द किये हुए नैतिक और आत्मिक सांचों में ढालने की कोशिश करता है। जब हम इस कोशिश और इन सांचों की परीक्षा करते हैं तो हम यह पाते हैं कि हर सभ्यता हर मज़हब और हर संस्कृति में इस प्रयत्न और इन सांचों का लगभग एक ही मौलिक स्वरूप रहा है, और वह स्वरूप है

हैवानी और शैतानी अंशों को कम करना और मानवी और दैवी अंशों को बढ़ाना। ये हैवानी और शैतानी अंश क्या हैं, या ये मानवी और दैवी अंश क्या हैं इसकी विस्तृत व्याख्या की यहां आवश्यकता नहीं है, केवल इतना कहना काफ़ी है कि हमेशा से काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, द्वेष, घृणा, स्वार्थ, घमण्ड, क्रूरता इत्यादि अर्थात् सारी हिंसात्मक वृत्तियों को दबाना और मिटाना और इनके स्थान पर संयम, क्षमा, उदारता, परोपकारिता, दया, प्रेम, निस्वार्थता, नम्रता, इत्यादि अर्थात् सारी अहिंसात्मक वृत्तियों को जगाना और बढ़ाना यही मनुष्य की व्यक्तिगत संस्कृति का सदा से सार रहा है। मनुष्य के सामूहिक जीवन की भी सब से महान सांस्कृतिक समस्या यही रही है कि इन्हीं हैवानी और शैतानी वृत्तियों को सामाजिक जीवन से कैसे निकाला जाय और इनसानी और दैवी वृत्तियों को कैसे उनकी जगह दी जाये।

(५)

इस महान समस्या के हल करने में इनसानी दुनिया को सबसे अधिक सहायता और सबसे अधिक रोशनी इस कल्पना से, इस मौलिक सत्य से, मिली है कि यह समस्त बाहरी दुनिया और इसका अलग अलग टुकड़ों में दिखाई देना केवल एक भ्रम है। इस अनेकता इस द्वैत और इस विस्तार के पीछे एक एकता एक व्यापक विश्वात्मा, एक शक्ति, एक अस्तित्व काम कर रहा है। हमारी साइन्स, हमारा सारा भौतिक ज्ञान भी अपनी असंख्य कठिन और कठोर मंज़िलें तय करता हुआ इसी नतीजे पर पहुंचता है कि हमारे पंच महाभूत, और वह अनगिनत 'एलिमेण्ट' या 'तत्त्व' जिनसे यह भौतिक संसार बना हुआ है, अन्त में एक ही अस्तित्व एक ही शक्ति के अनेक रूप हैं। हमारा भौतिक विज्ञान और आत्म-विकास अर्थात् हमारी भौतिक संस्कृति और आत्मिक-संस्कृति अथवा हमारी साइन्स और हमारा मज़हब गोकि इस विषय में एक ही नतीजे पर पहुंचे हैं फिर भी अभी तक भौतिक विज्ञान ने मानव जगत की नैतिक और आत्मिक सम्पत्ति को नहीं अपनाया। यही मानव संस्कृति के अन्तिम विकास की आख़िरी और सब में बड़ी रुकावट है। किन्तु ज्यों ज्यों भौतिक विज्ञान व्यक्तिगत और सामाजिक मनोविज्ञान की गहराइयों में पैठता जा रहा है, त्यों त्यों इस अन्तिम रुकावट के मिट जाने की सम्भावनाएं पैदा होती जारही हैं, और यद्यपि अभी रात ख़त्म नहीं हुई फिर भी उन सब लोगों को, जिनकी आत्माएं मानव कल्याण के लिये व्याकुल हैं, प्रभात की अरुणिमा दिखाई देने लगी है।

(६)

अन्त में हम एक बात और कहना चहते हैं। पाठक देखेंगे कि हम मानव संस्कृति के विषय को उसके तात्विक और व्यापक स्वरूप में ही दिखाने की कोशिश कर रहे हैं। इसके वह रूप जिनमें यह विषय कला, साहित्य, चित्रकारी, मूर्त्ति निर्माण, गान-विद्या, नृत्य-कला इत्यादि विषयों तक ही परिमित किया जाता है, केवल इस मौलिक और व्यापक रूप के फलों और फूलों के समान है, जिनका रङ्ग, रूप, रेखा और रस सब उस संस्कृति पर निर्भर होते हैं, जिसकी भूमि और वायुमंडल में ये फूलते फलते हैं। कला कला के लिए, (Art for Ar Sake, एक निरर्थक कल्पना है। मनुष्य के जीवन का सब से सूक्ष्म और आनन्द-मय अंश उसकी नैतिक और आत्मिक बुनियादों से पृथक नहीं किया जा सकता। इसीलिए गोकि कुछ लोग 'कला कला के लिए' की आवाज़ उठाते रहते हैं, लेकिन कला का इतिहास हमें दिखाता है कि कला किसी भी काल, सभ्यता या संस्कृति में मानव जीवन के बुनियादी सिद्धान्तों और आदर्शों से अलग होकर विकसित नहीं हुई। कला को उसके असली और सर्वोच्च स्वरूप में हम जहां कहीं देखते हैं, वह हमें आत्मिक और आध्यात्मिक जीवन के अलौकिक शृङ्गार के रूप में ही दिखाई देती है।

वास्तव में जीवन एक है और मनुष्य जाति एक है। मानव संस्कृति एक संस्कृति है और अलग अलग देशों और जातियों में उस संस्कृति के ऊपरी रंगों और रूपों के फरक हमें इस अनेकता के अन्दर उसी मौलिक एकता, उसी अद्वैत, उसी तौहीदे हक़ीक़ी को

साक्षात करने की ओर लेजा रहे हैं। निस्सन्देह सर्वोच्च कला वही कला है, जो मानव समाज को अपने इस विकास में मदद देती है।

संस्कृति अङ्क : दूसरा भाग

जिस समय हमने संस्कृति अङ्क के लिये देश और विदेश के विद्वानों को सामग्री भेजने के लिये लिखा था, उस समय हमें यह विश्वास न था कि हमें चारों ओर से इतना अधिक सहयोग और प्रोत्साहन मिलेगा। इस सहयोग और प्रोत्साहन को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृति की पुकार युग की पुकार है और यदि भारत के व्याकुल प्राणों को किसी वस्तु की आवश्यकता है, तो वह सांस्कृतिक समन्वय की ही।

प्रस्तुत अङ्क के पृष्ठों में संस्कृति अङ्क के लिये पूरे लेख नहीं आ सके। यदि कागज के दाम चौगुने न हो गये होते, तो संस्कृति अङ्क ५०० पृष्ठों का भी थोड़ा ही होता। इस अङ्क के १९८ पृष्ठों में भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित लेखों के लिये ही स्थान निकल सका। बाक़ी बचे हुए लेख इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि हम उन्हें फरवरी में संस्कृति अङ्क के दूसरे भाग के रूप में छाप रहे हैं। हमें डर है कि शायद फरवरी अङ्क में भी वे सब लेख न आ सकें।

अन्त में हम अपने आदरणीय कृपालु लेखकों का इस अङ्क को सफल बनाने के सहयोग के लिये हृदय से धन्यवाद देते हैं। यदि उनका सहयोग हमें प्राप्त न होता, तो हमारे जैसा तुच्छ और अयोग्य व्यक्ति भारतीय संस्कृति के प्रचार की महान जिम्मेवारी अपने ऊपर न उठा पाता।

किन्तु यह महान काम तभी अधिक व्यापक हो सकता है, जब हमारे स्नेही पाठक और पाठिकायें 'विश्ववाणी' के अधिक से अधिक प्रचार में हमारा हाथ बटायें। इस पिछले एक वर्ष में 'विश्ववाणी' के प्रति जो स्नेह और उत्साह उन्हों ने दिखाया है, वह हिन्दी समाज में एक अभूतपूर्व चीज है। 'विश्ववाणी' के जन्म के साथ ही पाठकों ने उसे हाथों हाथ उठाया है। फिर भी उनके इस स्नेह के बल पर ही हम यह कहने की ढिठाई कर रहे हैं कि जब तक 'विश्ववाणी' की स्थायी ग्राहक संख्या ५००० तक नहीं पहुँचती, तब तक हमें सन्तोष नहीं। जैसा कि 'विश्ववाणी' के पाठक जानते हैं कि भारतीय संस्कृति के प्रचार के पवित्र उद्देश्य से ही 'विश्ववाणी' ने जन्म लिया है। इसीलिये हमारा अपने पाठकों से अनुरोध है कि अधिक से अधिक ग्राहक बनाकर उसके प्रचार में वे हमारी मदद करें। अकेले इतनी बड़ी जिम्मेवारी उठा सकना हमारे लिये असम्भव है।

आज समाज की परिस्थिति दिन प्रति दिन अधिक से अधिक भयानक होती जा रही है। युद्ध की लपटें भारतीय देह-प्राण को भी स्पर्श करने लगी हैं। ऐसी परिस्थिति में 'विश्ववाणी' की जिम्मेवारी बेहद बढ़ गई है। हम यदि पाठकों के प्रति अपनी इस जिम्मेवारी का दसवां हिस्सा भी पूरा कर सके, तो अपना सौभाग्य समझेंगे।

छपने से रह गया

श्री राय कृष्णदास लिखित 'गंगा काठे की संस्कृति' नामक लेख की पहली टिप्पणी में 'आल इण्डिया रेडियो लखनऊ के सौजन्य से' जोड़ लें।

पाठकों से निवेदन

पिछले वर्ष के ग्राहकों के नये चन्दे हमें जिस क्रम से प्राप्त हुए हैं उसी क्रम से उनकी ग्राहक संख्या के नये नम्बर पड़े हैं। पाठकों से निवेदन है कि पत्र व्यवहार करते समय वे रैपर पर लिखी हुई अपनी नई ग्राहक संख्या का उल्लेख अवश्य कर दिया करें।

VISHWA-VANI January 1942 Registered No. A—704

संस्कृति अङ्क • दूसरा भाग

देश और विदेश के महान लेखकों ने 'विश्ववाणी' के संस्कृति अङ्क के लिये इतने अधिक और महत्वपूर्ण लेख भेजे हैं कि हमें संस्कृति अङ्क के और भाग प्रकाशित करने पड़ रहे हैं। जनवरी अङ्क के २०० पृष्ठों में तो भारतीय संस्कृति के ही पूरे लेख नहीं आ सके। इसलिये हमारा नम्र आयोजन है कि—

आगामी फ़रवरी अङ्क संस्कृति अङ्क का दूसरा भाग होगा

फ़रवरी अङ्क के लेखों की सूची

१ संस्कृति तो है ही नहीं—जार्ज बर्नर्ड शा
२ संस्कृति का मूल आधार—अलबर्ट आइन्स्टाइन
३ हमारे जीवन की संस्कृति—सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन
४ विज्ञान और भारतीय संस्कृति—सर सी वी रमन
५ भारतीय संस्कृति की नवचेतना—सर पी एस शिव स्वामी अय्यर
६ तलवार की संस्कृति—मेरिक डाव
७ अन्तर्राष्ट्रीय भाषा और राष्ट्रीय संस्कृतियाँ—अलबर्ट ग्यूरार
८ युद्ध और संस्कृति—श्री गोपाल हालदार
९ हम पीड़ित और शोषित निग्रो—और है हमारी भी संस्कृति—कुमारी ज़ोरा नील हर्स्टन
१० चीनी संस्कृति की नवचेतना—मैडम चियांग काइशेक
११ सोवियत् रूस में शिक्षा और संस्कृति—श्री बुद्धदेव बसु
१२ आर्यों का वर्तमान और भविष्य—अलबर्ट वाइटन
१३ सर्व धर्म समभाव—स्वामी दरबारीलाल सत्यभक्त
१४ हिन्दू न्याय विधान—सर सीताराम पाटकर
१५ रणजीतसिंह—सर शफ़ात अहमद ख़ाँ
१६ हिन्दू मुसलमानों के लिये विचारणीय प्रश्न—सर मिरज़ा इस्माईल
१७ हिन्दू मुस्लिम भाई भाई—श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य
१८ नव व्यवस्था—श्री शंकर गणपतराव कोकजे

इनके अतिरिक्त और अनेक लेख सुन्दर कहानियाँ और रोचक एकांकी नाटक आदि होंगे

'विश्ववाणी' साहित्य की निर्मल गंगा है

देश के सभी विद्वानों की राय है कि 'विश्ववाणी' का एक एक अङ्क हिन्दी साहित्य की स्थायी वस्तु है। हिन्दी पाठकों का धार्मिक और पवित्र कर्तव्य है कि साहित्य के इस नव-निर्माण में वे 'विश्ववाणी' का हाथ बटायें।

आज ही पत्र लिखकर स्थायी ग्राहकों में अपना नाम लिखाइये

वार्षिक मूल्य ६) एक अङ्क का ॥=)

मैनेजर, 'विश्ववाणी', इलाहाबाद

सम्पादक, मुद्रक और प्रकाशक—विश्वम्भरनाथ, विश्ववाणी प्रेस, साउथ मलाका, इलाहाबाद।

संरक्षक
पण्डित सुन्दरलाल

सम्पादक
विश्वम्भरनाथ

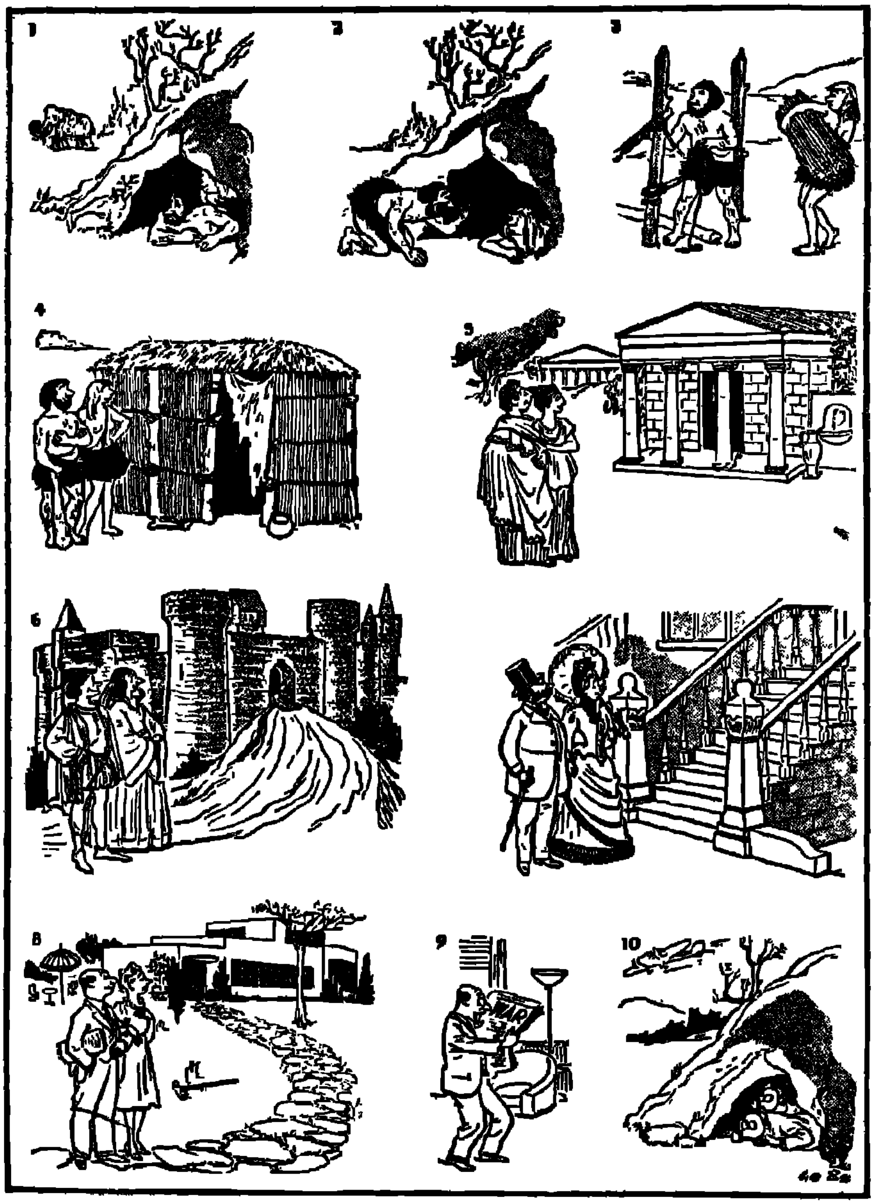
फरवरी १९४२

संस्कृति अङ्क . दूसरा भाग

वार्षिक मूल्य ६)   मैनेजर 'विश्ववाणी' इलाहाबाद   इस अङ्क का १)

विषय-सूची

फरवरी १९४२



पश्चिमीय सस्कृति के अन्तर्गत मानव-प्रगति

दयारे मग़रिब के रहने वालो, ख़ुदा की बस्ती दुकाँ नहीं है,
खरा जिसे तुम समझ रहे हो, वही ज़रे कम अयार होगा।
तुम्हारी तहज़ीब अपने ख़ंजर से, आप ही ख़ुदकुशी करेगी,
जो शाख़े नाज़ुक पे आशियाना बना वो, नापायदार होगा।

—इक़बाल

विश्ववाणी

युक्तप्रान्त, पञ्जाब, बम्बई, मद्रास, मध्यप्रान्त और बरार, होलकर राज्य, मेवाड़, जोधपुर, मैसूर और काश्मीर के शिक्षा विभागों द्वारा स्कूल और कालेज लाइब्रेरियों के लिए स्वीकृत

संरक्षक — पण्डित सुन्दरलाल

सम्पादक — विश्वम्भरनाथ

वर्ष २, भाग ३ | फरवरी, १९४२ | अङ्क २, पूरे अङ्क १४

उषा

अनु०—श्री महादेवी वर्मा

दिवजाता, शुभ्राम्बर-विलसित,
नूतन, आभा से उद्भासित,
भू-सुषमा की एक स्वामिनी,
शोभन आलोकित विहान दे!

दिन दिन नव नव छवि में आकर,
गृह गृह में आलोक बिछाकर,
ज्योतिष्मती प्रात की बेला,
ऐश्वर्यों में श्रेष्ठ दान दे!

अरुण किरण के वाजि, चन्द्र-रथ,
ले, करती जो पार कान्ति-पथ,
निशि-तम-हारिणि यह विभावरी,
हमें यजन-गौरव महान दे!

जन न ठहरते पथ में पग धर,
खग न रुके नीडों में पल भर,
जिसका उदय विलोक वही,
अरुणा अब हमको सजग प्राण दे!

सुगम तुझे गति है अचलों पर,
सुतर शान्त लहरों का सागर,
निश्चित क्रम, विस्तृत पथचारिणि,
स्वतः दीप्त तू हमें मान दे!

जागे द्विपद चतुष्पद आकुल,
दिग्दिगन्तचारी पुलकाकुल,
जिसका आगम देख, उषा वह,
कर्म-पथ सबको समान दे!

[ऋग्वेद, उषः सूक्तों की कुछ पंक्तियां]

संस्कृति तो हो ही नहीं सकती !

श्री जार्ज बर्नर्ड शा

आज जबकि दुनिया का प्रत्येक राष्ट्र और प्रत्येक शासन प्रणाली हिंसा और बर्बरता से जनता के दिलों और दिमागों को दूषित बनाने के अथक प्रयत्न में व्यस्त है, मानव की सांस्कृतिक एकता की बात कहना सुनसान बियाबान में आवाज लगाने के समान है।

आज पश्चिमीय और पूर्वीय क्षितिज से एक ही ध्वनि सुनाई पड़ रही है—बदला! भयङ्कर बदला! रुधिर! नदी के प्रवाह की तरह बहता हुआ मानव रुधिर! शान्ति की बात सुनाने वाले के टुकड़े टुकड़े कर डालो! उसे आजन्म कारागार में डाल दो! उसे सूली पर चढ़ा दो!

कितने आश्चर्य की बात है कि घृणा के इस दावानल के बीच में जो एक व्यक्ति मानव स्वभाव की परोपकार वृत्ति पर विश्वास रखता है, वह क़ानून की दृष्टि में एक मुजरिम मात्र है! वह भयंकर अपराधी है और आज दुनिया के किसी देश में भी जेलखाने या सूली के अतिरिक्त उसके लिये कोई जगह नहीं। इनसानी भेड़िये उसी के खून से अपने हिंसात्मक राजपथ की लीक डालना चाहते हैं।

यदि मानव रूपी यह खूंखार दानव केवल एक व्यक्ति या एक राजनैतिक गिरोह की आकांक्षाओं का परिणाम है, तो उस समय की भयंकरता की कल्पना कीजिये जब समस्त मानव जाति में ये आकांक्षायें अंकुरित हो उठेंगी।

आज संसार भर में हत्या की भावना सर्वव्यापी दिखाई दे रही है। इस भावना को संगठित रूप से प्रत्येक हुकूमत प्रोत्साहन देती है। जगह जगह अजायब घरों में स्पिरिट में रखे हुए नरकंकाल दिखाई देंगे। पुराने जमाने के नरभक्षी कापालिक भी इतनी अहतियात से इनसान की खोपड़ियों को सहेज कर न रखते थे। हर अंगरेज़ का हण्टर पर स्वाभाविक विश्वास है। यहूदी क़ानून मानव-भावनाओं का ख्याल तो रखता था और किसी को ४० से अधिक कोड़ों की सजा की अनुमति न देता था। किन्तु १८ वीं और १९ वीं सदी में अंग्रेज सैनिकों को एक एक हजार बेतों तक की सजा दी जाती थी। इङ्गलिस्तान में अब तक स्कूलों, फौजी जेलों, जहाजों और घरों में बेतों की सजा का रिवाज है। इस सजा की भावना ने ही हमारी यह वृत्ति बना दी है कि बल प्रयोग द्वारा दूसरों को डरा कर ही अपनी बात आसानी से मनवाई जा सकती है। इस डर की प्रवृत्ति ने ही हिंसा को आज इतना सर्वव्यापी बना दिया है। देशभक्ति, सार्वजनिक राय, माता पिता के कर्तव्य, अनुशासन, धर्म और नैतिकता डराने धमकाने और हिंसा के ही मधुर और सुन्दर पर्यायवाची नाम हैं। क्रूरता, अतृप्ति और आशंका इस डर को क़ायम रखने में मदद देती हैं।

हम एक बछड़े का गला काटकर उसे उलटा लटका देते हैं कि उसका एक एक बूंद खून निकल जाय ताकि हमारे कबाबों में सफेदी रहे। हम हजारों पक्षियों को महज इसलिये नष्ट कर देते हैं कि हमारी स्त्रियाँ उनके परों से अपने हैटों को सजा सकें। हम पालतू पशुओं को बड़े चाव से टुकड़े टुकड़े करते हैं और अपनी इस बर्बर वृत्ति से हमें मानसिक आनन्द मिलता है। अपनी विविध बीमारियों के इलाज के लिये हम पशुओं को क्रूर से क्रूर यातनाएं देकर मारते हैं, ताकि उनसे तरह तरह के इंजेक्शन तय्यार कर सकें।

मध्ययुग में अन्य मतावलम्बियों का इन्क्वीज़ीशन के द्वारा अन्त कर दिया जाता था या किसी समय उन्हें ज़िन्दा जला दिया जाता था। किन्तु इस तरह के दण्ड पाने वाले व्यक्ति दयावान और धार्मिक समझे जाते थे और समझे जाते हैं। किन्तु आज

अमरीका में केरोसिन तेल में डुबाकर जिस निग्रो को ज़िन्दा जलाया जाता है, वह केवल निग्रो नेक व्यक्ति तक नहीं समझा जाता। सभ्य, परोपकारी, उच्चादर्श वाले नागरिकों द्वारा सूली पर चढ़ाया हुआ वह निग्रो केवल अपराधी मात्र है। हमारे नैतिक दानव आज सभ्यता के नाम पर जो कुछ कर रहे हैं उसके मुक़ाबले में सेण्ट बार्थोलोमियो के धार्मिक हत्याकाण्ड हेच हैं। इस समय की परिस्थिति को देखकर यही प्रतीत होता है कि यदि नैतिक दृष्टि से अधिक उन्नत प्राणियों ने हमारी जगह न ली तो संसार खूंख्वार पशुओं के रहने की मांद मात्र रह जायगा।

इसके जवाब में हमसे यह कहा जाता है कि मनुष्य के अन्दर यह जो पशुवृत्ति जाग उठती है यह तो क्षणिक है और युद्ध के समय ही इसका प्रदर्शन होता है और नैतिक दृष्टि से इस समय का मानव अपने पूर्वजों की अपेक्षा कहीं अधिक उन्नत है।

किन्तु इस तरह की निरन्तर नैतिक उन्नति के दावे को सच्चा साबित करने के लिये ठोस प्रमाण मिलने चाहियें। यदि पड़दादे से पड़पोते तक उन्नति का यह क्रम लगातार चला होता, तो पिछले हज़ार वर्ष में मानवता ने अभूतपूर्व सामाजिक उन्नति की होती। किन्तु कोई भी व्यक्ति अपने इस दावे के समर्थन में ऐसे प्रमाण नहीं पेश कर सकता, जो जिरह के सामने ठहर सकें।

यदि हम संसार के प्राचीन निवासियों से अपनी तुलना करें, तो हमें पता चलेगा कि बावजूद इतिहासकारों के खोजपूर्ण वक्तव्यों के, उस काल से लेकर आज तक, नैतिक दृष्टि से हमने कोई खास उन्नति नहीं की।

व्यक्तियों और कुटुम्बों की तरह राष्ट्रों ने भी उन्नति की है और उसके बाद अवनति के गर्त में गिरे हैं। पुरातत्व विभाग द्वारा खुदाई से निकले हुए हज़ारों वर्ष के प्राचीन घरों में सफ़ाई और स्वच्छता के वही वैज्ञानिक नियम अमल में लाये जाते थे, जो आजकल लाये जाते हैं। हम यह समझते हैं कि मानव जाति ने निरन्तर उन्नति की है और मनुष्य ने अपनी सम्पूर्ण शक्तियां मानव जाति की उन्नति में ही लगाई हैं। यह इत्तफ़ाक़ की ही बात है कि खुदाई से कुम्हार का चक्का, ईंट, सेफ़्टी पिन बारूद, चुम्बक आदि वस्तुयें निकल आई हैं और यह हम जान गये हैं कि जिन वैज्ञानिक खोजों पर आज के मनुष्य को नाज़ है, वे वैज्ञानिक खोजें आज से हज़ारों वर्ष पूर्व लोग ईजाद कर चुके थे।

किन्तु क्या कोई व्यक्ति गम्भीरता के साथ इस पर विश्वास कर सकता है कि पाँच हज़ार वर्ष पूर्व रथ के एक सारथी की अपेक्षा आज के हवाई जहाज़ का एक उड़ाका नैतिक दृष्टि से कहीं अधिक उन्नत मानव है? या आज का एक प्रधान मंत्री सीज़र की अपेक्षा कहीं अधिक सुसंस्कृत शासक है चूंकि वह हवाई जहाज़ और मोटर पर चढ़ता है और टेलीफ़ोन पर बात करता है?

तब फिर यह निरन्तर सांस्कृतिक उन्नति का दावा क्यों किया जाता है? आज का मानव जिस परिस्थिति में है, उसमें उसकी राजनीति, उसका विज्ञान, उसका धर्म, उसकी शिक्षा और उसकी कला उन्नति के मार्ग में उसे एक इञ्च भी आगे नहीं बढ़ा सकते।

यह देख कर ताज्जुब होता है कि संसार के सभ्य राष्ट्र हर तीसरे वर्ष अपने यहां की म्युनिसिपैलिटियों के क़ानूनों को तो दोहराते हैं, किन्तु सामाजिक और धार्मिक विश्वासों को ३०० वर्ष में भी नहीं दोहराते। सड़ी गली वस्तुओं से चिपटे रहने की यह भावना प्रकट करती है कि आज के मानव को नये तरह से निर्माण की ज़रूरत है।

किन्तु यह नव निर्माण किस ढङ्ग का हो? कुछ लोगों का विश्वास है कि प्राचीन कालीन जीवन का तरीक़ा ही अधिक सुखी और अधिक उपयुक्त था। कुछ लोग इसी बात का स्वप्न देखते हैं कि मशीनों को उंगली के इशारे से नचाकर जीवन को और अधिक पेचीदा बनाया जाय। कुछ लोग मशीनों को इसलिये पसन्द करते हैं कि वह हमारी मेहनत को आधा कर देती है। कुछ लोग उसे इसलिये महत्व देते हैं कि वह हर घण्टे देश की दौलत को बढ़ाती है। कुछ

लोगों को यदि दो सौ पौण्ड की वार्षिक आय पर सन्तोष है, तो कुछ को स्वर्ग के लिये बीस हजार पौण्ड वार्षिक चाहिये। कुछ लोग काम के लिये कम से कम समय देना चाहते हैं और अधिकतर समय विज्ञान, कला, अध्यात्म, दर्शन, धर्म, खेल कूद और दूसरे अन्वेषणों के लिये लगाना चाहते हैं। एक बड़ी तादाद है जो किसी तरह के झमेले में नहीं पड़ना चाहती। वह अपनी उन्नति के किसी कार्यक्रम तक को सोचना नहीं चाहती। जन साधारण की यह तादाद चाहती है कि दूसरे ही उसके लिये सोचा करें और उसे बता दिया करें कि उसे कब क्या करना चाहिये। वे निर्विचार जीवन ही बिताना पसन्द करते हैं और यदि उन्हें अपने सम्बन्ध में सोचने के लिये स्वतन्त्र छोड़ दिया जावे, तो वे हैरान और परेशान हो जायगे। जो व्यक्ति अपनी गली के मोड़ से बाहर निकलकर यह जानने तक की तकलीफ गवारा नहीं कर सकता कि दुनियाँ गोल है या चपटी, उसके लिये वैज्ञानिक अनुसन्धान का जीवन नर्क साबित होगा। अनेक लोग विभिन्नता में ही सृष्टि की एकता की बात करते हैं किन्तु कुछ लोग ऐसे हैं, जिनका यदि वश चले तो वे सृष्टि को नष्ट ही कर डाले।

मानव जाति की सांस्कृतिक उन्नति के लिये हमे कोई भी एक मध्य बिन्दु मानकर चलना होगा। इस बात पर सभी सहमत होंगे कि अशिक्षा को जड़ से दूर किया जाय और शिक्षा का एक व्यापक मापदण्ड बनाया जाय। किन्तु सब लोग इस पर राजी न होंगे कि शिक्षा के मापदण्ड की तरह धर्म का भी ऐसा मापदण्ड बनाया जाय, जो सबको माननीय हो। संसार से धर्म को मिटाने के जितने भी प्रयत्न किये गये, वे सब व्यर्थ साबित हुए। प्रकृति ही शायद इस सम्बन्ध में रीता रीतापन सहन नहीं कर सकती। लेकिन धर्म के मामले में समझौते की भी कोई गुञ्जाइश नहीं। मिसाल के तौर पर मैं अपनी ही बात कहूं। मै प्राणियों के क्रमागत विकास पर और समाज वाद के आर्थिक सिद्धान्तों पर विश्वास करता हूँ। मैं इस तरह का भोजन पसन्द नहीं करता, जिसमें मनुष्य, मछली, पक्षी या अन्य पशुओं के मृत शरीर शामिल हों। किन्तु मेरे पड़ोसी को मुझसे मौलिक मतभेद है। उसके अनुसार प्राणियों के क्रमागत विकास पर विश्वास करने वाला प्रत्येक व्यक्ति नरक में जायगा, बच्चे बग़ैर गोमांस के कबाब के निर्बल होकर मर जायेंगे, और बग़ैर व्यक्तिगत जायदाद के सभ्यता नष्ट हो जायगी। बचपन में अपनी धार्मिक शिक्षा के अनुसार मैं सोचा करता था कि हर रोमन कैथॉलिक अवश्य दोज़ख की आग में जलेगा और स्वर्ग प्रोटेस्टैण्टों के लिये सुरक्षित है। आज मेरा उन भावों पर विश्वास नहीं। किन्तु मेरे इस अविश्वास पर प्रोटेस्टेण्टों को तरस होगा कि मैं निश्चय ही मरने के बाद नरक में जाऊंगा। जिन विश्वासों ने इस तरह की कैफियत पैदा कर रखी है, उनमें जब तक परिवर्तन नहीं होता, तब तक सांस्कृतिक आधार की बात भी नहीं सोची जा सकती। संस्कृति के आधार तो शान्ति और सहनशीलता ही हो सकते हैं।

इस समय भी इङ्गलिस्तान के सबसे ऊंचे धार्मिक व्यक्ति युद्ध को मानव कल्याण के लिये अहितकर और मूर्खतापूर्ण समझते हैं। किन्तु मसीह की तरह उन्हें इस बात की इजाजत नहीं हो सकती कि वे फौजी दस्तों के पास जाकर बाइबिल का यह वाक्य दोहराएँ—"मनुष्य मात्र आपस में भाई हैं फिर एक दूसरे के प्रति अन्याय क्यों करते हो?"

मैं इस बात को मानने के लिये क़तई तय्यार नहीं कि इस युद्ध की जिम्मेवारी जर्मनी पर अधिक है, अथवा जर्मनी और जापान की अपेक्षा ब्रिटिश साम्राज्य या अमरीका में नागरिक स्वतन्त्रता कहीं अधिक है। हिन्दुस्तान की ही मिसाल ले लीजिये। शान्तिमय विचारों को व्यक्त करने की भी वहाँ स्वतन्त्रता नहीं। अमरीका में ऐसी सैकड़ों पुस्तकें ज़ब्त हैं, जिन्हें यूरोप की हर जबान में लोग ख़रीद सकते हैं।

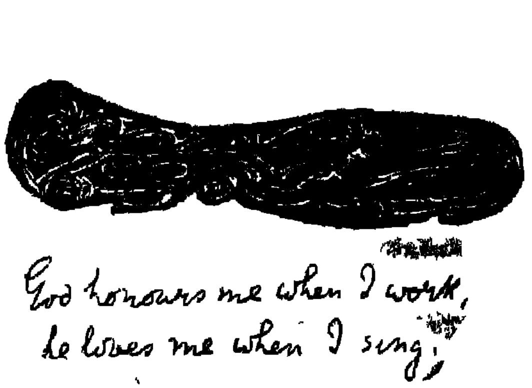
हिटलर की सफलता का राज़ आसानी से समझा जा सकता है। वारसाई के बाद पराजित, पददलित, अपमानित और लाञ्छित जर्मनी की मानरक्षा के बुलन्द नारे ने ही हिटलर को इतनी ज़बरदस्त शक्ति और

सफलता दी। आज जबकि देशों की सीमाएं टूट रही हैं और सिंहासन पलट रहे हैं शान्ति और सहनशीलता का प्रश्न अत्यधिक महत्व धारण कर लेता है। संसार का त्राण और उद्धार सांस्कृतिक उपायों से ही हो सकता है। नफरत की ज्वालामुखी सुलगाकर हम अपने ही चारों ओर नाश की वह फसल बो रहे हैं, जिन्हें हम और हमारे उत्तराधिकारियों को काटना पड़ेगा। अत्याचार की प्रवृत्ति हत्या और रक्तपात को प्रोत्साहन देती है और नर हत्या एक ऐसा भयङ्कर तमाशा है, जो सभ्यता के नियमों के विरुद्ध मनुष्य के अन्दर जंगली और असभ्य भावनाओं को जाग्रत कर देता है।

मध्ययुग के पादरियों का यह विश्वास था कि यदि उन्होंने कोई बेउसूली बात की, तो मरने के बाद उन्हें किसी भयङ्कर विपत्ति में फंसना पड़ेगा। किन्तु आज भौतिक शिक्षा प्राप्त लोगों के हृदय से यह भय भी निकल गया है। मध्ययुग का पादरी आज के राजनीतिज्ञों की तरह कभी भी आत्माविहीन न था।

दुनिया की प्रगति के इतिहास को देखते हुए हमें यह मानना पड़ेगा कि समाज का संचालन असहनशीलता पर ही क़ायम है। इस लिहाज़ से आज के युग में और मध्ययुग की स्थिति में ज़र्रा भर भी फ़र्क़ नहीं आया। मध्ययुग में हर व्यक्ति को लाज़मी तौर पर बपतिस्मा कराना पड़ता था। आज के युग में हर व्यक्ति को लाज़मी तौर पर टीका लगाना पड़ता है। आज भी लड़ाई के ज़माने में हम बाइबिल का प्रचार बन्द कर देते हैं और सच्चे ईसाइयों को जेलख़ाने के अन्दर बन्द कर देते हैं। युद्धविरोधी बात कहने वाले पत्रों का गला घोंट देते हैं और रात को रोशनी करने वाले को सख़्त सज़ा देते हैं। इनक्वीज़ीशन की प्रथा आज भले ही बन्द हो गई हो, किन्तु उसके दूसरे महाभयंकर पर्यायवाची 'युनिटिड एक्सपीडिशन' और 'मार्शल ला' के नाम से जारी हैं।

सांस्कृतिक बुनियादों को पुख़्ता करने के लिये छोटे मोटे सुधारों से काम न चलेगा। जब तक जनता का दिल और दिमाग़ न बदलेगा, बड़े से बड़ा व्यक्ति भी किसी तरह के सांस्कृतिक आन्दोलन को सफल नहीं बना सकता और इस तरह का परिवर्तन तभी हो सकता है, जब जनता अपनी परिस्थिति से ऊपर उठने का फैसला करे। जनता की सुरुचि, मान, न्याय, नैतिकता आदि सभी बातों के मापदण्डों को उन्नत बनाना होगा। लेकिन इसका सब से बड़ा ख़तरा यही है कि जनता ही इस तरह के आन्दोलन की सबसे बड़ी विरोधी होती है। किन्तु जब तक यह आन्दोलन सफल नहीं होता, तब तक इस युग के संचालन के आधार राजनीति और तिजारत भले ही हों संस्कृति तो हो ही नहीं सकती।



विश्व-शान्ति के उपासक पर

श्री केशवप्रसाद पाठक एम ए

कौन बोला ?
आज संसृति के शिखर से कौन बोला ?
प्रेम, कविता, धर्म, दृढ़ता, ज्योति जड़ता में समेटे;
पश्चिमी, तन्द्रिल तमिसा मृत्यु की चादर लपेटे;
सृष्टि को ले सो रही थी;
और मानवता स्वयं जब चेतना-सी खो रही थी;
तिमिर-छलनाएँ छिपाए चिर सजग षड्यन्त्र का क्रम;
हँस सहज फैला रही थी मधुर सपनो का सरल भ्रम;
पूर्व मे पहले प्रहर किसने सुनहला द्वार खोला ?

कौन बोला ?
आज जागृति के शिखर से कौन बोला ?
कौन अपनों को नहीं भाता, किसे प्यारा न अपना ?
हो गया सबसे अधिक प्रिय बन चुका जो एक सपना।
लुट चुका सर्वस्व जिसका;
विश्व की स्वाधीनता पर स्वर रहेगा उच्च किसका ?
सीकचों में पड समझता वह कि यह स्वातन्त्र्य क्या है ?
बोल पिञ्जर जड बना, होना कभी परतन्त्र क्या है ?
उठ कि बन्दी कीर ने भी चीर तीली उर टटोला।

कौन बोला ?
आज परिणति के शिखर से कौन बोला ?
स्वार्थ के सिक्के जहा पर, हाट हिंसा की लगी है;
और पशु की शक्ति की प्रभुता जहाँ पर जिन्दगी है।
हृदय-अणु विज्ञान-क्षण मे;
पिघल, घुल हैं नित्य बनते नव विषैले गैस रण में।
यन्त्र में मस्तिष्क ने अपना नया आदर्श खोजा;
हो गई राष्ट्रीयता पर जब मनुजता एक बोझा;
प्राण से मानव-तुला पर बोल किसने प्यार तोला ?
कौन बोला ?
आज उन्नति के शिखर से कौन बोला ?

संस्कृति का मूल आधार

श्री अलबर्ट आइन्सटाइन

किसी भी व्यक्ति का सांस्कृतिक महत्व इस बात पर निर्भर करता है कि उसने अपने 'अहम्' से अपने को कितना बन्धन-मुक्त कर लिया है। दूसरों की कृपा और देन पर ही व्यक्ति का जीवन फूलता फलता है। अपने सम्पूर्ण जीवन को देख जाइये और फिर बताइये कि व्यक्ति दूसरों पर कितना निर्भर रहता है। दूसरे लोग अनाज उगाते हैं और हम उसे खाते हैं। दूसरे लोग कपड़ा बुनते हैं और हम उसे पहनते हैं। दूसरे लोग मकान बनाते हैं और हम उनमें रहते हैं। जीवन के पहले घण्टे से मृत्यु की अन्तिम घड़ी तक हम कितने निर्भर रहते हैं दूसरों पर। और यह कितने भोलेपन और अज्ञान की बात है कि अपनी निर्भरता को हम अभिमान से 'अधिकार' की बात कहते हैं और दूसरे उसे 'शोषण' के नाम से पुकारते हैं। वह व्यक्ति की संस्कृति ही है जो उसकी आत्मा को मांजकर दूसरों के उपकार के एवज उसे नम्र और विनत बनाती है। संस्कृति ही आत्मा के बाह्य सौन्दर्य को विकसित करती है। संस्कृति की कमी ही व्यक्ति को कुरूप और विकृत बना देती है। जितना जितना व्यक्ति मन क्रम वचन से दूसरों के प्रति उपकार की भावनाओं और विचारों को प्रधानता देगा, उसी अनुपात से समाज में उसका सांस्कृतिक महत्व बढ़ेगा। दूसरों के प्रति की गई भलाई अथवा बुराई को ध्यान में रखकर ही हम किसी व्यक्ति को भला या बुरा कहते हैं। सामाजिक सद्गुण ही, जिनमें दूसरों के प्रति अपना कर्तव्य पालन या परोपकार की भावना प्रमुख है, व्यक्ति की संस्कृति को प्रौढ़ बनाते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि समाज ही प्रमुख है और व्यक्ति का कोई महत्व नहीं। बल्कि यदि ध्यान से देखा जाय, तो समाज में भौतिक, आध्यात्मिक और नैतिक जितनी भी उन्नति हुई है, वह सदियों के दौर में व्यक्तियों की प्रतिभा का ही परिणाम है। आग के इस्तेमाल और खेती के तरीक़े से लेकर स्टीम एञ्जिन और रेडियो के अन्वेषण तक किसी



श्री आइन्सटाइन गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के साथ
[बर्लिन १९३०]

न किसी एक व्यक्ति की ही सूझ के परिणाम हैं।

व्यक्ति सोचता है और समाज के लिये नए मापदण्ड बनाता है। वह समाज के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाता है। व्यक्ति के सृजनशील मस्तिष्क और स्वाधीन चेतना के बग़ैर समाज की उन्नति उसी तरह असम्भव है, जिस तरह समाज की उर्वरा भूमि के बग़ैर व्यक्ति की उन्नति असम्भव है। किन्तु हमारी मौजूदा सभ्यता ने व्यक्ति के महत्व को बेहद कम कर दिया है। मौक़े-बे मौक़े सदा हमें यह याद दिलाई जाती है कि—संस्था ही सब कुछ है व्यक्ति का कोई महत्व नहीं! बड़े से बड़े व्यक्ति को संस्था के हित में बलिदान किया जा सकता है! किन्तु प्रकृति का कोई क्या करे कि महान आत्माएं महान से महान संस्थाओं से भी महान होती हैं और महान से महान संस्थाओं के साँचे भी महान आत्माओं को नहीं ढाल सकते! व्यक्ति अपने आपे को मारकर ही महान बनता है। लेकिन जब से आजकल की शुद्ध भौतिक सभ्यता ने महत्व पाया है, कम से कम यूरोप में, महान आत्माओं की संख्या भी घटती ही जाती है। बड़े से बड़े कूटनीतिज्ञ और निरंकुश शासकों को पैदा करने में हमारी इस भौतिक सभ्यता ने अवश्य सफलता पाई है, किन्तु महान आत्माओं के पैदा करने में नहीं। गान्धी जैसी महान आत्माएं तो सांस्कृतिक मन्थन से ही पैदा होती हैं।

वैज्ञानिक और टेकनिकल क्षेत्र में हमें थोड़ी बहुत विभूतियां अवश्य दिखाई देती हैं, किन्तु कला के क्षेत्र में प्रमुख कलाकारों का अभाव हमें बेहद खटकता है। चित्रकला और संगीत का तो निश्चित रूप से ही पतन हो चुका है। जनता के मन-प्राणों को ऊपर उठाने की शक्ति ही उनकी चली गई है। राजनैतिक क्षेत्र में दूरदर्शी नेताओं का एकदम अभाव है। जनता के अन्दर से भी स्वाधीन भावना और न्याय की धारणा निरन्तर घटती जा रही है। जगह जगह स्वेच्छाचारी निरंकुश शासन प्रणालियां संसार में इसलिये शक्ति सञ्चय करके महत्वपूर्ण बन सकी हैं, चूंकि जनता के अन्दर से व्यक्ति के महत्व की भावना बेहद घट गई। भेड़ जैसी जनता को १५ दिन के अन्दर अख़बारों के ज़रिये इतना उत्तेजित किया जा सकता है कि वह राजनैतिक दलों के तुच्छ स्वार्थों के लिये अपना और दूसरों का ख़ून बहाने को तय्यार हो सकती है। व्यक्तिगत पतन की इससे बड़ी दूसरी मिसाल और कौन हो सकती है कि लोग लाज़मी फौजी शिक्षा के आगे सर झुकाते हैं। ऐसी स्थिति में यदि कोई भविष्यवक्ता हमारी इस सभ्यता के नाश की भविष्यवाणी करे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है!

दुनिया की सारी दौलत और उसकी भौतिक उन्नति उसे इस नाश से नहीं बचा सकती। केवल महान आत्माओं की भव्य भावनाएँ और उनके उन्नत कार्य ही मौजूदा सभ्यता को नाश से बचा सकते हैं। भौतिक उन्नति और दौलत हमेशा खुद-ग़रज़ी को बढ़ाती है। दौलत वाले हमेशा अपनी ही बुरी भावनाओं के आसानी से शिकार हो जाते हैं। बुद्ध, ईसा और गांधी क्या रुपयों की थैलियों से यह चमत्कार कर सकते थे? उनका चमत्कार तो आत्म-बल का ही चमत्कार है और संसार के कल्याण का मार्ग तो अपरिग्रह का ही मार्ग है।

संसार इस समय एक भयंकर प्रसव वेदना के बीच से निकल रहा है। इसी वेदना में ही संसार की आशा के लक्षण हैं। यही वेदना मनुष्य को आध्यात्मिक आधारों की ओर आने को विवश करती है। इच्छा ही मानव को सृजनशील बनाती है। आखिर किन बातों ने मनुष्य को धार्मिक आधार खोजने के लिये विवश किया? प्राचीन काल के असभ्य मानव में आशंका की भावना ने ही धर्म-रुचि पैदा की। भूख का डर, जंगली जानवरों का डर, बीमारी और मौत के डर ने उसमें एक अज्ञात शक्ति की जागरूकता पैदा की। उस समय का मानव प्रकृति के विकास-क्रम से परिचित न था, इसलिये मानव दिमाग़ ने एक ऐसी अज्ञात शक्ति की कल्पना की, जो रहस्य के परदे से इन दुर्घटनाओं का सञ्चालन

करता है। इस अज्ञात शक्ति को खुश करने के लिये उस समय के असभ्य मानव में बलिदान का रिवाज पड़ा। वे समझने लगे कि वह अज्ञात शक्ति जीव और रक्त की तृष्णा रखती है और यदि उसे जीव और रक्त देकर सन्तुष्ट कर दिया जाय, तो दैवी आपदाएं टाली जा सकती हैं। असभ्य मानव का यह धर्म भय का धर्म था। धीरे धीरे पुरोहितों के गिरोहों ने इस 'भय धर्म' की बुनियादों को पुख्ता बना दिया। पुरोहित व्यक्ति और अज्ञात शक्ति के बीच में ठेकेदार बन गये। इन्हीं पुरोहितों के हाथों में बाद में शासन-शक्ति भी आ गई। प्राचीन मिस्र, सुमेर और बाबुल की सभ्यताओं को देखकर पता चलता है कि हज़ारों वर्ष तक पुरोहित और राजा के कर्तव्य एक ही व्यक्ति में सीमित रहे। बाद में जब पुरोहित और राजा के पद अलग अलग हो गये, तब भी वे अपने स्वार्थों के लिये मिलकर जनता का शोषण करते रहे।

ज्यों ज्यों मनुष्य सामाजिक उन्नति करता गया, उसने देखा कि माता, पिता, पुरोहित और राजा जैसे उसके मानव हितैच्छु नश्वर देहधारी हैं, और उनसे भयंकर भूलें भी हो सकती हैं। उसने देखा कि उसकी अपनी आत्मा के अन्दर भली और बुरी दोनों भावनाएं मौजूद हैं। उसने इन भलाई और बुराई की प्रेरक शक्तियों की कल्पना करनी शुरू की और इस तरह ईश्वर की नैतिक और सामाजिक धारणा ने जन्म लिया। ईश्वर को विधाता समझा जाने लगा, ऐसा विधाता जो रक्षा करता है, जो सज़ा और जज़ा देता है, जो व्यक्ति और क़बीले और सारे मनुष्य समाज की ही रक्षा करता है, जो हर जीवधारी का पालन करता है, जो दुःख और निराशा में ढाढ़स बंधाता है और जो मृतात्माओं को शान्ति देता है। यह धर्म की सामाजिक और ईश्वर की नैतिक कल्पना है। मानव संस्कृति के विकास की यह दूसरी सीढ़ी है। समस्त सभ्य जातियों और ख़ासकर पूर्वीय जातियों के धर्म विशेष रूप से नैतिक धर्म हैं।

मानव संस्कृति के विकास की तीसरी सीढ़ी है—लौकिक धर्म भावना। इस स्थिति पर पहुंच कर मनुष्य अपने ही नैतिक आचरण को आत्मा की मुक्ति का साधन समझता है। ईश्वर की कल्पना का सहारा भी वह छोड़ देता है। बौद्धमत ने इस धर्म भावना को काफ़ी प्रधानता दी। संसार में प्रत्येक युग के महान धर्मात्मा इसी लौकिक धर्म भावना के मानने वाले हुए हैं, जो धर्म भावना न तो किसी रूढ़ि और कर्मकाण्ड को मानती है, और न मनुष्य के स्वरूप में ईश्वर की कल्पना करती है। सच पूछा जाय तो हर युग के विपथगामियों में ही हमें सर्वोच्च धार्मिक विचार वाले मिलते हैं कि जिन्हें उनके समकालीन लोग नास्तिक कहकर पुकारते हैं।

प्रश्न उठता है कि यह लौकिक धर्म भावना किस प्रकार एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक पहुंचाई जा सकती है, जब कि वह ईश्वर का निर्गुण या सगुण कोई रूप नहीं मानती और न किसी धर्म पद्धति को ही स्वीकार करती है? मेरी सम्मति में कला और विज्ञान मनुष्य के अन्दर इस भावना को जगा सकते हैं, और जिनके अन्दर यह भावना जाग गई है, उसे अक्षुण्ण बनाये रख सकते हैं। यही विज्ञान का सबसे बड़ा उद्देश्य है। जब तक विज्ञान मानव आत्मा के इस रहस्य को सुलभ नहीं करता, तब तक उसका उद्देश्य पूरा नहीं होता।

जब हम ऐतिहासिक दृष्टि से इसे देखते हैं तो यह सत्य सप्रमाण हमारे सामने आ जाता है कि विज्ञान और धर्म में कभी भी समझौता नहीं हुआ। लेकिन जो वैज्ञानिक विश्व के नियन्त्रण के सूक्ष्म सिद्धान्तों से भली भांति अवगत हो चुका है, वह एक क्षण के लिये भी इस भावना को स्वीकार नहीं कर सकता कि रहस्य के परदे में कोई एक ऐसी हस्ती है, जो विश्व के नियन्त्रण के स्वभाविक सिद्धान्तों में इच्छानुकूल दख़ल देने की क्षमता रखती हो।

इस तरह के वैज्ञानिक धर्म के मानने वाले को न तो भय के धर्म की आवश्यकता रहती है और न नैतिक धर्म की। जो ईश्वर इनाम और सज़ा देता

है ऐसे ईश्वर की कल्पना वह कर ही नहीं सकता। उसके अनुसार मनुष्य के कर्म वाह्य और आन्तरिक परिस्थितियों से संचालित होते हैं कि जिन पर उसका कोई क़ाबू नहीं होता। जिस तरह रेणु का कोई कण पृथ्वी के अपनी कील पर घूमने में कोई दख़ल नहीं दे सकता, उसी तरह मानव भी अपनी परिस्थितियों के सामने विवश है। अपने इसी विचार के कारण विज्ञान को सदाचार की अवहेला का दोषी ठहराया जाता है। किन्तु यह इलज़ाम सर्वथा असत्य है। मनुष्य के वाह्य आचरण का आधार सामाजिक बन्धन, शिक्षा और सहानुभूति की भावना होनी चाहिये। इसके लिये धार्मिक आधार की आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिये। ऐसे मनुष्य पर हंसी आती है, भय की भावना जिसके आचरण का नियन्त्रण करे, या जो मरने के बाद सद्गति के लालच से कोई काम करे। इसी स्पष्ट घोषणा के कारण धर्म का विज्ञान से घोर युद्ध होता रहा और वैज्ञानिकों को अकथनीय अत्याचार सहने पड़े। मेरी यह निश्चित धारणा है कि लौकिक धर्म भावना ने ही वैज्ञानिक अनुसन्धान को बेहद प्रोत्साहन दिया है। केपलर और न्यूटन ने जाने कितने वर्षों तक साधना की होगी, तब कहीं वे अपने अनुसन्धान में सफल हुए। सच पूछा जाय तो आज के इस भौतिक युग मे गम्भीर वैज्ञानिक खोजी ही वास्तविक अर्थों में सच्चे धार्मिक मनुष्य हैं। कोई न कोई धर्म भावना प्रत्येक वैज्ञानिक का आधार होती है। किन्तु उसकी धर्म भावना जन सामान्य की धर्म भावना से भिन्न होती है। मानव संस्कृति का लक्ष्य इसी वैज्ञानिक धर्म भावना को जाग्रत करना है।

एक वैज्ञानिक के लिये भविष्य उतना ही महत्व रखता है, जितना कि अतीत। वह सदाचार और नैतिकता के अन्दर कोई धार्मिक भावना नहीं देखता। उसकी नज़रों में नैतिकता ख़ालिस मानव व्यापार है। प्रकृति के भिन्न भिन्न गुणों की समन्वयात्मक एकता को साक्षात करके वह हैरान रह जाता है। प्रकृति की इस एकता के सामने मनुष्य के समस्त विधिवत विचार कितने नगण्य मालूम होते हैं। प्रकृति का यह साक्षात्कार ही वैज्ञानिक का अपना धर्म है। प्रकृति का यह साक्षात्कार ही उसमें बड़ी से बड़ी त्याग की भावना भरता है। संसार के पुनरुत्थान में इसी त्याग की कितनी बड़ी कमी दिखाई दे रही है। यही त्याग व्यक्ति के अन्दर आध्यात्मिक भावना भरेगा। आज मानव जाति की क़िस्मत का फ़ैसला इसी आध्यात्मिक शक्ति पर है। मानव जाति इस शान्त और सुखपूर्ण स्थिति तक पहुँचना चाहती है, तो वह त्याग और नम्रता से ही पहुंच सकती है। यही मानव संस्कृति का मूल आधार है।

आज हम विचारों के चौरस्ते पर खड़े हैं। आज हमे फ़ैसला करना होगा कि हम त्याग का, शान्ति का और संस्कृति का रास्ता पकड़ें या बर्बरता के उसी पुराने रास्ते पर चलते चलें, जो रास्ता हमारी सभ्यता और हमारे लिये अत्यन्त अहितकर है। एक ओर व्यक्ति की स्वतन्त्रता और समाज का कल्याण है और दूसरी ओर व्यक्ति की गुलामी और सभ्यता की बरबादी है। जो भी रास्ता हम पकड़ेंगे, उसी के अनुसार हमारी क़िस्मत का फ़ैसला होगा।

आज दुनिया के लगभग समस्त राष्ट्र संसार व्यापी युद्ध में लगे हुए हैं। पिछले महायुद्ध के बाद हर राष्ट्र इस दूसरे महायुद्ध की तय्यारी करता रहा है। जब तक थोड़े से राजनीतिज्ञ दुनिया की नीति को संचालित करते रहेंगे, जब तक संकुचित राष्ट्रीय अभिमान की पूजा होती रहेगी, जब तक युद्ध प्रेमी-भावना को महत्व दिया जाता रहेगा, तब तक हमारे युवकों को युद्ध से आकर्षण रहेगा, और तब तक संसार इन पैशाचिक युद्धों से छुटकारा नहीं पा सकेगा, और तब तक मानव संस्कृति भी अनुन्नत दशा में पड़ी रहेगी। पिछले वर्षों में एक ओर तो हम निःशस्त्रीकरण सम्मेलन करते रहे और दूसरी ओर शान्ति रक्षा के नाम पर अपने हथियारों के कारख़ाने बढ़ाते गये। सच तो यह है पिछले कई वर्षों से संसार के प्रमुख राष्ट्र शान्ति की नहीं बल्कि युद्ध की तय्यारी करते रहे। जनता धीरे धीरे करके शस्त्रों का त्याग

नहीं करेगी। या तो संसार से शस्त्र एक बारगी मिटा दिये जायंगे या फिर बिलकुल ही न मिटेंगे। जो दल युद्ध की मशीन बराबर जारी रखना चाहते हैं, वे बेहद शक्तिशाली हैं। वे सार्वजनिक राय को अपनी ख़ूख़ार दानवी वृत्तियों के अनुकूल बनाने में कोई कसर बाक़ी न उठा रखेंगे। जन सामान्य ही इस पतित अवस्था से संसार को उबार सकते हैं। जब तक सेनायें क़ायम रहेंगी, तब तक छोटे से छोटा उत्पात भी युद्ध का रूप धारण कर सकता है। इस सम्बन्ध में जब लोगों की आत्माएं जाग जायगी, तब हम दुनिया की तरक़्क़ी को एक नई मंज़िल पर पहुंचा जायगे। उन्नति के उस शिखर पर पहुंच कर जनता युद्ध को अपने पूर्वजों का एक बर्बर कुकृत्य समझेगी। यह सही है कि इस समय दुनिया में ऐसे लोगों की तादाद बहुत थोड़ी है, जो अपनी आंखों से देखते हैं और अपने दिलों से महसूस करते हैं। किन्तु ऐसे ही व्यक्तियों की शक्ति इस बात का फ़ैसला करेगी कि मानव जाति कब तक उस निराशापूर्ण भयंकर अंधकार में ही पड़ी रहेगी, जिसे अन्धी जनता आज आदर्श समझ रही है।

हमारा आत्म-बल यथेच्छ साबित नहीं हुआ। आज करोड़ों व्यक्ति मौन होकर युद्ध के इस भयंकर तमाशे को देख रहे हैं। जो लोग शान्तिमय उपायों को दुनियां के लिये कल्याणकर समझते हैं, वे भी आज हिंसा के साथ समझौते को एक राजनैतिक दूर-दर्शिता समझ रहे हैं। किन्तु उनकी दूरदर्शिता मानवता के प्रति किया गया भयंकर अपराध है। चूंकि हम स्वयं मानव हैं, इसलिये मानवता से निराश होने में हमारा कल्याण नहीं। आज भी यह बड़ी आशा की बात है कि गान्धी जैसे व्यक्ति मानवता को ख़ून के दलदल से बाहर निकलने का अथक प्रयत्न कर रहे हैं। मेरा यह विश्वास है कि यदि ५०,००० व्यक्ति एक साथ युद्ध का विरोध करें, तो उनका यह विरोध कारगर साबित होगा।

आप आज संस्कृति की बात कह रहे हैं, किन्तु संस्कृति का पौधा बेहद नाज़ुक होता है। अनेक यत्नों और सावधानियों के बाद ही वह किसी समाज में फूलता फलता है। उसके लिये व्यक्ति का अभिमान, राष्ट्र का अभिमान और क़ौम का अभिमान सबको तिलांजलि देनी पड़ती है। मानव जाति जिस दिन संस्कृति के महत्व को समझेगी, उसी दिन वह अपनी आत्मा के साथ साक्षात्कार करने के योग्य हो सकेगी। संस्कृति न तो भौगोलिक सीमा बन्धनों को महत्व देती है और न राजनीति को ही। संस्कृति तो अखिल मानवता की सम्मिलित पूंजी है।

पुराने ज़माने में समाज का उपयोगी सदस्य बनने के लिये व्यक्ति को केवल आत्मभिमान ही छोड़ना पड़ता था, किन्तु आज उसे वर्ग और राष्ट्र का अभिमान भी छोड़ना पड़ेगा। इन थोथे अभिमानों को दूर करके ही मानव संस्कृति की ठोस बुनियादें डाली जा सकती हैं और तभी मानवता को उन्नत बनाया जा सकता है। और तभी उसका कल्याण हो सकता है।

There are seekers of wisdom and seekers of wealth,
[redacted]
I seek thy company so that I may sing.

एक प्रसिद्ध तेलगू कहानी

शिल्पी

श्री चिन्ता दीक्षितुल

[अनु०—श्री ब्रजनन्दन शर्मा]

(१)

प्रस्तर प्रतिमाओं और दारु-मूर्त्तियों में भगवान का साक्षात्कार करने वाली प्रजा का था वह देश। उसी तरह प्रतिमाओं में भगवदंश दीख पड़ने वाला युग भी था।

उस देश के शासक थे एक महाराज। ऐहिक ऐश्वर्य के साथ साथ पारमार्थिक बुद्धि भी जनता में रहे इसका बहुत ज्यादा ख्याल रहता था—उनको। प्रजा भी थी—महाराज की इच्छाओं को सफल बना कर अपने को कृतार्थ मानने वाली।

पुरोहितों का आशीष-बल पाकर महाराज के सत्संकल्प मात्रया द्वारा सत्कार्य के रूप में प्रजा को आनन्द देते थे।

एक बार महाराज अपने परिवार और मन्त्रियों के साथ सारे राज्य का पर्यटन करने निकले। प्रजा का सुख और आनन्द देखकर उनका हृदय भी पुलकायमान हुआ। लेकिन उनकी समझ में न आया कि राज्य के सारे मन्दिरों में जनता पुरुष-प्रतिमाओं की ही पूजा क्यों कर रही है? उन पुरुष मूर्तियों में अधिकाधिक मूर्तियां सुन्दर ही हैं। मगर सौन्दर्योपासक महाराज की आँखों में एक भी सुन्दर स्त्री-मूर्ति कहीं दिखाई न पड़ी। इस का क्या कारण होगा?

मन्त्रियों से पूछा गया। वे भी बतला न सके। मगर गुत्थियों को सुलझाने का काम तो उन्हीं का है। अतः यह भार उन्हीं पर पड़ा।

(२)

पूछ ताछ करने पर मन्त्रियों को मालूम हुआ कि उस राज्य में सुन्दर पुरुष-विग्रह बनाने वाला एक ही शिल्पी है। राज्य में जितनी सुन्दर मूर्तियाँ हैं—सब उसी की कारीगरी है।

शिल्पी अपने बचपन से अपरिचित एक झोपड़े में रहता था। राजाज्ञा सुनाई गयी उसे। वह अर्ध निमीलित नेत्रों से अपने हृदय-पट पर अंकित स्वरूप को पाषाण स्तंभ पर उतारने की कोशिश में लगा हुआ था। उसके प्रयत्नों में योगी का ध्यान और भक्त का आवेश लगा था।

पूजा और ध्यान करने लायक मूर्तियां तैयार कर जनता को देना ही उसके जीवन का एक मात्र लक्ष्य था। शैशव से ही वह इसी सिद्धि में लगा है। पिता का अन्तिम उपदेश यही था। युवावस्था में भी उसी धर्म का निर्वाह कर रहा था वह। गुरू की आज्ञा तो यह थी ही।

उसके हाथों बने हुए हनुमान जी जनता की पूजा स्वीकार कर उन्हें वीर्यवान बना रहे थे। उसके ही करों से निर्मित श्री रामचन्द्र जी प्रजा के चढ़ौने और मनौते स्वीकार कर अभीष्ट फल दे रहे थे। उसी के परिश्रम के फल श्री कृष्ण भगवान लोगों के स्तोत्र सुन कर मुक्ति बाँट रहे थे।

उन देवताओं ने अपने निर्माता को भी सतोष धन प्रचुर मात्रा में दिया था। प्रजा ही शिल्पी के परिवार का पालन पोषण करती थी। उसके लिये यह सब चिन्ता न थी।

राजा की आज्ञा सुन कर शिल्पी राज दरबार में पहुँचा।

(३)

"इस राज्य में तुम्हीं शिल्पी हो?"

"सरकार मैं भी एक हूं।"

"उस अग्रहार (ब्राह्मणों को दी हुई जागीर) का शिवलिंग तुम्हारा ही बनाया हुआ है ?"

"हां सरकार !"

"उस ब्राह्मण टोले की श्री राम मूर्त्ति ?"

"मेरी ही बनायी है।"

"श्रीपरम् के हनुमान ?"

"महाराज मैंने ही ...।"

"कलमाडु की श्रीकृष्ण की मूर्त्ति किसने गढ़ी ?"

"महाराज के दास ने ही"

"और दीपपुर की सूर्य प्रतिमा ?"

"इस सेवक ने ही...।"

"स्त्री देवता की जो मूर्त्ति तुमने बनायी हो उसका नाम तो लो।"

"मैं...सरकार ।"

"कौन बतलाओ।"

"मैंने - स्त्री मूर्त्ति - महाराज...।"

"बतलाओ"

"मैं स्त्री मूर्त्ति कैसे—"

"नहीं बनायी है ?"

"नहीं सरकार"

"एक भी नहीं ?"

"एक ...,"

"एक बनायी है ! किसकी मूर्त्ति है वह ?"

"सरकार—कहूँ ?"

"हां, कहो।"

"मेरी माता की।"

"तुम्हारी माता की मूर्त्ति, देवता-मूर्त्ति हुई ?"

"प्रजा के लिये नहीं सरकार। सिर्फ़ मेरे लिये...।"

"कहां है वह मूर्त्ति ?"

"मैं उसकी पूजा करता हूँ। प्रजा का उससे कोई सरोकार नहीं हुजूर।"

"अपने घर में ही रखकर पूजा करते हो ?"

"जी हां, सरकार।"

"वह मूर्त्ति भी तुम्हारी अन्य मूर्त्तियों की तरह ही है न ?"

"सुन्दरता में तो वह बराबर ही है सरकार। मगर वह मेरे लिये अमूल्य है।"

"क्या जनता को अपनी माताओं की पूजा करने की इच्छा नहीं होगी ?"

"क्यों नहीं होगी महाराज ?"

"उनकी वह अभिलाषा तो तुम्हारे ही द्वारा पूरी हो सकती है ?"

"जी सरकार....."

"तो भविष्य में उनकी अभिलाषा पूरी करोगे न ?"

"स्वामी, वह मुझसे हो सकेगा ?"

"जगज्जननी पार्वती हैं, सरस्वती हैं, लक्ष्मी हैं—जनता को भी अपनी माताओं की पूजा करने का मौक़ा नहीं दोगे ?"

"स्वामी वह मुझसे न हो सकेगा।"

"क्यों नहीं ?"

"उतना सामर्थ्य नहीं है महाराज।"

"पुरुष मूर्त्तियों में सौन्दर्य का चरम उत्कर्ष दिखाने वाले तुम ऐसा कह रहे हो !—क्या यह ईश्वर के प्रति अपराध नहीं है ?"

"जी सरकार"

"अपनी जननी की मूर्त्ति गढ़ने वाले हाथों में जगज्जननी की प्रतिमा गढ़ने की सामर्थ्य भी उपस्थित ही है।"

"जी सरकार।"

"जनता मे मातृ-भक्ति बढ़ाने के लिये तीनों माताओं की मूर्त्तियाँ तैयार करो।"

"सरकार, एक विनती।"

"अनन्त काल तक तुम्हारी मूर्त्तियां मुक्ति का मार्ग प्रदर्शन करती रहेंगी।"

"सरकार, एक....."

"एक साल की अवधि"

"सरकार....."

"अब तुम जा सकते हो"

"अच्छा सरकार"

(४)

राजाज्ञा पाकर शिल्पी को राजा की कृपा और धन प्राप्त करने के लिये उस कार्य पर लग ही जाना चाहिये था। बढ़िया से बढ़िया प्रस्तर-खंड और औजार जमा करना चाहिये था। भय और भक्ति से काम में जुट जाना चाहिये था।

मगर बराबर शिल्प कार्य में तल्लीन रहने वाला शिल्पी राजाज्ञा पाकर लौटा तो सारा काम-धाम छोड़ कर एकान्त में बैठ गया। दिन बीतने लगे। एक महीना बीता, दूसरा महीना बीता, तीसरा भी बीत गया। वह एकान्तसेवी बना हुआ है। मन को एकाग्र करने में लगा है।

उसके परिवार की चिन्ता राजा को ही है।

महीने बीतते जा रहे हैं—मगर, शिलाखंड जमा करने की उसकी इच्छा ही नहीं हुई। औजार वग़ैरह सुधारने का मन ही नहीं हुआ।

साल पूरा होने पर आया। महाराज ने ही देश देशान्तरों से अच्छे अच्छे पत्थर मगाकर भिजवा दिये। कारीगरों से अच्छे अच्छे औजार बनवाकर शिल्पी के घर पहुँचाये गये। शिल्पी यह सब देखकर मुसकुराया। साल भर की अवधि पूरी हो गयी। दरबार मे हाज़िर होने की आज्ञा मिली पुनः—शिल्पी को।

(५)

"शिल्पी"

"जी, सरकार"

"प्रतिमायें तैयार हुईं ?"

"महाराज एक विनती"

अपनी शक्ति तुमने नहीं पहचानी थी। भला पुरुष प्रतिमायें गढ़ने में निपुण हाथ क्या यहाँ भोथा हो जायगा ? क्या वह शक्ति लुप्त हो जायगी ! मूर्त्तियाँ अच्छी बनी हैं न ?"

"महाराज, इस सेवक को क्षमा करें।"

"क्षमा क्यों ? तुम्हें पुरस्कृत करने के लिये आज सब तैयारी हो चुकी है।"

"सरकार, मैंने महाराज के प्रति जो अपराध किया है, उसका दण्ड पाने के लिये मैं सिर झुकाये प्रस्तुत हूं।"

"क्यों दण्ड क्यों ?"

"स्वामी, एक विनती।"

"क्या है ?"

"अवधि बीत गयी। मैंने आज्ञा पालन नहीं किया।"

"तो प्रतिमायें तैयार नहीं हुई हैं ?"

"उस काम पर मैं लग ही नहीं सका सरकार"

"मतलब राजाज्ञा का उल्लंघन किया तुमने ?"

"जी सरकार"

"तुम्हारे परिवार का पालन मैंने पुण्य के धन से किया है न ?"

"वह मैं जानता हूं सरकार।"

"उसके बदले तुमने राजा को क्या सेवायें दीं ?"

"सरकार, एक विनती।"

"शिल्पकला में निष्णात तुमने अब तक वह कार्य शुरू भी नहीं किया क्यों ?"

"वही सुनाने जा रहा हूं स्वामी।"

"अच्छा"

"तीनों माताओं की प्रतिमायें गढ़ने का हुज़ूर का हुक्म था।"

"हां"

"वे स्त्रिया हैं"

"हूं"

"मैं साधारण पुरुष हू।"

"हो सकता है"

"इन्द्रिया बलवान होती हैं।"

"हां"

"फिर मेरे समान साधारण पुरुष कल्पना से परे की देवताओं की प्रतिमायें गढ़ने का साहस कैसे कर सकता है—स्वामी ?"

"तुम्हारी कारीगरी में कोई कमी नहीं है।"

"जी, प्रभु की कृपा से नहीं है।"

"करने की इच्छा और कल्पना भी है।"

"हां, सरकार"

"फिर ?"

"सरकार; निवेदन करता हूँ। जब तक उन देवताओं पर, पवित्र मातृभाव न उत्पन्न हो जाय, तब तक उनके अंग-प्रत्यंग कैसे गढ़ सकता हूँ ? प्रतिमा कैसे तैयार कर सकता हूँ ! मूर्ति गढते वक्त अगर मेरा मन विफल हो जाय तो फिर नरक में भी स्थान नहीं मिलेगा न ! जब तक मुझमें वह बल नहीं आ जाय कि उन प्रतिमाओं में भी मैं अपनी माता का रूप देख सकूं—तब तक उन शिलाखण्डों को कैसे छुऊँ ? उनके अंग निर्माण करते वक्त मेरे हाथ अगर शिशु हस्त-वत न हों, तो मैं कैसे गढ़ूं उन्हें ! जब तक वे देवियें मेरी माताएं न बन जायें, मैं शिशु न बन जाऊँ, तब तक मैं उन्हें छू नहीं सकता। अगर छुऊँ और वह सौन्दर्य देख मेरा मन चंचल हो उठे, तो वह सौन्दर्य ही मुझे बलि स्वरूप ले लेगा। फिर वैसी मूर्तियाँ क्या प्रजा-पूजा के लायक रह जायेंगी ?"

"शिल्पी और एक साल की अवधि देता हूँ।"

"जो आज्ञा सरकार"

"अपने कौशल में भक्ति को जोड़ो।"

"जी सरकार"

"प्रजा के साथ मेरा हृदय भी मातृ पूजा के लिये आतुर हो रहा है।"

"जी सरकार"

(६)

महाराज राज्य के अन्य महत् कार्यों में व्यस्त रहने लगे। मगर शिल्पी सब कुछ छोड़कर उन तीनों माताओं में मन लगाये उनकी दया की प्रतीक्षा कर रहा है। महीनों गुज़र गये। महाराजा की दी हुई अवधि भी बीत गयी। महाराज के यहां से बुलाहट नहीं आयी। शिल्पी खुद भी नहीं गया। साल पर साल बीतने लगे। शिल्पी की जवानी ढली। वह बूढ़ा होने लगा। मगर अब वह माताओं के प्रेम का पात्र बनने लगा था।

शरीर में झुर्रियाँ पड़ गयीं। मगर नज़र तेज़ ही रही। हाथों में कंपन नहीं आया। हां, बाह्य-दृष्टि नहीं रही।

एकान्त में बैठ वह वृद्ध शिल्पी औज़ार लेकर उन पत्थरों को गढ़ने लगा। उन माताओं का रूप हृदय में बिठाकर उन्हें उन पाषाण-खण्डों पर अवतरित करने लगा। दिन प्रतिदिन उसका शरीर जर्जर होने लगा। उन प्रतिमाओं का सौन्दर्य विकसित होने लगा। उनमें आत्मा झलकने लगी। प्रजा, पूजा के वास्ते छटपटाने लगी।

बूढ़े शिल्पी में शैशव अंकुरित होकर बढ़ने लगा। होठों में मंद हास आया। हृदय में निर्मलता आयी। हृदयान्तराल में प्रतिष्ठित उन माताओं का रूप इन पाषाण प्रतिमाओं में उतर आया और उन्हीं में निवास करने लगा।

चरों द्वारा महाराज ने सुना कि तीनों मूर्तियाँ तैयार हैं। उन्हें बहुत ख़ुशी हुई। शिल्पी को पुरस्कृत करने के वास्ते बड़े समारोह से उन मूर्तियों की प्राण-प्रतिष्ठा करने की योजना बनायी गयी।

मगर शिल्पी कहाँ है ?

उसने अपना शरीर, अपनी आत्मा उन माताओं को अर्पित कर दी। मामूली आँखों से न दिखाई पड़ने वाला वह उन मूर्तियों में ही निवास करने लगा है। बड़े समारोह से उन मूर्तियों की प्राण-प्रतिष्ठा हुई।

पण्डितों ने आकर उन मूर्तियों को देखा; उनकी पूजा की। उन्होंने कहा कि उन माताओं ने इन प्रतिमाओं को अपना शाश्वत निवास बना लिया है। अतः ये प्रतिमाएं नहीं—वे मातायें ही हैं। महाराज के इच्छानुसार पण्डितों ने उसे शास्त्र रचना का साधन बनाया।

तभी शिल्प-कला पैदा हुई।

विज्ञान और भारतीय संस्कृति

सर चन्द्रशेखर व्यङ्कट रमन



यह मेरा सौभाग्य है कि जीवन में मुझे छै बार सारी दुनिया का भ्रमण करने का अवसर मिला। अपने इस भ्रमण में दुनिया के अनेक योग्य से योग्य वैज्ञानिकों से मेरा सम्पर्क हुआ। मैडम क्यूरी, लार्ड रदरफोर्ड और अनेक महान वैज्ञानिकों से पूरी तरह परिचित होने का मुझे अवसर मिला। इनके व्यक्तिगत जीवन को देखकर मैं यह दावे के साथ कह सकता हूँ कि भारतीय अर्थों में ये लोग सच्चे ऋषि हैं। आर्थिक कठिनाइयों में अनेक वैज्ञानिक ऋषियों का जीवन बीतता है, किन्तु जिस तरह माइकेल एञ्जलो ने कला के क्षेत्र में अपनी बहुमूल्य थाती दुनिया के लिये छोड़ी है, उसी तरह विज्ञान के क्षेत्र में दुनिया को इन ऋषियों से अमूल्य निधिया प्राप्त हुई हैं। इन वैज्ञानिकों का जीवन हमारी उन्नति का थर्मामीटर है। संसार के ज्ञान के भण्डार को इन्होंने अपनी शक्ति भर बढ़ाया है। महान वैज्ञानिक उसी भावना से काम करता है, जिस भावना से एक महान संगीतज्ञ। उसकी प्रतिध्वनित रागनियां वातावरण में गूंजती हैं, जनता को आनन्द-विभोर करती हैं और संगीतज्ञ को भी सुख पहुंचाती हैं।

विज्ञान का उद्देश्य अपने आप में एक अलहदा चीज है। लोग किस तरह उसका सदुपयोग या दुरुपयोग करते हैं इसमें विज्ञान का दोष नहीं। समस्त वैज्ञानिक अनुसन्धानों की मौलिक प्रेरणा में प्रकृति का अध्ययन और सत्य की तलाश ही होती है। पिछले बारह वर्षों में अनेक महान वैज्ञानिक अनुसन्धान किये गये हैं। अणु और परमाणु की रचना के सम्बन्ध में जो वैज्ञानिक खोजें हुई हैं, उनसे मानव ज्ञान की बेहद वृद्धि हुई है। अपने आप में इन खोजों से किसी को कोई नुकसान नहीं पहुँच सकता, यह दूसरी बात है कि हजार व्यक्तियों में कोई बिरला ही इन्हें पूरी तरह समझ पाता है।

वैज्ञानिक खोजों के परिणामों को हमें इस दृष्टि से देखना होगा कि सब मिलाकर उनसे मानव ज्ञान की परिधि कितनी बढ़ी। उनके सर्वाङ्गीण मूल्य पर ही उनकी अच्छाई बुराई निश्चित करनी होगी। इन वैज्ञानिक परिणामों ने हमें नुकसान पहुँचाया या नहीं अथवा इनका कोई अमली इस्तेमाल सम्भव है या नहीं, इस दृष्टि से इनकी उपयोगिता का फ़ैसला एकांगी होगा। वैज्ञानिक अनुसन्धानों को मानव भावना का उन्नति-चिन्ह समझना चाहिये। यह समझ कर हमें उन पर अभिमान और खुशी होनी चाहिये कि मानव भावना इस सीमा तक सफल हुई। फैराडे, मैडम क्यूरी और रामानुजम जैसे महान वैज्ञानिक बनाए नहीं गये, बल्कि जन्म से ही वैज्ञानिक थे। वैज्ञानिक केवल कर्म की भावना से ही कर्म करते हैं। साधना उनके जीवन का नियंत्रण करती है।

विज्ञान क्रमानुगत ज्ञान है, किन्तु अकसर दिक्कत यह होती है कि वह अपने ही बोझ से नष्ट होने लगता है। आज कल वैज्ञानिक साहित्य की एक बाढ़ सी आगई है। नतीजा यह है कि विज्ञान के बाग़ में जगह जगह जगली और कटीले पौधे उग आये हैं। कैफियत यह है कि आज इन जगली और कटीले पौधों की सख्या फूलों से कहीं अधिक है। इसलिये यह बहुत आवश्यक है कि वैज्ञानिकों की एक ऐसी सस्था होनी चाहिये, जो काटों से फूलों को या भूसे से गेहूं को अलग करे। ज्ञान की सीमाएं अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज को छूती हैं। ज्ञान किसी राष्ट्र विशेष की सम्पत्ति नहीं है। यदि भारतीय राष्ट्र को विज्ञान का अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र बनने की अभिलाषा है, तो उसे विज्ञान को अपनी सस्कृति के अनुरूप ही बनाना होगा। उसे निर्दयतापूर्वक विज्ञान के क्षेत्र से ऐसे कांटों को उखाड़ कर फेंक देना होगा, जो उसकी महान सस्कृति को ठेस पहुंचाने की क्षमता रखते हों। त्यागवृत्ति वैज्ञानिकों का समूह ही इस काम को कर सकता है। ग्रेट ब्रिटेन की रायल सोसायटी और बर्लिन तथा फ्रान्स की वैज्ञानिक सस्थाओं ने यही किया है और इण्डियन एकेडेमी आफ साइन्स को भी यही काम करना है।

एक मौलिक प्रश्न जिसे किसी भी वैज्ञानिक को नजर अन्दाज नहीं करना चाहिये, वह यह कि विज्ञान का महत्वपूर्ण सामाजिक पहलू भी है; किन्तु यह एक इतना कठिन और पेचीदा सवाल है कि इस पर बेहद विरोधी और विपरीत राये हैं। जहाँ तक आर्थिक फायदों का सवाल है विज्ञान से कोई लाभ नहीं। इसलिये कुछ लोगों का विचार है कि वैज्ञानिक अनुसन्धान में पैसा क्यों जाया किया जाय? उसी पैसे को प्राथमिक शिक्षा के प्रचार में क्यों न ख़र्च किया जाय? किन्तु वैज्ञानिकों का एक दल कहता है कि उनके अनुसन्धान एक दिन सारी रकम मय सूद के चुका देंगे। देश को विज्ञान के वास्तविक कर्तव्य को समझना चाहिये। उसे विज्ञान की आवश्यकताओं और उसकी मागों को समझना चाहिये और वैज्ञानिकों से क्या आशा करनी चाहिये यह भी जानना चाहिये। हर व्यक्ति चूंकि समाज में रहता है इसलिये समाज के प्रति उसका कुछ कर्तव्य है। विद्वानों का धर्म है कि वे राष्ट्र निर्माण में मदद दें और जो कुछ उन्हें राष्ट्र से मिलता है, उसे किसी न किसी रूप में चुकता करें। इसे ठीक ठीक समझने के लिये हमें दूसरे देशों की परिस्थिति का अध्ययन करना होगा। नैपोलियन ने 'फ्रेंच एकेडमी आफ साइन्सेज़' को पुनर्जीवित किया था और वैज्ञानिकों से उसने बारूद और लड़ाई की दूसरी वस्तुयें बनाने की बात कही थी। नेपोलियन वैज्ञानिकों के झुण्ड से घिरा रहता था, और ये वैज्ञानिक महज़ सम्राट की आज्ञाओं का पालन ही नहीं कर रहे थे। बल्कि उसी अरसे में उन्हों ने ऐसी अनेक महत्वपूर्ण खोजें कीं, जिनका सम्बन्ध 'सम्राट की कुत्सित आज्ञाओं' से ज़रा भी न था। आज डिक्टेटरों के स्वेच्छा शासन के अन्तर्गत वैज्ञानिकों से नाशकारी अनुसन्धान कराये जा रहे हैं। किन्तु भारत में इस सब की इजाज़त न होगी। भारत शुरू से एक ऐसा राष्ट्र रहा है जहा ज्ञान की आराधना की गई है और ज्ञानी को सदा आदर की दृष्टि से देखा गया है। भारत ने सदा शुद्ध ज्ञान की साधना की है और ज्ञान की उपासना ज्ञान के ख़ातिर ही की है। मेरा पूरा विश्वास है कि यदि हमारे देश के वैज्ञानिकों के साथ सहानुभूति दिखाई जाय, तो वे भारतीय सस्कृति के अनुरूप उद्देश्यों की पूर्ति कर सकते हैं।

इन बातों के कहने से मेरा यह तात्पर्य नहीं कि वैज्ञानिकों का समाज के प्रति जो कर्तव्य है, उसकी मैं अवहेलना करना चाहता हूं। मेरी राय में ऐसा वैज्ञानिक, जो समाज को भूलकर अपने सुख और सस्कृति का ही ध्यान करता है, इस भारत देश में रहने योग्य तो है ही नहीं। हम वैज्ञानिकों का यह पवित्र कर्तव्य है कि हम अपने इस अभागे देश के करोड़ों नगे और भूखों के हितों को सर्वोपरि रखें। हमें उनकी भलाई का अपनी शक्ति भर उद्योग करना चाहिये। मेरा विश्वास है कि कर्मचेता ज्ञानी ही समाज की सब में अधिक भलाई कर सकते हैं। वैज्ञानिक दृष्टा ही

निस्वार्थ भाव से मानवता का कल्याण कर सकते हैं। पाश्चर और अन्य महान वैज्ञानिकों ने अपने अनुसन्धानों से मानव जाति की बेहद सेवा की है। उन्होंने अपने आपको मानवता के व्यापक स्वार्थों की ओर लगाया। किन्तु एक बात ध्यान में रखनी चाहिये। एक सच्चा वैज्ञानिक दूसरों के हुक्म पर नहीं नाच सकता। उसे अपने प्रयोगों के लिये पूरी स्वाधीनता चाहिये। इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि भारत की उन्नति देश की वैज्ञानिक उन्नति के साथ नत्थी है। किन्तु भारत में विज्ञान का प्रधान क्षेत्र हमारे देश के सात लाख गाव होने चाहियें। जो भारतीय वैज्ञानिक महज शहरों के हित को दृष्टि मे रखते हैं, वे अपने देश की वास्तविक स्थिति से परिचित नहीं। इस सम्बन्ध में बहस के लिये कोई गुञ्जाइश ही नहीं है।

यहां मशीन और हाथ की मेहनत के बीच में कोई स्पर्धा ही नहीं होनी चाहिये। किसान कुए से पानी निकाल कर अपने खेतों को सींच लेता है, यह अच्छी बात है; किन्तु यदि वह बिजली इस्तेमाल करे, तो खेती की उपज बेहद बढ सकती है। विज्ञान जनता की समृद्धि को बढाने में बहुत कुछ कर सकता है और इस दृष्टि से मानव और विज्ञान के व्यावहारिक रूप में कोई वैर या प्रतिस्पर्धा नहीं होनी चाहिये।

हमारे देश में ऐसे लोगों की एक बड़ी तादाद है, जो देश की बहुत कुछ सेवा कर सकते हैं। किन्तु इसके लिये उन्हें सुविधा नहीं मिलती और उन्हें अपना समय छोटी छोटी नौकरियों में बिताना पड़ता है। हम इन सारी शक्तियों का उचित उपयोग कर सकते हैं। यदि वैज्ञानिक अपना कर्तव्य समझ लें और जनता विज्ञान के इस दृष्टिकोण को जान ले, तो हमारे देश की अनेक समस्याएं हल हो सकती हैं।

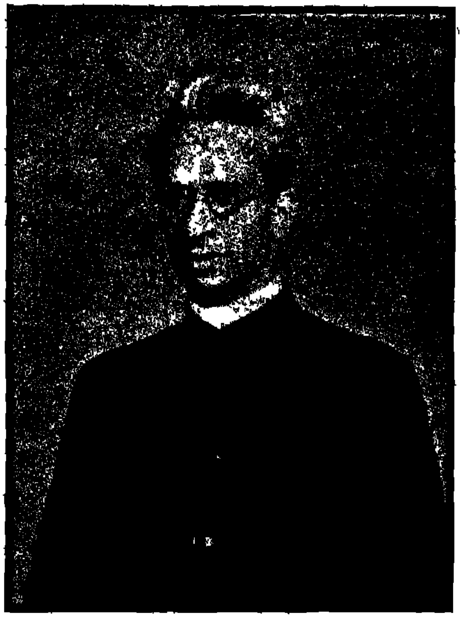
भारतीय संस्कृति में विज्ञान की हैसियत विरोध की नहीं, बल्कि सामञ्जस्य की है।

[पृष्ठ २०४ से आगे]

कल्पना, विश्वास, करुणा, सत्य या दुख, हर्ष नाते;
एक था चेतन लिए जीवन, मरण उत्कर्ष नाते।
सङ्कुचित, सङ्कीर्णदृष्टा;
सृष्टि कर टुकड़े बनी भूगोल भी जब एक सृष्टा;
और हत्यारा गया बन आप अपना श्रेष्ठ मानव;
प्रकृति हुङ्कारी, गढ़ूंगी कृति नयी हिंसालु दानव!
यह अहिंसा, शान्ति का तब कौन ईसा, बुद्ध डोला?
कौन बोला?
आज संस्कृति के शिखर से कौन बोला?

जीवन का सांस्कृतिक रूप

सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन



आज हम जिस युग में रह रहे हैं वह युग युद्ध, युद्ध की ज़बरदस्त तय्यारियों और उनके राजनैतिक तथा आर्थिक दुष्परिणामों का युग है। यह विचारों का नहीं शब्दों का युग है। हम बुलन्द आवाज़ में नारों को दुहराते हैं और समझते हैं कि हम सोच रहे हैं। प्रचार की कला चारों ओर से हमारे दिमाग़ों पर असर डालती रहती है। हम सिनेमा पर पलते हैं और रेडियो की शिक्षा पाते हैं। दूसरे व्यक्ति हमारे लिये सोचते हैं और हम सोच विचार की परेशानी से बच जाते हैं। हमारा जीवन बिलकुल मशीनों की तरह हो गया है। यदि कोई व्यक्ति राजनैतिक दलों द्वारा निश्चित की हुई नीति से सहमत नहीं होता और राजनीति की अपेक्षा दूसरे व्यापक सिद्धान्तों पर अधिक विश्वास रखता है, तो उसे आफत समझकर जड़ से उखाड़ देने की जरूरत समझी जाती है। यदि मैं यह कहूं कि हमारे व्यक्तित्व को ही चकनाचूर किया जा रहा है तो मैं ग़लत नहीं हूं।

व्यक्ति जीवन की अन्तिम सचाई है। समाज का उद्देश्य व्यक्ति के गुणों को उन्नत बनाना है। उसे सुसंस्कृत करना है। व्यक्ति के दिमाग़ी सदाचार, उसके स्वभाव की उदारता और दया से ही उसकी उन्नति का अन्दाज़ा लगाया जायगा। किन्तु अपने पड़ोसी के साथ उदारता के व्यवहार का यह अर्थ नहीं कि पड़ोसी को तुम अपनी तरह बना लो। उसे उसकी तरह होने का अवसर दो। वह तुमसे भिन्न व्यक्ति है। तुम्हारे दिमाग़ी वस्त्र शायद दूसरों को ठीक न बैठें और तुम्हारे आध्यात्मिक भोजन से मुमकिन है दूसरे को सन्तोष न हो। उसका अपना एक अलग व्यक्तित्व है। उसे अपनी असफलताओं की तकलीफ़ और सफलताओं की ख़ुशी अनुभव करने का अवश्य मौक़ा मिलना चाहिये। उसे अपने तईं दूसरे व्यक्तियों से अनोखा और भिन्न होना चाहिये। जीवन व्यक्तित्व के साथ ही शुरू होता है और बहुत दरजे तक व्यक्तित्व के साथ ही समाप्त होता है। यदि हम किसी व्यक्ति से उसकी कल्पना और उसकी साहसपूर्ण निर्माण की क्षमता और अपने समकालीन लोगों पर उस व्यक्ति की दिमाग़ी छाप को हटा लें, तो हम एक बड़ी हद तक इतिहास के रुख़ को ही बदल देंगे।

कलापूर्ण जीवन और मशीन जैसे जीवन में एक बड़ा अन्तर है। राजनीति और अर्थशास्त्र चाहे वे समस्त सुविधाएं एकत्रित कर दें, जो जीवन के लिये आवश्यक हैं, किन्तु हम अच्छी तरह जीवित रहना चाहते हैं। एक विशेष उद्देश्य के लिये जीवित रहने में ही जीवन का सच्चा सुख है। क्या यह मैं समझूं कि शिक्षक, कलाकार और दार्शनिक हमें जीवन की कला सिखाने और जीवन को गतिविधि देने के सम्बन्ध में राजनीतिज्ञों से भी अधिक हमारे उत्तम

पथ निर्देशक हैं और इस सम्बन्ध में हमें उनसे अधिक मदद मिलती है ?

यदि इस देश का कोई सांस्कृतिक सन्देश है, तो वह राजनीति या अर्थनीति में नहीं है, बल्कि दर्शन और धर्म में है। हमारे देश के इतिहास की विशेषताएं राजा, सम्राट, लड़ाइयें या युद्ध नहीं हैं, बल्कि ऋषि और धर्म ग्रन्थ हैं। सदा से ही भारत ने सैनिकों और राजनीतिज्ञों, या बनियों और व्यापारियों अथवा कवि और दार्शनिकों, जिन्होंने अपने शब्दों और कृत्यों से दुनिया को प्रभावित किया है, की उतनी क़द्र नहीं की, जितनी उन तपस्वी आत्माओं की, कि जिनकी महत्ता इस बात में नहीं है कि वे क्या कहते थे, बल्कि इसमें कि वे स्वयं क्या थे; ऐसे व्यक्ति जिन्होंने हमारे देश के विचारों और जीवन पर असीमता की छाप लगाई, और जिन्होंने दुनिया में भलाई के अप्रकाश्य गुणों को बढ़ाया। उन्होंने ऐसी दुनिया को, जो शक्ति और सांसारिक सुख की पुजारी है, पारलौकिक सत्य और आत्मा के रहस्य के दर्शन कराये। बावजूद अपने पतन और ग़रीबी, अपनी गुमनामी और अपने त्याग के भारत आज भी ज़बर्दस्त आत्मिक बल का प्रदर्शन कर रहा है।

ज़रा इतिहास के पन्नों को उलटाइये और फिर बताइये कि आपको उनमें क्या दिखाई देता है ? यही न कि क़ौमें और सभ्यताएं अनन्त और अनश्वर नहीं होतीं। वे फूलती हैं, फलती हैं, गिरती हैं और नष्ट हो जाती हैं। महान यूनानी सभ्यता का जीवन काल केवल ८०० वर्ष था, रोम की सभ्यता केवल ९०० वर्ष तक ही क़ायम रह सकी और बाइज़ेंटिअम (पूर्वीय रोमन) सभ्यता मुश्किल से हज़ार वर्ष जिन्दा रही। बाइज़ेंटिअम सभ्यता के बाद वर्त्तमान सभ्यता के अभी से नाश के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। इस सब का क्या अर्थ है ? इसका अर्थ यह है कि ऐसी सभ्यताएं, जो सांस्कृतिक और धार्मिक सिद्धान्तों को अधिक महत्व देती हैं, वे अधिक काल तक जीवित रहती हैं और जो महज़ शक्ति, तर्क और भौतिक उन्नति पर ही ज़ोर देता है, वे अधिक काल तक जीवित नहीं रहतीं। ईसा ने कहा है—धन्य हैं वे नम्र आत्माएं क्योंकि संसार अन्त में उन्हीं का है। संसार पर अन्त में असंसारियों का ही प्रभुत्व होगा।

शहरों और राष्ट्रों से भी अधिक अन्य बातों का मूल्य होता है। हमारे इस देश ने सामयिक वस्तुओं को कभी महत्व नहीं दिया। अनन्त की भावनाओं को ही उसने सदा अपना लक्ष्य बनाया है। यह हमारी विशेषता है और हमारी कीर्ति का विषय है कि प्रत्येक युग में और देश के हर भाग में हमने ऐसी महान आत्माएं पैदा की हैं, जिन्होंने इस उच्च आदर्श को अपने जीवन में चरितार्थ किया है। आज भी हमारे देश में ऐसी महान आत्माएं मौजूद हैं, जो दावे के साथ इस बात का प्रचार करती हैं कि हिंसा की राजनीति से संसार का उद्धार तभी होगा, जब हम अनन्त पर विश्वास रखें और घृणा की जगह प्रेम के सिद्धान्त को अपनाएं।

इस तरह के व्यक्ति मौजूद हैं, जो कहते फिरते हैं कि धर्म हमारे लिये अभिशाप रहा है, हमारी मानवता पर इसने पाले का काम किया है, इसने समाज की उन्नति को रोक दिया है और जितना शीघ्र हम इस धर्म से छुटकारा पायें हमारे लिये उतना ही कल्याणकर है। ये लोग धर्म को जीवन के सिंहासन से उतार फेंकना चाहते हैं। ये लोग कहते हैं हिटलर की इस सफलता को देख कर हम धर्म पर कैसे विश्वास करें। वे प्रश्न करते हैं कि 'क्या ईश्वर कहीं है ?' 'क्या धार्मिक होने में कोई लाभ है ?' 'क्या यह उचित है कि असख्य मनुष्य अपना आत्म विश्वास खोकर धर्म का सहारा लेकर रीढ़ की हड्डी तुड़वा लें ?' मैं केवल इसी बात पर ज़ोर देना चाहता हूं कि वास्तविक अर्थों में धर्म जीवन से भिन्न वस्तु नहीं है। अध्यात्म को सदा दैनिक जीवन में उतारा जा सकता है। हम जीवन के अमर सिद्धान्तों की उपेक्षा नहीं कर सकते। राजनैतिक परिस्थितियों और आर्थिक मार्गों से उनका कहीं विरोध नहीं होता। फ़र्ज़ कीजिये हमारा आर्थिक जीवन संगठित हो जाय और म्युनिसिपैल्टियां हमारे लिये अच्छी सड़कें, मुफ़्त पानी और उम्दा रेडियो सेटों का प्रबन्ध

कर दें, तो क्या हम पूरे सुखी और सतोषी बन सकेंगे ? क्या संसार के समृद्ध और धनी मनुष्य आज सबमें ज़्यादा दुखी नहीं हैं ? अमरीका में आत्महत्या करने वालों का बहुमत धनी धोरी व्यक्तियों का होता है। धन जीवन की जिन सुविधाओं और आशाइशों को ख़रीद सकता है, उन्हें प्राप्त करते ही क्या हमारे अन्दर से ईर्षा, मूर्खता, अभिमान और नफरत का अन्त हो सकता है ? उस समय भी व्यक्तिगत जीवन की शुद्धता को मूर्खता और स्वार्थ नष्ट कर देंगे। जीवन में आर्थिक सिद्धान्तों के अलावा और भी दूसरे सिद्धान्त हैं। भौतिक वस्तुओं की बहुतायत ही सुख की कुंजी नहीं है।

प्रत्यक्ष वस्तुओं के अतिरिक्त मनुष्य का जीवन कहीं अधिक ऊंची बातों के लिये है। सत्य की तलाश व आन्तरिक सौन्दर्य के सृजन और आत्मज्ञान के लिये मनुष्य भूख और प्यास सहता है, शरीर को कष्ट देता है और लम्बी लम्बी तीर्थ यात्राएं करता है। हम इसे उसका क्षणिक झक्कीपन कह कर नहीं टाल सकते। लोगों के आराम और सुखी जीवन को ध्यान में रखते हुए जब हम दुनियाँ का संगठन करें, तो हमें इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिये कि हम उनके दिमाग़ में प्रेम की भावना भरें और जीवन के अमर सिद्धान्तों की ओर उनकी आस्था पैदा करें।

इसलिये मेरा यह विश्वास है कि जीवन के लिये भारतीय संस्कृति का यह श्रेष्ठ सन्देश न केवल बाहरी दुनियाँ के लिये उपयोगी है, बल्कि हमारे देश में भी इसके दोहराने की ज़रूरत है।

अन्धकार में से प्रकाश में

श्री सुधीन्द्र एम. ए

लाओ जीवन को ज्योतिर्मय !
अन्धकार में से प्रकाश में

करुणा के जलनिधि ये जल-जल,
आज उठाते हैं क्यों बादल ?

बरसा रहे धरा पर विप्लव
गरज-गरज कर भवाकाश में।

कसक रही पीड़ा से संसृति
सिसक रही है मानव - संस्कृति

पृथिवी की सभ्यता युगों की
आज जा रही चिर विनाश में !

अपना यह ताण्डव प्रलयंकर
बन्द करो विश्वम्भर शङ्कर !

बरसाओ रस, सरसाओ जग
लाओ मूर्छित भव विकास में !

चीनी संस्कृति की नवचेतना

मैडम चियाङ्ग काइ शेक

७ जुलाई सन् १९३७ की रात को मौजूदा चीन जापान युद्ध शुरू हुआ था। तब से चार वर्ष से अधिक हो चुके। जापानी राजनीतिज्ञों का दावा था कि तीन महीने में ही चीन आत्मसमर्पण कर देगा, किन्तु शंघाई में ही चीनी सैनिकों ने वीरता पूर्वक तीन महीने तक जापानी आक्रामकों को अटका रखा। जब हमारी सेनाओं ने दिसम्बर में नानकिङ्ग, मई में हूसुचाओ और अक्तूबर सन् १९३८ में हानकाओ और कैण्टन खाली कर दिया तब उस समय सभी विदेशी नीतिज्ञों की राय थी कि यदि छै महीने में नहीं तो १५ महीने मे सम्पूर्ण देश जापानियों के सामने घुटने टेक देगा।

किन्तु यह सारा अन्दाज़ गलत निकला। यह सही है कि चार वर्ष के भयकर युद्ध के बाद जापान ने चीन के एक बड़े भू-भाग पर क़ब्जा कर लिया है, फिर भी इस युद्ध ने और हमारी शुरू की हारों ने हमारे सदियों के सोये हुए प्राणों को झकझोर कर जगा दिया है। हमारी खोई हुई चेतना मानों फिर से वापस लौट आई। यही नहीं कि हमने सम्हलकर अपने शत्रुओं से सफलता पूर्वक मोर्चा लिया, बल्कि हमने अपने राष्ट्रीय जीवन के हर क्षेत्र का लेखा जोखा किया, समय के साथ अपने क़दमों को मिलाकर ठीक किया। अपने सामाजिक जीवन, सांस्कृतिक दृष्टिकोण, उद्योग-धन्धे, शिक्षा, रहन-सहन, आचार-विचार, परस्पर एकता की भावना, सैनिक संगठन आदि सभी बातों का नई स्फूर्ति और नई चेतना के साथ पुनर्संङ्गठन किया। भारत और चीन हमारे दोनों देश सबमें प्रचीन और महान हैं। हम जीवन के जिन तत्वों को महत्व देते हैं, उससे हमारी सभ्यताएं समय के हमलों से सुरक्षित और स्थायी रहीं। इन्हीं गुणों ने हमारे स्वभाव में एक दृढ़ता पैदा कर दी है। यह दृढ़ता ही हमारी महान पूंजी है। भौतिक वस्तुओं को हमारे जीवन में सदा गौण स्थान ही मिला है। यही नहीं हमने उनकी सदा अवज्ञा की है। जिन शक्तियों के साथ हम टकराए उन पर क़ाबू पाने के लिये यह आवश्यक था कि हम अपने अध्यात्मिक गुणों के साथ इन भौतिक वस्तुओं का समन्वय भी करते। यदि हमने यह किया होता तो ससार की शान्ति आज हमारे हाथों में सुरक्षित होती।

लेकिन आज हम जाग गये हैं। हमारी इस सांस्कृतिक नव चेतना ने वस्तुस्थिति को ठीक ठीक समझ लिया है और इसी का नतीजा है कि चीनी राष्ट्रीय जीवन का हर कल पुर्जा अपनी जगह ठीक ठीक काम कर रहा है। इन चार वर्षों के भयकर रक्तपात और नाश के बीच में ही हम भावी चीन का निर्माण कर रहे हैं। देखने वालों को भले ही हमारे प्राचीन खण्डहर दिखाई दे रहे हों, किन्तु इन्हीं खण्डहरों के नीचे जीवन का वह अक्षय कोष सचित हो रहा है, जो अखिल मानवता के शानदार भविष्य का द्योतक है।

हमने अपनी सेनाओं को इसी बीच संगठित किया है। उन्हें हथियारों से लैस किया है। दसियों गुनी उनकी तादाद बढ़ाई है। अनेक कारखाने और फैक्टरियाँ हमने खोली हैं। सड़कों के जाल पूरे हैं। जगह जगह रेलें बिछाई हैं। विश्वविद्यालयों और शिक्षा को नई गति विधि दी है।

किन्तु ये चार वर्ष हमारे लिये ज़बर्दस्त कष्टों के वर्ष रहे हैं। करोड़ों व्यक्तियों को जिन आपदाओं का सामना करना पड़ा है वे अवर्णनीय हैं और अभी इन विपत्तियों का अन्त भी नहीं दिखाई देता। किन्तु अपने नये जीवन के लिये राष्ट्र को यह क़ीमत चुकानी तो लाज़मी है। जब तक सफलता नहीं मिलती हम यह क़ीमत बराबर चुकाते रहेंगे। सफलता हमें अवश्य मिलेगी क्योंकि इसमें न केवल चीन का बल्कि अखिल मानवता का कल्याण निहित है।

मंगर : हलवाहा

श्री रामवृक्ष बेनीपुरी

हट्टाकट्टा शरीर। कमर में भगवा। कंधे पर हल। हाथ में पैना। आगे-आगे बैल का जोड़ा। अपनी आवाज़ के हहास से ही बैलों को भगाता, मेरे खेत की ओर सुबह-सुबह जाता, जब से मुझे होश है, मैंने मगर को इसी रूप में देखा है।

हाँ, मुझे याद है, हल के बदले कभी कभी मुझे भी उसके कंधे पर चढ़ने का सौभाग्य मिल चुका है। लेकिन, ऐसे मौक़े बहुत कम आये हैं। क्योंकि, न जाने क्यों, मगर को बच्चों से वह स्वाभाविक स्नेह नहीं, जो उसके ऐसे लोगों में प्रायः देखा जाता है। उसे देखकर बच्चे भागते ही रहे हैं और आज जब मगर अशक्य, जर्जर हो चुका है, बच्चे, मानों इसका बदला चुकाने को, अपनी छोटी छड़ियों से उसे छेड़ कर भागते हैं और जब वह झल्लाता, उन्हें मारने के लिये अपनी बुढ़ापे की लकुटिया खोजता, या खीझ कर गालियाँ बकने लगता है, तो वे खिलखिला पड़ते और उसका मुंह चिढ़ाने लगते हैं।

बच्चों से उसकी वितृष्णा क्यों हुई? शायद इसलिये तो नहीं, कि उसे जो एक ही बच्चा नसीब हुआ, वह 'कमाऊ पूत' बनने के पहले ही, उसे दग़ा देकर चल बसा और उसको एक बच्ची बची भी, सो, लूली; और, जिसकी शादी में उसने इतनी दरियादिली दिखलाई, लेकिन, एक बार मुसीबत काटने उसके दरवाज़े वह पहुंचा, तो दामाद ने ऐसी बेरुख़ी दिखलाई कि मगर का स्वाभिमान उसे वहां से ज़बर्दस्ती भगा लाया।

मगर का स्वाभिमान!—ग़रीबों में भी स्वाभिमान है, लेकिन, मगर की ख़ूबी यही रही है। मगर ने किसी की बात को बर्दाश्त नहीं की और शायद अपने से बड़ा किसी को, मन से, माना भी नहीं। मगर मेरे बाबा का अदब करता, शायद उनके बुढ़ापे के कारण। सुना है, मेरे बाबू जी को बहुत चाहता—शायद उनके नेक स्वभाव के कारण। किन्तु, मेरे चाचाओं को तो उसने हमेशा अपनी बराबरी का ही समझा और मुझे तो वह कल तक 'तू' ही कहकर पुकारता था। किसकी मज़ाल जो मगर को बदज़बान कहे? हलवाहों को मिलनेवाली नितभंन की गालियाँ तो दूर की बात।

ऐसा क्यों? उसका ख़ास कारण, मंगर का यह हट्टाकट्टा शरीर और उससे भी अधिक उसका सख़्त कमाऊपन, जिसमें ईमानदारी ने चार चाँद लगा दिये थे। जितनी देर में लोगों के हल दस कट्ठा खेत मुश्किल से जोतते, मगर पन्द्रह कट्ठा जोत लेता और वह भी ऐसा महीन कि पहली चास में ही सिराऊ मिलना मुश्किल। मगर को यह भी बताने की ज़रूरत नहीं कि कल किस खेत में हल जायगा। वह शाम को ही खेतों की आर-आर घूम आता और जिसकी ताक होती, वहाँ हल लिये सुबह-सुबह पहुंच जाता। जुताई के वक़्त किसी की देख रेख की भी ज़रूरत नहीं। आम हलवाहों के पीछे किसान जो लट्ठ लिये पड़े रहते और, तो भी वे जी चुराते, ढिलाई करते, आज का काम कल के लिये छोड़ते, यह आदत मगर में थी ही नहीं। यों ही, रखवाली चाहे तरी फ़सल की हो, या सूखी पसही की; खलिहान में चाहे बोझों की सील हो या अनाज की रास—मंगर पर सब छोड़कर निश्चिन्त सोया जा सकता था।

दूसरा ऐसा 'जन' मिलेगा कहाँ? फिर क्यों न उसकी क़द्र की जाय? मेरे बाबा कहते थे, मंगर हलवाहा नहीं है, सवाँग है। वह अपने सवाँग की तरह ही कभी-कभी रूठ जाता था और जब तब लोगों को झिड़क भी देता था। उसकी झिड़क सब की सर आँखों पर; उसके रूठने, पर उसकी मिन्नतें होतीं।

कभी-कभी बातें कुछ बढ़ भी जातीं। एक दिन काफ़ी कहा सुनी हो गई। दूसरे दिन मंगर हल लेने

नहीं आया। इधर से बुलाहट भी नहीं गई। रुपये हैं, तो हलवाहे न होंगे? कोई नया हलवाहा लेकर जोता गया। उधर कोई दूसरा किसान जाकर मंगर से बोला— मगर, देख उन्होंने दूसरा हलवाहा कर लिया है। उन्हें रुपये हैं, हजार हलवाहे मिलेंगे, तो तेरे भी शरीर है, हजार गृहस्थ मिलेंगे। चल, हमारा हल जोत तू जो कहेगा, मजदूरी दूँगा। लेकिन मेरा सिर जो दर्द कर रहा है—मगर ने कहा और उसका यह सर दर्द तब तक बना रहा, जब तक झख मार कर मेरे चाचा जी उसे फिर बुलाने नहीं गये। क्योंकि चार दिन में ही मालूम हो गया, मगर क्या है! बैल के कंधे छिल गये, पैर में फार लग गया। खेत में हल तो चला, लेकिन, न ढेला हुआ, न मिट्टी मिली। फिर, खेत की आर पर बैठकर दिन भर हलवाहे को टुकारी देते रहिये, तब कहीं दस कट्ठा जमीन जुते। मगर के बिना काम चल नहीं सकता।

चाचा जी उसके दरवाजे पर खड़े हैं। मगर भीतर घर में बैठा है। मगर की अर्धाङ्गिनी भकोलिया ने कहा—मालिक खड़े हैं, जाओ, मान जाओ। "कहदे, मेरा सिर दर्द कर रहा है" मगर ने चाचा जी को सुनाकर कहा। "मालिक, जरा इनके सिर पर मलकिन से तेल दिला दीजियेगा।" भकोलिया हँसते हुए बोली! "तू मुझसे दिल्लगी करती है।" मगर के स्वर में खीझ और नाराज़ी थी। "मगर, चलो, आपस में कभी कुछ होही जाता है, माफ करो।" चाचा जी के स्वर में आरजू थी। "जाइये, उसी से जुतवाइये, जिससे चार दिन जुतवाया है। मुझे ले जाकर क्या होगा? आधी रोटी की बचत भी तो होती होगी।" यों ही कुछ देर तक नोक-झोंक, आरज़ू-मिन्नत। फिर मगर अपना हलवाही पैना हाथ में लिये आगे-आगे; चाचा जी, पीछे-पीछे!

यह आधी रोटी की बात क्या! इसे समझा आपने? इसे मगर का खास इज़ारा समझिये। गाँव भर में हलवाहे को एक रोटी मिलती, मगर के लिए डेढ़ रोटी जाती। वह भी रोटी सुअन्न की हो और अच्छी पकी हो। उस पर कोई तरकारी भी ज़रूर हो। क्योंकि मगर किसी का 'कच्चा नमक' नहीं खाता। मगर की सभी शर्तें पूरी होतीं।

लेकिन यह डेढ़ रोटी वह खुद खाता, ऐसा आप नहीं समझें। क्या अपनी अर्धाङ्गिनी के लिये लाता? नहीं। एक अपने खाता और आधी को दो टुकड़े कर दोनों बैलों को खिला देता। यों, वह आधी रोटी फिर मेरे ही घर लौट आती। लेकिन इसमें कोई काट कपट नहीं हो सकती थी। महादेव मुँह ताकें और मैं खाऊँ, यह कैसे होगा? मगर के लिये ये बैल नहीं, साक्षात् महादेव थे।

एकाध बार बात बहुत बढ़ गई, तो मंगर मेरा गाँव छोड़कर चला गया। लेकिन, गाँव में रहते उसने दूसरे का परिहथ नहीं पकड़ा। दूसरे गाँव में भी वह जम नहीं सका। तब तीसरा गाँव देखा और अन्त में मारा-मारा फिर मेरे गाँव में लौटा। शायद मेरे घर ऐसा क़द्रदाँ उसे कहीं नहीं मिला।

कपड़े से मगर को वहशत रही है। हमेशा कमर में भगवा ही लपेटे। उसे धोतियाँ मिली हैं। हर साल, गोवर्धन पूजा के दिन एक नई धोती लिये बिना वह बैलों की सींग में लटकन बाँधता क्या? यों भी बाबा और चाचा साल में जब तब उसे पुरानी धोतियाँ दिया करते। घर में शादी-ब्याह होने पर उसे लाल धोतियाँ भी मिली हैं! मेरी शादी में मगर के लिये नया कुर्ता भी बना था। लेकिन धोतियाँ हमेशा ही उसके सिर का ही सिंगार रहीं, जिन्हें वह मुरेठे की तरह लपेटे रहता। और कुर्ता जब वह मेरी किसी कुटुमैती में सन्देश लेकर जाता, तभी उसकी देह ढँकता। साधारणतः वह हमेशा ही नगधड़ंग रहता। और मैं कहूँ, मुझे उसका शरीर, उस रूप में बहुत ही अच्छा लगता। आज एक कलाकार की नज़र से कहता हूँ, मगर को खूबसूरत शरीर मिला था!

कालाकलूटा—फिर भी ख़ूबसूरत!

सौन्दर्य की रंगसाज़ी और नक़्क़ाशी का मज़मूआ समझने वालों की रुचि मैं नहीं समझ पाता, यह कहने की गुस्ताख़ी के लिये मैं आज भी माफ़ी माँगने

को तैयार नहीं। मंगर का वह कालाकलूटा शरीर—एक सम्पूर्ण सुविकसित मानव-पुतले का उत्कृष्ट नमूना। लगातार की मेहनत ने उसकी मास-पेशियों को स्वाभाविक ढग पर उभाड़ रखा था। पहलवानों की तरह उनमें अस्वाभाविक उभाड़ नहीं थी। जाघ, छाती, भुजायें—सब में जहाँ जैसी गठन और जितनी उभाड़ चाहिये, बस, उतनी ही। न कहीं मास का लोंधा, न कहीं सूखी काठ। एक सुडौल शरीर पर स्वाभाविक ढग से रखा एक साधारण सिर। मगर के शरीर का ख़याल आते ही मुझे प्राकृतिक व्यायाम के हिमायती मि० मूलर की आकृति का स्मरण हो आता है। सैंडो के शैदाई उससे कुछ निराश हों, तो आश्चर्य नहीं।

लेकिन आज न वह देवी रही, न वह कड़ाह रहा। मगर वह नहीं रहा, जो कभी था। ग़रीबी को वह अपने अक्खड़पन से हमेशा धता बताये रहा, लेकिन उम्र के प्रहारों से वह अपने को बचा नहीं सका। उसकी एक-एक चोट उसे धीरे-धीरे जर्जर बनाती रही और आज उस पर यह कहावत लागू है, "सूखी हाड़, ठाठ भई भारी, अब क्या लादोगे व्यापारी !"

उसके शरीर का मास और मास-पेशियाँ ही नहीं गल गई हैं, उसकी हड्डियाँ तक सूख गई हैं। आज का उसका यह शरीर उस पुराने शरीर का व्यग्यचित्र मात्र रह गया है। बुढ़ापे के प्रहारों के लिये जो ढाल का काम करती, उस चीज का सग्रह मगर ने कभी किया ही नहीं। "आज खाये औ कल को झक्खे, ताको गोरख संग न रक्खे"—का उपासक यह मगर सग्रह का दुश्मन रहा है। कोई सन्तान भी नहीं रही, जो बुढ़ापे की लाठी बनती। उम्र ने इस निरस्त्र, कवचहीन योद्धा पर वे सभी ज़ुल्म ढाये, जो वह ढाल सकती थी।

मंगर बुढ़ापे के कारण हल चलाने के योग्य नहीं रह गया, तो कुछ दिनों तक उससे बहुत कुछ फुटकर हल्के काम लिये गये। लेकिन यह भी ज़्यादा दिनों तक नहीं चल पाया। अब एक ही उपाय रह गया था, उसे पेंशन मिले। किन्तु, हलवाहों—यथार्थ अन्नदाताओं—के लिए पेंशन की हमारे अभागे देश में कहाँ व्यवस्था ? और व्यक्तिगत दया का दायरा तो हमेशा ही तग रहा है। फिर मंगर में जली हुई रस्सी की ऐंठन ही बाक़ी नहीं है, उसकी पूरी गर्मी आज भी मौजूद है, जिससे दया का बादल हमेशा दूर-दूर ही भागता है। दया का बादल चाहता है, आशीर्वचनों की शीतल सनह और मंगर के शब्दकोष में उनका सर्वथा अभाव ही समझिये। इसके बदले आज भी वही बेलौस बातें, झड़प और झिड़कियों की आच—जो पानी को कौन कहे, ख़ून को भी सुखा डाले। इसके बावजूद उदारता की स्वाती बूंदें टपकती रहीं—किन्तु, पपीहे की प्यास उससे भले ही बुझे, मगर की बुढ़ापे की मरुभूमि उससे सींची नहीं जा सकती। यह दावे के साथ कहा जा सकता है, आज मगर की यह हड्डियों का झाँझर भी हम नहीं पाते, अगर उसकी अर्द्धांङ्गिनी नहीं होती।

उसकी अर्द्धाङ्गिनी—भकोलिया ! मगर की आदर्श जोड़ी। वही जमुनिया रंग—काली कह कर मैं उसका अपमान क्यों करूँ ? दो ही बच्चे हुए, इसलिये स्त्रीत्व के उस महान क्षय से वह बहुत कुछ बची रही, जो मातृत्व का सुन्दर नाम पाता है। यही कारण है, मगर जर्जर-झर्झर हो गया, लेकिन भकोलिया अभी चलती-फिरती है, कुछ हाथ पाँव चला कर सग्रह कर लेती और दोनों प्राणियों की गुज़र बसर चला पाती है।

भकोलिया—मगर की आदर्श जोड़ी। शारीरिक ढाँचे में ही नहीं, स्वभाव में भी। वे भी दिन थे, जब वह तमककर बोलती, झपटकर चलती। न किसी को मुह लगाती, न किसी की हेठी बर्दाश्त करती। जिस किसी ने छेड़ा, मानो काली साँपिन के फन पर पैर रखा। लेकिन, भकोलिया में सिर्फ़ फुकार मात्र थी—दशन और विष का आरोप, उसके साथ महान अन्याय होगा।

पर, मर्दों की अपेक्षा औरतें अपने को परिस्थिति के साँचे में ज़्यादा और जल्द ढाल सकती हैं, इसका उदाहरण यह भकोलिया है। मगर आज भी वही मगर है, मुँह का बेलौस या फूहड़ कहिये। लेकिन, भकोलिया वही नहीं रही। किसी का बच्चा खेला-दिया, किसी का कुटान-पिसान कर लिया, किसी का गोबर पाथ दिया, किसी का पानी भर दिया और इनसे जो कुछ मिला, उसमें पहले मगर को खिला-कर आप पीछे खाने बैठी। किन्तु, इतना करने पर भी वह हमेशा मंगर की फटकार ही सुनती। मगर अब अपना सारा पित्त और पुरानी आदत उसी पर झाड़ता!

"भगवान की जैसी मर्ज़ी"—कह कर मगर जिस भगवान के नाम पर अपनी मुसीबतों को बिसर जाने का प्रयत्न करता रहा, उस भगवान ने पार साल उसकी और भी दुर्गत कर दी। मगर को ज़ोरों से अधकपारी उठी। भकोलिया उसकी चिल्लाहट से पसीज किसी दया की मूर्त्ति से दालचीनी माँग लाई और उसे बकरी के दूध में पीस कर उसका लेप मगर की ललाट पर कर दिया। "बाईं पुरपुरी और भौं पर भी"—मगर ने लेप की पहली ठंढाई अनुभव करते हुए कहा। भकोलिया उसका हुक्म बजा लाई। लेकिन, यह क्या? जहाँ जहाँ लेप था, वहाँ वहाँ अजीब जलन शुरू हुई। जलन ज़ख्म में बदली और भौं के ज़ख्म ने उसकी एक आँख ले ली। जब मैं घर गया,—"बबुआ जी, भगवान ने मेरी एक आँख ले ली, मैं काना हो गया"—कह कर मंगर रोने लगा।

मंगर को मैंने ज़िन्दगी में पहली बार रोते देखा। मैं उसे ढाढ़स दे रहा था, लेकिन, मेरा हृदय......

विपता अकेली क्यों आती?

यही पिछले माघ में मैं घर पहुँचा। सुबह धूप निकल आई थी, लेकिन, अपने चिर अभ्यास के अनुसार मैं रज़ाई से लिपटा पड़ा जागृत-स्वप्न के दरम्यान की तुरीयावस्था का आनन्द ले रहा था। मेरे कानों में थोड़ी थोड़ी देर के बाद, गिरने की-सी, धम धम आवाज़ आई। रज़ाई मुँह से हटा, आँखें खोलीं। देखा, सामने पुआल के टाल के नज़दीक एक काला सा अस्थिपिंजर बार-बार खड़ा होने की कोशिश करता और रह-रह कर गिर पड़ता है। यह क्या! कौन! चौंक कर उठा। रज़ाई फेंकी। उस ओर बढ़ा। अरे, यह तो मगर है। सुना था, मगर को अर्द्धाङ्ग मार गया है। कहा—मगर, पड़े क्यों नहीं रहते, तुम्हें कैसी चोट लग रही होगी। "पड़े-पड़े मन ऊब जाता है, बबुआ", मगर ने अपने अगले एक मात्र बचे पीले दाँत को दिखाते कहा।

उफ, मांस गया, मांसपेशियाँ गईं। खून का सोता भी सूख गया। लेकिन, मानो अब भी उसमें तरंगें उठतीं और किसी सूखे सागर की तरह बालुका-तट पर सिर धुन, पछाड़ खा, गिर-गिर पड़ती हैं! कैसा करुण दृश्य!



मध्य कालीन भारत में हिन्दू मुसलिम मेल जोल

प्रोफ़ैसर मोहम्मद हबीब एम. ए., अध्यक्ष, इतिहास-विभाग, मुसलिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़

हमारी मध्यकालीन भारत की शासन प्रणाली शुद्ध दुनियावी थी। शाही दबदबे की बुनियाद इसलामी क़ानून पर नहीं, बल्कि ईरानी रस्मरिवाज पर थी। देहली के बादशाहों और सुलतानों ने बहुत अहतियात से अपने कर्तव्य और व्यक्तिगत धार्मिक विश्वासों को शासन प्रबन्ध से अलग रखा। उन्होंने आम जनता के लिये बने हुये क़ानूनों में कभी इसलामी शरीयत (क़ानून) को ज़बरदस्ती प्रचलित नहीं किया। वे सिर्फ़ अमीरुल मोमनीन (मुसलमानों के शासक) ही न थे, बल्कि और बादशाहों की तरह अपनी समस्त प्रजा के साथ एकसा बर्ताव करते थे। यह बात बहुत विचार पूर्ण है। इससे एक तरफ़ तो उनकी राष्ट्रीय भावना का पता चलता है और यह प्रकट होता है कि दिल्ली की बादशाही शुद्ध दुनियावी बादशाही थी, और दूसरी तरफ यह पता चलता है कि दिल्ली की सल्तनत की समस्त प्रजा के प्रति वास्तविक धार्मिक सहनशीलता थी।

अपनी हिन्दू प्रजा के साथ दिल्ली के बादशाहों के सम्बन्ध धार्मिक बुनियाद पर नहीं, बल्कि राजा और प्रजा होने की बिना पर थे, जिसे दोनों अपनी अपनी जगह पर अच्छी तरह समझते थे। बादशाह को अपनी हिन्दू प्रजा के आध्यात्मिक मोक्ष से कोई सरोकार न था और न वह अपने आपको उसका ज़िम्मेवार समझता था। जब तक उसकी हिन्दू रिआया राजभक्त रहती, वह बिलकुल निश्चिन्त रहता।

हिन्दू भी राजनैतिक मामलों में बादशाह की मदद करने को तैयार रहते थे। लेकिन अपने धर्म में किसी तरह का दख़ल नहीं सह सकते थे। जब तुर्कों के हमलों की बाढ और उनकी विजय का काल समाप्त हो गया, तो यह बात तै हो गई कि शासन की बुनियाद सिर्फ़ सहनशीलता पर रखी जा सकती है। हिन्दुस्तान भर में जितने हिन्दुओं के मन्दिर थे, वे सुरक्षित छोड़ दिये गये। ज़ुल्म के जिन तीन चार हवालों की ओर हमारे इतिहासज्ञ, इशारा करते हैं वे उस अत्याचार को साबित करने के बजाय उन्हें झुठलाते हैं। कहा जाता है हिन्दुओं को घोड़े पर सवार होने और तीर वग़ैरह चलाने की इजाज़त न थी और जुलूस निकालने, नहान और पूजा पाठ करने की आम तौर पर रोक थी। मगर यह दास्तानें इतिहास के ग़लत अध्ययन से पैदा हुई हैं। मसलन ज़ियाउद्दीन बरनी अपनी "तारीख़ फीरोज़शाही" में लिखता है—

'अलाउद्दीन खिलजी के तर्जेअमल से हिन्दू की हालत इतनी पस्त होगई थी कि न वह घोड़े पर सवार हो सकता था, न रेशमी लिबास पहन सकता था और न ईरानी कमान से तीर चला सकता था।"

बरनी के बयान को ग़ौर से पढने वाले को इतमीनान हो जायगा कि उसका मतलब तमाम हिन्दुओं से नहीं, बल्कि 'हिन्दू' से उसका तात्पर्य है 'गाव के मुखिया' से। अलाउद्दीन से पहले ये मुखिया कर वसूल करने वाले कर्मचारियों को बहुत सताते थे और इन्होंने किसानों पर बहुत बेजा बोझ डाल दिया था और अपने गाव पर अपने मालिकाने का दावा करने लगे थे। मगर अलाउद्दीन ने उनका ज़ोर तोड़ दिया। बरनी यह नहीं कहता है कि उनको घोड़े पर सवार होने और रेशमी कपड़े पहनने की मनाही थी बल्कि यह कि वे इतनी ग़रीब हो गये कि इन नियामतों से लुत्फ उठाने की उनमें शक्ति ही न रही। बदक़िस्मती से इस वाक्य ने बड़ी ग़लतफ़हमी पैदा करदी है। मुखियाओं में बहुमत हिन्दुओं का था लेकिन इनमें मुसलमान भी थे और अलाउद्दीन का हुक्म सबके लिये एकसा था।

मलिक नामक एक हिन्दू अलाउद्दीन की फ़ौज में सेनापति था और चित्तौड़ का राना ५,००० सैनिकों के साथ उसके हरावल की कमान करता था।

ऐसी ऐसी बहुत सी मिसालें मौजूद हैं। तो क्या ऐसे सम्प्रदाय के लोग, जिन्हें घोड़े पर सवार होने और हथियार बांधने की मनाही रही हो, यह हैसियत हासिल कर सकते थे ?

मैं एक मिनट के लिये भी इस तरह की राय बनाना गवारा नहीं कर सकता कि सारी सल्तनत में हिन्दुओं के प्रति जो सहनशीलता थी वह केवल बादशाह का अनुग्रह था, या यह कि उसे मुसलमानों का दुराग्रही तबक़ा भी पसन्द करता था। यह सहनशीलता तो मजबूरियों और राजनैतिक आवश्यकताओं की पैदावार थी। मध्यकाल का हिन्दू सशस्त्र था और योग्य शासक था। उसके साथ सहनशीलता इसलिये बरती जाती थी कि मजबूरी थी। उसके सिवाय और कोई चारा न था।

सन् १२९१ ईस्वी में सुलतान जलालुद्दीन खिलजी ने रणथम्भौर का घेरा डाला। लेकिन उसे अजेय और अभेद्य पाकर फौज को हटाने का हुक्म दे दिया। बादशाह के भतीजे मलिक अहमद हबीब ने इसका विरोध किया और कहा कि "इससे शाही रोब कम हो जायगा। हुज़ूर वाला! सुलतान महमूद और सुलतान सजर के नक़्शे क़दम (पदचिह्नों) पर क्यों नहीं चलते ?" सुलतान ने हंसकर जवाब दिया—"साहब ज़ादे! महमूद और सजर के सिपाही और प्यादे तक मुझसे हजार दर्जे बेहतर और सम्माननीय थे। मैं क्या और मेरी बादशाही की शान और ताक़त क्या, जो मैं उनकी बराबरी करूं! बेवकूफ! तू देखता नहीं कि हिन्दू रोजाना मेरे महल के सामने से शंख बजाते और ढोल पीटते हुए जमुना के किनारे अपनी मूर्तियों को पूजने जाते हैं। वे मेरी आंखों के सामने अपने कुफ्र की रस्म मनाते हैं। मेरी और मेरे शाही रोब की हतक करते हैं। शर्म है मेरे लिये और मेरी बादशाही के लिए। मेरा नाम हर जुमे के ख़ुतबे में पढ़ा जाता है। लेकिन मेरे दीन के दुश्मन हैं जो मेरी राजधानी में मेरी आंखों के सामने ऐशो इशरत और शानो शौकत से ज़िन्दगी बसर कर रहे हैं और दौलत और ख़ुशहाली के कारण मुसलमानों से गुस्ताख़ी के साथ अपनी शान और घमण्ड को ज़ाहिर करते हैं। शर्म है मेरे लिये! मैं उनको उनके ऐशो इशरत और फख्र और ग़ुरूर में छोड़े हुए हूं और इन चन्द तिनकों पर सब्र किये हुए हूं जो वे ख़ैरात के तौर पर मुझे दे देते हैं।"

यह था एक ऐसे शख्स का रोना पीटना जो इतना निर्बल था कि वह हिन्दुओं से नफ़रत तक न कर सकता था! जलालुद्दीन जिसको आम समझ सकुचित धार्मिक भावना से ऊपर थी दिल्ली वापस आया, लेकिन हिन्दुओं के खिलाफ उसने कोई कार्रवाई नहीं की। महमूद गजनवी का ज़माना बीत चुका था, अब वह दोबारा वापस नहीं आ सकता था। दिल्ली के बादशाह खुशी खुशी या मजबूरी में इन्हीं शर्तों पर बादशाहत करते थे, जिनको हिन्दू नापसन्द नहीं करते थे।

वह असहनशीलता, जिसका जलालुद्दीन खिलजी आदेश देता था, मगर जिसपर वह स्वयं नहीं चल सकता था, वास्तव में इसलाम का कोई अङ्ग न थी। जो मुसलमान धार्मिक असहनशीलता को अपना कर्तव्य समझते थे, उन्हें मजबूरन सहनशील बनना पड़ा।

सुलतान महमूद जैसा एक विदेशी और स्वेच्छाचारी शासक, जिसके साथ एक जबर्दस्त फौजी ताक़त थी, यह ज़रूर कर सकता था कि शान्तिपूर्ण शहरों को लूटकर और लूट का माल लादकर ले जाता। लेकिन दिल्ली के अन्दर रहकर बादशाहत करने वालों के लिये, जो अपनी हिन्दू रिआया के लगान और उनकी फौज और उनकी दुनियावी ताक़त पर निर्भर थे, इस तरह की कोई बात करनी असम्भव थी। उनके लिये साम्प्रदायिक झगड़े सख्त तबाही के कारण होते। मध्य भारत में अत्याचार की घटनाएं उगलियों पर गिनी जा सकती हैं। लेकिन जब उनकी बारीकी से जाँच की जाय, तो उसके लिये ज़िम्मेवार हुकूमत नहीं, बल्कि कुछ व्यक्ति ठहरते हैं। कम से कम उस ज़माने के लोग तो ऐसा ही समझते थे।

यह अजीब बात है कि उस ज़माने की किताबों में एक घटना भी ऐसी नहीं मिलती कि हिन्दुओं ने मुसलमानों से कोई मुक़ाबला किया हो। इसकी वजह यह नहीं कि हिन्दू मुक़ाबले के क़ाबिल न थे। उस ज़माने के हिन्दुस्तान को एक भी लड़ाई में हमको फौज का बटवारा हिन्दू और मुसलमानों के आधार पर नहीं मिलता। अफ़ग़ानी सिपाहियों का एक दस्ता तराइन की लड़ाई में राय पिथौरा के सेनापतित्व में लड़ा था। मुसलमानों की एक पैदल सेना ने पानीपत की लड़ाई में मराठों की मदद की थी। लेकिन असली हिन्दू मुसलिम लड़ाई दरअसल कभी नहीं हुई।

यदि हम मध्यकालीन भारत का इतिहास अच्छी तरह समझलें तो हम इस बेतुकी और नामाकूल तसवीर को एकदम से और हमेशा के लिये अपने दिमाग़ से निकालकर फेंक देंगे कि "विदेशी विजेताओं का एक दल एक शान्तिप्रिय और सीधी सादी आबादी पर हुकूमत और बज्र हुकूमत कर रहा था।" इस तरह की राय के समर्थन में यहा के उस वक्त के बाशिन्दों की ओर से कहीं एक शब्द भी नहीं पाया जाता।

इसमें शक नहीं कि मुसलमान बादशाह हिन्दू राजाओं से लड़े, लेकिन इससे कहीं ज़्यादा मर्तबा वे मुसलमान बादशाहों से लड़े।

हिन्दू मज़हब हर तरह से पूरी तरह शान्तिप्रिय था और उसके समय की हुकूमत भिन्न भिन्न सशस्त्र और युद्ध प्रिय दलों में एकता और मित्रता बनाए रखने का काम करती थी। बादशाह एक मुसलमान था और चूंकि हिन्दू धर्म जातियों और उपजातियों में बटा हुआ था, मुसलमानों की हैसियत एक शक्तिशाली अल्पमत जैसी थी। उनकी संख्या क्षत्रियों बल्कि ब्राह्मणों से भी ज़्यादा थी। अगर हिन्दू धर्म में बराबरी और सम्मिलित जनतन्त्र की भावना मौजूद होती, जो मध्य कालीन इसलाम की सबसे बड़ी विशेषता थी, तो निस्सन्देह हालत इससे भिन्न होती।

लेकिन इन सुलतानों की सहनशीलता केवल उनके राज्य की सीमाओं तक ही परिमित थी। जहां उनकी सेना शाही सरहद से बाहर निकल जाती तो इस सारी सहनशीलता, मुरव्वत और इन्सानियत तक को भुला दिया जाता था। तास्सुब का बर्बरतापूर्ण जोश जो सल्तनत के अन्दर ज़बरदस्ती क़ाबू में रखा जाता था सल्तनत के बाहर भड़क उठता था। सुलतान महमूद की स्वेच्छापूर्ण सख्ती से यदि मलिक काफूर के उन ज़ुल्मों की, जो उसने दक्षिण में किये तुलना की जाय, तो वे ज़्यादा नहीं तो उसके बराबर ज़रूर निकलेंगे। स्पष्ट सचाइयों से इनकार करना व्यर्थ है। मध्यकालीन भारत का एक भी मुसलमान इतिहासज्ञ ऐसा नहीं है, जिसने मन्दिरों, मूर्तियों और अद्वितीय कलापूर्ण स्मारकों की उस तबाही का वर्णन करने में कमी की हो, जो दिल्ली की विजयी सेना के पीछे होती जाती थी। वह स्वयं उस दुःखपूर्ण सफलता पर गर्व अनुभव करते थे और इसीलिये उनके छिपाने की उन्होंने कोई कोशिश नहीं की। यह बिलकुल सही है कि मन्दिरों और पूजा के स्थानों की श्रद्धा-भक्ति मुसलमानों के धार्मिक विश्वास का अङ्ग नहीं है; लेकिन यह भी सही है कि हर ज़माने की रस्में भी अलग अलग होती हैं। उस ज़माने के मुसलिम रीति रिवाजों में दुश्मन के पूजा स्थानों का मिटाना लड़ाई की जायज़ बातों में शामिल था।

जब मङ्गोलिया के ख़ानाबदोशों ने मुसलमानों की सरज़मीन एशिया, ईरान और अफ़ग़ानिस्तान पर हमला किया, तो अपनी विजयों का यूं प्रदर्शन किया कि मसजिदों और पुस्तकालयों को बरबाद कर दिया। शहाबुद्दीन ग़ोरी की हिन्दुस्तान विजय या मलिक काफूर का दक्षिण पर हमला, उन विनाशों से फिर भी कम है, जो सलजूकियों, ग़ज़नवियों और तातारियों ने ईरान के शहरों और मौज़ों में बरपा किया।

हिन्दू और मुसलमान दोनों तुर्क और ख़िलजी शहन्शाहों की फौज में नौकर थे। दक्षिणी हिन्दुस्तान के मन्दिरों को ढाने में दोनों ने हिस्सा लिया। उस ज़माने की लूट मार की असली ग़रज़ सोने चांदी का लालच था। मूर्ति भजन का दावा केवल फ़रेब था और बाहर वाहवाही के लिये था। अपनी सल्तनत

से बाहर निकल कर हिन्दुओं से लड़ना एक ख़ालिस आर्थिक भाग्य-परीक्षा थी। हिन्दुस्तान का व्यापार बेहद बढ़ा चढ़ा था। भारत को उससे मुद्दत से फायदा हो रहा था। क़ीमती धातुएं एक बड़ी मिक़दार में भारत में आहिस्ता आहिस्ता जमा हो रही थीं। श्रद्धालु भक्तों का धन जगह जगह मन्दिरों के धर्मादे में इकट्ठा था। हिन्दुस्तान ऐसे कृषि प्रधान देश में गांव वालों को लूटने से क्या मिलता ? इसलिये इन हमलों में देहात बल्कि मामूली शहर भी बिलकुल अमन की हालत में छोड़ दिये जाते थे। इस लूट की वजह धार्मिक कट्टरता नहीं, बल्कि धन का लालच था। अगर हिन्दुओं के मन्दिर भी मुसलमानों की मस्जिदों की तरह सादे और मामूली होते, तो न महमूद ग़ज़नवी ही उन पर हमला करता और न अलाउद्दीन खिलजी ही अपनी विजयी सेना को दक्षिण भेजता।

दिल्ली के सुलतान मुल्क में केन्द्रीय सत्ता क़ायम करने में कैसे कामयाब हो गये जब कि उनसे पहले के हिन्दू यह काम न कर पाये थे ? हिन्दुस्तानियों में ग़ुलाम मनोवृत्ति होना कैसा, वे तो बड़े दृढ़ और उद्दण्ड स्वभाव के थे और उनमें बड़े बड़े मनचले लोग थे। उसकी वजह यह थी कि उस ज़माने के समझदार लोग ज़ुल्म से नहीं बल्कि बदअमनी से डरते थे। पहले तो इस बात को ख़ूब अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि राष्ट्रनन का प्रारम्भ खिलजियों की क्रान्ति के साथ शुरू हुआ। गुलाम बादशाहों की हुकूमत महज़ एक धोखा और स्वांग था, या एक बुलन्द इमारत थी जिसकी बुनियाद न थी, जो अक्सर ग़ज़नी के फाटक से शुरू होती और दिल्ली के बदायूनी दरवाज़े पर ख़त्म हो जाती थी। हिन्दुस्तान को संगठित करने का काम चचल और ग़ुस्सैल स्वभाव के अलाउद्दीन ख़िलजी ने किया। उसके बाद से राष्ट्र की एकता का ख़याल लोगों के दिल से कभी दूर नहीं हुआ। बलवे हुए, बग़ावतें हुईं और गृह-युद्ध हुए; हम लड़े भी और हमने एक दूसरे को मारा भी; लेकिन किसी हालत में इस वास्तविकता को नहीं भूले कि हम एक ही घर के रहने वाले हैं और हमें एक हुकूमत रखनी चाहिये, चाहे उसकी कैसी ही हैसियत हो।

प्रकृति यह चाहती थी कि हिमालय के दक्षिणी हिस्से की ज़मीन एक क़िस्म के लोगों का मुल्क हो और प्रकृति का यह ध्येय धर्म और कला के ज़रिये पूरा हो गया। उत्तरी पश्चिमी पहाड़ी दर्रों को पार करके हिन्दुस्तान के उपजाऊ मैदानों में पहले पहल जिस मुसलमान ने क़दम रखा है, उससे भी सदियों पहले हमारी मानसिक और राष्ट्रीय एकता की बुनियाद रखी जा चुकी थी। यह बड़ा काम दिग्गजों के करने का था। मन्दिरों और यात्राओं के नियमों में, वेदों के रस्म रिवाज में, रामायण और महाभारत के क़िस्सों में, बौद्ध मज़हब के उदार दर्शनों में और उसके क़ानून में हम वे राष्ट्रीय प्रभाव पाते हैं, जिन्होंने आर्यावर्त की भूमि को हमेशा के लिये अखण्ड बना दिया है। अगर यह महान कार्य पहले न पूरा हो गया होता, तो अकबर और अलाउद्दीन के शासन प्रबन्ध को सांस्कृतिक दृढ़ता न नसीब होती और उनकी बादशाहत भी सिकन्दर की बादशाहत की तरह चन्द-रोज़ा साबित होती।

हिन्दू और मुसलमान सभी शायद अनजान में अपने हिन्दू पूर्वजों के पद-चिह्नों पर चले। हिन्दुस्तान के मुसलमानों के साथ यह सख़्त नाइन्साफ़ी होगी कि उनका अन्दाज़ा उनके बादशाहों के चालचलन से तो किया जाय, जिनके वे किसी तरह ज़िम्मेवार न थे, लेकिन उनके धार्मिक पूर्वजों, उनके चारणों और उनके कवियों के प्रति उपेक्षा दिखाई जाय, जिनका उनपर बादशाहों से ज़्यादा असर था। उस वक्त के आम मुसलमान (और आजकल के भी) मध्यम वर्गों से सम्बन्ध रखते थे। खोज करने वाले जिज्ञासु यदि सूफ़ियों की रचनाओं को सरसरी तौर पर भी देखें, तो उन्हें इस बात का विश्वास हो जायगा कि बादशाहों के ऐशो इशरत के जीवन के बिलकुल विपरीत थे सूफ़ी सन्त अपना जीवन बेहद तकलीफ़देह ग़रीबी में बिताते थे। उनके सरों को हमेशा छुत

तक मयस्सर न थी और पेट भर खाना तो आश्चर्य की बात समझी जाती थी। यह सफलता जो इसलाम ने हिन्दुस्तान में हासिल की है, वह अपने बादशाहों और राजनीतिज्ञों के हाथों नहीं, बल्कि अपने सूफियों और शेख़ों की बदौलत। इसलाम अगर इस मुल्क में राजनी के ख़ानाबदोशों की ज़िन्दगी के अलावा और कोई ज़िन्दगी नहीं अख़्तियार कर सकता, तो इस मुल्क में जड़ भी न पकड़ सकता। लेकिन इसलाम के प्रतिनिधि इनसे कहीं बेहतर और शरीफ़ थे। यानी वे लोग जो शाही दरबारों और फ़ौजी कैण्टूनमेण्टों से बहुत दूर शान्ति-प्रिय लोगों की तरह विनीत जीवन व्यतीत करते थे। वे उस नबी के दिखाये हुए मार्ग पर चल रहे थे, जो गरीबी को अपना फख्र समझता था।

हिन्दू धर्म ने अपने विशाल और उदार दृष्टि-कोण से इन मुसलमान सूफियों को अपने ऋषियों में शामिल कर लिया और भाई चारे की भावना ने बहुत जल्द एक सम्मिलित बुज़ुर्गों का सिलसिला तैयार कर दिया। यही हाल तेरहवीं सदी में भी था। और यही आज भी है।

ग़रज़ इस तरह तुर्कों की असफल कट्टरता का स्थान एक उच्चतर दर्शन ने ले लिया। चूनांचे एक सुबह को शेख़ निज़ामुद्दीन औलिया, जो मध्यकाल के एक बहुत बड़े सूफ़ी थे, जब अपनी ख़ानकाह की छत पर चढ़े तो कुछ हिन्दुओं को देखा कि वह मूर्ति पूजा कर रहे हैं। एक मुसलमान के लिये यह बात अजीब थी कि कोई व्यक्ति अपने द्वारा गढ़ी हुई मूर्ति की पूजा कर रहा हो। लेकिन शेख़ के फलसफे (अध्यात्म) ने काफ़िरी को भी अपनी सहनशील गोद में ले लिया। उन्होंने कहा, "हर क़ौम की (अलग अलग) एक जायज़ राह, एक धर्म और एक पूजा-स्थान है।"

यह थी मध्यकालीन भारत में हमारे मज़हबी समझौते की असली बुनियाद और यह समझौता वो रेखा था जिसे हिन्दुस्तान के बड़े बड़े शुभचिन्तकों, बड़े बड़े नीतिज्ञों और कूटनीतिज्ञों ने व्यावहारिक रूप दिया था। इसमें से हिन्दू को एक अच्छे हिन्दू और मुसलमान को एक अच्छे मुसलमान होने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। इसलाम इस मुल्क में एक बिलकुल नई विचार धारा थी, जो बहुत से विरोधी दृष्टिकोणों को गवारा किये हुए था। उस समय एक ऐसा समाज बन गया था, जिसकी बहुत सी शाखें हों। इन शाखों में से एक इसलाम था। यह नया मज़हब धीरे धीरे पुराने मज़हब में व्याप्त होने लगा था। मुसलमानों की साधारण श्रेणी जो हिन्दू धर्म छोड़कर मुसलमान हुई थी, मसजिद के लिये अपना मन्दिर ज़रूर छोड़ चुकी थी लेकिन अपने रस्म रिवाज छोड़ने का उसे ख़याल तक न आया। हिन्दुस्तानी मुसलमानों में आर्य जाति के रस्म और रिवाज आज दिन तक एक बदनाम वाक़िया की तरह मौजूद हैं।

हिन्दुस्तान के किसी एक सम्प्रदाय को बाक़ी दूसरे सम्प्रदायों पर शासन करने की कोई ख़ास वजह न थी। चुनांचे मुसलमानों ने बढ़कर ठीक वही हैसियत अख़्तियार कर ली, जो उनसे पहले राजपूतों को हासिल थी। अगर एक मुसलमान शहनशाह अपने को शासन-प्रबन्ध और राजनीति में योग्य तथा उपयुक्त साबित कर लेता, तो हिन्दुस्तान वालों को उसकी हुकूमत और अधिकार मान लेने में कोई उज्र न होता। लेकिन बाद को दो बातों ने केन्द्रीय शासन को स्थायी और अधिक उपयुक्त बना दिया—(१) मंगोलों का हमला और (२) ग्राम पंचायतों का ढीला पड़ जाना।

ख़िलजियों के उत्थान से लगभग ६० वर्ष पहले मंगोल लोग हिन्दुस्तान की सरहद पर ख़तरे की तरह मंडरा रहे थे। उन्होंने तुर्किस्तान यानी आमोन नदी और जेक्सरीज़ नदी के बीच के इलाक़े और ईरान और अफ़ग़ानिस्तान के तमाम उपजाऊ शहरों को बरबाद कर दिया था। वे पंजाब में लाहौर तक बढ़ आये थे। उस वक्त हिन्दू और मुसलमान दोनों यकसा ख़तरे में थे। मंगोलिया वाले मुसलमानों के जानी दुश्मन थे। उन्होंने मुसलमानों की सभ्यता के

समस्त केन्द्रों को तबाह कर डाला था। इसी तरह वह हिन्दुओं के भी दोस्त न थे। वह जहां गये वहां की औरतों को बिला ऊंच या नीच घराने का ख्याल किये आम तौर से उन्हें दासी बना लिया और उनकी हालत पुरुषों से भी बुरी बना डाली। वह बच्चों को बेदर्दी से क़त्ल कर डालते और क़त्लआम और रक्तपात से उन्हें खुशी होती। इस तरह दो पीढ़ियों तक काले और भयानक बादल आसमान पर घिरे रहे। उस वक्त जो व्यक्ति या जो गिरोह मंगोलों को रोक देता, वास्तव में वही सारे भारत के धन्यवाद का पात्र होता। दूसरे यह कि देहातों का पञ्चायती प्रबन्ध शहाबुद्दीन के हमले से सदियों पहले टुकड़े टुकड़े हो चुका था। क़ानून और रिवाज की जगह ज़बरदस्ती या स्वेच्छाचारिता ने ले ली थी। ऐसे व्यापक कुशासन के ज़माने में मुखिया और मुक़द्दम लोग यह देखकर कि कोई बड़ी शक्ति उनको दबानेवाली नहीं है, गांव में खुदमुख़्तार बन बैठे और ग़रीब रिआया को उन्होंने सताना शुरू कर दिया। ऐसी हालत में सिर्फ़ एक ज़बर्दस्त हुकूमत ही ग़रीब काश्तकारों को मुखियाओं के पञ्जे से छुड़ा सकती थी।

ये हिन्दू नहीं मुसलमान थे, जिन्होंने मंगोलों को मारकर भगा दिया और मुल्क की ग्राम पञ्चायतों को नये सिरे से संगठित किया। अलाउद्दीन ख़िलजी के तख्त पर बैठने से पहले किसी वक्त भी हिन्दुओं का एक ज़बरदस्त हमला दिल्ली की सल्तनत को ख़ाक में मिला सकता था। लेकिन अलाउद्दीन के समय में मुसलमानों ने पिछले अनुभवों को काम में लाकर मंगोलों को रोक लिया और चूंकि वे यहां के रस्म रिवाजों के फंदों से आज़ाद थे, इसलिये शासन प्रबन्ध और आर्थिक सङ्गठन की स्कीमें बनाने और उन्हें व्यवहार में लाने के वे योग्य साबित हुए और इसी की इस मुल्क को बेहद ज़रूरत थी।

हिन्दुओं की सरदारी की बाग राजपूतों के क़ब्ज़े में आ चुकी थी। जिनमें आपस में इतनी फूट थी और जो यह युद्धों के इतने प्रेमी थे कि वे न तो हिन्दुस्तान की रक्षा के लिये लोगों को इकट्ठा कर सकते थे और न भीतरी प्रबन्ध के लिये। फिर राजपूताने का रेगिस्तान भी इस क़ाबिल न था कि वहां भारतीय साम्राज्य क़ायम होता या पामाल होता।

फिर क्यों प्राण उदास, आज रे!

पंडित सोहनलाल द्विवेदी एम ए.

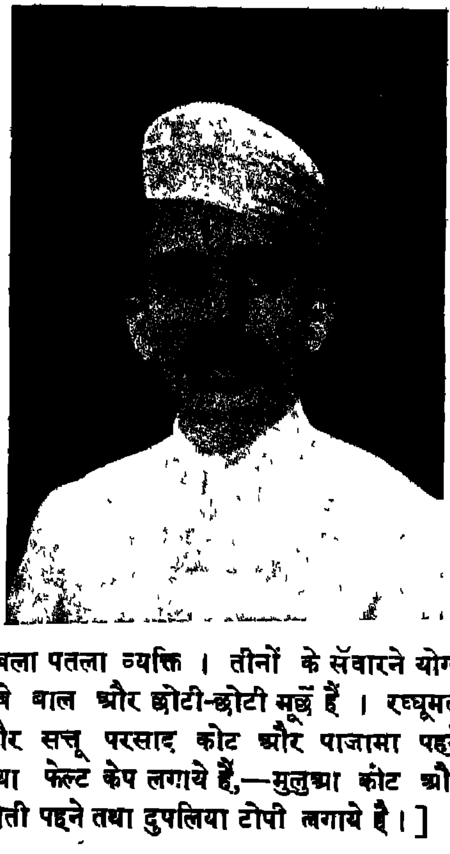
तृण तृण में उल्लास,
आज रे!
बन बन में हँसती हरियाली,
उपवन उपवन छाई लाली,
कण कण में मधुमास, आज रे!
पल्लव पल्लव में है गुंजन,
डाल डाल में सौरभ के घन,
क्षण क्षण में नवलास, आज रे!
आँगन आँगन में है उत्सव,
कानन कानन में श्री वैभव,
मन मन में उत्थान, आज रे!

तृण तृण में है गान,
आज रे!
कंठ कंठ में कोमल कूजन,
उर उर में है मादक स्पंदन,
अधर अधर मुसकान, आज रे!
बन बन में छाया है मधुबन,
दिशि दिशि में छाई सुषमा छन,
स्वर स्वर मे है तान, आज रे!
कली कली में केसर अभिनव,
कुसुम कुसुम में मधु का वैभव,
फिर क्यों प्राण उदास, आज रे!

एकांकी नाटक

जाति-उत्थान

श्री सेठ गोविन्ददास एम. एल. ए.



पात्र

रघूमल, पीछे से रघुराज सिंह—एक कायस्थ
सत्तू परसाद, पीछे से सीताशरण—एक दूसर
मुलुआ, पीछे से मल्लिनाथ—एक नाई

स्थान

एक कसबा

एक नगर

उपक्रम

स्थान—एक कसबे के एक कच्चे मकान का एक कोठा

समय—प्रात.काल

[कोठे की दीवालें देखने से मालूम होता है कि कच्ची दीवालें होने पर भी उन पर मिट्टी चढ़ाकर उन्हें सफ़ेद कलई से पोत स्वच्छ बनाने का प्रयत्न किया गया है। पीछे को दीवाल में एक खिड़की है, जिसमें लकड़ी के सींकचे लगे हैं। दहिनी तरफ़ की दीवाल में एक दरवाजा है। खिड़की और दरवाज़े की चौखट किवाड़ इत्यादि देहाती लकड़ी के हैं, पर उन पर तेल पानी कर उन्हें भी स्वच्छ रखा गया है। छत में बोरे बंधे हैं, पर वे ठीक ढंग से, एक से करके, बाँधे गये हैं। ज़मीन पर साफ़ सुथरी जाजम है, उस पर एक छोटी सी गद्दी। गद्दी पर तीन मसनद और मसनदों से टिके हुए रघूमल, सत्तू परसाद और मुलुआ बैठे हुए हैं। तीनों युवक हैं, अवस्था लगभग २२,२३ वर्षों के बीच में। रघूमल साँवले रंग का ऊंचा पूरा मनुष्य है, सत्तू परसाद गेंहुए वर्ण का ठिंगना और कुछ मोटा आदमी, मुलुआ काले रंग का साधारण ऊंचाई का दुबला पतला व्यक्ति। तीनों के सॅवारने योग्य लंबे बाल और छोटी-छोटी मूछें हैं। रघूमल और सत्तू परसाद कोट और पाजामा पहने तथा फेल्ट केप लगाये हैं,—मुलुआ कोट और धोती पहने तथा दुपलिया टोपी लगाये है।]

रघूमल—भाई, हरेक नौजवान के सामने पढ़ना लिखना ख़त्म करने के बाद यही सवाल उठता है।

सत्तू परसाद—हम तीनों के सामने तो विद्यार्थी अवस्था में भी यह प्रश्न सदा उठता रहा है।

मुलुआ—और हम लोगों ने इस पर विचार भी कम नहीं किया है।

रघूमल—तो उसी विचार पर हम लोग कायम रहना चाहते हैं।

सत्तू परसाद—मैं तो समझता हूं कि उस विचार को कार्य रूप में परिणत करने से अच्छा काम हम अपने जीवन में कर ही नहीं सकते।

मुलुआ—हाँ, अपने जाति-उत्थान से अधिक संसार में दूसरा महान और पवित्र कार्य हो ही कौन सकता है!

सत्तू परसाद—फिर रघ्घूमल जी हम दोनों हिन्दी संस्कृत और अंगरेजी पढे है, आपने इन तीन भाषाओं के साथ उर्दू और फारसी भी। इस प्रकार के पढ़े लिखे युवकों से ही तो देश और जाति आशा करती है।

मुलुआ—और उस आशा को पूर्ण करने के लिए हमारे हृदय में भी कार्य करने की भावनाएं हैं।

रघ्घूमल—(विचारते हुए) मैं यही सोच रहा था कि भावनाए सच्ची और गहराई लिए हुए हैं न, सतह पर ही तो नहीं, नौजवानी का जोश तो नहीं है; क्योंकि उन भावनाओं के मुताबिक काम करने के लिए अपनी सारी ज़िन्दगी निसार कर देनी होगी, न जाने क्या-क्या कुर्बान करना पड़ेगा।

सत्तूपरसाद—हमारी भावनाओं की गहराई का पता तो इसी मे लग जाता है कि बार बार वे ही भावनाएं हमारे हृदयों में उठती हैं।

मुलुआ—और ज़िन्दगी यदि इस काम के लिए निसार नहीं की जा सकती, कुर्बानिया यदि जाति-उत्थान के लिए नहीं की जा सकतीं, तो देश की उन्नति का नाम नहीं लेना चाहिए। रघ्घूमल जी, यह देश जातियों का ही तो समूह है। फिर इतनी जातियां हैं, खान पान, रीति रिवाज में इतने अन्तर हैं कि उन्नति और संघटन नहीं किया जा सकता।

सत्तूपरसाद—हाँ, इस देश की उन्नति का मार्ग ही यह है कि प्रत्येक जाति अपनी अपनी उन्नति करे। उस जाति के पढ़े-लिखे लोग उस उन्नति की दिशा निश्चित करें और उस दिशा में बढ़ने के लिए मार्ग।

मुलुआ—फिर रघ्घूमल जी, यहां तो हम तीन जातियों के कायस्थ, दूसर और नाई—तीन जातियों के तीन पढ़े लिखे युवक, जाति-भक्ति युवक, देश-भक्त युवक इकट्ठे बैठकर अपनी अपनी जाति के उत्थान की बात सोच रहे हैं, अपने अपने जीवन इस महान और पवित्र कार्य के लिए उत्सर्ग करने का स्वप्न देख रहे हैं।

रघ्घूमल—(विचार पूर्वक) हाँ, वह स्वप्न कहीं ख्वाब ही न रह जाय, मैं यह सोच रहा हूँ।

सत्तूपरसाद—यह कदापि नहीं हो सकता। हममे से प्रत्येक अपनी अपनी जाति को—सर्वाङ्गपूर्ण उन्नति की क्षमता रखता है। फिर एक पर एक ग्यारह और एक, एक सौ ग्यारह होते हैं।

मुलुआ—(मुस्कराते हुए) हा, हा, यदि हम तीन मिलकर कुछ नहीं कर सकते, तो फिर संसार में कोई कुछ नहीं कर सकता।

रघ्घूमल—(विचार पूर्वक अत्यन्त गम्भीरता से) अच्छी बात है, तो तय हुआ कि हम अपनी अपनी ज़िन्दगी अपनी अपनी जाति की तरक़्क़ी के लिए निसार कर देंगे और इस काम में जितनी भी कुर्बानिया करनी होंगी उन्हें बखुशी करेंगे।

सत्तू परसाद—प्रतिज्ञा का संकल्प कीजिए, रघ्घूमल जी।

मुलुआ—(मुस्करा कर) हा, हा, यह ठीक है।

रघ्घूमल—(मुस्करा कर) आप संकल्प बोलिए सत्तू परसाद जी, मैं और मुलुआ जी उसे दोहरायेंगे।

सत्तू परसाद—अच्छी बात है। जल ले आता हूं।

[सत्तू परसाद दरवाजे से बाहर जाता और एक देहाती पीतल के लोटे में जल्दी से जल लेकर आता है। तीनों अपने अपने दाहिने हाथों में जल लेते हैं]

सत्तू परसाद—कहिए-ॐ विष्णुः विष्णुः विष्णुः

रघ्घूमल, मुलुआ—(एक साथ) ॐ विष्णुः विष्णुः विष्णु

सत्तू परसाद—ऊँ अद्यैतस्य ब्रह्मणोऽह्नि

रघ्घूमल, मुलुआ] ऊँ अद्यैतस्य ब्रह्मणोऽह्नि

सत्तू परसाद—द्वितीय प्रहरार्द्धे

रघ्घूमल, मुलुआ] द्वितीय प्रहरार्द्धे

सत्तू परसाद—श्री श्वेत बारह कल्पे

रघ्घूमल, मुलुआ] श्री श्वेत बारह कल्पे

सत्तू परसाद—जम्बू द्वीपे भरतखण्डे आर्यावर्ते

रघ्घूमल, मुलुआ] जम्बू द्वीपे भरतखण्डे आर्यावर्ते

सत्तूपरसाद—कलियुगे कलि प्रथम चरणे

रघ्घूमल, मुलुआ] कलियुगे कलि प्रथम चरणे

सत्तू परसाद—पुण्य क्षेत्रे

रघ्घूमल, मुलुआ] पुण्य क्षेत्रे

सत्तू परसाद—विजय नाम संवत्सरे

रघ्घूमल, मुलुआ] विजय नाम सवत्सरे

सत्तू परसाद—श्री सूर्य उत्तरायणे

रघ्घूमल, मुलुआ] श्री सूर्य उत्तरायणे

सत्तू परसाद—वसन्त ऋतौ

रघ्घूमल, मुलुआ] वसन्त ऋतौ

सत्तू परसाद—चैत्र मासे शुभे शुक्ल पक्षे

रघ्घूमल, मुलुआ] चैत्र मासे शुभे शुक्ल पक्षे

सत्तू परसाद—एकादश्या तिथौ गुरु वासरे

रघ्घूमल, मुलुआ] एकादश्यां तिथौ गुरु वासरे

सत्तू परसाद—अमुक गोत्रोत्पन्नो

मुलुआ—अमुक गोत्र ?

रघ्घूमल—हाँ, भाई, गोत्र तो हमें अभी अपना अपना बनाना होगा न !

रघ्घूमल, मुलुआ] अमुक गोत्रोत्पन्नो

सत्तू परसाद—अपना-अपना नाम लीजिये सत्तूपरसादो......

रघ्घूमल—भाई, नाम इसी वक्त बदल लो हमारे नाम अच्छे नहीं हैं।

मुलुआ—हाँ, यह ठीक है।

सत्तू परसाद—ऐसा ! (कुछ सोचकर) अच्छी बात है, मैं अपना नाम सीता शरण रखता हूँ।

रघ्घूमल—और मैं···(विचार कर) मैं रघुराज सिंह।

मुलुआ—सुन्दर । (विचार करते हुए) मैं... मैं...मैं मल्लिनाथ रख लेता हूँ।

सत्तू परसाद—वाह ! वाह ! अच्छी खोज की। प्रसिद्ध टीकाकार। (कुछ रुककर) अच्छा, अपना अपना नाम लीजिये सीताशरणो हं

रघ्घूमल—रघुराजसिंहो हं

मुलुआ—मल्लिनाथो ह

सीताशरण—अब वर्णं ?

रघुराज सिंह—यह बाद में तय करेंगे।

मल्लिनाथ—हाँ, यह ठीक है।

सीताशरण—स्वजाति उत्थान कार्यार्थं

रघुराज सिंह, मल्लिनाथ] स्व जाति उत्थान कार्यार्थं

सीताशरण—स्व जीवन समर्पणं

रघुराज सिंह, मल्लिनाथ] स्व जीवन समर्पणं

सीताशरण—करिष्ये।

रघुराज सिंह—करिष्ये।

[तीनों जल छोड़ते हैं।]

मल्लिनाथ—देखो तो, कैसा तो सवत्सर मिला—विजय, कैसा सूर्य मिला—उत्तरायण, कैसी ऋतु मिली—वसन्त, कैसी तिथि मिली—एकादशी, कैसा वार मिला—गुरू !

सीताशरण—दैवी प्रेरणा ! देखा दैवी प्रेरणा इसे कहते हैं। भगवान हमारे साथ हैं।

रघुराज सिंह—अच्छे कामों में भगवान हमेशा मददगार रहते हैं। (कुछ रुककर) अच्छा देखो, अब अपनी अपनी जाति को कौन-सी जाति बनाना है, यह तय करो।

सीताशरण—याने ?

रघुराज सिंह—याने यह कि कायस्थ समझे जाते हैं शूद्र, दूसर समझे जाते है नीचे दरजे के बानिये और नाई को तो छूकर कई लोग नहाते हैं।

अगर कायस्थ शूद्र बने रहे, दूसर बनिये और नाई अछूत, तो इन जातियों की तरक्की हो चुकी।

सीताशरण—हां यह तो ठीक है।

मल्लिनाथ—बिलकुल।

रघुराज सिंह—(विचार करते हुए) भाई, मैं तो कायस्थों को क्षत्रिय बनाऊंगा। क्षत्रियों की ही इस वक्त मुल्क को सबसे ज़्यादा ज़रूरत है।

सीताशरण—और सच्चे ब्राह्मणों की उससे अधिक। जिस देश का सच्चा ज्ञान लुप्त हो जाता है, उसका उत्थान नहीं हो सकता। मैं दूसरों को ब्राह्मण बनाऊंगा।

मल्लिनाथ—मैं भी नाइयों को ब्राह्मण।

रघुराज सिंह—एकदम इतनी बड़ी छलांग।

मल्लिनाथ—छलांग ही मारना है तो फिर छोटी क्यों मारी जाय?

सीताशरण—और मेरी तो छलांग उतनी ही है, जितनी आपकी। आपने दो सीढ़िया चढ़ीं—शूद्र से क्षत्रिय, मैंने भी दो सीढ़िया चढ़ीं—वैश्य से ब्राह्मण।

[तीनों कुछ देर चुप रहते हैं।]

रघुराज सिंह—देखो, सिर्फ कह देने से कि कायस्थ क्षत्रिय हैं, दूसर और नाई ब्राह्मण, काम न चलेगा। इसके लिये वेदों के, स्मृतियों के, शास्त्रों के, पुराणों के सुबूत देने होंगे, तब लोग मानेंगे।

सीताशरण—हिन्दुओं के लिए इसमें कोई कठिनाई नहीं हो सकती—इतने वेद, इतनी स्मृतिया, इतने शास्त्र, इतने पुराण हैं, और फिर श्लोक बना बनाकर उनमें इतना जोड़ा जा सकता है कि किसी भी बात का प्रमाण मिल सकता है।

मल्लिनाथ—बहुत सरलता से, बहुत सरलता से।

रघुराज सिंह—फिर हमारी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी भी हमें उन्हीं जातियों के मानिन्द बनानी होगी, जिन जातियों के हम बन रहे हैं।

सीताशरण—अवश्य।

मल्लिनाथ—सर्वथा।

रघुराज सिंह—अपने अपने गोत्र बनाने होंगे, अपनी अपनी जाति की जाति सभाएं कायम करनी होंगी। उन सभाओं के अख़बार निकालने होंगे, तक़रीरें करनी होंगी, शायरी लिखनी होगी। भाई बहुत...बहुत काम है।

सीताशरण—सब हो जायगा।

मल्लिनाथ—हम लोग मिलते रहें, किस प्रकार काम चल रहा है, इसकी आलोचना करते रहें, आगे का कार्यक्रम निश्चित करते रहें। आपकी सम्मति हमारी पथ प्रदर्शक रहे। बस सब हो जायगा।

[कुछ देर तीनो फिर चुप रहते हैं।]

रघुराज सिंह—अच्छा तो अब आज तो..

[तीनो खड़े होते हैं।]

यवनिका

मुख्य दृश्य

स्थान—एक नगर के मकान में एक कमरा

समय—मध्याह्न

[कमरे की दीवालें कलई से पुती हुई हैं। दीवालों में कई दरवाज़े और खिड़कियां हैं, जिनके किवाड़ो में शीशे लगे हैं। छत से कई बिजली की बत्तियां और पखे भूल रहे हैं। ज़मीन पर क़ालीन बिछा है, जिस पर बेश क़ीमती फरनीचर है। कुर्सियों पर रघुराज सिंह, सीताशरण और मल्लिनाथ बैठे हुए हैं। तीनों की अवस्था देखने से जान पड़ता है कि उपक्रम की घटना को १०, १२ वर्ष बीत चुके हैं। तीनों की वेष भूषा में बहुत परिवर्तन हो गया है। रघुराज सिंह अब बड़ा सा साफ़ा बांधे हुए हैं। कोट की जगह शेरवानी है और सादे पाजामा की जगह चूड़ीदार पाजामा। शेरवानी में छाती पर बांई ओर एक बड़ा लोहे का बैज लगा हुआ है, जिसमें भैंसे की मूर्ति बनी है। कमर में कमरपट्टा है और उसमें तलवार के सदृश लंबी एक कलम लटक रही है। सीताशरण का सिर मुँड़ा हुआ है, चोटी भी नहीं है और सिर पर कोई वस्त्र भी

नहीं। शरीर पर केवल दुपट्टा और धोती है। वक्षस्थल पर मोटा यज्ञोपवीत दिखाई देता है। मल्लिनाथ का सिर भी खुला है। उसके सिर पर गोखुर के सदृश चौड़ी शिखा है। शरीर के ऊपर का भाग नंगा है और नीचे के भाग मे धोती। यज्ञोपवीत वह भी धारण किये हुए है, पर यज्ञोपवीत मे एक बड़ा सा अखुरा बधा है। रघुराज सिंह के ललाट पर रामानन्दी तिलक, सीताशरण के त्रपुण्ड्र और मल्लिनाथ के सिन्दुर का बिन्दु लगा हुआ है।]

रघुराज सिंह--हां, उस सकल्प को एक युग, बारह साल का पूरा एक युग खत्म हो गया है। आज चैत के उजले पखवाड़े की एकादशी है। आज ही के दिन बारह साल पहले हमने अपनी अपनी जाति की तरक्की के लिए सकल्प लिये थे।

सीताशरण--और गत बारह वर्षों में क्या हुआ, इसकी आलोचना यद्यपि हम समय समय पर उसके आगे के कार्य या कार्यक्रम तैयार करते रहे हैं, तथापि युग समाप्ति पर हमें अपनी समस्त कार्यवाही का सिहावलोकन कर लेना चाहिये।

मल्लिनाथ--अवश्य, जिससे आगे का कार्यक्रम और भी व्यवस्थित हो सके।

सीताशरण- (रघुराज सिंह से) आप ही आरभ करें सिन्हाँ साहब।

रघुराज सिंह--मैं ही शुरू करू। (कुछ रुककर) अच्छी बात है। पंडितो, कायस्थ जाति ने इस एक युग में अज़हद तरक्की की है। वेदों, स्मृतियों, शास्त्रों और पुराणों से यह तय पा गया कि कायस्थ शूद्र न होकर क्षत्रिय हैं। कायस्थों की पैदायश यमपुरी के बादशाह चित्रगुप्त से हुई है। चित्रगुप्त यमपुरी के तेरहवें बादशाह थे। शूद्र तो ब्रह्मा के पैरों से पैदा हुए थे। लेकिन शास्त्र कहते हैं चित्रगुप्त ब्रह्मा के तमाम बदन से। दुनियाँ की सबसे पुरानी किताब ऋग्वेद मे जैसे अग्नि, वायु इन्द्र, वरुण वगैरह के लिए देवसूक्त हैं, उसी तरह चित्रगुप्त के लिए। ऋग्वेद कहता है—(हाथ हिलाकर गाते हुए)

'सचित्र चित्र चितयन्त मस्ये चित्र क्षत्र
चित्र तमंवयोधाम् चन्द्ररविं पुरुवो
बृहन्तं चन्द्र चन्द्रा भिर्गृणते युवस्व'

इस पर आश्वलायन ने श्रौतसूत्र में कहा है—(फिर हाथ हिलाकर गाते हुए)

'सचित्र चित्र चितयन्तमस्ये अग्निरीशेबृहत: क्षत्रियस्य'

यजुर्वेद शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—(फिर हाथ हिलाकर गाते हुए)

'यान्यौतान देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुण-
सोमो - रुद्रः पर्जन्यो यम.' वगैरह वगैरह

सीता शरण - वाह ! वाह ! वाह ! एक नहीं, दो दो वेदों के प्रमाण हैं।

मल्लिनाथ—अकाट्य प्रमाण। अकाट्य प्रमाण।

रघुराज सिंह—सिर्फ वेदों में नहीं, वेदों में, ब्राह्मण ग्रन्थों मे, फिर स्मृतियों में, उसके बाद पुराणों में सिलसिलेवार सुबूत है कि चित्रगुप्त ब्रह्मा के तमाम बदन से पैदा हुए। यमपुरी के वे तेरहवें और आख़िरी बादशाह थे। वे क्षत्रिय थे और कायस्थ जाति के वे सबसे पहले बुज़ुर्ग। एक शायर ने इस तमाम क़िस्से पर बड़ी अच्छी शायरी की है। हमारे बुज़ुर्ग बादशाह चित्रगुप्त के मुताल्लिक वह कहता है—(गाता है।)

'श्यामल अग पितांबर शोभित
भाल विशाल त्रिपुन्ड्रहु भाजै।
दीर्घ भुजा सुठि लोचन आनन
नासिका चारु महा छवि छाजै।
कानन भूषण लेखनि पट्टिका
हाथ खरी मसि भाजन साजै।
रूप विलोकि विरंच थके
पद पावन सुन्दर पद्म विराजै।"

सीताशरण—वाह ! वाह ! वाह ! वाह ! सुन्दर सवैया है।

मल्लिनाथ—कितनी सुन्दर भाषा और कितने सुन्दर भाव हैं। हाँ, ब्रजभाषा का अब प्रचार कम हो चला है, इसलिये इसकी टीका करनी होगी।

सीता शरण—(मुस्कराकर) आपका नाम ही मल्लिनाथ है।

रघुराज सिंह—ऐसे फर्जन्द को पाकर ब्रह्मा जी बहुत खुश हुए। उन्होंने कहा तुम मेरी काया में पोशीदा रहे हो इसलिये तुम्हारा नाम होगा चित्रगुप्त। और फिर तुम मेरी काया से ही पैदा हुए हो इसलिये तुम्हारी जाति होगी - कायस्थ। इस दुनिया में कुछ कर सको इसके लिये तुम्हें ताक़त चाहिये। यह ताक़त मिलेगी तपस्या से। तुम कोट नगर में जाकर, जिसे आजकल उज्जैन कहते हैं, चण्ड मुण्ड नाशिनी चण्डिका देवी की पूजा करो। बालिद ब्रह्मा का हुक्म पाकर चित्रगुप्त कोट नगर गये और वहा उन्होंने बारह हजार साल तक, सुना बारह हज़ार साल..

सीताशरण—थोड़ी सी तपस्या से उन्हें इतनी बड़ी चड़ी शक्ति थोड़े ही मिल सकती थी।

मल्लिनाथ—कदापि नहीं, कदापि नहीं।

रघुराज सिंह—बारह हज़ार साल तक तपस्या की और चण्डिका देवी की पूजा की। देवी खुश हो गयी। शेर पर बैठकर पैदा हुई, शेर पर.

सीताशरण—हां, हां, शक्ति देने के लिए शक्तिशाली वाहन पर बैठकर ता प्रकट होती ही।

मल्लिनाथ—अवश्य, अवश्य।

रघुराज सिंह—देवी बोली मैं तुमसे बहुत खुश हो गई हूं। (गाकर)

'सुमति सम्पति आयु बहु पर उपकारहिं लीन।
हुइ हौ भागी सुयश के लेखकि कला प्रवीन॥'

देवी की ख़ुशी में अपनी भी ख़ुशी शामिल कर जोड़ देने के लिए फिर तो वहा ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी पैदा हुए। शायर कहता है-- (गाकर)

'विधि हरि हर हर्षित भये सुनि दुर्गा के बैन।
तीनहुँ लागे मुदित मन चित्रगुप्त वर दैन॥

ब्रह्मा बोले—(गाकर)

'धर्मराज ढिग तुम रहहु करहु सहाय सुधान।
बारह यम के बीच महँ तुम हो मुख्य प्रधान॥'

विष्णु बोले—(गाकर)

'आहुति देवन संग नित पैहो अति हरषाय।
कर्म शुभा शुभ जीव के सदा लिखहु बिलगाय॥'

महेश बोले—(गाकर)

'जगत पूज्य गुण आगरे अजर अमर गुण खान।
तुम सेवत पैहैं सकल सुन वित यश कल्याण॥'

सीताशरण—धन्य है। धन्य है।

मल्लिनाथ—चित्रगुप्त महाराज की जय।

रघुराज सिंह—अब चित्रगुप्त ने यमपुरी आकर अपनी बादशाहत सँभाली। लेकिन शादी की भी तो ज़रूरत थी।

सीताशरण—अवश्य। बिना विवाह के कभी धर्म पालन हो सकता है।

मल्लिनाथ—कदापि नहीं। कदापि नहीं।

रघुराज सिंह—विवस्वान मनु के दो शाहजादे हुए। श्राद्धदेव और धर्मशर्मा। श्राद्धदेव के सात शाहजादे और एक शाहजादी हुई, लेकिन धर्मशर्मा के सिर्फ एक शाहजादी ही। श्राद्धदेव की शाहजादी का नाम था नंदिनी और धर्मशर्मा की शाहजादी के दो नाम थे—एरावती और—शुभावती। महादेव के हुक्म से इन दोनो—शाहजादियों की शादी बादशाह चित्रगुप्त से हुई। बादशाह चित्रगुप्त के आठ फर्जन्द शुभावती और चार नंदिनी से हुए। शायर कहता है—(गाकर)

'भये सकल सुत आनन्द राशी।
जनु रवि द्वादश कला प्रकाशी।
चित्रगुप्त अति आनन्द पाये।
घर घर मंगल बजत बधाये।'

सीताशरण—बधाई है। बधाई है।

मल्लिनाथ—बधाई है। बधाई है।

रघुराज सिंह—इन बारहो फर्जन्दों की शादियां बादशाह चित्रगुप्त ने बारह नाग कन्याओं से की।

अपनी अपनी रानियों के साथ चित्रगुप्त महाराज केये बारह फर्ज़न्द हिन्दुस्तान के अलग अलग जगहों में रहने के लिये आये और अपने अपने इष्ट की पूजा के साथ अपने अपने फ़र्ज़ों के अदा करना शुरू किया। शायर कहता है—(गाकर)

माथुर, गौड़, कर्ण, भटनागर।
बाल्मीक, अम्बष्ठ उजागर॥
सकसेना, अष्ठानहिं मानो।
शुभावती के सुत ये जानो॥
निगम, सूर, ध्वज जग जाने।
श्रीवास्तव, कुल श्रेष्ठ बखाने॥
ये सुत चार नन्दनी जाये।
सब मिल द्वादश बन्धु कहाये॥

सीताशरण—इस प्रकार कायस्थों के बारह विभाग हुए।

मल्लिनाथ—महान विभाग! महान विभाग।

रघुराज सिंह—हां, पंडितो, कायस्थ जाति ने अपने पहले बुज़ुर्ग के पहचान लिया है। अपने बारह फ़िर्क़ों के जान लिया है। उससे मालूम हो गया है कि वह शूद्र नहीं, लेकिन सच्ची क्षत्रिय जाति है। उसने अपनी जाति सभा क़ायम करली है। जाति सभा का अख़बार निकलने लगा है। हर साल जाति की सभा के जलसे होते हैं, जिसमें जाति की तरक्क़ी के लिए रिजोल्यूशन्स के बंडल के बंडल पास किये जाते हैं और उन पर आंधी के मानिन्द धुँआधार तक़रीरें होती हैं। हर कायस्थ के मकान में अब फिर से सोलह संस्कार होने लगे हैं, उनके उनके गोत्र भी मालूम हो गये हैं। चन्द्रगुप्त बादशाह की सवारी भेसा होने के सबब हमने अपना बैज भैंसे की शक्ल का बनाया है और उनका सच्चा हथियार कलम होने के सबब हम लोग कमर मे तलवार की जगह कलम बाँधते हैं। राजा रामचन्द्र जी क्षत्रिय थे इसलिए पेशानी पर हम लोग रामानंदी तिलक लगाते हैं। बारह सालों का यह युग कायस्थ जाति की तारीख़ में सतयुग के नाम से सुनहले हरफ़ों में लिखा जायगा। इसी तारीख़ के लिखने के लिए चित्रगुप्तेश्वर पुराण बनाये जाने का इन्तज़ाम हो रहा है।

मल्लिनाथ—बोलो महाराज चन्द्रगुप्त की जय।

सीताशरण—सच्ची आर्य क्षत्रिय जाति कायस्थ की जय।

[कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

रघुराज सिंह—(सीताशरण से) अच्छा, पंडित जी, आपकी जाति ने इस एक युग में क्या किया उसका हाल आप फरमाइये!

सीताशरण—बहुत अच्छा। सुनिये। हमारी जाति के मालूम हो गया है कि 'दूसर' शब्द संस्कृत के वधूसर शब्द का अपभ्रंश है। यथार्थ में हमारी जाति ऋग्वेद में वर्णित महर्षि भृगु से उत्पन्न हुई है और उसका प्राचीन नाम 'वधूसर-भार्गव' है। भृगु-वंश ब्राह्मण वर्ण मे प्राचीनतम है। ऋग्वेद में 'भृगु' तथा बहु वचन 'भृगवः' अनेक स्थलों पर आया है। वैदिक साहित्य में महर्षि भृगु के 'वारूण' अर्थात् वरुण का पुत्र कहा गया है। उनका इतना बड़ा महत्व था कि भगवान श्री कृष्ण गीता में कहते हैं—'महर्षीणां भृगु रहं' महर्षि भृगु की दो पत्नियां थीं। पहली का नाम था—'पौलोभा'। पौलोभा के गर्भ में जब च्यवन ऋषि थे उस समय महर्षि भृगु की अनुपस्थिति में एक दिन एक दैत्य उसे हरण कर ले गया। शोक तथा भय के कारण उनका गर्भपात हो गया और शिशु पृथ्वी पर गिर पड़ा, इसीलिये वह 'च्यवन' अर्थात् 'गिरा हुआ' कहलाया। उस शिशु के सूर्य सदृश तेज से वह दैत्य भस्म हो गया। पौलोभा जब रोती हुई शिशु के उठा महर्षि भृगु के आश्रम के लौटीं, तब उनकी अश्रुधारा से एक नदी बह चली, जिसका नाम ब्रह्मा ने 'बधुसरा' रखा। आगे चलकर इसी के किनारे च्यवन ऋषि ने अपना आश्रम बनाया। वर्तमान समय के रिवाड़ी फुलेरा कार्ड रेलवे पर बसी नारनौल नगरी से लगभग ५ मील पश्चिम की ओर यह च्यवनाश्रम था। इसके किनारे आज भी वधूसरा नदी बहती है और उसी के पास एक गाँव है जिसका नाम 'वधूसरी' है।

रघुराज सिंह—च्यवन ऋषि के आश्रम का पता लग गया है ?

सीताशरण—जी सिन्हा साहब, और पते के प्रमाण हैं।

मल्लिनाथ—अच्छा !

सीताशरण—देखिए पहला प्रमाण है—

'च्यवन गुफा,' दूसरा प्रमाण है 'च्यवन कुंड' और तीसरा प्रमाण है एक मन्दिर, जिसमें च्यवन ऋषि की मूर्ति स्थापित है।

रघुराज सिंह—वाह ! वाह ! इससे बड़े और क्या सुबूत हो सकते हैं।

मल्लिनाथ—अकाट्य प्रमाण ! अकाट्य प्रमाण !

सीताशरण—महर्षि च्यवन का विवाह पुराणों में वर्णित राजा शर्याति की राजकुमारी सुकन्या से हुआ। परन्तु तपस्या करते करते च्यवन ऋषि वृद्ध हो गये थे। देवताओं के राजवैद्य अश्विनी कुमार ने आकर औषधियों के जल का एक कुण्ड बनाया। उसमें स्नान कर महर्षि च्यवन पुनः युवा हुए। वही कुण्ड आज इस आश्रम के निकट 'च्यवन कुंड', 'वधूसर कुंड', 'सिंह कुंड' इत्यादि के नाम से विख्यात है। च्यवन ऋषि के युवा होने के पश्चात् राजकुमारी सुकन्या से उनकी जो संतति हुई, वह वधूसर नदी के तट पर 'वधूसरी' बस्ती में रहने लगी। धीरे धीरे वधूसरा नदी और 'वधूसरी' बस्ती ढोसी गाव कहलाने लगा। यह सन्तति पहले 'वधूसर भार्गव, कहलाई और भाषा के बिगाड़ के कारण जिस प्रकार 'वधूसरा' नदी 'धूसरा' और वधूसरी' बस्ती ढोसी गाँव कहलाया, उसी प्रकार 'वधूसर भार्गव' को लोग पहले 'धूसर, और फिर दूसर कहने लगे।

मल्लिनाथ—अनर्थ है, घोर अनर्थ। श्रेष्ठतम ब्राह्मण महर्षि भृगु के पुत्र महर्षि च्यवन की संतति वधूसर-भार्गव जाति निम्न कोटि के बनिए।

रघुराजसिंह—तभी तो इस मुल्क की यह हालत हो गई।

सीताशरण—एक कवि ने हमारी जाति का सुन्दर वर्णन किया है, सिन्हा साहब, और पंडित जी।

रघुराजसिंह—फर्माइये, फर्माइये।

मल्लिनाथ—हाँ, हाँ, अवश्य, अवश्य सुनाइये।

सीताशरण—कवि कहता है—(गाता है)

परम तपस्वी ऋषि जो कहिए।
च्यवन नाम पुनि तिन को लहिए।
पुनि ऋषि की संतान भई जो।
तिनको दूसर कहिए तहँ सो।
ढोसीपुर में वास जो पायो।
तासों दूसर नाम कहायो।

मल्लिनाथ—सुन्दर वर्णन है। भाषा तो इतनी सरल है कि इसकी टीका की आवश्यकता नहीं।

सीताशरण—इस प्रकार के भार्गव मूल गोत्र में ७ गण १२ पक्ष और ८३१ वर्ग या शाखा गोत्र हैं। वर्तमान काल में इनमें कितने ही हैं और कितने ही नष्ट भी हो गये हैं। वे समस्त भारतवर्ष के भिन्न भिन्न भेदों और उपभेदों में फैले हुए हैं, जिनके साथ यद्यपि आज वधूसर भार्गवों का कोई संबंध नहीं है तथापि वस्तुतः वे उनके सगोत्री बन्धु हैं।

मल्लिनाथ—उँह ! संबंध आज नहीं है, तो क्या हुआ, हो जायगा।

रघुराजसिंह—बेशक, बहुत जल्दी।

सीताशरण—वधूसर भार्गवों के ७½ गोत्र हैं। उनका वेद शुक्ल यजुर्वेद, शाखा माध्यंदिन, उपवेद धनुर्वेद, श्रौत सूत्र कात्यायन गृह्य सूत्र, पारस्कर, प्राचीन समयाचारिक या धर्म सूत्र कात्यायन, कुल देवता वरुण, देवियाँ शकरा आदि १८ हैं।

रघुराजसिंह—ओहो। आपने तो बड़ी बारीकी से रिसर्च किया है।

मल्लिनाथ—अवश्य।

सीताशरण—उनमें शिखा के संबंध में एक बड़ी विचित्र बात मिली है।

रघुराजसिंह—कैसी ?

सीताशरण—गोभिलीय गृह्य संग्रह परिशिष्ट में कहा है -

दक्षिण कपर्दा वासिष्ठाः आत्रे यास्त्रि कपर्दिनः।
आंगिरस. पचचूड़ा मुण्डा भृगवः शिखिनोऽन्यों

रघुराजसिंह—इसीलिये आपने चोटी मुड़ा दी है?

मल्लिनाथ—जाति भक्तों को तो शास्त्रों के वचनानुसार ही रहना चाहिए।

सीताशरण—ऐसे प्राचीन 'वधूसर भार्गव' आगे चलकर भी अपना उत्कर्ष रख सके। महाराजा जन्मेजय के राज्य काल में वे ही कुरु देश के राजाओं के पुरोहित थे। उज्जैनी के महाराजा विक्रमादित्य के भी वे पुरोहित बने। महाराजा पृथ्वीराज के वे ही पुरोहित रहे।

मल्लिनाथ—धन्य है! धन्य है!

सीताशरण—और फिर एक बात तो देखिए। जब विदेशी मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण किया, तब उन्होंने देश की रक्षा के लिए ब्राह्मण वृत्ति छोड़कर क्षात्र धर्म स्वीकार कर लिया और इस सम्बन्ध में उनका पूर्णोत्कर्ष हुआ महाराज हेमू विक्रमादित्य के समय में।

रघुराजसिंह—हाँ, हाँ, यह तो तारीख की मशहूर बात है। बदायूनी तक ने हेमू के मुताल्लिक लिखा है।

सीताशरण—सिन्हा साहब, हेमू वधूसर भार्गव ही थे। उन्होंने दिल्ली को जीता था। दिल्ली जीतकर उन्होंने विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण की थी और इस प्रकार वे अन्तिम हिन्दू सम्राट माने जाने चाहिएँ। वह तो उनके सेना नायकों ने उन्हें धोखा दिया नहीं तो इस देश पर से विदेशियों की सत्ता का अंत हो ही गया था।

मल्लिनाथ—बोलो महाराजाधिराज राज राजेश्वर सम्राट् हेमू विक्रमादित्य की जय!

सीताशरण—वही परम पवित्र और परम प्रतापी वधूसर भार्गव जाति आज निम्नतम बनियों की जाति समझी जाती है। परन्तु सत्य सदा छिप नहीं सकता। उसने अपनी प्राचीन उत्पत्ति तथा प्राचीन इतिहास को जान लिया है। भार्गव महासभा की स्थापना होगई है। प्रति वर्ष उसके अधिवेशन धूमधाम से हो रहे हैं। इन अधिवेशनों में जाति सुधार पर विचार किया जाता है। नाना प्रकार के प्रस्ताव पास होते हैं। उन पर धारावाहिक भाषण दिये जाते हैं। भार्गवों में पुनः षोडश संस्कार होने लगे हैं। इन बारह वर्षों के एक युग में जो कुछ किया गया है, वह इस जाति के पुनरुत्थान के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा। वह समय बहुत निकट है सिन्हा साहब और पंडित जी, जब यह जाति भारतवर्ष के ब्राह्मणों में पुनः अग्रगण्य हो भारतवर्ष को सच्चे ज्ञान का प्रकाश दिखाने में समर्थ हो सकेगी। इस समय देश को सच्चे ज्ञान की ही सबसे अधिक आवश्यकता है।

मल्लिनाथ—बोलो भार्गव जाति की जय!

[कुछ देर निस्तब्धता]

रघुराजसिंह—(मल्लिनाथ से) अच्छा, पंडितजी, अब आप अपनी जाति की तरक्की का हाल बताइये?

मल्लिनाथ—(गला साफ करते हुए) हमारी जाति उत्थान के उस शिखर पर तो अब तक नहीं पहुँच सकी है, जिस पर आप लोगों की जातियाँ इस एक युग में ही पहुँच गईं, किन्तु उत्कर्ष का कार्य आरम्भ अच्छी प्रकार हो गया है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

रघुराजसिंह—हाँ, इसमें तो क्या शक हो सकता है?

मल्लिनाथ—हम लोगों ने सबसे पहले तो अपनी जाति के नाम में ही संशोधन किया। पाणिनी के व्याकरण के अनुसार नाई शब्द का कोई अर्थ ही नहीं निकलता था।

सीताशरण—सर्वथा नहीं।

मल्लिनाथ—और निरर्थक शब्द संस्कृत के सदृश भाषा में हो नहीं सकता।

सीताशरण—कदापि नहीं।

मल्लिनाथ—हमने नाई शब्द का न्यायी शुद्ध रूप बना दिया।

रघुराज सिंह—बिलकुल ठीक, लफ्ज में इतना रद्दोबदल तो आसानी से हो सकता है।

सीताशरण—न्यायी शब्द ही बिगड़ कर नाई बन गया है, इसमे सन्देह का स्थान ही नहीं।

मल्लिनाथ—फिर हमने अपने आदि पुरुष नाभिक को ढूढ निकाला और जब पीढ़ियो का मिलान किया, तो स्पष्ट हो गया कि नाभिक विष्णु जी का भाई था।

रघुराज सिंह—जब यह पता लग गया, जब तो फिर इसके दूसरे सुबूतों की ज़रूरत नहीं रह सकती कि नाई दर असल में न्यायी ब्राह्मण हैं, क्योंकि विष्णु तो शूद्र होने से रहे।

सीताशरण—बिलकुल ठीक।

मल्लिनाथ—इसके पश्चात् हमने क्षौर कर्म किस जाति का कर्म है, इसका पता लगाया और हमें अथर्ववेद में लिखा मिल गया—"न ब्राह्मणों वपत्"। अर्थात् उस्तरे से ब्राह्मण लोग क्षौर करें। अतएव क्षौर कर्म ब्राह्मण कर्म है।

रघुराज सिंह—वाह! वाह! वाह! वाह अथर्ववेद के सूत्र से ज्यादा बड़ा सुबूत और कहाँ मिल सकता है!

मल्लिनाथ—इसीलिये सिन्हा साहब और पंडित जी, उस्तरे को हम लोगों ने यज्ञोपवीत के साथ बाँधना आरम्भ किया है। (अपनी यज्ञोपवीत मे बँधे हुए उस्तरे को दिखा कर) इस प्रकार।

रघुराज सिंह—(विचार करते हुए) यह तो ठीक है, लेकिन इससे··इससे किसी वक्त एक्सीडेंट का डर है।

मल्लिनाथ—नहीं, नहीं, हम लोग ऐसे उस्तरे बाँधते है जिनमें धार नहीं रहती।

रघुराज सिंह—तब··तब ठीक है। तब कोई हर्ज नहीं।

मल्लिनाथ—हमारी सभा न्यायी ब्राह्मण सभा के नाम से स्थापित हो गई है। हमारी जाति में भी यज्ञोपवीत होने लगे हैं। हमारे एक कवि ने भी हमारी सारी कथा पर सुन्दर कविता की रचना की है।

सीताशरण—अवश्य सुनाइये। अवश्य सुनाइये।

रघुराज सिंह—जरूर, जरूर।

मल्लिनाथ—भाषा की ओर ध्यान न दीजियेगा वह तो ऐसी है जिसे हमारी जाति के लोग उसे अच्छी प्रकार समझ लें। भावों पर लक्ष्य रखिये। कवि कहता है—गाता है—

एक समय की बात को सुनलो पंच सुजान।
महादेव कैलाश पर समझाते थे ज्ञान।

एक समय श्री महादेव ने पर्वत कैलाश पर पचायत की, सब देवता बुलवाये गये और सबने अच्छी अच्छी राय दी।

नाई जन्म कहां से पाई सुनो सब जगत के भाई
शिव के पुत्र भये विष्णु नाभिक जिनके भाई
विष्णु का पोता ब्रह्मा जानो नाभिक बेटा नाई।
इसी हिसाब के जोड़ लगाया नाई के ब्रह्मा भाई।
नाई नाई सब कहैं नाई हैगा कौन?
नाभिक ब्रह्मा ने कहा शंकर जी के मौन।
हे भाइयो फिर पूर्वजों के तुल्य तुम ज्ञानी बनो।
भूलो न अनुपम आत्मगौरव धर्म के ध्यानी बनो।
करदो चकित फिर विश्व को अपने पवित्र प्रकाश से।
मिट जाय सारा तम तुम्हारी जाति के आकाश से।
विद्या भूषण तजा तुम्हीने किसको दोष जमाने में।
किया बहाना यजमानी का सभा आपनी आने मे।
आज समझ मूरख तुमको चिलमें लोग भराते हैं।
यज्ञ वपन का कर्म तुम्हारा धर्म शास्त्र बतलाते हैं।
कहो भइया अब कुछ समझे कैसी कथा सुनाई।
क्षौर कर्म की महिमा देखो वेदो ने जो गाई।

धीरे धीरे यवनिका पतन

उपसंहार

स्थान—एक नगर के मकान में एक कमरा

समय—सन्ध्या

[दृश्य वैसा ही जैसा मुख्य दृश्य में था। अन्तर इतना ही है कि दीवालें और किवाड़ इत्यादि मैले हो गये हैं। फरनीचर बेमरम्मत है। कालीन इधर उधर से फट गया है। बिजली

की बस्तियो के शेड और पखों पर गरदा है। कुछ बत्तियो में बल्ब भी नहीं है। रघुराज सिंह, सीताशरण और मल्लिनाथ कुर्सियो पर बैठे हुए हैं। उनकी अवस्था से जान पड़ता है कि दृश्य की घटना को १०,१२ वर्ष बीत चुके होंगे। तीनो के काले बालो मे सफ़ेदी आ रही है। वेष भूषा तीनों की मुख्य दृश्य के सदृश है पर मुख इनो स्याह हैं।]

सीताशरण—आज हमारे सकल्प के दूसरे युग का अंत होता है। इस युग का वृत्त बताइये सिन्हा साहब !

[कुछ देर निस्तब्धता रहती है।]

रघुराजसिंह—अकेले में तो हम लोगों को एक दूसरे के सामने सच्ची हालत पेश करनी चाहिये ?

मल्लिनाथ—इसमें क्या सदेह है।

रघुराजसिंह—तो मुझे तो अफसोस के साथ कहना पडता है कि इस युग में हमारी कायस्थ जाति ने तरक्की नहीं की जैसी पहले युग मे की थी।

सीताशरण—हमारी भार्गव जाति की भी वही दशा है सिन्हा साहब।

मल्लिनाथ—और हमारी न्यायी जाति की तो उससे भी बुरी। हर एक कायस्थ अपने को तो क्षत्रिय मानता है, चाहे दूसरे क्षत्रिय उसे क्षत्रिय न मानें, प्रत्येक भार्गव अपने को तो ब्राह्मण मानता है चाहे दूसरे ब्राह्मण न मानें, पर हमारी जाति न्यायी भाइयों में तो अधिकांश न्यायी भाई ही अपने को ब्राह्मण नहीं मानते। इतना ही नहीं, कुछ जब यज्ञोपवीत पहन पहन कर क्षौर कर्म करने गये, हजामत बनवाने वालों ने कहा कि हम ब्राह्मणों से हजामत न बनवायँगे तब उन्होंने अपने यज्ञोपवीतों को उतार दियासलाई की डिबियों में बन्द करके रख लिया है। शायद सभा में पहनकर आयेंगे।

[तीनों कुछ देर चुप रहते हैं। निस्तब्धता रहती है]

रघुराजसिंह—बात यह है कि इस वक्त मुल्क बिलकुल ही ग़लत और बहके हुए रास्ते पर चल रहा है। गान्धी ने स्वराज्य स्वराज्य चिल्ला चिल्लाकर यहा के लोगों को और किसी काम का ही नहीं रखा। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब एक हो जाओ, अछूत तक मिल जाओ, इस तरह की वाहियात बातें कही जा रही हैं। हिन्दू मुसलमान भी मिलकर एक हिन्दुस्तानी जाति बनाओ, यह हल्ला मचा हुआ है। कुछ दिन में कहा जायगा तमाम दुनिया की आदमी जाति की एक जाति क़ायम करो। बेवकूफी की भी कोई इन्तहा है।

सीताशरण—आप बिल्कुल ठीक कह रहे हैं सिन्हा साहब। देखिये न जाति सभाओं के अधिवेशन तक में कोई नहीं आते।

[कुछ देर फिर निस्तब्धता]

रघुराज सिंह—इस हालत में भी तब्दीली होगी, ज़रूर होगी।

सीता शरण—इसमें कोई सन्देह है।

रघुराज सिंह—बस थोड़ा सब्र रखना चाहिए। गाधी की आधी निकल जाने दीजिये फिर सब ठीक हो जायगा।

सीताशरण—धैर्य का फल सदा मीठा होता है।

मल्लिनाथ—(विचारते हुए) परन्तु ··परन्तु जहा तक नाइयों का सम्बन्ध है, वे तो ··वे तो कभी भी इसे···न मानेंगे कि वे न्यायी ब्राह्मण हैं। इसीलिए··· इसीलिये सिन्हा साहब और पडित जी मैंने तो दूसरी एक सस्था के पास सदस्य होने के लिए प्रार्थनापत्र भेजा है।

सीताशरण—किस संस्था के पास पण्डित जी!

रघुनाथसिंह—हा, किस जमात के पास पण्डित जी !

मल्लिनाथ—(गला साफ़ करते हुए) जाति-पाँति तोड़क मण्डल के पास।

सीताशरण—(चिल्लाकर) जाति-पाँति तोड़क मण्डल के पास !

रघुराज सिंह—(चिल्लाकर) जाति पाँति तोड़क मण्डल के पास !

[रघुराज सिंह और सीताशरण मल्लिनाथ की ओर घूर कर देखते हैं। मल्लिनाथ दोनों की ओर न देखकर दूसरी ही तरफ़ देखने लगता है।]

विजय-पथ

डाक्टर रामकुमार वर्मा एम. ए., पी-एच डी

जीवन न दीन बने।
विरह के क्षण में मिलन-सा चिर नवीन बने।
जीवन न दीन बने।

१--लहर चक्राकार कितनी दूर बहती चली;
तरलता के पृष्ठ पर इतिहास कहती चली,
"मैं मिटी मिटकर बनी सौ बार कटकर रही;
किन्तु तट के नमित उर मे ही लिपटकर रही,
कौन रोके? जब कि तू भी यों प्रवीन बने।
जीवन न दीन बने।

२--आज सन्ध्या निज सुनहली चतुरता मे सनी;
क्षितिज के कर मे प्रणय की आरती सी बनी,
पवन की निशि-फूँक से बुझकर तिमिर मे गिरी;
किंतु मेरे नयन में फिर स्वप्न बन कर तिरी,
इस प्रकाशित सत्य मे क्यो मन मलीन बने।
जीवन न दीन बने।

३—यह किरण—शशि की पुकार—यहीं धरा पर बसी;
ज्योति की छबि गुंथियों से शून्य ही में कसी,
जब कि मेरे कुंज में इस मौलश्री से मिली,
एक कलिका दिवस भर के स्वप्न सोचे खिली,
इस मिलन के गीत में तू आज लीन बने।
जीवन न दीन बने।

४—ये बड़े गिरिशृंग जिनमें उच्चता उठ गई;
नील नभ की शून्यता जिनसे बनी भूमयी,
वे बुलाते हैं तुझे—तू दृष्टि से उठ, अरे;
सांस की दो शक्तियों के बीच है—तू डरे?
तू बनाये विश्व, तो क्या स्वयं भी न बने?
जीवन न दीन बने।*

---

* आल इण्डिया रेडियो दिल्ली के सौजन्य से

भारतीय संस्कृति की नव चेतना

सर पी. एस. शिवस्वामी अय्यर



इस बात से सभी सहमत होंगे कि भारतीय राष्ट्र नव जागरण और नव चेतन अवस्था के बीच से निकल रहा है। भारत में ब्रिटिश सत्ता के क़ायम होने के बाद जब से हम पश्चिमीय दुनिया के संसर्ग में आये, तब से हमारे देश में राष्ट्रीयता का वर्तमान विकास प्रारम्भ हुआ। हमारी नव चेतना यूरोपीय संस्कृति और सभ्यता के संसर्ग में आने के बाद शुरू हुई। सन् १८३५ में भारत में शिक्षापद्धति के सम्बन्ध में लार्ड मैकाले ने अपना ख़रीता पेश किया और उसे विलियम बैंटिङ्क की सरकार ने स्वीकार कर लिया। पूर्वीय संस्कृति के सम्बन्ध में लार्ड मैकाले का दृष्टकोण बेहद अनुदार था, फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस यूरोपीय शिक्षापद्धति ने भारत के अन्दर नया प्राण फूँका। सन् १८५४ में लार्ड हैलीफ़ैक्स के शिक्षा सम्बन्धी प्रसिद्ध ख़रीते के बाद सन् १८५७ में भारत में कई विश्वविद्यालय क़ायम किये गये। हालांकि महात्मा गान्धी ने भारतीय विश्वविद्यालयों के काम को बड़ा असंतोषजनक बताया है, फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जो कुछ इन विश्वविद्यालयों ने किया है, उसकी थोड़ी बहुत प्रशंसा तो करनी ही चाहिए। यदि ये विश्वविद्यालय देश के अन्दर से अशिक्षा को दूर करने में कामयाब न हो सके तो इसकी ज़िम्मेवारी उन ग्रेजुएटों पर नहीं है जो इन विश्वविद्यालयों से निकले हैं, बल्कि उस सरकार पर है जिसने अशिक्षा को दूर करने के लिए इन विश्वविद्यालयों को उचित साधन नहीं दिए।

देश में राष्ट्रीय जागरण ने अनेक रूपों में विकास पाया। शिक्षा और धार्मिक क्षेत्र में ईसाई मिशनरियों ने दो तरह की प्रतिक्रिया पैदा की। लोगों का झुकाव ईसाई धर्म की ओर बढ़ा और ईसाई मिशनरियों की समाज सेवा के प्रति लोगों की प्रसंशा के भाव पैदा हुए। दलित वर्ग के प्रति ईसाई मिशनरियों ने जो कुछ किया, उसी से हिन्दू धर्म और संस्कृति के प्रति लोगों के झुकाव में स्पर्धा आई। हिन्दू समाज के अन्दर आत्मरक्षा की भावना प्रबल हो उठी। पढ़े लिखे लोगों में हिन्दू धर्म, हिन्दू साहित्य और सामाजिक संस्थाओं को ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करने का भाव जागा। हमारे राष्ट्रीय जीवन में यह एक अजीब बात है कि हम अपने धर्म को उस समय तक कोई अधिक मूल्य नहीं देते, जब तक कि उन पर पश्चिम के विद्वान प्रशंसा की मुहर नहीं लगा देते। सर विलियम जोन्स, कोलब्रुक, मैक्समूलर और पश्चिम के अन्य प्राच्य विशारदों ने अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त भारतीयों का ध्यान संस्कृत साहित्य के सौन्दर्य और उसमें छिपे हुए रत्नों की ओर दिलाया। विदेशी हुकूमत के कारण जनता के अन्दर यह भावना पैदा हो गई थी कि वे अंग्रेज़ी रहन-सहन और अंग्रेज़ी

रस्म रिवाज को अपनाते जाते थे और अपने देशी तरीक़े को हिक़ारत की नजर से देखने लगे थे। कोई राष्ट्र जब तक उसे अपने प्राचीन गौरव का अभिमान नहीं होता, जब तक उसमें अन्य भावनाओं और अन्य परिस्थितियों के साथ समझौता करने की वृत्ति नहीं होती, तब तक उसका राष्ट्रीय जीवन व्यापक नहीं बन सकता।

भारतीय जागृति का सबसे अधिक प्रभाव राजनैतिक क्षेत्र पर पड़ा। सदियों से गुलाम देश के लिए यह स्वाभाविक भी था। राजनैतिक जागृति का श्री गणेश राजा राममोहन राय से शुरू हुआ। उसके बाद सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, सर फीरोजशाह मेहता, गोखले, तिलक और अनेक पुरअसर नेता पैदा हुए। इन सब में अन्तिम और सब में महान महात्मा गान्धी हैं।

राजा राममोहन राय द्वारा प्रारम्भ किया हुआ ब्रह्म समाज आन्दोलन और पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के शुरू किये हुये समाज सुधार आन्दोलन ने देश के अन्दर हलचल मचा दी। स्वामी दयानन्द का आर्य समाज आन्दोलन और श्रीमती बेसेन्ट का थियासाफिकल आन्दोलन भी नव चेतन के इतिहास से अपना विशेष स्थान रखते हैं। मिसेज बेसन्ट ने हिन्दू धर्म के प्रति पढ़ी लिखी जनता में आदर का भाव पैदा किया। स्वामी विवेकानन्द और रामकृष्ण मिशन के दूसरे कार्यकर्त्ताओं ने देश के अन्दर आध्यात्मिक आन्दोलन की बाढ़ पैदा कर दी। रामकृष्ण परमहंस और केशवचन्द्र सेन के व्यक्तिगत जीवन ने इस जमाने की पढ़ी-लिखी जनता पर अपना बेहद प्रभाव डाला।

औद्योगिक क्षेत्र में जमशेद जी नसरवान टाटा जैसे पराक्रमी व्यक्तियों ने नई सम्भावनायें पैदा कर दीं। चारों ओर औद्योगिक और आर्थिक सम्मेलन होने लगे और देश में आर्थिक सगठन की पुख़्ता बुनियादें डालने की बात सोची जाने लगी।

हालांकि इस नई जागृति में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उथल-पुथल मची, फिर भी विज्ञान, साहित्य और ललित कला के क्षेत्रों में अधिक मौलिक काम नहीं हुआ। विज्ञान के क्षेत्र में सर जगदीश चन्द्र बोस, सर सी० वी० रमन, डाक्टर मेघनाथ साहा जैसे प्रसिद्ध और उल्लेखनीय व्यक्ति पैदा हुए और उनके द्वारा प्रभावित होकर अनेक युवक वैज्ञानिकों ने बहुत सी मौलिक खोजें कीं। मौलिक खोजों के सम्बन्ध में सबसे पहला क़दम कलकत्ता विश्वविद्यालय ने उठाया और उसके बाद दूसरे विश्वविद्यालयों ने भी इस दिशा में अपने पैर आगे बढ़ाये।

साहित्य और कला जिस वातावरण में फूलती और फलती हैं, वह वातावरण हमारे देश के साहित्यकारों और कलाकारों को नहीं मिला। भारतीय भाषाओं की पिछड़ी हुई दशा, जनता के अन्दर शिक्षा की कमी और देश में सुरुचि का अभाव आदि कारण हैं, जिससे हमारे देश में कला पूरी तरह नहीं पनप सकी। प्राचीन कला राजाओं के आश्रय में ही फूलती फलती थी। किन्तु ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ होने के साथ-साथ कला को राजाओं का आश्रय मिलना बन्द हो गया। जनता के अन्दर भी कलात्मक भावना नहीं पैदा हुई, जो कला के मूल्य को समझती और जिससे कलाकारों को प्रोत्साहन मिलता।

साहित्यिक नव जागरण में सब से प्रमुख स्थान भारत में महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का है। उनकी रचनाओं से बंगला भाषा संसार की प्रमुख भाषाओं में गिनी जाने लगी। हमम से अधिकांश बंगला से अनभिज्ञ हैं फिर भी रवीन्द्रनाथ के अंग्रेजी अनुवादों ने अंग्रेज़ी में गद्य और पद्य के गौरव को बढ़ाया है। रवीन्द्रनाथ के साहित्य से अंग्रेजी भाषा बेहद समृद्धिशाली हुई है।

निर्माण कला के क्षेत्र में हम यह दावे के साथ नहीं कह सकते कि हमने वैसी ही कलात्मक चीज़ें बनायी हैं, जो मुगल निर्माण कला की तुलना कर सकें। हिन्दुस्तान में निर्माण कला ने धार्मिक इमारतों के रूप में अपना आधार पाया है। उत्तर भारत में भी ऐसी धार्मिक इमारतें नहीं हैं, जो दक्षिण भारत

के द्रविड़ मन्दिरों का मुक़ाबला कर सकें। किन्तु दक्षिण भारत में भी निर्माण कला की ऐसी कोई नयी चीज़ नहीं बन सकी, जो पुरानी इमारतों की तुलना कर सकती। इस सम्बन्ध में जो कुछ भी हुआ है वह पुराने मन्दिरों के पुनः निर्माण या उन्हीं की नक़ल हुई है और इसके लिए नट्टूकोट्टाई चेट्टी सम्प्रदाय धन्यवाद का पात्र है। नये बने हुए महाराजाओं के महल निर्माण कला के सुन्दर नमूने हैं। किन्तु उनमें भारतीय प्रतिभा कितनी है यह मैं नहीं कह सकता।

दक्षिण भारत के मन्दिरों में जो मूर्त्तियां दिखायी देती हैं, वे इस बात को साबित करती हैं कि भारतीय शिल्पी में कितनी अद्‌भुत शक्ति थी। हमारे देश में संगमरमर की कमी के कारण हमें शिल्प कला के इतने अधिक सुन्दर नमूने नहीं मिलते जितने कि यूरोपीय देशों में मिलते हैं। यहाँ ग्रेनाइट पत्थर बहुत तरह के होते हैं, किन्तु वह संगमरमर की अपेक्षा खुदाई के काम के लिए बेहद सख्त होते हैं। फिर भी बेलूर, सोमनाथ और दूसरी जगहों के मन्दिरों को देखकर हम यह कह सकते हैं कि हमारे शिल्पियों ने अपनी कला में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की है। कोई आदमी यह नहीं कह सकता है कि हमारे बड़े-बड़े मन्दिरों के निर्माण और उनकी सुन्दर पच्चीकारी में कितने वर्ष खर्च हुए होंगे। आज यदि शिल्प कला की इतनी सुन्दर चीज़ें हमें अपने देश में दिखाई देती हैं, तो इसका एक बहुत बड़ा कारण हमारी ग़रीबी है।

जहाँ तक चित्रकला का सम्बन्ध है उनकी उन्नति जनता की संस्कृति, समृद्धि और राजाओं की दान वृत्ति पर निर्भर करती है। दक्षिण भारत में चित्रकला के नव जागरण में सब में प्रमुख नाम रवि वर्मा का आता है। चित्रकला के नव जागरण में, बंगला चित्रकला में एक नई प्रणाली आई। मुझे दुःख है कि इस नई प्रणाली को हम पूरी तरह से नहीं समझ पाये। बंगाल के नवीन कलाकार रंगों को अधिक महत्व नहीं देते। वे बंगला चित्रकला में मंगोल रूप रेखा बना देते हैं। उसमें आँखों को बेहद प्रधानता दी जाती है। अपने चित्रण में बंगाल के कलाकार भारतीय स्त्री पुरुषों के सौन्दर्य के साथ समुचित न्याय नहीं करते। अनेक कलाकारों के चित्र फीके और धुले हुए मालूम पड़ते हैं और साधारण आंखों को वे इतना आकर्षित नहीं करते जितना यूरोपियन चित्र। चित्रकला के आलोचकों का एक वर्ग है, जो इस बात पर ज़ोर देता है कि भारतीय कलाकारों को चित्रकला में एक विशेष प्रणाली अपनानी चाहिए। उनकी राय में भारतीय कलाकारों को अपनी एक विशेष पद्धति है, जिसके प्रति भारतीय जनता की विशेष अभिरुचि है। हमें अपनी कला को कटघरों में नहीं बन्द करना चाहिए। जो कला अधिक व्यापक और अधिक समृद्ध है, उसको हमें अपनाना चाहिए। हां चित्रों के विषय और उनकी पद्धति, भारतीय धर्म और भारतीय संस्कारों से ही चुननी चाहिए। इङ्गलैण्ड की हर एक म्यूनिसिपैल्टी को अपने यहाँ के कला संग्रहालयों के लिए अभिमान है। हमारे यहाँ की ग़रीब म्यूनिसिपैल्टियों को मौलिक चित्रों के संग्रह करने में आर्थिक कठिनाई है। किन्तु यूरोपीय और भारतीय चित्रों की सुन्दर प्रतिलिपियाँ थोड़ा सा खर्च करके ही इकट्ठा की जा सकती हैं। इस तरह के संग्रह हमारे कलाकारों के लिए बहुत उपयोगी साबित होंगे। जनता उसे देखकर ख़ुश होगी, कला के सम्बन्ध में जनता की रुचि बढ़ेगी और कलाकारों को इस तरह नई नई प्रणाली समझने का अवसर मिलेगा। यह दुख का विषय है कि हमारे यहाँ के धनाढ्य व्यक्तियों ने कला के इस तरह के संग्रहालयों को अभी तक कोई प्रोत्साहन नहीं दिया। भारतीय कला में उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए धन की बेहद ज़रूरत है। जब तक हमारे कलाकार आर्थिक दृष्टि से निश्चिन्त न होंगे तब तक उन्हें अपनी कला की उन्नति के लिये अनुकूल वातावरण न मिलेगा।

इसलाम के सर्वश्रेष्ठ सन्त अब्दुल क़ादिर जीलानी

शम्शुलउलेमा डाक्टर एम. हिदायत हुसैन एम. ए., पी-एच. डी.

बड़े दुख के साथ कहना पड़ता है कि संस्कृति अङ्क के लिये यह लेख भेजने के बाद ही डाक्टर साहब की हृदयरोग से अचानक मृत्यु हो गई। डाक्टर साहब प्राच्य विषयों के प्रकाण्ड पण्डित थे और रायल एशियाटिक सोसायटी के प्रसिद्ध अन्वेषक थे। स्वर्गीय डाक्टर साहब के परिवार के साथ हमारी हार्दिक समवेदना है।

हज़रत शेख़मुही-उद्दीन अब्दुल क़ादिर अल हसनी अल हुसैनी अल जीलानी कासपियन समुद्र के दक्षिण में जीलान ज़िले के निफ नामक शहर में सन् १०७७ ई० में पैदा हुये थे। सन् १०९५ ई० में वे शिक्षा प्राप्ति के उद्देश्य से बग़दाद आये। सन् ११०९ ई० में वे अबु ज़करिया-अहिया-अल तबरीजी के मदरसे में भाषा-विज्ञान के अध्ययन के लिये भरती हो गये। वहाँ अबू-सय्यद- अल मुबारक–अल मुक़र्रमी के अधीन उन्होंने इसलामी व्यवस्था की शिक्षा प्राप्त की। कई वर्ष उन्होंने बग़दाद के आस-पास खंडहरों में और रेगिस्तानों में बिताए। उनका जीवन फ़क़ीरों का सा सादा जीवन था। अनेक विश्वसनीय सूत्रों से यह पता चला है कि उन्होंने ११ वर्ष बग़दाद के बाहर एक सूनी मीनार में बिताए। जिसे उसके बाद से बुर्ज-अल-अजमी या ईरानी मीनार कहा जाता है। एक दिन जब वे वहां अल्लाह के ध्यान में मग्न थे शैतान ने तरह-तरह के भुलावे देकर उन्हें फँसाना चाहा। एक बार कुछ प्रकाश छा गया और ग़ैब से एक आवाज़ सुनायी दी—"मैं तेरा मालिक हूँ, और तुझे उन सब चीज़ों के खाने की इजाज़त देता हूँ जिन्हें मैंने दूसरों के लिये मना किया है।" संत ने फौरन कहा—'दूर हट ख़ुदा के दुश्मन! सिवा एक अल्लाह के और किसी दूसरे में न शक्ति है न बल।" फौरन ही वह प्रकाश लोप हो गया। इसके बाद शैतान ने फिर कहा, "अपनी धार्मिकता और अपनी शिक्षा के कारण तू



मेरे धोखे से बच गया।" बाद को उनसे लोगों ने पूछा हज़रत आपने यह कैसे मालूम कर लिया कि वह आवाज़ महज धोखा थी? सन्त ने जवाब दिया हज़रत मुहम्मद के पैग़ाम के अनुसार सिवाय उस एक परवरदिगार के और किसी दूसरे में यह ताक़त नहीं कि वह प्रकृति के क्रम को बदल दे।

सन् ११२७ ई० मे उन्हें अपनी आत्मा के अन्दर यह प्रेरणा अनुभव हुई कि संसार और मानवता की ख़िदमत और मार्ग प्रदर्शन के लिये उन्हें अपनी शक्ति लगाना चाहिए। इस प्रेरणा के अनुसार वह बग़दाद लौट आये। अल-मुक़र्रमी ने उन्हें अल-अज़ाज के मदरसे की सारी ज़िम्मेवारी सौंप दी। हज़रत जीलानी का नाम और यश चारों ओर फैल गया और मैसोपोटामिया, ईरान, मिस्र आदि बाहरी देशों के विद्यार्थियों के गिरोह उनके चरणों के निकट शिक्षा प्राप्त करने के लिये आने लगे।

मदरसे की इमारत को बढ़ाना पड़ा क्योंकि इतने सब विद्यार्थी उसमें समा नहीं सकते थे। जनता से चन्दा करके आस पास की जमीन खरीद ली गई। इसके बाद हजरत ने जनता के अन्दर अपना प्रचार करना शुरू किया। उनकी सभाओं में पहले तो बहुत थोड़े लोग आया करते थे मगर बाद मे उनके श्रोताओं की तादाद इतनी बढ़ी कि शहर के अन्दर कोई ऐसी जगह न थी, जहां सभाये हो सकतीं। चुनांचे उन्हें शहर के फाटक के बाहर जाकर सभा करनी पड़ती। उनके प्रमुख शिष्यों के लिए एक खानकाह भी बनवाई गयी। वह हफ़्ते मे तीन बार अपना प्रचार करते थे, जुमे (शुक्रवार) के दिन सुबह, मदरसे में सोमवार की शाम को और खानक़ाह मे इतवार की सुबह। उनकी सभाओं मे सल्तनत के बड़े बड़े उमरा भी आया करते थे। उनके अनेक शिष्यों मे बहुत से बाद में प्रसिद्ध प्रसिद्ध सन्त हुए। तमाम इस्लामी दुनिया के लोग उनसे तरह-तरह की बातें लिखकर पूछते थे। इन सब बातों का वह जवाब भी देते थे। पूरे ४० वर्ष तक उन्होंने अपना प्रचार कार्य किया और शिक्षा भी दी।

हजरत अहमद सरहन्दी और मुजद्दिद-अल फसानी का नाम मशहूर है जो सन् १५६३ ई० में पैदा हुए और सन् १६२८ ई० में मरे। वे अपनी पुस्तक मक़तूबाद' की तीसरी जिल्द मक़तब के २५१ सफ़े में कहते हैं—हज़रत अली की मृत्यु के बाद अध्यात्मिक ज्ञान के हक़दार हज़रत इमाम हसन हुए। इमाम हसन के बाद इमाम हुसैन हक़दार हुए। फिर एक दूसरे के बाद १२ इमाम हुए जो पहुँचे हुए सन्त थे। उनको विरसे में यह अध्यात्मिक महानता मिली थी। प्रकाश जिस तरह केन्द्र से उठ कर चारों तरफ जाता है उसी तरह इमाम केन्द्र हैं और सन्त लोग वातावरण हैं और सन्त अपने अध्यात्मिक जीवन के लिए इमाम के ऊपर निर्भर होते हैं। यह विरासत शेख अब्दुल-क़ादिर जीलानी के समय तक रही कि जिनको इमामों की कृपा से अध्यात्मिक महत्व प्राप्त हुआ। उसके बाद शेख अब्दुल-क़ादिर-जीलानी स्वयं अध्यात्मिक केन्द्र बन गये। जो व्यक्ति अध्यात्मिक जीवन की आकांक्षा करते थे, उनकी आकांक्षा हज़रत-अब्दुल-क़ादिर जीलानी द्वारा पूरी होती थी। हज़रत जीलानी कहा करते थे कि "मुझमे पहले सन्तों का सूर्य डूब गया, किन्तु मेरा सूर्य पूर्णता के साथ क्षितिज पर चमकता रहेगा।" उन्होंने आगे चल कर ऐलान किया "मेरी बुनियादें हर वली अल्लाह (सन्त) के कन्धों पर हैं।" अब्दुल हक़-मुहद्दिस देहलवी अपनी पुस्तक 'अकबरुल-अखयार' के पृष्ठ १० में लिखते हैं कि "उसके बाद दुनिया के सब सन्तों ने अपने मस्तक हजरत जीलानी के प्रति श्रद्धा से झुकाये और उनकी महत्ता को स्वीकार कर लिया।

इब्न अरबी, जो सन् ११६५ ई० मे पैदा हुए थे और सन् १२४० ई० में मरे, अपने ग्रन्थों मे लिखते हैं कि "हजरत जीलानी अपने समय के ध्रुव तारा थे, वह अपने वक्त के कुतुबनुमा थे, वे सूफ़ियों के हाकिम थे, वे लोगों का फैसला करने वाले थे।" इब्न अरबी की दो पुस्तक में लिखा हुआ है कि हजरत जीलानी ने अपनी माँ के गर्भ मे ही अल्लाह की परिस्तिश आरम्भ कर दी थी और उनका रुतबा सिवा हजरत मुहम्मद के और सब सन्तों से ऊंचा था।

(१) ताजुद्दीन-अल सुबकी जिनकी सन् १३६९ ई० में मृत्यु हुई, अपनी पुस्तक तबाक़त-उल-कुबरा के भाग दूसरे के पृष्ठ ७६ में लिखते हैं कि एक लड़का जो लूला, लँगड़ा, लकवा का मारा हुआ, अन्धा और कोढ़ी था, हजरत जीलानी के सामने लाया गया। हज़रत जीलानी ने कहा, "अब ख़ुदा के हुक्म से उठ कर खड़ा हो जा।" लड़का फ़ौरन उठकर खड़ा हो गया। वह बिलकुल तन्दुरुस्त था और उसकी सारी बीमारी भाग गई थी।

(२) एक मर्तबा दजला नदी में बड़ी भयंकर बाढ़ आई, बग़दाद के बाशिन्दों को डर हुआ कि कहीं शहर न डूब जाय। वह सब हज़रत जीलानी के पास आये और उनसे प्रार्थना करने लगे कि वह उनकी रक्षा करें। हज़रत जीलानी फ़ौरन दजला के

किनारे गये और अपनी लाठी के जमीन में रखकर कहने लगे 'बस यहीं तक' उसी क्षण से नदी का पानी घटने लगा।

हज़रत जीलानी ने सन् ११६८ ई० में इस असार संसार के छोड़कर जन्नत की ओर कूच किया। हज़रत की लिखी हुई अनेक पुस्तकें मौजूद हैं।

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् ब्राकेल मैन अपनी पुस्तक 'गेशिश्त-देर-अरेबिश्चेन-लिटरेचर' जिल्द पहली के ४३५ वें पृष्ठ में हज़रत जीलानी की लिखी हुई ऐसी २४ पुस्तकों की हस्तलिपियों का वर्णन करता है, जो अब तक यूरोप के भिन्न-भिन्न पुस्तकालयों में मौजूद हैं। जहां तक मैं जानता हूं इन पुस्तकों में केवल ५ पुस्तकें मिस्र और हिन्दुस्तान में अब तक छपी हैं।

(१) फुतुहुल गैब—यह सन् १८८१ ई० में अब्दुल हक़-देहलवी द्वारा फारसी टीका के साथ लखनऊ में छपी। यही पुस्तक मिस्र में भी बहजातुल-असरार के हाशिए में छपी। मिस्र में उसके छपने की तारीख़ सन् १३०४ हिजरी है।

(२) गुनयात-अज़-तालिबीन—दोनों जिल्द हिजरी १२८८ और १३२२ में कैरो में छपीं। इस पुस्तक में मज़हबी कर्तव्यों का ज़िक्र है और उनमें अनेक धार्मिक बातों का वर्णन है। ब्रह्मचर्य के नियमों का भी उनमें उल्लेख है।

(३) अल-फ़तूह-रब्बानीवल फ़ैद-उस-सुभानी—यह पुस्तक भी सन् ११२८ हिजरी में कैरो में छपी। इसके अन्दर प्रार्थना और उपदेश भरे हुए हैं, जिनमें दया, दान, नम्रता और ग़रीबी की प्रशंसा की गई है। मारगोलियथ के अनुसार इस पुस्तक के दूसरे हिस्से के उपदेश इसलामी साहित्य के कुछ सर्वोत्तम उपदेश हैं।

(४) वशैरुल खैरात—यह पुस्तक भी कैरो में सन् १२८८ हिजरी और सिकन्दरिया में सन् १३३२ हिजरी में छपी। इसमें हज़रत मुहम्मद की शान में कुछ प्रार्थनाएं हैं।

(५) अल-फ़ुयु-ज़ात-अर्रबानियां-फ़ी अवराद-अल-कादरिया—यह प्रार्थनाओं का संग्रह है। कैरो में यह पुस्तक सन् १३०३ हिजरी में छपी।

हज़रत जीलानी की बहुत सी शिक्षाएं उनकी पुस्तक फ़ुतुहुल-गैब में दर्ज हैं। इस पुस्तक में ७८ अध्याय हैं और इन अध्यायों में सूफ़ीवाद के विविध पहलुओं पर रोशनी डाली गयी है। कुछ अध्यायों के शीर्षक ये हैं—(१) अध्यात्मिक मृत्यु, (२) माया की ओर से उदासीनता, (३) दिल से चिन्ताओं को निकालना, (४) खुदा के निकटतर पहुंचना और नये नये रहस्यों का भेद पाना, (५) आत्मा में अपनी अवस्था, (६) खुदा के चरणों में आत्मसमर्पण, (७) आशाएँ और भय, (८) आध्यात्मिक गुरु और परमात्मा के निकट किस तरह पहुंचना, (९) अपनी आत्मा के प्रति और सारी सृष्टि के प्रति अपने को मृतक समझ लेना।

हज़रत जीलानी कहते हैं "जब हम अपनी वासनाओं के जीत कर दुनिया की ओर से मृतक हो जायगे तब हम एक बच्चे की तरह होंगे जो अपनी मा की गोद में खेलता है। तब हमारी समस्त इच्छायें मर जायगी, तब हमारे लिये केवल परमात्मा की ही एक इच्छा रह जाएगी।" इस पुस्तक के सम्बन्ध में बैरन कारा दे वाज़ लिखता है, "इस पुस्तक के अन्दर जो भावनाएं प्रदर्शित की गई हैं वे सर्वोच्च ईसाई भावनाएं हैं।"

हज़रत जीलानी ने जिस पथ की स्थापना की वह "अल-क़ादरिया" कहलाता है। इस पंथ का इसलामी दुनिया में बेहद महत्त्व है। अरब में यह पंथ बड़ा शक्तिशाली है। जेद्दा और मदीना में इसका बड़ा ज़ोर है। मक्का में अकेले इसके ३० मक़ाम (व्याख्यान स्थल) हैं। कुस्तुनतुनिया में इसके ४० तकिया (प्रार्थनागृह) हैं। मिस्र में भी यह पंथ बहुत प्रमुख है। नील की उपत्यका और कैरो में इस पन्थ के माननेवाले बेशुमार हैं। त्रिपोली और ग़दामी

अलजीरिया और मोरक्को में भी इसके मानने वालों की तादाद बहुत ज्यादा है। अलजीरिया के २४ हजार व्यक्ति इस पथ में शामिल हैं और अकेले ओरान के सूबे में इसके २०० कव्वास (पूजा स्थान) हैं, जिनको सिद्दी-अल जीलानी कहा जाता है। इस पंथ का प्रचार सुदूर पूर्व में डच पूर्व हिन्द और चीन में युनान प्रान्त तक है। जहां तक मैं समझता हूं भारत में इस पथ का प्रचार सन् १४८२ ई० में हजरत जीलानी के उत्तराधिकारी सैय्यद मुहम्मद ग़ौस ने शुरू किया। सैय्यद मुहम्मद ग़ौस ने सिन्ध सूबे के उच्च शहर में अपना निवासस्थान बनाया और सन् १५१७ ईस्वी में उनकी मृत्यु हुई। उनके पैरोकार सारे हिन्दुस्तान में विशेषकर पंजाब में फैल गये। लाखों व्यक्ति इस पंथ के अन्दर शामिल हुए। सम्राट शाहजहा के पुत्र सम्राट दारा शिकोह ने इस पंथ के शिक्षक मीर मुहम्मद अथवा मियां मीर से दीक्षा ली। वास्तव में यह पंथ सद् आचार और सद् व्यवहार का पन्थ है।

जीवन

श्री रामप्रकाश अग्रवाल एम. ए

संघर्ष पूर्ण बहता जीवन।

गिरि की गोदी से सरि-प्रवाह
बिजली का ले कर स्वर अथाह,
झरना बनता, भू पर आता,
अवरुद्ध हुआ, पर मिली राह,
बाधाओं में बढ़ता जीवन।

गिरि-खण्डों पर करता प्रघात
नभ छूने उठता जल-सँघात,
उठता, गिरता, थकता, बहता,
कूलों से करता सरल बात,
यह शान्ति-पूर्ण बहता जीवन।

बुदबुद देता उद्वेलित मन
मारुत में फैलाता निज स्वन,
पथ बदला, दृश्य नये आये,
फिर हँसा मिला जब परिवर्तन,
बहता यह वेग-पूर्ण जीवन।

नभ में नीरद घिर घिर आते
भय फैलाते, नव बल लाते,
तम घिरता, फिर खिलता प्रकाश,
सागर के पथ को दिखलाते,
मिलता अनन्त में वह जीवन।
संघर्ष शान्ति मय यह जीवन।

हिन्दू मुसलिम भ्रातृभाव

श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

लोग एक दूसरे के धर्म को समझें और धार्मिक मतभेदों के होते हुए भी एक दूसरे से प्रेम करें। किन्तु यह बड़े दुख की बात है कि इस सम्बन्ध मे जितनी भी कोशिशें हुई हैं वे उतनी सफल नहीं हुईं जितनी कि उन्हें होना चाहिये।

उमर पाकर लोगों को न केवल अपने धर्म का बल्कि दूसरे धर्मों का भी अध्ययन और मनन करना चाहिये। बचपन में और शुरू में मुमकिन है यह सम्भव न हो और बालक बालिकाओं को अपने ही धर्म की शिक्षा मिले, किन्तु जैसे जैसे वे बड़े हों और उनकी समझदारी बढ़े वैसे वैसे यह जरूरी है कि वे दूसरे धर्मों की अधूरी और कही सुनी बातों पर ही निर्भर न करें, बल्कि उनका पूरी तरह अध्ययन करें। अपनी बदक़िस्मती मे भी हमें आगे के लिये बड़ी बड़ी उम्मीदें हैं। हिन्दुस्तानियों को अकसर यह बताया जाता है कि यहा बहुत से धर्म हैं, बहुत सी भाषाएं हैं और इसलिये यहा के लोग बड़े अभागे हैं। लेकिन यह जरूरी नहीं कि यह बात सही हो। मुमकिन है क़िसमत हम से कुछ बड़े काम कराना चाहती हो। इस विभिन्नता के बीच में ही सम्भव है वह हमें सार्वभौम सत्य के दर्शन कराना चाहती हो। यदि हम इसमें सफल हुए, तो यह कितनी बड़ी बात होगी। समस्त धर्मों की एकता की इच्छा एक महान इच्छा है। इस उद्देश्य को हमें सामने रखना चाहिये और उसके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

आज जिन कठिनाइयों का हमें सामना करना पड़ रहा है शायद वे ही हमें उस महान उद्देश्य की ओर ले जा रही हों। हालाकि आज सब धर्मों की एकता की चर्चा करते समय हम दुखी और निराश हो जाते हैं। हम आज मुश्किल वक्तों के बीच से गुज़र रहे हैं। किन्तु फिर भी हममें से कुछ लोग निर्भयतापूर्वक इस विषय की चर्चा करते हैं और सत्य को जनता के सामने रखते हैं। जितनी ही हम सच्ची बात कहेंगे शायद उतना ही लोग हमें बनावटी कहें और कुछ लोग हमसे इस कारण बेहद नाराज़ भी हो सकते हैं। जितना ही लोगों को हम एकता की ओर खींचते हैं उतनी ही लोग ज़िद पकड़ लेते हैं। बिलकुल वही कैफ़ियत है जो एक जिद्दी जानवर की होती है। उसे कितना ही खींचो किन्तु वह टस मे मस नहीं होता। लोगों को हम इकट्ठा करने की कोशिश करते हैं, लेकिन वे विपरीत दिशाओं में भागते हैं। यदि हम उन्हें उनकी क़िस्मत पर छोड़ दें तो शायद वे ठीक रास्ता पकड़कर एक ही जगह आजाएं। कभी कभी ऐसा भी होता है। गाय और बछड़े कभी कभी यही करते हैं। मनुष्य ने मुमकिन है लिखने पढ़ने और साहित्य मे तरक्क़ी की हो, मगर अपनी सहज भावनाओं मे वह पशुओं की तरह ही है। पशुओं की तरह ही मनुष्यों को गुस्सा आता है, भूख लगती है और उनमें ग्वृख़ार वृत्ति जागती है। फिर भी हमे यही उम्मीद करनी चाहिये कि हमारे ये बुरे दिन फिरेंगे और भारत में फिर से एकता स्थापित होगी। राष्ट्रीय त्योहारों में लोग मिल जुल कर हिस्सा ले सकते हैं और इस तरह एक दूसरे की भावनाओं को अच्छी तरह समझ सकते हैं। ख़ासकर एक दूसरे की प्रार्थनाओं और पूजा के समय जब धार्मिक वातावरण होता है तब दुनियावी ईर्षाओं को भूलकर लोग एक दूसरे के अन्दर एक ही खुदा के नूर को देख सकते हैं और सच्चे अर्थों में एक दूसरे के निकटतर आ सकते हैं।

हम दूसरे की इज्जत करेंगे तो दूसरे हमारी भी इज्ज़त करेंगे। यदि हिन्दू हज़रत मुहम्मद के प्रति आदर दिखायेंगे और इसलाम के अध्ययन, उसके दृष्टि-कोण और उसके व्यवहार को सहानुभूति से देखेंगे, तो इसमें कोई सन्देह नहीं मुसलमान भी उन सब बातों

के प्रति आदर और सहनशीलता दिखायेंगे, जिनके प्रति हिन्दू भक्तिभाव रखते हैं। इसलिये एक दूसरे के धर्म के अध्ययन में ही समस्या का बहुत कुछ हल है। इसीलिये मुझे कालेजों मे और कालेजों के बाहर पढ़े लिखे परिवारों मे दूसरे धर्मों के अध्ययन को प्रोत्साहन देने की बात पसन्द आती है।

अनेक हिन्दू हैं जो इसलाम और इसलाम के पैग़म्बर की उतनी ही इज़्ज़त करते हैं जितनी कोई मुसलमान करता है। और ऐसे लोगों की तादाद बढ़ रही है। एक दूसरे की अच्छी बातें समझने की भावना जाग रही है और बावजूद मौजूदा झगड़ों के हम एक दूसरे को अधिकाधिक जानते जा रहे हैं।

हिन्दुस्तान के ऐतिहासिक दौर मे हमने बहुत से ऐसे मौक़े खो दिये जब न केवल यहां पूरी एकता क़ायम हो जाती, बल्कि देश के समस्त अधिवासी एक दूसरे को पूरी तरह समझ जाते। मुसलमानों में अनेक ऐसे महान शासक हुए हैं, जिन्होंने इसकी चेष्टा की, किन्तु जिन्हें कामयाबी हासिल नहीं हुई। वे न तो कमज़ोर थे और न छोटे आदमी थे। वे वास्तव मे महान थे। किन्तु हमारे दुर्भाग्य से उन्हें एकता क़ायम करने के महान मिशन में सफलता नहीं मिली। सिकन्दरे में अकबर के मज़ार की ज़ियारत करते हुए मेरे मन में कई बार यह भावना उठी—"सर्व धर्म सम्मेलन करने के लिये यह जगह कितनी उपयुक्त है!" सर्व धर्म सम्मेलन में जितने भी प्रतिनिधि आयें वे सब यहां आ सकते हैं। इतनी बड़ी जगह में ज़रूरत पड़ने पर एक पूरा कांग्रेस अधिवेशन हो सकता है। सर्व धर्म सम्मेलन के लिये इससे उत्तम दूसरी जगह हो ही नहीं सकती। यहां के वातावरण में एक ख़ास गम्भीरता है। किन्तु मेरे दिमाग़ में यह विचार आया और निकल गया। दिल में एक दर्द उठा कि—इस काम मे क्या सफलता मिल सकती है? शायद किसी दिन यह महान सपना भी पूरा हो। मुसलमान अपने धर्म में दृढ़ रहें और भारत इसलाम का एक बड़ा केन्द्र बना रहे, किन्तु कुछ ऐसी बात हो कि यहां के रहने वाले इसलाम को उसी आदर से देखें, जिस तरह कोई ज्ञानी मनुष्य समस्त धर्मों को देखता है। अब भी एक दिन ऐसा अवश्य आयगा, जब कि हम मौजूदा झगड़ों को भूल जायगे। हम आपस की ईर्षा, सन्देह और कठिनाइयों को भूल जायगे। यदि लोगों में विश्वास है तो यह बात होकर रहेगी।

इस बात की भी कल्पना नहीं हो सकती कि हिन्दू अपनी उस विशेष संस्कृति को छोड़ देंगे, जिसमें वे युगों से पले हैं। उन्होंने एक ऐसी आध्यात्मिक शिक्षा पाई है, जिसके कारण उन्हें अपने धर्म के ऊपर असीम विश्वास है। मुमकिन है मुसलमानों को यह दिखाई देता हो कि हिन्दुओं का दृष्टिकोण उनसे बिलकुल भिन्न है। मुझे विश्वास है कि मुसलमान ईसाई मिशनरियों की तरह हिन्दुओं की मूर्ति-पूजा के सम्बन्ध मे कोई ग़लतफ़हमी नहीं रखते। ईसाई मिशनरियों को इस पर हैरत होती है कि हिन्दू किस तरह अपनी ही गढ़ी हुई मूर्तियों को श्रद्धा के साथ उपासना करते हैं। हमारे दृष्टिकोणों मे इतना अन्तर है कि वे इसे समझ ही नहीं सकते। किन्तु मुसलमानों को हमारी इसी पूजा-पद्धति को समझना ही चाहिये। उनका हमारा इतने दिनों का साथ है। मुझे यह अनुभव करके बड़ा सुख होगा कि मुसलमान हिन्दुओं को पूरी तरह समझने लगे हैं। फिर सारे अपराध की ज़िम्मेवारी हिन्दुओं की ही होगी कि वे मुसलमानों को नहीं समझ सके। हिन्दुओं को मुसलमानों को समझ सकना कहीं अधिक आसान है, क्योंकि उनके अपने अन्दर इतने मत मतान्तर हैं। किन्तु मुसलमानों के लिये शायद यह सम्भव नहीं क्योंकि धार्मिक व्यवहार में उनके यहां फ़ौलादी अनुशासन है।

तब भी भिन्न भिन्न मुल्कों में भिन्न भिन्न प्रकार से वस्तुएं फूलती फलती हैं। मुझे इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि अरब का एक विद्वान भारत के एक मुसलिम विद्वान से बिलकुल भिन्न होगा। ईरान का एक विद्वान एक दूसरे इसलामी देश के विद्वान से क़तई

भिन्न होगा। प्रत्येक मुल्क की अपनी अपनी संस्कृति होती है। इससे धर्म की कुछ भी हानि नहीं होती। भारत के पढ़े लिखे मुसलमानों को अपने धर्मावलम्बियों को कल्याण या रास्ता दिखाना चाहिये। मैं चाहूंगा कि विद्वान मुसलमान दूसरे धर्म वालों को भी इसलाम के सम्बन्ध में बहुत कुछ बतायें, ताकि उनकी जानकारी बढ़े और हमारे देश में एक दूसरे का ज्ञान और एकता की भावना पुख्ता हो।

अडिग

श्री 'मनोहर'

नीर के निर्मम थपेड़ों से सिहरकर,
हिल उठेगा घाट का पत्थर कभी क्या?
पी चुके अनगिन प्रबल बरसात
ज्येष्ठ के मध्याह्न कितने!—कँपकँपाती रात,
आग-पानी के बवंडर;
राह पर बढ़ते चले जाते सदा जो पाँव सत्वर,
मार्ग के कुश कंटकों से ही विकल हो,
रुक सकेंगे गलकर पल भर कभी क्या?
देखता सब दिन रहा जो नाश,
मृत्यु की भीषण मुखाकृति, छिन्न संचित आश,
शून्य नयनों का कलपना
लाल-पीली, धधकती-बुझती चिताओं का तड़पना,
सुन शृगालों की अथक अविराम 'हू-हू',
दहल जायेगा स्वयं मरघट कभी क्या?
जल रहा नीरव, अचचल, शान्त,
भव्य राका क्या?—अमा में भी न होता क्लान्त!
धीर प्रहरी, पथ-प्रदर्शक,
रात-दिन आते चले जाते, न डिगता मौन साधक,
खा अहर्निश क्रुद्ध झञ्झा के झकोरे,
बुझेगा नभ-दीप ध्रुव तारक कभी क्या?

हिन्दुस्तान के मुसलमानों का कर्तव्य

सर मिरज़ा इसमाइल



हमारे मुल्क के असंख्य मुसलमानों के दिलों में यह भावना भर गई है कि बहु संख्यक वर्ग के हाथों मे उनके हित सुरक्षित नहीं हैं। पिछली प्रान्तीय सरकारों के बाद से उनकी इस भावना ने भय का रूप ग्रहण कर लिया है। मुसलमान ही नहीं और दूसरे अल्पमत सम्प्रदाय वाले भी इसी दृष्टिकोण से चीज़ों को देखने लगे हैं और अपने भविष्य के सम्बन्ध में उन्हें चिन्ता-सी हो गई है।

हमें यह बात अच्छी तरह याद रखनी चाहिये कि जनतन्त्र का अर्थ है बहुमत द्वारा हुकूमत। यदि भारत जैसे अल्प संख्यक जातियों के देश में वह बहुमत एक विशेष धर्मावलम्बियों का हो तब समस्या और अधिक जटिल हो जाती है। जब तक अल्प संख्यक जातियों को—चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान या कोई अन्य धर्मावलम्बी—यह विश्वास नहीं दिला दिया जाता कि उनका धर्म, उनकी भाषा और उनकी संस्कृति सुरक्षित रहेगी, तब तक न तो देश के अन्दर एकता ही सम्भव है और न स्वस्थ सार्वजनिक जीवन। इसलिये बहुसंख्यक जाति के ऊपर एक महान और अगणनीय ज़िम्मेवारी होती है। उसे हर तरह से यह बात ज़ाहिर करनी चाहिये कि अल्प संख्यक जातियों के हित उसके हाथों में पूरी तरह सुरक्षित हैं और वह अपने हितों से अधिक उनके हितों की रक्षा करेगी।

कोई भी चाहे वह सरकार ही क्यों न हो हमारी तब तक मदद नहीं कर सकती, जब तक हम अपनी मदद स्वयं न करें। बिना परिश्रम के न तो हम उन्नति ही कर सकते हैं और न सन्तोष ही पा सकते हैं। पक्षपात और इनाम के बीच में बड़ा भारी अन्तर है। सच्चे प्रयत्न के लिये इनाम का कहीं अधिक मूल्य है, क्योंकि इस तरह का इनाम आत्मा को सन्तोष देता है। वह उस पक्षपात से प्राप्त सुविधाओं से कहीं अधिक उत्तम है, जो शोर मचाकर या बिना परिश्रम के प्राप्त होती हैं। कुरान कहता है अल्लाह के रास्ते पर प्रयत्न करो और क्या हम मुसलमानों के लिये कुरान से बेहतर कोई मार्ग प्रदर्शक है?

किन्तु हिन्दुस्तान के मुसलमान दुनिया के सामने आज एक तकलीफ़देह नज़ारे की तरह दिखाई दे रहे हैं। अभी पिछले दिनों लखनऊ में क्या हुआ? एक ही धर्म के दो दल आपस में इतना विरोध दिखायें यह वर्तमान युग मे एक ऐसा दृश्य है, जो हमें लज्जा और क्रोध से भर देता है। शिया और सुन्नियों में एक दूसरे के प्रति इतनी नफ़रत क्यों भरी हुई है? वे एक दूसरे की भावनाओं को चोट पहुंचाने की कोशिश क्यों करते हैं? इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोनों सच्चे हैं, किन्तु हमें एक दूसरे की भावनाओं के प्रति आदर दिखाना आना चाहिये और विचार विभिन्नता को बर्दाश्त करना चाहिये।

हम चाहते हैं कि मुसलमान अपने धर्म के आवश्यक तत्वों, उसके सिद्धान्तों की पवित्रता और उसके बताये हुए जीवन की महानता पर अपने विचारों को केन्द्रीभूत करें, बजाय इसके कि वे व्यर्थ की अनावश्यक बातों पर आपस में और दूसरों से लड़ने के लिये हमेशा आमादा रहें। आज कल छोटी छोटी बातों ने मुसलमानों के गुस्से के पारे को बेहद चढ़ा दिया है। इस गुस्से में सच्चाई है, इसमें हमें इनकार नहीं, किन्तु इस गुस्से से सबसे अधिक हानि मुसलमानों की अपनी है। यह परेशानी उदारता से ही दूर हो सकती, है बहसों से नहीं। विरोधी साम्प्रदायिक दलों को यह समझना चाहिये कि एकता में ही उनका कल्याण है।

हमारे देश में जितनी जल्दी एकता और भ्रातृभाव स्थापित होगा, उतना ही दोनों सम्प्रदायों के लिये कल्याणकर है। इस आपसी लड़ाई का चाहे जो कुछ नतीजा हो, दोनों में से किसी को भी इसमें लाभ नहीं पहुंच सकता। इस लड़ाई में दोनों का नुक़सान ही है।

हिन्दुस्तान में, जहाँ धर्म भावना को इतना महत्व दिया जाता है और विचारों की जगह जहाँ कट्टरता का प्रयोग होता है, हमें निकट पूर्व के इसलामी मुल्कों से सबक़ सीखना चाहिये। निकट पूर्व के इन तमाम अरबी देशों में राष्ट्रीयता की गहरी छाप लगती जा रही है। उनके राजनैतिक व्यवहारों के आधार में धर्म की भावना दिनों दिन कम से कम होती जा रही है। अभी कुछ वर्ष पूर्व तक निकट पूर्व के लोगों के भावनात्मक और सामाजिक जीवन पर इसलाम पूरी तरह हावी था। हालांकि वहां के बूढ़े लोगों में परधर्मावलम्बियों के प्रति एक अविश्वास की लहर अब भी बाक़ी है, किन्तु नई पौध में बिलकुल एक नया जीवन ही आ गया है। एक से मदरसे, एक से राजनैतिक विचार, एक से आर्थिक उद्योग युवकों के भिन्न भिन्न वर्गों को एक सूत्र में बांध रहे हैं। पूर्व प्रचलित धर्म गो मरा नहीं है, फिर भी राजनैतिक और सामाजिक जीवन पर उसका कोई असर नहीं है। धर्म की जगह अब राष्ट्रीयता ने ले ली है। तुर्की में इसलाम अब राष्ट्रीय धर्म नहीं है। मिस्र में मुसलमान और ईसाई उसी आत्मीयता से एक दूसरे को सहयोग देते हैं, जिस तरह दमिश्क में। बहुधा राजनैतिक आन्दोलनों के नेता स्थानिक ईसाई होते हैं। राष्ट्रीय जुलूसों में सलीब और हिलाल के झण्डे मिले जुले निकलते हैं।

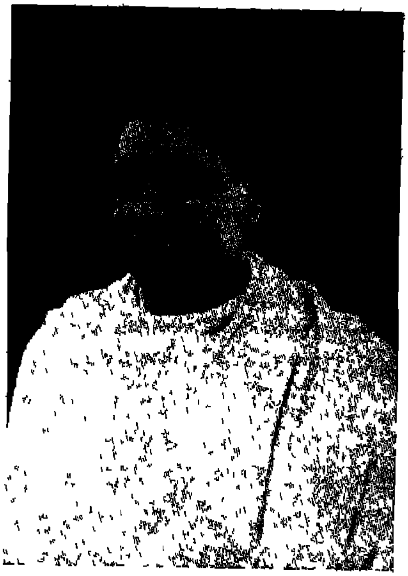
हिन्दुस्तान के सभी धर्मों और सम्प्रदाय वालों को इसी उदाहरण को अपनाना चाहिये। दोनों के फायदे में सहयोग की भावना से काम लेना चाहिये और अपने अपने धर्म और रीति रिवाज मानते हुए मातृभूमि की सेवा में एक हो जाना चाहिये। विभिन्न धार्मिक विचार सच्ची राष्ट्रीयता के मार्ग में उसी तरह बाधक नहीं, जिस तरह विविध राजनैतिक विचार।

अपने ज्ञान को बढ़ाकर और जीवन के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को उन्नत बनाकर और सांस्कृतिक बुनियादों पर अपने परस्पर सम्बन्ध को ठीक करके ही हम वास्तविक उन्नति कर सकते हैं। मैं आशा और प्रार्थना करता हूँ कि हम मुसलमान अपने महान भविष्य को ध्यान में रखकर एक महान देश के नागरिक के उपयुक्त कर्तव्य अदा करेंगे।

सर्व धर्म समभाव

स्वामी दरबारीलाल सत्यभक्त

मैं न तो धर्म का विरोधी हूं न तो अन्धश्रद्धालु, निःसन्देह धर्म के नाम पर खून बहाया गया है, पर यह अन्तर न भूलना चाहिये कि धर्म के नाम पर खून बहाया गया है धर्म के लिये खून नहीं बहाया गया। शैतान भी अपनी शैतानी के लिये खुदा के नाम की ओट ले लेता है, तो मनुष्य ने अपने दुस्वार्थों के लिये अगर धर्म की ओट लेली तो इसमें धर्म क्या करे? जो नियम समाज के विकास और सुख शान्ति के लिये जरूरी हैं उनका मन में वचन में और शरीर में पालन करने का नाम धर्म है, इस धर्म का उस खून खराबी में कोई सम्बन्ध नहीं है, जो धर्म के नाम पर स्वार्थ या अहंकारवश की जाती है।



कहा जा सकता है कि जब धर्म का ऐसा दुरुपयोग होता है तब धर्म को नष्ट ही क्यों न किया जाय? मैं कहता हूँ कि भोजन के दुरुपयोग से जब बीमारियां पैदा होती हैं तब भोजन ही बन्द क्यों न कर दिया जाय? आजीवन अनशन करने से मौत भले ही आ जाय पर बीमारी से छुट्टी जरूर मिल जायगी? क्या आप बीमारी के डर से इस प्रकार मरना पसन्द करते हैं? यदि नहीं, तो दुरुपयोग के डर से धर्म को छोड़ना भी पसन्द नहीं किया जा सकता।

मैं मानता हूं कि धर्म भोजन से भी ज़्यादा ज़रूरी चीज़ है। जो चीज़ जितनी पतली होती है उसकी ज़रूरत भी उतनी ही ज़्यादा होती है। रोटी बहुत ज़रूरी है पर पानी रोटी से भी ज़्यादा ज़रूरी है, पानी रोटी से पतला है। रोटी के बिना हम जितने दिन ज़िन्दा रह सकते हैं, पानी के बिना उतने दिन ज़िन्दा नहीं रह सकते। पर पानी से पतली है हवा। पानी पिये बिना हम घण्टों ज़िन्दा रह सकते हैं, पर हवा लिये बिना हम मिनटों भी ज़िन्दा नहीं रह सकते। धर्म हवा से भी पतला है, उसके बिना हम ज़रा भी ज़िन्दा नहीं रह सकते। प्रेम सहयोग आदि धर्म के ही रूप हैं, जो कि कीड़ों मकोड़ों और पशु पक्षियों में भी पाये जाते हैं। इसलिये धर्म व्यापक है, नित्य है, और आवश्यक है। उसमें विकार आते हैं, जीवन भी विकृत और दुःखी हो जाता है इसलिये हमें विकारों को नष्ट करना चाहिये, धर्म को नहीं।

एक बात और है जब तक मनुष्य के पास हृदय है तब तक धर्म किसी न किसी रूप में ज़िन्दा रहेगा ही। धर्म का भीतरी रूप तो रहना ही है पर बाहरी रूप भी नष्ट नहीं होता, सिर्फ़ उसमें परिवर्तन हो जाता है। ईसा की मूर्ति के सामने घुटने टेकने की जगह लेनिन की क़ब्र पर फूल चढ़ाना आ जाता है। प्रतीक बदल जाते हैं, रुचि नहीं बदलती। इसलिये धर्म को मारने की कोशिश व्यर्थ है, उसका दुरुपयोग ही रोकना चाहिये।

परन्तु धर्म की इस अमरता से उन लोगों को खुश होने की ज़रूरत नहीं है, जो धर्म के नाम पर रूढ़ियों के और साम्प्रदायिकता के गुलाम बने रहना चाहते हैं। उन्हें समझना चाहिये कि धर्म रूढ़ियों का अजायबघर नहीं है, किन्तु सत्य अहिंसा आदि नियमों का समूह है और धर्मसंस्था एक समय की सामाजिक क्रान्ति है। तीर्थंकर, पैग़म्बर, अवतार आदि अपने समय के क्रान्तिकारी महापुरुष हैं। कोई भी क्रान्ति स्थिर नहीं होती न आगे की दूसरी क्रान्तियों का विरोध करती है। क्रान्ति की मित्रता रूढ़ियों से नहीं है। इसलिये धर्म की मित्रता रूढ़ियों से नहीं कही जा सकती।

इस प्रकार धर्म की बात कहकर मैं धर्म विरोधी और धर्म के नाम पर रूढ़ि के पुजारी, दोनों के दिलों मे कुछ न कुछ क्षोभ पैदा करूंगा। इसको दूर करने के लिये मैं इतना ही कहूंगा कि न तो आप प्राचीनता के पुजारी बनें न नवीनता के। आप जनकल्याण के पुजारी बनें। इसी दृष्टि से धर्मों का जिस रूप में जैसा उपयोग हो सके, निष्पक्ष होकर वैसा ही करें।

धर्म संस्थाओं का मुख्य काम आदमी के दिल पर नीति और सदाचार के संस्कार डालना है। सभी धर्मों ने यही काम किया है। इसीलिये मैं धर्मों में समानता देखता हू और धर्म संस्थाओं की संख्या से घबराता नहीं हू। बहुत से स्कूल होने से या अनेक विश्वविद्यालय होने से जैसे शिक्षा में बाधा नहीं पड़ती, किन्तु कुछ लाभ ही होता है; उसी प्रकार बहुत सी धर्म संस्थाएं होने से सच्चे धर्म में बाधा नहीं पड़ती।

पर शर्त इतनी है कि धर्म को धर्म समझिये, अहंकार का सहारा नहीं। मेरा धर्म बड़ा तुम्हारा धर्म छोटा, इस उक्ति में धर्म प्रेम नहीं है अहंकार है। अगर कोई प्यासा इस बात पर वाद-विवाद करे कि तुम्हारे गाँव का तालाब तो दो कोस का ही है जब कि मेरे गांव का तालाब चार कोस का है, इसलिये तुम्हारे तालाब से मेरा काम कैसे चलेगा? तब मैं कहूँगा—पागल, यह तो बता कि तेरे हाथ का घड़ा कितने कोस का है? दो कोस के तालाब से तुझे अपने घड़े भर पानी मिल सकता है कि नहीं?

मनुष्य जितना कंगाल है उससे ज्यादा दम्भी है, इसीलिये अहंकार की पूजा के लिये वह धर्म का सहारा लेता है। हर एक आदमी धन का अहंकार नहीं कर सकता, दुनिया में एक से एक बढ़कर धनी पड़े हैं और धन का क्या ठिकाना आज है कल नहीं है, तब उसके सहारे अहंकार कैसे खड़ा किया जा सकता है। बल और रूप की भी यही दशा है। दो दिन बुख़ार आ जाय सारा बल निकल जाय, गाल पिचक जाय, बुढ़ापा भी बल और रूप का दिवाला निकाल देता है, फिर बल और रूप भी एक से एक बढ़कर हैं। अधिकार आदि की भी यही दशा है। मनुष्य ठहरा अहंकार का पुतला, उसे कुछ न कुछ चाहिये अवश्य, जिसके सहारे वह अहंकार कर सके। इसके लिये धर्म उसे सब से अच्छा मालूम हुआ। इस आत्मवंचक मनुष्य ने सोचा धर्म का अहंकार सबसे अच्छा, इससे बड़प्पन की लालसा भी पूरी हो गई और ईश्वर या अल्लाह भी खुश हो गया, परलोक सुधर गया और स्वर्ग या जन्नत के लिये सीट भी रिजर्व हो गई।

बेचारे ने यह न सोचा कि अहंकार, चाहे वह धन का हो या धर्म का, मनुष्य का पतन ही करेगा। वह उसी तरह हमारे जीवन को जलायेगा, जिस प्रकार दुनिया का कोई भी अहंकार जला सकता है। चन्दन के ठंडा होने पर भी चन्दन की आग ठंडी नहीं होती, धर्म ठंडा होने पर भी धर्म का अहंकार ठंडा नहीं होता। अहंकार हमें जलाता है, उसमें धर्म का अहंकार तो सब से बुरा है, यह तो पानी में लगी आग है। कलकत्ते में आग लगे तो बुरा होगा, पर यदि गङ्गा में आग लगे तो यह उससे भी ज्यादा बुरा होगा। क्योंकि कलकत्ते की आग गङ्गा से बुझाई जा सकती है, पर गङ्गा की आग किससे बुझाई जायगी?

दुनिया के पाप को हम धर्म से साफ़ करते हैं, पर धर्म में ही अगर पाप घुस जाय तो हम किससे साफ़ करें। इसलिये मैं कहता हूँ कि धर्म का अहंकार सब

अहंकारों से बुरा है। यह अहंकार निकल जाय, तो दुनिया में कितनी ही धर्म संस्थायें क्यों न रहें, उनसे हमारा कोई नुक़सान नहीं है। बल्कि फ़ायदा ही है।

सारी दुनिया में अगर एक ही मज़हब हो जाय, तो भी उससे लाभ न होगा, अहंकार या स्वार्थ थोड़ा सा नुक़्स निकालकर खून की नदियां बहाने लगेगा। यूरोप में एक ही ईसाई धर्म के मानने वाले क्या चर्चों के भेद से खून की नदियां नहीं बहाते रहे? एक मज़हब बनाने की कोशिश व्यर्थ है। ज़रूरत है सद्भाव की। हमें एकरूपता (uniformity) नहीं चाहिये, एकता (unity) चाहिये। एकरूपता से तो हमारा जीवन बेस्वाद हो जायगा। आप की थाली मे अगर घी ही परोस दिया जाय, तो आप कितना खा सकेंगे और कब तक खा सकेंगे। घी भले ही क़ीमती चीज़ हो, पर स्वाद के लिये और जीवन के लिये अन्न भी चाहिये, नमक भी चाहिये, और शाक भी चाहिये। अगर मेरी थाली में नमाज़ ही नमाज परोसी जाय या पूजा ही पूजा परोसी जाय तो भी मैं ऊब जाऊंगा, यह कैसे हो सकता है कि जीभ तो नये नये स्वाद चाहे और मन, जो कि जीभ से भी ज्यादा चंचल है, एक ही स्वाद से चिपटा बैठा रहे। मुझे तो लगता है कि कभी नमाज़, कभी पूजा, कभी भजन आरती और कभी प्रार्थना इस प्रकार विविध व्यंजन हों तो हमारे धार्मिक जीवन को अधिक पोषक खुराक मिलेगी। हमारा दिल अधिक लगेगा, ईश्वर को हम ज़्यादा याद कर सकेंगे। हमारा आध्यात्मिक आनन्द खूब बढ़ जायगा।

इसलिये हिन्दुओं से मेरा कहना है कि तुम हर दिन पूजा करते हो सो करो, पर एक दिन, शुक्रवार के दिन, ज़रा नमाज़ का मज़ा भी तो लो, रविवार को चर्च की प्रेयर में भी तो शामिल हो जाओ। तुम्हारा ईश्वर आज की अपेक्षा उस समय ज़्यादा खुश होगा। इसी प्रकार मुसलमानों से कहता हूं कि हर दिन एक सी नमाज़ पढ़ते पढ़ते तुम्हारा दिल नहीं ऊबता? ज़रा पूजा और प्रेयर का मज़ा भी तो चखो, देखोगे कि अल्लाह तुम्हारी इस उदारता से दूना खुश होगया है, क्योंकि तुमने उसे आज की अपेक्षा ज़्यादा महान रूप में देखा है। इसी तरह ईसाइयों से कहता हूं कि नमाज़ और पूजा में शामिल होने से प्रेयर का स्वाद बढ़ जायगा? मीठा खाते खाते बीच में नमकीन या खटाई खा लेने से मीठा खाने की ताक़त बढ़ जाती है।

हिन्दुस्तान का यह बड़ा सौभाग्य है कि यहां हिन्दू मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी आदि अनेक मज़हब हैं। यहां के नागरिकों को धर्म की थाली में अधिक से अधिक व्यंजन बड़ी सरलता से मिल सकते हैं। मैं इसे सौभाग्य समझता हूं। जबकि बहुत से लोग इसे दुर्भाग्य समझते हैं।

एक बार मैं मुलताई से नागपुर जा रहा था। मैं जिस डिब्बे में बैठा था उसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों ही काफी संख्या में थे। चर्चा भी हिन्दू मुसलमानों पर थी। चर्चा में गर्मी आ गई और झगड़े की नौबत आगई, इससे ऊबकर एक मध्यस्थ भाई बोले—जब तक इस देश में हिन्दू मुसलमान रहेंगे, तब तक यह देश नरक ही बना रहेगा। मैंने कहा—भाई, हिन्दू मुसलमान होने से यह देश नरक नहीं बना है, किन्तु हिन्दू मुसलमान न होने से नरक बना है। हिन्दू होने से उनके तैंतीस करोड़ देवताओं में मुहम्मद और ईसा को जगह मिली होती, मुसलमान होने से उनके एक लाख चौबीस हज़ार पैग़म्बरों में राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध को भी जगह मिली होती फिर क्या झगड़ा रहता?

बात बिलकुल सत्य है, अगर जैनी सच्चे जैनी बन जाय, हिन्दू सच्चे हिन्दू बन जाय, मुसलमान सच्चे मुसलमान बन जाय, तो धर्म में कोई झगड़ा ही न रहे। कोई धर्म चोरी करना नहीं सिखाता, झूठ बोलना नहीं सिखाता, हत्या करना नहीं सिखाता, व्यभिचार नहीं सिखाता, धन इकट्ठा करना नहीं सिखाता। सभी मज़हब प्रेम, दया, न्याय, सेवा दान, शील आदि का पाठ पढ़ाते हैं तब धर्मों में विरोध का क्या काम? धर्मों ने नीति का पाठ पढ़ाया है इतना ही नहीं सर्व धर्म समभाव के बीज भी सभी धर्मों में पाये जाते हैं।

चर्चा के लिये हम जैन हिन्दू मुसलमान, इन तीन धर्मों के अनुयाइयों को लें, मैं इन तीन धर्मों में ही आप को सर्व धर्म समभाव के बीज और विधान बता देना चाहता हूं।

जैन धर्म—जैन धर्म का दूसरा नाम अनेकान्त धर्म भी है। पंडित कहलाने वाले बहुत से लोग अनेकान्त की व्याख्या करते समय षटत्व-पटत्व में ही लोगों को फँसा देते हैं और अनेकान्त जटिल और निरर्थक हो जाता है। पर मैं सीधी सादी सरल और उपयोगी व्याख्या ही आप के सामने पेश करना चाहता हूं। अनेक-अन्त अर्थात् अनेक दृष्टियाँ अनेक धर्म, इनके समन्वय को जैन धर्म कहते हैं। जैन शास्त्रों में तीन सौ त्रेसठ मतों का उल्लेख है। उन सब मतों को मिलाकर जैन धर्म बनता है। इन मत-मतान्तरों के झगड़ों को मिटाने के लिये महावीर स्वामी का अवतार हुआ था। ऐसी हालत में सभी मत जैन धर्म के अंग हैं, तब यह कैसे हो सकता है कि जैन धर्म किसी मत का खण्डन करे? क्या कोई अपने अंगों को काटना पसन्द करता है! एक हाथ अगर दूसरे हाथ को तोड़ना चाहे, एक पैर दूसरे पैर को ठुकराने लगे तो शरीर की कैसी दुर्दशा हो जाय? वही दुर्दशा जैन धर्म की होगी अगर वह दूसरे मतो का खण्डन करने लग जाय। वह तो सिर्फ एक ही बात का खण्डन करता है और वह बात है दूसरों का खण्डन करना, समन्वय न करना, अनेकान्त दृष्टि से विचार न करना आदि। और वह किसी का खण्डन नहीं करना चाहता।

जैनियों में आज दिगम्बर हैं, श्वेताम्बर हैं, स्थानकवासी हैं, मुझे इनके होने का खेद नहीं है; अनेकान्त इन सब का समन्वय कर सकता है, पर दुःख इस बात का है कि ये जुदा जुदा ऐसे सम्प्रदाय बन गये हैं, जो एक दूसरे की दृष्टि को समझना ही नहीं चाहते। ये एकान्तवाद के पुजारी हैं। एकान्तवाद की पूजा छोड़ दें, अहंकार छोड़ दें, शुद्ध धर्म का विचार करने लगें, तो दिगम्बर श्वेताम्बर आदि भेद, जैन, बौद्ध, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि के भेद हमारा कोई नुकसान न करेंगे।

हिन्दू धर्म—जैन धर्म अपने अनेकान्त सिद्धान्त के ज़रिये से सब धर्मों का समन्वय करता है; पर हिन्दू धर्म अपने विशाल रूप और व्यावहारिक उदारता से सब धर्मों का समन्वय करता है। हिन्दू धर्म हिन्द में आई हुई सभी संस्कृतियों का समन्वय है, इसलिये एक साधारण हिन्दू में सहज उदारता पाई जाती है। आज शहरों में हिन्दू मुश्किल से दिखाई देते हैं, गावों में अभी हिन्दू बचे हैं। वे धर्म की पंडिताई रक्खें या न रक्खें, पर वे यह जानते हैं कि कोई भी देवता हो, किसी भी धर्म का देवता हो, आखिर वह देवता है, मुझे पूजनीय है। इसी मनोवृत्ति के कारण वे कभी कभी सड़क के किनारे गड़े हुए मील के पत्थर को भी देवता की मूर्त्ति समझकर प्रणाम कर जाते हैं, उसमें भी वे ईश्वर देखने की कोशिश करते हैं, हर एक प्रतीक उनकी भक्ति को जान सकता है। एक ईश्वर को तैंतीस करोड़ देवताओं के रूप में वे भज सकते हैं। इस उदारता के ऊपर हम बड़ी भारी पंडिताई को भी न्योछावर कर सकते हैं। उनमे विवेक की कमी हो सकती है, इसलिये विवेक आ जाय तब तो कहना ही क्या है, पर उनमें एक ऐसी चीज अवश्य है जो अपने धर्म के नाम पर अहंकार की पूजा नहीं करने देती, या बहुत कम करने देती है; हिन्दू धर्म में यह एक बड़ी भारी खूबी है।

एक बार एक सज्जन ने मुझसे कहा— हिन्दू धर्म कोई धर्म नहीं है, क्योंकि न तो कोई उसका निश्चित देवता है न उसका कोई निश्चित विचार। मैंने कहा हिन्दू धर्म कोई संकुचित धर्म नहीं है, वह धर्मों का अजायबघर है, अनेक दर्शन, अनेक आचार विचार, ईश्वर के अनेक रूप, जिसमें समन्वित हैं और जिसमें हर एक को जगह मिल सकती है।

बात यह है कि यह एक राष्ट्र का धर्म है आर्य, शक, हूण आदि, जो यहाँ आते गये और यहां बसते गये उन सब के साथ इसका आदान प्रदान हुआ और

इससे जिस विशाल व्यापक समभावी धर्म की रचना हुई, वह हिन्दू धर्म कहलाया। किसी धर्म को नष्ट करके यह रचना नहीं हुई, किन्तु सब धर्मों को रखकर उनका समन्वय करके यह रचना हुई। यही कारण है कि संहारक महादेव, विकराल काली मैया, वैभवशाली विष्णु आदि सभी वृत्ति के सैकड़ों देव इस धर्म में आ गये। ईश्वर के जितने महत्त्वपूर्ण कार्य इस दुनिया में होते हैं, उन सब का प्रतिनिधि एक एक देव बन गया। सभी देव ऋषि आदि ईश्वर के अंश बन गये। इस प्रकार एक ईश्वर को बड़े विशाल रूप में हिन्दुओं ने देखा और सब का समन्वय करके एक राष्ट्र धर्म बनाया।

दुर्भाग्य से हिन्दू धर्म नष्टप्राय होगया है—आज वह हिन्दू धर्म कहलाने लायक नहीं है। एक दिन हिन्दू धर्म तैंतीस करोड़ देवताओं का बोझ उठा सका, पर आज ईसा और मुहम्मद का बोझ नहीं उठा सकता। गीता के शब्दों मे सारी विभूतियाँ ईश्वर का अंश हैं, पर हिन्द के नौ करोड़ मुसलमानों का आराध्य मुहम्मद ईश्वरांश नहीं है, हिन्द में आये हुये इतने व्यापक तत्त्व को अगर हिन्दू धर्म नहीं अपना सकता, तो वह हिन्दू धर्म कैसे रहा ! इसे तो आज संग्रहणी की बीमारी है, पचता एक दाना भी नहीं और दस्त पर दस्त लगते चले जाते हैं, ऐसी हालत में आख़िर यह कितने दिन ज़िन्दा रहेगा !

ख़ैर, आज जैसी चाहे और दशा हो, पर यह निश्चित है कि इस देश की एक समन्वयात्मक विशाल संस्कृति ही हिन्दू धर्म रहा है। जैन धर्म और बौद्ध धर्म से भी उसने बहुत कुछ लिया, उन्हें अपनाया, अब इसलाम और क्रिश्चियानिटी को भी अपनाने की ज़रूरत है। वह अपना सकता है। वह सर्व धर्म समभाव के आधार पर ही खड़ा हुआ है।

इसलाम—आपने देखा कि जैन धर्म और हिन्दू धर्म अपने अपने ढंग से किस प्रकार धर्म समभाव का समर्थन करते हैं। इसलाम का भी अपना एक तरीक़ा है। इसलाम के अनुसार एक लाख चौबीस हज़ार पैग़म्बर हुए हैं और हर क़ौम में या हर उम्मत में हुए हैं[1]। इसलाम उनमें से किसी में भी फ़र्क़ नहीं करता। क़ुरान में ईसा मूसा आदि अनेक पैग़म्बरों के नाम आते हैं और उनका जीवन चरित्र बड़े आदर के साथ लिखा गया है, पर नाम आये हों या न आये हों इसलाम सब के साथ बराबर का व्यवहार करता है। क़ुरान की आयतें साफ़ साफ़ शब्दों में इस बात का बयान करती हैं।

इसलाम इस तरह दुनिया की हर एक क़ौमों के महापुरुषों की इज़्ज़त करता है और हर एक क़ौम के इष्ट पुरुषों को पैग़म्बर मानता है। हिन्दुस्तान सरीखे बड़े भारी मुल्क को बड़ी बड़ी कौमों के महात्माओं को इसलाम पैग़म्बर न माने यह कैसे हो सकता है ? इस मुल्क की क़ौमों के पैग़म्बर कहलाने लायक राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध आदि सभी पैग़म्बर हैं और क़ुरान की आयतों के अनुसार उनकी इज़्ज़त करना, उनमें फ़र्क न करना हर एक मुसलमान का फ़र्ज़ है। इसीलिये मैं मुसलमानों से कहा करता हूं कि भाई जब तक तुम राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध की जय न बोलोगे तब तक तुम मुसलमान कैसे कहला सकोगे !

अब आप समझ गये होंगे कि इसलाम कैसी सचाई के साथ सभी धर्मों और सभी धर्मों के महात्माओं में किस प्रकार समभाव रखता है। इस प्रकार सभी धर्म नीति और सदाचार का पाठ पढ़ाते हैं और सभी धर्मों के प्रति आदर करना सिखाते हैं। धर्म के नाम

१—हर कौम के लिये रसूल मिला है। [सूरे यूनिस] हम हर एक उम्मत में कोई न कोई पैगम्बर भेजते हैं। [सूरे नहल] कहो कि जो किताब हम पर नाज़िल हुई और जो किताबें तुम पर नाज़िल हुई हम तो सभी मानते हैं और हमारा खुदा और तुम्हारा खुदा एक ही है। [सूरे अन्कबूत] कोई क़ौम ऐसी नहीं कि उनमें पैगम्बर न हुआ न हो। [सूरे फ़ातिर] हमने तुमसे पहिले रसूल भेजे उनमें कुछ ऐसे हैं जिनके हालात हमने तुमको सुनाये और उनमें से कुछ ऐसे हैं, जिनके हालात हमने तुमको नहीं सुनाये। [सूरे मोमिन] हम इनमें से किसी एक में भी जुदाई नहीं समझते [सूरे बक़र]

पर लड़ना और अहंकार की पूजा करना कोई नहीं सिखाता। इसीलिये मैं कहता हूं कि सब धर्म एक हैं, हमें सब में समभाव रखना चाहिये।

बहुत से लोग दर्शन शास्त्रों की ओर स्वर्ग नरक आदि की दुहाई देकर धर्मों की आलोचना करने लगते हैं; वह धर्म तो ईश्वर नहीं मानता या ऐसा मानता है, वैसा मानता है आदि। मैं कहता हूं ये फ़िज़ूल के झगड़े हैं धर्मशास्त्र का काम नीति, सदाचार प्रेम और मनुष्यता का पाठ पढ़ाना है; इसलिये धर्म को या धर्मशास्त्र को हम इसी नजर से देखें। दर्शन, इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, प्राणिशास्त्र आदि का विचार स्वतन्त्र रूप में करें। इनसे सम्बन्ध रक्खें, सहयोग स्थापित करें; पर इन शास्त्रों की बातों के विरोध को धर्म का विरोध न समझें।

गणित के अनुसार दो और दो चार होते हैं। अब इस बारे में यह विचार करना व्यर्थ है कि हिन्दू धर्म के अनुसार कितने होते हैं और इसलाम के अनुसार कितने होते हैं। गणित पर हिन्दू, इसलाम, जैन आदि की छाप लगाना उचित नहीं। इस तरह जब मुझसे कोई पूछे कि कलकत्ता से नागपुर कितने मील है? मैं कह दूंगा सात सौ मील। तब क्या कोई यह पूछेगा कि हिन्दू धर्म के अनुसार कितने मील है और इसलाम के अनुसार कितने मील? यदि इस बात का सम्बन्ध धर्म शास्त्र से नहीं है, तो हिन्दुस्तान कितना बड़ा है इसका सम्बन्ध धर्मशास्त्र से कैसे हो जायगा और यदि हिन्दुस्तान की रचना का सम्बन्ध धर्म शास्त्र से नहीं है, तो एशिया या पृथ्वी का कैसे हो जायगा? जब पृथ्वी का नहीं तब ब्रह्मांड का कैसे हो जायगा? धारा तो एक ही है; एक ही शास्त्र का विचारणीय विषय है। तब इन बातों का सम्बन्ध हम धर्म शास्त्र से कैसे जोड़ सकते हैं? इसीलिये मैं कहता हूं कि धर्म शास्त्र को धर्म शास्त्र रहने दीजिये; दुनिया भर के शास्त्र और उनके झगड़े धर्म शास्त्र पर न लादिये। अगर आप धर्म का पालन करना चाहते हैं, धर्मात्मा बनना चाहते हैं, तो प्रेम का, सेवा का, ईमानदारी का और त्याग का व्रत लीजिये; दुनिया की भलाई में अपनी भलाई समझिये। दर्शन आदि की चर्चा को इस झगड़े में न लाइये; जैसा आपको जच जाय वैसा मान लीजिये, पर उसका उपयोग नीति और सदाचार को बढाने में कीजिये। हमारा पहिला और मुख्य काम सुखी बनना और जगत को सुखी करना है। सब बातें और सब धर्म इसी के लिये हैं। इस बारे में महात्मा बुद्ध के विचार ध्यान देने लायक हैं। उन्होंने बड़े अच्छे ढङ्ग से इस समस्या को सुलझाने की कोशिश की थी।

एक बार आनन्द ने—(बुद्ध के एक मुख्य शिष्य ने) बुद्ध से पूछा—भगवन्! सभी लोग परलोक आदि के बारे में कुछ न कुछ निश्चित बात कहा करते हैं पर आप कुछ नहीं कहते यह क्या बात है?

इसके उत्तर में म० बुद्ध ने बहुत सी बातें कहने के साथ कहा— देखो आनन्द, जङ्गल में एक आदमी जा रहा था, उसको तीर लगा जिससे बड़े जोर से खून की धारा बहने लगी। खून की धारा देखकर उसका पहिला कार्य क्या है? वह पहिले खून की धारा बन्द करे या तीर किसने बनाया आदि बातों की खोज करे?

आनन्द ने कहा—खून बन्द करना पहिला काम है।

म० बुद्ध ने कहा—तो बस, संसार में जो तृष्णा आदि के घाव प्राणी को लगे हैं, उनका बन्द करना पहिला काम है। उसी के लिये मैंने चार आर्य सत्य बतलाये हैं। तृष्णा आदि के बन्द होने पर परलोक आदि कैसा भी हो, तृष्णा आदि हटा देने वाले का भला ही है। उसकी चिन्ता अभी से क्यों की जाय? मरने के बाद जैसा होगा देख लिया जायगा।

मैं आप से यही कहना चाहता हूं कि ईश्वर, परलोक आदि आपको जिस प्रकार मानना हो मानिये, पर उसके किसी एक रूप के मानने न मानने से धर्म अधर्म का रिश्ता न जोड़िये।

दूसरी बात यह है कि ईश्वर और परलोक आदि के मानने न मानने की बात मुंह से न कहिये, जीवन से

कहिये। जीवन से न कहकर मुंह से कहना अपने को और दुनिया को धोखा देना है। हममें से अधिकांश ऐसे धोखेबाज़ ही हैं। इसीलिये मैं कहा करता हूं कि हज़ार में नौ सौ निन्नानवे मुसलमान खुदा को नहीं मानते, और हज़ार में नौ सौ निन्नानवे हिन्दू ईश्वर को नहीं मानते और हज़ार में नौ सौ निन्नानवे जैनी कर्मवाद पर विश्वास नहीं रखते। रखते होते तो जगत में पाप दिखलाई न देता।

अगर हम ईश्वर या अल्लाह को मानते तो क्या अँधेरे में पाप करते? समाज या सरकार की आंखों में धूल झोंकते समय क्या यह न मानते कि ईश्वर की आंखों में धूल नहीं झोंकी गई। हममें से कितने आदमी ऐसे हैं जो दूसरों को धोखा देते समय यह याद रखते हों कि ईश्वर या खुदा की आंखें सब देख रही हैं। अगर हमारे जीवन में यह बात नहीं है, तो ईश्वर या खुदा की दुहाई देकर दूसरों से झगड़ना हमें शोभा नहीं देता। यह बात कर्मवादी जैनियों से कहना है। कर्मबंध तो अँधेरा उजेला नहीं देखता, तब यदि कर्मबंध पर विश्वास रखते तो किसी के कहने पर भी पाप नहीं करते। कहने सुनने से क्या हम विष खा सकते हैं? विष के फल पर विश्वास होने से अगर हम विष नहीं खाते तो कर्म पर विश्वास होने से हमें अँधेरे में भी पाप नहीं करना चाहिये।

कहने का मतलब यह है कि हम इन बातों को जीवन में उतारने की कोशिश करें, ईश्वरवादी हों या कर्मवादी या अद्वैतवादी, अगर हम अपने वादों को जीवन में उतारने की कोशिश करेंगे, तो धर्म की राह में सब अपने को एक ही जगह पायेंगे; झगड़ने का कोई कारण न रह जायगा। सब धर्म हमें एक ही जगह ले जाने वाले मालूम होंगे।

पड़ौस में और दुनियादारी में भाई चारा निभाया जाता है, फिर धर्म में क्यों नहीं निभाया जा सकता। दूकानदारी में एक दूसरे के यहां सौदा देते हो, लेते हो, एक आफ़िस में पास पास बैठकर रोटियों के लिये नौकरी कर लेते हो; विवाह शादी में पान सुपारी के लिये एक दूसरे के यहां चले जाते हो, दुनिया, जो झगड़ने की जगह है, वहां तुम किसी न किसी तरह मिलकर काम कर लेते हो, पर धर्म, जहां कि दुनियादारी के रगड़े झगड़ों से छुट्टी पानी चाहिये, वहीं झगड़ने बैठ जाते हो! यह पानी में आग क्यों लगाते हो? कम से कम पानी को बचा रहने दो, हम इससे दुनिया की आग बुझायेंगे।

तुम्हें हिन्दू मुसलमान या जैनी बने रहना है? बने रहो। कौन मना करता है। हर एक आदमी अपने लिये एक घर बनाता है। तुम भी अपने लिये एक मज़हबी घर बनाये रहो। पर क्या घर से बाहर न निकलोगे? कभी किसी के घर बैठने उठने भी न जाओगे? क्या किसी को कभी अपने घर न बुलाओगे? क्या घर में खिड़की या दरवाज़ा न रक्खोगे? यदि रक्खोगे, जाओगे-आओगे तो मज़हब में भी जाओ आओ मिलो जुलो। मन्दिर तुम्हारा घर है तो कभी मसजिद में भी चले जाओ, मसजिद तुम्हारा घर है तो कभी मन्दिर में भी चले जाओ। राम तुम्हारा बाप है तो मुहम्मद को चचा कहलो, मुहम्मद तुम्हारा बाप है तो राम को चचा कह लो। दुनियादारी में तो पड़ोसी के बाप को चाचा कह लेते हो; फिर यहीं क्या बुराई है।

भाई, ज़रा सोचो तो, जब तुम्हारे नगर में कोई गुलाम मुहम्मद नाम का कलक्टर आ जाता है, तब तुम उसे सलाम कर लेते हो या नहीं? अगर गुलाम मुहम्मद को सलाम किया जा सकता है, तो मुहम्मद साहब को सलाम क्यों नहीं किया जा सकता? रामदास कलक्टर हो तो उसे सलाम, पर राम को नहीं, महावीर प्रसाद को बन्दे और सलाम, पर महावीर के नाम पर मुंह फेरना! यह कैसी समझदारी है। यह कहां का शिष्टाचार है?

भाई, मैं क्या कहूं? अपना दिल निचोड़ कर आप के सामने कैसे रक्खू? जब मैं इस देश के हिन्दू मुसलमानों को इसलिये लड़ते झगड़ते देखता हूं कि एक अपने को हिन्दू कहता है दूसरा अपने को मुसलमान, तब मेरा हृदय रोने लगता है। इन लड़ाइयों

से हमारा पेट नहीं भरता, कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होता सिर्फ़ घमंड उभड़ता है और हम कुछ स्वार्थियों की बातों में आकर एक दूसरे का सिर फोड़ डालते हैं! इन्हीं झगड़ों के कारण हम ग़ुलाम बने। इतिहास हमारी आखों के सामने है पर हम अंधे और मूर्ख बनकर शिकार हो रहे हैं। हमें इसी देश में रहना है, इस देश के बाहर हमारा और कोई घर नहीं है। तब झगड़ने से आख़िर क्या लाभ! क्या एक दूसरे को मिटा देना चाहते हो? पागल हुए हो अगर ऐसा सोचते हो तो।

एक दिन आर्य जाति और नाग जाति के लोग इससे भी बुरी तरह लड़े थे। उस समय लाखों नाग लोगों को जिन्दा जला दिया गया था। पर आज हमीं में नाग बैठे हैं। वे दूध शक्कर की तरह मिल कर एक हो गये हैं। दोनों के धर्म दोनों के वशी समाज में मिल गये। हिन्दू धर्म और हिन्दू जाति उन्हीं के मिश्रण का परिणाम है। कोई किसी को न मिटा पाया। हां, मिला पाया। दोनों मिल कर एक बन गये। यही राह है जिस पर पहिले के लोग चले हैं। इसी पर हमें आज चलना है।

क्या हज़ार पांच सौ आदमियों के सिर फोड़ कर तुम एक दूसरे को मिटा देना चाहते हो? सन् १९१८ में जब देश व्यापी इन्फ्लुएंजा आया था उसमें एक करोड़ से भी अधिक आदमी मर गये थे। गांव के गांव साफ़ हो गये थे फिर भी जब मर्दुमशुमारी हुई तब पहली मर्दुमशुमारी से अधिक ही जनसंख्या निकली। अब मारो तुम कहाँ तक मार सकते हो। जब यमराज इन्फ्लुएंजा के डंडे से हमें न मार पाया तब तुम लकड़ी के डंडे और मामूली छुरियों से नाम निशान मिटाना चाहो तो कैसे मिटा सकोगे? इस प्रकार तुम किसी जाति के आदमियों को ख़तम नहीं कर सकते, हां अपनी आदमियत ख़तम कर सकते हो।

फिर यह तो सोचो अगर तुम आदमियों को ख़त्म भी कर सको तो तुम्हें कोई ख़त्म कैसे करने देगा या होने देगा? तुम दुधारू गाय हो। जिन्हें तुम्हारा दूध पीना है वे तुम्हें कैसे मरने देंगे? हिन्दू या मुसलमान दोनों में से अगर एक भी मर जाय तो फूट कैसे फैलाई जा सकेगी? इसलिये इस भूल में न रहना कि तुम दूसरी जाति को मिटा सकोगे या दबा सकोगे। दोनों में से किसी एक को न तो इतना मिटने दिया जायगा न इतना दबने दिया जायगा कि वह घबराकर डंडा नीचे रख दे। बैलेन्स बराबर इतना सम्हाला जायगा कि तुम एक दूसरे के ऊपर डंडा बरसाने लायक शैतानियत दिखा सको और तुम्हारा दूध निकाला जा सके।

मैं आपसे बार बार आखें खोलने के लिये कहता हूं। इतिहास पर नजर डालने के लिये कहता हूं और दुहराता हूं, कि यदि आप धर्म के नाम पर शैतान बन जायँ तो आदमियत को मिटा सकते हैं, आदमियों को नहीं। जिस दिन मुट्ठी भर मुसलमान इस देश के भीतर आये उस समय हिन्दुओं के हाथ में राज्य था, पर उस समय ये मुसलमानों को न मिटा सके, और जिस दिन मुसलमानों के हाथ में साम्राज्य था, उस दिन ये हिन्दुओं को न मिटा सके, तो आज तो दोनों ग़ुलाम हैं आज ये क्या एक दूसरे को मिटायेंगे? इसलिये इसके सिवाय और कोई रास्ता नहीं कि दोनों हिल मिल कर रहें, अपने को एक ही देश और एक ही जाति का समझें। धर्म कोई भी पालें। सभी धर्म आदमियत का पाठ पढ़ाते हैं, सभी में सचाई है। इसलिये आदमियत का पाठ पढें, सच्चे बनें। सर्व धर्म समभाव के नाम पर आज आपसे मैं यही कहना चाहता हूं।

सत्याश्रम, वर्धा
पर्युषण-पर्व व्याख्यान, नवम्बर' ४१

शेंगान

श्री कु० प० राजगोपालन बी ए

[मूल तमिल से, अनु०—का० श्री० श्रीनिवासाचार्य]

१

"आम का यह पेड़ आपके दादा जी का बोया हुआ है। वे बड़े धरमात्मा थे। इसका फल मिसरी जैसा मीठा होता है। और, यह नारियल का पेड़-उन्होंने अपने हाथ से इसे लगाया था। इधर के रास्ते पर से चलिये, मेड़ों पर चलने की आपकी आदत नहीं है। शहर के जो बाबू ठहरे!'—इस तरह शेंगान फटा फट बोलता जा रहा था।

वह और मैं—दोनों मेरे खेत की एक तरफ़ की मेड़ पर चले जा रहे थे।

मैंने पूछा—"अब की फसल कब कटेगी?"

खेत में खड़े लंबे लहलहाते धान के पौधों को दिखाते हुए शेंगान ने कहा—"और कुछ दिन लगेंगे। अभी धान अधपके ही हैं। उधर पच्छिम की ओर कुछ कुछ पक गये हैं···यहाँ आम के साये में बैठ जाइये।—अरे छोकरे! छोटे बाबू जी के लिये दो टो कच्चे नारियल तोड़ लाना।"

मैं नारियल का पानी पीने का तरीका नहीं जानता था। सारे बदन पर पानी बहने लगा।

यह देखकर शेंगान हँस पड़ा और हाथ से इशारा करके कहने लगा—"नारियल के पत्ते से यों कसकर पकड़ लीजिये और झट से औंधाइये।"

अछूत शेंगान मेरे दादा के ज़माने से लेकर हमारी खेती करता आ रहा था। शोक्कनूर गाँव में वही एक सबसे बड़ा बूढ़ा रह गया था। उम्र उसकी अस्सी साल की बतायी जाती थी; लेकिन देखने पर वह साठ साल से ऊपर का नहीं लगता था। उसके हाथ में उसकी ऊंचाई जितनी ही लंबी बांस की लाठी रहती थी। अकसर कहा जाता है कि गांव में जितने लाठी वाले होते हैं वे सब के सब भंगी चमार होते हैं। लेकिन शेंगान न भंगी था, न चमार। खेती करना उसका धंधा था। भूरी ज़मीन में धान के पौधे रोपना उसकी जीवन-यात्रा थी। हरे-भरे छाती भर ऊंचे पौधों के बीच वह हमेशा किसी न किसी मेड़ को ठीक ठाक करता रहता और शाम को सांध्य तारा के साथ आँख मिचौनी खेला करता।

खेत से बाहर निकलने पर भी हाथ में लाठी और कमर पर लँगोटी उसकी सदा की साथिनें थीं। वह सिर से पैर तक काला कम्बल ओढ़े रहता, जैसा बरसात में लोग टाट से ढक लेते हैं। पाँवों में चप्पल, काला बदन, सफ़ेद मूछें, सिर के बीचों बीच कुछ पके हुए लंबे बाल—यही उसकी रूप रेखा थी।

"बहू जी ख़ुशी से हैं? आपका बच्चा कैसा है? क्यों न एक बार बहू जी को भी यहां ले आते?"—इन प्रश्नों के साथ, कुछ दूर पर बैठा हुआ शेंगान अपने चप्पल की गाँठ कस रहा था।

२

मैं हर साल फसल के वक्त गाव जाया करता था। न जाने पर, शेंगान मेरा पिंड नहीं छोड़ता था। वह जो कुछ देता मैं ले आता। आधी रकम तो जाने आने में ही लग जाती। शेंगान का इजारा मेरे दादा जी के ज़माने में ही तय हो गया था। आस पास के खेतों के इजारों की रकमें अब दूनी हो गयी थीं। इस बार जब मैं गया तो गाव के सभी लोग मुझे यों देखने लगे मानों वे मुझ पर कोई अहसान कर रहे हों। कुछ लोग मेरे पास आकर सलाहें देने लगे। एक सज्जन ने कहा—"आप बेचारे कभी साल में एक बार यहां आते हैं। गाव की हक़ीक़त आप क्या जानें—बूढ़ा किसान आपको इजारे के नाम आख़िर कुछ देता है या नहीं? सारे गाव में इजारे की क़ीमत बढ़ा दी गयी है। आप ही को शायद वह बुड्ढा धोखा दे

रहा है !" उन्होंने किसी दूसरे किसान को दूने इजारे पर मुक़र्रर करने का वादा भी किया।

"नहीं जी इसमें कौन सी बड़ी बात है ! बूढ़ा बहुत दिनों से हमारी खेती का काम कर रहा है। उसी को रहने दीजिये।"—मेरी इस लल्लो चप्पो से उनका ढाढ़स बढ़ गया।

उन्होंने कहा—"आप चुप रहिये जी ? यों किसी का लिहाज़ रखने से कुछ नहीं बनेगा। सारा इतज़ाम मैं खुद कर दूंगा। और देखिये ! गांव वालों के साथ मिलकर आपको रहना है कि नहीं ? गाव वालों ने इजारे का जो मूल्य तय किया है, वह आपको भी तो मिलना चाहिये ! अगर आप शैंगान को ऐसा ही रहने देंगे तो यहा के किसान हम लोगों से रूठ जायँगे। इसका परिणाम बहुत बुरा होगा।"

"नहीं नहीं। उसे निकालने का मेरा मन नहीं है। उसे ही खाने दीजिये। मेरा गुजारा इस जमीन के भरोसे थोड़े ही हो रहा है ?"

उन्होंने ताने के साथ कहा—"आप यह कह रहे हैं ! वाह ! फिर क्यों न दान पत्र लिखकर ज़मीन उसी के हवाले कर देते ! तब आने जाने का यह फिज़ूल खर्च भी न रहता !"

मैं हमेशा हर शख्स से मुलाहजा रक्खा करता हूं। कोई भी नया आदमी मिनट भर में मुझे नचा सकता है। मेरी धीमी चिकनी-चुपड़ी बातों से उस आदमी के कान पर जू तक न रेंगी। उन्होंने किसी दूसरे किसान को मुक़र्रर कर मेरे नाम इक़रारनामा लिखा कर ला दिया। मेरे सामने एक बड़ी समस्या खड़ी हो गई कि मैं शैंगान से यह बात कैसे कहू और उसे कैसे निकालूं।

२

दूसरे दिन खेत की ओर चलते वक्त मैं सोचता गया कि शैंगान को ज्यादा बातें करने का मौक़ा ही न दिया जाय और बीच में ही कड़ाई के साथ अपनी बात सुना दी जाय। दो तीन बार मैं वही बात उससे कहने जा रहा था; लेकिन बात मुंह से निकली ही नहीं; कंठ में ही अटक कर रह गयी।

शैंगान ने कहा—"जोता रहूंगा तो अगले साल कुए की पक्की जगत बनाकर पुर चलने का भी परबन्ध करूंगा। बाबू जी, आप मेरे लिए दो पछांहिये बैल खरीद दीजिये। फिर देखिये, मैं इसी ज़मीन में अपने हाथों सोना पैदा करके दिखाऊंगा !"

मैंने धीरे से कहना शुरू किया—"शैंगान तुम्हारी तो अब उम्र ही बीत गयी है ! खेती-बारी का काम तुमसे भला अब क्या होगा !"

"आपने भी खूब कहा ! गाव भर में कौन ऐसा है जो मेरे मुक़ाबले मे खेती-बारी के काम वक्त पर और इतनी होशियारी से कर सकता हो ! नदी के पहले बहाव का पानी जब तक हमारा है"—

"तुम्हारी मदद के लिए कोई नहीं है न !"

"मेरा बेटा बोन्दिलियन अगर रहता तो आज मैं इस सारे गाव की खेती अपने ऊपर न ले लेता ? परसाल शीतला के परकोप से—" इतना कहते-कहते शैंगान ने एक लम्बी आह छोड़ी।

थोड़ी देर बाद फिर उसने कहा—"उसी का एक बिटवा है। अजी, वह कर सकता है एक भरे-पूरे आदमी का काम !"

शैंगान फिर कुछ देर तक चुप रहा। उस वक्त मैं उससे क्या कहता ? मुझे अपनी बात कहना अच्छा नहीं लगा। आम के पेड़ तले बैठा हुआ शैंगान उस समय शायद शीतला के उस प्रकोप के बारे में सोच रहा था, जो उसके बेटे बोन्दिलियन को उठा ले गया था। एकाएक उसने सिर उठा कर मुझे ग़ौर से देखा।

"क्यों बाबू जी आप सोचते हैं कि मैं बिना खेती किये ज़मीन को बजर बनाये रक्खूगा ! मेरे जीते जी वह न होगा ! इस जमीन में नमी नहीं है। इसकी मिट्टी खुश्क है। सात आठ बार इसमें बकरियों का झुंड लगा रखना ठीक होगा। क्या बैल किया जाय !"

शाम हो रही थी। दूर पर सियार शोर करने लगे थे।

"चलिये, अब अँधेरे में ही घर लौटना होगा बाबू जी। आपको अँधेरे में चलने का अभ्यास न

होगा।"—यह कहकर आगे रास्ता दिखाता हुआ, शंगान तेज़ी से घर की ओर चल पड़ा। उसका पीछा करना भी मेरे लिए कम तकलीफ़ की बात नहीं थी।

"क्यों बाबू, खेती का काम मुझसे बदलवाने की सोच रहे हो ? मेरे जीते जी कोई दूसरा आदमी उसमें हल जोतेगा ? यह भी कहीं हो सकता है ? कौन ऐसा माई का लाल है, जो मेरी ज़मीन में पैर रखने की हिम्मत रखता है !···यह तो देखू कि यह धरती उसके लिए कैसे उपजाऊ होती है।"

कुछ देर तक वह चुपचाप चलता रहा। मेड़ पर ठोकर लगने के कारण किसी सिंचे खेत के कीचड़ में मैंने पैर रख दिया।

"रहने दीजिये, नाले मे पैर धो लेंगे।···चालीस बरसों से मैंने इन हाथों से मेड़ बनाये, नाले और नालियाँ बनायीं···। बड़े बाबू जी आज होते तो मुझे निकालने का ख्वाब में भी ख्याल न करते। मैंने इस जमीन को अपनी आखों की मानिंद पाल-पोसकर···" शंगान इस तरह कहता जा रहा था, अचानक वह बोल उठा—"मैं इसे छोड़ूंगा नहीं बाबू !"

मैं अपने मन से एक निर्णय पर पहुंच गया। मैंने कहा—"मैंने तो तुमसे खेती की बदली के बारे में कोई बात नहीं कही !"

"वही तो कह रहा हूं ! एकाध धरी ज़्यादा या कम, मैं खाऊ या आप खावें, इसमें कौन-सा फ़र्क़ पड़ जायगा ! इस खेत में इतनी मेहनत जो मैं करता हूं ! चोटी का पसीना एड़ी तक—यह मुहावरा बस मेरे ही लायक है ! कौन ऐसा है जो रात दिन मेरी तरह हार में पड़ा रहे। प्यासे को जैसे पानी दिया जाता है वैसे बारबार खेत को सींचे कौन ?—वह भी ठीक वक्त पहचानकर। हमारी धन-लच्छमी मुझसे बातें किया करती है। क्या कभी किसी साल मेरी धरती में चोरी हुई है ? धान कभी सूखकर जले हैं ? धरती कभी ऊसर पड़ी है ? पार साल जब बारिश बिल्कुल नहीं थी तब भी तो मैंने पैदावार दिखा दी थी ! इस हार में मेहनत करके ही मुझे मरना होगा, बाबू ! वरना मैं इसे छोड़ू तो मर जाऊ !"

४

अगले दिन तड़के पाच बजे उठकर जब मैं दतुवन करने खेतों की तरफ़ चला तब शंगान बुलंद आवाज़ में 'एत्तम'* के गाने गाता हुआ पानी सींच रहा था।

"बाँस के पत्ते पर सोनेवाली ओ शबनम की बूंद !
सोई ओस की बूंद को हरनेवाले ओ सूरज !"

—इस गाने की ध्वनि मेरे कानों में पड़ी। काम में मशगूल होने की वजह से उसने मेरी ओर आंख तक नहीं उठायी।

"क्यों जी, शंगान से आपने कह दिया न कि इस फसल के कटते ही उसे ज़मीन छोड़ देनी होगी !"—मेरे मित्र ने पूछा।

आत्माभिमान के साथ सिर उठाकर मैंने जवाब दिया—"नहीं जी, मुझसे यह कहा नहीं जायगा। शंगान जितना कुछ धान मुझे देगा, उतना ही मेरे लिये काफ़ी है !"

---

* 'एत्तम'—खेत सींचने की एक तरह की कल। बांस के ऊपरी डांडे पर एक या दो आदमी ऊपर नीचे चलते रहते हैं और दूसरा या तीसरा आदमी उसके एक सिरे से बंधे हुए बांस के नीचे की लोहे की हांडी में भरे पानी को उलेलता है। इसमें बैलों की बिल्कुल ज़रूरत नहीं।—अनु०।

गद्य गीत

कुमारी दिनेशनन्दिनी चोरड्या

मृत्यु

◉ मैं स्वयं मृत्यु हूँ, फिर मैं क्यों मरूँगी ? मै नहीं मरूँगी, क्योंकि मैं स्वयं मृत्यु हूँ !

◉ मेरे हाथ में जीवन के विशाल साम्राज्य का शासन है; मेरे बाहुओं पर यौवन के परिन्दों का मजार है; मेरी आखों में मा से विदा होते हुए विवश बच्चों का चित्र है; मेरी काली घनी केशराशि में मुझे निमन्त्रित करने वाले दुःखी प्रेमियों की प्रणय गांठें हैं;

◉ मेरे रग-रग में बीभत्स रोदन का मीठा-कड़ुआ राग है; मेरे हृदय के कोने-कोने में चितायें धधकती हैं; मुझे देखकर पाप डरता है, पुण्य हँसता है; मेरी स्मृति से मानव अन्धकार छोड़कर प्रकाश की खोज में सलग्न होता है;

◉ यौवनावस्था में मेरा नाम मृत्यु है, और प्रौढ़ावस्था में मै प्रलय नाम से अवतरित होती हूँ, मैं स्वय मृत्यु हूँ, इसीलिये सब मुझमे आते है;

◉ मै नहीं मरती; मै अमर हूँ !!

सह न सकेगा

◉ सुनो तो;

◉ संसार हमारे सुख का भार सह न सकेगा; रजनी की आशा वियोग के स्वप्नों से भरी है; प्रभात की मुस्कान में आसू की मूर्छना है, अन्धकार भविष्य का सभा बांध रहा है और पुरातन सुधियों का जर्जर हृदय मुझे बारम्बार पीछे हटने का संकेत कर रहा है क्योंकि,

◉ ससार की उपेक्षा हमारे सुख का भार सह न सकेगी !!

आह्वान

◉ मै—

◉ उद जलाकर तेरा अह्वान कर रही हूँ !

◉ सन्ध्या सोलहों श्रृंगार से सुशोभित हो बादलों का घूंघट काढ़ धीरे-धीरे मेरी पलकों पर उतर रही है; जितना ज़्यादा मैं तेरे लिये सोचती हूँ उतनी ही ढिठाई से अन्धकार झाड़ियो प्रसूनो और प्रकृति पर हँस रहा है !

◉ जीवन—मृत्यु की एकान्त निद्रा का प्रथम स्वप्न बनने की चेष्टा में है ! तब देव !

◉ मैं तेरा आह्वान कर रही हूँ ।

अन्तर्राष्ट्रीय भाषा और राष्ट्रीय संस्कृतियाँ

श्री अलबर्ट ग्यूराई

बरसों बरसों से अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का प्रश्न दार्शनिकों, वैज्ञानिकों और विद्वानों का ध्यान अपनी ओर खींच रहा है। सारी दुनिया में इस बात की जरूरत महसूस हो रही है कि अन्तर्राष्ट्रीय इस्तेमाल के पारिभाषिक शब्द एक-से ही होने चाहियें। वैज्ञानिक और औद्योगिक क्षेत्रों मे ही यह जरूरत महसूस नहीं हो रही बल्कि सभी व्यावहारिक बातों के लिये इसकी जरूरत दिखाई दे रही है। किसी भी वैज्ञानिक से पूछिये वह हरगिज़ आपको इस बात की सलाह न देगा कि हर प्रान्त अपने लिये अलग अलग वैज्ञानिक परिभाषाएँ गढ़े। वैज्ञानिक नाप और तोलों के लिये दुनिया भर में अन्तर्राष्ट्रीय शब्द व्यवहार में लाये जा रहे हैं। धीरे धीरे अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के पारिभाषिक शब्द बहुत बड़ी तादाद मे बनते जा रहे हैं। थोड़े से व्याकरण के नियम बना लेने की जरूरत है और अन्तर्राष्ट्रीय भाषा तैयार हो जायगी। और ये नियम भी कोई बड़े पेचीदा नियम नहीं, मामूली खेलों के जो नियम होते हैं, उनसे भी थोड़े नियम। अधिक से अधिक दो हजार शब्द याद कर लेने से कोई भी व्यक्ति आसानी से अन्तर्राष्ट्रीय भाषा-विशारद हो जायगा। अनेक पारिभाषिक विषयों के लेखों में ९० शब्द अब भी अन्तर्राष्ट्रीय होते हैं; केवल बीच-बीच में राष्ट्रीय भाषा के शब्द आ जाते हैं। जरूरत इस बात की है कि इसके लिये आम नियम बना लिये जायँ और सारे राष्ट्रों से स्वीकृति ले ली जाय तथा शब्दों की विधिवत सूची तैयार कर ली जाय। अन्तर्राष्ट्रीय भाषाकारों के सामने यही एक समस्या है।

मानवता जिस तेज़ रफ़्तार से प्रगति कर रही है, उसकी उन्नति में सबसे पहली बाधा एक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का अभाव है। हर जगह यही दिक़्क़त आपको पेश आयेगी। जहाँ भी दो या तीन देशों के प्रतिनिधि इकट्ठा होते हैं, वहीं यह समस्या खड़ी हो जाती है। चाहे दोस्त हो और चाहे दुश्मन, आपसी बातचीत के लिये उन्हें कोई क्षणिक सहारा ढूढ़ना ही पड़ता है। विविध राष्ट्रों का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध सदा के लिये महज़ टूटे-फूटे शब्द अथवा कारतूस और बम तक ही सीमित नहीं रहेगा। समय बीतेगा और प्रेम की लहरें नफरत की ज्वालामुखी को दबा देंगी। उस वक्त सारे संसार में पारस्परिक प्रेम की भावना उमड़ेगी। उस स्थिति को सुलभ करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बड़ा काम देगी।

वे दिन बीत चुके जब विद्वानों के बीच में लैटिन आम भाषा थी और अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक सम्बन्ध के लिये फ्रेंच आम भाषा थी। आजकल अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समारोहों मे तीन-तीन, चार-चार, पाँच-पाँच भाषाओं में अनुवाद करने पड़ते हैं। कितना समय और शक्ति इसमें बरबाद होती है, इसका अन्दाज़ा सहज ही में हो सकता है। हालत दिनों दिन ख़राब होती जा रही है। अल्डुअस हक्सले कहता है कि पढ़े-लिखे मेक्सिको निवासी आज फ्रेंच भाषा के बेसिक रूप एस्पेरेण्टो में बात कर लेते हैं, किन्तु भाषा को लेकर लोगों के दिमाग़ दिनों दिन जिस तरह संकुचित होते जा रहे हैं, उसको देखते हुए वह दिन दूर नहीं कि मेक्सिकोवासी केवल अपनी ही देशी भाषा समझेंगे और अंग्रेज़ केवल अंग्रेज़ी। फिर हर राष्ट्र में वहाँ की हर बोली अपने लिये सरकारी छाप चाहती है। छोटी से छोटी भाषा भी बड़ी से बड़ी भाषा के साथ बराबरी के रुतबे के लिये बेचैन है। प्रत्येक देश के अन्दर यह कैफ़ियत है कि दो-दो तीन-तीन भाषाएं राष्ट्रभाषा का रूप लेने के लिये प्रतिस्पर्द्धा कर रही हैं। जिस देश में भाषा का कोई प्रश्न ही नहीं है, वहाँ भी अब भाषा की समस्या खड़ी होती जा रही है। जहाँ पहले एक राष्ट्रीय भाषा थी, अब वहाँ अनेक भाषाएँ होड़ ले रही हैं। काले-

मार्क्स के सिद्धान्तों के अनुसार पूजी को एक जगह इकट्ठा करने की इच्छा बलवती होती है। किन्तु भाषा को खण्ड खण्ड करने में ही लोगों को आनन्द मिलता है। जब कि विज्ञान संसार में दूरी को कम कर रहा है, भाषावादी प्रचण्ड प्रयत्न से देश के अन्दर ही उस दूरी को बढा रहे हैं।

भाषा के प्रश्न को हल करने के लिये वैज्ञानिकों की भी तलबी हुई। उनसे उम्मीद की गई कि वे किसी वैज्ञानिक चमत्कार से इस भाषा की समस्या को हल करें और विज्ञान ने इस सम्बन्ध में सबसे अधिक आश्चर्य सोवियत् रूस में करके दिखाया है। सोवियत् सोशलिस्ट रिपब्लिक अनेक जातियों और उपजातियों का देश है। सांस्कृतिक हैसियत से वहाँ प्रत्येक जाति को बराबरी का अधिकार है। सोवियत् पार्लिमेण्ट में ज्यों ही कोई व्याख्यान देता है, त्योंही अनुवादकों की फौज उसे उस दम और बीस-तीस भाषाओं में फौरन अनुवाद करती है। असेम्बली हाल में हर सीट के पास एक-एक 'इयर फोन' लगा हुआ है। हर मेम्बर फोन उठाकर अपने कानों में लगा लेता है, और बस होने वाले व्याख्यान उसे अपनी ही भाषा में सुनाई पड़ते हैं। इस तरह विज्ञान की मदद से सोवियत् रूस ने अपनी भाषा समस्या को जाहिरा तौर पर हल कर लिया है।

वास्तव में यह एक बड़ा भारी वैज्ञानिक चमत्कार है। हालांकि इसमें खर्च बेहद पड़ता है, किन्तु फिर भी शस्त्रों और दूसरी बातों में जो खर्च होता है, उसके मुक़ाबिले में यह खर्च कुछ भी नहीं है। किन्तु जहां तक लिपि का प्रश्न है, भाषा की समस्या को यह वैज्ञानिक चमत्कार भी हल नहीं कर पाया। अब भी महत्त्वपूर्ण लेखों और रचनाओं को अनेक भाषाओं में छपवाना पड़ता है। प्रवास में यात्री दूसरे मुल्कों की छोटी से छोटी बात भी आसानी से नहीं समझ पाता। भाषा की कठिनाई के कारण मानव सम्पर्क की कड़ियाँ ढीली पड़ जाती हैं।

इनमें से बहुत सी दिक़्क़तें दूर हो सकती हैं यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिये एक भाषा निश्चित कर ली जाय। शुरू-शुरू में तो अनुवाद की फिर भी ज़रूरत पड़ेगी, दुभाषिये फिर भी रहेंगे और इयर फोन की तरकीब से भी काम लिया जायेगा; किन्तु थोड़े ही वर्षों के अन्दर लोग इस अन्तर्राष्ट्रीय भाषा में दक्ष हो जायेंगे। इसे आसानी से समझ बोल और पढ लेंगे और लोग दस वर्ष के अन्दर ही इस भाषा के बोलने, लिखने और पढने में चतुर और विशेषज्ञ हो जायेंगे। मराक्को वाले एक दिन के लिये भी स्कूल नहीं गये, मगर सुन सुनाकर वे सफाई के साथ फ्रेंच और अंग्रेज़ी बोलते हैं। जब किसी के सामने उद्देश्य होता है, तो वह भाषा भी आसानी से सीख लेता है। हम अपने स्कूलों में जो भाषा सिखाते हैं, उसके पीछे कोई वास्तविक उद्देश्य नहीं होता और इसीलिये हमें इस सम्बन्ध में पूरी कामयाबी नहीं मिलती। आने वाली दुनिया इस अन्तर्राष्ट्रीय भाषा की उपयोगिता को समझेगी और इसमें कोई सन्देह नहीं कि थोड़े से थोड़े समय में वह इसे सीख लेगी।

किन्तु इस अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का यह अर्थ नहीं कि इसके कारण राष्ट्र भाषा के महत्व में कमी हो जायेगी। राष्ट्र भाषा तो रहेगी, फलेगी और फूलेगी ही। राष्ट्रीय भाषा छोटे से छोटे विचारों में भी आत्मीयता की गहराई भर देती है, जिस गहराई को बड़े बड़े दर्शन शास्त्री भी नहीं पहुँच पाते। मामूली से मामूली शब्दों के अन्दर राष्ट्र भाषा एक ख़ास ध्वनि और अर्थ पैदा कर देती है। मेरी नम्र सम्मति में मानव-संस्कृति के तीन विभाग हैं (१) मातृभूमि और मातृ भाषा के साथ उसका गहरा सम्पर्क, (२) यात्रा द्वारा नई-नई खोजों में उसकी भावना और (३) अखिल विश्व में मानव अनुभवों का उसका उत्तराधिकार।

अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का प्रमुख उद्देश्य राष्ट्र भाषाओं की जगह लेना नहीं है, बल्कि उन्हें उसे ऐतिहासिक और राष्ट्रीय रूप देना है। विज्ञान दोहरे ख़तरे के रूप में छोटी-छोटी भाषाओं के ऊपर मडरा रहा है।

यदि ज़बरदस्त दृढ़ प्रयत्न नहीं किया जाता, तो आयरिश भाषा अब तक समाप्त हो जाती। छोटी-छोटी मोटी भाषाएं केवल बरदाश्त कर ली जाती हैं, किन्तु उन्हें बेहद तुच्छ समझा जाता है। बड़ी-बड़ी भाषाएं अपने साम्राज्यवादी रूप के कारण विकृत हो गई हैं। ग्रीक और लैटिन को भी ज्योंही अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का रूप मिला, त्योंही उनका महत्व समाप्त हो गया। फ्रेंच भाषा की यह बड़ी भारी जीत थी कि फैड्रिक (दूसरे) जैसे लोगों ने उसे अपनाया। फ्रेंच को किन्तु यही जीत फ्रेंच भाषा के लिए नाश का कारण साबित हुई। हिन्दुस्तान में बाबू इंगलिश अपनी निर्जीवता के लिए मशहूर है और जेनेवा में बोली जाने वाली अंग्रेज़ी बेहद वर्णसंकर बन गई है।

यदि राष्ट्र भाषाओं को सुरक्षित रखना है, तब उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय उपयोग में नहीं लाना चाहिये। हर व्यक्ति में अज्ञात रूप से एक हिटलर छिपा हुआ है। जब भी उसको मौक़ा मिलेगा सारे संसार में वह अपनी ही भाषा की डिक्टेटरी लाद देगा। बहुत से अमरीकनों में ज़ाहिरा तौर पर साम्राज्यवाद की भावना नहीं है। किन्तु ऐसे लोग भी इस बात में विश्वास करते हैं कि जैसे ही दुनिया अपने होश में आयेगी, वह हालीवुड की भाषा और हालीवुड के आचार-विचार को अपना लेगी। एच० जी० वेल्स चाहते हैं कि सारी दुनिया में एक ही सरकार क़ायम की जाय, लेकिन वेल्स ने अपनी इस दुनिया के लिये अंग्रेज़ी भाषा की ही कल्पना की है। आकडेन ने बेसिक अंग्रेज़ी ईजाद कर इस सम्बन्ध में बड़ा काम किया है। व्याकरण को उसने बेहद आसान बना दिया है। किन्तु इस सब के उपरान्त भी बेसिक अंग्रेज़ी, अंग्रेज़ी ही है। अंग्रेज़ी शब्दों के बेहूदा हिज्जे और अजीबो ग़रीब उच्चारण को दुरुस्त करने का उसने कोई प्रयत्न नहीं किया। और इसीलिये अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से बेसिक अंग्रेज़ी मुश्किल भाषा ही रह जाती है। अंग्रेज़ी को अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बनाने की वकालत करने वालों की दलीलें वास्तव में उनके ख़िलाफ़ ही जाती हैं। वे कहते हैं, अंग्रेज़ी बोलने वालों के पास बेहद धन है, उनकी बेशुमार तादाद है और सातों समुन्दर पर उनकी हुकूमत है। किन्तु उनकी इन साम्राज्यवादी भावनाओं के प्रति दुनिया को सदा सख़्त नफ़रत रहेगी। हमें एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा की ज़रूरत है, जो प्रत्येक राष्ट्र के स्वाभिमान और उनके हितों को आदर के साथ देखे। मुझे विश्वास है कि संसार विजय का हिटलर का स्वप्न भंग हो जाएगा। किन्तु मुझे यह भी विश्वास है कि अंग्रेज़ी को संसार की भाषा बनाने का स्वप्न भी पूरा न हो पायेगा। अंग्रेज़ी और जर्मन तो अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बन ही नहीं सकतीं। इसके लिये हमे दूसरी भाषा तलाश करनी पड़ेगी। ऐसी भाषा जिसे साम्राज्यवाद ने कलुषित नहीं किया है। इसके लिये मलाया, माल्टा या अलबानिया जैसे छोटे देशों की कोई भाषा उपयुक्त होगी।

यदि दुनिया में एकता और सामञ्जस्य पैदा करना है, यदि दुनिया में सांस्कृतिक बुनियादें क़ायम करनी हैं, तो हमें मानव-स्वतन्त्रता पर अपना अन्तर्राष्ट्रीय महल खड़ा करना होगा। बग़ैर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के अन्तर्राष्ट्रीय एकता असम्भव है। राजनैतिक साम्राज्यवाद की तरह ही भाषा मे भी साम्राज्यवादी प्रवृत्तियां होती हैं। हम अपनी ही भाषा को संसार मे सबसे महत्वपूर्ण भाषा समझ लेते हैं और दूसरी भाषाओं को और उसके बोलने वालों को अवज्ञा की दृष्टि से देखने लगते हैं। बहुत छोटे और गुलाम राष्ट्रों की भाषा बिलकुल तुच्छ दिखाई देती है। उनसे कुछ ऊपर सरक्षित राष्ट्रों की भाषाएं थोड़ा बहुत सहन कर ली जाती हैं। उनसे ऊपर कुछ छोटे छोटे स्वतन्त्र राष्ट्र हैं, जैसे स्वीडन और फिनलैण्ड और उन देशों की अपनी अपनी संस्कृतियाँ भी हैं। उनसे ज़रा ऊपर बड़ी-बड़ी क़ौमें और उनकी प्रसिद्ध भाषाएं हैं। और सबमें ऊपर साम्राज्यवादी राष्ट्र और उनकी साम्राज्यवादी भाषाएं हैं। भाषा का यह अभिजात पहलू जब तक दूर नहीं होगा, तब तक हमारे दिल से भाषा सम्बन्धी कलुष भी दूर नहीं होगा। धन का

अभिमान, जाति का अभिमान, राष्ट्र का अभिमान संस्कृति का अभिमान—छोटी जातियों को अवज्ञा से देखने का अभिमान हम मे भरे हुए हैं। और आश्चर्य यह है कि इन झूठे अभिमानों को अपने हृदय के अन्दर लेते हुये भी हम अपने को सभ्य और सुसंस्कृत कहने का दावा करते हैं। यदि दुनिया को सुसंस्कृत बनाना है तो हमें इस अभिमान को दबाना होगा। अन्यथा हम कितना ही सभ्य बनने का दावा करें, हमारे हृदय के अन्दर बर्बर दानवता खेल करती रहेगी।

अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के पीछे अनेक राजनैतिक पहलू भी हैं, अर्थात् अपने जातीय और राष्ट्रीय घमण्ड का परित्याग। अन्तर्राष्ट्रीय भाषा को अपनाने पर भी संसार में एकदम से शान्ति क़ायम नहीं हो जाएगी। विविध राष्ट्र इसीलिये आपस में लड़ते हैं कि वे एक दूसरे को ख़ूब समझते हैं। एक भाषा बोलने वाले ही एक दूसरे का गला काटने लगते हैं; किन्तु फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा स्वीकार करने का अर्थ यही है कि मानव जीवन को एक सूत्र मे बांधने के लिये हम पहला क़दम उठाने के लिये तैयार हैं।

एक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा अपना लेने पर मध्य यूरोप के बहुत से झगड़े सदा के लिये शान्त हो जायगे। वहाँ का झगड़ा धार्मिक नहीं है। वहाँ यहूदियों का प्रश्न नहीं है, न उनका अलग संगठन ही है, दोनों पक्षों में प्राटेस्टेण्ट, कैथालिक और स्वतन्त्र विचार के लोग हैं। जिसका ज़रा भी दिमाग़ सही है वह यह जानता है कि यूरोप का झगड़ा साम्प्रदायिक झगड़ा नहीं है। जर्मन कोई जाति विशेष नहीं है। वह एक ऐतिहासिक भाषा बोलने वालों का समूह है। हिटलर ख़ुद ट्यूटन जाति का नहीं है। विजेताओं में अलबानियन जाति के लोग हैं और पराजितों में नार्डिक जाति के लोग भी हैं। यह मौजूदा युद्ध आर्थिक युद्ध भी नहीं है। जर्मनी, जिसकी शिकायत है कि उसके पास कुछ भी नहीं है, पोलैण्ड के मुक़ाबले में उसके पास कहीं अधिक है। यदि जर्मनी और फ्रान्स की चुङ्गी चौकिया उठा दी जाय तो जर्मनी का सारा धन फ्रान्स में आ जाय और फ्रान्स का सारा धन जर्मनी में चला जाएगा। लड़ाई का असली कारण राजनैतिक चौधरापे की भावना है। हिटलर जिस बराबरी का दावा कर रहा है, वही बराबरी वह यूरोप के दूसरे राष्ट्रों मे छीन रहा है। पोलैण्ड वालो ने ख़ुद यही बात अपने शासन में यूक्रेनियन और लिथुनियन लोगों के साथ की थी। यूरोप का यदि दोबारा बटवारा कर लिया जाय, तब भी यह झगड़ा समाप्त नहीं होगा। इसका केवल एक ही रास्ता है। लोग ख़ुद शान्ति से रहें और दूसरों को भी शान्ति से रहने दें। हर एक व्यक्ति को अपने इच्छानुकूल धर्म पालन करने और अपनी इच्छानुकूल भाषा बोलने का अधिकार रहे। जब विविध भाषा भाषी व्यक्ति शासन की ग़रज़ से या व्यापार की ग़रज़ से एक जगह इकट्ठा हों तब वह कोई निष्पक्ष भाषा बोलें।

थोड़े ही व्यक्तियों को इसमें सन्देह होगा कि नफ़रत का यह दरिया दस महीने या दस वर्ष मे आख़िर सूखेगा ही। उसके बाद सारे यूरोप के लिये एक केन्द्रीय शासन बनेगा और फिर सारे संसार में केन्द्रीय शासन क़ायम होगा। इस तरह के केन्द्रीय शासन के लिये एक केन्द्रीय भाषा की भी ज़रूरत होगी। फ्रेंच, इटैलियन, स्पेनिश अथवा किसी भी भाषा को यह महसूस करने का मौक़ा न देना चाहिये कि वह किसी अन्य देश वालों की भाषा से घटिया है, या उनकी भाषा अंग्रेज़ी या जर्मन से घटिया है। यदि यही बात रही तो फिर ईर्षा की आग कभी नहीं बुझ सकेगी। हर मुल्क को अपनी-अपनी भाषा बोलने का अधिकार क्यों न मिले और सब मिलाकर एक केन्द्रीय भाषा क्यों न बोलें। केन्द्रीय भाषा के साथ साथ केन्द्रीय शासन आसान हो जायेगा। चुङ्गी, आयात, निर्यात, रक्षा पुलिस, हवाई इन्तज़ाम आदि सभी बातों में सहूलियत हो जायेगी। फिर सारे यूरोप के लिये एक पार्लियमेण्ट और एक ही सिविल सर्विस की कल्पना मूर्खतापूर्ण कल्पना न रह जायगी।

हम ऊपर कह आये हैं कि हमारी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा ऐसी होगी जिस पर साम्राज्यवाद का इल्ज़ाम नहीं लगाया जा सकेगा। इस काम के लिये हमें एक ऐसी भाषा चुननी चाहिये कि जिसमे बड़ी भाषाओं का आपसी मनमुटाव न बढे और छोटी भाषाओं को अपमान की ठेस न पहुँचे। यदि यह नहीं होता तो मौत के परदे से किसी दफनाई हुई भाषा को बाहर निकाल कर इस्तेमाल करना चाहिये।

यह बात ध्यान मे रखना चाहिये कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय भाषा विज्ञान कोई मज़ाक नहीं, बल्कि वास्तव में एक सच्चा और असली विज्ञान है। इनमान की शुरू की कोशिशों के पहले भद्दे नतीजे निकलेंगे और बहुत सी कोशिशें बेकार जायँगी। लेकिन जब तक मानव भातृ भाव की भावना हमारे अन्दर है तब तक हमे उम्मीद नहीं छोड़नी चाहिये।

मेरी राय में इस सम्बन्ध मे सब में अधिक महत्व पूर्ण काम प्रसिद्ध गणितज्ञ और तर्कशास्त्री ग्युशेप पियानो ने किया है। उसने वैज्ञानिक तरीके से अन्तर्राष्ट्रीय-इस्तेमाल में आने वाले तमाम शब्दों की एक सूची बना डाली है और उन शब्दों के इस्तेमाल के लिये उसने व्याकरण के थोड़े से नियम भी बना लिये हैं। उसका तो यहा तक कहना है कि व्याकरण की कोई ज़रूरत भी नहीं है। लेकिन व्याकरण का उद्देश्य तो भाषा को दुरूह बनाना नहीं है, बल्कि सहल बनाना है। अन्तर्राष्ट्रीय भाषा को लेकर और अनेक लोगों ने प्रयोग किये हैं। किन्तु देखना यही है कि भाषा ऐसी हो जो बड़े और छोटे, विजित और पराजित, सभ्य और अर्ध-सभ्य सब मुल्कों को आकर्षित कर सके। इस सम्बन्ध में एसपेरेण्टो, आक्सीडेण्टल और लेटिनो नामक नई-नई भाषायें गढी गई हैं। इनका पूरा व्याकरण एक पोस्टकार्ड पर छापा जा सकता है। इनमे न कोई मुहावरे हैं और न इनके कोई विशेष नियम। ध्वनि के अनुसार उनकी हिज्जे होती है। क्लिष्ट अक्षरों से भी इन भाषाओं को बचाया गया है किन्तु इन भाषाओं को अपनाने में भी बहुत सी दिक्कतें हैं। फिर भी यदि निश्चित इरादा कर लिया जाय, तो अन्तर्राष्ट्रीय भाषा को एक वास्तविकता बनाया जा सकता है।

हमारी सभ्यता की माँग है कि छोटे छोटे राष्ट्र टूटकर एक महान केन्द्रीय शासन स्थापित हो। कोई क़ौम दूसरी क़ौम की ग़ुलाम न रहे। जब तक प्रत्येक राष्ट्र बराबरी का दरजा नहीं पाता, जब तक हर इनसान ग़ुलामी के बन्धन से छुटकारा नहीं पाता और जब तक साम्राज्यवादी राष्ट्रों का सपना चूर नहीं होता, तब तक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा को भी व्यावहारिक रूप मिलना कठिन है। लेकिन यह काम आज किया जाय या बीस वर्षों के बाद, करना तो इसे है ही।

जीवन-तृण

श्री प्रयाग नारायण त्रिपाठी

गहन निशा है!
सागर की उत्ताल तरंगों पर जीवन-तृण,
प्रतिपल, प्रतिक्षण
आज खा रहा कठिन झकोरे
असहनीय हिलकोरे,
छाया तम घनघोर सुझती नहीं दिशा है!
गहन निशा है!

मैं तिनका था,
चढ़ा समीरण पर झूमा था,
उस सुदूर अम्बर के जगमग तारों को मैंने चूमा था।
मैंने पलकें खोल निहारा
पलटा अभिनय सारा,
तीक्ष्ण महासागर की धारा,
बहा जा रहा हूँ जिसमें मैं लघु तृण बिना सहारा।
श्रांत, क्लांत औ हारा,
वह उड़ने की साध अरे, मेरा वह सुख कितने दिन का था!
मैं तिनका था!

इसको कहते जीवन?
खटक रहा जग की आँखों में
लाल किए जग आँखें,
अरमानों के तरु का पतझर
सूनी सारी शाखें,
टूट रहा मन हारा,
खोज रहा हूँ पा न सका पर
कोई कूल किनारा,
कोई एक सहारा,
झेल रहा तूफ़ान थपेड़े, आँधी साँसें गिन गिन!
इसको कहते जीवन?

आशा के दिन बीते?
बीत गए दिन अपने?
आज शीत मेरी श्वासों से
लगते नभ तारक भी कँपने,
गहरे अँधियारे में डूबे
तट के तरु भी नहीं डोलते,
गहरे सन्नाटे में सोये
झिल्ली स्वर भी नहीं बोलते,
गहन निशा है!
सागर की उत्ताल तरंगों पर जीवन-तृण
प्रतिपल, प्रतिक्षण
आज खा रहा कठिन झकोरे,
असहनीय हिलकोरे,
क्या जीवन के प्यारे प्यारे सपने सारे रीते?
आशा के दिन बीते!

फ़ासिस्ट बनाम साम्यवादी संस्कृति

श्री गोपाल हलदार, एम ए.

जून की बाइस तारीख़ को धोखे से नाज़ी जर्मनी ने सोवियत् देश पर आक्रमण किया।

(मास्को की ओर)—अख़बार ख़तम करके विदुषी पाठिका ने कहा—"देखा ना, हिटलर ने अपना चमत्कार दिखला दिया—एकदम मास्को की ओर। यह किसानों का काम नहीं है ! केवल छैही वर्षों में जर्मनी ने क्या नहीं किया !"

साहित्यरसिक अध्यापक बोले—"पढ़ा आपने स्तालिन का भाषण ! बिल्कुल बेजान है ! सात दिन का धक्का भी सभाल नहीं सका। अब तो हिटलर मास्को की ओर चला।"

दिग्विजयी वैज्ञानिक ने सोवियत् के उद्योग में अब अपना विश्वास खोकर कहा—"उन लोगों ने हमें धोखा दिया है, नहीं तो उनकी हार क्यों हो रही है।"

युद्ध के भाग्य का निपटारा युद्ध ही में होता है, इसमें रंच मात्र भी सन्देह नहीं। लेकिन इस युद्ध में मानव के भविष्य का भी अनेक अशों में निर्णय होगा, इसमें भी सन्देह नहीं। युद्ध के फैसले से ही संस्कृति की भाग्य-परीक्षा भी होती है, उसी हिसाब से युद्ध आज विभिन्न दृष्टिकोणों और विभिन्न संस्कृतियों का अनिवार्य संघर्ष-स्थल बन गया है। उसके अन्दर सभ्य जगत की विरोधी धारायें, जिस तरह स्पष्ट हो गई हैं, उसी प्रकार सभ्य मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक दृष्टिकोण की भी परीक्षा हो रही है। युद्ध-रत शक्तियों की परीक्षा, उनके तन-मन और जीवन के सामर्थ्य की परीक्षा, उनके समग्र मनुष्यत्व की परीक्षा; और तटस्थ मनुष्य की बुद्धि, चेतना, जीवन के अनुभव तथा संस्कृति के दायित्व-बोध की परीक्षा होती है। भारतीय विदुषी और भारतीय अध्यापक की भी उसी तरह परीक्षा हुई। परीक्षा होती है उनकी बुद्धि की, उनके दृष्टिकोण की, और उनकी ज़िम्मेवारी की। युद्ध उनके स्वरूप का भी उद्घाटन कर देता है;—दाहिनी या बाईं ओर, पीछे या आगे,—सभ्यता के संघर्ष में कौन कहां है, यह समझने में अब देर नहीं लगती।

प्रकृति का प्रतिशोध

सभ्यता के इस संघर्ष के मर्म को सचेत होकर समझ सकना सभ्यता का परिचायक नहीं है, यह तो सभ्यता की व्याधि का परिचायक है। इसी प्रकार की व्याधि से लड़ाई भी छिड़ती है। लड़ाइयां क्यों होती हैं, इसे इस युद्ध में सभी समझ गये हैं। मानव समाज में लड़ाई होती है, क्योंकि मनुष्य प्रकृति पर जितनी तेज़ी से विजय पाता जा रहा है, अपने चारों ओर की परिस्थितियों पर उतनी शीघ्रता से अपने को परिवर्तित करने में सफलता नहीं मिल रही है और इसीलिए उसका स्वभाव, उसका अपना नहीं हो रहा है। इसीलिये चारों ओर की परिस्थिति के उस असामञ्जस्य और अपने स्वभाव के विरोध से वह लड़ाई के मुंह में जा पड़ता है। पिछली लड़ाई के अन्त में जिस जर्मनी ने श्मशान-वैराग्य की साधना की थी, उसी जर्मनी ने नाज़ी अभ्युदय के साथ साथ फिर संसार को श्मशान बनाने का आयोजन किया। पिछली लड़ाई के समय जो ब्रिटेन गणतन्त्र के नाम पर युद्ध करने चला था, वह घर लौटा अपने साम्राज्य-अंचल में नष्ट तुर्क-जर्मन-साम्राज्य के खण्ड हीरे-मोतियों को लेकर; और उसी ने फिर दुनिया की जनता की क्रमशः बढ़ती हुई ताक़त के डर से यूरोप के गणतन्त्र से हिटलर के लिये डाली लगाई। इस तरह से अपने साम्राज्य के सबसे प्रबल शत्रु को उसी ने तैयार किया। जहां के बुद्धिजीवी अपनी ज़िम्मेवारी के सम्बन्ध में जितने बेख़बर हैं, वहां सभ्यता की यह व्याधि उतनी ही आसानी से

फैलती है; और वह बीमारी उतनी ही मात्रा में बुद्धिजीवी की बुद्धि को विकृत कर देती है।

युद्ध का स्वरूप

अपने चारों ओर की परिस्थितियों को बदलने की ज़रूरत जितनी बढ़ती जा रही है, उतना ही सनातन स्वार्थ (Vested interests) वाले उसे रोकने की कोशिश कर रहे हैं। संसार की सम्पत्ति अभी इन्हीं के हाथों में है, और ये ही संसार के ज्ञानी और गुणी लोगों को वज़ीफे देते हैं। अतएव इस पल्टन के पीछे दुनिया की संचित सम्पत्ति है, और उसके विरुद्ध खड़े होते हैं दुनियां के शोषित अभागे। यह बात कहाँ तक सच है यह आज के यूरोप की ओर देखने से समझ में आ जायगी;—मज़दूर-किसानों के राष्ट्र सोवियत् देश के ख़िलाफ़ सारा यूरोप एक हो गया। लड़ाई केवल रूस और जर्मनी में नहीं हो रही है,—सोवियत् के साथ सिर्फ़ नाज़ी-जर्मनी की ही लड़ाई यह नहीं है—बल्कि यह युद्ध है यूरोप के फैसिज़्म और नवजात सोवियत् देश के बीच में। सारे यूरोप के धन, जन, मान की बाज़ी आज एक देश के ख़िलाफ़ लगा दी गई है—स्पेन से स्वयंसेवक आ रहे हैं, पराजित फ्रांस भी नई सेनायें ख़िराज के रूप में दे रहा है; मुसोलिनी की इज्ज़त रखने के लिये इटाली के वीर आ रहे हैं; रूमानिया, हंगरी के भी लाखों सैनिक जमा हुये हैं; स्वीडन-बुल्गारिया ने रास्ता दे दिया है; और फिनलैण्ड ने भी अपना स्वरूप दिखाने में कसर नहीं रखी। इधर बल्कान के देशों से अनाज आ रहा है; हालैण्ड-डेनमार्क से लूटी हुई खानों की चीज़ें इकट्ठा की गई हैं; लोरेन और स्वीडन के लोहे पर जर्मनी का एकाधिपत्य हो गया है, रूमानिया का तेल भी उसकी हथेली में है फ़ैसिज़्म के हथियारों के लिये स्कोडा के मशहूर कारख़ाने और फ्रांस के अस्त्र शस्त्रों के कारख़ाने तक दिन रात चल रहे हैं। यूरोपीय फ़ैसिज़्म के इस अभियान में प्रशान्त महासागर से जापान भी सहायता के लिये लड़ाई में कूद पड़ा है। दुनिया के इतिहास में इतनी बड़ी लड़ाई कभी नहीं हुई। यह युद्ध पूंजीवाद की चेष्टाओं के कारण ही सर्वव्यापी हो गया है—इसी चेष्टा से म्युनिख़ की योजना भी व्यर्थ हो गई। लेकिन स्पेन से सोवियत् रूस और आर्कटिक सागर से काला सागर तक फ़ैसिज़्म ने यह मोर्चा बनाया है, सोवियत् देश और साम्यवाद को ध्वंस करने के लिये। इस युद्ध में दो संसार और दो प्रकार की जीवन-प्रणालियों की भाग्य परीक्षा हो रही है।

सोवियत् और उसकी नवीन संस्कृति को अंत में इस प्रतिक्रिया के ख़िलाफ़ हथियार लेकर खड़ा होना पड़ा। यह दिन आता ही इसे वे भलीभांति जानते थे। इसलिये सोवियत् भी तैयार था। पर यह तैयारी अधिक दिनों की नहीं थी—वह तैयारी अभी भी समाप्त नहीं हुई है। दो पंच वर्षीय योजनायें पूरी हो चुकी हैं और तीसरी अभी अधूरी है। दस वर्षों में साम्यवाद ने एक देश को मध्य युग से उद्योग धन्धों के युग में पहुँचा दिया है। उसके सामने दुनियां की सर्वश्रेष्ठ उन्नति का रास्ता खोल दिया है। सारे संसार के सामने एक गौरवपूर्ण जीवन (Glorious life) की महान सम्भावना उपस्थित कर दी है—लेकिन उसका उद्योग अभी तक ख़त्म नहीं हुआ है। उसे अशेष विघ्नों का सामना करते हुए अपने उद्योगों को पूरा करना पड़ा है। बाहर की आर्थिक सहायता उसे नहीं मिली, बल्कि दुनिया भर में उसके ख़िलाफ़ साज़िशें होती रहीं। दूसरी ओर फ्रेडरिक दी ग्रेट के ज़माने से जर्मन जाति मध्ययुग को पार कर गई है, और दो सौ वर्षों से वह आधुनिक जीवन-यात्रा में संगठित हुई है। धन, जन, और मान में जर्मन भूमि बहुत पहले से ही बढ़ी हुई थी—केवल हिटलर के 'चार-साले योजना' से वह संगठित नहीं हुई है, इसके पीछे कम से कम सत्तर साल का राष्ट्र-नियन्त्रित आयोजन है।

नाज़ी सोवियत् युद्ध के इस 'उद्योग पर्व' के इतिहास को याद रखना ज़रूरी है। ऐसा करने से तुलना में सुविधा होगी,—समाचार पत्रों के शीर्षकों को पार

करके इतिहास का विस्तृत संकेत हमें दिखाई पड़ेगा। वही संकेत वास्तविकता को पुष्ट करेगा। वास्तविकता के प्रमाण तो हमारी आंखों के सामने दिखाई पड़ रहे हैं—यूरोप की एक भी विरोधी शक्ति नाजी सेनाओं के सामने नहीं ठहर सकी। इसके बहुतेरे कारण हो सकते हैं। पर प्रधान कारण राजनैतिक है, यूरोप के शासक नाज़ियों का विरोध करना नहीं चाहते थे। फिर भी यह बात बहुत ठीक है कि नाजी सेना को हराना कठिन काम है। खोजने से पता चलेगा कि नाज़ियों की दुर्धर्षता का भी एक यथार्थ और बहुत साफ कारण है, वह है प्रधानतः विज्ञान का प्रयोग। लेकिन नाज़ियों के विज्ञान के प्रयोग में नये हथियारों या नई मशीनों का आविष्कार नाम मात्र को ही है—मैगनेटिक माइन या ऐकुस्टिक माइन कोई बड़ी बातें नहीं। इस युद्ध मे नाजियों की विशेषता वैज्ञानिक आविष्कार में नहीं, बल्कि वैज्ञानिक संगठन में है।

वैज्ञानिक संगठन

सामरिक शक्ति का हिसाब लगाने वाले निपुण लोग हज़ारों प्रकार के लड़ाई के सामानों की बात हमें सुनावेंगे। लेकिन सामरिक शक्ति का मौलिक अर्थ है—योद्धा, उसके बाद आर्थिक व्यवस्था और युद्धोद्योग। दुनियां की बड़ी शक्तियों में अनेक जर्मनी के मुक़ाबले में इन तीन प्रकार के बलों में कुछ कम न थीं। लेकिन उनमें से अधिकांश के युद्धोपयोगी अस्त्र शस्त्रों के कारखाने उतने संगठित नहीं थे। उनमें से एक ने भी इन तीन प्रकार के बलों को एक साथ संगठित नहीं किया। पर इन तीनों ताक़तों के एक साथ न होने से सामरिक शक्ति कमज़ोर रह जाती है। सम प्रयोग का अर्थ है—व्यापक और योजना युक्त संगठन। इन्हीं कारणों से जर्मनी इतना शक्तिशाली हुआ है, जर्मनी से बढ़कर और किसी ने इस बात को अच्छी तरह नहीं समझा। पिछली लड़ाई के बाद से ही जर्मनी के सामरिक और असामरिक विशेषज्ञों ने इस विषय में गम्भीर गवेषणा की है। सबसे पहले उन्होंने इसका उद्योग-धंधों में प्रयोग किया—इसी का नाम है 'रैशनाल इज़ेशन'; अमरीका में इसे 'वैज्ञानिक इन्तज़ाम' (Scientific Management) कहते हैं। इस बीच में जर्मन समर-विज्ञान-विशारदों ने युद्ध क्षेत्र के लिये भी इसी नीति का प्रयोग किया। हिटलर के अभ्युदय ने उनका रास्ता साफ कर दिया। इन्हीं को लेकर हिटलर ने "ब्रेन ट्रस्ट" (Brain Trust) बनाया। जर्मनी के समग्र सामरिक और असामरिक विचारों का वैज्ञानिक संगठन के लिये प्रयोग किया गया और इस लड़ाई के उद्देश्य के लिये इस वैज्ञानिक संगठन का प्रयोग होने लगा, मूलतः जो समाज विज्ञान के मतानुसार मनुष्य के अवैज्ञानिक सामाजिक संगठन का ही प्रमाण है। इस वैज्ञानिक संगठन से जर्मनी के पास आज काफी अस्त्र-शस्त्र, विशाल युद्ध-सामग्री, अतुलनीय समर-सामर्थ्य है। इसी से उसका उद्देश्य 'टोटल वार' है। और उपर्युक्त बातों की अवहेलना करने के कारण उसके शत्रु उसका मुक़ाबला नहीं कर सके।

जर्मनी के अलावा एक दूसरे देश ने भी इस गम्भीर सत्य का आविष्कार किया—वह देश है सोवियत् रूस। वैज्ञानिक संगठन सोवियत् संस्कृति की पहली सीढ़ी है। सोवियत् योजनायें इसी का परिणाम हैं। लेकिन सोवियत् के रास्ते में दुर्जय बाधाएं थीं—समय की उसे बहुत कमी थी। फिर भी दस पन्द्रह वर्षों में ही सोवियत् ने एक ऐसा संगठन बनाया कि वही संगठन इस समय सारे यूरोप के बनियों की ताक़त के भी छक्के छुड़ा रहा है।

संस्कृति की विकृति

लेकिन नाज़ी वैज्ञानिक संगठन और सोवियत् वैज्ञानिक संगठन में मौलिक अन्तर है। अध्यापक और शिक्षित मध्यम वर्ग के लोग इन दोनों संगठनों को आम तौर से एक ही समझ बैठते हैं। इसका कारण है पारिभाषिक शब्दों के कारण ज़ाहिरा समानता (Apparent similarity)। वे देखते हैं कि,—(१) नाज़ी और सोवियत् दोनों सामूहिकता-

वादी हैं; नाज़ी अपने को 'सर्ववादी' (Totalitarian) कहते हैं, और सोवियत् वाले अपने को 'समूहवादी' (Collectivist), इन दोनों का मतलब एक ही है। (२) दोनों देशों में डिक्टेटरी हुकूमत है—गणतन्त्र नहीं।

लेकिन यथार्थ में इन दोनों व्यवस्थाओं में बहुत अन्तर है। सोवियत् के प्रधान लक्षण और लक्ष्य सभी नात्सी-जर्मनी की नीति के अनुसार त्याज्य हैं, जैसे—(१) सोवियत् जिस जीवन-विज्ञान, अर्थनीति और समाज-विज्ञान में विश्वास करता है, फैसिज़्म उसे केवल अस्वीकार ही नहीं करता, बल्कि उसे दुनिया से मिटा देना चाहता है। (२) इसीलिये फैसिज़्म का मौलिक सिद्धान्त है 'रक्त जातिवाद' (Race Theory or Blood Theory)। वह यही सिद्ध करना चाहता है कि जर्मन लोग आर्य और 'स्वामी जाति' (Herrenvolk) हैं,* और सब जातियों के लोग गुलाम या छोटी जाति के हैं। कहने की जरूरत नहीं कि इस दिशा में सोवियत् का प्रयत्न नाज़ियों से बिल्कुल उल्टा और महान है। उसका कहना है कि परिस्थितियों और दृष्टिकोण के परिवर्त्तन से सभी जातियाँ "आदमी" बन सकती हैं, और प्रत्येक जाति की परम्परा और अधिकार के आधार पर ही मानव जाति का महासंघ बनाया जा सकता है—अपनी अपनी मानसिक संस्कृतियों के रूपान्तर से ही विश्व-संस्कृति का जन्म हो रहा है। (३) फैसिस्ट राज में नारियों को घर ही में बन्द रहना चाहिये। सोवियत् की नीति इसमें बिल्कुल उल्टी है। उसके मतानुसार स्त्री को वे सभी अधिकार मिलने चाहियें, जो पुरुषों को मिले हैं। उत्पादन के क्षेत्र में वह जो काम चाहे अपनी इच्छा से चुन ले। (४) नाज़ी जिस अर्थनीति में विश्वास रखते हैं, उसमें वे धनी वर्ग और उनके मुनाफों को ज्यों का त्यों रखना चाहते हैं। पूँजीवादियों के स्वार्थ, उनके वर्ग-आधार और मुनाफे की नीति को कायम रखने और मजदूर-किसान क्रान्ति से रक्षा करने के लिये ही फैसिज़्म का जन्म हुआ है। उपर्युक्त वर्ग के स्वार्थ को पुख्ता बनाने के लिये कभी कभी मुनाफे का एक हिस्सा काट लेने की ज़रूरत पड़ती है, क्योंकि धनी चाहते हैं अपने दुश्मन मजदूरों के खिलाफ युद्धोद्योग को पूरा करना और युद्ध के संगठन को मज़बूत बनाना। फैसिज़्म की बुनियाद है—पूँजीपति, क्रीत दास कलाकार और सेनापति गण, उसकी मौलिक नीति है मुनाफा। दूसरी ओर सोवियत की मौलिक नीति है उत्पादन के साधनों पर से व्यक्तिगत अधिकार को खत्म करना, व्यक्तिगत सम्पत्ति का मिटा देना, और उसके साथ पूँजीपतियों के मुनाफे को भी—मनुष्य अपनी सामर्थ्य के अनुसार काम करेगा और अपनी ज़रूरत के अनुसार सभी चीज़ें लेगा। इसीलिये मज़दूर-किसानों पर ही उसकी बुनियाद है। यही कारण है कि स्तालिन के भाषणों में आडम्बर नहीं होता, साहित्यिक मध्यम वर्ग वालों की नज़रों में यह 'आग उगलने वाला (Fiery) नहीं जचता। (५) वैज्ञानिक संगठन के लिये जर्मनी दुनिया में अतुलनीय है, पर उसका एक ही उद्देश्य है—युद्ध, विजय और फिर युद्ध। युद्धहीन जगत में फैसिस्ट अर्थनीति को कोई स्थान नहीं है। क्योंकि फैसिस्ट अर्थनीति पूँजीवाद के अवैज्ञानिक ढाँचे को क़ायम रखना चाहती है। इसी का अनिवार्य परिणाम है आर्थिक संकट। उसीसे बचने के लिये फ़ैसिज़्म युद्ध यात्रा और युद्ध का आयोजन करता है। मनुष्य के परिश्रम से बनी हुई वस्तुओं का ध्वंस तथा नर संहार किये बग़ैर फैसिज़्म ज़िन्दा नहीं रह सकता। इसीलिये कहा जाता है कि नाज़ी जर्मनी विश्राम नहीं ले सकता (Nazi Germany can not stop) (६) फ़ैसिस्ट डिक्टेटरी और सोवियत् डिक्टेटरी में ज़मीन आसमान का फ़र्क़ है। फैसिस्ट डिक्टेटरी नंगे पूँजीवाद की डिक्टेटरी है और सोवियत् डिक्टेटरी

* इसके भी वर्ग भेद हैं। जैसे नाज़ीवाद के प्रधान दार्शनिक [१] आल्फ़्रेड रोज़ेनबर्ग ने अपनी Myth of the Twentieth Century नामक पुस्तक में लिखा है कि केवल उच्च वर्गों के जर्मन ही इस सम्मान के अधिकारी हैं, मैले कुचैले अशिक्षित अमन मज़दूर नहीं।

मज़दूर-किसानों की डिक्टेटरी है। अर्थात् फैसिज्म में शासन सत्र ५ फ़ी सदी लोगों के फायदे के लिये है और उसके वास्ते ९५ फी सदी लोगों को दबाया जाता है। सोवियत् में ९५ फी सदी लोगों का शासन है। सोवियत् का शासन १९३७ ई० से गणतांत्रिक नीति से संचालित हो रहा है। १८ साल से ऊपर उम्र वाले हर एक नर नारी को वोट देने और निर्वाचन के लिये उम्मेदवार होने का अधिकार है। वे सभी मिलकर अपना प्रतिनिधि चुनते हैं। वास्तव में इतने विशाल देश में इस तरह की उन्नततम गणतांत्रिक नीति का प्रयोग कहीं भी नहीं किया गया। इसका कारण यह है कि आज सोवियत् देश में मज़दूर किसानों के अलावा और है ही कौन? ऊपर जिन ५ फी सदी आदमियों का ज़िक्र आया है, वे कुलाक (ज़मीदार) आदि थे, लेकिन अब वे लुप्त हो गए हैं। * इसके अलावा फैसिज़्म की डिक्टेटरी का अर्थ है एकाधिपत्य (Furerer Prinzes), सोवियत् डिक्टेटरी का अर्थ है सब का आधिपत्य। जर्मनी में सब कुछ हिटलर करता है, लेकिन सोवियत् में शासन का संचालन समिति के द्वारा होता है। स्वयं स्तालिन ने एमिल लुडविग से अपनी मुलाकात में कहा था—'एक आदमी का मत अनेक आदमियों की आलोचना से बढकर नहीं हो सकता।' यह बात सच है कि करोड़ों सोवियत् नर-नारी स्तालिन की नीति को ठीक समझते हैं। इतना दिमाग़ी दिवालियापन नहीं आया है कि वे सोचें कि ईश्वर अकेला है; हिटलर भी अकेला है। इसलिये हिटलर ईश्वर है (God is lonely Hitler is lonely so Hitler is God)। यही फैसिज़्म का मन्तक़ है। (७) इसके अलावा फ़ैसिज़्म व्यक्ति को किसी प्रकार की मर्यादा प्रदान नहीं करता सिर्फ़ 'Fuehrer' और उसके मालिक पूँजीपतियों को छोड़कर। लेकिन सोवियत् ने व्यक्ति के लिये भी पूर्णतम विकास का, स्वतंत्रता का दरवाज़ा खोल दिया है। इसी ने रवीन्द्रनाथ जैसे व्यक्ति स्वरूप के उपासक को आश्चर्यचकित कर दिया था। किर्गिज और कज़ाक लड़कियों की गवाही से यह बात साफ़ हो जाती है। [रवीन्द्रनाथ—रूस की चिट्ठी परिच्छेद ६-५१ ५४]

इन दोनों संस्कृतियों का संघर्ष बुनियादी है। असल में वह संघर्ष है पूँजीवाद और साम्यवाद का; इसीलिये सिर्फ उसके "वैज्ञानिक संगठन' को ही देख कर उसे वैज्ञानिक समझ बैठना सबसे बड़ी गलती है। बल्कि अर्थनीति, समाज विज्ञान, और जीवन-विज्ञान के बारे में उसने जो लक्ष्य और आदर्श बनाया है, वह केवल विकृत ही नहीं है बल्कि हास्यास्पद भी है। अपने देश में हम डाक्टर से अधिक नीमहकीम पर विश्वास करते हैं; सभ्यता और संस्कृति की इस नीमहकीमी में उपरोक्त विदुषी और अध्यापक की श्रद्धा होना अचरज की बात नहीं है—लेकिन वे भूल जाते हैं कि उसका स्वरूप और नतीजा क्या है।

फैसिज्म प्रतिक्रिया के युग की अन्तिम चेष्टा है; और सोवियत् क्रान्तिकारी युग का प्रथम सफल प्रयास है। एक ओर है प्रतिक्रिया अर्थात् संस्कृति का विकृत रूप—और दूसरी ओर है विप्लव अर्थात् संस्कृति का प्रबुद्ध रूप।

* सोवियत् भूमि से लौटने के समय राहुल जी ताजिकिस्तान के एक शहर में एक स्कूल देखने गये। वहां एक बच्चे से उन्होंने पूछा कि क्या उसने पूँजीपति देखा है। उसने उत्तर दिया—हां, सिनेमा के पर्दे पर। देखिये 'सोवियत् भूमि'—राहुल सांस्कृत्यायन।

हम पीड़ित और शोषित निग्रो : और है हमारी भी संस्कृति

कुमारी ज़ोरा नील हर्स्टन

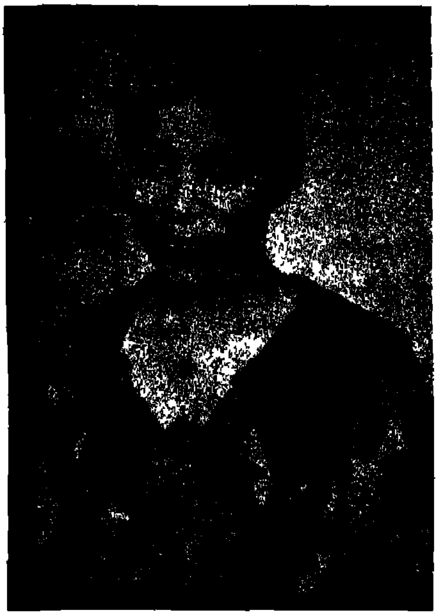
१९३४ का वर्ष हज़रत ईसा के निर्वाण को इङ्गित कर रहा था। बसन्त ऋतु अपना लबादा समेट रही थी। मकान के दुतल्ले पर बैठे हुए मैंने सुना—गोरी अमरीकन जनता गरजते हुए स्वर में गा रही थी—

रुपहले अमरीकन क्षितिज पर,
घोर काले रङ्ग के निग्रो मेघ छा रहे हैं।
गौराङ्ग आत्माएं न चेतेंगी,
तो नाश अत्यन्त निकट है।

* * *

इतिहास के अतीत पृष्ठ मेरी नज़रों से घूम गये। पहली जनवरी सन् १८६३ को राष्ट्रपति लिंकन ने समस्त अमरीका से ग़ुलामी की प्रथा के अन्त की घोषणा की थी, और ९ अप्रैल सन् १८६५ को ग़ुलामी के समर्थक जनरल ली ने जनरल ग्राण्ट को आत्मसमर्पण किया था। समझा जाता था कि उस दिन से अमरीका से निग्रो जाति की आपदाओं का अन्त हो गया।

अमरीकन गृह-युद्ध के पहले किसी को यह गुमान भी न था कि क़ानून के सुनहले आवरण मे ग़ुलामी से भी बदतर प्रथा ईजाद की जा सकती है। २५० वर्षों तक ग़ुलाम लोग गोरों की व्यक्तिगत जायदाद थे। गोरों को उनकी जान माल पर पूरा अधिकार था। उस ज़माने में किसी ग़ुलाम को जेल भेजने का अर्थ था गोरे मालिक को आर्थिक हानि पहुँचाना। उस ज़माने में छोटे मोटे अपराध पर मालिक ही उसे कोड़ों की सज़ा दे देता था। चोरी आदि की सज़ा के लिये उस ज़माने के ग़ुलाम निग्रो पर क़ानून की गिरिफ़ न थी। किन्तु निग्रो के आज़ाद होते ही '*कान-विक्ट लीज़ सिस्टम*' नाम का एक क़ानून बनाया गया, जिसके अनुसार गत ४५ वर्षों से हज़ारों निग्रो को निर्दयतापूर्वक लम्बी लम्बी सज़ाएं देकर जेलख़ानों के अन्दर ठूंसा जाता है।

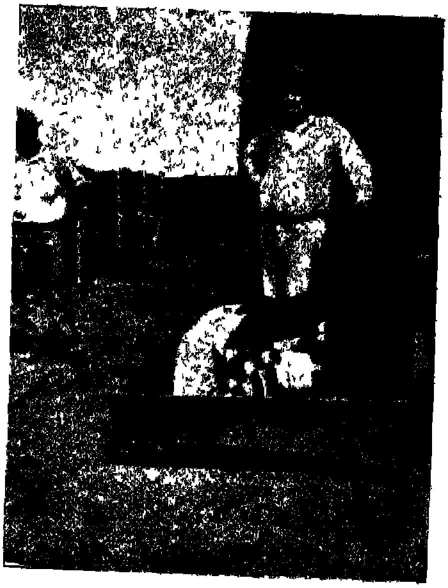


सन् १८६६ में फ़ेडरल गवर्नमेण्ट ने "सिविल राइट्स" क़ानून बनाकर निग्रो को भी वोट देने का अधिकार दिया। इस क़ानून के अमल में आने से पूर्व ही सन् १८६९ में दक्षिण अमरीका की रियासतों ने छोटे छोटे अपराधों पर निग्रो को बड़ी बड़ी सज़ायें देने का क़ानून बनाया और इन निग्रो क़ैदियों को थोड़े से धन में गोरे किसानों को किराये पर देने का तरीक़ा निकाला। इन निग्रो क़ैदियों से ये गोरे किसान निर्दयता पूर्वक अपने खेतों में काम लेते थे। पहले निग्रो एक व्यक्ति के ग़ुलाम थे अब वे किराये पर उठाये जाने वाले सरकारी ग़ुलाम बन गये। क़ैदी की तौक़ उनके गले में अलहदा पड़ी। इस घृणित प्रथा के होते हुए क्या आज कोई गोरा अमरीकन जनतंत्र की आवाज़ लगा सकता है? निग्रो क़ैदियों को किराये पर उठाने की इस प्रथा से दक्षिणी रियासतों को लाखों डालर की आमदनी होती है। झूठे बहानों से



जार्जिया में कष्ट देने का एक तरीक़ा, जलती धूप में घण्टों इस तरह बांध कर रखा जाता है। घण्टे भर में ही पीड़ित बेहोश हो जाते हैं।

१६३५] [जान स्पाइवाक के सौजन्य से



कष्ट देने का दूसरा तरीक़ा। थोड़ी ही देर में पीड़ित निग्रो बेहोश हो जाते हैं फिर भी उन्हें घण्टों इसी तरह लटका कर रखा जाता है।

१६३७] [जान स्पाइवाक के सौजन्य से



१६ वर्ष का एक निग्रो बालक जिसे जलती धूप में लिटाकर रखा गया है। कष्ट देने का तीसरा तरीक़ा। बालक बेहोश हो गया है।

१६३८] [जान स्पाइवाक के सौजन्य से



चार चार निग्रो बन्धुओं को एक साथ अमरीकन गोरी जनता द्वारा दरख्त से सूली पर लटकाया जा रहा है।

फ़ोटो १६३७] [वैंगार्ड प्रेस के सौजन्य से



फ्लोरीडा में अमरीकन गोरे एक निग्रो बन्धु को पेड़ से सूली पर लटका रहे हैं।

फ़ोटो १६३३] [वैंगार्ड प्रेस के सौजन्य से



शिकागो में इस निग्रो बन्धु को गोरे अमरीकनों ने पत्थर मार मार कर मार डाला है।

फ़ोटो १६३४] [वैंगार्ड प्रेस के सौजन्य से

बेकसूर निग्रो को पकड़ कर सज़ा दे दी जाती है और उन्हें किराये पर उठा दिया जाता है। जिस जेल से सरकार को सब में अधिक आमदनी होती है, वह जेल सब में अधिक तारीफ़ के योग्य समझा जाता है। इतने भयकर क़ैदख़ाने दुनिया के किसी हिस्से में भी नहीं हैं। गुलामी की प्रथा भले ही मिट गई हो, किन्तु गुलामी और अधिक क्रूरता के साथ क़ायम है।

बाज़ बाज़ अमरीकन रियासतों ने इन निग्रो क़ैदियों के प्रबन्ध के लिये 'कान्ट्रैक्ट सिस्टम' निकाला है। कुछ रियासतें इन निग्रो क़ैदियों को ५, १० अथवा २० वर्षों के लिये किराये पर उठा देती हैं। कुछ रियासतें जेलख़ानों के अन्दर ही क़ैदियों से काम लेती हैं। इन जेलख़ानों में पुरुष, स्त्री और बालक क़ैदियों से दिन भर काम लिया जाता है और शाम को छोटे छोटे कटघरों में उन्हें ठूस दिया जाता है। न सोने को बिस्तर देते हैं न ओढ़ने को कम्बल। इन क़ैदियों को जो कष्ट होता है उसे ईश्वर के अतिरिक्त कोई नहीं जानता। बाहर के किसी दर्शक को इन जेलों के निरीक्षण की इजाज़त नहीं।

क़ैदियों को नीलाम पर चढ़ाया जाता है और जो ठेकेदार सबसे ज्यादा बोली बोलता है, उसी के सुपुर्द ये क़ैदी कर दिये जाते हैं। म्युनिसिपैल्टिया तक इन्हें ठेके पर लेकर इनसे भगी का काम करवाती हैं। अबोध बच्चे और अबला स्त्रिया पुरुष क़ैदियों के साथ ही रखी जाती हैं। रात में भी उन्हें एक ही जगह सोना पड़ता है। कई जगह स्त्री क़ैदियों को पुरुषों के कपड़े पहना दिये जाते हैं ताकि इन गोरी सरकारों के कुकृत्य ढके रहें। विनचेस्टर राइफल लिये हुए पहरेदारों के संरक्षण में इन क़ैदियों को बाज़ार के बीच से अपने अपने कामों पर ले जाया जाता है। साथ में ख़ूनी शिकारी कुत्ते होते हैं, जो इन क़ैदियों को भागने से रोक सकें। बहुधा २५०-२५० क़ैदियों को एक ही ज़ंजीर में बांधकर जेल से बाहर निकाला जाता है। काम के बाद हर कैदी को रसद दी जाती है। चाहे वह कितना ही थक कर चूर हो गया हो, उसे अपना खाना ख़ुद ही पकाना पड़ता है। उसे एक ही जोड़ी कपड़ा पहनने को दिया जाता है। गीले कपड़ों को उसे या तो बदन पर सुखाना पड़ता है, या फिर नगे रहना पड़ता है। १८×१८ फ़ुट के कमरों में ६०-६० कैदियों को सोना पड़ता है। न उन्हें चटाई दी जाती है, न कम्बल, ज़मीन पर ही उन्हें लेटना पड़ता है।

कुछ जेलों में कैदियों को हण्टर की सज़ा दी जाती है और कुछ में उन्हें ठण्डे पानी में तब तक डुबाया जाता है जब तक कि वे बेहोश नहीं हो जाते। स्त्री और बच्चों को भी यही सज़ाएं दी जाती हैं। औरतों को बिलकुल नगा करके उन्हें मर्द क़ैदियों के ही सामने ५०-५० कोड़ों की सज़ा दी जाती है।

जार्जिया की विल्कस काउण्टी में एक कैदी को इतना मारा गया कि वह ख़ून से लहू लुहान हो गया। फिर उसे एक पेड़ से कसकर बाध दिया गया। दयालु मृत्यु ने आकर उस अभागे का उद्धार किया।

और भी तरह तरह के अमानुषिक तरीके इन कैदियों को सज़ा देने के निकाले गये हैं। अमरीका जैसे स्वाधीन और जनतन्त्रवादी देश में, जो आज दुनिया की स्वाधीनता के लिये लड़ रहा है, अटलाटिक चार्टर को जिसने घोषणा की है, 'कानविक्ट लीज़ सिस्टम' की प्रथा अत्यन्त लज्जाजनक है।

साइबीरिया के प्रसिद्ध अन्वेषक जार्ज कैनन ने जब अमरीका के इस भयकर कानविक्ट लीज़ सिस्टम, को देखा तो बोस्टन की एक सभा में अनायास उसके मुंह से निकल पड़ा—

"मुमकिन है बहुत से अमरीकन मुझ पर अविश्वास करें और मुझे झूठा कहें यदि मैं उन्हें बताऊं कि मैंने दक्षिण अमरीका की कुछ रियासतों में क्या देखा है। २५० झुकी हुई कमर के बूढ़े और नौजवान निग्रो को एक साथ लोहे की ज़ंजीर में कसकर बंधा हुआ मैंने देखा। हर एक के गले में एक भारी तौक़ पड़ी हुई थी। और जो कुछ मैंने देखा, देखकर कांप गया। मेरी अपील है कि आप इस प्रथा को मिटा दें। मैंने ज़ार के साइबीरिया के क़ैदख़ानों में

कुछ अमानुषिक बातें देखी हैं, किन्तु यहां तो मुझे उससे भी अधिक भयंकर और अमानुषिक बातें दिखाई दीं।"

किन्तु इन अत्याचारों के बावजूद भी निग्रो मानवता द्वारा स्वतः प्रदान किये हुये आत्माभिमान का प्रदर्शन करने से बाज नहीं आया। कठोर से कठोर अत्याचारों के बीच भी उसने अपनी गर्दन ऊंची रखने का निरन्तर प्रयत्न किया। अत्याचारों का जब उसने प्रतिरोध किया तो गोरी अमरीकन जनता ने क़ानून को अपने हाथों में ले लिया। हमें ग़ैर क़ानूनी सजा देने की उसने एक नई प्रणाली ईजाद की, जिसे दुनिया "लिंच" के नाम से जानती है। छोटे से छोटे अत्याचार का भी यदि हमने प्रतिवाद किया, तो हममें से ऐसे स्वाभिमानी स्त्री पुरुषों को या तो पत्थर मार मार कर मार डाला गया, या दरख़्तों से सूली पर लटका दिया गया, या फिर गैसोलाइन छिड़ककर जिन्दा जला दिया गया। इस नारकीय प्रथा को दुनिया "लिंच" के नाम से जानती है।

२३ जुलाई सन् १८९७ को लिंच के अनुमोदन में प्रसिद्ध गोरे पत्र "डेली कमर्शियल" ने "लैट गाड बी प्रेज़्ड" नामक शीर्षक से लिखा था—

"जार्जिया में आज जो निग्रो लिंच किया गया है उसे मिलाकर इस हफ़्ते में दो व्यक्ति लिंच हुए। जार्जियावासियो अपने प्रान्त के प्रति अपने कर्तव्य का इसी तरह पालन करते रहो। कुछ दम्भी जनतन्त्रवादी पत्रों के विरोध की परवाह न करो। अपनी अदालतों की मूर्खता पर हंसो, जो निग्रो को न्याय का आश्वासन देती हैं। परमात्मा के दिये हुए सूर्य के प्रकाश में तुम दिन के समय लोगों को लिंच करने का पवित्र कर्म करो। जो भी निग्रो अपनी गर्दन उठाये उसे सूली पर चढ़ा दो। हर नरक के कीड़े को लिंच करने के बाद तुम घुटने टेक कर परमात्मा से प्रार्थना करो कि वह तुम्हें इस काम के लिये और अधिक बल और शक्ति दे।..."

इसके जवाब में जब कुछ पत्रों ने लिखा कि जार्जिया के पढ़े लिखे लोग लिंच में शामिल नहीं होते तो इसी पत्र ने उत्तर देते हुए लिखा था—

"यह एक मानी हुई बात है कि लिंच करने वालों में पढ़े लिखे और यूनिवर्सिटी के ग्रेजुएट भी शरीक होते हैं। जार्जिया के समस्त सम्भ्रान्त व्यक्ति वह दृश्य देखने आते हैं। पृथ्वी की सतह पर किसी भी देश मे जो सभ्य व्यक्ति रहते हैं, जार्जिया के लिंच करने वाले उनसे तुलना कर सकते हैं।"

पूरे चालीस वर्ष से अब तक भयंकर वेग से ये चोटें चल रही हैं। राष्ट्रपति हर्बर्ट हूवर से जब इसमें दख़ल देने के लिये कहा गया, तो १५ अक्तूबर सन् १९३२ को हूवर ने वक्तव्य दिया—

"अमरीका की दक्षिणी रियासतों की सामाजिक वातावरण हमारा बनाया हुआ नहीं है और न उन्हें सुधारना ही हमारा काम है।"

जनवरी से जून सन् १९३३ की सरकारी रिपोर्ट में लिंचिंग के सम्बन्ध में कुछ घटनाएं दी गई हैं। उन्हें पढ़कर पाठक समझ सकेंगे कि किन किन अपराधों पर निग्रो को लिंच किया जाता है—

१—चार्ली जानसन, उम्र २० वर्ष, अपराध गिरजे में शोर किया, गोली से उड़ा दिया गया।

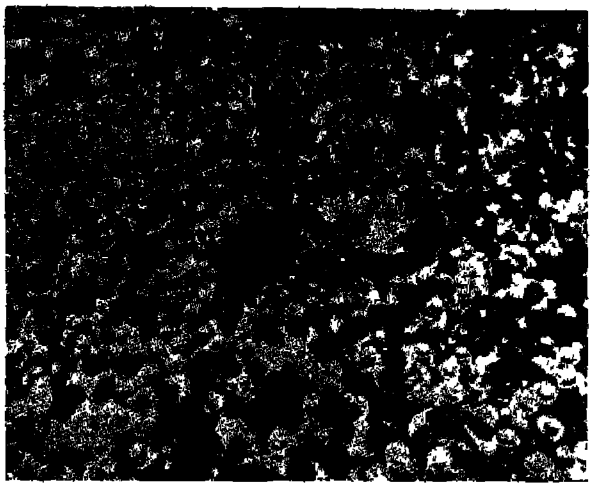
२—केण्टकी में तीन निग्रो को गोली से उड़ा दिया गया। चूंकि उन्होंने एक गोरे की मोटर को शहर से मोटरख़ाने तक ठेलना स्वीकार नहीं किया।

३—एमर गूश, बुलाने पर नहीं ठहरा, गोली से उड़ा दिया गया।

४—टाम ग्रीन, श्रीमती एम्मा ग्रीन और विली वाशिंगटन तीनों निग्रो इस अपराध पर गोली से उड़ा दिये गये, चूंकि उन्होंने एक गोरे को दियासलाई देने से इनकार किया।

५—हैरी जानसन को एक गोरे पुलिस वाले ने इसलिये गोली से उड़ा दिया, चूंकि वह एक गोरे के बंगले से निकलता हुआ दिखाई दिया।

६—विलियम हेवर्ड को इसलिये गोली से उड़ा दिया गया, चूंकि उसने एक गोरी मेम की गाड़ी



वाको टैक्साज़ में एक निग्रो बन्धु को ज़िन्दा जलाने के लिये हर्षित अपार गोरा समुदाय।
— एक पेड़ के सहारे चिता पर अभागे निग्रो को बाधा गया है।
१६३१] [श्री स्काट नीयरिङ्ग के सौजन्य से

जलने के बाद का दृश्य चारों ओर लपटें अब तक सुलग रही हैं। —
१६३१] [श्री स्काट नीयरिङ्ग के सौजन्य से





मिसीसिपी में एक निग्रो बन्धु को ज़िन्दा जलाया जारहा है और गोरे
— स्त्री पुरुष पीड़ित के कष्ट को देखकर खुशी मना रहे हैं।
१६३१] [श्री स्काट नीयरिङ्ग के सौजन्य से

कीचड़ से निकालने में मदद देते समय उससे बहस की।

७—होमर मेफील्ड इसलिये गोली से उड़ा दिया गया, चूंकि वह एक पुलिस मैन के कहने से नहीं रुका।

८—पीटर गिलर इसलिये मारडाला गया, चूंकि वह मज़दूर आन्दोलन में भाग लेता था।

९—जेरी माइल्स इसलिये मारडाला गया, चूंकि उसने पुलिस की सब बातों का टेढा जवाब दिया।

१०—एक निग्रो क़त्ल किया हुआ पाया गया, जिसकी शिनाख्त नहीं हो सकी।

११—हेरी एर्टिस इसलिये गोली से उड़ा दिया गया, चूंकि उसने एक गोरे का काम करने से इनकार किया।

१२—मिलास डि्वेरी, उम्र १८ वर्ष, होटल का कुली, इसलिये गोली से उड़ा दिया गया, चूंकि उसने एक पुलिसमैन को शराब की बोतल देने से इनकार किया।

१३—क्लीव हार्टन तेज़ी से चल रहा था। पुलिसमैन ने उसे गोली से उड़ा दिया।

१४—रूबन वेयर इसलिये गोली से उड़ा दिया गया, चूंकि उसने एक गोरे को अपनी गाय जबरदस्ती नहीं ले जाने दिया।

१५—जो पोर्टर जेल में मारडाला गया। कारण पता नहीं चला।

१६—जेसी डेविस को पुलिसमैन ने इसलिये मार डाला, चूंकि पिटते-पिटते उसने पुलिसमैन का हाथ पकड़ लिया।

१७—जैक सटन इसलिये डेपुटी शेरिफ़ द्वारा मारडाला गया, चूंकि उसने सन्देह में अपने पकड़े जाने का विरोध किया।

१८—गिलबर्ट कानबिन को जासूसों ने इसलिये मारडाला चूंकि वह बदतमीज़ी कर रहा था।

१९—बेन हिंगिलटन, उम्र १६ वर्ष, इसलिये मारडाला गया चूंकि उसने एक ऐसा लाल पक्षी बेंचा जो गाता नहीं था।

२०—लायड पिनियन को पुलिस ने इसलिये गोली से उड़ा दिया, चूंकि वह चार बजे सुबह मकान से निकल पड़ा था।

२१—लुई, जोसेफ़ और एडम तीन निग्रो इस लिये गोली से उड़ा दिये गये, चूंकि उन्होंने अपने खेत से बेदखल होने की अपील की थी।

२२—जान डेविस इसलिये मारडाला गया चूंकि उसने पुलिस से बात करते करते अपनी जेब में हाथ डाला।

२३—पर्सी जोन्स को इसलिये गोली से उड़ा दिया गया, चूंकि पुलिस के रोकने पर उसने अपनी मोटर नहीं रोकी।

२४—जूलियस डेनियल को इसलिये मारडाला चूंकि उसने गाली के जवाब में गाली दी।

२५—फ्रेड रोलर को चोरी के सन्देह में मारडाला गया।

२६—श्रीमती स्काट को डंडा मार मार कर इसलिये मारडाला गया, चूंकि उसने अपनी गोरी मालकिन से अपनी पिछली तनख्वाह लेने की ज़िद की।

२७—अलबर्ट डासन, उम्र १५ वर्ष, इसलिये गोली से उड़ादिया गया, चूंकि उसने एक तरबूज चुराया।

२८—हैरी रास, फैल जेनकिन और निग्रो मछुआ परिवार के तीन व्यक्ति गोरे जत्थों द्वारा मारडाले गये।

२९—राबर्ट रिचर्डसन इसलिये गोली से उड़ा दिया गया, चूंकि एक गोरी मेम को उसने खफ़ा कर दिया।

३०—नेलसन नौश, उम्र २४, एक पेड़ से सूली पर लटका दिया गया।

३१—जार्ज जीटर को इतना पीटा गया कि वह मर गया।

३२—सेवेन कारलाक, उम्र १९ वर्ष, पीटकर मार डाला गया।

३३—जान विलियम्स को लिंच कर दिया गया। कुसूर एक सुअर की चोरी।

३४—विल किन्सी, उम्र २५ वर्ष, लिंच कर दिया गया।

ये आंकड़े सरकारी बयान के अनुसार दिये गये हैं, किन्तु हर सरकारी आंकड़ों की तरह ये बिलकुल अपूर्ण हैं। सन् १९३३ के बाद इस सम्बन्ध के सरकारी आंकड़े अप्राप्य हैं।

आज अमरीका के एक करोड़ तीस लाख निग्रो इस भयंकर और अमानुषिक परिस्थिति के बीच में रह रहे हैं। सन् १९३५ की लिंच की एक घटना का 'इण्टर नैशनल लेबर आफिस" की विज्ञप्ति में नीचे लिखा वर्णन दिया है—

"मैथ्यू विलियम्स को लिंच करने के पहले उसकी उंगलियां और पजे काट लिये गये। इन्हें निग्रो घरों में फेंककर उन्हें आगाह किया गया कि 'बदमाश निग्रो हम तुम्हारे गोश्त के सैण्डविच बना देंगे।' उसके बाद गोरी जनता ने मैथ्यू के ऊपर गैस छिड़ककर आग लगाई। जब तक वह मानव रूपी मशाल जलती रही, तब तक गोरे स्त्री पुरुष शराब पीकर गाना गाते रहे। ."

गर्भवती निग्रो स्त्रियां तक इसी अमानुषिक तरीक़े से ज़िन्दा जला दी जाती हैं।

अमरीका की संस्कृति सदा से और आज भी अत्याचार के ऊपर आश्रित है। वर्ण भेद को रखकर कोई देश क्या सच्चे अर्थों में गणतन्त्रवादी कहलाने का दावा कर सकता है? राष्ट्रपति विलसन दुनिया को गणतन्त्रवादी बनाने का प्रयत्न कर रहे थे, जब कि उनकी ठोकर के नीचे निरीह निग्रो अपने अधिकारों के लिये तड़प रहा था। जो सरकार आज निग्रो पर शासन करती है, उसमें निग्रो का कोई दखल नहीं और न केन्द्रीय शासन में ही उसकी कोई आवाज है।

किन्तु निग्रो के अन्दर ईश्वर का दिया हुआ अदम्य साहस है। उसमें परिस्थितियों से ऊपर उठने की क्षमता है। निग्रो स्वभाव से ही सीधा, हंसमुख और उदार है। वह जानता है कि हंसी के ठहाकों में किस तरह दुख को भुलाया जा सकता है। ज़रा से प्रोत्साहन में उसकी हंसी ओठों को चीर कर वातावरण में गूंज जाती है। ऐसी हंसी जिसमें बनावट का कोई चिन्ह नहीं। अमरीका के जीवन में निग्रो संस्कृति ही प्राणों का संचार करती है। संसार गवाह रहेगा कि हम पर किये जाने वाले इन अत्याचारों का एक दिन अवश्य अन्त होगा। दुनिया में किसी जाति ने निग्रो से अधिक कष्ट नहीं झेला। उसका जीवन-पथ उसकी अपनी हड्डियों से जड़ा हुआ है। किन्तु निग्रो संस्कृति दो दिन की संस्कृति नहीं है। उसके पीछे हजारों वर्ष का इतिहास फैला हुआ पड़ा है। ऐतिहासिक काल से भी पूर्व प्रस्तर युग में निग्रो ही अखिल संसार का स्वामी था। यूरोप, एशिया और अफ्रीका में उसी के प्रभुत्व का झण्डा फहराता था। सभ्यता और संस्कृति उसी की गोद में पहले पहल खेली हैं। ऐतिहासिक युग में भी जब जब उसने सिर उठाया, अन्य क़ौमों ने उसके चरणों पर अपना सर झुकाया। मिस्र के फेराओं की महान सभ्यता ने नूबिया के निग्रो सैनिकों के आगे आत्मसमर्पण किया, और हजरत ईसा से ६०० वर्ष पूर्व, पूरे २०० वर्ष तक, निग्रो फेरोओं ने मिस्र पर शासन किया। सिन्धु की सभ्यता पर निग्रो के वंशज अपनी अमर छाप छोड़ गये हैं। निग्रो क़ौमों ने दक्षिण यूरोप की कायापलट ही कर दी थी। यदि यूनान के गोरे ख़ून में निग्रो रक्त का सम्मिश्रण न हुआ होता, तो कवियों, कलाकारों और दार्शनिकों के उस देश ने संसार के सांस्कृतिक इतिहास में इतना गौरवपूर्ण स्थान न प्राप्त किया होता। रोम पर भी काली जातियों ने सांस्कृतिक विजय प्राप्त की थी।

डाक्टर विनशेल कहते हैं—

"संसार का एक भी देश आज यह दावा नहीं कर सकता कि उसकी धमनियों में मिश्रित रक्त नहीं बहता।"

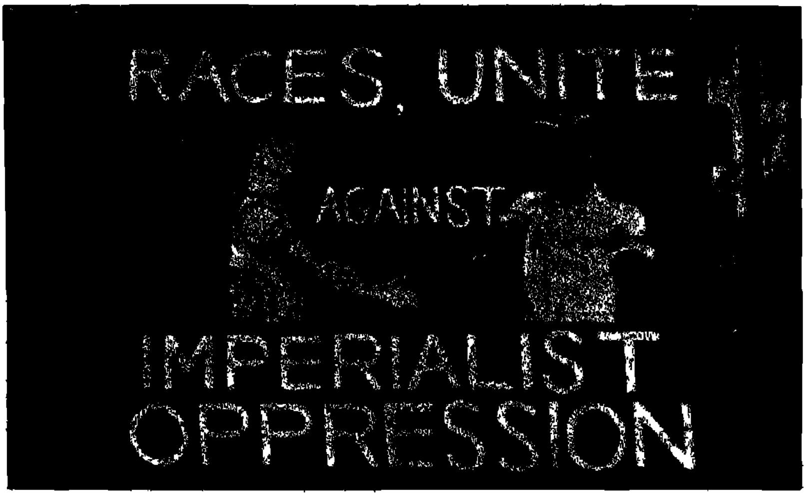
वह दिन दूर नहीं जब अमरीका भी अपनी इस वर्ण समस्या को सफलता के साथ सुलझायेगा। कम से कम ग़रीब मज़दूर साम्यवाद के असर से इस वर्ण भेद की समस्या के ऐतिहासिक रूप को समझने लगे हैं। निग्रो के ऊपर जिस मिक़दार में अत्याचार बढ़ते

आते हैं, उसी मिक़दार - में उसके अन्दर साम्यवाद की भावना भी बढ़ती जाती है। कम्युनिस्ट पार्टी ने अमरीका के अन्दर निग्रो के उद्धार का बीड़ा उठाया है। गोरे और काले मज़दूरों को उसने एक साथ क़दम रखना सिखाया है। आज अमरीका साम्यवाद में जो इतना ज़बरदस्त ख़तरा देख रहा है, वह केवल अपने यहां की निग्रो आबादी के कारण ही। ज़रा सी सुविधा पाते ही लगभग डेढ़ करोड़ शोषित निग्रो साम्यवाद के झण्डा बरदार बन सकते हैं। सन् १९३२ के अमरीकन चुनाव में वाइस प्रेसिडेण्टी के उम्मीद-वार जेम्स डब्लू० फ़ोर्ड ने अपने एक वक्तव्य में कहा था—

"जितना ही निग्रो को लिंच पर चढ़ाया जायगा, उसे गोली से उड़ाया जायगा और उसे ज़िन्दा जलाया जायगा, उतना ही साम्यवाद के लिये क्षेत्र भी तय्यार होता जायगा। हम अफ़रीका और वेस्टइण्डीज़ के अपने निग्रो बन्धुओं से प्रार्थना करते हैं कि वे भी अपने को ब्रिटिश, फ्रेंच और इटली के साम्राज्यवादी चंगुल से छुटकारा दिलाने के लिये साम्यवाद को स्वीकार करें और एक होकर चीन और भारत की आज़ादी के लिये लड़नेवाले वीरों को सहायता दें...।"

निग्रो के अन्दर संगठन की भावना पैदा हो गई है। वह अंगड़ाई लेकर खड़ा हो गया है, दुर्धर्ष यौवन की भावना उसकी सम्पत्ति है। मग में उसके रुकावटें हैं, मगर वह दिन दूर नहीं जब वह इन रुकावटों को रौंदता हुआ अपने को बन्धन-मुक्त करेगा और—

निग्रो की बन्धन-मुक्ति ही मानव संस्कृति की प्रगति का पैमाना है।



गोरे और निग्रो मजदूरों की एकता का एक प्रदर्शन चित्र

दुनिया में अरबों का राजनैतिक और सांस्कृतिक स्थान

श्री अलबर्ट वाइटन

संसार के इतिहास की अत्यन्त नाज़ुक अवस्था में हम प्रवेश कर रहे हैं। जनतन्त्रवादी राष्ट्र अपनी भूलों के लिये बहुत ज़बरदस्त क़ीमत चुका रहे हैं। रूढ़ियों से पूरी तरह चिपटे रहने के कारण उनके प्राण संकट में पड़ गये हैं। उत्तर और दक्षिण-पूर्व यूरोप के राष्ट्र बालू की भीत की तरह ज़मीन पर बिखर गये हैं। फिर भी अपने को जनतन्त्रवादी कहने वाले राष्ट्र नहीं चेत रहे हैं। युद्ध का मौजूदा रुख़ जिस ओर इशारा कर रहा है, उससे यह साफ़ दिखाई देता है कि फासिस्ट राष्ट्रों का अगला क़दम अरब देशों की ओर होगा।

गत बीस वर्षों से भूमध्य सागर में विविध शक्तियों के बीच सन्तुलन बनाये रखने के लिये अंग्रेज़ों ने अरबों को बराबर उल्लू बनाया है। तुर्कों और इटालियनों के मुक़ाबले के लिये अरबों को उकसाकर तैयार रक्खा गया है। अंग्रेज़ों ने ही 'पैन-अरब' आन्दोलन का छुपे-छुपे संगठन किया। किन्तु लारेन्स जैसे अनेक कूटनीतिज्ञों ने अथक परिश्रम के बाद यह देख लिया कि दुनिया के और दूसरे देशों की तरह अरब देशों में एक छत्र अंग्रेज़ी असर क़ायम नहीं रक्खा जा सकता। प्रश्न उठता है कि दुनिया की इस उथल-पुथल में आख़िर अरबों का क्या हश्र होगा!

पिछली सदी के अन्त में जब अब्दुल हमीद ने यूरोपीय संकट के विरुद्ध "पैन इसलाम" का नारा बुलन्द करके अरबों का संगठन करने का प्रयत्न किया, तभी से अरब देशों ने दुनिया के राजनीतिज्ञों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। यूरोपीय दिमाग़ों की पुरानी स्मृति जाग उठी। उन्हें वे दिन याद आ गये जब सन् ६३२ ई० में मुहम्मद साहब की मृत्यु के बाद अरब योद्धाओं ने आधे यूरोप को रौंद डाला था, स्पेन से लेकर हिन्दुस्तान तक अपना एक छत्र साम्राज्य क़ायम किया था और जब अफरीका में इसलामी निशान फहराता था। इसके साथ-साथ उन्हें वे दिन भी याद आए जब कि यूरोप के समस्त ईसाई राष्ट्रों ने मिलकर पूरे दो सौ वर्षों तक 'रिलीजस क्रूसेड्स" के नाम पर अपनी खोई हुई सत्ता को फिर से प्राप्त करने का असफल प्रयत्न किया था। मिस्र और फिलिस्तीन में उन्हें नैपोलियन के असफल प्रयत्न भी याद आने लगे।

पिछले महायुद्ध में टी० ई० लारेंस ने तुर्कों और जर्मनी के खिलाफ़ अरबों को सफलतापूर्वक उकसाया था। उस समय से यूरोपीय दुनिया में अरबों की प्रतिष्ठा फिर से क़ायम हुई। सन् १९२५-२७ में सीरिया के अरबों ने फ्रान्सीसी सत्ता के खिलाफ़ भीषण विद्रोह किया। इराक़ में भी लड़ाई के बाद ही अंग्रेज़ों के खिलाफ़ अरबों ने आन्दोलन शुरू किया। फिर सन् १९३६-३९ में फिलिस्तीन में इनक़लाबी आन्दोलन हुआ, जिससे अरबों के प्रति स्वाधीनचेता मनुष्यों की श्रद्धा बेहद जाग उठी। सन् १९३८ ई० में मुझसे एक अंग्रेज़ औपनिवेशिक अधिकारी ने कहा था—"इतिहास इस बात का साक्षी है कि दुनिया के इन हिस्सों में अरबों से कोई पार नहीं पा सकता। यूरोपीय शक्तियाँ अरबों को पूरी तरह क़ाबू में करने में नाकामयाब रहीं।"

दुनिया के राजनैतिक शतरंज में भूमध्य सागर के कारण अरब देश बहुत महत्त्वपूर्ण मोहरे हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इतिहास ने हज़रत इसमाइल की औलाद को दुनिया के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भौगोलिक स्थानों पर बसाया है। भूमध्य सागर के पूरे दक्षिणी किनारे पर टैञ्जियर से एटलांटिक तक अरब लोग बसे हुये हैं। यूरोप से निकट पूर्व आने का रास्ता अरबों की आबादी के बीच से आता है। बेरूत और दमिश्क से ईरान की खाड़ी तक का स्थल मार्ग पूरी तरह

अरबों के अधिकार में रहा है। लाल सागर और उस का प्रवेश-द्वार बाबुलमन्देब उसी तरह अरब हैं तरह मक्का। स्वेज़ नहर के दोनों किनारों पर अरबों की आबादी है। कोई भी शक्तिशाली और परिश्रमी क़ौम इन आश्चर्यजनक स्थानों के बल पर क्या से क्या नहीं कर सकती?

दूसरी बात यह है कि निकट पूर्व को प्रकृति ने बेहद उपजाऊ बनाया है। वहाँ की ज़मीन काफी ज़रख़ेज़ है और नाज वहाँ बहुतायत से पैदा होता है। नील नदी की उपत्यका में संसार में सबसे अच्छी रुई पैदा होती है। मृत्यु सागर तो विविध वैज्ञानिक रसायनों का ख़ज़ाना ही है। इन सब के अलावा तेल और पेट्रोल की तो कोई बात ही नहीं है। पूरा का पूरा निकट पूर्व तेल के समुद्र में तैरता सा है और तेल की ही यूरोप को आज सोने से ज़्यादा ज़रूरत है। हालांकि यहाँ लोहा, ताँबा और दूसरी धातुएं थोड़ी मिक़दार में हैं, लेकिन चूंकि इन चीज़ों के लिये अभी तक पूरी छानबीन नहीं हुई है, इसलिये अन्तिम नतीजे पर पहुँच सकना मुश्किल है।

किन्तु संख्या की दृष्टि से अरबों की शक्ति नहीं के बराबर मालूम पड़ती है। फिर भी वह इतनी थोड़ी नहीं है कि उसकी उपेक्षा की जाय। सब मिलाकर अरबों की लगभग चार करोड़ आबादी है। यह ध्यान में रखना चाहिये कि स्पेन की कुल दो करोड़ तीस लाख आबादी है। पुर्तगाल की, जो एक बड़े साम्राज्य का अधिकारी है, कुल सत्तर लाख आबादी है। अरबों की कुल आबादी में से एक करोड़ सत्तर लाख आबादी मिस्र में रहती है। अरब प्रायद्वीप की ७० लाख आबादी, सीरिया और इराक़ की तीस तीस लाख आबादी और फ़िलिस्तीन की दस लाख आबादी है। ट्रान्स जोरडान की पांच लाख आबादी है। इसके अतिरिक्त कुवैत, बहरैन, अदन और ईरान की खाड़ी के दूसरे अरब टापुओं की क़रीब पांच लाख आबादी है।

शानदार भूतकाल की यादगारें दस लाख वर्ग मील से भी अधिक क्षेत्रफल में बसे हुये इन अरबों को एकता के बन्धन में बाँधती हैं; और उनके दिलों में अपनी खोई हुई सत्ता को फिर से प्राप्त करने की लालसा पैदा करती हैं; थोड़े से बिखरे हुये क़बीले जिनका कुछ महत्त्व नहीं है, जैसे कुर्द और असीरियनों को छोड़कर इस भूभाग पर रहने वाले बाक़ी सब लोगों की भाषा अरबी है। एक भाषा के कारण इन लोगों में आश्चर्यजनक एकता है। भाषा के साथ-साथ इनकी एक संस्कृति है और जीवन का एक विशेष दृष्टि कोण है। एक से सामाजिक आचार-विचार और एक सी इनकी ख़ासियतें हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इनमें एकता क़ायम रखने में इसलाम एक बड़ा ज़बरदस्त साधन है। ३० लाख ईसाई और यहूदी यहाँ की राजनीति पर कोई ख़ास असर नहीं डालते। इसलाम ही यहां का प्रमुख धर्म है। इसलामी क़ानून और शरीयत के मुताबिक़ ही लोगों की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी चलती है। कुरान ने लोगों की भाषा और उनके विचारों पर ज़बरदस्त असर डाला है।

इन सब बातों से लोगों पर ज़ाहिरा तौर पर यह असर पड़ता है कि मौजूदा युद्ध में अरबों की कोई ख़ास अहमीयत है। किन्तु सचाई यह है कि अरब यदि इस संसार व्यापी नाटक में महज़ तमाशबीन ही नहीं हैं, तो भी उनका कोई अधिक महत्त्व भी नहीं है। तराज़ू के तौल यदि बराबर हों तो मुमकिन है अरब इधर या उधर थोड़ा बहुत असर डाल सकें। किन्तु यह अँगरेज़ों की भूल है यदि वे यह समझते हैं कि इस युद्ध में अरब उन्हें कोई ख़ास मदद दे सकेंगे। ज़ाहिरा तौर पर धर्म, संस्कृति और भाषा ने अरब समाज में एकता क़ायम कर रखी है। किन्तु वास्तव में यह एकता अस्थायी एकता है। अरब समाज में जितने टुकड़े हैं, उतने शायद दुनिया की दूसरी क़ौम में नहीं हैं। न तो इसलाम की भावना और न अरबीयत की भावना ही अरबों को उन क़बीलों के जाल से निकाल कर उनमें एक सामाजिक संगठन बना सकी। फ़िलिस्तीन में अरबों पर कितना ज़ुल्म हुआ मगर महीनों के प्रचार के बाद केवल बग़दाद और दमिश्क में और बाद में कुछ थोड़े से

मिस्री शहरों में उनके प्रति सहानुभूति दिखाई गई। एक लमहे के लिये भी अरब नेता मिलकर एक सयुक्त राजनैतिक कार्यक्रम नहीं बना पाये। कभी उन्होंने गम्भीरता से इस पर ध्यान ही नहीं दिया कि पूरे निकट पूर्व को एक करके वे उसे एक महान राष्ट्र बना सकते हैं। कुछ अरबों ने फिलिस्तीन के अपने भाइयों के साथ सहानुभूति दिखाई, अखबारों में गरमा गरम लेख लिखे, जुलूस निकाले और बस सब खत्म। असली मदद उन्हें कुछ भी नहीं दी गई। इस काम के लिये अरब मुल्कों में जो चन्दा इकट्ठा हुआ, वह भी नहीं के बराबर। मिस्र, सीरिया, इराक ने जो सैनिक और डाक्टरी मिशन फिलिस्तीन में भेजने के वादे किये वे कभी पूरे नहीं किये गये।

फिर भी फिलिस्तीन के आन्दोलन ने अरबों को एक करने के लिये जो कुछ किया उतना किसी भी बड़े आन्दोलन ने नहीं किया। सन् १९३५–३६ में मिस्र और सीरिया में भी राजनैतिक आन्दोलन खड़े हुये थे, मगर अरबों पर उसका कोई व्यापक असर नहीं पड़ा था। उस आन्दोलन में दमिश्क में पूरे दो महीने तक हड़ताल रही। हजारों अरब जेल में ठूस दिये गये, सैकड़ों अरब गोली से उड़ा दिये गये। नेताओं ने अखबारों के जरिये समस्त अरबों को हज़रत मुहम्मद के झंडे के नीचे आकर एक होने की अपील की। मसजिद में मुल्लाओं ने फ्रासीसियों के ख़िलाफ बग़ावत का फतवा दिया। नवयुवकों ने सीरिया को फ्रान्स के चगुल से आज़ाद करने की कसम खाई। मगर फिर भी सीरिया के बाहर अरब दुनिया पर इस क्रान्तिकारी उथल पुथल का कोई खास असर नहीं पड़ा। अलबत्ता फिलिस्तीन में एक दिन हड़ताल हो गई थी। न सीरिया को कोई मदद दी गई और न फ्रान्सीसी माल का अरबों ने बहिष्कार ही किया।

फिर भी यह नहीं समझना चाहिये कि अरब एकता का आदर्श ही समाप्त हो गया। इसके विपरीत वह और तीव्र होता जा रहा है। जितने पढ़े लिखे अरबों से मैंने बात की है, वे सब इस आदर्श के क़ायल हैं और यही कहते हैं कि जब तक अंग्रेज़ इस एकता के बीच हायल हैं तब तक यह एकता सम्भव नहीं हो सकती। हर नवयुवक अरब एकता का नारा लगाता है और अरब साम्राज्य की महत्ता का बखान करता है। सर्व साधारण में प्रान्तीयता जैसी कोई बात नहीं। सीरिया का फेला (किसान) फिलिस्तीन के अरबों को विदेशी नहीं समझता और न दमिश्क के अरब ही बग़दाद में विदेशी समझे जाते हैं। किन्तु फिर भी इस एकता के बीच में अनेक बाधाएं हैं।

निकट पूर्व का राजनीति में विविध राज घरानों की प्रतिस्पर्धा बेहद महत्व रखती है। इब्न सऊद और अमीर अब्दुल्ला दोनों सुलतान अरब एकता के क़ायल हैं, किन्तु दोनों चाहते हैं कि एकता उन्हीं के घराने के झण्डे के नीचे हो। इसी को लेकर उन्हें एक दूसरे से सख्त नफरत है। अब्दुल्ला वहाबी बादशाह को बचा शक्का समझता है और इब्न सऊद हाशमी घराने को नफरत की नजर से देखता है। यमन का राज घराना सऊदियों से नफरत करता है, और सऊदियों को मिस्र के मोहम्मद अली के घराने से नफरत है। यहाँ तक कि अम्मान और बगदाद के दोनों हाशमी घरानों में भी आपस में प्रतिस्पर्धा है और ये सबके सब मिस्र के बादशाह फारूकी से खतरा महसूस करते हैं। इनमे आपस में सधियाँ भी हुई, किन्तु उन सधियों की कीमत एक काग़ज़ के टुकड़े से अधिक नहीं। हालत यह है कि कुछ अरबों की सहानुभूति अंग्रेज़ों के साथ है, कुछ निष्पक्ष हैं और कुछ की सहानुभूति धुरी राष्ट्रों की तरफ है।

यही नहीं हर अरब मुल्क में आपस में भी झगड़े हैं। फिलिस्तीन में मैंने वहाँ के आपसी मतभेदों को समझने के लिये हफ्तों ख़र्च किये; कि आख़िर वहाँ 'नेशनल डिफेन्स पार्टी,' 'रिफार्म पार्टी,' 'पैलेस्टाइन अरब पार्टी' और 'इस्तक़लाल पार्टी' में क्या सैद्धान्तिक मतभेद हैं? किन्तु मैंने यही समझा कि उनमे ज़रा भर भी राजनैतिक और आर्थिक मतभेद नहीं हैं। उनके झगड़े सिर्फ़ व्यक्तिगत हैं। इन्हीं आपसी मतभेदों के कारण अब तक एक अखिल अरब सगठन न हो सका। इसके लिये इसलाम का नारा भी निकम्मा साबित हुआ।

बाहर वाले भले ही समझते हों कि इसलाम धर्मावलम्बी होने के कारण अरबों मे आपसी एकता होगी। किन्तु यह एक महान भ्रम है। यह सही है कि शिया और सुन्नी अब आपसी कत्लेआम नहीं करते, किन्तु एक सच्चा वहाबी अब भी उस मुसलमान को दुनिया से विदा करने के लिये तैयार है, जो पूरी तरह हज़रत अब्दुल वहाब की शिक्षा को नहीं मानता। इसके अतिरिक्त अरब राजनीतिज्ञों में जो सबसे बड़ी कमी है वह यह कि विदेशी शासक आसानी से चाँदी की गोलियों से उनका शिकार कर सकते हैं।

कहा जाता है कि यों अरब में सैनिक सगठन नहीं है, फिर भी गुरिल्ला लड़ाई में अरब बड़े निपुण हैं। किन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि गुरिल्ला लड़ाई का चाहे जितना महत्त्व हो, फिर भी वर्तमान युद्धों को केवल गुरिल्ला लड़ाई से नहीं जीता जा सकता। यदि अरबों ने अंग्रेजों के साथ साल भर से ज्यादा लड़ाई लड़ी, तो उसका कारण सिर्फ यह था कि अंग्रेजों ने उनके खिलाफ युद्ध के आधुनिक हथियार इस्तेमाल नहीं किये थे। सीरिया दो वर्षों से क्रान्तिकारी आन्दोलन चला रहा था, किन्तु जब सन् १९२६ ई० मे सीरियन देशभक्तों के खिलाफ फ्रान्सीसियों ने बिना लिहाज़ बम बरसाये तो सीरिया का स्वतन्त्रता का आन्दोलन चूर होकर रह गया।

वह समय बीत गया जब सारी दुनिया अरबों की तलवार की धाक मानती थी। उस जमाने की लड़ाई बहादुरी की लड़ाई थी और इसमें कोई सन्देह नहीं कि अरबी घोड़ों पर चढ़कर अरबी घुड़सवार अपने यूरोपीय दुश्मनों के कान काटते थे। परन्तु न तो वे दिन ही रहे और न आज व्यक्तिगत बहादुरी का कोई मूल्य ही रहा। अरब योद्धाओं के साहस में किसी को सन्देह नहीं है। बद्दुओं ने अपनी मामूली बन्दूकें लेकर विदेशी तोपखानों पर हमले किये हैं। जैसे जैसे युद्ध की भयकरता बढ़ती है, वैसे-वैसे अरबों की हिम्मत भी बढ़ती है। किन्तु इससे कोई खास फायदा तो है नहीं। वहाबियों को ही ले लीजिये; उन्होंने अन्य प्रतिद्वन्द्वी अरबों को हरा दिया। इससे उनकी हिम्मत बढ़ी और उन्होंने इराक़ पर भी धावा बोल दिया। पर जब अंग्रेज़ों ने उन पर बम बरसाये तब वे खामोश हो गये।

सच तो यह है कि जब तक कोई मुल्क औद्योगिक दृष्टि से बेहद उन्नत नहीं है, तब तक दुनिया की मौजूदा राजनीति पर वह कोई खास असर नहीं डाल सकता। मिस्र में थोड़े बहुत उद्योगधन्धे हैं। मिस्री मजदूर सूती कपड़े, बटन, सिगरेट, खिलौने, कम्बल आदि बनाते हैं। किन्तु फौजी मामलों में इन टुटपुंजिहे धन्धों का कोई मूल्य नहीं। इस दृष्टि से समूचा निकट पूर्व दुनिया का सब से कमज़ोर क्षेत्र है। लोहा, तांबा, सीसा, जस्ता या दूसरी भारी धातुएं रेगिस्तानी मुल्कों में नहीं होतीं। मुमकिन है लेबनान और कुर्दिस्तान के पहाड़ों के नीचे या मरुस्थल की रेत के नीचे ये धातुयें दबी पड़ी हों, किन्तु इनका अब तक पता नहीं लगाया गया। सैनिक दृष्टिकोण से एक ही बात में अरब देशों का महत्त्व है और वह है पेट्रोल। दक्षिण ईरान तेल का खज़ाना है, जो अंग्रेज़ी कम्पनी के मातहत है। इसी तेल से अंग्रेज़ी नेवी हिन्द महासागर और सुदूरपूर्व में अपना असर रखती है। इराक़ मे भी हर साल ६० लाख पीपे तेल निकलता है और यह सब भी अंग्रेज़ों के क़ब्जे में है।

यह सही है कि भारी धातुओं के अभाव के कारण यह तो नहीं है कि फौज का भारी सामान न बन सके। इटली और जापान को ही लीजिये। दोनों देशों में लोहा नहीं होता, कोयला और पेट्रोल नहीं होता, फिर भी वहाँ भारी-भारी कारखाने हैं। किन्तु इटली और जापान के मुकाबले में अरब देशों के सामने एक बड़ी कठिनाई है। इटली और जापान में वहाँ की सरकारें भारी कारखाने चला रही हैं। इटली और जापान आजाद मुल्क हैं; और अरब देश पूरी तरह से विदेशियों के असर में हैं; और ये विदेशी हुकूमत अरब देशों की इस क़िस्म की तरक्की कभी पसन्द नहीं करेंगी।

यूरोपीय यात्री फ़िलिस्तीन में यहूदी औद्योगिक उन्नति के गीत गाते हैं; किन्तु फिलिस्तान के यहूदी

कारखानों में केवल १ लाख मजदूर काम करते हैं और कुल ४० करोड़ डालर का माल तैयार होता है। यह कोई ऐसी रकम तो नहीं जिसकी प्रशंसा के गीत गाये जाँय। फिर इन एक लाख मजदूरों में अधिकांश मकान बनाने में लगे हुये हैं। उनसे उतर कर लोग खेती में लगे हुये हैं, तीसरे दर्जे के कपड़े के कारखानों में हैं। बिजली और रसायन के कारखानों में मजदूरों की संख्या नहीं के बराबर है।

जो विदेशी पत्रकार धुरी राष्ट्रों या अंग्रेजों के खिलाफ अरबों के जेहाद की कल्पना करते हैं, वे इस बात को ध्यान में नहीं रखते कि यदि अंग्रेज हार भी गये, तब भी धुरी राष्ट्र आसानी से अरबों की स्वतन्त्रता को कब्जे में कर लेंगे। थोड़े से जहरीले गैस के बम अरबों को दबाने के लिये काफी हैं। फिर अरब देश के पास न तो लड़ाई के टेकनिकल साधन हैं और न पैसा ही है। अरब देशों में इराक की ताकत सब में बड़ी है। किन्तु उसके पास भी कुल ५० हवाई जहाज़ हैं। थोड़े से चुप-पुट के बाद अंग्रेजों ने उसे आखिर क़ाबू में कर ही लिया। मिस्री फौज के पास बेशक थोड़े बहुत माडर्न हथियार हैं, किन्तु लोगों की यह राय है कि मिस्री सैनिक इतने अच्छे नहीं होते, जितने कि इराकी। सन् १९४० में मिस्र के पास ३ हल्की तोपें व ३ हवाई जहाज़ थे और कुल फौज में २५ हज़ार अफसर व सिपाही थे। ट्रांस जोरडान और सऊदी अरब फौजों के पास तो माडर्न हथियार हैं ही नहीं।

जब तक लड़ाई चल रही है, तब तक अरबों का महत्व नहीं है। उनका महत्व हो सकता था यदि अरब जनता में जागृति होती। तब वे फौजों को खाना देने से इनकार करते कि वे लूट लेते, सड़कें तोड़ देते और तार काट देते। किन्तु अरब जनता इतनी दबी हुई है कि यह सब करने की उसकी हिम्मत नहीं है। जब चेकोस्लोवाकिया, पोलैंड और फ्रान्स जैसे देशों को सैनिक ताकत से दबाया जा सकता है, तब फिर अरबों की क्या बक़त ? अरब इसे जानते भी हैं। ज्योंही मौजूदा लड़ाई शुरू हुई फिलिस्तीन की बग़ावत वैसे ही खत्म हो गई।

लड़ाई के बाद भी अरबों का कोई महत्व न होगा। अभी दसियों वर्ष तक आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में उनका स्थान नहीं के बराबर रहेगा। अरब कौम ने दुनिया के इतिहास के इस बदलते हुए रुख में ज़माने के साथ अपना क़दम नहीं उठाया। उन्हें हर क्षेत्र में नया तरीक़ा सीखना है। दुनिया को देने के लिये इस समय उनके पास कुछ भी नहीं है। वर्तमान अरबी साहित्य बिल्कुल निकम्मा है। अरबी संगीत पुराने ढर्रे पर चल रहा है। अरबी नाटक भी पुराने हो चुके। क़बल इसके कि ये अरब देश दुनिया के रंगमंच पर गौरवपूर्ण स्थान लें, उन्हें अपने अन्दर ज़बरदस्त नैतिक और आध्यात्मिक सुधार करने पड़ेंगे।

कंकड़-पत्थर

श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन'

मैं पथ का कंकड़ पत्थर हूँ
जाने किस शिल्पी की टाँकी से
टकराकर मैं चूर हुआ।
अपने विशाल गिरि-गृह-कुटुम्ब
से छिन्न भिन्न हो दूर हुआ।
आ पहुँचा मानव बस्ती में
चिर परिचय हीन प्रवासी-सा।

पग पग पर ठोकर पर ठोकर
खाने को मैं मजबूर हुआ।
तुम पूछ रहे मेरा परिचय,
तुम पूछ रहे मेरा निश्चय,
मैं क्या जानू इस जगती में
अभिशाप रूप हूँ या वर हूँ!
मैं पथ का कंकड़-पत्थर हूँ।

(२)

आँखों के रहते भी अंधे
आकर मुझसे टकरा जाते !
गर्वित निज बल की क्षमता मे
दे लातें और जमा जाते।
मैं लुढक - पुढक टकटकी बाँध
परखा करता उनकी कीमत।
मुझ ऐसे दीन-हीन जग को
फूटी आँखों भी कब भाते ?
वे नहीं जानते, मेरे भी दिन थे,
मैं था चैतन्य कभी,
चेतनता के उपहासरूप अब
भावी जड़ता का स्वर हूँ !
मैं पथ का कंकड-पत्थर हूँ।

(३)

चेतन जग का कोई प्राणी
मुझसा बेबस, लाचार नहीं।
अपना दुःख सुख तक कहने को
मेरा कोई ससार नही।
आहें भर सकता, तो अपनी
निश्वासों से जग भर देता।
पर मुझे सास तक लेने का
मिलपाया है अधिकार नहीं।
मैं पद-लुठित, पदमर्दित बन,
आया हूँ जीवन के पथ पर,
परवश अपनी सीमाओ से
मैं मूक-व्यथाओं का घर हूँ !
मैं पथ का कंकड़-पत्थर हूँ।

(४)

चिर-स्पदन-हीन हुआ जब से
बेसुध सा कोमल मन मेरा।
पड जीवन के संघर्षों में
घिसता जाता है तन मेरा।
भूले भटके भी हाय, तरस
खाने वाला कोई न मिला।
चिर-व्यथित, उपेक्षित विरही-सा
सूने मे लय जीवन मेरा।
मैं कहूँ कहाँ तक सुनने को
कोई, गाथा तय्यार नहीं,
मैं नव जागृति के इस युग में
चिर-सुप्त समस्या-सागर हूँ !
मैं पथ का कंकड-पत्थर हूँ।

(५)

पर मैंने कल पथ पर देखी
पददलित मानवों की टोली।
थी जिनकी आह कराहो में
मेरी परवशता की बोली।
उनकी भी हाहाकारों पर
देता था कोई ध्यान नहीं।
अपने सूखे जर्जर तन में
लगते थे मेरे हमजोली।
जीवन में पहले-पहल मुझे,
अपने पर कुछ कुछ गर्व हुआ,
मैं जड़ होकर भी इन चेतन
नर-कंकालो से बढ़कर हूँ !
मैं पथ का कंकड़-पत्थर हूँ।

मानव संस्कृति और सोवियत् रूस

प्रोफेसर बुद्धदेव वसु

रूस पहुँचने के पहले कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने क्या देखने की कल्पना की थी और वहां क्या देखा, इसका वर्णन उन्होंने नीचे लिखे शब्दों में किया है—

"जब रूस के लिये रवाना हुआ, तब बहुत ज़्यादा पाने की आशा नहीं की थी। कितना साध्य है और कितना असाध्य, इसका आदर्श मुझे ब्रिटिश-भारत से मिला है। भारत की उन्नति की दुरूहता कितनी अधिक है, इस बात को स्वयं ईसाई पादरी टामसन ने बहुत ही करुण स्वर में सारे संसार के सामने रखा है। मुझे भी मानना पड़ता है कि कठिनाई है अवश्य, नहीं तो हमारी ऐसी दशा क्यों होती? यह बात मुझे मालूम थी कि रूस में प्रजा की उन्नति भारत से ज़्यादा ही मुश्किल थी, कम नहीं।......इसीलिये, मेरे लिये ऐसी आशा करना कि रूस जाकर बहुत कुछ देखने को मिलेगा, अनुचित होता। हमने अभी देखा ही क्या है और जानते ही कितना हैं जिससे हमारी आशा का जोर ज़्यादा हो सकता। अपने दुःखी देश में पली हुई कमज़ोर आशा लेकर मैं रूस गया था। वहां जाकर जो कुछ देखा, उससे आश्चर्य में डूब गया। ..सुना जाता है कि यूरोप के किसी किसी तीर्थ-स्थान से दैव की कृपा से चिरपंगु भी अपनी लाठी छोड़कर पैदल वापस आये हैं; देखते देखते ये पंगु की लाठी को छोड़कर दौड़ने-वाला रथ बनाते चले जा रहे हैं—जो पैदल सेना से भी गये-बीते थे, दस ही वर्ष में वे रथी बन गये हैं। मानव समाज में वे सिर ऊंचा किये खड़े हैं, उनकी बुद्धि अपने वश में है, उनके हाथ-हथियार सब अपने वश में हैं। हमारे बादशाह के वश के ईसाई पादरियों ने भारतवर्ष में बहुत वर्ष बिता दिये हैं; मुशकिलें कैसी अचल हैं बस यही बात वे समझे बैठे हैं। अच्छा हो यदि एक बार वे मास्को आवें।"[1]

१—रूस की चिट्ठी, पृ० ७०-७४

२

सोवियत् रूस ने दुनियां को अचरज में डाल दिया है। ज़ार के शासनकाल में रूस की कैसी दुःसह दुर्गति हुई थी, शायद हिन्दुस्तान और चीन के अलावा दुनिया में कहीं इसका दृष्टान्त नहीं मिलेगा। यह तो उस दिन की बात है और इतने ही दिनों में, केवल बीस वर्ष की साधना से, वही देश आज किसी किसी बात में अगुआ पश्चिम के देशों का ईर्षा भाजन हो गया है। शिक्षा के विस्तार और संस्कृति को व्यापक बनाने में वह अतुलनीय है। आज सारी दुनिया की नज़रें यूरोप से एशिया तक फैली हुई इस विशाल सोवियत् भूमि की ओर लगी हुई हैं, केवल शोषित मजदूर-किसानों की ही नहीं, कवि की, कलाकार की, मनीषी की भी। इसका कारण क्या है? वह यह है कि पश्चिम के देशों में आज संस्कृति का अनादर पग-पग पर हो रहा है, ज्ञानी, विज्ञानी, कलाकार, जिनके जीवन और कार्य से मनुष्यत्व की श्रेष्ठ अभिव्यञ्जना होती है वे या तो सरे आम सताये जाते हैं, नहीं तो परोक्ष रूप से निरुत्साहित किये जाते हैं, या तो वे नज़रबन्द कैम्पों में भेज दिये जाते हैं, नहीं तो अपमान अनाहार से परलोक से अमरत्व की आशा से मिटने जा रहे हैं। संस्कृति तथा मनुष्यत्व की मर्यादा में विश्वास रखने वालों के लिये सोवियत् भूमि आशा और उत्साह का अक्षय भंडार है।

जब पश्चिम के देशों की दशा ऐसी है, तो हमारे देश की बात ही क्या? असीम अशिक्षा के अंधकार में हिन्दुस्तान डूबा हुआ है।[2] भीषण निर-

२—१९११ की मर्दुमशुमारी से पता चलता है कि इस देश में सैकड़े ७ आदमी साक्षर थे, १९२१ में ८ और १९३१ में ९। अर्थात् हर दस मनुष्यों में १ फ़ी सदी आदमी साक्षर हो रहे हैं। अगर इस चाल से साक्षरता का विस्तार होता रहा तो हमें सम्पूर्ण रूप से साक्षर होने में

क्षरता विषधर नागिनी की तरह हमारा कंठावरोध किये हुये है जहां अशिक्षा नहीं है वहां कुशिक्षा है। एक हिसाब से वह और भी दुःखदायी है। मुट्ठी भर मध्यम वर्ग के लोग मैकाले द्वारा प्रवर्तित नकली विद्या से निर्जीव से हो गये हैं। हम में से जिन्हें यह शिक्षा मिली है, और जो प्रतिदिन इसे वितरण भी कर रहे हैं, इस बात को निःसंकोच होकर कह सकते हैं कि यह हमारे लिये लज्जा, ग्लानि और कलंक की बात है। इतना बड़ा घातक मजाक शिक्षा के नाम पर और किसी भी देश में नहीं चल सकता था, परन्तु इस अभागे भारत में सब कुछ सम्भव है। विदेशी भाषा के माध्यम से बिल्कुल मामूली विदेशी विचार धारा का अत्यन्त क्षीण संक्रामण, यही तो हमारी शिक्षा है। इम्तहान में सफल होना इसका उद्देश्य, और नौकरी पा जाना इसका मोक्ष है। इसका नतीजा होता है आजन्म दूसरों पर निर्भरशीलता, बुद्धिवृत्ति का अविरत दासत्व। हमारे जीवन से लेशमात्र भी सम्बन्ध न रखने के कारण यह शिक्षा जितनी सारहीन है, उतनी ही अवास्तविक भी है, कला, ज्ञान, विज्ञान के सम्बन्ध में मनुष्य की स्वाभाविक रुचि तथा उत्साह को समूल नष्ट करने की इसमें असाधारण निपुणता है। इसका फल यह होता है कि हमारे देश में कवि गुरु रवीन्द्रनाथ के पाठकों की संख्या कुछेक दर्जन है। कलापूर्ण चित्रों का खरीदनेवाला ही कोई नहीं मिलता। ज्ञानी लोग या तो जीवन संघर्ष में पार ही नहीं पाते या अन्त में कोई बड़ी सी नौकरी पाकर स्वाधीन विचार को स्वाहा कर देते हैं। जिस किसी भी क्षेत्र में जो गुणवान है, जनता के पास पहुँचने के लिये उसे कोई रास्ता नहीं है, क्योंकि निरक्षरता की दुर्भेद्य दीवार ने उन्हें घेर रखा है। दूसरी ओर मूर्ख मध्यमवर्ग की उदासीनता के कारण वह अपनी जीविकार्जन नहीं कर सकता। कुशिक्षितों की खुल्लम-खुल्ला या छिपी हुई दुश्मनी के कारण वह पग पग पर सताया जाता है।

६०० वर्ष और लगेंगे अर्थात् २८४१ ई० में 'हिन्दुस्तान में एक भी आदमी निरक्षर नहीं रहेगा!!

यही है हमारी हालत!

(३)

राजनीति का मर्म नहीं समझता; लेकिन यह जानता हूँ कि मरने से जिन्दा रहना अच्छा है। मैं मार्क्सवादी पण्डित नहीं हूँ, साम्यवादी कहकर गर्व करने का मुझे अधिकार नहीं है, मैं एक साधारण लेखक मात्र हूँ। मेरा विश्वास है कि संस्कृति से जिन वस्तुओं का बोध होता है, वे सभी मानव की सर्वश्रेष्ठ सम्पदा हैं, वे ही सभ्यता का महान परिचय प्रदान करती हैं। राष्ट्रनीति और समाज व्यवस्था की सार्थकता वहीं तक है, जहाँ तक वे संस्कृति का निर्भय, उज्ज्वल और व्यापक रूप से प्रचार कर सकती हैं। धन वाणिज्य फौजी शक्ति आदि में देश कितना भी उन्नत क्यों न हो, अगर संस्कृति के विस्तृत क्षेत्र में नई फसलें नहीं दिखाई पड़तीं, तो मैं उपर्युक्त चीज़ों को व्यर्थ समझता हूँ। हमारे जीवन के पार्थिव आधार को मजबूत बनाना अत्यावश्यक है, हम अन्न वस्त्र दवादारू खरीदने की सामर्थ्य चाहते हैं, आशंकाहीन आलस्यहीन शान्तिमय जीवन चाहते हैं, काम करना चाहते हैं, विश्वमानव की यह माग दुनिया के वायुमण्डल में प्रतिध्वनित हो रही है। ये सभी साधन मात्र हैं, उद्देश्य नहीं, ये लक्ष्यस्थल पर पहुंचने के रास्ते हैं, लक्ष्यस्थल नहीं। सभी मनुष्यों को खाने-पीने, कपड़े-लत्ते, दवा-दारू इसलिये चाहिये, जिससे वे संस्कृति के अमूल्य उत्तराधिकार के हिस्सेदार बन सकें। जिस ऐश्वर्य का प्रचलन केवल मुट्ठी भर धनी अथवा बुद्धिजीवी लोगों में ही सीमित हो, उसे अगर मनुष्यमात्र को पाने का अधिकार नहीं है तो राष्ट्रीय उन्नति और वाणिज्य आसुरिक शक्ति और व्यर्थ विस्तार मात्र हैं। कौन देश कितनी ताक़त वाला है, अर्थात् नरसंहार की शक्ति उसमें कितनी है, आज चारों ओर इसी की चर्चा हो रही है। इसके बीच में खड़े होकर हम लेखकों को कहना होगा—तुम्हारी 'शक्ति को' देखकर हम मुग्ध नहीं हो सकते, हम जिसे संस्कृति कहते हैं उसके लिये बताओ तुमने क्या किया है? इसके अलावा तुम्हारी

जांच करने का दूसरा रास्ता हमें मालूम नहीं है। वह तो गुजर बसर करने के लिये ही नहीं है, वह तो जीवन के सृजन की माँग है, हम उन्हें इसलिये चाहते हैं, जिसमें जीवन को साहित्य, कला, ज्ञान, विज्ञान के क्षेत्र में सार्थक कर सकें। पके धानों के खाने से पेट तो भर जाता है, परन्तु मन को भरने के लिये मनीषा के प्रकाश की आवश्यकता है। अगर कहा जाय कि देशवासियों को खाना कपड़ा मिल रहा है, सभी कारखानों में लगे हुये हैं, अस्त्रागारों से लगातार झनझनाहट आ रही है, लेकिन इसी के साथ उनके हाथ से पोथियां छीन ली गई हैं, वीणा को नीरव कर दिया गया है, वैज्ञानिक को नये-नये अस्त्रशस्त्र के आविष्कार में लगा दिया गया है, कवि को राजमहिमा के रथ में जोत दिया गया है, तब मैं कहूँगा कि तुम्हारा दम्भ कितना भी बड़ा क्यों न हो, वह खोखला है, शून्य है।

हम लेखक जो किसी न किसी प्रकार की कला ज्ञान आदि का अनुशीलन किया करते हैं, यह कहने के लिये बाध्य हैं।

(४)

दुनिया के इतिहास में ऐसा समय अभी तक हमें देखने को नहीं मिला है, जब संस्कृति का द्वार सबके लिये खुला था। प्राचीन युग में शिक्षा दो छोटे सम्प्रदायों—धर्म-व्यवसायी और युद्ध-व्यवसायी, अर्थात् पुरोहित और राजा, ब्राह्मण और क्षत्रिय, में ही दिखाई पड़ती थी, राजा तो केवल भोक्ता था, वह साहित्य, संगीत, चित्र, नृत्य, नाट्यकला का उपभोग करता था, और यथा उचित पुरस्कार वितरण करके अपना जय जयकार सुना करता था। विभिन्न देशों तथा विभिन्न समयों में किसी किसी भूपति या धर्माधिपति के संरक्षण में कला की आश्चर्यजनक उन्नति हुई है, इसका निदर्शन हमें इतिहास में मिलता है। पर उस शुभ दिन में भी देश की साधारण जनता उन उत्सवों से दूर थी। जो खेती करते हैं, कपड़ा बुनते हैं, लोहा पीटते हैं, जिनके हाथ में संसार के भण्डार की कुञ्जी है, उन्हें कला के आनन्द भोग में नहीं बुलाया गया था, वे दरिद्रता में डूबे हुए थे, अशिक्षा से वे अंधे थे, उनका अनुन्नत मनोरंजन होता था—गाँव के पूजा त्योहारों, नाच-गानों से। वह स्थूल था, बर्बर था, लेकिन उस जमाने में जनता की अपनी कला थी, रस के क्षेत्र में उन्हें अखण्ड उपवास नहीं करना पड़ता था। इस ग्राम्य-कला या जनता की कला की आश्चर्यजनक जीवनी शक्ति का परिचय इस बात से मिलता है कि आज के सबसे अग्रणी कलाकारों में उसका प्रभाव दिखाई पड़ रहा है। लेकिन विज्ञान की कृपा से दुनिया में जब युगान्तर हुआ, तब अग्रगति की तीव्र धारा ने समग्र पुराने मूल्यों को धूल में मिला दिया, मनुष्य के आपसी पुराने सम्बन्ध को तोड़ डाला, जनता के जीवन में भी ग्रामीण कला की सरसता कहीं रह गई। सुनने में यह बात विचित्र सी लगती है कि साधारण लोगों को इस नवीन समाज-व्यवस्था ने एक ओर तो उन्नत किया, लेकिन दूसरी ओर बिल्कुल कंगाल बना दिया। पश्चिमी दुनिया में प्राथमिक शिक्षा जंगल में आग की तरह फैली। छापाखानों से किताबों के ढेर निकलने लगे, सिनेमा, रेडिओ का आगमन हुआ, पर क्या साधारण लोगों का सांस्कृतिक स्तर रत्तीमात्र भी उन्नत हुआ? ऊपर उठने की बात तो दूर रही, वह और भी नीचे गिर गया। उस युग में ग्रामीण-उत्सवों में अंधता, कुसंस्कार, स्थूलता सभी थीं, लेकिन उसमें जो आनन्द था वह विशुद्ध था; क्योंकि वह पैसे से खरीदा नहीं जाता था, उसका सृजन होता था अपनी ही आन्तरिक प्रेरणा से। वह समाज जो पैसे-कौड़ी के सम्बन्ध के अलावा और किसी दूसरे प्रकार का सम्पर्क नहीं मानना चाहता, उसमें उपर्युक्त प्रकार के आमोद-प्रमोद भी बन्द हो गये। उसकी जगह असंख्य किताबें, असंख्य फ़िल्म घर घर में रेडिओ का आगमन हुआ। यह तो अच्छी बात है, संस्कृति के आधुनिक वाहन तो ये ही हैं। लेकिन दुनिया भर के लोग अवाक् हो गए, जब उन्होंने देखा कि मुट्ठी भर लोगों के बीच में संस्कृति बन्दिनी बनी हुई है। अच्छी पुस्तकें वे

ही पढ़ रहे हैं, अच्छे गाने वे ही सुनते हैं जिनके पास साधन हैं। लिखना-पढ़ना जानने वाले आम लोग भकोस रहे हैं वाहियात किताबें; देख रहे हैं रद्दी फिल्म; सुन रहे हैं सड़े हुये गाने। उसी के साथ हम यह भी देखते हैं कि साधारण जनता ही जब संख्या में अधिक है, तब उसकी विशाल भूख मिटाने के लिए साहित्य, संगीत, चित्रकला में रुचि नाम की कोई वस्तु नहीं रह गई। घासलेटी लेखकों का बाज़ार पर कब्ज़ा है। अच्छे लेखकों को रोटी भी नहीं मिलती। शिक्षा का विस्तार हुआ, आर्थिक उन्नति भी खूब देख पड़ती है, पर जो कवि और कलाकार यथार्थ में प्रतिभावान हैं उन्हें जीवन में कैसा दु:सह संघर्ष करना पड़ता है, उनकी आमदनी कैसी तुच्छ है और कितने अत्याचार और अपमान उन्हें सहने पड़ते हैं!

इस डरावने दृश्य को देखकर पश्चिमी दुनिया के अनेक मनीषी आज निराशा की चरम सीमा पर पहुँच गए हैं। उन्होंने कहना शुरू किया है साधारण जनता को लिखने पढ़ने से क्या लाभ होगा, अगर वह सिर्फ़ निम्नकोटि के अखबार और रोमांचक जासूसी उपन्यासों को ही पढ़ती है? साधारण जनता को अधिक अवसर क्यों दिया जाय, जब वह शेक्सपीयर का अध्ययन या आकाश के तारों की ओर निहारकर गंभीर चिन्तन नहीं करती? बात तो यह नहीं है, उन्हें जितना अधिक अवसर मिलेगा वे उतना ही फिजूल के कामों में उसे बिता देंगे। हम जिसे पाश्चात्य सभ्यता कहते हैं, उसकी व्यर्थता के सम्बन्ध में पाश्चात्य मनीषियों में प्राय: मतभेद नहीं है। देख सुनकर हमारी भी धारणा हो गई थी कि संस्कृति नामक वस्तु वास्तव में थोड़े से लोगों के भोग की चीज़ है, साधारण जनता में उसे फैलाने की चेष्टा सफल हो ही नहीं सकती।

हमारी—अर्थात् सारी दुनियाँ की समस्त मानव जाति की—धारणा को ग़लत साबित कर दिया है सोवियत् यूनियन ने। दुनिया के प्रत्येक कवि और मनीषी को मुक्तकंठ से सम्बोधन करके उसने कहा है—'हताश मत हो, मित्र इधर देखो।' और इस बात को मानना ही पड़ेगा कि सोवियत् देश की ओर देखने से हमारे हृदय में निराशा का कोई स्थान नहीं रह जाता; इस पागल दु:खग्रस्त दुनियाँ में नवीन आशा की गौरवमयी मूर्ति हमें वहीं दिखाई पड़ती है! सोवियत् देश में एक भी निरक्षर आदमी नहीं है। जिस देश में अशिक्षा प्राय: भारतवर्ष सी ही सीमाहीन थी, वहां इतने थोड़े दिनों में यह जन्मान्तर कैसे सम्भव हुआ, इस बात को हम सोच भी नहीं सकते। फिर भी मैं कहूंगा कि यह बहुत बड़ी बात नहीं है, क्योंकि ब्रिटेन, जर्मनी, जापान, अमरीका आदि देश शिक्षा आंकड़ों में सोवियत् देश से कुछ ही पीछे हैं। इसके साथ दिखाई पड़ती है सोवियत् यूनियन में संस्कृति के पुनर्जीवन की कहानी साहित्य, चित्र, स्थापत्य, संगीत, नाट्यकला, रेडिओ, फिल्म आदि तक में। नवीन जीवन का उल्लास देश के कोने कोने में फैल गया है, विशाल जनसंख्या की शाखा प्रशाखा में। इस आनन्द यज्ञ का आह्वान सुदूर प्रान्तों में भी पहुँचा है। किर्गिज़ जिनका दो दिन पहले नर हत्या ही पेशा था, आज वे संस्कृति की दौड़ में आगे हैं। तातारों को अब कौन कह सकता है कि यही उस दिन के दुर्धर्ष डाकू हैं। रूस की संस्कृति की दौड़ में सम्मिलित हुए हैं आर्मेनी, आज़ुर्बाइजान उज़बेकिस्तान के वे नरनारी, जिनका जीवन एक दिन एशिया के अंधकार में ढका हुआ था। इस दौड़ में आई हैं महिलाएं और—सबसे अचरज की बात है कि इस मैदान में वे राष्ट्र की कर्णधार भी हैं। और यह अन्तिम घटना आश्चर्यजनक इसलिए है कि आधुनिक पाश्चात्य देशों में राष्ट्र के साथ संस्कृति का कोई प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं है, संस्कृति की रक्षा तथा विकास में राष्ट्र की जिम्मेवारी है, यह बात किसी आधुनिक राजनैतिक मतवाद में नहीं आती है। प्राचीनकाल में यह दायित्व राजा के मत्थे था। उस समय छोटे छोटे राज्यों तथा मुट्ठीभर शिक्षित समाज में उसका पालन करना असम्भव भी नहीं था। कौन जानता था कि आज के ज़माने में भी कोई राष्ट्र उस कार्य को ग्रहण करेगा, और वह भी सोवियत् यूनियन

जैसा विशाल और विचित्र जन समूहों की आबादी वाला देश। जिस प्रकार धन उत्पादन और वाणिज्य की पूरी ज़िम्मेवारी सोवियत् राष्ट्र पर है, उसी प्रकार शिक्षा और संस्कृति का सारा भार भी राष्ट्र ने अपने ही कंधे पर लिया है। हर एक आदमी के लिए जीविका का यथेष्ट प्रबन्ध करने के लिए वह बाध्य है। प्रत्येक मनुष्य की योग्यता के अनुसार उसे शिक्षित करने, कला का आनन्द प्रदान करने, ज्ञान विज्ञान में अधिकार देने के लिए भी वह बाध्य है। केन्द्रीय राष्ट्र के निर्देशानुसार सब कुछ हो रहा है, पर विभिन्न संघ-रिपब्लिक, स्वायत्त-रिपब्लिक, स्वायत्त जिला या जाति क्षेत्र की स्वतन्त्रता पर रंच मात्र भी हस्तक्षेप नहीं हुआ है। मातृ भाषा ही सब जगह शिक्षा का माध्यम है। रूसी भाषा पढ़ना अनिवार्य नहीं है। सोवियत् यूनियन से जिस देश का बोध होता है उसमें रूसी के अलावा और भी बहुत सी भाषाओं में साहित्य तैयार हो रहा है। उनमें बहुत सी ऐसी भाषाएं भी हैं जिनमें बर्बर बातचीत को छोड़कर और कोई भाव व्यक्त किए जा सकते है, इसकी किसी ने कल्पना भी नहीं की थी।

साहित्य की ही बात लीजिये। सोवियत् यूनियन में प्रत्येक लेखक के लिये औसतन डेढ़ लाख पाठक हैं। और ये लेखक हैं कौन? दारोगा-दफ़्तर या जासूस सीरिज़ के लेखक वे नहीं हैं, या केवल हँसिया हथौड़े की जयजयकार मनाने वाले चारण भी वे नहीं हैं। वे सब समय और सब देशों के महान लेखक हैं। वहां शेक्सपीयर, हाइने, फ्लोबेयर, तल्सतय, दस्तयेवस्कि रोमां रोलाँ, आदि की रचनाओं की खपत के अंक देखकर आश्चर्य होता है। प्रथम पंच वर्षीय योजना के अंत में सोवियत् यूनियन में प्रकाशित पुस्तकों की संख्या इङ्गलैण्ड, जर्मनी और जापान में प्रकाशित पुस्तकों के कुल जोड़ से भी अधिक थी। नाज़ियों द्वारा निर्वासित विश्व विख्यात यहूदी वैज्ञानिक आइन्सटाइन की किताबें इतनी संख्या में शायद और किसी भी देश में नहीं बिकीं, १९२७ और १९३६ के बीच में आइन्सटाइन की ५५,००० किताबें बिकीं। शेक्सपीयर की ३७५ वीं जयन्ती उसके अपने देश में उतनी धूमधाम से नहीं मनाई गई जितनी सोवियत् यूनियन में। १९३५ की बसन्त ऋतु में मास्को में करीब दो लाख लोगों ने 'किंग लीयर' नामक शेक्सपीयर के नाटक को देखा। नन्हे से आर्मेनी संघ में पिछले पाच वर्षों में शेक्सपीयर की ४२,००० प्रतियां बिकीं। तल्सतय के नाटकों को देखने के लिए लोगों की अपार भीड़ हुआ करती है, और वह भीड़ होती है किन लोगों की? जो काम करते हैं (कमकर), उनकी। रूसी साहित्य के महान क्रान्तिकारी साहित्यिक मैक्सिम गोर्की जो आधुनिक समय में जीवित थे, उन्हें सोवियत् सरकार ने जिस तरह सम्मानित किया है, वह इतिहास का एक अमर उदाहरण है। इस बात को विश्वास करने में किसी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए कि गोर्की को यह सम्मान मिला था इसलिए नहीं कि उन्होंने मजदूरों के सम्बन्ध में लिखा है बल्कि उनके असाधारण लेखक होने के कारण। क्रान्ति के बाद सामयिक उत्तेजना की तीव्रता के कारण साहित्य का आदर्श जब खतरे में पड़ गया था, तब सबसे पहले गोर्की ने ही उसका प्रतिवाद किया और उन्हीं के निर्देशानुसार साहित्य और कला को स्वतन्त्रता मिली। विप्लव पूर्व लेखक बुर्जोआ होने के कारण अछूत नहीं समझे जाते। पुश्किन, लारमेण्टव, तल्सतय, दस्तयेवस्की का पुनरागमन हुआ। विदेशी साहित्य का ज्वार भी उमड़ आया। अब मास्को में दुनिया की करीब सभी भाषाओं में पुस्तकें छपती हैं। विदेशी साहित्य का अनुवाद जोरों से हो रहा है। सारी दुनिया के श्रेष्ठ विचारों की धारा देश में बहाने का सोवियत् राष्ट्र का सकल्प है। सोवियत् यूनियन में पुस्तक प्रकाशन का भार भी राष्ट्र पर है। किस साल कितनी किताबें प्रकाशित होंगी, यह भी राष्ट्रीय योजना के अन्तर्गत है। देखा गया है कि प्रकाशित पुस्तकों की संख्या इङ्गलैण्ड या अमरीका से कम होने पर भी मुद्रित प्रतियों की संख्या अनेकों गुना अधिक है, और उसमें भी अधिकाश उत्कृष्ट साहित्य है, क्योंकि वह ज़्यादा-

तर पुराने रूसी साहित्य का पुनर्मुद्रण और श्रेष्ठ विदेशी साहित्य का अनुवाद होता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि समसामयिक सोवियत् लेखकों का अनादर होता है, या उनकी रचनाओं के प्रकाशन की सुविधा कुछ कम है, बल्कि यह बेख़ौफ कहा जा सकता है कि आज ससार के किसी भी देश में लेखक या कलाकार की ज़िन्दगी इतनी स्वतत्र और निःशंक नहीं है जितनी रूस में। दरिद्रता और दुःख में ही प्रतिभा का विकास होता है, पाश्चात्य देशों के इस सस्कार पर सोवियत् सरकार का विश्वास नहीं है। उसने ऐसा इन्तज़ाम किया है जिसमें किसी भी हालत में कलाकार के कभी आर्थिक कष्ट न उठाना पड़े और हाथ का काम जल्दबाज़ी में ख़त्म न करना पड़े और लिखने-पढने, आलोचना, विशेषज्ञों के परामर्श वग़ैरह की जब और जितनी जरूरत होती है, उसे मिलती है। राष्ट्र ही प्रकाशक है, अतएव अपनी किताबों, चित्रों या संगीत से जितनी आमदनी होती है, वह सभी लेखक के मिलती है। किसी किसी कलाकार का उपार्जन इतना अधिक है कि सुनकर अचरज होता है। इसके अलावा मन के लायक घर का इन्तजाम है। साल में एक बार वे सरकारी ख़र्च से किसी स्वास्थ्य-निवास मे रहकर विश्राम कर सकते हैं। वास्तव में लेखक, कलाकार, मनीषियों को सोवियत् राष्ट्र में विशेष सुविधा प्राप्त है।

यहाँ संशयी व्यक्ति प्रश्न करेगा कि क्या इतनी सुविधा पाकर भी शेक्सपीयर और तल्सतय सी प्रतिभा का उदय हुआ है? बुर्जोआ सभ्यता का ऐश्वर्य असीम है, लेकिन उस तुलना का प्रश्न तो उठ ही नहीं सकता। बुर्जोआ सभ्यता कितने शताब्दियों की है और सोवियत्-समाज की स्थापना तो अभी उस दिन हुई है। और सस्कृति को तो शायद बुर्जोआ कहा ही नहीं जा सकता। इतिहास में इसकी धारा निरवच्छिन्न है, नहीं तो आजकल सोवियत् यूनियन में 'बुर्जोआ' लेखकों का प्रताप इतना अधिक क्यों है?*

एक बात और; किसी भी समाज में, किसी भी हालत में प्रतिभावान को फरमाइश से तैयार नहीं किया जा सकता। उसे जब दिखाई पड़ना चाहेगा, तभी वह दिखाई पड़ेगा। हमें देखना चाहिये कि साधारण जनता का सांस्कृतिक स्तर कितना ऊपर उठा? देखना होगा ज्ञान, विज्ञान और कला का सम्मान तथा समादर कितना हो रहा है? सोवियत् साहित्य और कला से मेरा परिचय नाम मात्र है। साहित्य और कला पर वहाँ कोई प्रतिबन्ध है या नहीं, इसे विश्लेषण करने का अवसर मुझे नहीं मिला। परन्तु ऊपर जिस हालत का वर्णन किया है, वह हमारे देश—सिर्फ़ हमारे ही देश के क्यों—किसी भी देश के लेखक, कलाकार और मनीषी के लिये अत्यधिक लोभ की वस्तु है, इसे स्वीकार करने में मुझे सकोच नहीं होता। हम कलाकारगण इस देश में जिस प्रकार का जीवन निर्वाह करते हैं, वह दरिद्रता के कारण सकीर्ण है, अपमान अत्याचार से भरा है, और प्रतिभा के विकास में सहायक नहीं है, बल्कि वह प्रतिभा के अंकुर को दिनों दिन ध्वंस कर रहा है। इस बात को हम सभी भली भांति जानते हैं कि दरिद्रता महान नहीं बनाती, वह तो मनुष्यत्व को भी नष्ट कर देती है। इस सत्य को जिस देश ने कार्यक्षेत्र में, स्वीकार कर लिया है, स्वतंत्र जीवन का अधिकार प्रत्येक मनुष्य का जिस देश ने प्रदान किया है, कलाकार तथा मनीषी के आत्मविकास और आत्म-प्रकाश की परिपूर्णतम सुविधा जिस देश ने दी है, उसका अभिनन्दन करना मनुष्य के नाते हमारा आनन्दमय अधिकार है।

* मेरा अनुरोध है कि साहित्य समालोचक इस बात को याद करलें कि किसी लेखक को 'बुर्जोआ' कहकर वे यह न समझें कि वह कोई नाकाम लेखक है—लेखक

हिंसात्मक बनाम अहिंसात्मक संस्कृति

श्री मेरिक हाड

गत महायुद्ध के साथ साथ शान्तिवादियों की चरचा भी चारों ओर सुनाई देने लगी है। शान्तिवादी यह कहते हैं कि मौजूदा युद्ध दो प्रतिस्पर्द्धी साम्राज्यवादी गिरोहों का युद्ध है। इस युद्ध से जनता को कोई लाभ नहीं। युद्ध की हार जीत में जनता को ज़रा भी दिलचस्पी नहीं। साम्राज्यवादियों का एक दल चाहता है कि सारी दुनिया का वही शोषण करे और दूसरा दल इस शोषण में हिस्सा बटाना चाहता है। शान्तिवादी हम लोगों से कहते हैं कि नैतिक दृष्टि से युद्ध में भाग लेना अहितकर है। युद्ध में शरीक न होकर उसके परिणाम भोगना कहीं अधिक श्रेयस्कर है। वे कहते हैं साम्राज्यवादी अपनी व्यक्तिगत ख्वाहिशों को मातृभूमि की रक्षा के झूठे रंग से रँग कर पेश करते हैं। शान्तिवादियों का एक दल इस युद्ध को धार्मिक दृष्टि से देखता है और कहता है कि युद्ध में शरीक होकर लोग स्वर्ग के राज्य को अपने से वंचित करते हैं। उसका कहना है कि पाप पाप से दूर नहीं होता और घृणा घृणा से नहीं बुझती। स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर ट्रू ब्लड लिखता है कि यदि शान्तिवादी अपने प्रचार में सच्चे हैं और उनमें अनुशासन है तथा वे युद्धवादियों के अत्याचार सहने को तैयार हैं तब यह सम्भव है कि वे ससार को अपने विचारों का बना सकें। अनेक शान्तिवादी यह कहते हैं कि अहिंसात्मक प्रवृत्ति से हिंसात्मक सेनाओं के दिलों को पिघलाया जा सकता है। कुछ शान्तिवादियों का कहना है कि गो विजेताओं को अहिंसात्मक उपायों से फौरन ही अपनी राय का नहीं बनाया जा सकता, किन्तु लगातार कोशिशों के बाद विजेता मे भी अहिंसा की ज्योति जगाई जा सकती है।

मेरी नम्र सम्मति में यह सब भुलावे की बातें हैं। मौजूदा दुनिया मे आधुनिक फ़ौजों को न पर्वत श्रेणियाँ और न महासागर ही रोक सकते हैं। ऐसे राष्ट्र जो अब भी स्वतत्र हैं अहिंसात्मक उपायों मे काम लेने लगें, तो यह सभ्यता की आत्महत्या के बराबर होगा। आजकल बिजली की सी तड़प के साथ फौजी हमले होते हैं। शान्तिवादियों के तरीक़ों की सफलता मे अनन्त काल की ज़रूरत है और मेरा अपना कहना यह है कि यदि उन्हें काफ़ी समय भी दिया जाय, तब भी वे सभ्यता की रक्षा नहीं कर सकते।

ससार की शान्ति अहिंसा से क़ायम नहीं रखी जा सकती। जब तक दुनिया में फरिश्तों का वास नहीं होता, तब तक हिंसा की जरूरत रहेगी। देश की आन्तरिक शान्ति और लोगों को क़त्ल तथा डाके से बचने के लिये शस्त्रों की ज़रूरत होगी। हर समाज में अपराधी होते हैं और ऐसे अपराधियों को दया से अपने बस में नहीं किया जा सकता, बल्कि समाज के फायदे के लिये उन्हें डडे से ही क़ाबू में रखना पड़ेगा। अनेक शान्तिवादियों के अनुसार यदि एक पुलिसमैन के लिये भागे हुये ख़ूनी को गोली मार देना जायज़ है, तब एक सैनिक के लिये सशस्त्र आक्रामक को गोली मारना क्यों जायज़ नहीं? शान्तिवादी इस बात का सीधा जवाब नहीं देते। वे सिर्फ़ यही कहते हैं कि यदि हम निरन्तर युद्ध नहीं चाहते, तो हमें शान्तिवादी उपायों को ही ग्रहण करना चाहिये। उनकी राय में दुनिया के लोग धीरे-धीरे शान्तिवादी उपायों से और परिवर्त्तन ही से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित कर सकते हैं, ऐसी शान्ति जो बिना सैनिक तरीक़ों के हासिल की जाय।

दुर्भाग्य से मानव जाति के इतिहास में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता कि जिससे यह साबित हो कि शान्तिवादी उपायों से दुनिया में शान्ति सम्भव है। जनता ने इसे पूरी तरह कभी नहीं अपनाया।

शुरू के ईसाई और क्वेकर युद्धवादी समाज के बीच में रहने वाले छोटे छोटे दल थे। ईसाइयों के एक दल ने अन्तिम रोमन साम्राज्य पर क़ब्ज़ा कर लिया। किन्तु यह उन्होंने अहिंसा को तिलाञ्जलि देकर ही किया।

एशिया के कुछ हिस्सों में अवश्य इन शान्तिवादी तरीक़ों पर अधिक व्यवहार किया गया है। १९ वीं सदी के चीनी और महात्मा गान्धी के अनुयायी इसके उदाहरण हैं। किन्तु चीनियों और भारतीयों के इतिहास का गम्भीरता से अध्ययन करने पर पता चलेगा कि ये देश भी शान्तिवादी उपायों के लिये पूरी तरह उपयुक्त साबित नहीं हुए।

चीन का ही उदाहरण ले लीजिये। बुद्ध, लाओत्से और कनफ़्युशिअस की शिक्षा में अहिंसा का ज़बरदस्त पुट था और अनेक सदियों तक चीनी जनता का बहुमत अपनी इन महान आत्माओं की शिक्षा के अनुसार सैनिक के काम को अवज्ञा से देखता रहा। नतीजा क्या हुआ? अनेक बार छोटे छोटे सशस्त्र गिरोहों ने चीन पर क़ब्ज़ा कर लिया। लगभग १७ वीं सदी में सशस्त्र तरीक़ों से माचुओं ने चीन को जीता था। यह अक्सर कहा जाता है कि अनेक दृष्टियों से माचुओं की जीत चीन के लिये कष्ट कर साबित नहीं हुई; यानी चीनी जीवन और चीनी सभ्यता पर उसका कोई बुरा असर नहीं पड़ा। यह सही है। पर यह भी सही है कि माचू साम्राज्य के समय में चीनी जीवन गाव का जीवन था। माचू विजेता, जो सख्या में थोड़े थे, उन्हें गाव वालों के मामलों में कोई दिलचस्पी न हो सकती थी। वे उनसे केवल टैक्स वसूल करना चाहते थे। इसलिये चीनी गावों की ज़िन्दगी ज्यों की त्यों क़ायम रही। किन्तु पिछले कुछ वर्षों के अन्दर क्या से क्या हो गया! जापान के साथ इस मौजूदा युद्ध में चीन तेज़ रफ़्तार के साथ 'माडर्न' बनता जा रहा है। वहाँ औद्योगिक कारख़ाने क़ायम हो रहे हैं। गाँवों की आर्थिक प्रणाली की जगह अब राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली ले रही है। जगह-जगह रेलें बिछाई जा रही हैं। सड़कें बनती जा रही हैं। विश्वविद्यालय क़ायम किये गये हैं, जिनमें दूर तथा पास के हज़ारों विद्यार्थी इकट्ठा हो रहे हैं। चीन अख़बार पढ़ने वाला और रेडियो सुनने वाला देश बनता जा रहा है।

ऐसा राष्ट्र जो वैज्ञानिक और आर्थिक तरीक़े पर संगठित हो रहा हो, विदेशी आक्रामकों के आगे सिर नहीं झुका सकता। आजकल की गुलामी का अर्थ है नैतिक, आर्थिक और बौद्धिक दृष्टि से देश के समस्त जीवन का पतन। आजकल के साम्राज्यवादी गुलाम राष्ट्रों के शोषण के तरीक़ों से पूरी तरह परिचित हैं। मचूरिया और कोरिया पर जापान ने अपना यह उद्देश्य पूरा कर लिया है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह जुलाई १९३७ में चीन विजय के लिये निकला।

सौभाग्य से अपने और दुनिया के कल्याण की दृष्टि से चीनियों ने इस हमले का मुक़ाबला करने का निश्चय किया। उन्होंने अपने परिचित अहिंसात्मक उपाय से काम नहीं लिया। वे अपने टूटे-फूटे हथियारों से ही जापानियों से लड़े और आत्मविश्वास के साथ अब भी लड़ रहे हैं। चीन को पूरा भरोसा है कि वे इन खूंख़ार आक्रामकों को अपने देश से बाहर निकाल देंगे।

हिन्दुस्तान की भी समस्या इसी तरह की है, किन्तु चीन की जनता की तरह अहिंसा को यहाँ की समूची जनता ने कभी नहीं अपनाया। अहिंसा हिन्दुस्तान के एक वर्ग का ही शस्त्र रहा है जिसके महात्मा गांधी नेता हैं। किन्तु हाल में इण्डियन नैशनल कांग्रेस ने यह ऐलान किया है कि वह बराबरी की हैसियत से युद्ध में भाग लेने को तैयार है, गुलाम की हैसियत से नहीं। यदि इस युद्ध में हिन्दुस्तान हिस्सा नहीं ले रहा है, तो इसका कारण उसकी अहिंसा नहीं है, बल्कि यह कि हिन्दुस्तान आज़ाद नहीं है और आजकल भारत से जो युद्ध में मदद मिल रही है, वह उसकी मर्ज़ी से नहीं मिल रही है।

जहां तक अमरीका का सम्बन्ध है, यह बड़े सौभाग्य की बात है कि हमें हिन्दुस्तानियों और

चीनियों की तरह अहिंसा की शिक्षा नहीं मिली। इस तरह की शिक्षा का व्यावहारिक दुनिया से कोई सम्बन्ध नहीं है।

मानव जाति का इतिहास सभ्यता के इतिहास की तरह ही है। अनेक निर्बल सभ्यताएं दुनिया से मिट गई और अपने बाद अपना चिन्ह छोड़ गई हैं, जो पुरातत्ववेत्ताओं के लिये केवल खोज के विषय हैं। बाबुल, मिस्र, असुरिया आदि के खंडहर और युगतान के माया मन्दिर इसके उदाहरण हैं।

जिस तरह पिछले महायुद्ध के बाद शान्तिवादियों को किसी तरह की सफलता नहीं मिली, उसी तरह आज भी उन्हें असफलता ही मिलेगी। सभ्यता की रक्षा शान्तिवादी तरीक़ों से नहीं हो सकती। सभ्यता की रक्षा तलवार से ही, हिंसा से ही हो सकती है। अहिंसा से सांस्कृतिक दुनिया को बचाने में सफलता कभी न मिलेगी। हिंसा से ही सांस्कृतिक दुनिया को बचाया जा सकता है। हमारी तलवार शांतिवादियों को भी रक्षा करेगी और उनको इस बात का मौक़ा देगी कि वे अहिंसा का प्रचार करें। सभ्यता आज इसीलिये क़ायम है कि उसका बहुमत शान्तिवादी उपायों को अवज्ञा से देखता है और हिंसा के आधार पर ही मानव संस्कृति की रक्षा करना चाहता है।*

गीत

श्री गोपीकृष्ण

मौन स्वरों में पत्थर बोला,
मानव, तू सुन भी पाया क्या ?
"वह जो तुझसे प्रीत निभाता,
तू जीवन को सफल बताता,
तूने भला किया कब, किसका
और निबाहा किससे नाता,
स्वर्ग धरा पर माँग रहा है,
पर देने को तू लाया क्या ?
"वह कल था, इतना क्या कम है,
आज नहीं है तो क्या दुःख है!
याद दिलाने को दीवारें हैं,
इतना क्या थोड़ा सुख है!
झरें वृक्ष के मीठे फल यदि—"
मधुर नहीं तरु की छाया क्या!
मैंने समझ देव पत्थर में—
पत्थर पूजा, शीष झुकाया,
कलि मुरझाई, गई चढ़ाई,
दीप बुझा जो गया जलाया,
प्रथम उसी दिन पत्थर बोला—
'क्यों! तेरा मन भर आया क्या'!

---

* विचार स्वातंत्र्य के नाते ही हम श्री डाउ का यह लेख छाप रहे हैं—सम्पादक

सिख साम्राज्य की एक झांकी

सर शफ़ात अहमद खां

१९वीं सदी के भारतीय इतिहास में जिन व्यक्तियों की छाप पड़ी है, उनमें रणजीत सिंह का नाम प्रमुख है। रणजीत सिंह असीम प्रतिभाशाली शासक था। उसकी दिमाग़ी शक्ति ग़ज़ब की थी। ज़िन्दगी के विविध पहलुओं से उसकी हमदर्दी मे ही उसकी सफलता का रहस्य है। कैम्प में, दरबार में, खेल कूद में, शिकार में हर जगह वह एक-सा रहता था। उसका शानदार दरबार सैनिकों के जीवन मे वे सब लुत्फ़ पैदा कर देता था, जो संस्कृति और तहज़ीब के लिये सम्भव था। यदि खुशदिल और आरामपसन्द लोग उसे अमन चेन का जीवन बिताने वाला समझते, तो सैनिक उसे सभ में महान सेनापति के रूप में देखते जिसने ख़ालसा सेना के हाथों में विजय का झण्डा दिया। धर्मभीरु लोग उसे ख़ालसा सम्प्रदाय का महान नरेश समझते कि जिसकी नम्रता और धार्मिकता ने अकालियों तक के हृदय को जीत लिया था। बग़ैर अत्युक्ति के यह कहा जा सकता है कि वह अपनी जाति के महान से महान गुणों का मूर्तरूप था और ख़ालसा लोगों ने तो उसमें शौर्य का अवतार ही देखा।

रणजीत सिंह के ज़माने में राज्य की समस्या ख़ास तौर पर व्यवस्था और शासन की समस्या थी। अत्याचार और अन्याय को रोककर योग्य व्यक्तियों को उन्नति का पूरा मौक़ा देना यही उस समय के शासक का कर्तव्य था। इस कसौटी को ध्यान में रखते हुए रणजीत सिंह का शासन पूरी तरह सफल था। सर हेनरी लारेन्स सन् १८४४ में प्रकाशित अपनी एक पुस्तक—'पैसेजेज़ इन दी लाइफ आफ एन एडवेञ्चरर इन दि पञ्जाब' में लिखता है—"रणजीत सिंह के शासन ने हर एक को उम्मीदें दिलाईं, लोगों के हौसले बढ़ाये और राज्य के अनुचरों को उसने मुस्तैद बनाया।" रणजीत सिंह को बेहद अनुभव था। शासन सम्बन्धी छोटी से छोटी बात पर भी वह धैर्य के साथ ध्यान देता था। पेचीदा हिसाब उसे इस तरह ज़बानी याद रहते थे कि लोग सुनकर दङ्ग रह जाते थे। यूं तो समझा जाता है कि एक व्यक्ति का शासन सुचारु नहीं हो सकता, किन्तु रणजीत सिंह ने सिख राज शासन को पूरी तरह केन्द्रीय बनाकर भी उसकी व्यवस्था को जौ भर बिगड़ने नहीं दिया। उसका राज्य शासन सफल राज्य शासन था। माल के मुहकमे में तो उसे ग़ज़ब की कामयाबी मिली, किन्तु दीवानी मुहकमे में दक्ष अफ़सरों के अभाव के कारण समस्त मुहकमों को अच्छी तरह एक सूत्र मे नहीं पिरोया जा सका। यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि जो जाट उस समय पंजाब पर हुकूमत कर रहे थे वे ख़ास तौर पर सैनिक थे। अपने राज्य की सीमाएं बढ़ाना उनका ख़ास लक्ष्य था, इसीलिये वे हुकूमत की पेचीदगियों में उतना वक़्त नहीं दे सकते थे।

ख़ालसा सत्ता प्रधानतः सैनिक सत्ता थी। फ़ौजी ज़रूरतें बहुधा शासन की ज़रूरतों के ऊपर हावी हो जाती हैं। उन्होंने एक हुकूमत क़ायम की थी। अफ़ग़ानों को उन्होंने पंजाब की सीमा से निकालकर बाहर कर दिया था और अनेक ज़िले, शहर और सूबे अपने मातहत कर लिये थे, जो शिक्षा, संस्कृति और आर्थिक दृष्टि मे एक दूसरे से बिलकुल भिन्न थे। इन सब विविध टुकड़ों को जो इसमे पहले हमेशा एक दूसरे मे लड़ा करते थे, एक में जोड़कर उनमें एकता और अखण्डता क़ायम करना एक कमाल का काम था। असंख्य आत्म निर्भर और स्वतंत्र व्यक्तित्वों को मिलाकर केन्द्रीय शासन सृजन करने का काम रणजीत सिंह के लिये आसान न था, किन्तु रणजीत सिंह की असाधारण क्षमता के कारण

ये समस्त विरोधी शक्तियां एक हुईं, इनमें राष्ट्रीयता का भाव जागा और बाहर के हमलों से बचने के लिये इनमें जागरूकता पैदा हुई। जन साधारण के अन्दर न तो धार्मिक मतभेद थे और न धार्मिक एकता, मगर उनका बटवारा मज़हबी बिना पर न था। सारी आबादी फौजी और ग़ैर फौजी टुकड़ों में बट गई थी। फ़ौजी अपने को समाज का विशिष्ट अङ्ग समझने लगे। हुकूमत पर अपने अनन्याधिकार की बात वे सोचने लगे। किन्तु बाद में राज्य की एकता पर इसका भयङ्कर असर पड़ा। रणजीत सिंह अपनी असाधारण क्षमता से अपने सैनिकों और सूबेदारों को अनुशासन में रखता था। रणजीत सिंह की मृत्यु होते ही सैनिक अनुशासन और नियत्रण से स्वतन्त्र हो गये। रणजीत सिंह ने जागीरदारों की ताक़त को तोड़ दिया था और पंजाब के हर हिस्से में अपना अनन्य प्रभुत्व कायम किया था, किन्तु फिर भी वह सेना को राज्य शासन के मातहत करने में असफल रहा और पंजाब को इसके लिये बड़ी ज़बर्दस्त क़ीमत चुकानी पड़ी। सिक्खों की आध्यात्मिक और धार्मिक भावना सैनिक भावना के अन्दर परिवर्तित हो गई और इस सैनिक भावना ने सिक्खों की संस्कृति में ही आमूल परिवर्तन कर दिये। जागीरदारी प्रथा छद्मवेश में अपना असर क़ायम करती रही और रणजीत सिंह की मृत्यु के बाद ही वह सैनिक समाज में अभिजात्य बन गई। लोग इन सैनिक जागीरदारों के झण्डे के नीचे ख़ुशी ख़ुशी आकर इकट्ठा होने लगे और धर्मभक्ति और देशभक्ति की जगह व्यक्तिभक्ति की शपथ खाने लगे। इन जागीरदारों ने अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये सीधे सादे किसानों का ख़ूब शोषण किया और थोथे नारों के बहाने उन्हें चकमा दिया। ख़ालसा का जनतन्त्र नष्ट होकर निरंकुश जागीरदारी प्रभुत्व क़ायम हो गया। यदि रणजीत सिंह अक्षुण्ण सिख शासन क़ायम करने में असफल रहा, और यदि रणजीतसिंह के मरते ही सिख साम्राज्य फ़ौरन बालू की भीत की तरह गिर पड़ा तो उसके लिये अपराधी उसके उत्तराधिकारी हैं कि जिनमें न तो शक्ति ही थी और न उद्योगीवृत्ति ही और जो न छोटी छोटी बातों से ऊपर ही उठ सके।

रणजीतसिंह ने सिखों के अन्दर न केवल बहादुरी से भरी हुई आत्म रक्षा की भावना को ही जाग्रत किया बल्कि उनके अन्दर ऐसे आक्रामक साम्राज्यवाद की भावना जाग्रत की जिस भावना को व्यापक रूप देने के लिये सिखों को अपनी समस्त कार्यशील शक्तियों को अमली रूप देना पड़ा। रणजीतसिंह ने विरोधी और विपरीत अवयवों को मिलाकर उनसे सृजन का काम लिया। उसने शासन की एक ऐसी प्रणाली ईजाद की जो क्षणिक काल के लिये तो बेहद कामयाब रही, किन्तु उसके अन्दर वह लचीलापन नहीं था जो उसे हर परिस्थिति का मुक़ाबला करने के योग्य बनाता। उसने मुग़ल शासन प्रणाली का, जो अठारहवीं सदी की पेचीदगियों के बीच भी काम देती रही, बहिष्कार करके उसकी जगह अपनी परिस्थिति के अनुकूल काम चलाऊ शासन प्रणाली क़ायम की। सिखों को अपनी ज़िन्दादिली के सामने हर चीज़ आसान दिखाई देती थी और उस समय तक पतन की सीमा भी दूर थी। थोड़े ही अरसे के अन्दर उन्होंने जो काम कर दिखाया वह सचमुच आश्चर्यजनक था और यदि रणजीतसिंह के बाद उसकी जगह कोई योग्य शासक गद्दी पर बैठा होता तो सिख साम्राज्य, जो इतनी शक्ति लगा कर क़ायम किया गया था, मुमकिन है बहुत दिनों और चलता।

रणजीतसिंह की योग्यता उसकी दिमाग़ी महत्ता और कल्पनाशक्ति के ऊपर निर्भर थी। उसकी कल्पनाशक्ति उसके समकालीन लोगों की अपेक्षा उसे अधिक दूर ले गई और उसने लोगों के दिमाग़ और स्वभाव को ध्यान में रखते हुए अपना राजनैतिक कार्यक्रम गढ़ा। सहज बुद्धि, मानव भावना, सहानुभूति और जनता के प्रति असीम विश्वास ने रणजीतसिंह को हिन्दुस्तान के बड़े से बड़े निर्माणकारों में स्थान दिया है। उसके कार्य, उसके युद्ध, उसकी शक्तिमत्ता, उसकी शासन सञ्चालन की विधि

आदि चीज़ों का भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों को गम्भीरता से मनन करना चाहिये। उसका सफल जीवन प्रत्येक भारतीय के लिये एक प्रोत्साहन की वस्तु है। उसका लम्बा और सुखी शासन और उसका सफल सैनिक कार्यक्रम आज भी राजनीति के विद्यार्थियों के लिये अध्ययन की सामग्री है।

वसंत

श्री गंगाप्रसाद पांडेय

नव-वसंत की साँझ सुनहला सुन्दर सा आकाश !
एक वर्ष के बाद हर्ष फिर
वन्य-प्रकृति में छाया,
अलियों ने कलियों का—
चुम्बन एक बार फिर पाया,
रोम-रोम को पुलकित करता बहता मलय वतास !

निर्झरे, झरे, सुमन तरु लहरे
कोयल मधु-स्वर गाती,
रंग-बिरंगे फूलों से मिल
तितली फिर इठलाती,
सुख-दुःख का परिचित परिवर्तन जीवन का इतिहास !

किन्तु करुणा कितनी मानवता
ममता लिये अथाह,
'बिछुड़े, जुड़े न फिर जीवन में
भरना केवल आह,'
क्या मानव के इस जीवन का दुःख ही चरम विकास !

स्रष्टा की इस स्नेह-सृष्टि में
मानव सबसे सुन्दर,
अपनेपन की चेतनता से,
आकुल उसका अन्तर,
इसीलिये मैं पुलकित हो होकर भी आज उदास !
नव-वसंत की साँझ सुनहला सुन्दर सा आकाश !

संसार की नव-व्यवस्था

श्री शङ्कर गणपतराव कोकने

पिछले दिनों न्यूयार्क में जो अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर सम्मेलन हुआ, उसमें संसार की आगामी नव-व्यवस्था, सामाजिक न्याय और युद्ध के बाद के निर्माण को लेकर काफ़ी चरचा हुई। वहाँ जो विचार व्यक्त किये गये, उनसे हमें गत महायुद्ध के ज़माने के बुलन्द नारों और राष्ट्रपति विलसन की १४ शर्तों की याद आ गई। पिछले महायुद्ध को जनतन्त्र के लिये लड़ा जाने वाला युद्ध कहा गया था, और हमें बताया गया था कि वह युद्ध स्वतन्त्रता का युद्ध था। किन्तु बीस वर्ष का शान्तिमय जीवन भी हमें उस उद्देश्य के एक इंच निकट नहीं ले गया। इसके विपरीत आज सारा का सारा संसार एक महान भयानक युद्ध में—ऐसे युद्ध में जो पिछले युद्ध से दस गुना भयकर है, फंसा है। गत महायुद्ध के बाद का इतिहास मित्र राष्ट्रों द्वारा घोषित सुन्दर भावनाओं का काला इतिहास है। नरक का मार्ग इसी तरह की घोषणाओं से जड़ा हुआ है. महज़ इन भावनाओं के दुहराने से ही संसार का कल्याण नहीं हो सकता। जब तक लड़ाई के बाद किसी अन्य उद्देश्य को जहा तक सम्भव हो शीघ्र व्यावहारिक रूप नहीं दिया जाता, तब तक अटलांटिक की इस सुन्दर घोषणा का भी विलसन की १४ शर्तों की तरह ही अन्त होने की सम्भावना है। वार्साई के सन्धि-गृह में बैठकर विलसन ज़बरदस्त प्रयत्न करने पर भी मित्रराष्ट्रों के बदले की भावना और उनके लोभ को दबाने में असफल रहा। विलसन हारा हुआ, धोखा खाया हुआ और निराश होकर अमरीका लौटा था। शान्ति और समृद्धि से भरे हुये संसार के नव-निर्माण का उसका सुनहला स्वप्न टुकड़े-टुकड़े हो गया था। आज हमारी आखों के सामने जो दूसरा दुखान्त नाटक हो रहा है, उसके भी पिछले ही नाटक की तरह अन्त होने के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। सिर्फ अन्तर यही है कि राष्ट्रपति विलसन की जगह राष्ट्रपति रूजवेल्ट लड़ाई के बाद के नव-निर्माण के सम्बन्ध में अपने पूर्वाधिकारी की अपेक्षा कहीं अधिक दृढ निश्चयी दिखाई देते हैं। मुमकिन है उनके इस निश्चय में दुनिया की स्वतन्त्रता और शान्ति की नव-व्यवस्था तथा सामाजिक न्याय की सम्भावना निहित हो।

नव व्यवस्था को लेकर अनेक तरह की बहसें चल रही हैं। धुरी राष्ट्र यूरोप में नव व्यवस्था क़ायम करना चाहते हैं। जापान सुदूर पूर्व में नव-व्यवस्था कायम करना चाहता है और मित्र राष्ट्र हिटलरवाद के नाश के बाद एक उत्तमतर संसार बनाने की कल्पना कर रहे हैं। सारा संसार इस समय शान्ति और समृद्धि के नव युग के जन्म की वेदना के बीच से निकल रहा है।

यह शान्ति और समृद्धि कैसे प्राप्त हो?

जब तक हम दुनिया के पिछले दो तीन सौ वर्षों के इतिहास पर नज़र न डालें तब तक इस प्रश्न का समुचित उत्तर नहीं दे सकते। मशीनों के आविष्कार ने संसार के अन्दर एक नई समस्या पैदा कर दी है। यातायात के साधन बढ गये हैं और मशीनों के द्वारा बड़ी मिकदार में चीजों की पैदावार बढ गई है। परिणामस्वरूप राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीवाद के विकास और आर्थिक तथा राजनैतिक साम्राज्यवाद की अवहेलना कर हम संसार की नव व्यवस्था पर उचित राय कायम नहीं कर सकते।

ब्रिटेन और फ़्रांस औपनिवेशिक क्षेत्र क़ायम करने की दौड में सबसे पहले मैदान में आये और १९ वीं सदी के अन्त तक अफ्रीका, एशिया और प्रशान्त महासागर के द्वीपों में ये बड़े-बड़े साम्राज्य

के स्वामी बन गये। पिछली सदी का इतिहास, पूर्वी राष्ट्रों के ऊपर यूरोप के प्रभुत्व का इतिहास है। वह पश्चिमी शक्तियों के औपनिवेशिक सत्ता क़ायम करने का कलुषित इतिहास है। फ्रांस और ब्रिटेन को अपने औपनिवेशिक साम्राज्य के ऊपर नाज़ है। उन पर शासन करना वे अपना जन्म-सिद्ध अधिकार मानते हैं। उनके ये साम्राज्य अफ्रीका और आस्ट्रेलिया निवासियों के खून से तर हैं। ब्रिटेन की साम्राज्य-लिप्सा ने भारत के ४० करोड़ निवासियों को ग़ुलाम बनाया है। जब ब्रिटेन और फ्रांस के राजनीतिज्ञ हिटलर पर गुस्सा उतारते हुये कहते हैं कि नाज़ी अन्याचार की चक्की एक के बाद एक यूरोप के राष्ट्रों की स्वाधीनता को पीस रही है, तब एक निष्पक्ष दर्शक को यह बात दिखाई देती है कि जिन तरीकों से यूरोप के साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने अपने उपनिवेशों को क़ायम किया था, वही तरीके अब भस्मासुर के वरदान को तरह उनके ऊपर उलट पड़े हैं। श्री नार्मन लीज़ के शब्दों में—"जर्मनी के कलुषित कुकृत्य की तुलना में हम अंग्रेज़ और फ्रांसीसी दूध के धुले हुये मालूम होते हैं, किन्तु बारीकी से देखने पर, मिसाल के तौर पर, लेओनर्ड की पुस्तक बताती है कि हमारी चादर में भी धब्बा है और उसमें यहाँ वहाँ ख़ून के निशान हैं।

महायुद्ध के पहले जनरल वान एप के अनुसार ब्रिटिश साम्राज्य ब्रिटेन का १०५ गुना बड़ा, बेलजियम साम्राज्य बेलजियम से ८० गुना बड़ा, हालैंड का साम्राज्य हालैण्डसे ६० गुना बड़ा और फ्रांस का साम्राज्य फ्रांस से २२ गुना बड़ा था। किसी तरह का भी प्रचार इस बात को नहीं छिपा सकता कि इन लम्बे चौड़े साम्राज्यों का ये राष्ट्र अपने स्वार्थ के लिये शोषण नहीं करते। ये बड़े-बड़े साम्राज्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और दुनिया की शान्ति के लिये ज़बरदस्त ख़तरा साबित हो रहे हैं। ये साम्राज्य हिंसा या हिंसा की धमकी से क़ायम किये गये हैं। वान एप द्वारा बताये हुये आँकड़े स्वयं ही अपनी कहानी कहते हैं। अब बताइये इस कैफ़ियत के होते हुये ब्रिटेन अन्य राष्ट्रों पर कैसे नैतिक असर डाल सकता है? जिन मुल्कों के पास इस तरह के साम्राज्य नहीं हैं और जो एक शताब्दी बाद ही सही, अपने लिये इस तरह के साम्राज्य गढ़ने निकले हैं, उन पर ब्रिटेन का कैसे असर पड़ सकता है? साम्राज्य की लालसा ने आज यूरोप को अपने पाश में जकड़ रक्खा है। साम्राज्य की इसी प्रतिस्पर्द्धा ने दो युद्धों को जन्म दिया। एक पिछला महायुद्ध और दूसरा पिछले महायुद्ध से भी अधिक भयंकर वर्तमान महायुद्ध। जब तक साम्राज्यवाद की भावना यूरोपीय मुल्कों में बनी रहेगी, तब तक इस तरह के युद्ध की ज्वालामुखी साम्राज्यवादी और साम्राज्यहीन राष्ट्रों के बीच फूटती रहेगी।

किन्तु क्या किसी मुल्क की समृद्धि के लिये उपनिवेशों और साम्राज्यों की ज़रूरत है? बहुत से ईमानदार अंग्रेज़ मुमकिन है यह सोचते हों कि साम्राज्य द्वारा प्राप्त सुविधाओं पर ही उनका सुख और समृद्धि निर्भर है। फ़र्ज़ करिये इसमें सचाई है, किन्तु आज ऐसे अंग्रेज़ के सामने दो बातों में से एक चुनने का प्रश्न खड़ा हो गया है। वे या तो अपने साम्राज्य पर दख़ल बनाये रहें और हर पीढ़ी के बाद अपने यहाँ के सपूत युवकों को युद्ध क्षेत्र में तोपों के सामने बलि देते रहें, या फिर दुनिया में शान्ति और स्वतंत्रता क़ायम करें और हर राष्ट्र के अन्दर यह भावना पैदा करें कि वह खुद भी ज़िन्दा रहे तथा दूसरों को भी ज़िन्दा रहने दे। यदि दुनिया में शान्ति और नव व्यवस्था क़ायम करनी है, तो इसके लिये बहुत बड़ी क़ीमत चुकानी पड़ेगी। सारे साम्राज्य भग करने पड़ेंगे और ग़ुलाम राष्ट्रों को आज़ाद करना होगा। मुमकिन है कि यह क़ीमत बड़ी मालूम होती हो, किन्तु इससे जो लाभ होगा, उसे देखते हुये यह क़ीमत हरगिज़ बड़ी नहीं है। साम्राज्यवाद व्यक्तिगत पूंजीवाद को जन्म देता है और पूंजीवाद व्यक्तिगत मुनाफ़े की भावना को जन्म देता है। साम्राज्यों को भङ्ग होने से रोकने के लिये पूंजीपति ज़मीन आसमान एक कर देंगे। उनके निकट साम्राज्यों को

भङ्ग करने का अर्थ होगा अपने माल की बिक्री के बाज़ारों को, कच्चा माल प्राप्त करने की सुविधा को और बड़े-बड़े मुनाफों को खो देना। दुर्भाग्य से हर साम्राज्यवादी मुल्क पर पूँजीवादियों की टोली हकूमत करती है और ये लोग शान्ति के हर प्रयत्न की जड़ काट देते हैं, किन्तु मज़दूरों का इसी में हित है कि वे देश के लाभ को व्यक्तिगत लाभ की जगह दें। सुख और शान्ति हर मुल्क के क़दमों पर है, यदि पैदावार को समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार सगठित कर लिया जाय, तो शान्ति और समृद्धि हर मुल्क की मुट्ठी मे है। यदि विज्ञान ने इन्सानों की हत्या करके आश्चर्यजनक सफलता पाई है, तो उसे मानवता के लाभ के लिये भी इस्तेमाल किया जा सकता है। साम्राज्यवादी राष्ट्र अपने साम्राज्य को खोकर भी नुकसान में नहीं रहेंगे। मुमकिन है लोग यह कहें कि इतना बड़ा परिवर्तन ज़िन्दगी और मौत में लगे हुये इस युद्ध के समाप्त हुये बगैर न हो सकेगा और बीच धार मे नाव बदलना मूर्खता है। किन्तु जब हम देख रहे हैं कि नाव हमें उस पार नहीं पहुँचा सकती; क्योंकि उसके पेंदे मे एक बड़ा सा छेद हो गया है इस स्थिति में भी दूसरी नाव न बदलना बड़ी भारी हिमाकत है। ज़रा कल्पना तो कीजिये कि यदि सारे यूरोप मे समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार व्यवस्था की घोषणा करके फिर जर्मनी के मज़दूरों से हिटलरी व्यवस्था को तोड़ फेंकने की अपील की जाय, तो सारे यूरोप के मज़दूरों के दिलों मे किस तरह उत्साह की बिजली दौड़ जायेगी! क्या हिटलर ने स्वयं एक बार नहीं कहा था कि यदि ब्रिटेन भारत को स्वराज्य दे दे, तो वह ब्रिटेन के क़दमों पर सिर रख देगा। क्या हिटलर की इस घोषणा का ब्रिटिश सरकार ने अब तक कोई जवाब दिया है? हिटलर के इस वक्तव्य के सामने अंग्रेजों के सारे बयान और उनकी लफ्फाज़ी, चेम्बरलेन, अमेरी, और चर्चिल की सारी घोषणायें फीकी पड़ गईं। यदि ब्रिटिश सरकार समाजवादी व्यवस्था की घोषणा करते हुये भारत को स्वतन्त्र होने का अधिकार दे देती, जिस तरह कि उसने अपने दूसरे उपनिवेशों को दिया है; यदि दक्षिणी अफ्रीका मे एक सच्चा जनतन्त्र कायम हो जाता, जिसमें वहाँ के ४०–५० लाख बाशिन्दों को भी यूरोपियनो के मुकाबले में बराबरी का दर्जा मिल जाता, तो दुनिया के दृष्टिकोण मे कितना आश्चर्यजनक परिवर्तन हो जाता? क्या हम इस बात की कल्पना नहीं कर सकते कि ऐसा होने पर इस महायुद्ध मे मानव शक्ति की बरबादी और यह हत्याकाण्ड रुक जाता। शासन की नीति से यदि शोषण प्रणाली अलग कर दी जाय, तब क्या सारा संसार एक ही कुटुम्ब की तरह न हो जाय? असली ज़रूरत इस बात की है कि हमारे दिल और हमारे सोचने के तरीक़े बदलें।

किन्तु क्या साम्राज्यवादी जनतन्त्र इस परिवर्तन के लिये तैयार है?

हिन्दू ला और हमारी सांस्कृतिक प्रगति

सर सीताराम एस. पाटकर, रिटायर्ड जज, हाईकोर्ट, बम्बई



अदालतों में हिन्दुओं के लिये सामाजिक मामलों और जायदाद के सम्बन्ध में जो क़ानून व्यवहार में आता है उसके आधार हैं (१) श्रुति, (२) स्मृति, (३) टीका और व्यवस्था तथा (४) रीतिरिवाज। हिन्दू ला का मुख्य स्रोत है 'स्मृति' अर्थात् धर्मशास्त्र और टीकाएं। इनके अतिरिक्त नज़ीर के तौर पर अदालत के पिछले फ़ैसले, और हाल के क़ानूनी सुधारों को भी काम में लाया जाता है। ब्रिटिश भारतीय शासन के शुरू में न्यायाधीश हिन्दू और मुसलमान ला अफ़सरों से इस बात की पूछताछ करते थे कि वे विविध मुक़दमों मे अपने-अपने धर्म व मजहब की व्यवस्था अथवा शरीयत बतायें। ये अफ़सर अदालतों को विविध मुक़दमों मे अपनी सलाह देते रहते थे, किन्तु इस तरीक़े से काम नहीं चला और आगे चलकर यह तरीक़ा छोड़ दिया गया।* न्यायाधीशों को अपने फ़ैसलों के लिये स्मृतियों के अनुवाद पर निर्भर होना पड़ता था। बहुत सी अनेक स्मृतियों में बाद में इधर-उधर की चीज़ें जोड़ दी गई हैं। अनुवाद भी बाज़ दफा ग़लत होते थे। वे मौलिक व्यवस्थाओं के साथ मेल नहीं रखते थे। बहुत से न्यायाधीश संस्कृत भाषा नहीं जानते थे और मूल स्मृतियां संस्कृत में ही लिखी गई हैं।

हिन्दू ला को ठीक ठीक समझने में अनेक दिक्कतें थीं। हाईकोर्ट के फ़ैसले या तो, हाईकोर्ट की फ़ुल बेंच उलट सकती है या प्रीवि कौंसिल। बम्बई हाईकोर्ट में पहले यह प्रथा थी कि हिन्दू ला के मुक़दमों में हाईकोर्ट की ही अन्तिम राय होती थी; किन्तु प्रीवि कौन्सिल ने बाद में बम्बई हाईकोर्ट की इस प्रथा को रद्द क़रार दिया और यह फ़ैसला किया कि प्रीवि कौन्सिल का फ़ैसला ही इस सम्बन्ध मे उस समय तक अन्तिम फ़ैसला होगा, जब तक कि व्यवस्थापिका सभा उन क़ानूनों में कोई परिवर्तन न करे।

अंग्रेज़ी सत्ता के प्रारम्भ होने से पहले स्मृतियों के व्यवस्थाकार हर क्षण बदलते हुये ज़माने को ध्यान में रखकर अपनी व्यवस्था देते थे। इस तरह हिन्दू ला की व्यवस्था में समय समय पर परिवर्तन होते रहते थे। ये परिवर्तन मूल स्मृति को ध्यान में रखते हुये किन्तु समाज के बदले हुये रूप को देखकर ही किये जाते थे। किन्तु अब ब्रिटिश न्यायालयों के फ़ैसलों को ही अन्तिम नज़ीर मान लिया जाता है। इसी कारण हिन्दू ला की प्रगति रुक गई है। हिन्दू स्मृतियों का निर्माण समाज की उस व्यवस्था को

* See Regulation (1) of 1827, section 27 repealed by Bombay Act IV of 1869.

देखकर हुआ, जो व्यवस्था आज से बिलकुल भिन्न थी। इसीलिये स्मृतियों की मौलिक व्यवस्था हमारी आज की सामाजिक प्रगति के साथ खपती नहीं।

पुराने जमाने में हिन्दू समाज में सम्मिलित कुटुम्ब ही समाज की इकाई थे। व्यक्ति की उस समाज में स्वतन्त्र सत्ता नहीं थी। परिवार में 'कर्त्ता' ही पूरे परिवार का एकछत्र स्वामी होता था। सर हेनरी मेन ने लिखा है कि समाज का यह संगठन हिन्दू और रोमन ला में एक-सा था और चल तथा अचल जायदाद, बीबी, बच्चे, दास, दासी, खेती बाड़ी और दूसरी चीज़ों पर कुटुम्ब के पुरुष अधिपति का, चाहे वह पिता हो, बाबा या पड़ बाबा हो, सम्पूर्ण अधिकार होता था। जो बच्चे गोद लिये जाते थे, वे भी उस परिवार के अंग हो जाते थे और उन्हें अपने असली माँ-बाप के साथ सारा सम्बन्ध त्यागना पड़ता था। क़ानूनन वे अपने परिवार के लिये मृतक के समान थे।

किन्तु हिन्दू सम्मिलित परिवारों की अब वह स्थिति नहीं रही। बँटवारे आदि के कारण अब प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों पर जोर देने लगा है। समाज की इकाई अब सम्मिलित परिवार न रहकर व्यक्ति हो गया है। हिन्दुओं की सम्मिलित परिवार की प्रथा समाजवाद के सिद्धान्त पर क़ायम थी। समाज का कोई व्यक्ति अपनी मेहनत से पैसा पैदा करता था और परिवार के सब लोगों का उस पर बराबरी का हिस्सा होता था। सम्मिलित परिवार में पैदा होते ही बालक सम्मिलित परिवार की पूंजी का अधिकारी समझा जाता, था, चाहे बाद में वह अपनी मेहनत से परिवार की दौलत मे एक पैसे की भी वृद्धि न करे। परिवार का कोई व्यक्ति यदि परिवार के धन से पढ़-लिख कर कमाऊ बनता था, तो उसकी कमाई पर भी परिवार का पूरा अधिकार होता था। इस प्रथा का परिणाम यह हुआ कि परिवार के अनेक सदस्य काहदी बन गये और परिवार के कार्यशील व्यक्तियों ने भी सिर खपाकर धन कमाना छोड़ दिया। इस प्रथा में सन १९३० की धारा ३० (The Hindu Gains of Learning Act) के अनुसार सुधार किये गये। यह सही है कि सम्मिलित परिवार से समाज की बेहद वृद्धि हुई। बीमार पैसे के अभाव से मौत का मुंह नहीं देखते थे। लड़के लड़कियों की शादी आसानी से हो जाती थी। किन्तु फिर भी ऐसे सम्मिलित परिवारों का एक तरह से अन्त ही हो गया और जो बचे हैं, वे भी बड़ी तेजी के साथ नष्ट होते जा रहे हैं। हिन्दू सम्मिलित परिवारों को लेकर क़ानून में जो पेचीदगियाँ हैं, उससे समाज के सामने बहुत बड़ी दिक्क़तें पैदा हो गई हैं। सम्मिलित परिवारों के ही कारण बैंक हिन्दुओं को रोज़गार के के लिये कर्ज़ा नहीं देता, क्योंकि बाद में परिवार का कोई भी सदस्य उस क़र्ज़ की ज़िम्मेवारी से इन्कार कर सकता है। यदि हिन्दू परिवारों का प्रत्येक सदस्य स्वतन्त्र होता, तो अपने हिस्से की जायदाद की अमानत पर व्यापार के लिये क़र्ज़ ले सकता था। क़ानून में जरूरी सुधार करके यह सुविधा पैदा की जा सकती है।

हिन्दू ला का दूसरा मौलिक आधार है उसका आध्यात्मिक अंग। हिन्दू ला दीवानी और धार्मिक दोनों क़ानूनों को साथ लेकर चल रहा था। हिन्दू ला के अनुसार क़ानून धर्म का अंग था। आजकल पिण्डदान और श्राद्ध के ऊपर से लोगों का विश्वास उठता जा रहा है। अनेक पढ़े लिखे लोग इसलिये श्राद्ध नहीं करते कि उनके मृतक रिश्तेदार को स्वर्ग प्राप्त होगा, बल्कि दिखावे के लिये करते हैं। वे मृतक आत्मा की अपेक्षा जीवित आत्मा की शिक्षा और उनकी दवाई आदि के प्रबन्ध में अधिक विश्वास रखते हैं।

मूल स्मृतियों की व्यवस्था के अनुसार स्त्री जायदाद की स्वामिनी नहीं हो सकती थी। वैदिक मन्त्रों के आधार पर बौद्धायन ने कहा है कि स्त्री 'निरिन्द्रिय'' होने के कारण जायदाद में किसी तरह का हिस्सा पाने के अयोग्य है। किन्तु माधव की राय है कि जिन वैदिक मन्त्रों में स्त्रियों को सोमरस का अधिकारी नहीं माना गया है, उन मन्त्रों का जायदाद के सम्बन्ध में व्यवहार नहीं होना चाहिये। विद्यारण्य ने भी इन्द्रिय

का अर्थ 'सोमरस' किया है। इस सम्बन्ध में बम्बई हाईकोर्ट में एक फैसला, जो लल्लू भाई बनाम मान कुँवर बाई के बीच में हुआ है, ग़ौर करने लायक है।

स्त्रियों के सम्बन्ध में अनेक अच्छी बातों को स्वीकार करते हुये मनु ने लिखा है कि वे स्वतन्त्रता के योग्य नहीं हैं। बचपन में पिता उनकी रक्षा करता है, यौवन में भर्ता उनकी रक्षा करता है और बुढ़ापे में पुत्र उनकी रक्षा करता है। किन्तु यह श्लोक जायदाद के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में लागू नहीं होता; उस ज़माने में परिवार सम्मिलित होते थे, इसलिये स्त्रियों के उत्तराधिकार की बात ही नहीं उठती थी। फिर उपरोक्त वैदिक मन्त्रों के अलावा और बहुत से मन्त्र ऐसे हैं, जिनके अनुसार पत्नी, माता और प्रमाता का हिस्सा जायदाद में बँधा हुआ है।

आजकल स्त्रियों की शिक्षा बड़े वेग से बढ़ रही है। राजनैतिक आन्दोलन में स्त्रियों ने बेहद दिलचस्पी दिखाई है। स्त्रियों की सभाओं ने सामाजिक क़ानूनों की बहसों में ख़ास हिस्सा लिया है। बम्बई की धारा सभा में देसाई के 'गोद लेने वाले बिल' का स्त्रियों ने इतना ज़बरदस्त विरोध किया कि उसे छोड़ना पड़ा। स्त्रियों को अब वोट देने का भी अधिकार मिल गया है। प्रान्तीय और केन्द्रीय धारा सभाओं में स्त्रियाँ सदस्य भी चुनी गई हैं। बम्बई के कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल में एक स्त्री पार्लिमेण्टरी सेक्रेटरी थी और युक्त प्रान्त में एक स्त्री मिनिस्टर थी। यदि स्त्रियाँ आजकल विश्वास और ज़िम्मेवारी की जगहों को योग्यता पूर्वक निभा रही हैं, तो मनु के उन श्लोकों का कोई मूल्य नहीं कि जिनके अनुसार स्त्री निकम्मी है और वह किसी तरह की जायदाद को नहीं सँभाल सकती। हिन्दू समाज की प्रगति में ज़बरदस्त परिवर्तन हुआ है। पुरानी स्मृतियाँ, जिनके आधार पर हिन्दू क़ानून बनाये गये हैं, आजकल के लिये उपयुक्त नहीं हैं। पढ़ी-लिखी जनता अब प्राचीन स्मृतियों पर निर्भर होना पसन्द नहीं करती। वह न्याय, सच्चाई, तर्क और बराबरी को अपना आधार बना रही है।

हिन्दू समाज में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। विधवा विवाह का एक समय हिन्दू शास्त्रों ने समर्थन किया और विधवा से उत्पन्न होने वाले पुत्र को शास्त्रों ने जायज़ माना। किन्तु समय पाकर विधवा विवाह की प्रथा मिट गई। धीरे-धीरे फिर विधवा विवाह जायज़ माना जाने लगा और सन् १८५६ ई० में विधवा पुनर्विवाह का क़ानून (Widow Re-Marriage Act) बनाना पड़ा। इस क़ानून के मुताबिक विधवा-विवाह और उस विवाह से उत्पन्न होने वाली सन्तानें जायज़ समझी जाने लगीं। पिछली सदी के अन्त में जनसाधारण की राय फिर विधवा विवाह के विरुद्ध होने लगी। किन्तु अब इस समय विधवा विवाह का उतना विरोध नहीं है। यह सही है इसका उतना समर्थन भी नहीं है ताहम लोग विधवा विवाह को अब बर्दाश्त कर लेते हैं।

दूसरे जिस विषय को लेकर हिन्दू समाज की राय बदल रही है वह है जाति पाँति का प्रश्न। बहुत प्रारम्भिक काल में भारत में जाति पाँति का भेद नहीं था। डाक्टर भंडारकर की राय के अनुसार, जब आर्य हज़रत ईसा से चार हज़ार वर्ष पूर्व भारत में आये, उस समय उनके अन्दर ३ विभाग थे—ब्राह्मण राजन्य और विस। किन्तु तीनों मिलकर एक ही जाति के अंग थे। यहाँ के जो लोग आर्यों के प्रभाव में आये, वह दासों की चौथी श्रेणी में हो गये। समय बीतने पर इन चारों वर्णों में अनेक उप वर्ण हो गये और इस समय सारे भारत में लगभग चार हजार जातियाँ हैं। भगवद्गीता के अनुसार गुण कर्म के अनुसार चारों जातियों का सृजन हुआ था (४।१३, १८-४१ से ४४)। याज्ञवल्क्य अपनी स्मृति में व्यवस्था (आचार अध्याय १५६, ६३) में अन्तर्जातीय विवाह की चर्चा करते हैं और इतर जाति की लड़कियों के साथ विवाह हो सकता है, इसकी विवेचना करते हैं। याज्ञवल्क्य अपने व्यवहार अध्याय (श्लोक १२५) में इस तरह के अन्तर्जातीय विवाह से उत्पन्न सन्तानों के उत्तराधिकार के नियम बताते हैं। इसके सम्बन्ध

में मिताक्षर अध्याय १, सेक्शन ८, और अध्याय १ सेक्शन ११—४१-४२ और मनुस्मृति अध्याय ९, श्लोक १६४ को इसके समर्थन में पेश किया जा सकता है। याज्ञवल्क्य ने अनुलोम विवाह पद्धति या उच्च जाति के पुरुष का अपने से नीचे की जाति की स्त्री के साथ विवाह का समर्थन किया है। उन मे उत्पन्न सन्तान को जायज़ माना गया है, किन्तु उत्तराधिकार में उन्हें पिता की सम्पत्ति से क्रमशः वर्णों के अनुसार सम्पत्ति का ¾, ½ और ¼ भाग मिलता है। लेकिन याज्ञवल्क्य शूद्र स्त्री के साथ विवाह को अधर्म बताते हैं। अन्य तीनों जातियों के अन्तर्जातीय विवाह में उन्हें कोई विरोध नहीं। मिताक्षर की याज्ञवल्क्य स्मृति टीका के व्यवहार अध्याय के श्लोक १२५ में बृहस्पति की टीका का उल्लेख है, जिसके अनुसार द्विज पुरुष द्वारा शूद्र स्त्री की सन्तान को ज़मीन में हिस्सा नहीं मिलता। पर इसका यह भी अर्थ होता है कि उसे जङ्गम सम्पत्ति में हिस्सा मिल सकता है। मिताक्षर के अनुसार यदि इस तरह की सन्तान को पिता अपनी जीवित अवस्था में कोई खास हिस्सा नहीं देता, तो उसे उत्तराधिकार में पैतृक सम्पत्ति का ¹⁄₁₀ हिस्सा मिलेगा।

मिताक्षर के अनुसार यदि शूद्र स्त्रियों का पुत्र जायज़ (औरस) भी है, तो भी उसे सम्पत्ति मे उस सूरत मे भी ¹⁄₁₀ हिस्सा मिलेगा जब कि कोई अन्य सन्तान मौजूद न हो। बृहस्पति भी मिताक्षर की टीका का समर्थन करता है। उसी टीका को ध्यान में रखते हुये बम्बई हाईकोर्ट में गुलाब बाई बनाम जीवन लाल (इण्डियन ला रिपोर्टर) के मुक़दमे का यह फैसला है कि उच्च जाति के पुरुष और नीच जाति की स्त्री का अनुलोम विवाह जायज़ है; चूंकि स्मृतियाँ अनुलोम विवाह पद्धति को जायज समझती हैं; इसलिये उनकी सन्तानें भी जायज़ ही होनी चाहियें। बम्बई हाईकोर्ट ने नाथ बनाम मेहता छोटे लाल (I L R 55) के मुक़दमे मे फैसला दिया था कि ब्राह्मण पुरुष और शूद्र स्त्री से उत्पन्न सन्तान अपने पिता के जीवन में ही सम्पत्ति के ¹⁄₁₀ हिस्से की अधिकारी है। इस फैसले पर अब तक प्रिवि कौंसिल की मुहर नहीं लगी है। प्रिवि कौन्सिल ने अपने एक पिछले फैसले (L R 63 I A. 295) में जातियों और उपजातियों के बीच के विवाहों की सन्तानों को जायज़ माना है। किन्तु उसने अब तक अनुलोम विवाह के औचित्य पर अपना कोई फैसला नहीं दिया है। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति तीसरी सदी ईसा पूर्व और दूसरी सदी ईस्वी के बीच में रची गई हैं। मिताक्षर १०५० और ११२० ई० के बीच में लिखी गई है और 'मयूख' १७ वीं सदी ईस्वी के शुरू में लिखी गई है। श्री माण्डलिक 'निर्णय सिन्धु' के आधार पर कहते हैं कि कलियुग में अपनी जाति से भिन्न जाति के साथ विवाह की मनाही की गई है। 'निर्णय सिन्धु' १६१२ ई० में लिखी गई है। इससे स्पष्ट है कि पिछली कुछ सदियों में ब्राह्मणों के प्रभुत्व में आकर इस तरह के विवाह समाज में नाजायज़ क़रार दिये गये।

पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आने के कारण हिन्दू समाज मे अनेक क्रान्तिकारी भावनाएं पैदा हुई हैं। परिणाम स्वरूप लोगों के सामाजिक विचार और तर्ज़ तरीक़े बदल गये हैं। इस परिवर्तन को ध्यान मे रखकर सन् १८७२ ई० में 'स्पेशल मैरिज ऐक्ट' बनाना पड़ा, जिसके अनुसार अन्तर्जातीय अन्तर साम्प्रदायिक विवाह जायज़ क़रार दिये गये। किन्तु सन् १८७२ के क़ानून के अनुसार इस तरह के ब्याह करने वालों को अपने-अपने धर्म को तिलांजलि देनी पड़ती थी। यह असुविधा सन् १९२३ ई० के 'गौड़ मैरिज ऐक्ट' के अनुसार दूर कर दी गई। गौड़ ऐक्ट के अनुसार हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख और जैनों को यह कहना पड़ता है कि वे इन चारों में से किसी भी एक धर्म को मानते हैं। इस समय जनता के अन्दर यह भावना पैदा होती जा रही है कि यदि भारतीय राष्ट्र के आदर्श को प्राप्त करना है, तो जाति पाति को तिलाजलि देनी होगी। राष्ट्रीय शहरों में साम्प्रदायिकता और जातीय भेद भाव शीघ्र ही बह जावेंगे। सेनार्ट ने अपने एक निबन्ध में लिखा है कि पश्चिम

में राजनैतिक और राष्ट्रीय भावना की जाग्रति के कारण वहां के नक़ली सामाजिक बन्धन टूट गये। भारत में राष्ट्रीय भावना के अभाव के कारण ही इस तरह की बुराइयाँ प्रचलित हैं।

अस्पृश्यता भारतीय सभ्यता के ऊपर एक ज़बरदस्त कलंक है। महज मन्दिर-प्रवेश से ही हरिजनों का उद्धार नहीं हो सकता। इसके लिये हिन्दू समाज के सामने क्रान्ति की जरूरत है। हरिजनों को मन्दिर-प्रवेश का अधिकार देने के अतिरिक्त उनमें शिक्षा का प्रचार करना होगा। हमें लोगों के दृष्टिकोण को ही बदलना होगा, ताकि वह किसी तरह के और किसी क़िस्म के भी सामाजिक भेदभाव न स्वीकार करें। यह काम आसानी से नहीं हो सकता। इसके लिये ज़बरदस्त जन-आन्दोलन, सरकारी दख़ल और क़ानून में नये नये सुधार करने की ज़रूरत होगी।

यदि स्त्रियों और हरिजनों को क़ानूनी सुविधाएँ देकर उनके पथ की बाधाएं दूर कर दी जाय तो भी समाज की बहुत कुछ बुराइयां दूर हो सकती हैं। बहुत सी सामाजिक बुराइयाँ आन्दोलन और शिक्षा के प्रचार से मिटाई जा सकती हैं। सरकारी क़ानून से भी बहुत सी बुराई दूर की जा सकती हैं; किन्तु यदि जनता सरकारी क़ानूनों का समर्थन न करे, तो क़ानून भी निकम्मे साबित हो सकते हैं। मानव संस्थाओं का अस्तित्व और सुधार जनता की अपनी इच्छा पर ही निर्भर करता है। मौजूदा सामाजिक संस्थाओं में जो भी अच्छाइयां हैं, उन्हें हमें क़ायम रखना चाहिए और भारतीय संस्कृति को जो बुराइयां खोखला कर रही हैं, उन बुराइयों को दूर करना चाहिए। इस सम्बन्ध में हमें श्री महादेव गोविन्द रानाडे के उस कथन को याद रखना चाहिए, जिसमें उन्होंने कहा था कि बन्धनों को स्वतन्त्रता, अविश्वास को विश्वास, अधिकार को बुद्धि, असंगठन को संगठन, असहिष्णुता को सहिष्णुता और अंधविश्वास को ज्ञान से दूर करना चाहिये।

संत कवि रविदास के प्रति

श्री 'निराला'

ज्ञान के आकर मुनीश्वर थे, परम
धर्म के ध्वज, हुए उनमें अन्यतम,

पूज्य अग्रज भक्त कवियों के, प्रखर
कल्पना की किरण नीरज पर सुघर

पड़ी ज्यों अँगड़ाइयाँ लेकर खड़ी
हो गई कविता, कि आई शुभ घड़ी

जाति की, देखा सभी ने मींचकर
दृग तुम्हें श्रद्धा-सलिल से सींचकर।

रानियाँ अवरोध की घेरी हुईं
वाणियाँ ज्यों बनीं जब चेरी हुईं।

छुआ पारस भी नहीं तुमने, रहे
कर्म के अभ्यास से, अविरत बहे

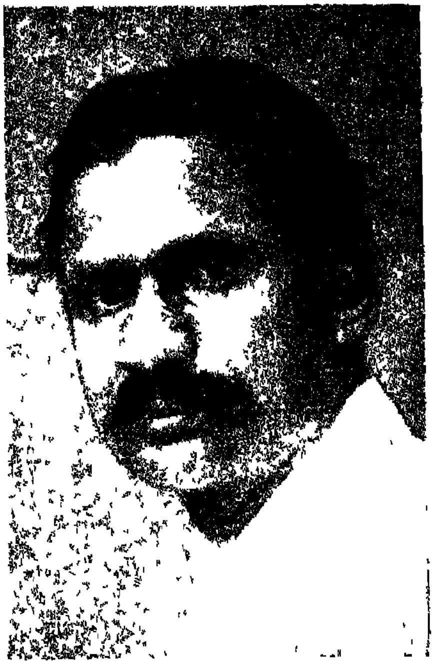
ज्ञान-गङ्गा में, समुज्ज्वल चर्मकार,
चरण छूकर कर रहा मैं नमस्कार।*

* महान सन्त-कवि के जन्मोत्सव के उपलक्ष्य पर

संहार या संस्कार

श्री 'धूमकेतु'

[मूल गुजराती से अनु० श्री शङ्करदेव विद्यालङ्कार]



अहिंसा प्रत्येक धर्म का प्राण-परिमल है, और हिन्दू संस्कृति का तो यह अमूल्य पुष्प है। अहिंसा-विहीन हिन्दू संस्कृति की तो कल्पना भी अशक्य है। आज जब समस्त संसार स्वयं उपजाये हुये विविध प्रश्नों के हल के लिये हिंसा के मार्ग पर अग्रसर होरहा है, उस समय हिन्दू संस्कृति के पास एक ही संदेश है, और वह है—अहिंसा।

परन्तु केवल अहिंसा का संदेश देने से ही अहिंसा के मार्ग की प्रतीति नहीं कराई जा सकती। हिन्दू संस्कृति ने यदि यही अंतिम संदेश देने का निर्णय किया हो, तो इस संदेश को अपने रोम रोम में से प्रकट करने वाले शुद्ध अहिंसक सैनिक भी आवश्यक हैं। परन्तु ऐसे शुद्ध अहिंसक सैनिक किसी जादूगर की लकड़ी से उत्पन्न नहीं किये जा सकते। चौमासे में बोकर चौमासे में ही प्राप्त होने लायक भिण्डी और तुरई के शाक की तरह वे उत्पन्न नहीं किये जा सकते। यह कोई ऐसा सरल सा सूत्र भी नहीं है, जिसको राजनीति के खेल के लिये तोते की तरह उच्चारित किया जाय। हिन्दू संस्कृति के अहिंसा के संदेश को हृदय में पचाने वाले सैनिक—देश-देशान्तर में भ्रमण करने वाले धर्म पुरुष—आज उसके पास नहीं हैं। अतः समाचार पत्रों के शीर्षकों की तरह बोले हुये अहिंसा के संदेश की आज कुछ भी क़ीमत नहीं है। दुनिया का एक बहुत बड़ा हिस्सा इस वस्तु को पौरुषहीन पुरुषों का वाग्विलास समझता है। अहिंसक सैन्य तो वर्षों की संस्कार-साधना के पश्चात् प्राप्त होने वाली परिस्थिति है।

ऐसे अहिंसक बल को उपजाने के लिये तो एक नवीन ही प्रकार का नियमण, एक नई ही प्रणाली की, एक नये ही वातावरण और नये ही प्रकार के संस्कारों की आवश्यकता है। शंकराचार्य जी ने जिस प्रकार अपना तत्त्वज्ञान उत्पन्न किया, उसी प्रकार की तीव्र लगन और धुन से, इस एक वस्तु के लिये ही जीवन समर्पण करने वाले, अत्यन्त विशुद्ध चरित्र-बल वाले किसी भव्य पुरुष की आवश्यकता है। इसी कारण तो आज यह बात अशक्य है।

सामान्य नित्य के जीवन-क्रम में जिस वस्तु को सिद्ध करने के लिये अत्यन्त भव्य वातावरण की आवश्यकता होती है, उसी वस्तु को हिंसा द्वारा सिद्ध करने के लिये थोड़े से ही नियमों की आवश्यकता है। वह नियम इतना ही है कि नित्य के जीवन-क्रम में आततायी को या तो अहिंसा द्वारा सुसंस्कृत करना, अथवा हिंसा द्वारा उसका संहार करना। इसी मानव-धर्म को गीता ने बताया है। गीता का यह मानव धर्म इस हिंसा-अहिंसा के प्रति अन्तिम शब्द है।

इसमें सुधार करने का अधिकार तो उसी मनुष्य को प्राप्त होता है, जो असंख्य हिंसक बलों के सामने निःशस्त्र होकर अकेला खड़ा हो जाय और इस कसौटी में उत्तीर्ण होकर, अपने सत्य अनुभव का उच्चारण करता हो। और इतना होने पर भी, उस पुरुष को, इस वस्तु के अधिकार या अनाधिकार के विषय में सूक्ष्म विवेक के बिना, तथा लोक संग्रह की दृष्टि को सामने रक्खे बिना, नगारे की तरह "अहिंसा-अहिंसा" का डिण्डिम बजाने का अधिकार नहीं प्राप्त हो जाता। क्योंकि इस प्रकार तो यह उच्चारण, सामाजिक दृष्टि पर ध्यान रखकर प्राप्त किये हुये सत्य के उच्चारण के बदले, व्यक्तिगत रङ्ग से रंगा हुआ एकपक्षीय वाक्य बन जाता है। इस प्रकार की व्यर्थ कल्पना—चाहे वह कितनी भी सुन्दर क्यों न हो—एक निष्प्राण वस्तु ही है। इसी कारण नित्य जीवन में तो अहिंसा का अर्थ इतना ही है—"यदि आर्य सुजनता को दैन्य समझ लिया जाय, तब तो युद्ध ही युगधर्म है।"

गीता में आततायी को मारने का स्पष्ट उपदेश है। तथा आततायी को सत्कारवान् बनाने का मानव-धर्म खोजने के लिये प्रत्येक धर्म आज्ञा देता है। इस विवेक की रेखा को अक्षुण्ण रखते हुये हिंसा अहिंसा का समन्वय और साधना ही तत्त्व वस्तु है। जिस अहिंसा की योगीजन आकांक्षा करते हैं वह "ले पूनमचन्द, मुझे दो पैसे की अहिंसा की पुड़िया तोल दे"—इस प्रकार प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है।

बाकी तो मानसिक, वाचिक और कायिक अहिंसा की बातें बघारने वाले हम लोग, जब तक अहिंसा का बाज़ार तेज हो, तभी तक ऐसी बातें बनाने वाले और काठियावाड़ी राजनीतिज्ञों को लजाने वाले नीतिज्ञ बन जाते हैं। इसकी अपेक्षा तो यह कहीं अच्छा है कि हम लोग जीवन के नित्य के प्रश्नों को हल करने के लिये, सामने आततायी न आये तब तक अहिंसक और आततायी आ पड़े तब हिंसक बन जाने का शुद्ध मानवधर्म स्वीकार कर लें। क्या इस मनोवृत्ति में अधिक स्पष्टता और सच्चाई नहीं है?

हमारे सहयोगी

विश्वभारती पत्रिका—(विश्वभारती, शान्तिनिकेतन की हिन्दी त्रैमासिक मुख पत्रिका), सम्पादक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, वार्षिक मूल्य ६) रुपया, विश्वभारती के सदस्यों से केवल ४) रु०।

मिलने का पता—**मैनेजर 'विश्वभारती पत्रिका', हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन, बङ्गाल।**

पत्रिका का पहला अङ्क हमारे हाथ में है। "शान्तिनिकेतन में हिन्दी भवन की स्थापना के अवसर पर स्वर्गीय गुरुदेव ने यह इच्छा प्रकट की थी कि विश्वभारती से एक ऐसी हिन्दी पत्रिका प्रकाशित हो, जिसके द्वारा भारतवर्ष की साहित्यिक और सांस्कृतिक साधना का जो कुछ सर्वोत्तम है, उसका नियमित रूप से प्रचार और उन्नयन होता रहे। भारतवर्ष की वर्तमान अवस्था का विश्लेषण करके उन्होंने दिखाया था कि देश आज जिस प्रकार नाना भांति की संकीर्णताओं का शिकार बनता जा रहा है, उससे रक्षा पाने का सर्वोत्तम साधन साहित्य ही है।" जो इच्छा गुरुदेव के जीवन में पूर्ण न हो सकी, वह उनके निधन के बाद उनके महान उत्तराधिकारियों ने पूरी कर दिखाई। गुरुदेव की स्वर्गस्थ आत्मा को इससे सुन्दर और पवित्र श्रद्धाञ्जलि विश्वभारती वाले न दे सकते थे।

पत्रिका के सम्पादक बन्धुवर हजारी प्रसाद जी हिन्दी साहित्य के धुरन्धर विद्वान हैं। उनसे बढ़कर साहित्य समीक्षक और आलोचक हिन्दी में तो हमें कोई दूसरा दिखाई नहीं देता। उनका सम्पादन पत्रिका की सफलता की गारण्टी है। ११ वर्ष तक गुरुदेव की छत्रच्छाया में रहकर उन्होंने जो अगाध ज्ञानराशि एकत्रित की है, वह 'विश्वभारती पत्रिका' के पाठक सहज ही पा सकेंगे। गांधी जी पत्रिका को अपना आशीर्वाद देते हुए कहते हैं—"विश्वभारती से त्रैमासिक पत्रिका निकालने की योजना मुझे तो बहुत

ही प्रिय लगती है। इस साहस में मेरी सम्पूर्ण सम्मति है।"

प्रस्तुत अङ्क में स्वर्गीय गुरुदेव की सात रचनाएं हैं, जिनमें दो रचनाएं ऐसी हैं, जो शायद अब तक हिन्दी में प्रकाशित नहीं हुईं। 'एशिया की जागृति में ही यूरोप का परित्राण है' नामक गुरुदेव का निबन्ध तो हर एक को पढ़ना चाहिये। उक्त लेख में गुरुदेव ने एक जगह लिखा है—"एशिया के नाना देशों में यह बात चल रही है कि साम्प्रदायिक धर्म मनुष्य के समस्त क्षेत्रों को ढँककर बैठ जाय, तो काम नहीं चल सकता। फिलस्तीन में शासन विभाग के एक ऊँचे ओहदे के अंग्रेज़ कर्मचारी की विदाई की सभा का आयोजन हुआ था। उस सभा में उक्त अंग्रेज कर्मचारी ने कहा कि—"फ़िलस्तीन मुसलमान देश है और इसकी सरकार भी मुसलमानों के हाथ में होनी चाहिये बशर्ते कि अल्पमत वाले यहूदियों और ईसाइयों का भी प्रतिनिधित्व उसमें रहे।" इस पर जेरुसलेम के मुफ़्ती हाजी आमिन-अल-हुसेनी ने उत्तर दिया—"हमारे लिये यह मुसलमान ग़ैर मुसलमान का प्रश्न नहीं है, बल्कि विशुद्ध अरब जाति का प्रश्न है। अपने अवस्थान काल में आपने निस्सन्देह देखा होगा कि इस देश में मुसलमान-अरब और ईसाई-अरब मे कोई भेद नहीं है। हम ईसाइयों को अरब ही मानते हैं, अल्पमत जाति नहीं।" काश भारत के हिन्दू मुसलमान इस शिक्षा से लाभ उठाते! गुरुदेव की दूसरी रचना 'आधुनिक काव्य' हिन्दी के प्रत्येक कवि और कलाकार को पढ़ना चाहिये। अन्य लेखों में श्री नन्दलाल बसु का 'शिल्पी रवीन्द्रनाथ,' आचार्य क्षितिमोहन सेन का 'भारतीय संस्कृति के अध्ययन की एक उपेक्षित दिशा' अत्यन्त महत्वपूर्ण रचनाएं हैं। डाक्टर आनन्दकुमार स्वामी के लेख 'ख आदि शून्यवाची शब्द एवं आकाश के साथ उनका दार्शनिक सम्बन्ध' को अनुवादक महोदय टिप्पणियां देकर साधारण पाठकों के लिये और अधिक सरल बना सकते थे। इस तरह के लेखों की हिन्दी साहित्य में इसीलिये उपेक्षा होती है कि वे साधारण पाठकों की पहुँच के परे होते हैं। फिर भी अनुवादक ने अनुवाद को बेहद सरल बनाने की कोशिश की है। 'पुरानी पोथियों की विदेश यात्रा' अपनी तरह का अत्यन्त सुन्दर लेख है। अन्त में पंडित हजारी प्रसाद जी ने अपने प्रिय विषय 'रस' पर 'काव्य रस की परम्परा' शीर्षक से एक महत्वपूर्ण लेख लिखा है। हमें पूरा विश्वास है कि 'विश्वभारती पत्रिका' में अच्छी से अच्छी सामग्री पाठकों को मिलेगी। अभी तो यह पहला ही अङ्क है।

एण्टीक काग़ज पर साफ और सुन्दर छपी हुई यह सुरुचिपूर्ण पत्रिका बरबस ही पाठक का ध्यान आकर्षित कर लेती है। प्रत्येक हिन्दी पढने वाले को इस पत्रिका का ग्राहक अवश्य बनना चाहिये। हम 'विश्वभारती पत्रिका' के महान, ऐश्वर्यपूर्ण, और सफल जीवन की कामना करते हैं।

आरती—दूसरे वर्ष का पहला अङ्क, नववर्षाङ्क, सम्पादक श्री प्रफुल्ल चन्द्र ओझा 'मुक्त', प्रकाशक 'आरती मन्दिर', पटना। वार्षिक मूल्य ५) रु०, इस अङ्क का ।।।)

भाई प्रफुल्ल चन्द्र जिन अपार संकटों का सामना करते हुये बिहार के साहित्यिक प्राङ्गण में साहित्य की जो आरती कर रहे हैं, वह उन्हीं का साहस है। साहित्य की इस आरती को प्रज्वलित रखने में उन्हें अपने हृदय का रक्त देना पड़ रहा है। जिस उद्योग और परिश्रम से वे भारती के भण्डार में शिष्ट साहित्य का कोष बढा रहे हैं यह निश्चित है कि उसकी अवहेला अधिक दिनों तक नहीं हो सकती। हमें यह देखकर सन्तोष हो रहा है कि बिहार के अनेक गण्य मान्य लक्ष्मी पतियों की 'आरती' पर कृपा दृष्टि हुई है। देशरत्न डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद 'आरती' के महान संरक्षक बने हैं। परमात्मा करे 'आरती' बिहार के घर घर में प्रकाश फैलाये।

'आरती' का प्रस्तुत अङ्क अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। बाबू राजेन्द्र प्रसाद का 'युग और धर्म' नामक लेख बहुत सुन्दर है। भारतीय परिस्थिति और अहिंसा

पर इस लेख से काफ़ी प्रकाश पड़ता है। श्री प्रभाकर माचवे कृत 'ललित कलाओं में माध्यम समस्या', श्री सुधांशु कृत 'कला गीत की प्रकृति' उच्चकोटि के लेख हैं। राजा राधिकारमणसिंह की कहानी 'होटल और तीर्थ' सुन्दर है। श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री 'दिनकर' और 'केसरी' की कवितायें भी अनूठी हैं।

हम 'भारती' के भव्य जीवन की कामना करते हैं।

जीवन-सखा—(व्यायाम अङ्क) सम्पादक श्री बालेश्वर प्रसाद सिंह, ८७ हिम्मत गंज, इलाहाबाद। वार्षिक मूल्य ३)

प्रस्तुत अङ्क के साथ 'जीवन सखा' ने अपने सातवें वर्ष में प्रवेश किया है। स्वास्थ्य सम्बन्धी हिन्दी का यह अपने तर्ज़ का अकेला ही मासिक पत्र है। यह 'व्यायाम अङ्क' अनेक उपयोगी लेखों से भरा हुआ है। जीवन में व्यायाम का कितना महत्व है और उसके क्या तरीके हैं, यह बात इस अङ्क से भलीभाँति जानी जा सकती है। सूर्य नमस्कार, नाटक, मालिश, मोटापा, आसन योगिक क्रियायें, प्राणायाम आदि पर लेख महत्वपूर्ण हैं। 'जीवन सखा' वास्तव में जीवन सखा है।

आज—(साप्ताहिक), शिक्षा विशेषाङ्क, वार्षिक मूल्य ५) रु०, इस प्रति का।)

हिन्दू विश्वविद्यालय की रजत जयन्ती के उपलक्ष में आज ने यह सर्वाङ्ग सुन्दर विशेषाङ्क निकाल कर हिन्दी साहित्य के इस क्षेत्र की बड़ी कमी को दूर किया है। प्रस्तुत अङ्क में ४० लेख हैं। मुख पृष्ठ पर महामना मालवीय जी का सन्देश है। 'प्राचीन भारत के तीन शिक्षा केन्द्र', 'उच्च शिक्षा की समस्या', 'देश विदेश की वैज्ञानिक संस्थायें', 'मूक बधिरों की शिक्षा', 'बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा' आदि लेख विचारोत्तेजक हैं। भारतीय विश्वविद्यालयों के सम्बन्ध में प्रस्तुत अङ्क में प्रचुर सामग्री है। आज के सम्पादकत्रय यह सुन्दर विशेषाङ्क निकालने के लिये हमारी बधाई के पात्र हैं।

जीवन—(राष्ट्रीय साप्ताहिक) सम्पादक श्री जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द', वार्षिक मूल्य ३) रु०, एक प्रति का -)

अब तक इस पत्र के २१ अङ्क निकल चुके हैं। हमने प्रत्येक अङ्क को ध्यान से देखा है। हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ कवि श्री 'मिलिन्द' जी का नाम सम्पादक की जगह देखकर—हमने पहले ही समझ लिया था कि पत्र के पीछे एक उद्देश्य और राष्ट्र सेवा है। हमारी कल्पना के अनुरूप ही पत्र निकल रहा है। उच्चकोटि की कविताएं, निर्भीक टिप्पणियाँ, साढुल्ला की चटपटी बातें आदि 'जीवन' की विशेषताएं हैं। हमें विश्वास है देशी राज्यों में 'जीवन' जीवन का सञ्चार करेगा।

दि स्टूडेण्ट—(सोवियत् नम्बर) सम्पादक श्री ललिताशङ्कर, वार्षिक मूल्य ३) रु०, इस अङ्क का ॥)

प्रस्तुत अङ्क नवम्बर, दिसम्बर महीने का सम्मिलित अङ्क है। सोवियत् रूस के महान बलिदान और आत्मत्याग ने सारे संसार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया है। सोवियत् की महानता को ठीक ठीक समझने के लिये सहयोगी का यह अङ्क अत्यन्त उपयोगी है। सोवियत् के सम्बन्ध में इस अङ्क में १९ महत्वपूर्ण लेख हैं। सभी लेख मननीय और पठनीय हैं। ऐसा उपयोगी और सुन्दर विशेषाङ्क निकालने के लिये भाई ललिताशङ्कर हमारी बधाई के पात्र हैं। विद्यार्थी सम्प्रदाय के इस अकेले पत्र की दिन दिन बढ़ती की हम कामना करते हैं।

समालोचनार्थ प्राप्त पुस्तकें

१—दर्शन और जीवन— श्री सम्पूर्णानन्द,
२—आराधना— श्री रजनीश,
३—अमर सत्य— श्री दुर्गा दत्त त्रिपाठी,
४—शिक्षा में नई दृष्टि—आचार्य हरिभाई त्रिवेदी,
५—जीवनादर्श— श्री ज्योतिःशरण रतूड़ी,
६—रेल की रात (कहानी संग्रह) श्री बालगोविन्द प्रसाद श्रीवास्तव,

विश्वभारती पत्रिका

[साहित्य और संस्कृति सम्बन्धी हिन्दी त्रैमासिक]

संसार की समृद्ध चिन्ताओं का विवेचन, रवीन्द्र-साहित्य का नियमित प्रकाशन, उत्कृष्ट कलाकारों की कृतियां और उनकी समीक्षा—पत्रिका की अपनी विशेषताएँ होगी।

—प्रथम अङ्क जनवरी १९४२ में प्रकाशित—

विषय-सूची

और समीक्षाएँ

मूल्य प्रति संख्या—१॥) वार्षिक मूल्य—६)

विश्वभारती-संस्था के सदस्यों से ४) : (डाक-व्यय माफ)

पत्र-व्यवहार इस पते से करें :—

व्यवस्थापक विश्वभारती-पत्रिका'

हिन्दी-भवन शांतिनिकेतन (बङ्गाल)

सम्पादक, मुद्रक और प्रकाशक—विश्वम्भरनाथ, विश्ववाणी प्रेस, साउथ मलाका, इलाहाबाद।

संरक्षक
पण्डित सुन्दरलाल

सम्पादक
विश्वम्भरनाथ

मार्च १९४२

इस अङ्क में देखिये

इनके अतिरिक्त अनेक लेख, कविताएं, कहानियां, एकांकी नाटक आदि

वार्षिक मूल्य ६)   'विश्ववाणी' कार्यालय, इलाहाबाद   एक अङ्क का ॥=)

विश्ववाणी : संस्कृति अङ्क

विविध पत्र पत्रिकाओं की सम्मतियां

THE LEADER

ALLAHABAD, FEBRUARY 9, 1942

It is through culture that a nation lives and through culture nations meet. With the application of science for human progress and the consequent annihilation of time and space, the world is shrinking in size, progressively becoming a family unit. Through the labour of the present international chaos and conflict there is evolving a common culture, on which depends the next stage of the human civilization. Behind the superficial differences among various cultural groups there lies a fundamental unity and this lesson has to be hammered repeatedly on the minds of Indians as the country is threatened with vivisection on grounds of cultural diversities.

The 'Vishwavani' (Allahabad) has done a great service by bringing out at this most opportune moment a 'Culture Number' in two parts, one published in January and the other this month (February), for the realization of the cultural unity of mankind and an understanding of one another's culture is an urgent necessity. The issues contain well-informed and studied articles by eminent writers Einstein, George Bernard Shaw and Madame Chiang Kai-shek, throwing light on various aspects of culture and civilization of man. Special mention may be made of valuable contributions by Dr. Bhandarkar, Dr. Radha Kumud Mookerjee and Dr. Bhupendranath Dutt which bring in lucid light India's cultural unity.

शुभचिंतक

जबलपुर, १६ फरवरी, १९४२

'विश्ववाणी' का प्रस्तुत संस्कृति अंक बहुत ही मार्मिकता, कलाकुशलता, एवं सांस्कृतिकता से परिपूर्ण है। विषय प्रतिपादन लक्ष्यानुकूल है। 'आदि मानव और उसकी संस्कृति' शीर्षक लेख प्रत्येक पाठकों को विवेचनात्मक रूप से पढ़ना चाहिये; इससे अपने पूर्व जीवन तथा सृष्टि के आदिम जीव, जन्तु तथा परिस्थिति का अच्छा ज्ञान होता है। 'हिन्दू संस्कृति के व्यापक सिद्धान्त' में डाक्टर सैयद महमूद साहब ने आर्य जाति की स्थायी सभ्यता एवं उसके व्यापक तथा उदार सिद्धान्तों का अच्छा निरूपण किया है।

इस अंक के प्रत्येक लेख अपनी एक नई सूझ पेश करते हैं। 'मेरा लाल राजा से भी बड़ा' यह कहानी अति रोचक है। विषयों की गम्भीरता, समयोचित एवं विषयानुकूल चित्र, तथा नक्शे आदि देकर और भी बढ़ा दी गई है। यह अंक प्राचीन इतिहास का पूर्ण द्योतक है। इसके पढ़ने से भारत के प्राचीन

कला, संगीत, नृत्य, आदि का विशद दिग्दर्शन होता है। पाँच हजार वर्ष पूर्व सुमेर की राजधानी 'उर' के शिला खण्ड, आधुनिक शिलाकारी को मात कर देते हैं। उसी स्थान की अन्य वस्तुएं जैसे मिट्टी के बर्तन, सुमेरी राष्ट्रीय पताका, सुमेरी रानी का मुकुट तथा हार, एवं हार्प नामक वाद्ययन्त्र अपनी आदिम कला का प्रदर्शन करते हैं। इसमें सन्देह नहीं प्रत्येक लेखक ने अपने लेखों पर उसी हालत में कलम उठाई है जब उनके पास पूर्ण सामग्री हो गई, जिनके परिणामस्वरूप विषय प्रतिपादन सफलतापूर्वक होकर अपने विषय पर पूर्ण प्रकाश डाल सका है।

प्रत्येक मासिक पत्रिकाओं को इसी प्रकार ठोस एवं बुनियादी वस्तुओं का अन्वेषण कर भारत की बिखरी हुई सभ्यता का प्राचीन आदर्शों द्वारा पुनर्गठन करने का प्रयास करना चाहिये... इसकी छपाई, आदि बहुत ही प्रशंसनीय है।

साप्ताहिक आज

बनारस, १६ फरवरी, १९४२।

'विश्ववाणी' का 'संस्कृति अंक' हमारे सामने है: यह दो भागों में है। प्रथम भाग में २५ और द्वितीय में ३८ रचनाएँ हैं, जिनमें अधिकांश के लेखक भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति के ज्ञाता और विद्वान हैं। सर्वश्री राधाकृष्णन बर्नार्ड शा, रमण, आइन्स्टाइन, हक्सले, डाक्टर मुकर्जी तान युन शान, भंडारकर राव, हरीव, मैडम च्यांग काई शेक, डार्विन आदि के लेखों के संकलन से अंक की महत्ता बढ़ गयी है। कई लेखों में मनन करने योग्य विचारपूर्ण सामग्री है। श्रीमती महादेवी वर्मा की कविताएं विशेष भावमयी हैं, और ऋग्वेद के सूक्तों के अनुवाद में वे सफल हुई हैं।

लेखों का इतना सुन्दर संकलन करने के कारण संपादक महोदय बधाई के पात्र हैं। अंक संग्रहणीय है।

आरती

पटना, फरवरी १९४२

भारत ने बहुत प्राचीन काल में सारे संसार में जिस विशेषता के लिये सर्वोच्च गौरव का पद प्राप्त किया था, वह थी इसकी संस्कृति। वह भी एक युग था जब शान्ति, सत्य, क्षमा करुणा, अहिंसा आदि उच्च आदर्शों के साथ भारत के अक्षय ज्ञानालोक-भण्डार की कुछ किरणें अपनाकर संसार के अन्य देशों के लोग अपना अभ्युदय कर सके थे। आज सारी दुनिया संहार के ताण्डव से क्षुब्ध और पीड़ित है और तब विश्वमानव का प्राण उस सत्य और शान्ति की वाणी, जिसे भारत ने..., आकुल क्रन्दन कर रहा है जो कभी पुण्य तपोवन में तत्त्वचिन्तक मानवों के कंठों से गूंजा था। किन्तु आज भारत भी वह भारत नहीं, इसका आज वह गौरव नहीं, अक्षुण्ण है गौरव की वह पावन स्मृति ही। अतएव संस्कृति आज न केवल प्राणों या भारत के प्राणों की विकल पुकार है, अपितु युग की पुकार है। विश्ववाणी संस्कृति-प्रचार का महत उद्देश्य लेकर हिन्दी-संसार में बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति बनकर आई। सहयोगी का प्रस्तुत अंक वस्तुतः मननीय और संग्रहणीय है। इसमें अधिकारी विद्वानों की रचनाओं को ही स्थान मिला है। प्रायः सभी लेख उपयोगी और महत्वपूर्ण हैं। विशेषकर 'आदि मानव और उसकी संस्कृति', 'आदि भारत का संस्कृति-केन्द्र,—मोहन जो दड़ो', 'भारतीय संस्कृति का दिग्दर्शन', 'आर्य संस्कृति के मौलिक सिद्धांत', 'हिन्दू संस्कृति के व्यापक सिद्धांत', 'भारत और चीन का सांस्कृतिक सम्बन्ध', 'मातृभूमि भारत की सांस्कृतिक और मौलिक एकता', 'भारतीय संस्कृति की अखंडता', 'वेदों की रचना का समय विस्तार', 'भारतीय चित्र-कला पर एक दृष्टि' आदि बड़े ही महत्वपूर्ण लेख हैं। इस अंक में जिस महत् उद्देश्य, सुरुचि और अध्यवसाय से काम लिया गया है, वह स्तुत्य है। इस सफलता के लिये हार्दिक बधाई।

संघर्ष

लखनऊ, ६ फरवरी १९४२

मासिक विश्ववाणी का जनवरी और फरवरी का अंक संस्कृति अंक के रूप में निकाला गया है जिसका प्रथम भाग (जनवरी अंक) हमारे सामने उपस्थित है। प्रस्तुत अंक में भारतीय संस्कृति के विविध पहलुओं पर प्रामाणिक व्यक्तियों की लेखनी से ३५ लेख उपस्थित किये गये हैं। हमें प्रो० मनोहर लाल मिश्र का 'आदि मानव और उसकी संस्कृति' श्री धर्मानन्द कौशाम्बी का 'भगवान् बुद्ध का कर्मयोग, डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त का भारतीय संस्कृति की अखण्डता और प्रो० राजाराम शास्त्री का भारतीय संस्कृति में ज्ञान और कर्म का सम्बन्ध शीर्षक लेख विशेष रूप से पसन्द आये। सब मिलकर अंक संग्रहणीय है।

स्वराज्य

खण्डवा २७ जनवरी सन् १९४२

प्रयाग की मासिक पत्रिका 'विश्ववाणी' को निकले अभी एक ही वर्ष हुआ है, परन्तु इस अल्प समय में ही उसके संपादक श्री विश्वम्भरनाथ जी एवं सञ्चालक पं० सुन्दरलालजी के परिश्रम और अध्ययन के कारण उसने हिन्दी जगत की उच्चकोटि की पत्रिकाओं में अपना स्थान बना लिया है। जनवरी का अंक 'विश्ववाणी' के द्वितीय वर्ष का प्रथमांक है जो 'संस्कृति अंक' के नामाभिधान से प्रकाशित हुआ है। ...'विश्ववाणी' ने जो सामग्री प्रस्तुत विशेषांक में दी है, वह अधिकारी पण्डितों की लिखी हुई एवं अध्ययन तथा मनन करने योग्य है। संपादकजी का यह कथन सर्वथा सत्य है कि 'जीवन' एक है, मानव संस्कृति एक है, भिन्नता में मौलिक एकता विद्यमान है और इसलिए मानव जीवन के विकास की कला ही सर्वोच्च कला है।' इस अंक के लेखों में वैदिक संस्कृति, सुमेरी संस्कृति, द्राविड़ संस्कृति, चीनी संस्कृति आदि विषयों से सम्बन्ध रखने वाले लेख दिये गये हैं।...प्रत्येक समर्थ हिन्दी प्रेमी के पुस्तकालय में 'विश्ववाणी' पहुंचनी चाहिये।

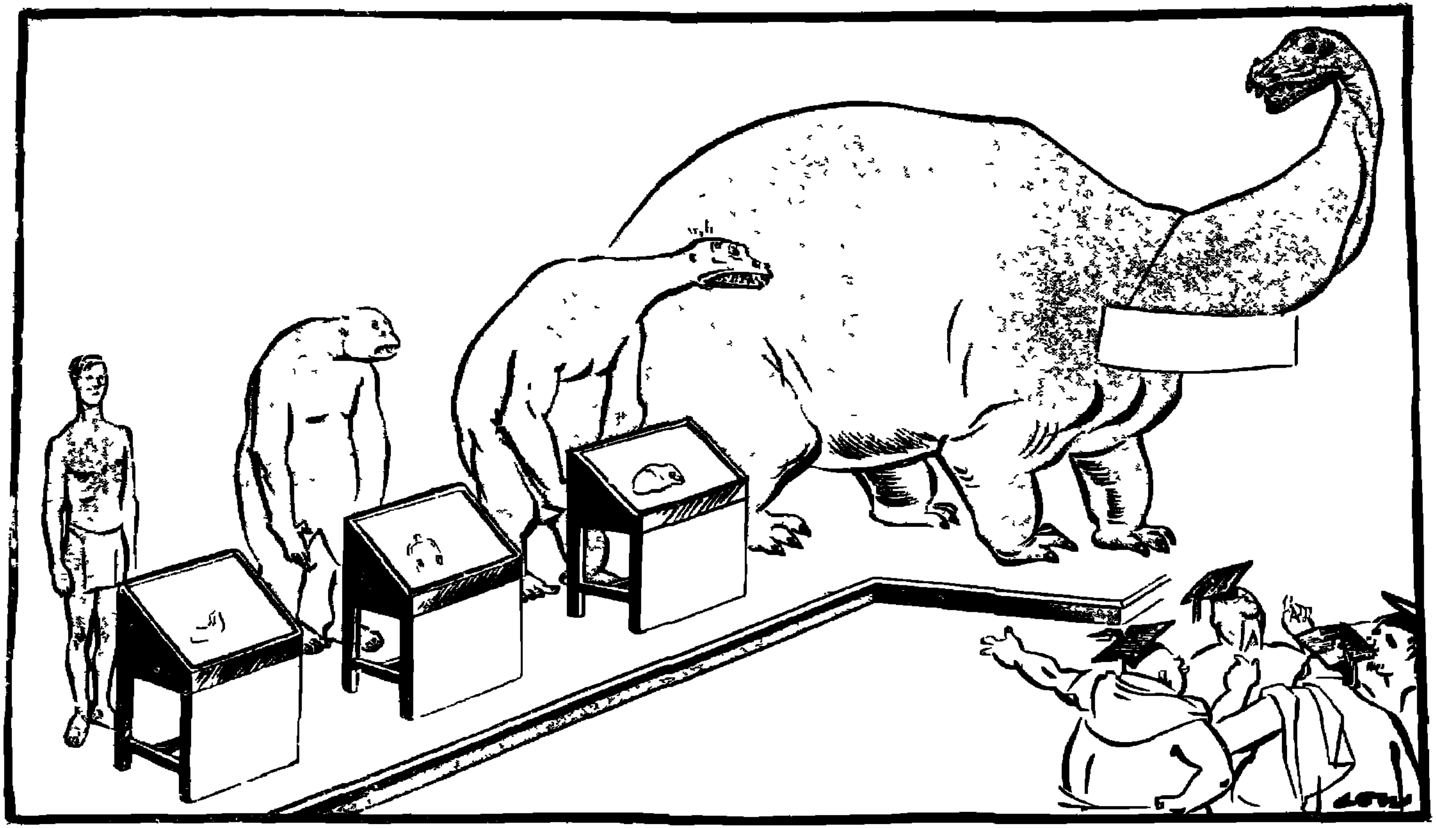
दीपक

अबोहर, जनवरी, १९४२

विश्ववाणी भारतीय सांस्कृतिक ऐक्य के लिये सदैव प्रयत्नशील रहती है। इस अङ्क में लगभग ३ दर्जन चोटी के विद्वानों ने आदि मानव से लेकर भारत की आज तक संस्कृति की विभिन्न कालों की अवस्थाओं तथा विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए उनका वर्णन किया है। भारतीय संस्कृति के रक्षक पुरातत्त्व खोज के प्राचीन स्थानों व ग्रन्थों आदि का भी परिचय तथा खोज में पायी सामग्री बहुत महत्त्व पूर्ण पठनीय तथा संग्रहणीय है।

विषय-सूची

मार्च १९४२



सन् १९१९ की सन्धि के बाद मानव की बर्बर दुष्प्रवृत्तियों ने बढ़ते बढ़ते इस समय ऐसा विकराल रूप धारण कर लिया है कि मानव विज्ञान के आचार्य सन्देह प्रकट कर रहे हैं कि शायद पश्चिमीय-संस्कृति मानव को फिर से विकास के आदिम-युग की ओर ले जा रही है !

[श्री डेविड लो के सौजन्य से]

विश्ववाणी

युक्तप्रान्त, पंजाब, बम्बई, मद्रास, मध्यप्रान्त और बरार, होलकर राज्य, मेवाड़, जोधपुर, मैसूर और काश्मीर के शिक्षा विभागों द्वारा स्कूल और कालेज लाइब्रेरियों के लिए स्वीकृत

संरक्षक
पण्डित सुन्दरलाल

सम्पादक
विश्वम्भरनाथ

वर्ष २, भाग ३ | मार्च, १९४२ | अङ्क ३, पूर्ण अङ्क १५

प्रश्न

अनु०-श्री महादेवी वर्मा

पूछ रहा हूँ आज स्वयं अपने से, उर में,
हो सकता क्या एक कभी उससे अन्तर में?

अवहेला को भूल कभी वह स्नेहतरलमन,
कर लेगा स्वीकार गीत की भेंट अकिञ्चन?

किस दिन मैं उज्ज्वल प्रसन्नचित कल्मष खोकर,
मिल पाऊँ आनन्दरूप से सन्मुख होकर!

दर्शन-याचक मैं, कह दे क्या अवगुण मेरे?
जिनके कारण आज मुझे यह बन्धन घेरे?

जो ज्ञानी हैं, पूछ चुका उनसे बहुतेरा,
सब का उत्तर एक—वही प्रभु रूठा तेरा!

अविनय ऐसा कौन आज तू भी जिसके हित,
स्नेह-सखा को किया चाहता इतना दण्डित?

हे दुर्लभ! दे बता और तव दोषविगत मैं,
पहुँचूँ तुझ तक त्वरित, भक्ति से नमित विनत मैं!

[ऋग्वेद ७-८६ सूक्त से]

यूरोप के किसानों की ऐतिहासिक प्रगति

डाक्टर भूपेन्द्रनाथ दत्त

समाज विज्ञान के अमरीकन विद्वान डा॰ मर्गेन ने[1] अपने ऐतिहासिक ग्रंथ 'प्राचीन समाज' (Ancient Society) में साबित कर दिया है कि प्राचीन मानव समाज का क्रमविकास क़ौमी साम्यवाद (Tribal Communism) के भीतर से ही हुआ था। इस अवस्था के बाद पारिवारिक साम्यवाद (Family Communism) का जन्म हुआ, और इसके बाद व्यक्तिगत सम्पत्ति (Private Property) और व्यक्तिवाद (Individualism) का। इस मतवाद को वैज्ञानिकों ने मान लिया है। इसी मतवाद के आधार पर कार्लमार्क्स तथा एन्जेलस[1] ने साम्यवाद की नींव को मज़बूत किया। मार्क्सवादी आज भी इस मत को मानते हैं। इस मतवाद के समर्थक हैनरी[2] मेइन सरीखे विद्वानों ने आविष्कार किया है कि भारतीय ग्राम्य व्यवस्था इसी आधार पर प्रतिष्ठित थी। लेकिन इस कथन में सचाई का अंश कितना है इसे जानने के लिये 'न्यूयार्क ट्रिब्यून'[3] में लिखी गई मार्क्स की चिट्ठियों को पाठक पढ़ लें। मेइन ने जहाँ साम्यवाद देखा, मार्क्स ने वहाँ स्वेच्छाचार का राज्य पाया। आजकल कुछ ऐसे ऐतिहासिक दिखाई पड़ रहे हैं, जो मार्क्सवादी सामाजिक मतवाद को अनैतिहासिक बताते हैं।[4] इनका कहना है कि पहले पहल ज़मीन पर लोगों का व्यक्तिगत अधिकार था, लेकिन बाद में परिवारों में जनसंख्या बढ़ जाने के कारण ज़मीन में कमी हो गई और मजबूर होकर लोगों को इसे सामाजिक सम्पत्ति बनाना पड़ा। अपने मत के समर्थन में इन लोगों ने रूस की मीर (Mir) प्रथा का ज़िक्र किया है। विद्वानों का एक तीसरा दल भी है, जो ज़मीन पर व्यक्तिगत और सामाजिक अधिकार दोनों को विभिन्न देशों में समकालीन बताता है। अपने मत की पुष्टि के लिये वे भी केल्ट (Celt)[5] किसानों का ज़मीन पर व्यक्तिगत अधिकार और टिउटोन या जर्मन किसानों का सामाजिक अधिकार दिखाते हैं। विद्वानों के तीसरे दल का कहना है कि केल्टिक किसान के घर के चारों तरफ की ज़मीन उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति थी और इसे वे एक आदमी की ज़मीन के नाम से पुकारते हैं (Single holding)। जर्मन किसानों के घर के चारों ओर की ज़मीन सामाजिक सम्पत्ति (Communal holding) समझी जाती थी। ज़मीन के अधिकार पर इस तरह के वादविवाद आज एक शताब्दी से दुनिया के समाज वैज्ञानिकों में चल रहे हैं।

उपर्युक्त वादविवादों के बाहर हम देखते हैं कि यूनान में होमर के ज़माने में सामन्तशाही प्रथा क़ायम थी। यहाँ हमें ज़मीन पर व्यक्तिगत अधिकार दिखाई देता है। होमर के बाद कवि हेसिआड[6] ने किसानों

---

१ Engels—Origin of Family, Private Property and State

२ Maine—Village Communities in the East and West

Koralesky—Modern Custom and Ancient Lands

३ Marx—Letters on India Ed.-Dr Anand Socialist Book Club, Allahabad

४ F. Conlanges—The Origin of Property in Land.

५ S. Lewinsky—Origin of Property

६ Hesiod—The Erga

की तकलीफों का वर्णन किया है । इटाली में जमीन पर सामाजिक अधिकार प्रचलित था । प्राचीन इटाली में हम देखते हैं कि किसान एक साथ खेती करके नाज को आपस में बाट लेते थे । [७]इसके बाद बड़े बड़े जमीन्दारों की उत्पत्ति हुई । ये गुलामों से अपनी खेती करवाते थे (Lati Fundia) । इसके बाद यूरोप भर में सामन्तशाही कायम हुई । इस जमाने में आभिजात्य लोगों (Baron) ने विस्तृत भूभाग पर अधिकार जमाकर गुलामों (Serf) से खेती करवानी शुरू करदी । सामन्तशाही के अंतिम समय में किसानों ने इसके विरुद्ध सैकड़ों विद्रोह किए । फ्रांस के किसानों का विद्रोह (Acquerie) के नाम से मशहूर है । इसका अर्थ है "भले मानुस जैक का विद्रोह ।" सामन्तशाही की प्रारम्भिक दशा में किसान बैरन लोगों से बहुत डरते थे और उनके अत्याचारों को चुपचाप सह लेते थे । लेकिन सहने की भी एक सीमा है । इसी समय ईसाई धर्म सुधारकों ने इन में क्रिश्चियन कम्यूनिज्म का प्रचार करके किसानों को आभिजात्य वर्ग के लोगों के खिलाफ विद्रोह करने के लिये उत्साहित किया । इन सुधारकों का कहना था कि ईसामसीह आदर्श ईसाई थे, उनके पास एक फूटी कौड़ी भी नहीं थी और वह साम्यवादी थे । इस दल के लोग पोप (ईसाइयों के एक सम्प्रदाय के प्रधान) को नहीं मानते थे और हेरेटिक के नाम से पुकारे जाते थे । बोहेमिया में जन हेस का दल, इङ्गलैण्ड में लालार्ड का दल, फ्रांस में अलबिनगेनसिये का दल, बोसेनिया में बोगोमिल का दल इसी मत को मानते थे । इस जमाने में वर्ग संघर्ष धार्मिक संघर्ष के रूप में दिखाई पड़ा । समाज के वर्गों में बँट जाने के बाद से सामन्तशाही की समाप्ति तक वर्ग संघर्ष प्रधानतः धार्मिक संघर्ष के रूप में दिखाई पड़ा था ।

सामन्तशाही के जमाने में अवश्यंभावी रूप में समाज में हजारों बुराइयां पैदा हुईं । गुलामों (Serf) को ही इन बुराइयों का फल भोगना पड़ता था ।[८]

राजा प्रथम वर्ण का (First estate) समझा जाता था, और वह तथाकथित ईश्वरीय (Divine right) अधिकार से जमीन्दारों के जरिये जनता पर शासन करता था । सामन्तशाही के समय किसान कितने ही लोगों के अधीन थे । एक स्तर के लोग अपने ऊपर वाले स्तर के अधीन थे । वह उन्हें देवता-सा समझते थे । गुलाम किसानों को बहुत से असम्भव जुल्मों को सहना पड़ता था । उन्हें जंगल से लकड़ी काटने का अधिकार नहीं था, घर बनाने के पहले आज्ञा लेनी पड़ती थी, जमीन्दार की चक्की में उन्हें अपना अन्न पीसना पड़ता था । मेढकों की टर्र-टर्र से जमीन्दार की नींद में बाधा न पहुँचे, इसलिये प्रजा को रात में मेढकों को भगाना पड़ता था; शिकार से लौटने पर अगर जमीन्दार के पैर में सर्दी लग जाती, तो कभी-कभी तीन-तीन गुलामों का पेट चीरकर उसी में अपना पैर घुसेड़ कर जमीन्दार उसे गरम करता था ।[९] प्रजा की युवती कन्या विवाह के बाद सोहाग की रात जमीन्दार या महन्त के साथ बिताने के लिये भेजी जाती थी ।[१०] इस कानून को लैटिन भाषा में (Mulchata Mulierum) कहते थे । इसी प्रथा को हमारे देश में 'गुरू प्रसाद' कहते हैं । यह प्रथा पश्चिमी यूरोप के बहुत से देशों में, यहाँ तक कि इङ्गलैण्ड तथा आयरलैण्ड में भी प्रचलित थी । लूथर के धार्मिक सुधार आन्दोलन

७ Mammsen—His of Rome

८ (क) Beer—Social struggles in antiquity

(ख) Socialism and Socialist Formers in Medieval Europe

९ Alison—Fr Revo Vol. I

१० Westermack—His of Human Mariage. (Allison)

के समय जर्मनी में जो किसान विद्रोह[११] हुआ था, उसका एक कारण गुरू प्रसादी प्रथा* भी है।

इन सब प्रथाओं के खिलाफ़ धर्म के नाम पर साम्यवाद के प्रचार के कारण किसानों का विद्रोह हमें दिखाई पड़ता है। इङ्गलैण्ड मे ललार्ड के दलवालों के प्रचार से 'वाट टाइलर का विद्रोह' हुआ, दक्षिणी फ्रांस में अलबिनगेनशियों का बलवा हुआ, उसी प्रदेश में भीषण किसान विद्रोह हुये, जिन्हें 'भलेमानस जैक का बलवा' कहा जाता है, और लूथर के समय अनाबैपटिस्टों का ग़दर और दक्षिण जर्मनी में किसान विद्रोह हुए। रूस में कज़ाक किसानों ने युगाचेव के नेतृत्व में विद्रोह किया। लेकिन मध्यमवर्ग की सहायता से सामन्तशाही ने इन सब विद्रोहों का निर्दयतापूर्वक दमन किया। यूरोप का मध्यमवर्ग ज़मीन्दारों के चगुल से छुटकारा पाये हुये गुलाम किसानों की सन्तान है। समय तथा आर्थिक और राजनैतिक परिवर्तनों के कारण वे शहरों में आकर किसानों से विच्छिन्न होकर मध्यमवर्ग के नाम से पुकारे गये। किसान विद्रोह के समय इस वर्ग ने आभिजात्य वर्ग का साथ दिया, यह पहले लिखा जा चुका है।

इसी तरह यूरोप के चतुर्थ वर्ग[१२] (Fourth State) के विद्रोह की आग तलवार से बुझाई गई, लेकिन इससे किसानों की समस्या हल नहीं हुई। मध्ययुग के बाद राजनीति के भीतर से इसने पुनः आत्मप्रकाश पाया। इङ्गलैण्ड के तथाकथित प्युरिटन (Puritan) विद्रोह किसानों को समान करने वाले (True Levellers) के नाम से मशहूर थे। क्रामवेल के नेतृत्व में आभिजात्य वर्ग के विरुद्ध लड़ने वाले मध्यम वर्ग के गणतांत्रिकों के साथ प्युरिटन लोगों ने मिलकर क्रान्ति का झंडा उड़ाया। इस दल के किसानों को साम्यवादी (Agrarian Communist) भी[१३] कहा जाता था। क्रान्ति के समय जमीन्दारों की ज़मीन छीनकर इन लोगों ने पचायती खेती शुरू कर दी। लेकिन क्रान्ति के बाद मध्यमवर्ग के नेता क्रामवेल ने इनका दमन किया और उनके नेताओं का खात्मा कर दिया। विभिन्न विद्रोहों तथा अर्थनैतिक कारणों से गुलाम किसानों की प्रथा उठा दी गई और उनकी जगह स्वाधीन किसान दिखाई पड़े। आज इङ्गलैण्ड में मौरूसी किसान और जमीन्दार दोनों मौजूद हैं, और इसके अलावा जमीन्दारों की जमीन लगान पर लेकर जोतने वाले किसान भी हैं। इसके बाद फ्रांसीसी क्रान्ति का ज़माना आया। क्रान्ति की आग में गुलाम किसानों की प्रथा भस्म हो गई और किसान ज़मीन के मालिक बन गये। अचानक स्वाधीनता प्राप्ति के बाद इन किसानों ने ज़मीन्दारों के देहात वाले महलों (Chateau) को घेर कर जला दिया। फ्रांसीसी क्रान्ति के आधार शहरों के मज़दूर और देहातों के गुलाम किसान थे। उन्होंने समानता, भ्रातृत्व और स्वतन्त्रता के नारों से उत्साहित होकर असम्भव को सम्भव कर दिखाया। उनकी इस जीत का नतीजा यह हुआ कि गुलाम किसानों की प्रथा उठ गई, किसान स्वतंत्र हो गये और ज़मीन पर उनका अधिकार (Peasant Proprietorship) स्थापित हुआ। इस क्रान्ति की लहर यूरोप के दूसरे देशों में पहुँची और वहाँ

---

* बीरभूम में इस प्रथा को 'इन्द्र प्रसाद' कहते हैं। गुजरात में यह प्रथा अब भी प्रचलित है। बंगाल में और खासकर मिदनापुर जिले में यह प्रथा आज से ३० वर्ष पहले तक प्रचलित थी।

मानभूम जिले में भी यह प्रथा थी। पहले यह प्रथा उड़ीसा में भी थी। दक्षिण भारत में भी यह प्रथा प्रचलित थी।

(११) Engels—Peast War in Germany.

(१२) Alison and Hayes—His of Modern Europe

१३ E Bernstein—Die English Revelution (The Puritan Revo. in England)

एक के बाद दूसरे देश से गुलाम किसान प्रथा उठती गई। स्वाधीन किसानों की सृष्टि हुई। फ्रांसीसी क्रान्ति का प्रभाव बहुत व्यापक हुआ। जहाँ कहीं भी फ्रांसीसी सेना गई, वहाँ नैपोलियन के अधीन तमाम देशों में फ्रांसीसी क्रान्ति का बीज बोया गया। इसका नतीजा यह हुआ कि १९ वीं सदी राष्ट्रीयता (नैशनलिज़्म) का युग कहलाता है। सामन्तशाही के हाथ से अब राष्ट्र शक्ति बुर्जुआ वर्ग (धनी लोगों) के हाथों में गई। क़ानून की नज़रों में सबको बराबर अधिकार मिला, गुलाम किसानों को प्रथा उठ गई, ज़मीन पर किसानों का क़ब्ज़ा हो गया और जमीन्दारी प्रथा उठा दी गई।

१९ वीं सदी में विभिन्न कारणों से गुलाम किसानों (Serf) की प्रथा उठा दी गई। नैपोलियन ने जब जर्मनी से प्रशिया छीन लिया, तब वहाँ के प्रधान मंत्री हेरडन ने गुलाम किसानों को पलटन में भर्ती करना चाहा। इसीलिये वहां से गुलाम किसानों की प्रथा उठा दी गई। हेडन ने बहुत सी ज़मीन्दारियां खरीद कर उन्हें टुकड़े टुकड़े कर किसानों में बेच दिया। अब यूरोप में दो तरह के किसान दिखाई पड़े। जो अपनी जमीन जोतते थे, उन्हें खेतिहर (Farmer) और जो जमीन्दारों की जमीन जोतते थे, उन्हें खेतिहर-मजदूर (Agricultural labourer) कहते थे। इसके बाद जब यूरोप में कल-कारख़ानों का ज़माना आया तो, इन्हीं खेतिहर मज़दूरों का समूह शहरों में आकर सर्वहारा यानी कमकर (Proletariat) के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हुआ। क्रीमिया की लड़ाई के बाद रूसी ज़ार अलेक्जेण्डर द्वितीय ने गुलामी की प्रथा उठा दी और उसकी जगह 'मीर' (Mir) प्रथा स्थापित की। कुछ व्यक्तिगत स्वाधीनता मिलने पर भी गुलामों की आर्थिक दशा पूर्ववत ही रही। फ़र्क़ यह था कि किसान ज़मींदार के चंगुल से छूटकर 'मीर' के अधीन हो गया। गुलामी की प्रथा उठ जाने से ज़मीन्दारों को ही अधिक लाभ हुआ।[१४]

ऊपर 'मीर' प्रथा का ज़िक्र किया गया है। इस प्रथा के विषय में कुछ प्रकाश डालना जरूरी है। गुलामों की प्रथा के ज़माने में ज़मीन्दार उसे गुज़र-बसर के लिये थोड़ी सी जमीन दे देता था, इसके लिये किसी तरह का कर नहीं लेता था, और गुलाम जिन्दगी भर जमीन्दार की गुलामी करता था। जमीन्दार गुलाम को बेच सकता था, उसे साइबेरिया (काले पानी) भेज सकता था, या पल्टन में भर्ती होने के लिये बाध्य कर सकता था। इस प्रथा के उठ जाने से उपर्युक्त ज़ुल्म उठा दिये गये, और किसान को कुछ व्यक्तिगत स्वाधीनता मिली। सरकार ने जमीन्दारों से थोड़ी थोड़ी जमीन लेकर सामूहिक रूप से मुक्त गुलामों को दे दी। इसी प्रथा को 'मीर' कहते हैं। किसानों को सामूहिक रूप से जमीन्दारों को लगान देना पड़ता था। ज़मीन्दारों का लगान अदा करने के लिये सरकार किसानों को नाम मात्र कर्ज भी देती थी। किसानों से ज़मीन्दार कसकर लगान वसूल करते थे।

१९ वीं सदी में किसानों के सामने दो प्रधान समस्यायें थीं—(१) जमीन्दारी प्रथा का ध्वंस करना, (२) अपनी जमीन जोतने वाले खेतिहरों (Farmer) को पूर्ण अधिकार देना (इन्हें पंजाब में 'जमीन्दार' कहते हैं)। ये समस्यायें आज भी यूरोप के किसानों के सामने हैं।

इसी बीच में, १९ वीं शताब्दी के समाजवादियों ने एक नारा बुलन्द किया कि ज़मीन राष्ट्र की सम्पत्ति बनाली जाय (Nationalisation of land)। लेकिन इस नारे को जन्म देने का श्रेय शहरों के कल कारख़ाने वाले धनियों (Bourgeoisie) को है। समाजवादियों ने इस नारे को उन्हीं

१४ B. Maklakor—The Peasant question and the Russian Revo the Slavonic

से लिया, क्योंकि उन बनियों में ऐसी ताक़त नहीं थी कि वे इसे कार्यरूप में परिणत करने के लिये आन्दोलन करते। और बाद में इन दोनों वर्गों में एकता भी हो गई। यूरोप के समाजवादियों और साम्यवादियों ने ज़मीन पर किसानों का अधिकार स्थापित करना चाहा। पर आगे चलकर समाजवादी अन्य नरम दलों की तरह साम्राज्यवादियों से सहयोग करने लगे, और इसके लिये सक्रिय आन्दोलन भी बन्द कर दिया, लेकिन १९ वीं सदी के अंतिम काल में मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट इसके लिये लगातार आन्दोलन करते आ रहे हैं।

१९१७ ई० के नवम्बर मास में रूसी क्रान्ति हुई। बोलशेविक दल के हाथ में राष्ट्रशक्ति आ जाने के बाद मज़दूर-किसानों की पंचायती शासन व्यवस्था स्थापित हुई। ज़मीन राष्ट्र की सम्पत्ति हो गई। अब किसान समस्या एक दूसरे दर्जे पर पहुँच गई।

रूस के किसानों में एक क्रान्तिकारी (Social Revolutionaries) नामक दल भी काम करता था। यह मध्यमवर्ग के राष्ट्रीयतावादियों का दल था। ये मार्क्सवाद के घोर विरोधी थे। किसानों को ज़मीन देने का वादा इस दल ने भी किया था। लेकिन १९१७ ई० की फरवरी क्रान्ति के बाद इनका नेता केरेंस्की कैडेटों (Cadets—Constitutional Democrats) (रूस का एक राजनैतिक दल) के सहयोग से डिक्टेटर बना, पर उसने किसानों को ज़मीन देने के वादे को पूरा नहीं किया। इस दल वालों की ज़बान पर तो राष्ट्रीयता की बोली थी, लेकिन असल में ये फ़ैसिस्ट थे। इसी समय लेनिन के नेतृत्व में बोलशेविक दल ने ज़मीन किसानों को देने के लिए ज़ोर शोर से आन्दोलन शुरू किया। मज़दूरों किसानों और सिपाहियों ने मिलकर नवम्बर क्रान्ति को सफल किया। लेकिन ज़मीन व्यक्तिगत रूप से किसानों में बाँटी नहीं गई, बल्कि वह राष्ट्र की सम्पत्ति बना ली गई। इससे किसानों ने जगह जगह व्यक्तिगत रूप से ज़मीन पर क़ब्ज़ा कर लिया। कई जगह किसानों ने ज़मीन्दारों को लूट लिया और उनका घर जला दिया।[१५]

उन्होंने सरकार के नये हुक्मों को मानने से इन्कार कर दिया। ज़मीन राष्ट्रीय सम्पत्ति है इस घोषणा के बाद किसानों ने तरह तरह से सरकार को दिक़ करना शुरू किया। वे कहीं कहीं पहले से कम ज़मीन जोतने लगे, सरकारी टैक्स कलक्टरों को उन्होंने खदेड़ कर भगा दिया और कुछ स्थानों में मार भी डाला। देश में खाने की चीज़ों की कमी होने लगी। इसी समय लेनिन ने 'नई अर्थनैतिक नीति' (New Economic Policy—NEP) को जारी किया। लोगों को व्यक्तिगत रूप से कारोबार तथा सम्पत्ति संचय के कुछ अधिकार दिये गए। किसान शान्त हो गए और पहले की तरह खेती करने लगे। इस नई नीति के अनुसार ज़मीन पर राष्ट्र का ही अधिकार रहा; लेकिन किसानों को अपने गुज़रबसर के लायक ज़मीन सरकार से मुफ़्त में मिली। इस ज़मीन पर किसानों का व्यक्तिगत अधिकार नहीं था, अगर वे खेती छोड़कर दूसरा धंधा करने लगते, तो ज़मीन दूसरे किसान को दे दी जाती। जिस तरह मज़दूरों का कारखानों पर व्यक्तिगत अधिकार नहीं है, उसी तरह किसानों का भी ज़मीन पर व्यक्तिगत अधिकार नहीं रह गया। उपर्युक्त नीति के लिए लेनिन को तरह तरह की विरोधी समालोचनाओं का सामना करना पड़ा। दूसरे देश के समाजवादियों ने कहना शुरू किया कि लेनिन ने मार्क्सवाद को धता बता दी है। साम्राज्यवादियों के दल ने कहना शुरू किया कि इस तरह की प्रथा तो हमारे यहाँ भी है।

नई अर्थनैतिक नीति एक दूरदर्शितापूर्ण सामयिक व्यवस्था थी और इस नीति से लेनिन ने रूस को एक भीषण अवस्था से बचाया। स्तालिन के ज़माने से रूस में सामूहिक खेती होने लगी है। इस सम्बन्ध में भी

१५ S N Prokopovitch—The Eco Condition of Soviet Russia PP. 62 and on

राहुल जी की पुस्तक 'सोवियत् भूमि' जिसे हम एक सोवियत्-विश्वकोष कह सकते है, देखना जरूरी है। वैसे भी हमारे देश में इस पर इतना लिखा और कहा जा चुका है कि साधारण जनता भी इसके फ़ायदे को समझने लगी है। इस व्यवस्था की स्थापना के बाद किसान समस्या एक और भी ऊँचे स्तर पर पहुँच गई है। अब व्यक्तिगत खेती तथा सामूहिक खेती को किसानों ने तौलना शुरू किया है। सफल सामूहिक खेती ने दुनिया के दूसरे देशों के किसानों को प्रभावित किया है। १९१९ ई० में लड़ाई के बाद यूरोप के कई देशों में 'हरी क्रान्ति' (Green Revolution) यानी 'किसान क्रान्ति दिखाई पड़ी थी। लिथुआनिया, लटविया, रूमानिया, हंगरी, आस्ट्रिया, साइलेशिया आदि देशों के किसान अपने यहाँ ज़मीन्दारों के विरोध में उठ खड़े हुये और ज़मीन्दारों से उन्होंने ज़मीन छीननी शुरू की। इन किसान क्रान्तियों के फलस्वरूप उपर्युक्त देशों की कुछ सरकारों ने ज़मीन्दारों से ज़मीने खरीदकर सस्ते में किसानों के हाथ बेच दिया है, और किसी किसी देश में तो सरकार ने ज़मीन्दारों से ज़मीन ही छीनकर किसानों को दे दी है।

निन्दा के लिये क्या करें ?

एक बार भगवान् बुद्ध अपने पाच सौ शिष्यों के साथ राजगृह से नालन्दा की ओर जा रहे थे। इनके पीछे-पीछे सुप्रिय नाम का एक परिव्राजक भी अपने एक शिष्य के साथ जा रहा था। सुप्रिय भगवान् बुद्ध धर्म और भिक्खु-सघ की निन्दा कर रहा था। भिक्षुओं ने जब यह बात सुनी तो आपस में इसी को चर्चा करने लगे। धीरे-धीरे यह बात भगवान के कानों तक पहुँची। उन्होंने भिक्षुओं को सम्बोधन करके कहा, "भिक्षुओ! यदि कोई मेरी निन्दा करे, या सघ की निन्दा करे, तो तुम लोगों को न (उससे) वैर, न असन्तोष और न चित्त में कोप करना चाहिए।

"भिक्षुओ! यदि कोई मेरी, धर्म की या सघ की निन्दा करे, और तुम उससे कुपित या खिन्न हो जाओगे, तो इसमें तुम्हारी ही हानि है।

"भिक्षुओ! यदि कोई मेरी, धर्म की या संघ की निन्दा करे, तो क्या तुम लोग झट कुपित और खिन्न हो जाओगे, और इसकी जाच भी न करोगे कि उन लोगों के कहने में क्या सच बात है और क्या झूठ?

"भिक्षुओ! यदि कोई निन्दा करे, तो तुम लोगों को सच और झूठ बात का पूरा पता लगाना चाहिए—क्या यह ठीक नहीं है, यह असत्य नहीं है, यह बात हम लोगों में नहीं है?

"भिक्षुओ! और यदि कोई मेरी, धर्म की या संघ की प्रशंसा करे, तो तुम लोगों को न आनन्दित, न प्रसन्न और न हर्षोत्फुल्ल हो जाना चाहिए। यदि तुम लोग (प्रशंसा) आनन्दित, प्रसन्न और हर्षोत्फुल्ल हो जाओगे, तो उसमें तुम्हारी ही हानि है।"

—'धर्म दूत'

कच्चा रास्ता

पण्डित माखनलाल जी चतुर्वेदी

गाड़ी ढचर-ढचर चली जा रही थी। देहाती रास्ता था। कच्चा। तिस पर पहाड़ी। पक्की सड़कों पर एक दुःख। सड़क पर पिटे हुये पत्थर, गाड़ी के पहिये के लोहे के पट्टे के संघर्ष से, कुहराम सा मचाते हैं। मिट्टी के कच्चे रास्ते पर चलने वाले चक्के, ऐसे जाते हैं, मानों मिट्टी पर बिछी हुई मख़मल पर से गुज़रते हों। पेट का पानी भी नहीं हिलता। और पक्की सड़कों पर तो बैल गाड़ी या घोड़ा गाड़ी के राहगीर के पेट के जोड़ मानों उछल उछल कर खौलने लगते हैं। शायद इसीलिये संघर्ष को गति का जनक, और सुविधा को मरण समाधि बताया जाता है। ख़ैर। किन्तु कच्चे रास्ते में एक ही ख़राबी। खन्दक, खाई, गढ़ा, टीला, ऊँचक नीचक जगहें, बेहूदा घुमाव, और 'ऐंचक बेंचा' चढ़ाव आदि। बैल जब धीरे चलने लगते हैं, तब हाँकने वाला टट् टट् की एक ऐसी आवाज़ करता है, जिसे हाँकने की आवाज ही कहते हैं। किन्तु अपनी सम्पूर्णता का दावा रखकर भी, देवनागरी वर्ण-माला, उस स्वर के लिखने में असमर्थ मालूम होती है। हाँ तो वह स्वर, वह टट् टट्, जुते बैलों के धीमा पड़ते ही, उन्हें मानों शीघ्र चलने की याद दिलाता है; और यह चेतावनी भी है, कि अब भी न चेते, तो हाँकनी का सटाका पड़ा। और जिस पर हाँकनी की वह 'आर'। वह कीला, जो बैलों के हाँकने के लिये, लकड़ी के डंडे पर निकला रहता है! यह अंग्रेज़ी के आर अक्षर की आकृति नहीं है। यह तो उर्दू का 'अलिफ़,' अंग्रेज़ी का 'आई' और हिन्दी के 'आ' की मात्रा है। इसका नाम न जाने किसने 'आर' रखा। मालूम होता है, बैलों के कांधों पर रखे रखे जूड़े घिस जाने वाले की तरह हूल हुस्सा औज़ारिन का भी आधा भाग घिस गया। चूंकि, बैल के कूल्हे पर गड़ते ही, दयालु भारतवर्ष के धर्म-प्राण लोगों का नाम-सा लिखती हुई, जो रक्तधारा निकलती है, वह, उस कीले के, बैल के चमड़े के आरपार होने के कारण ही निकलती है। अतः इसका नाम किसी दिन 'आरपार' ही रहा होगा।

इसी तरह दिहाती कच्चे रास्ते के सुख वस्तु यात्रियों के लिये, जो सकट-समूह टीलों आदि का मैंने गिनाया है, उनमें कुछ तो मानों कच्चे रास्ते की टट टट् हैं, जिससे यात्री को सजगता और सावधानी दी जाती हैं। और कुछ कठिन हैं, आरें। किन्तु प्रकृति कितना भी कहो, तो क्रूरता में मनुष्य से बाज़ी नहीं ले जा सकती। मनुष्य की 'आर' तो बस मनुष्य की ही आर है। उसकी दृष्टि में 'आर'। उसकी इच्छा में 'आर'। उसकी महत्वाकांक्षा में 'आर' और उसकी हाँकनी में तो आर है ही!

तुक पर तुक यों मिली कि गाड़ी ढचर-ढचर चली जा रही थी। रामधन गाड़ी हाँक रहा था। मैं गाड़ी में बैठने का कष्ट उठाये हुये था! बैल कांधे के बल गाड़ी घसीटते, और पाँवों के बल दौड़ते थे। रामधन आखों के बल झुककर कभी चकील (गाड़ी के चक्के की कील), कभी लोहे के पट्टे और कभी जूड़ी के पास लगे धुरकीले को देखता। गो-माता के दोनों पुत्रों को कभी ललकार से, कभी लाल से, और कभी हाँकने की लाठी से मारता जाता। मैं भी बेकार न था। बैलों के पैर, और रामधन का हाथ 'चालू' था, तो मेरा सिर चल रहा था। और जिस तरह गाड़ी के रास्ते में ऊंचे से ऊंचे टीले, नीची से नीची खाइयां थीं, वैसे ही मेरे सिर के चलने के रास्ते में मनोविकारों के सकट पड़ रहे थे। अन्तर इतना ही था, कि रामधन के जंगली रास्ते में मार्ग में पत्तों के तोरण लगे थे, सारस की क़तारें चलते-फिरते तोरण बना रही थीं—और मुझे बड़ा अचरज हुआ, जब प्रकृति के कौशलों पर, मेरी कभी मुंदी और

कभी खुली नज़र पड़ गई। बहते हुए बादलों पर बिना धुले, और दौड़ते हुए बादलों के साथ बिना भागे, स्थिर इन्द्र धनुष बरसात में क़ायम ! और इस रूखे में नीले आसमान के पृष्ठ भाग पर; समस्त हरियाली के ऊपर, ये दूध के से सफ़ेद पाखों वाले, खूब खुले, नये धुले, और हर घड़ी बिजली के से क्रम से हिलते डुलते थे, क़तार बँधे सारस दल के तोरण ! किन्तु दिमाग़ के आसमान में, जब मैं देखता तो अनेक इरादों के आदमी, ज़ुकाम की दुर्गन्ध थी ही ! मैं तो इस तरह आसमान पर ही था, कि जमीन पर, एक नाले के कीच में गाड़ी धँस गयी। रामधन ने—तुझे मरई खा जाय, तुझे बाघ खाय, तेरी माँ, तेरी बहन—क्या क्या 'स्तोत्रपाठ' नहीं किये ! गऊ-माता से अपना रिश्ता मानते हुए, ये गालियाँ कहाँ बैठती थीं, इसकी ओर रामधन का ध्यान कहा ! इस समय तो वह योगियों की सी धुन से समस्त शक्ति लगाकर बैलों की पूछें मरोर रहा था, मानों उन्हीं की 'दुम मरोर' की तरणी पर हम कीचवाले नाले की वैतरणी पार करने वाले थे। इस समय के वे पन्द्रह मिनट। पहले मुझे रामधन पर क्रोध आया कि वह गऊ के जाये गूंगे जानवरों पर इतनी सख्ती क्यों कर रहा है। किन्तु इतने ही में मेरा शहराती जाग पड़ा, जो धर्मोपदेशों, पुस्तकीय ज्ञानों, और महिमा के आडंबर के नीचे सोया हुआ था। अभी तक मैं रास्तों पर जा रहा था, किन्तु शहराती वाला 'मैं' जागा कि मेरी आँखें घड़ी के सेकेंड वाले कांटे के साथ घूम उठीं। मैंने रामधन से कहा—

"पैसा लेकर, यह हरामख़ोरी ! तुम टिट् टिट् कर तमाशा कर रहे हो। और मेरा वक्त निकला जा रहा है !

"तुम जंगली क्या जानो, कि मेरे वक्त की कितनी क़ीमत है। रेल निकल गई तो फिर एक पैसा न दूँगा। सौ जूते दूँगा ऊपर से, सो अलग !

"और सभा भी क्या ऐसी वैसी है। ख़ास वर्किंग कमेटी की बैठक है। अफ़सोस, पाजियो, हम तो तुम किसानों के लिये मरें-खपें और प्रस्ताव और उप-प्रस्ताव पास करें, और उनके लिये लम्बे-लम्बे भाषण करके आसमान कम्पित करें, और तुम हमें कीचड़ के घाट लाकर खड़ा करदो !" कि इतने में दूसरा मिनट हुआ, और मैंने रामधन से कहा—"ले यह डंडा और लगा साले बैल की पीठ में तान कर !"

अब रामधन की भी वाचा टूटी। बोला—"हुज़ूर, यह मेरे घर का ही बछड़ा है। मैंने इसे बेटे जैसा पाला है। मुझ से तो यह डंडा न मारा जायगा। आपने जो कल अपने मामा के यहा कबरी गाय देखी थी, जिस पर आप प्यार से हाथ फेर रहे थे, वह इसी की माँ है। इसी का दूध आपने कल खाया था। मैंने ही वह गाय आप के मामा जी को दी—"

मेरा धीरज छूटा। मैंने कहा "लाट साहब के बेटे मुझे तेरे व्याख्यान की ज़रूरत नहीं है।" इतना कह कर मैंने ज़ोर से डंडा ताना और दिया कीच में फसे हुए बैल की पीठ पर। और जूड़ी की रस्सी तोड़कर बैल नाले के उस पार !

मैंने फिर रामधन से चिढ़कर कहा "अब क्या तेरा बाप गाड़ी खींचेगा" और वही डंडा रामधन के सिर पर मारा।

रामधन ने फिर कहा—मेरा बाप नहीं ग़रीब परवर ! मेरा बेटा ही गाड़ी खींचेगा। उधर बैल रस्सी तुड़ाकर कुछ भागता सा जा रहा था। वह चौक नहीं दौड़ रहा था, किन्तु वह चल भी नहीं रहा था। दौड़ ही रहा था। रामधन ने आवाज़ लगाई मोहन ओ मोहन ! और बैल ठिठककर खड़ा हो गया और घूमकर देखने लगा। मानों वाणी से बँधा सिपाही है, और सेनापति की आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहा है।

गाँधी टोपी से ढँके मेरे साहबी स्वभाव में कुछ उतार आया। मैं देखकर चौंका कि क्या बैल, मानव की बोली पर इतना सावधान ! पर मेरे प्राण तो घड़ी में थे। मैंने कहा—"जल्दी ला बे ! जोत उसे, और चला गाड़ी।"

रामधन ने टूटे की टूटी हुई चमड़े की रस्सी, नाह, नाधी; टूटा हुआ जोत जोड़ा, टूटा हुआ सैल, कुल्हाड़ी से हरे झाड़ की टहनी काटकर नया बनाया, और दूर खड़े हुये मोहना को मनाने चला गया।

मोहना की रस्सी जब रामधन खींचता, तब वह आगे आने को तैयार न था, यह उसका पीछे का खिंचाव साफ़ कह रहा था। किन्तु रामधन ने धीमे से पुचकारा, उसकी पीठ पर हाथ फेरा, और मोहना, धीरे धीरे चला आया। रस्सी भी रामधन ने छोड़ दी थी, वह ज़मीन पर घिसटती चली आ रही थी। और रामधन दौड़कर, कीच में आगे आ गया, उसने अपने दूसरे बैल को, जिसे वह कामला कहता था, खोल कर मोहना की जगह पर जोता, और मोहना को कामला की जगह पर।

मैंने पूछा, क्या बैल भी कांपते हैं रे रामधनवा!

इस समय रामधन, जरा देर कर के,—मानों होश मे न हो,—बोला हां सरकार। जब इनको भूख प्यास लगती है हुज़ूर, तो कॅपकॅपी क्यों न आयेगी। और उसने गाड़ी के चक्के का लोहा, पार पकड़ कर ज़ोर से खींचा, और गाड़ी चलने लगी!

इस समय, चूंकि घड़ी मुझे डरा रही थी, कि शायद पाथिया स्टेशन पर रेलगाड़ी मुझे नहीं मिलेगी। अतः मेरा सिर आसमान का सोचना छोड़-कर, ज़मीन पर उतर आया था। उधर, नालों के उस पार तक बातें करता, बैलों को लातें और हांकनिया मारता हुआ और चिल्लाता हुआ रामधन अब मौन था।

मैंने पूछा स्टेशन कितनी दूर है रे!

रामधन बोला—यह क्या सामने रेल के खम्भे दीख रहे हैं।

यहां से कितनी दूर पड़ेगा।

कोई आधा कोस।

आधा कोस! अरे बाप रे, अरे गाड़ी आने को तो सिर्फ २० मिनट रह गये हैं।

अब मुझसे फिर न रहा गया। तुम्हारे सारे गाड़ी बैलों में आग लगाकर गांवों में तो मोटरें ही चलनी चाहियें। महात्मा गांधी गांवों में आकर देखें कि कैसे मूर्खों से और कैसे मुश्किलों से काम पड़ता है, तब उन्हें पता चले। अब अगर गाड़ी नहीं मिली तो बच्चू—

रामधन ने शायद मेरा क्रोध शान्त करने और विषय बदलने के लिये पूछा—

सुराज मिलने में कितने दिन और हैं सरकार!

मैं तो क्रोध में था ही—बोला, तुम जैसे तकलीफ देने वाले लोग रहें, तो हम क्यों स्वराज्य के लिये मरें-खपें। वह ले सिंगल हो गया!

रामधन ने, बैलों की पीठ पैर धक्का दिया और वे भागने लगे।

रामधन ने फिर पूछा—सुराज मे सरकार सब आपई (ही) जैसे कपड़े पहिनते होंगे!

'हां,—तुम लोगों को भी महात्मा गांधी की आज्ञा से खादी पहिनना चाहिये।'—मैंने उत्तर दिया।

अच्छा सरकार' रामधन ने कहा। और फिर पूछा—हुजूर आपई जैसे बड़े आदमी सुराज में होयँगे?

मैंने कहा—हां, तभी तो अंग्रेज़ सरकार, स्वराज वालों से डरती है। देखा नहीं, कल की सभा में, वो पुलीस इंस्पेक्टर आकर कितना झुककर सलाम करता था।

रामधन ने कहा—'हां सरकार' और चुप हो गया। कि इतने ही में स्टेशन की बस्ती की सड़क पर, एक राहगीर सेठ ने कहा—"दीखता नहीं है बे गाड़ीवाले अन्धे ऊपर ही चढ़ाये चला आ रहा है।"

"गाड़ी तो सड़क पर ही है सरकार। और मैं बैलों को खूब थामे हुए हूं। आप निकल जांय।"

ये थे सेठ शिवदयाल जी। उनकी नज़र मुझ पर पड़ गई। आकर गाड़ी में, लिहाफ़ के नीचे सुरक्षित मेरे चरणों पर, लिहाफ़ के ऊपर से ही मत्था रख दिया।

स्टेशन आया। किराये चौदह आने ठहरे थे। मैंने रामधन को तीन चौअन्नियां निकाल कर दीं।

उसने कहा—ये बारह आने कैसे?

मैंने उनमें एक दोअन्नी और मिलादी। और कहा ले।

रामधन बोला नहीं सरकार, पैसे नहीं चाहियें। यों भी तो हम लोग, बेगार में आते ही हैं।

मैंने इसे रामधन की नम्रता समझी। बोला—यह कुरता लेजा। खादी का है। दो-एक जगह फटा है, सो सिलवा लेना। तेरे पास हमारी याददाश्त रहेगी।

रामधन बोला नहीं सरकार, बकरिया बाघम्बर पहिनें तो अच्छी नहीं लगतीं। ये तो आप बड़े आदमियों को ही शोभते हैं।

तब मैंने पूछा, तुझे हमारे आने की याद कैसे रहेगी—

रामधन आँखों में आंसू भरकर, अपने मोहना बैल की पीठ पर उस जगह हाथ फेरने लगा, जहां मेरा डंडा पड़ा था।

लोग खूब एकत्र हो गये थे। और एक दो फूलों की तथा फूलों की माला मेरे गले में पड़ चुकी थीं।

जगदेव शर्मा ने, लोगों को सम्बोधित कर कहा—"देखिये, गाड़ी वाले किसान की अपने नेता के प्रति भक्ति, कि वह बजरवाड़े का रामधन भाई, किराये के पैसे नहीं लेता और भक्ति से उसकी आँखें आँसुओं से भरी हुई हैं।

लोगों ने एक स्वर में चिल्लाकर कहा—

" महात्मा गांधी की जय!"

रवीन्द्र-वचन

" तुम क्या समझते हो कि फ्रान्स का पतन एक आकस्मिक घटना है? बेलजियम का हार जाना कोई बड़ा भारी आश्चर्यजनक व्यापार है? तुमने कभी सोचा है कि इन साम्राज्यवादी क्षुद्र देशों ने कितने पाप किये हैं, दीन अशिक्षित और शस्त्रहीन कितनी जातियों को हतवीर्य और पंगु बनाया है, कितनों के रक्त को चूसकर अपने आपको स्फीतकाय बनाया है? सफेद आदमियों के चमड़े पर जरा सी खरोंच पड़ती है तो तुम लोग चिल्ला उठते हो कि अत्याचार हो रहा है, अनर्थ हो रहा है, 'बर्बरता का ताण्डव' हो रहा है, पर बेलजियम ने कांगों में जो कुछ किया था वह तुम्हें मालूम है? हालैण्ड ने जावा को किस बुरी तरह से रौंदा है, उसका तुम्हें कुछ पता है? मैं जानता हूँ!"

—स्वर्गीय गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर

भारतीय-संस्कृति में जैन संस्कृति का स्थान

श्री जयभगवान जैन, बी ए, एल-एल बी.

भारतीय संस्कृति और उसके जन्मदाता

भारत की संस्कृति, जो ज़माने के उतार-चढ़ाव में से होती हुई आई है, जो लम्बे मार्ग की कठिनाइयों को झेलती हुई आई है, जो अपनी सहनशीलता के कारण आज अनित्यों में नित्य बनी हुई है, जो अपनी सभ्यता के कारण आज विभक्तों में अविभक्त बनी हुई है, जो सदा विश्व-कल्याण के लिये अग्रसर रही है, जो सदा पतितों को उठाती रही है, पीड़ितों को उभारती रही है, निर्बलों को बल देती रही है, भूले भटकों को राह बताती रही है, जो आज गुलामी में रहते हुये भी हमें ऊँचा बनाये हुये है, दु:खी संसार की दृष्टि अपनी ओर खींचे हुये है, किसी एक जाति, एक सम्प्रदाय एक विचार धारा की उपज नहीं है। यह उन अनेक जातियों, अनेक सम्प्रदायों, अनेक विचार-धाराओं की उपज है, जिनका सम्मेलन भारत की भूमि में हुआ है, जिनका इतिहास यहा की विविध अनुश्रुतियों लोकोक्तियों और पौराणिक कथाओं में छिपा पड़ा है, जिनके अवशेष यहा के पुराने जनपदों, पुराने पुरों और नगरों के खण्डहरों में दबे पड़े हैं। इनका उद्घाटन करने और रहस्य जानने के लिये अभी लम्बे और गहरे अनुसन्धान की ज़रूरत है। परन्तु जहा तक पुरानी खोजों से पता चला है, यह निर्विवाद सिद्ध है, कि इस संस्कृति के मूलाधार दो वर्ग रहे हैं, ब्राह्मण और क्षत्रिय। इसके विकास में दो दृष्टियां काम करती रही हैं, आधिदैविक और आध्यात्मिक। इसकी तह में दो विचार-धाराएँ बहती रही हैं, वैदिक और श्रमण। जहां श्रमणों ने भारत को भीतरी सुख शान्ति का मार्ग दर्शाया, वहां ब्राह्मणों ने इसे बाहरी सुख-शान्ति का मार्ग दिखलाया है। जहां श्रमणों ने इसे निःश्रेयस का उपाय सुझाया है, वहां ब्राह्मणों ने इसे लौकिक अभ्युदय का उपाय बतलाया है। जहा श्रमणों ने इसे भीतरी आनन्द के लिये आत्मा को खोजना सिखाया है, भीतरी इन्द्रियों को जगाने के लिये स्वेच्छा से परिषहों (कठिनाइयों) को सहन करना बताया है, भीतरी कमज़ोरियों को दूर करने के लिये आलोचना और प्रतिक्रमण का पाठ पढ़ाया है, आत्म-विजय के लिये अहिंसा संयम-तप-त्याग, दण्ड-ध्यान का मार्ग दिखाया है, वहा ब्राह्मणों ने इसे शरीर का स्वास्थ्य ठीक रखने के लिये ऋतुचर्या, दिन रात्रिचर्या का सबक़ दिया है, बिना विरोध सब ही ज़िम्मेवारियों को पूरा करने के लिये जीवन को चार आश्रमों में तक़सीम करना और नित्यप्रति अपने समय को चार पुरुषार्थों में मर्यादित करना सिखाया है।

जहां श्रमणों ने इसे 'सोऽहम्', 'तत्त्वमसि' का आत्म सन्देश देकर इसकी दुविधाओं को दूर किया है, कम इच्छा कम चिन्ता रूप त्याग का पाठ पढ़ाकर इसकी आकुलताओं को हटाया है, 'जीओ और जीने दो' रूप अहिंसा का उपदेश देकर इसके सक्लेशों को मिटाया है, वहां ब्राह्मणों ने वर्ण जातियों की व्यवस्था करके इसके सामाजिक विरोधों को दूर किया है, व्यवसायों की व्यवस्था करके इसके आर्थिक संघर्ष को मिटाया है, कुटुम्ब और राष्ट्र की व्यवस्था करके इसके अधिकारों को सुरक्षित किया है।

जहां श्रमण सदा इसकी आत्मा के संरक्षक बने रहे हैं, वहा ब्राह्मण सदा इसके शरीर के संरक्षक बने रहे हैं। जहा श्रमण इसे आदर्श देते रहे हैं, वहां ब्राह्मण इसे विधिविधान देते रहे हैं, जहां श्रमण वास्तविकता (Reality) पर प्रकाश डालते रहे हैं, वहां ब्राह्मण व्यवहार (Practice) पर प्रकाश डालते रहे हैं।

इन आत्मा और शरीर, आदर्श और विधान, निश्चय और व्यवहार के सम्मेल से ही भारत की संस्कृति बनी है, और इनके सम्मेल से ही इस संस्कृति को स्थिरता मिली है।

भारतीय-संस्कृति और उसकी विशेषता—

यों तो संसार के सब ही देशों ने बड़ी-बड़ी सभ्यताओं को जन्म दिया है। बेबीलोन और फिलस्तीन, मिश्र और चीन, रोम और यूनान सब ही सभ्यताओं ने अपनी कृतियों से मानवी गौरव को बढ़ाया है, परन्तु इनमें से किसी को भी वह स्थिरता प्राप्त न हुई, जो भारतीय-संस्कृति को मिली है। ये सब इस दुनिया में ऊषा की तरह आई और संध्या की तरह चली गई। परन्तु इस धूप और छाया की दुनिया में, आँधी और तूफ़ान की दुनिया में भारत की संस्कृति बराबर बनी हुई है।

इस सभ्यता की आख़िर वह कौन सी विशेषता है, जो इसे बराबर कायम रक्खे हुये है? वह एक ही विशेषता है, और वह है इसका आध्यात्मिक आदर्श।

संसार की अन्य सभ्यताओं को क्रियाकाण्ड (Ceremonialism) मिला, व्यवहार (Conventionalism) मिला, विधान (Law and Order) मिला, संघटन (Organisation) मिला, सब कुछ मिला, परन्तु इनमें से किसी को आध्यात्मिक आदर्श न मिला।

इन्हें विजय और साम्राज्य मिला, धन और वैभव मिला, अधिकार और शासन मिला, परन्तु इन्हें वह आदर्श न मिला, जो इस बनती-बिगड़ती दुनिया में सदा ध्रुव रहने वाला है, सदा साथ रहने वाला है, जो सदा भूल भुलय्यों से बचाने वाला है, सदा नीचे से ऊपर उठाने वाला है, जो सदा मनको रिझाने वाला है, सदा काम में आने वाला है, सदा हित का करने वाला है, जो सब ही के लिये इष्ट है, सब ही के लिये साध्य है, सब ही के लिये प्राप्य है, जो सदा स्थायी और विश्वव्यापी है।

इस आदर्श के बिना अन्य सभ्यतायें सदा निराधार बनी रहीं, निस्सार बनी रहीं, इनकी सारी आभा, इनकी सारी महिमा ओपचीसी बनी रहीं। इनकी सारी शक्ति, इनकी सारी प्रगति ओपरीसी चलती रही। ये कभी भी जीवन में अपनी जड़ों को न जमा सकीं, ये कभी भी अपने को बनाये रखने की संकल्पशक्ति को उत्पन्न न कर सकीं, ये ज़माने के चलने और बदलने की सुधारशक्ति (Power of adaptation) को न जगा सकीं, ये कभी भी नये विचारों, नये मार्गों के साथ मिलने-मिलाने की समन्वयशक्ति, (Power of harmony) को न जगा सकीं। इस आदर्श के बिना ये मूढ़गर्भ के समान यों ही जीती रहीं, यों ही बढ़ती रहीं, ये विशेष स्थिति तक पैदा होती रहीं, और चलती रहीं, परन्तु ज्यों ही ज़माने ने पल्टा खाया, नई समस्याओं ने जन्म लिया, नये विचारों ने सिर उठाया, नये विप्लवों ने ज़ोर पकड़ा, त्यों ही ये सब भूकम्प-पीड़ित भवनों के समान एक दम से थहरा उठीं, एक दमसे लड़खड़ा उठीं, ये सब गिरकर मिट्टी का ढेर होगईं।

परन्तु भारत को सदा सर्वोच्च आदर्श मिला है, आत्म आदर्श मिला है, परमात्म-आदर्श मिला है, इसीलिये यहां की संस्कृति सदा ज़िन्दा रही है, और सदा ज़िन्दा रहेगी।

प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक भारत को अनेक उतार-चढाव में से निकलना पड़ा है, अनेक आफतों-मुसीबतों में से गुज़रना पड़ा है। बाहर वालों ने इस पर अनेक आक्रमण किये। पूर्व-पच्छिम से आकर यहां उनके जमघट हुये। कभी असुर आये, कभी वैदिक आर्य आये, कभी सूर्यवंशी आये, कभी सोमवंशी आये, कभी फ़ारिस वाले आये, कभी यूनान वाले आये, कभी पार्थिया वाले आये, कभी बख़्तियार वाले आये, कभी शक और कुशान आये, कभी हूण और तुर्क आये, कभी पठान और मुग़ल आये, कभी फ़रांसीसी और अंग्रेज़ आये। इन सब ही ने आ आकर इस राष्ट्र में अनेक उथल-पुथल मचाये, यहां के समाज के अनेक भेद-भंग किये, इसके

शरीर के अनेक रूप-रंग बदले, इन सब ही ने इस पर अनेक विध प्रहार किये। ये सब ही इसके रहन-सहन में क्रान्ति लाये, इसके व्यसन-व्यवसाय में क्रान्ति-लाये, इसकी भाषा-भूषा में क्रान्ति लाये, इसके आचार-विचार में क्रान्ति लाये, परन्तु इनमें से कोई भी इसे अपने स्थान से न डिगा सका, अपने आधार से न हिला सका। यह सदा आत्मदर्शी बना रहा और आज भी आत्मदर्शी बना हुआ है। यह सदा योगियों का उपासक बना रहा और आज भी योगियों का उपासक बना हुआ है। यह सदा योगाभ्यास को ही आनन्द का मार्ग मानता रहा और आज भी योगाभ्यास को आनन्द का मार्ग मानता है।

इन सब ही बाहर वाले ने भारत के क्षेत्र को विजय किया, इसके धन-दौलत को विजय किया, इसके अधिकार और शासन को विजय किया, परन्तु इनमें से कोई भी इसके आदर्श को विजय न कर सका। इसके विश्वास को विजय न कर सका, इसके संकल्प को विजय न कर सका और इसकी आत्मा को विजय न कर सका। इस सारे आंधी तूफानों में, इस सारी उथल पुथल में भारत बराबर आत्मआदर्श को अपने भीतर के लोक में छिपाये रहा, इसे कौस्तुभमणि के समान छाती से लगाये रहा, इसे ध्रुव तारे के समान अपने जीवन का केन्द्र बनाये रहा।

यद्यपि भारत अपने में संगठन लाने के लिये सदा चक्रवर्तियों का चक्र चलाता रहा, अपने को एकछत्र अधिपति बनाने के लिये अश्वमेध यज्ञ करता रहा, अत्याचार से अपने को बचाने के लिये अत्याचारियों से लड़ता रहा, धर्म-मर्यादा को बनाये रखने के लिये आपस में झगड़ता रहा; न्याय और सत्य के लिये यद्ध यद्ध कर प्राणों की आहुतियाँ देता रहा, परन्तु भारत दूसरों का क्षेत्र छीनने के लिए दूसरों का धन-दौलत लूटने के लिए, दूसरों का ईमान धर्म खोने के लिए कभी भी दूसरों पर हमलावर नहीं हुआ। वह इस आदर्श के कारण सदा सन्तुष्ट बना अपने घर बैठा रहा।

यद्यपि भारत आत्म सन्देश देने के लिये, धर्म का मार्ग बताने के लिये, व्यापार सम्बन्ध जोड़ने के लिये, अपने सुपुत्रों को सदा बाहिर के देशों में भेजता रहा; परन्तु अपनी उद्देश्य पूर्ति के लिये भारत ने कभी भी अधर्म से काम न लिया, अन्याय से काम न लिया, अत्याचार से काम न लिया, पशु-बल से काम न लिया। भारत उनसे सदा सत्य का व्यवहार करता रहा, अहिंसा का व्यवहार करता रहा, प्रेम का व्यवहार करता रहा, सेवा और सहानुभूति का व्यवहार करता रहा, इतना ही नहीं इस आदर्श के कारण, भारत उन आगन्तुकों तक को, जो लगातार इसकी भूमि और धन को, इसके धर्म और कर्म को हरण करने के लिये यहां आते रहे, आत्मवत् सर्वभूतेषु कहकर अपने में मिलाता रहा, उन अनेक वर्णों और जातियों को, जो समय समय पर पैदा होकर इसकी एकता को फाड़ती रहीं, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' कहकर एकता के सूत्र में पिरोता रहा और उन समस्त विचार धाराओं को, जो इधर उधर से आकर बराबर यहां बहती रहीं सत्यम-नेकात्मकम, कहकर सत्य के साथ संगम करता रहा।

इस आदर्श के कारण ही भारत को अपार सुधार शक्ति (Power of adaptation) मिली है। इसीलिये यह विविध स्थितियों में रहता हुआ भी सदा एक बना रहा है, विविध पीड़ाओं को सहता हुआ भी सदा दृढ़ बना रहा है, विविध उतार चढ़ाव में गुज़रता हुआ भी सदा अग्रसर बना रहा है।

इस आदर्श के कारण ही भारत को अगाध आनन्दशक्ति मिली है। इसीलिये यह नित नई आफ़तें पड़ने पर भी सदा शान्तचित्त बना रहा है, प्रति दिन लुटाई होने पर भी सदा सन्तुष्ट रहा है और बार बार बन्दी होने पर भी सदा स्वतन्त्र बना रहा है।

इस आदर्श के कारण ही भारत को अटूट समन्वय शक्ति (Power of harmony) मिली है। इसीलिये यह विचारों से टकराने पर कभी विमूढ़ नहीं हुआ है, विविध रास्तों में घिर जाने पर भी कभी भूलभुलय्या में नहीं पड़ा है। आत्म-आदर्श के

सहारे उन्हें यथा योग्य मूल्य देता हुआ उनका समन्वय करता रहा है। यह जीव और पुद्गल में, आत्मा और शरीर में, जन्म और कर्म (Heredity and culture) में, दैव और पुरुषार्थ (fate and effort) में श्रुति और बुद्धि (Intuition and intellect) में प्रवृत्ति और निवृत्ति (Action and renunciation) में गृहस्थ और सन्यास में पुरुष और समाज (Individual and Society) में, नर और नारायण (Man and God) में, लोक और परलोक मे, आदर्श और विधान (Ideal and Method) में, निश्चय और व्यवहार (Reality and Practice) में सदा सहयोग करता रहा है।

जो लोग बाहर से चल कर यहां विजय करने के लिये आये वे लोग इसके विजेता ज़रूर होगये, परन्तु वे सब ही इसकी आत्मा से विजित होते चले गये, वे सब ही इसके आदर्शों के होते चले गये, इसके विश्वास के होते चले गये, इसके चलन के होते चले गये। होते होते वे इससे इतने रल मिल गये कि आज ८०० वर्ष के आने वालों में तो विजेता और पराजित का भेद करना भी बहुत मुश्किल है। यद्यपि यहाँ आते समय वे सब देवतावाद को लेकर आये, पराधीनतावाद को लेकर आये, दैवी इच्छावाद को लेकर आये, उपासनार्थ क्रियाकाण्ड को लेकर आये, परन्तु यहा रहने पर वे सब ही देवतावाद की जगह आत्मवाद को अपनाते चले गये, पराधीनता वाद की जगह स्वतन्त्रता वाद को लेते चले गये, इच्छावाद की जगह कर्मवाद को मानते चले गये, क्रियाकाण्ड की जगह सदाचार को अपना मार्ग बनाते चले गये।

इस आदर्श के कारण ही पूर्व और पश्चिम वाले, जो भारत के सम्पर्क में आये, वे देवतावाद को छोड़कर 'आत्मा ही परमब्रह्म है' 'आत्मा ही परमात्मा है' 'आत्मा ही देवताओं का देवता है' 'अनल हक़' इत्यादि अध्यात्म मंत्र उच्चारते हुए चले गये। वे देवाधीनतावाद को छोड़कर 'आत्मा ही अपना प्रभु और स्वामी है,' 'आत्मा ही अपना मित्र और शत्रु है,' 'आत्मा ही अपने भाग्य का विधाता है' इत्यादि स्वतन्त्रता के राग अलापते हुए चले गये। वे दैवी इच्छावाद को छोड़कर 'जैसा अनुभवोगे वैसा ही जाओगे, 'जैसा बोओगे वैसा काटोगे', 'जैसा करोगे वैसा भरोगे' इत्यादि पुरुषार्थ के सूत्र रचते हुए चले गये। वे क्रियाकाण्ड को छोड़कर जन सेवा ही ईश उपासना है परोपकार ही स्वोपकार है, दया दान ही धर्म है इत्यादि सदाचार के बोल बोलते हुए चले गये।

इस आदर्श के आधार पर ही भारत ने प्राचीन काल में वैदिक आर्यों को ब्रह्मवाद दिया है, मध्यकाल मे इसलाम को सूफीवाद दिया है और आधुनिक काल में पश्चिम के जड़वादियों को नया अध्यात्मवाद (Neo Spiritulism) दिया है।

इस तरह भारत अनेक बार पतित होने पर भी सदा जगत का विजेता बना रहा है, औरों से अनेक सबक़ सीखने पर भी सदा जगत का गुरु बना रहा है।

यह अध्यात्म आदर्श जिसके कारण भारत को सुधार शक्ति मिली है, आनन्द शक्ति मिली है, समन्वय शक्ति मिली है, जिसके कारण हमे शान्ति और सन्तुष्टि मिली है, सरलता और गम्भीरता मिली है, सौम्यता और अहिंसा मिली है; जिसके कारण हमे अनेकता में एकता मिली है, अस्थिरता में स्थिरता मिली है, भारत की अपनी निजी चीज़ है। यह भारत के मूलवासी श्रमण लोगों की सृष्टि है। यह उन लोगों की देन है, जो अपने विविध गुणों के कारण अनेक नामों से पुकारे जाते थे। जो अपने योग, प्राण और इन्द्रियों का संयम करने के कारण 'यति' कहलाते थे। जो कषायों से विरत होने के कारण 'मुनी' या 'व्रात्य' कहलाते थे, जो तप-त्याग रूप श्रम करने के कारण 'श्रमण' कहलाते थे। जो अन्तरंग शत्रुओं का संहार करने के कारण अरिहन्त कहलाते थे, जो सब के आदरणीय होने के कारण 'अर्हन्त' कहलाते थे, जो मृत्यु के विजेता होने के कारण जिन' कहलाते थे, जो त्रिकाल और त्रिलोक के विजेता होने के कारण 'जिनेश्वर' कहलाते थे।

यह अध्यात्म आदर्श भारतीय-सभ्यता की आधार शिला है। भारतीय जीवन का कोई पहलू ऐसा नहीं,

भारतीय इतिहास की कोई घटना ऐसी नहीं, जिस पर इस आदर्श की छाप न पड़ी हो। भारत की कोई मान्यता और श्रद्धा ऐसी नहीं, कोई रीति और प्रथा ऐसी नहीं, कोई संस्था और व्यवस्था ऐसी नहीं, जिसके बनाने में इस आदर्श का हाथ न हो।

अतएव भारत के असली जीवन को जानने के लिये, इसकी तह में काम करने वाली शक्तियों को पहिचानने के लिये ज़रूरी है कि इस आदर्श को जाना जाय, इसकी विवक्षाओं (Implications) को जाना जाय, इसके विकास को जाना जाय, इसके विकास करने वाले प्रभावों को जाना जाय, इन प्रभावों को पैदा करने वाले लोगों को जाना जाय। इन सब चीज़ों को जानने के लिये ज़रूरी है कि उस समस्त सामग्री का, उस समस्त साहित्य और कला का संग्रह किया जाय, जो इन पर प्रकाश डालती हो। उनको सूचिबद्ध किया जाय, उनका संशोधन किया जाय, वर्गीकरण किया जाय, मिलान किया जाय, संकलन किया जाय अर्थात् इस समस्त सामग्री का अनुसन्धान किया जाय।

राष्ट्रीय प्रगति की शर्त

भूतकाल के पाठों का अगर कोई मूल्य है, तो एक बात स्पष्ट है: वह यह कि जब तक हिन्दू और मुसलमान हाथ से हाथ मिलाकर अकबर के ज़माने के लोगों का, उसके प्रमुख मन्त्रियों और सलाहकारों का, अनुसरण करने का निश्चय नहीं कर लेंगे और उसके पीछे औरंगज़ेब की गलतियों को प्रयत्न-पूर्वक नहीं टालेंगे, तब तक इस विशाल देश में कोई प्रगति सम्भव नहीं है।...हिन्दू या मुसलमान अपने हित भिन्न या अलग मानने की कोशिश करें और ये दोनों सम्प्रदाय आपस में अलग अलग फिरकों तथा स्वार्थों का निर्माण करने लगें और धर्मद्वेष तथा जातिद्वेष के ज़ख्म भरने की चेष्टा न करें, तो उनके इस तरह के हर एक प्रयत्न पर धिक्कार ही कहना चाहिए।

—स्वर्गीय महादेव गोविन्द रानडे

अहिंसा के कुछ प्रयोग

श्री हर्षनाथ

मनुष्यों पर

१

हमारे एक पत्रकार मित्र हैं, मैं उन्हें कम पसन्द करता हूँ, इसलिये कि वे अवसरवादी हैं। शुद्ध खद्दर तथा घोर विलायती वस्त्र और गाढ़ा तथा रेशम सभी ज़रूरत के अनुसार पहनते हैं। किसी से उन्हें हिचक नहीं। जिससे उनका काम निकले, वही सच है। दूध, फलाहार और यहां तक कि व्रत पर अपने गुज़ार देते हैं, साथ ही मांस और अति भोजन में भी उन्हें परहेज़ नहीं। अवसरवादिता के सिलसिले में उन्हें अहिंसा का प्रयोग करना पड़ा।

गरीबों के मुहल्ले में वे रहते थे, जहाँ अधिकांश घरों में पाइप नहीं था। गली में, म्युनिसिपैलिटी के पाइप पर दिन भर भीड़ लगी रहती। जो हट्टा-कट्टा और अरदबाज़ होता, वह बिना दूसरों की सुविधा का ख्याल किये ही पाइप पर अपना अधिकार जमा लेता। हमारे मित्र महोदय दुबले पतले और कमज़ोर थे। घण्टों उन्हें इन्तज़ार करना पड़ता।

पानी भरने वालों में एक बुढ़िया भी नित्य आती थी, जो ज़बान की बड़ी तेज़ और कर्कश थी। दस मिनट भी इन्तज़ार करना उसे असह्य था। तुरन्त गालियां देना और कोसना आरम्भ कर देती। किन्तु कोई भी उसकी गालों की परवाह नहीं करता और अपना काम पूरा करके ही पाइप पर से हटता था। कभी कभी गालियों का आदान प्रदान झगड़े का भी रूप धारण कर लेता था।

एक दिन हमारे मित्र महोदय स्नान कर रहे थे। उसी समय बुढ़िया आ पहुँची। बुढ़िया के स्वभाव से वे पूर्णतया परिचित थे। कुछ अपनी कमज़ोरी महसूस करके और कुछ-कुछ सोचकर बिना नहाये ही वे पाइप पर से हट गये और बुढ़िया से कहा, पानी ले लो।

वह व्यवहार बुढ़िया की कल्पना से परे था। लड़खड़ाती और चकित स्वर में उसके मुंह से निकला बेटा......

तुम पानी ले लो।

नहा लो बेटा।

किन्तु उन्होंने आग्रह किया और बुढ़िया पानी लेकर चली गई।

उस दिन से बुढ़िया के स्वभाव में एक आश्चर्य-जनक परिवर्तन हो गया। उसका गाली देना बड़-बड़ाना छूट गया। वह धैर्यपूर्वक इन्तज़ार करती रहती।

२

दस बारह रोज से मैं बीमार था। अनाहार से अत्यन्त शिथिल और कमज़ोर हो गया था। इसी हालत में रेल के तीसरे दरजे से सफ़र करना था—इलाहाबाद से बनारस तक। सीट पर किसी तरह चादर डालकर मैं लेट रहा।

डब्बे में भीड़ बढ़ती जा रही थी। जगह की कमी से कुछ लोग खड़े होने लगे थे। कुछ लोगों की तीक्ष्ण और अधिकारपूर्ण नज़र मेरे ऊपर पड़ रही थी। मैंने साफ पढ़ लिया उनकी रोष भरी नज़रें पूछ रहीं थीं, क्यों जनाब, हमें खड़े होने की जगह नहीं और आप लेटे रहें। आप बीमार हैं तो हम क्या करें।

उनका मन्तव्य मैं सही रूप में समझ पाया। उनकी बात सही थी। मुझे कोई अधिकार नहीं था कि इतने आदमियों के खड़े रहते हुए मैं आराम से लेटा रहूं। हाँ, मैं बीमार था किन्तु"यह यात्रियों की

मरजी पर था कि मुझे सुविधा दें। मैंने अपने कर्तव्य को समझा।

बिना कुछ कहे या विरोध किये ही मैं अपने कमज़ोर और कांपते हाथों से संभलकर बैठने लगा।

उस समय मैंने देखा कि यात्रियों की प्रतिहिंसक और क्रूर दृष्टि सहानुभूतिपूर्ण हो चुकी है। उन लोगों ने आग्रह किया, आप बीमार आदमी हैं, आराम से लेटे रहिये। हम मज़े में हैं और उनमें से एक ने मुझे लिटा दिया।

जब तक उन आदमियों में से एक भी आदमी डब्बे में रहा, मेरी हिफाजत करता रहा और अन्य किसी को मेरे पास बैठने नहीं दिया।

३

मेरे एक परिचित हैं, जाति के ब्राह्मण। जातिगत छुआछूत में उनका अटूट विश्वास है। छाया से भी बचने वाले। शायद ही किसी का छुआ उन्होंने खाया हो। इस विषय पर मैं उन्हें उपदेश देने का अभ्यस्त हो गया था।

एक दिन हम लोगों का संयोग हो गया। दो घंटे ख़ुशी से मैं फावड़ा चला सकता हूं, किन्तु एक आदमी का भी खाना पकाने की मुझमें हिम्मत नहीं। तय हुआ कि अन्य सभी काम मैं करूं और खाना वे पकायें।

मैं उनके स्वभाव से परिचित था। उन्हें किसी भी तरह का संकोच न होने देने के लिये मैंने जाड़े की सर्दी में भी धुले धुलाये कपड़े शरीर पर से उतार देने का निश्चय किया। और उनके बीच में एक लाइन भी खींच लेना तय किया, जिस में उन्हें किसी प्रकार की हिचक न हो। मेरे इस आडम्बर को देख कर उन्होंने पूछा, क्यों भाई, यह दूर-दूर क्यों।

मैं उन्हें बताना नहीं चाहता था फिर भी कहना पड़ा, आपकी सुविधा और धर्म का मुझे ख्याल रखना चाहिये।

मेरे इस व्यवहार से क्षण भर के भीतर ही घोर परिवर्तन हुआ। वे बोले, यह बात है तो सुनिये जनाब, मैं आपके साथ ही बैठकर भोजन करूंगा।

पशुओं पर

१

मैं देहाती हूं। गांव का रहने वाला हूं हमारे घर खेती होती है। हल बैल तथा खेत सभी हैं।

हमारा एक बैल बहुत ही हिंसक प्रकृति का था। लड़ना और अराजकता फैलाना उसका काम था। अपने साथी बैलों से लड़ता, चरवाहों और बच्चों को मारता, औरतों का तो वह जानी दुश्मन था। क्या मजाल कि बिना लाठी या छड़ी लिये कोई उसके पास चला जाये। यदि उसे किसी से भय था तो एक मात्र लाठी से। मतलब यह कि हिंसा से।

एक दिन बिना लाठी या छड़ी लिये मैं उसके पास चला गया। देखने वाले आशंका से भयभीत हो गये, मुझे अपनी परिस्थिति का ख्याल आया और पीछे हटना ही चाहता था कि बैल के ऊपर मेरी नज़र पड़ गई। उसकी गर्दन थोड़ी सी झुकी थी। उसके सींग मेरे लक्ष्य पर थे और नथुने फूल रहे थे।

उस समय हिंसा और अहिंसा का युद्ध हो रहा था। हिंसा ने उसका नुकीला सींग मेरे लक्ष्य में कर लिया था और अहिंसा ने उन्हें हमला करने से रोके रक्खा। हिंसा ने उसके नथुनों में हुंकार भर दिया और अहिंसा ने उन्हें शिथिल कर दिया।

उस समय मेरे मन में एक बात समाई। निस्संकोच और बिना किसी भय के मैं उसके पास बढ़ गया।

उस समय आक्रमण के लिये उसकी उठने वाली गर्दन आत्मसमर्पण के रूप में झुक गई। फूलते हुए नथुने सिकुड़ गये। और उसकी बड़ी बड़ी अविश्वासी तथा क्रूर आंखों में विश्वास और अपनत्व जम गया। मैंने बैल की गर्दन पर हाथ फेरना आरम्भ किया। उसने अपनी गर्दन झुका दी और जीभ से मुझे चाटने लगा।

फिर वह सदा के लिये मेरा मित्र हो गया। मेरे सामने वह आज्ञाकारी पुत्र हो जाता।

२

हमारा एक कुत्ता था। उसे अपनी पूंछ का काफ़ी मान था। उसकी पूंछ जैसे पलीता थी। जाने या अनजाने में जहां उसकी पूंछ छू जाती, वह आक्रमण कर बैठता। पड़ोसियों के सिवा वह घर के और भी कई आदमियों पर आक्रमण कर चुका था। ग़नीमत यही थी कि उसमें विष नहीं था।

उसे जान से मरवा डालने की बात तो मैं कभी सोच भी नहीं सकता था। वह मेरा बचपन का साथी था। हम दोनों का बचपन साथ साथ बीता था। मैं उसे अपने कन्धे पर बिठाकर घुमा चुका था, जैसे वह मेरा छोटा भाई हो। लड़कपन अहं से परे होता है इसलिये मनुष्य और पशु में मेल हो गया था। अब वह बुढापे के नजदीक था और मैं लड़कपन पार कर चुका था। मैं उसे हिंसक और आततायी समझने लगा था। इसलिये हम दोनों दूर दूर थे।

एक दिन मैंने अहिंसा का विचित्र प्रयोग देखा। उस समय आंगन में केवल दो प्राणी थे, हिंसक कुत्ता और घर का एक तीन चार बरस का अहिंसक बच्चा। बच्चा अपने दोनों हाथों से कुत्ते की पूंछ पकड़कर आंगन भर में खींच रहा था और कुत्ता शान्त स्थिर बच्चे के खेल में शामिल था।

यह थी अहिंसा की हिंसा पर स्पष्ट विजय। बच्चे के निर्विकार और सरल हृदय के आगे कुत्ते की सारी बर्बरता और हिंसक प्रवृत्ति झुक गई थी।

आज जब हम अपनी आंखों से प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि हिंसक शक्तियां आपस में टकराकर शेष हो रही हैं, तो स्पष्टतः अहिंसा का महत्व प्रगट हो जाता है। यह वह मंत्र है जो जड़ और चेतन पर समान रूप से असर करता है। वस्तुतः अहिंसा से परे जीवन की सार्थकता नहीं।

विशुद्ध सेवा

मैंने कहा है कि हम अपने गांव या मुहल्ले में सेवा-भाव से मुसलमानों का परिचय बढ़ावें। अपने मुसलमान दोस्तों की जमात में वृद्धि करें। उनकी विशुद्ध भाव से सेवा करें; ख़ुशामद करके नहीं। यदि वे कहें कि यह दिला दो, वह दिला दो, तो हम इन्कार कर दें। ज्ञान पूर्वक निर्भय होकर बिना ख़ुशामद किये हम जो अपना कर्तव्य समझते हैं, उसका पालन करें। उदाहरण के लिये हम मुसलमान लड़कों को इकट्ठा करें, उन्हें दूध पिलावें, चाहे उनके मां-बाप भले ही शक करें, मुझे तो अपने बर्ताव से सिद्ध करना है कि मैं उन्हें हिन्दू बनाने के लिये यह नहीं कर रहा हूँ। धीरे-धीरे उनका शक दूर हो जायगा। लड़कों को कम-से-कम पहचान तो लेंगे। मान लीजिये कि इतने में दंगा हो गया; तो इतने अनुभव के बाद हम निर्भयतापूर्वक उस मुहल्ले में चले जायँगे।

'सर्वोदय'] —गान्धी जी

बौद्ध संस्कृति का केन्द्र : सारनाथ

श्री केशरीकुमार राय, एम ए, एल-एल बी, बी. टी.

भगवान् बुद्ध ने अपने जीवन के अन्तिम समय मे अपने प्रिय शिष्य आनन्द को सम्बोधन कर के कहा था—"आनन्द ! श्रद्धालु कुल-पुत्र के लिए यह चार स्थान दर्शनीय, संवेजनीय (= वैराग्य प्रद) हैं। कौन से चार ? (१) जहाँ तथागत उत्पन्न हुये (= लुम्बिनी), (२) जहाँ तथागत अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त हुये (= बोध गया), (३) जहाँ तथागत ने अनुत्तर (= सर्वश्रेष्ठ) धर्म चक्र का प्रवर्त्तन किया, (= सारनाथ), (४) जहाँ तथागत अनुपादि शेष निर्वाणधातु को प्राप्त हुये (= कुशीनारा)। यह चार स्थान दर्शनीय हैं। आनन्द ! श्रद्धालु भिक्षु-भिक्षुणियाँ, उपासक-उपासिकायें यहाँ आवेंगी।"[1]

चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय, अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं। देसेथ भिक्खवे धम्मं आदि कल्याणं मज्झेकल्याणं परियोसानकल्याणं सात्थं सब्यञ्जनं केवलपरिपुण्णं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेथ।

"भिक्षुओ ! सर्व साधारण के हित के लिये तथा लोगों को सुख पहुँचाने के लिये, उन पर दया करने के लिये तथा देवताओं और मनुष्यों का उपकार करने के लिये घूमो 'भिक्षुओ ! आरम्भ, मध्य और अन्त—सभी अवस्थाओं में कल्याणकारक धर्म का, उस के शब्दों और भावों सहित उपदेश करके, सर्वांश में परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो।"[2]

भगवान् बुद्ध के ये वचन सारनाथ में ही कहे गये थे। गया में बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद, वे सारनाथ आये और पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को उपदेश दिया। यहीं से सर्व प्रथम बुद्ध ने अपने उनसठ शिष्यों को अनेक दिशाओं में धर्म-प्रचार के लिये भेजा। इस प्रकार यदि देखा जाय, तो जिस भारतीय संस्कृति का प्रचार विदेशों में बौद्ध धर्म द्वारा हुआ, उसका उद्गम स्थान सारनाथ ही है।

सारनाथ बनारस के नजदीक होने के कारण अपना एक बहुत पुराना इतिहास रखता है। प्राक् बौद्ध काल में भी यह एक मशहूर जगह थी। शतपथ-ब्राह्मण और उपनिषदों में तथा श्रौतसूत्रों में काशी का नाम आता है। शतपथ ब्राह्मण से पता चलता है कि भरतराज शतानीक सत्राजीत ने काशिराज धृतराष्ट्र के यज्ञ का घोड़ा छीन लिया—इससे काशी के लोगों ने यज्ञ-अग्नि प्रज्वलित करना बन्द कर दिया। इससे मालूम होता है कि शतपथब्राह्मण काल में काशी-जनपद ने वैदिक याग-यज्ञ के प्रति अपना विराग प्रकट किया था। बृहदारण्यक और कौषितकी उपनिषद् में लिखा है कि बालाकि नामक ब्राह्मण ने काशीराज अजातशत्रु से ब्रह्म-ज्ञान की शिक्षा प्राप्त की। जिस जनपद में यज्ञादिक छूट गये और जहाँ ब्रह्म ज्ञान की चर्चा होती थी, निश्चय ही वह जगह भगवान बुद्ध के उपदेशों के उपयुक्त थी।

मज्झिम निकाय के घटिकार सूत्र से मालूम होता है कि काश्यप बुद्ध भी अक्सर ऋषिपतन (= सारनाथ) में रहा करते थे। दीघ निकाय के महापदान सूत्र के अनुसार काश्यप बुद्ध ने काशी में ही जन्म लिया था। ऐसा जान पड़ता है कि गौतम बुद्ध ने सैकड़ों मील का रास्ता तैकर नंगे पाव गया से चलकर सारनाथ की पवित्र भूमि से अपना धर्म-प्रचार शुरू किया। जैनों के तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने भी यहीं जन्म लिया था। इन सब बातों को देखने से यह अनुमान होता है कि पुराने ज़माने से ही काशी वैदिक कर्मकाण्ड की विरोधिनी और नये विचारों के प्रचारकों की प्रश्रय-भूमि रही है। पुराने

१ महापरिनिब्बाणसुत्त [दीघ-निकाय]

२ महावग्ग [विनय-पिटक]

ज़माने में सारनाथ को ऋषि-पतन, मृग-दाव या सारङ्गनाथ कहते थे। ऋषि-पतन नाम पड़ने की कथा यह है कि काशी से आधा-योजन दूर एक महावन था; जहां पांच सौ प्रत्येकबुद्ध रहते थे। उन लोगों ने आकाश में उठकर देह-त्याग किया। उनका शरीर इसी वन में गिरा। इसलिये इस स्थान को ऋषि-पतन कहने लगे। मृगदाव नाम पड़ने के सम्बन्ध में भी जातक में एक कहानी है। बुद्ध अपने एक पहले जन्म में पांच सौ मृगों के दलपति थे और इसी वन में रहते थे। उस समय उनका नाम न्यग्रोध था और उनके भाई का नाम था विशाख। काशीराज ब्रह्मदत्त रोज इस वन में हिरनों का शिकार करने आता था। हिरनों ने अपनी विपद्-कथा न्यग्रोध से कही। न्यग्रोध राजा के पास गये और प्रार्थना की कि उनके रोज़ शिकार करने से निरर्थक ही कितने हिरन मारे जाते और घायल होते हैं। इसलिये यदि राजा शिकार बन्द करदें, तो रोज एक हिरन राजा के रसोई घर के लिये भेज दिया जायेगा। राजा इस शर्त पर राज़ी हो गया। एक दिन एक गर्भिणी हिरनी की बारी आयी। उसने दलपति से जाकर कहा कि उसके जाने से दो जानें जायेंगी। इसलिये उसके बदले कोई दूसरा चला जाय, वह फिर कभी जायगी। किन्तु उसके बदले दूसरा कोई जाने को राजी नहीं हुआ। अन्त में न्यग्रोध स्वयं उस हिरनी के बदले चला गया। उसके इस व्यवहार का राजा पर बड़ा असर पड़ा और उसने हिरनों को मुक्त कर दिया। राजा ब्रह्मदत्त ने हिरनों को 'दाय' यानी संकट से उद्धार किया था इस 'दाव' अर्थात् अरण्य में हिरनों को आज़ादी से रहने और घूमने फिरने दिया, इसी से इस जगह का नाम मृग-दाय या मृगदाव पड़ा। जनरल कनिंघम की राय है कि सारङ्गनाथ से बिगड़कर सारनाथ हो गया है।

बौद्ध-संस्कृति का विस्तृत प्रचार सारनाथ से ही शुरू हुआ। इसीलिये बौद्ध धर्म के सांस्कृतिक इतिहास में सारनाथ का बड़ा महत्व है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि धर्मराज अशोक के पूर्व ही सारनाथ एक महत्वपूर्ण स्थान बन चुका था; किन्तु फिर भी उस समय तक का इसका इतिहास अंधेरे में है। अशोक के समय में यहां अनेक बड़े-बड़े सङ्घाराम, स्तूप और विहार आदि बने होंगे, पर आज उनका भग्नावशेष ही है। अशोक के समय से लेकर बारहवीं शताब्दी तक—पन्द्रह सौ वर्ष का इतिहास भग्न चैत्यों और इमारतों में पढ़ा जा सकता है।

अशोक ने बौद्ध तीर्थों की यात्रा करते समय या अन्य अवसरों पर जो स्तंभ निर्माण कराये थे, उनमें से एक यहां भी है। इस स्तम्भ पर खुदे हुये लेख में अशोक ने भिक्षु-सघ में फूट डालने वालों की निन्दा की है और उनके लिये सजा भी बतलाई है। यह प्रस्तर स्तम्भ आज कई टुकड़ों में है। इसके ऊपर का (परगट्टा Capital) जिस पर चार शेर बने हुये हैं, सयोग से कम टूटा है। यह अपूर्व सिंह की मूर्त्ति यहां के म्यूज़ियम में रक्खी गयी है। यह जानवरों की मूर्त्तियों का संसार में सर्वश्रेष्ठ नमूना समझा जाता है। अशोक ने यहां एक धर्मराजिक स्तूप भी बनवाया था। इसके ऊपर पत्थर की वेष्टनी (Railing) बनी थी। इसकी जोड़ और पालिश अद्वितीय है। भगवान् के शरीर धातु पर निर्मित धर्मराजिक-स्तूप की अब केवल नींव ही अवशेष है। इसका ऊपरी हिस्सा काशी-राज के दीवान जगत सिंह ने सन् १७९४ में गिरवा दिया और सब ईंटे वग़ैरह ले जाकर बनारस में जगतगञ्ज मुहल्ला बसाया। जगतसिंह को स्तूप के अन्दर एक हरे संगमरमर की सन्दूकची मिली थी। उसमें कुछ हड्डियां थीं, जिनको उसने गंगा में फेंक दिया। स्तूप ही में एक बुद्ध की मूर्त्ति भी मिली थी, जिस पर अभिलेख खुदा था। इस मूर्त्ति की आसनी (Base) सारनाथ के संग्रहालय में रखी है। उस अभिलेख से पता चलता है कि सम्वत् १०८३ वि० में (ई० १०२६) गौड़ देश के महीपाल के ज़माने में स्थिरपाल और वसन्त-पाल नामी दो भाइयों ने अशोक के स्तूप का जीर्णोद्धार कराया। अशोक के स्तूप का व्यास ४९ फीट है। उस समय के स्तूपों की तरह, यह स्तूप भी

अर्द्ध गोलाकार था और साँची के स्तूप की तरह इस के ऊपरी हिस्से पर एक वेष्टनी (Railing), और एक छाता बना था। इसके कुछ टुकड़े मिले हैं।

सारनाथ में मिले अभिलेखों से उन भिन्न-भिन्न बौद्ध सम्प्रदायों का पता चलता है, जिनका समय-समय पर यहाँ प्रभाव था। तीन अभिलेखों से मालूम होता है कि लगभग तीसरी शताब्दी तक सर्वास्तिवादियों का यहाँ विशेष प्रभाव था। उन में एक से मालूम होता है कि सर्वास्तिवादियों से पहले यहाँ किसी दूसरे सम्प्रदाय का ज़ोर था। लेकिन उस सम्प्रदाय का नाम नहीं मिलता। सर्वास्तिवादियों का ज़माना ज़्यादा दिनों तक नहीं रहा। चौथी शताब्दी के एक लेख से मालूम होता है कि उस समय यहाँ सम्मितीय सम्प्रदाय का आधिपत्य था। यह सम्प्रदाय वात्सिपुत्रिक-सम्प्रदाय की एक शाखा थी। इन लोगों का प्रभाव बहुत दिनों तक रहा। सातवीं शताब्दी में जब हुएन-त्सांग आया था, तब भी इसी सम्प्रदाय वाले यहा प्रभावशाली थे।

चीनी यात्रियों—फ़ाहियान और हुएन-त्सांग ने अपने यात्रा-वर्णनों में सारनाथ का भी ज़िक्र किया है। फ़ाहियान भारत वर्ष में पाँचवीं शताब्दी में आया था। उसने लिखा है कि—"उस समय सारनाथ में चार स्तूप और दो विहार थे जिनमें बहुत से भिक्षु रहते थे।" हुएन-त्सांग के ज़माने में, जो सातवीं शताब्दी में आया था, सारनाथ ज़्यादा उन्नत हो चुका था। उसने लिखा है कि—"सारनाथ में पन्द्रह सौ से कम भिक्षु नहीं रहते हैं।" उसने अपने वर्णन में एक मुख्य मन्दिर का ज़िक्र किया है; जिसमें बुद्ध की पीतल की-बनी धर्म चक्र प्रवर्त्तन मुद्रावाली एक बड़ी मूर्ति थी। उसने अशोक के बनवाये एक सौ फीट ऊँचे एक स्तूप और एक स्तम्भ का भी ज़िक्र किया है। वह लिखता है—"इस स्थान पर सुविशाल संघाराम है। जो आठ हिस्सों में बटा है। संघाराम एक दिवाल से घिरा हुआ है। इसमें हीनयान सम्मितीय सम्प्रदाय के पन्द्रह सौ भिक्षु रहते हैं। संघाराम के भीतर २०० फीट से भी ऊँचा एक मन्दिर है। उस मन्दिर में पीतल की बनी हुई, मानुष प्रमाण धर्म-चक्र प्रवर्त्तन-मुद्रा में भगवान बुद्ध की एक मूर्ति है।"

हर्ष वर्धन के साम्राज्य में काशी प्रदेश सम्मिलित था। उस समय से लेकर, बारहवीं शताब्दी तक सारनाथ की भाग्य लक्ष्मी कान्यकुब्ज (कन्नौज) के साथ रही। ग्यारहवीं शताब्दी के आख़ीर में कान्यकुब्ज का राज्य गहड़वाल वंशिय राजाओं के हाथ में चला गया। सारनाथ में मिले एक शिला लेख से मालूम होता है कि गहड़वाल वंश के संस्थापक चन्द्रदेव के पौत्र गोविन्दचन्द की पत्नी कुमार देवी ने यहाँ एक विशाल विहार बनवाया। ११९६ ई० में मुहम्मद गोरी ने कन्नौज के राजा जयचन्द्र को हराया। ११९५ ई० में उसके सिपहसालार कुतुबुद्दीन के हमले से सारनाथ को बेहद क्षति पहुँची। उसकी अनेक इमारतें नष्ट हो गईं। केवल धम्मेक और धर्मराजिक स्तूप खड़े रहे। इसके बाद छै सौ वर्षों तक सारनाथ का वैभव ढका पड़ा रहा।

उन्नीसवीं शताब्दी में सारनाथ के खँडहरों की ओर जनरल कनिङ्घम का ध्यान गया। उन्होंने कुछ खुदाई की। धर्मराजिक स्तूप के चबूतरे का पता लगाया। और यहाँ से प्राप्त बहुत सी मूर्तियाँ कलकत्ता ले गए। १८५१ में मेजर किट्टो ने भी कुछ खुदाई की। सारनाथ की खुदाई १९०७ में सर जान मार्शल द्वारा नियमित रूप से शुरू हुई। इस खुदाई में प्रधान मन्दिर, अशोक स्तम्भ तथा अनेक विहार चैत्य आदि का पता लगा।

संक्षिप्त में यहाँ मैंने बौद्ध संस्कृति के प्रमुख केन्द्र—सारनाथ के प्राचीन इतिहास एवं क्रमोन्नति और अवनति का दिग्दर्शन कराया है। यदि हम यह कहें कि सारनाथ के पतन के साथ ही साथ, बौद्ध धर्म का, अपनी ही जन्मभूमि से निर्वासन हो गया, तो कोई अत्युक्ति न होगी। बौद्ध धर्म, संस्कृति, कला साहित्य आदि ने भारतीय जीवन पर जो अमिट छाप लगाई है, उसका चिन्ह आज भी ज्यों का त्यों है। यह प्रसन्नता की बात है कि इन दिनों फिर से,

उसी पवित्र ऋषिपतन से भारतीय संस्कृति के महान अंग का पुनरोद्धार हो रहा है। अतः इसी सिलसिले में अब मैं सारनाथ की वर्तमान अवस्था पर आता हूँ।

सारनाथ के पुनरोत्थान का सारा श्रेय स्वर्गीय श्री देव मित्र धर्मपाल जी को है। आप सिंहल द्वीप के एक सम्भ्रान्त कुल में पैदा हुये थे। पचीस वर्ष की आयु (१८९१ ई०) में वे भगवान बुद्ध की पवित्र जन्मभूमि भारत आये। बुद्ध गया के मन्दिर की दुर्दशा देखकर उनका हृदय दुख से भर गया। उन्होंने बुद्ध गया के मन्दिर के चबूतरे पर बैठकर भारत में फिर से बौद्ध धर्म के प्रचार करने का संकल्प किया और उस प्रचार का केन्द्र भगवान बुद्ध के केन्द्र सारनाथ ही को चुना। धर्मपाल जी जब पहले-पहल सारनाथ आये, तो उन्हीं के शब्दों में यहाँ "सुअर, फिरते थे और जङ्गल झाड़ियों के सिवाय और कुछ नहीं था।" उस समय यहाँ रहने के लिये कोई स्थान नहीं था। जब कभी वे यहाँ आते, तब किसी पेड़ के नीचे रहा करते। फिर उन्होंने सरकार से ज़मीन लेकर एक छोटा सा कमरा बनवाया। धीरे धीरे उसी एक कमरे ने मठ का रूप धारण किया। लगातार कई वर्षों की कोशिश के बाद १९२२ ई० में मूलगन्ध कुटी विहार की नींव पड़ी। १९३१ में इस विशाल मन्दिर का उद्घाटन हुआ। उस अवसर पर दुनिया के सभी हिस्सों से काफी तादाद में लोग शामिल होने आये थे। यह विहार प्राचीन बौद्ध कला का एक उत्कृष्ट नमूना है। १९३२ में एक अँग्रेज़ बौद्ध के दस हज़ार रूपये के दान से जापान के विख्यात चित्रकार श्रीयुत नोसू ने विहार की दीवालों पर भगवान बुद्ध का जीवन-चित्र अंकित करने का कार्य शुरू किया। इस चित्रकारी को समाप्त करने में कुल ६ वर्ष लगे। प्राचीन भारतीय चित्रकारी का यह एक उत्कृष्ट नमूना है।

सारनाथ में अनेक विषयों की पुस्तकों से सम्पन्न एक सुन्दर पुस्तकालय है। इसमें रोमन, स्यामी, बर्मी, सिंहली आदि लिपियों में मूल पाली त्रिपिटक का संग्रह दर्शनीय है। त्रिपिटक के चीनी और जापानी अनुवाद भी रखे गये हैं। अंग्रेज़ी, जर्मन, फ्रेंच आदि भाषाओं में भी बौद्ध साहित्य का अच्छा संग्रह है। साथ ही हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म, एवं इसलाम धर्म आदि की भी पुस्तकें हैं।

धर्मपाल जी ने भारत एवं दूसरे देशों में बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ 'महाबोधि सभा' नाम का एक संगठन क़ायम किया। यह सभा गत पचास वर्षों से भारत में बौद्ध-धर्म संस्कृति एवं साहित्य के पुनरोद्धार में लगी हुई है। यद्यपि सभा का प्रधान कार्यालय कलकत्ता में है, फिर भी उसका अधिकांश कार्य सारनाथ से ही होता है। सभा ने त्रिपिटक के अनेक ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कराया है। सारनाथ से हिन्दी में "धर्मदूत" नाम की एक मासिक पत्रिका भी निकली है। महाबोधि अस्पताल और महाबोधि विद्यालय से आस-पास की ग़रीब जनता काफी फायदा उठा रही है।

सारनाथ भारत में है, किन्तु हम भारतीय इसके महत्व को विशेष नहीं समझ पाये हैं। सारनाथ को संसार में वही स्थान प्राप्त है, जो मक्का और यरुशलम को। जितनी विभिन्न जातियों, भाषाओं, वेष-भूषाओं के लोग आप को सारनाथ में मिलेंगे, उतने शायद ही कहीं अन्यत्र। आप मूलगन्ध कुटी विहार में जाइये; यदि शरद ऋतु है, तो आपको अनेक रूप-रंग के लोग अपनी भाषाओं में भगवान तथागत के चरणों पर श्रद्धार्पित करते दिखाई देंगे।

इसी वर्ष सारनाथ का चीनी मन्दिर—चीनी स्थापत्य-कला का एक नमूना—बनकर तैयार हो गया है। अब इस मन्दिर में स्थायी रूप से कुछ चीनी भी रहने लगे हैं। खण्डहर के पश्चिम में एक बर्मी धर्मशाला, पुस्तकालय, मठ, और मन्दिर भी हैं।

सारनाथ की प्रगति देखते हुये आशा है कि निकट भविष्य में ही यह स्थान बौद्ध संस्कृति का पुनः महत्व-पूर्ण केन्द्र बन जायेगा और फिर से तथागत की अमर वाणी हम यहां से सुन सकेंगे।

सन्त साहित्य और हिन्दू मुसलिम समस्या

श्री रघुराज

किसी भी देश का इतिहास दो युगों में रखा जा सकता है। एक विग्रह और संघर्ष-युग और दूसरा मेल और समन्वय युग। प्रथम युग में देश की विभिन्न संस्थायें और विचार धारायें आपस में अपने प्रभुत्व और प्रधानता के लिये संघर्ष करती हैं। इसके विपरीत दूसरे युग में एक दूसरे की उपयोगिता और विशेषताओं को अपने में मिलाते हुए सामंजस्य और सांस्कृतिक समन्वय के प्रयत्न होते हैं। नीर-क्षीर की यह विवेक प्रवृत्ति, सचय और संवर्धन की यह भावना युग निर्माण और विकास का कारण होती है। इतिहास में विशेषतया यह विग्रह और संघर्ष तभी प्रकट होता है जब देश को किसी नवीन सभ्यता या धर्म का सामना करना पड़ता है। इधर हमें १२ वीं सदी के प्रारम्भ से लेकर आज तक यह दोनों विचार-युग आते और जाते दिखलाई देते हैं। इसका प्रधान कारण है, एक दूसरे को भली प्रकार न समझना और इस भली प्रकार न समझने के मूल में है, साहचर्य भावना का अभाव। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि प्रायः बाहर से असंबद्ध लगती हुई दो विचार-धारायें भी सम्पर्क और साहचर्य से एक दूसरे के बहुत निकट आ जाती हैं। यह सम्पर्क जितना ही बढ़ता जाता है, वैदेशिकता उतनी ही कम होती जाती है। दो विचार-धारायें एक दूसरे से साक्षात्कार करती हुई मेल की ओर बढ़ती जाती हैं। हाँ एक बात अवश्य है कि किसी भी युग में किसी भी भावना का एकाधिकार नहीं होता, प्रश्न केवल प्रधानता का ही रहता है। भारतीय जीवन के इन ४०० वर्षों के काल को हम 'सांस्कृतिक समन्वय' युग नाम दे सकते हैं। यह काल दो भिन्न भिन्न संस्कृतियों का और दो भिन्न भिन्न धर्मों का मिलन काल है। इसलिये देश ने कला की दृष्टि से, साहित्य की दृष्टि से और अर्थ की दृष्टि से जो कुछ उस समय में पा लिया, उसकी समता अब कहाँ! एक प्रकार से देखा जाय, तो विचारों की जो व्यापकता, जीवन की जो नवीनता हमें उस समय दिखलाई पड़ती है, उसकी क्या हम आज समानता भी कर सकते हैं? सांस्कृतिक समन्वय के पहले प्रायः दो सभ्यताओं और विचार-धाराओं के मिलन का परिणाम संघर्ष और सतर्कता ही होती है, जिसका प्रभाव हमें गुलाम वंश से लोदी वंश की समाप्ति तक प्रकट होना दिखलाई देता है।

भारतीय इतिहास की रूपरेखा मुग़ल-अभ्युदय के साथ साथ बदलती है। अकबर, जहाँगीर और शाहजहां का राज्यकाल तो हिन्दू मुसलिम संगम का स्वर्ण-युग है। भारत में इस स्वर्ण-युग को स्थापित करने में, अध्यात्म ने प्रमुख हिस्सा लिया। इन दोनों पक्षों के पीछे काम करने वाली भावनायें अलग अलग थीं। राष्ट्रीय एकता का बीजारोपण शासक वर्ग से हुआ, पर वह अधिक व्यापक और स्थायी कैसे रहता। जनता की, लोक जीवन की मेल-पिपासा उसमें तृप्त न हुई। राजवर्ग और उच्चवर्ग तक सीमित राष्ट्रीय एकीकरण के मूल्य को केवल बुद्धि-प्रधान व्यक्ति ही ग्रहण कर सकते थे। अस्तु एकता और मेल की इस लहर की पहुंच देश की अधिकांश जनता तक न हो सकी। मेल और प्रेम-गंगा में उन्हें नहलाने की ताक़त उच्च वर्ग और राजमहलों में न थी। उस धारा को व्यापक और गहरी बनाने के लिये किसी अन्य शक्ति की आवश्यकता समय को थी—और वह शक्ति थी 'आध्यात्मिक-एकीकरण' और इस आध्यात्मिक एकीकरण के निमित्त-कारण हो सके थे वे सन्त, जिनके स्वार्थ-शून्य जीवन का एक एक क्षण लोक जीवन की कल्याण कामना से ओतप्रोत था। जिनके अन्तस् में राम रहीम की ज्योति समान रूप से जग रही थी। जिनके अन्दर घृणा और विग्रह के स्थान

पर व्यापक प्रेम का आधिपत्य हो चुका था, जिनकी दृष्टि भौतिक भेद को पारकर, एकता के चरम बिन्दु पर पहुंचकर 'सर्व खल्विदम् ब्रह्म' का स्वरूप देखने की अभ्यासी हो गई थी। जनता ने सतों की इस वाणी को प्रेमविभोर होकर सुना, कट्टरता के जामे को उतारकर फेंक दिया। सदियों तक प्रेम और मिलाप के इस सिन्धु में देश मस्त होकर अवगाहन करता रहा।

एकता के इस पुनीत मन्त्र की दीक्षा जिस महात्मा ने सर्व प्रथम दी, वह थे कबीर। दोनों धर्मों की प्रचलित बुराइयों का निराकरण करते हुये "कहहिं कबीर ते दोनो भूले, रामहिं किनहु न पाया।" सबसे पहिले उन्होंने राम और रहीम के मंत्र का साथ साथ उच्चारण किया। राम और रहीम ब्रह्म और अल्लाह का तदाकार, "वही महादेव वही महम्मद एक जमीं पर रहिये" इससे पूर्व व्यापक रूप से कभी भी नहीं सुना गया था।

भाई रे ! दुइ जगदीस कहां ते आया,
कहु कवने भरमाया।
अल्लह राम करीमा केसो,
हरि हजरत नाम धराया ॥

बड़ी निर्भीकता और ललित भावना के साथ उन्होंने रूढ़िवाद का खंडन किया। कबीर की आत्मा देश के उस धार्मिक-विग्रह को देखकर तड़प उठी और उनके मुख से निकला—

मैं सबनि औरनि मैं हूँ सब,
मेरी बिलगि बिलगि बिलगाई है।

• बिना सच्ची भक्ति के सभी धर्म व्यर्थ और शून्य हैं। उनकी इस बानी को हिन्दू मुसलमान दोनों ने सुना और सुनकर एक बार उस अलख तत्व के 'साहिब के संदेस' की ओर ध्यान दिया। कबीर सचाई और मानवता के परम उपासक थे। इसलिये हिन्दू मुसलिम एकता के अग्रगण्य नेता थे। उनके द्वारा अनुप्राणित एकता और धार्मिक-समता की भावना, उनके पीछे भी सभी सन्तों के द्वारा प्रतिपन्न से अपनाई गई। दोनो धर्मों के बीच की खाई को भरने का पहिला श्रेय कबीर को है। कबीर के इन पद-चिन्हों पर चलकर लोक-जीवन में एकता के महान् पुनीत भवन की नीव पड़ी। सहिष्णुता का क्षेत्र तैयार हुआ। समग्र देश के लिये मानवीय विचारों का वह पावन प्रभात था। विग्रह और द्वेष के अंधकार को चीरकर प्रेम प्रकाश की किरणें फैलने लगी थीं। कबीर का आदर्श प्रेम धर्म की स्थापना करता था, जिसके अन्तर्गत साम्प्रदायिकता और जाति-भेद का कोई स्थान न था।

बाबा वह दरबार हमारा,
हिन्दू मुसलमान से न्यारा।
जहां जनेऊ सुनत न होई,
पण्डित मुल्ला बसै न कोई ॥

अस्तु, उपरोक्त भावना के अनुसार हिन्दू और इसलाम दोनों धर्मों के रूढ़िवाद का घोर खंडन किया। अपने उपदेश में उनके द्वारा संस्कृत और फ़ारसी, हिन्दी और रेखता दोनों प्रकार की भाषाओं का प्रयोग किया गया। उनका ज़ोर धर्म के अन्तर्मुखी स्वरूप पर था। बाह्य आडम्बर का उन्होंने सदा विरोध किया, 'पीठ संसार से नाम राता रहै' का जाप करते हुये भाव-ऐक्य की अनुपम सरिता हमारे बीच छोड़ गये—

हिन्दू तुरक की एक राह है,
सत गुरु इहै बताई।
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो,
राम न कहुँ खुदाई ॥

कबीर ने देश में जो एकता और मेल की ज्योति जगाई, उस प्रेम-प्रदीप को स्पर्श कर देश का कोना कोना एकता और मेल की दीपावलि से आलोकित हो उठा। उनके बाद लगभग ३० संतों की बानियों में हमें वह प्रेम ऐक्य लहरी फैलती सुनाई पड़ती है। कबीर के बाद उनके द्वारा स्थापित एकता की मशाल को लेकर चलने का श्रेय भी गुरु नानक को है। नानक के जीवन की प्रधान साधना हिन्दू मुस्लिम एकता की स्थापना करके समाज के द्वेष के भाव को मारना था। जो धर्म को ठीक न समझने के कारण

और पारस्परिक घृणा द्वारा उत्पन्न हुआ था। श्री ग्रन्थ साहिब में दिये हुये नानक के वचनों से यह स्पष्ट है कि नानक साहब ने अपने जीवन के बहुत से आदर्शों और सिद्धान्तों का निरूपण खलीफा प्रणाली के अनुरूप किया था। उनका परमेश्वर सबके ऊपर है, जिसके द्वार पर सहस्रों मुहम्मद, सैकड़ों ब्रह्म, अनेकों राम और महेश उसकी उपासना अनेक विधियों से करते रहते हैं। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम दोनों की कट्टरता और संकीर्णता को कड़ी फटकार बताई है। धार्मिक कर्मकाण्ड और रूढ़िवाद को खोखला घोषित किया है। हिन्दुओं और मुसलमानों की कट्टरता की निन्दा करते हुये वे कहते हैं कि तुम्हारे साथ चाहे अठारह पुराण हों, तुम्हें चाहे चारों वेद कंठाग्र हों, रमजान का व्रत तुमने चाहे कभी न छोड़ा हो, तुम क़ाज़ी, मुल्ला या पंडित क्यों न हो पर बिना परमेश्वर के साक्षात् के मृत्यु से छुटकारा नहीं। मुसलमानों को उन्होंने बार बार चिताया है। हिन्दुओं की जाति व्यवस्था को बुरा कहा है। मुसलमानों को सच्चे धर्म की ओर संकेत करते हुये श्री नानक ने कहा है कि अपने निर्मल चरित्र को अपना काबा समझो, सच्चाई को अपना रहनुमा मानो, और सत् कार्यों को अपना मज़हब और उपासना। उनके ऐसे विचारों ने हिन्दू मुसलमानों की कट्टरता को बहुत कुछ खत्म किया। श्री ग्रन्थ साहिब स्वतः एकता और धार्मिक मिलाप का एक महासागर है जिसमें जाति पाति से परे भक्ति के अमूल्य रत्न अनेक हिन्दू मुस्लिम संतों की बानियों से इकट्ठे किये गये हैं। संतों की इस ऐकेश्वर वादिता ने ऊँच नीच को, राजा रंक को समता के एक मंच पर लाकर खड़ा कर दिया।

एकता के जिस भवन की नींव को कबीर ने डाला नानक ने उस नींव को और अधिक गहरा खोदा और उस नींव पर एकता के भवन का निर्माण बहुत भाग में श्री दादू जी ने प्रारम्भ किया। कबीर की विचार मंदाकिनी ने अपनी प्रेम जल राशि से युक्तप्रान्त और बिहार को सींचा, नानक ने देश के एक दूसरे भाग में उसी प्रेम भागीरथी को लेजाकर स्थापित किया। दादू ने वीरभूमि राजस्थान में उसी हाला को पिलाकर जनता को मस्त कर दिया। दादू की बानी प्रेम और ज्ञान से ऐसी सनी रहती थी कि एक बार विरोधी भी उसे सुनकर मस्त हो जाता था। राजस्थान में तो एक बार उनकी इस प्रेम-हाला ने हिन्दू मुसलमान दोनों को एक दूसरे के हृदय से मिला दिया।

दादू दोनों भाई हाथ पग, दोनों भाई कान।
दोनों भाई नैन हैं, हिन्दू मुसलमान।

उनकी इस ऐक्य भावना के पीछे वास्तव में उनके उच्च अध्यात्मिक विचारों की छाप थी। उनके हृदय से भेद-भाव खत्म हो चुका था। धर्मों और मतों के नाम का प्राधान्य वहाँ शेष ही कैसे रहता? यही कारण था कि दादू जी की शिष्य-मण्डली में मुसलिम शिष्य भी उनके उस दिव्य संदेश "दादू एकै आत्मा, वैरी नहिं कोई।" को सुनने को इकट्ठे हुये थे। जिसने अखिल विश्व में उसी एक सिर-जनहार का हाथ देखा, जिसने संसार के रोम रोम मे अपने राम का रूप देखा वह उसी राम की सृष्टि को प्रेम कैसे न करे!

'सब हम देख्या सोधिकर, दूजा नांही आन।
सब घट एकै आत्मा, क्या हिन्दू मुसलमान।

उपरोक्त निर्णय पर पहुँचने से पूर्व उनके अन्दर विचारों का खूब संघर्ष चला—आपस की फूट को देखकर उनके हृदय में पीड़ा हुई—अनेक प्रश्न उठे, पर उन्हें उस सभी मंथन के पश्चात् एक ही उत्तर मिला:—

ब्रह्मा विष्णु महेस का, कौन पन्थ गुरुदेव?
साईं सिरजनहार तूं, कहिये अलख अभेव।
महम्मद किसके दीन में, जबराइल किस राह?
इनके मुर्सद पीर को, कहिये एक अलाह॥
दादू ये सब किसके ह्वै रहे, यहु मेरे मन मांहि?
अलख इलाही जगत गुरु, दूजा कोई नांहि॥

उन्हें शायद बाद में अपने ऊपर इस उत्तर 'अलख इलाही जगत गुरु दूजा कोई नांहि' के पाने

पर अपनी पूर्व विचार-अवस्था पर हँसी आई होगी, दुनिया के धर्म की इस संकीर्ण-भावना को देखकर उन्होंने दो आँसू गिराये होंगे। पर अपने उस निश्चय में उनके आत्म-सन्तोष की स्पष्ट झलक है और अपने भ्रम का मज़ाक़ भी—

"अल्लाह राम छूटा भ्रम मोरा,
हिन्दू तुरक भेद कछु नांही देखौं दर्शन तोरा"

इस 'देखौं दर्शन तोरा' में समता की चाल नहीं है, धर्म के बाह्य क्रियाकलापों की एकता नहीं वरन् उससे कहीं ऊपर हृदय में निखिल विश्व से तदाकार करने वाली उस व्यापक विभुत्व की अजस्र धारा है, जिसमें अवगाहन करते ही मेरा तेरा का भेद शून्य में विलीन होकर सर्वत्र ब्रह्म की सत्ता का भान होता है और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का अमर शब्द उस अवस्था में रोम रोम से गूंजने लगता है। फिर उसे कुछ भी कहो हृदय उसे एक ही भाव से ग्रहण करता है।

'अल्लाह कहौ भावे राम कहौ।
डाल तजौ सब मूल गहौ।

अन्य संतों की तरह धर्म समन्वय के इस भवन को अधिक दृढ़ और मज़बूत बनाने में श्री रज्जब जी का भी प्रमुख स्थान है। इनका जन्म एक मुसलमान घर में हुआ। पर राम-रहीम के व्यापक संदेश ने इन्हें भी अपने रंग में रंग डाला। जाति धर्म का जामा फेंक वे मस्त और सच्चे फ़क़ीर बने। मुसलमानों की कट्टरता का विरोध करते हुये इन्होंने एकता के अनेक अमूल्य मोती अपनी साखियों में पिरोये हैं।

'रज्जब राम रहीम रत, मिला सुनिर्मल मंत।
नाम अनेकों एक हैं, तौ भजि राम रहीम।'

उन्होंने अपनी वाणी में बार बार उस अखंड सत्ता के विभुत्व का स्मरण कराया है। वे यह कभी न भूले थे कि धार्मिक-कलह धर्म के असली स्वरूप की उपेक्षा करने और पूजा सिजदा के बाहिरी भेद को लेकर चलने के ही कारण फैली है। इसलिये वे उस अनंत अभिन्न स्वरूप का बार बार संकेत करते हैं—

'हरै हरिभया राम जी, खालिक अलाह अस नांव।
रज्जब दोन्यू एक हैं, मन वच करम कहि गाव।।'

'रज्जब राम रहीम कहि, आदि पुरुष की याद' उस आदि पुरुष की अखंड सत्ता की अनुभूति उन्हें हुई और उस अनुभूति से पगी उनकी यह साखियाँ, दो गुमराहों को राह पर लाने की उनके हृदय की व्यक्त भावना है। वे दोनों को कभी उनकी मूर्खता पर डांट बताते हैं, कभी स्नेहपूर्ण हृदय से उन्हें प्यार से समझाने की कोशिश करते हैं—"नाम अनंत अनंत के सो सब एक समान" अथवा "ज्यों आतम नर बाल इक त्यूं ही राम रहीम" में उनके हृदय से निकली हुई हिन्दू-यवन दोनों को एक राह पर लाने की शिक्षा है। उनकी इस सीख में ज़ोर है, विश्वास है, और सब से पीछे उनकी आभ्यान्तरिक वेदना है।

गुरु नानक के बाद एक विभूति का पंजाब में फिर प्रादुर्भाव हुआ। यद्यपि ख्याति और प्रचार की दृष्टि से उनका स्थान गुरु नानक से नीचे ही है, पर प्रेम और बन्धुत्व के उस यज्ञ में जिसने जितना योग दिया वह अमूल्य ही है। पंजाब और पूर्वी राजस्थान में एकता की पुनरावृति करने वाले थे श्री संत बाबा लालदास जी। इनकी प्रेम-हाला को पीकर एक बार दाराशिकोह भी पागल हो गया था। और वह उसी पागलपन का ख़ुमार था, उसी एकता की शराब का नशा था, उसी प्रेम-मस्ती का रंग था जिसके फलस्वरूप औरङ्गज़ेब ने दारा को काफ़िर कहा था। बाबा लाल का मत और सिद्धान्त संक्षेप में प्रेम और सेवा का सिद्धान्त था। उन्होंने सभी धर्मों के लक्ष्य की एकता का प्रतिपादन किया था। 'एक ही प्रेम तत्व की ओर सब खिंचे चले जा रहे हैं, फिर तू मन्दिर या मसजिद की बात क्यों करता है।'

'The object of all religion is alike,
All men seek their beloved—
What is the difference between Prudent
and Wild?
All the World is love's dwelling,
Why talk of a Mosque or a Church!

१६ वीं सदी में दादू द्वारा स्थापित प्रेम-परिपाटी को एक बार फिर चमका देने का कार्य उनके शिष्य संत सुन्दरदास ने किया। संत सुन्दरदास संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे। हिन्दू धार्मिक और दार्शनिक ग्रन्थों का उन्होंने अध्ययन किया था। इसलाम के बारे में उन्होंने भली प्रकार समझा था। अस्तु उनकी सारी रचनायें एकता की कड़ियों से गुथी हैं। भाषा की दृष्टि से जहाँ उनके हृदय से संस्कृत-प्रधान भाषा में उद्गार निकले हैं, वहीं फारसी और अरबी प्रधान उर्दू में उनके सबद और पद पिरोये गये हैं। सुन्दर-दास ने एक बार फिर उस दिव्य संदेश को दोनों के बीच दुहराया।

हिन्दू की हद छाड़ि कै तर्जी तुरक की राह।
सुन्दर सहजै चीन्हियाँ एकै राम अलाह॥

श्री गुरु नानक के १५० वर्ष पश्चात् पञ्जाब में बुल्लेशाह नाम के एक संत मुसलिम घर में पैदा हुये। इनकी वाणी में एक बार फिर कबीर की गर्जना सुनाई पड़ी—दोनों की मूर्खता पर फटकार बताने की आवाज़ फिर बुल्लेशाह ने उठाई—एक बार फिर दोनों को प्रेम मार्ग की ओर आने का संकेत किया।

बुल्ला चल्ल सुन्यार रे, जिन्थे गहना घड़िये लाख।
सूरत आपो आपनी, तूँ एको रूप ये आख॥

उनके एक एक शब्द में ब्रह्म और अल्लाह की एकता की पुकार है। उनकी वाणी में ज़ोर और आत्मविश्वास है। एक एक साखी में मेल के लिये टीस है। पजाब के अन्दर शायद उन्होंने इस फूट की आग को १८ वीं सदी में अधिक प्रज्वलित होते देखा होगा, इसीलिये कठोर शब्दों में मन्दिर और मसजिद की भिन्नता पर उन्होंने आवाज़ उठाई।

ना खुदा मसीते लाभदा, ना खुदा खाना काबे।
ना खुदा क़ुरान किनेबाँ, ना खुदा नमाज़े॥

हिन्दुओं के रूढ़िवाद का भी घोर विरोध उनके पदों में मिलता है—

'गङ्गा गयाँ पाप नहिं छुटदे, भावें सौ सौ गोते खाय।' दोनों के हृदय से हृदय मिलाकर चलते देखने की उनकी प्रबल उत्कंठा उनके वचनों में यहाँ वहाँ बिखरी है—

बुल्ला आशिक हो यों रब्ब दा, मुलामत होई लाख।
लोग काफर काफर आखदे, तूं आहो आहो आख॥

श्री शिवनारायनी पथ के प्रवर्तक श्री संत नारायन सिंह ने अपने पारब्रह्म के स्वरूप को समान रूप से हिन्दू और मुसलमानों में देखा। शिवनारायनी पथ के बहुत से नियम उपनियम इस्लाम धर्म से लिये गये हैं। एकता की भावना को संत नारायन ने व्याव-हारिक रूप दिया और दैनिक जीवन के रीति रस्मों को भी उन्होंने एक में मिला दिया। इस पथ में कोई भी व्यक्ति बिना जाति-धर्म के बन्धन के सम्मिलित हो सकता है। मुग़ल सम्राट मुहम्मदशाह स्वयं श्री संत नारायन के शिष्य हुये और इस प्रकार उस प्रेम और समता की भावना को और भी अधिक शक्ति और दृढ़ता प्राप्त हुई। श्री संत नारायन की वाणी में परमेश्वर की सर्वमान्य सत्ता और धार्मिक समन्वय की भावना ही प्रधान है। इस पथ का साहित्य और उसके अनुगामी आज भी पूर्वी युक्त प्रान्त में यत्र तत्र मिलेंगे।

१८ वीं शताब्दी के उत्तरांश में युक्त प्रान्त के कुछ हिस्सों में यह प्रेम धर्म की लहर खूब फैली। इसके विभिन्न स्वरूप हमें बलिया, रायबरेली और ग़ाज़ीपुर आदि ज़िलों में फैले मिलेंगे। इस शताब्दी के अन्तिम भाग में संत दूलनदास ने अपनी विचार-धारा का प्रचार रायबरेली आदि निकट स्थानों में किया। एक क्षत्रिय के घर जन्म लेकर भी वे जाति धर्म की उस भौतिक सीमा से परे थे। उनके वचनों और पदों में मसूर, शम्श तबरेज़ एव निज़ामुद्दीन के उदाहरण स्थान स्थान पर मिलते हैं। वे भी परमेश्वर को सूफी प्रथानुसार माशूक के रूप में देखते थे। उनके दोहों में हमें अनेक बार एकता का भाव भरा मिलता है।

दूलन छोटे वै बड़े, मुसलमान का हिन्दु।
भूले देवें भौरियाँ, सबै गुरू गोविन्द॥

मुग़ल काल के अभ्युदय से लेकर ३०० वर्षों तक भक्ति, ज्ञान और वैराग्य भरी हाला को हिन्दी भाषा भाषी प्रान्तों ने मन भर पिया। निष्कपट भाव-पूरित ग्रामीण जन समूह ने एक रूप से, एक भाव से, हिन्दू देवताओं और मुस्लिम पीरों की मनौती शुरू की। उस पुनीत संदेश के अवशेष आज भी हमें किसी किसी गाव में जाने से दिखलाई पड़ जायँगे। आज भी हम गाँवों में हिन्दू स्त्रियों को मुस्लिम पीरों पर भेंट चढ़ाते पावेंगे—राम, रहीम के भेद को भूलकर आज भी एक दूसरे के उत्सव में, सुख दुःख में, एक दूसरे को भाग लेते देखेंगे। और यह सब संत-हृदय से उत्थित भावना की प्रेम भरी बानी के प्रभाव के फल से ही है।

हिन्दू मुस्लिम सांस्कृतिक और धार्मिक ऐक्य की जो प्रेम गगा युक्त प्रान्त, राजस्थान और पंजाब में श्री कबीर, दादू और नानक ने बहाई, धर्म के जिस व्यापक स्वरूप को अपने में पा हिन्दी साहित्य का गौरव बढ़ा, उसी आत्मीयता की सुरसरि बंगाल में श्री चैतन्य महाप्रभु और महाराष्ट्र मे संत तुकाराम के हृदय से बह निकली। चैतन्य महाप्रभु की कृष्ण भक्ति व्यापक कृष्ण भक्ति थी, जिसमें कट्टर वैष्णवों की चेतना का पूर्ण अभाव था। पूजा और उपासना के बाह्य उपकरणों का चैतन्य ने खण्डन किया था। उन्हें तो वह उपासना चाहिये थी, जो भक्ति और प्रेम का सम्मिलित फल हो। ऐसी उपासना में इन दो भावों से ओतप्रोत होकर हिन्दू मुसलमान दोनों शामिल हुये। दोनों की आँखों से आत्मविभोरता को, कृष्ण-प्रेम की निर्झरणी फूट निकली—भक्ति के उस आसन पर आकर सब एक हो गये। ऊँच, नीच, हिन्दू-मुस्लिम सभी ने उस इश्कहकीकी से अपने को बेलाग पाया—सभी अपने चारों ओर फैली हुई उस अलौकिक प्रेम-प्रभा से अनुरंजित हो उठे—बंगाल में हिन्दू-मुसलमान का भेद भाव भक्ति की उस गंगा में बह गया। रूप, हरिदास और सनातन ने चैतन्य के चरणों में बैठकर इस्लाम से ऊपर उठकर ससीम प्रतिमा में असीम शक्ति के दर्शन किये। बंगाल का शासन एक बार इस प्रेम-वृष्टि से भीग गया।

संत तुकाराम, जिनकी प्रेम-परिप्लावित आकर्षक बानी ने एक बार समस्त महाराष्ट्र को मतवाला बना दिया था—जिनके हृदय की उस महत् मदाकिनी ने बाहर प्रकट होकर समस्त महाराष्ट्र-जीवन को शुद्ध भक्ति और प्रेम से आत्मविभोर कर दिया था, उन्हीं संत तुकाराम की प्रेम-वाणी ने आश्रयवाद का खण्डन करते हुये विशुद्ध धर्म के व्यापक आलोक से एक बार हिन्दू मुसलमान दोनों के हृदय को प्रेम-प्रकाश से जगमगा दिया। दोनों के हृदय में समता और सहिष्णुता की दीवाली जग उठी। उनके रचित अभंगों में प्रेम मार्ग की निश्चल और शाश्वत वाणी छिपी है। हिन्दू मुसलमान दोनों को साथ लेते हुये चलने के संकेत उनके मुख से बार बार निकले हैं।

First among the great names is Allah,
Never forget to repeat it,
Allah is verily one,
The Prophet is verily one.

(Influence of Islam)

उपरोक्त भाव-लहरी एकता की सुरभि से आत्मीयता की वायु से भरी है। जिसने संत तुकाराम की प्रेम वाणी को सचाई से हृदयगम किया, उसकी दृष्टि में हिन्दू-मुसलमान कहाँ रहा!

संतों की इस विचार-धारा ने ज्ञान में प्रेम और सौहार्द का ऐसा सुन्दर सम्मिश्रण तैयार किया कि बहुत दिनों तक संतों के मन-मानस से प्रवाहित शांति और एकता के इस झरने ने द्वेष और कलह के भयंकर रोग को पास भी न फटकने दिया। एकता के इस काल में हिन्दू संतों की चरण सेवा करते हुये मुस्लिम मुरीद और मुस्लिम पीरों की इश्क-हाला को पीकर मस्त होते हुये हिन्दू शिष्य अनेक स्थलों पर दिखलाई पड़ते हैं। आज भी संत-हृदय से विघूरित इस प्रेम-वीणा की रागिनी जिसे सुनना हो भारत के उन गावों में जाकर सुनें जहां सांप्रदायिकता का प्लेग अभी तक नहीं पहुँचा है।

हिन्दुस्तानी कहावतें

श्री चन्द्र गुप्त वार्ष्णेय

कहावतें और मुहाविरे भाषा का सिंगार हैं। लिखने और बोलने में इनसे वह लज़्ज़त पैदा हो जाती है, जो मसालों से खाने में। जिस तरह एक सुन्दर स्त्री को अच्छे-अच्छे कपड़े और गहने पहनाने से उसकी शोभा बढ़ जाती है, उसी तरह कहावतों और मुहाविरों से भाषा में रस पैदा हो जाता है; जैसे किसी सुन्दर तसवीर में जान पड़ गयी हो। भाषा का सौन्दर्य बढ़ाने के अलावा कहावतों और मुहाविरों का एक दूसरा उपयोगी पहलू भी है। इनके इस्तेमाल से सुननेवाले और पढ़नेवाले के दिल में बात आसानी से बैठ जाती है। आप हज़ार दलीलें देकर कोई बात समझाइये, पर वह असर न होगा जो मौक़े पर एक कहावत कर दिखायेगी। एक चुभती हुई कहावत के सामने सारी दलीलें हेच पड़ जाती हैं और तमाम बहस-मुबाहिसों की बोलती बन्द हो जाती है। मसलन् किसी से कोई काम ठीक न बन पड़ा और वह साहब अपनी सफ़ाई दे रहे हैं कि आपने बीच ही में टोक दिया, "अजी नाचना जानूं आँगन टेढ़ा।" बस सारा किस्सा ख़तम, जैसे उनकी नानी मर गयी हो।

हमारे देश की हर भाषा में हज़ारों कहावतें प्रचलित हैं। पर हमने देखा है कि पढ़े लिखे शहरी लोगों की बनिस्बत देहात में इनका ज़्यादा प्रचार है। देहाती लोग बात-बात में कहावतों का पुट लगाते रहते हैं, और कभी-कभी तो उनकी बातें सुनने में बड़ा मज़ा आता है। संक्षेप में बात कहने के ढंग को चतुराई की जान समझा गया है। इस लिहाज़ से देखा जाय तो देहात के लोगों में ज़्यादा चतुराई गिननी चाहिये, क्योंकि वे पढ़े-लिखे लोगों की तरह बहस-मुबाहसे के चक्कर में पड़ कर बात का बतंगड़ नहीं बनाते, बल्कि कहावतों के ज़रिये दो टूक बात करते हैं। कहने को तो हम लोग भी अक्सर पूछ बैठते हैं कि अक़ल बड़ी या बहस (भैंस नहीं), लेकिन व्यवहार में अपनी बहस के सामने दूसरे की अक़ल को चलने ही नहीं देते। इस बारे में एक किस्सा यूं है कि कोई हज़रत जो इल्म मतक़ (तर्क-शास्त्र) में बहुत दख़ल रखते थे, तेली के यहां तेल ख़रीदने गये। कोल्हू में जुते हुए बैल के गले में घंटी बंधी देखकर तेली से उसकी वजह पूछी। तेली ने सीधे-सादे तौर पर बता दिया कि घंटी की आवाज से यह पता लगता रहता है कि बैल चल रहा है या नहीं। इस पर मतक़ी साहब कहने लगे, "क्यूं जी, अगर बैल खड़ा ही खड़ा गरदन हिलाया करे?" इस पर तेली ने चट से जवाब दिया, जनाब आप यहाँ से तशरीफ़ ले जाइये, मेरा बैल आपकी तरह मतक़ी नहीं है।

मतलब यह है कि कहावतें और मुहाविरे, जिन्हें हम रात दिन बोल चाल में और लिखने-पढ़ने में इस्तेमाल करते हैं, एक तरह के ऐक्सिअम (Axiom) हैं; यानी ऐसे तथ्य हैं, जिनकी सच्चाई खुद ज़ाहिर है और जो किसी दलील या सबूत के मोहताज नहीं। ये हमारे पुरखों के हज़ारों-लाखों बरसों के ज्ञान और अनुभव का निचोड़ हैं। उन्होंने हमारे लिये कहावतों की शीशियों में दुनियादारी की बातों का इत्र खींचकर रख दिया है। इस इत्र को लेकर सभा-सोसाइटी में जानेवाला आदमी ज़रूर सभा-चतुर कहलायगा और अपनी बोल-चाल की ख़ुशबू से तमाम महफ़िल को महका देगा।

अब सोचने और विचारने की बात यह है कि ये इतनी कहावतें और इतने मुहाविरे कहां से और किस तरह पैदा हुए। बात यह है कि हमारी ज़िन्दगी में ये चीज़ें ऐसी घुल मिल गयी हैं कि हमें इनके बारे में कभी कुछ ख़याल ही नहीं होता। जैसे खाना खाते वक़्त हमें यह ख़याल नहीं होता कि आख़िर भोजन की ये इतनी-इतनी ज़ायक़ेदार और तरह-तरह की

चीज़ें कितने लोगों की सूझ-बूझ और कितने बरसों की मेहनत और तजुरबों के नतीजे हैं।

दूसरी यह है कि दुनिया की कोई भी भाषा कहावतों और मुहाविरों से ख़ाली नहीं। यह ज़रूर है कि अलग-अलग मुल्कों के रस्म-रिवाज और देश, काल, परिस्थिति के मुताबिक़ वहां की कहावतें भी अलग-अलग तरह की हैं। लेकिन यह भी देखा गया है कि बहुत सी कहावतें दुनिया भर में या दुनिया के बहुत से मुल्कों में आम हैं या मिलती-जुलती हैं। इससे ज़ाहिर होता है कि किसी ज़माने में दुनिया की जुदा-जुदा सभ्यताओं की तह में ज़रूर कोई एक विचार-धारा बहती रही होगी, या इनका कुछ आपसी ताल्लुक़ रहा होगा। अगर दुनिया भर की कहावतों को इकट्ठा कर उनका तुलनात्मक अध्ययन किया जाय, तो शायद बहुत सी दिलचस्प बातों का पता लगे, क्योंकि किसी देश की कहावतें एक तरह से वहां के जीवन का प्रतिबिम्ब होती हैं।

हमारे देश की भाषाओं में भी जो अनगिनती कहावतें और मुहाविरे भरे पड़े हैं, उन पर भी कई सभ्यताओं की छाप नज़र आती है। हिन्दुस्तान की कई भाषाओं में कहावतों के संग्रह प्रकाशित हुए हैं, पर वे सब अधूरे हैं। ज़रूरत इस बात की है कि हिन्दुस्तान में प्रचलित तमाम कहावतों को जमा करके उनका एक बड़ा भारी कोष तैयार किया जाय, जिसमें यह भी बतलाने की कोशिश की जाय कि किस कहावत का मूल क्या है। यह काम उतना आसान नहीं है, क्योंकि बहुत सी कहावतों का रूप इतना बदल गया है कि उनका मूल खोज निकालना असम्भव सा है।

वैसे तो हिन्दुस्तानी की कहावतें इतनी ज़्यादा हैं कि उनके बारे में लिखा जाय, तो मज़मून द्रौपदी के चीर की तरह कभी ख़तम ही न हो। लेकिन सहूलियत के लिये हम उन्हें कुछ हिस्सों में बांट सकते हैं। बहुत सी कहावतें तो ऐसी हैं, जिनको लोग आम-तौर पर इस्तेमाल करते हैं पर उनका मतलब क्या है, यह नहीं जानते। यानी लोग आम खाने से मतलब रखते हैं, पेड़ गिनने से नहीं। ये कहावतें ज़ाहिरा तौर पर तो ख़ुद भी बेमतलब मालूम पड़ती हैं और यह पता लगाना मुश्किल है कि उनका प्रयोग किसी ख़ास बात के लिये क्यों किया जाता है। "गधे को हींग दो गधे ने कहा मेरी आँखें फोड़ीं", "काने चोट कनौड़े भेंट", "चोर के घर मोर" वग़ैरा कहावतें इस दर्जे में आती हैं। कुछ कहावतें ऐसी हैं, जिनकी तह में कोई न कोई दिलचस्प क़िस्सा है—जैसे "घर का भेदी लंका ढाये", "चोर की दाढ़ी में तिनका", "निन्यानवे का फेर" वग़ैरा। बहुत सी कहावतों का मतलब तो साफ़ ही नज़र आजाता है। ऐसी कहावतों का आधार रोज़मर्रा के अनुभव हैं। इनमें से कुछ कहावतें मौसमों और फ़सलों के बारे में हैं—जैसे "जेठ चले पुरवाई तो सावन सूखा जाई", कुछ खाने-पीने के बारे में हैं—जैसे "कुवार करेला चैत गुड़ भादों मूली खाय, पैसा खोवे गांठ का रोग बिसावन जाय", कुछ दवा दारू से सम्बन्ध रखती हैं—जैसे "आख तिरफला दातन नोन", कुछ का आधार विज्ञान की बातों पर है—जैसे "चिराग तले अंधेरा", "गूलर का फूल" कुछ कहावतें धार्मिक हैं और धार्मिक ग्रंथों से ली गई हैं; कुछ कहावतें कवियों की उक्तियां हैं। अंधों के बारे में बहुत सी कहावतें सुनने में आती हैं; जैसे "अंधे के हाथ बटेर", "अंधे के आगे रोवे अपने दीदे खोवे", "अंधे को नौते दो जने आवें", "अंधा बांटे रेवड़ी" वग़ैरा, वग़ैरा।

एक तरफ़ तो कवियों की बहुत सी उक्तियां कहावतें बन गयी हैं और दूसरी तरफ़ कवियों ने कहावतों और मुहाविरों को अपनी कविताओं में इस तरह जड़ दिया है, जैसे अंगूठी में नगीना। ऐसा करने से उनकी कविताओं को चार चाँद लग गये हैं और वह ख़ूब लोक प्रिय हो गयी हैं। हिन्दी में तुलसीदास वृन्द, कबीर, रहीम, बिहारी और गिरधर की कविताओं में कहावतों की निराली छटा देखने को मिलती है। इनके कुछ उदाहरण यहां दिये जाते हैं:—

तुलसीदास

(१) हमहैं कहब अब ठकुर सुहाती
(२) का बरषा जब कृषी सुखाने,
समय चूकि पुनि का पछिताने
(३) होहिं न दोउ इक सग भुआला,
हँसब ठठाइ फुलाइब गाला
(४) तुलसी भौंवर के परै, नदी सिरावत मौर
(५) टेढ जानि संका सब काहू,
बक्र चन्द्रमा ग्रसै न राहू।

वृन्द

(१) पर्वत पर खोदै कुआँ, कैसे निकसै तोय
(२) होनहार बिरवान के, होत चीकने पात
(३) पत्थर डारे कीच मे, उछरि बिगारै अग
(४) सीधी अंगुरी घी जम्यौ, क्यों हूँ निकसत नाहि
(५) जैसी हाँडी काठ की चढ़ै न दूजी बार
(६) तेते पाँव पसारिये जेती लाबी सौर

रहीम

(१) अति से फूलै सहजनो, डार पात की हान
(२) जहाँ गाँठ तहाँ रस नहीं, यहा प्रेम की बान
(३) बिपति कसौटी जे कसे, तेही साचे मीत
(४) चन्दन विप व्यापत नहीं, लिपटे रहत भुजग
(५) जहाँ काम आवे सुई, कहा करे तरवार

कबीर

(१) रूखा सूखा खाय के ठडा पानी पीव
(२) काल करै सो आज कर, आज करै सो अब्ब
(३) मुई खाल की स्वास सों, लोह भसम हो जाय
(४) धीरे - धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय
(५) जो तोकू काँटा बुवै, ताहि बोव तू फूल
(६) साच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप

बिहारी

(१) नीम निबौरी क्यों लगी, बौरी चाखि अंगूर
(२) सो ताको सागर जहां, जाकी प्यास बुझाय
(३) जौ लौं लाख करोड़ पल, तौलौं तो सनमान
(४) सखो मेल कपूर में हींग न होय सुगंध
(५) तीन दबावत निसक ही, राजा, पातक, रोग
(६) बचै न बड़ी सबील हू, चील घोंसुआ मास

गिरधर

(१) साईं सब संसार में, मतलब का व्यौहार
(२) बीती ताहि बिसारि दे, आगे की सुधि लेय
(३) बिना विचारे जो करै, सो पाछे पछिताय
(४) कह गिरधर कविराय छोड़ मोटे की गहिये
(५) हनूमान बहु गिरधरे, गिरधर कहे न कोय

फुटकर

(१) जैसे दाझ्यो दूध को, पीवत छाछहि फूँक
(२) चतुर नरन की बात में, बात-बात में बात
जिमि कदली के पात में पात-पात में पात
(३) भग भखन तो सहज है, लहरैं मुसकिल होंय
(४) बोवे पेड बबूल का, आम कहा से खाय
(५) जाके पाव न फटी बिवाई, सो क्या जाने पीर
पराई

रहीम कवि अकबर के दरबारी थे। इनका पूरा नाम नवाब अब्दुलरहीम खानखाना था। इनके दोहे तो मशहूर हैं ही, लेकिन इनके बारे में बहुत से दिलचस्प क़िस्से भी मशहूर हैं। कहते हैं जब बादशाह ने नाराज होकर इनका ख़िताब छीन लिया और इन्हें दरबार से निकाल दिया, तो इन्होंने एक भड़भूजे के यहां नौकरी करली। इत्तफ़ाक़ से रीवां के महाराज ने इन्हें भाड़ झोंकते देख लिया और इनके पास दोहे का एक चरण लिखकर भेजा—"जाके सिर अस भार, सो कस झोंकत भार अस।" यानी जिसके सिर इतनी बड़ी ज़िम्मेदारी थी वह भाड़ कैसे झोंक रहा है। इस पद में भार शब्द और भाड़ झोंकने का मुहाविरा मुलाहिज़ा करने लायक है। पर रहीम कवि ने जो जवाब लिखकर भेजा वह इससे भी बाज़ी ले जाता है। उन्होंने दोहे का दूसरा चरण यह लिखा—"रहिमन उतरे पार, भार झोंकि सब भाड़ में।" यानी सब ज़िम्मेदारी को भाड़ में झोंक कर रहीम तो पार उतर गये। यहां "भाड़ झोंकने" और "भाड़ में

झोंकने" के दोनों मुहाविरे किस ख़ूबी के साथ निभाये गये हैं, यह ग़ौर करने की चीज़ है।

अब हम कुछ ऐसी कहावतों की मिसालें देना चाहते हैं, जिनका किसी उक्ति, किसी घटना या किसी क़िस्से से सम्बन्ध है।

तबेले की बला बन्दर के सिर—ऐसा कहा जाता है कि अगर तबेले में बन्दर बाँध दिया जाय, तो घोड़ों की बीमारी उसे लग जाती है और घोड़े अच्छे हो जाते हैं।

तेल देखो तेल की धार देखो—कहते हैं किसी राजा के मुसाहबों में एक तेली भी था। जब उस राजा पर किसी दूसरे ने चढ़ाई की, तो उसने सब मुसाहबों से सलाह पूछी कि क्या किया जाय। सब ने अलग अलग सलाह दी, पर तेली ने कहा, "अजी, अभी क्या हुआ है, अभी तेल देखो, तेल की धार देखो।"

नफ़े में जूतियां—एक आदमी घोड़ा चुरा कर लाया और उसे बेचने को ले गया। थोड़ी देर में एक ख़रीदार आया और कहने लगा "मैं इस पर ज़रा चढ़कर देख लूं। अपने जूते यहां उतार कर रक्खे जाता हूं।" वह तो घोड़े पर बैठकर चम्पत हुआ; इधर जब इसे खड़े खड़े बहुत देर हो गयी, तो तो किसी ने पूछा, "क्यों भाई तुम्हारा घोड़ा कहां गया?" इसने जवाब दिया, "जिस भाव लाये थे उसी भाव बेच दिया, नफ़े में ये जूतियां बची हैं।"

पांचवें सवार—चार घुड़सवार दिल्ली जा रहे थे। रास्ते में एक गधे वाला भी साथ हो लिया। जब किसी ने घोड़े वालों से पूछा कि कहां जा रहे हैं तो गधे वाला बीच ही में बोल उठा, "हम पांचों सवार दिल्ली जा रहे हैं।"

अभी दिल्ली दूर है—कोई आदमी बहुत दूर से दिल्ली की तरफ़ चला आ रहा था। रास्ते में जिस किसी से पूछता वही उसकी हिम्मत बढ़ाने को कह देता कि दिल्ली ज्यादा दूर नहीं है। लेकिन जब वह बिल्कुल दिल्ली के पास आ गया, तो किसी ने कह दिया कि अभी तो दिल्ली बहुत दूर है। इस पर उस मुसाफ़िर का दिल टूट गया और उसने वहीं जान दे दी।

पढ़ें फारसी बेचें तेल यह देखो कुदरत का खेल—यह कहावत दर असल इस तरह है कि "पड़े पारस बेचे तेल ..." और इसका किस्सा यूं है कि एक बार कोई जौहरी तेली के यहां गया। तेली लोग अक्सर पत्थर के बाटों से तौला करते हैं। जौहरी ने देखा कि इन पत्थरों के बाटों में एक पारस पत्थर भी पड़ा है। इस पर उसके मुंह से यह कहावत पैदा हो गयी। बाद में "पड़े पारस" का बिगाड़ कर "पढ़ें फारसी" हो गया।

आब-आब कर मर गये—कोई आदमी काबुल गया और वहाँ इतने बरस रहा कि अपनी बोली भूल गया। जब वापस आया, तो बीमार पड़ गया और बीमारी में "आब-आब" करके पानी मांगने लगा। लेकिन उसकी बोली कोई न समझा और वह प्यासा मर गया। यह कहावत पूरी इस तरह है—

काबुल गये मुगल बन आये, बोली मुग़ली बानी।
आब-आब कर मर गये सिरहाने रखा पानी॥

चलती का नाम गाड़ी है—यह उक्ति मालूम होता है कबीर के इस दोहे से ली गयी है, "रंगी को नारंगी कहते, खरे माल को खोया, चलती को गाड़ी कहें, यह देख कबीरा रोया।"

जिसका काम उसी को छाजै, मुंह मोगरी बाजै—इस कहावत का दूसरा टुकड़ा इस तरह है कि "गदहा पीठ मोगरी बाजे" और यह पचतन्त्र की एक कहानी से ली गयी है। कहते हैं कि एक धोबी अपने कुत्ते को अच्छी तरह से नहीं रखता था। एक रात उसके यहाँ चोर आये, तो कुत्ता जलन के मारे न भूका। गधे ने उससे बहुत कहा कि तुम्हें मालिक का क़र्ज़ अदा करना चाहिये, लेकिन कुत्ते के कान पर जूं भी न रेंगी। तब गधे ने अपने मालिक को चोरों से ख़बरदार करने के लिये रेंकना शुरू कर दिया। धोबी की नींद जो उचटी तो उसने आव देखा न ताव और गधे की पीठ मोगरी से धुन डाली।

आंखों से बरसात काटना—मालूम होता है यह कहावत फारसी की कहावत "गुर्गे बारां दीदा" से निकली है। बरसात में भेड़ियों के झुंड माद में छिपे बैठे रहते हैं। वे शिकार के लिये बाहर तो निकल नहीं सकते, इसलिये ताक लगाये रहते हैं कि अपने में से ही किसी भेड़िये की आंख झपकी और सब उस पर टूट पड़े और उसे चट कर गये। इसलिये जो भेड़िया अपनी आंखों में बरसात निकाल देता है, वह बड़ा होशियार समझा जाता है।

टेढ़ी खीर—एक बार किसी ने अंधे के सामने खीर की तारीफ की। अंधे ने पूछा कि खीर कैसी होती है, तो तारीफ करने वाले ने कहा सफेद-सफेद। जब सफेद का मतलब अंधे की समझ में न आया, तो उसे बतलाया गया कि सफेद हंस की तरह होता है। लेकिन अंधे मियां यह भी न समझे के हंस किस तरह का होता है, तो उन्हें हाथ टेढ़ा करके बतलाया गया कि हंस की गरदन इस तरह की होती है। अंधे ने हाथ को टटोल कर कहा—

"भाई, यह तो बड़ी टेढ़ी खीर है।"

मज़मून ख़तम करने से पहले हम कुछ ऐसी कहावतों की मिसालें देना चाहते हैं, जिनमे बिल्कुल मिलती जुलती कहावतें अंग्रेज़ी में भी पायी जाती हैं।

(१) थोथा चना बाजे घना—Empty vessels make much sound.

(२) दूध का जला छाछ को फूंक कर पीता है—A burnt child dreads the fire.

(३) उलटे बांस बरेली को—Carrying coal to Newcastle

(४) चोरी का माल मोरी में—Ill gotten ill spent

(५) नौ नकद न तेरह उधार—A bird in hand is worth two in the bush.

(६) नाचना जाने आंगन टेढ़ा—A bad carpenter quarrels with his tools

(७) दाल मे काला—Something black in the pot.

(८) घर घर मिट्टी के चूल्हे—Every cupboard hides a skeleton

क्या हम उम्मीद करें कि गुणी लोग हिन्दुस्तानी कहावतों पर इसी तरह रोशनी डालकर साहित्य के एक उपयोगी और दिलचस्प अंग को पूरा करेंगे!

भूलता जाता है यूरप आसमानी बाप को
बस खुदा समझा है उसने बर्क को और भाप को;
बर्क गिर जायेगी इक दिन और उड़ जायेगी भाप
देखना 'अकबर' बचाये रखना अपने आप को!

भावुकता

श्री विष्णु

पात्र

कुलभूषण—घर के मालिक
जगमोहन—छोटे भइया
प्रेमबन्धु—मास्टर साहेब
चन्द्रमणि—कुलभूषण की पत्नि
पड़ौसी, सिपाही, डाक्टर, दारोगा, नौकर इत्यादि ।

पहिला अंक

समय

दिन और रात का सन्धिकाल

स्थान

एक विशाल भवन की खुली छत

[एक वर्गाकार खुली छत पर दो बेड साइड टेबुल रखी हैं, उन पर फूलदार सफ़ेद मेजपोश बिछे हैं । एक मेज़ पर कुछ किताबें-कापियां पड़ी हैं, दूसरी पर एक फूलदान रखा है । चार दफ़्तरी और दो आराम कुर्सियाँ इस तरतीब से बिछाई हैं कि दोनों मेज़ों के दोनों तरफ़ एक एक दफ़्तरी कुरसी है और बीच में एक आराम कुरसी है । दूसरी आराम कुरसी मेज़ के दूसरी तरफ अन्त में आ गई है ।

दूर पश्चिम में गोलाकार सूर्य निस्तेज बूढ़े योद्धा की तरह विश्राम-भवन की ओर बढ़ रहे हैं । उनकी बेबसी पर पृथ्वी दुखी है । शान्त कोलाहल मचा है । घरों से उठता हुआ धुआँ सन्ध्याकालीन आसमान में धुंधलापन पैदा कर रहा है । छत बहुत देर से खाली है परन्तु इस समय पास के जीने में पैरों की चाप सुनाई पड़ रही है । एक साथ कई व्यक्ति छत पर प्रवेश करते हैं । सबसे आगे एक युवती है । आयु लगभग २५-२६ वर्ष की है । सुन्दर है और चौड़ी लाल पाड़ की कत्थई साड़ी पहिने है । सिर आधा खुला है और तितली नुमा कर्णफूल हिलते दीख रहे हैं ।

दूसरा एक युवक है । खद्दर के साधारण कपड़े पहिने है, परन्तु कुछ ज़रूरत से ज्यादा गम्भीर नजर आता है । आयु लगभग ३०-३१ वर्ष है । हाथ में पुस्तक लिये है । ये मास्टर जी हैं ।

तीसरा भी अभी जवान ही है, यद्यपि चेहरे पर व्यापारिकता की छाप इतनी गहरी है कि आयु ४० के लगभग जान पड़ती है । वेशभूषा सुन्दर है । सीधे जाकर अन्त वाली आराम कुरसी पर लेट जाता है । युवती और दूसरा युवक किताबों वाली मेज़ पर आमने सामने बैठ जाते हैं ।]

कुलभूषण—हाँ तो मास्टर साहेब ! आपने भी सुना है ?

प्रेमबन्धु—क्या जी ?

कुलभूषण—यही कि हमारे शहर में भी दंगा होने वाला है ।

प्रेमबन्धु—वह तो होना ही चाहिये !

कुलभूषण—] (अचरज से एक साथ) होना ही
चन्द्रमणि—] चाहिये ! क्यों होना चाहिये !

प्रेमबन्धु—ये दंगे चेचक की बीमारी की तरह हैं और आप जानते हैं जब चेचक की बीमारी फूटती है तो बड़ी जल्दी चारों ओर फैल जाती है ।

चन्द्रमणि—वह तो छूत की बीमारी होती है, मास्टर साहेब ।

प्रेमबन्धु—दंगों के जर्म (कीटाणु) बीमारी के जर्मों से बहुत तेज दौड़ते हैं। वे मन के साथ चलते हैं। और फिर बात यह है कि चेचक की बीमारी का तो टीका एडवर्ड जेनर ने खोज निकाला था, परन्तु दंगों का इलाज अभी तक किसी को नहीं सूझा है।

चन्द्रमणि—लेकिन मास्टर साहेब ! लोगों का ख्याल है चेचक का टीका बुरा है।

कुलभूषण—कौन हैं वे लोग ?

चन्द्रमणि—जी, उनमें गान्धी जी भी हैं। उन्होंने प्रसिद्ध डाक्टरों की अथॉरिटी कोट की है।

कुलभूषण—(अप्रसन्नता से) यह गान्धी जी हर बात में टांग अड़ा देते हैं। Jack of all trades but master of none अपने को अहिंसा का सर्वोत्तम ज्ञाता कहते हैं, परन्तु इन्होंने देश का नाश कर डाला है।

प्रेमबन्धु—गान्धी जी को लोग बहुत ग़लत समझते हैं।

कुलभूषण (तेज़ी में)—वे काम ही ग़लत करते हैं। उन्होंने तो भारत को तजरबा करने की लैबोरेटरी बना रखा है। सब इन्सान मानो खरगोश और गिलहरियाँ हैं। जो चाहा जैसा इन्जैक्शन लगा देते हैं। लोग मरते हैं या जीते हैं यह उन्हें चिन्ता नहीं है।

प्रेमबन्धु—मैं कहता हूँ आप गान्धी जी से ग़लत आशायें रखते हैं।

कुलभूषण—हम आशायें कहां रखते हैं ! वे ही आशायें दिलाते हैं।

प्रेमबन्धु (हंसकर)—आप आशायें नहीं रखते तो आपको दुःख क्यों होता है ?

कुलभूषण (आवेश में)—आप गान्धी जी का पक्ष लेते हैं।

चन्द्रमणि (शीघ्रता से)—मास्टर जी ठीक कहते हैं। गान्धी जी देश के गौरव हैं। उन जैसे दिव्य पुरुष युग युग के बाद पृथ्वी पर पैदा होते हैं। यह उन्हीं की कृपा है कि आप उनके कार्यों के विरुद्ध बोलने का साहस रखते हैं.........।

प्रेमबन्धु (बीच में टोक कर)—देखिये मैं आप को बताता हूं। गान्धी जी अच्छे बुरे जो भी हैं एक आवश्यकता हैं। जैसे गरमी के बाद वर्षा एक नियम है, उसी तरह महानाश के बाद शान्ति भी नियम है और......

[सहसा बड़ी तेज़ी से कोई ज़ीने में चढ़ता है। सब चौंकते हैं। पल भर में एक १८-१९ वर्ष का युवक वहां आता है, उसके चेहरे पर विषाद स्पष्ट है। उसने कुरता धोती पहिना है। आते ही बीचवाली आराम कुर्सी पर बैठ जाता है।]

चन्द्रमणि (एक साथ) क्या बात है जगमोहन ?

कुलभूषण (एक साथ) क्या बात है ?

जगमोहन (उद्विग्नता से)—आपने सुना, भइया ?

कुलभूषण (उत्सुकता से)—क्या ?

जगमोहन—तुमने नहीं सुना ? (मुड़कर) मास्टर साहेब ! आपने भी नहीं सुना ?

प्रेमबन्धु—दंगे के बारे में ?

जगमोहन—हां ! मास्टर साहेब ! उन लोगों ने एक मासूम बच्चे को उठाकर आग में फेंक दिया।

कुलभूषण (एक साथ) किसने !

चन्द्रमणि (दुःख से) हाय..... !

जगमोहन (कातर उद्विग्न)—सच भाभी। वे पागल हो रहे थे। उन्हें बदला लेना था और बदला लेने के लिये उन्हें आदमी मिल नहीं रहे थे......।

प्रेमबन्धु—तो उसमें अचरज की क्या बात है ?

जगमोहन (अचरज से)—आप क्या कहते हैं मास्टर साहेब। जीते जागते मासूम बच्चों को आग में फेंक देना क्या अत्याचार नहीं है ?

चन्द्रमणि --ओह...... ।

प्रेमबन्धु—मैं कह रहा था इसमें अचरज की क्या बात है !

जगमोहन—मास्टर साहेब ! बच्चों को आग में भून देना साधारण बात है ! आह मास्टर साहेब...!

कुलभूषण—लेकिन किसने जलाया बच्चे को ?

जगमोहन (खड़ा हो जाता है)—आदमी ने !

कुलभूषण	(एक साथ)	किस आदमी ने !
चन्द्रमणि		किसने ?
प्रेमबन्धु		आदमी ने !

जगमोहन—हमारे पड़ौस में जो साम्प्रदायिक युद्ध मचा है, उसी में हिन्दू धर्म के ठेकेदारों ने एक ग़रीब मुसलमान की चार वर्ष की लड़की को उठा कर आग में ज़िन्दा जला दिया……!

चन्द्रमणि—हाय…… !

प्रेमबन्धु—इसी को तुम अचरज कहते हो, जगमोहन ! मैं कहता हूं इस दुनिया में कोई अचरज नहीं है और फिर युद्ध में तो सब कुछ उचित है।

कुलभूषण—और मैं कहता हूं यह ठीक हुआ है। मुसलमानों को सबक़ मिलेगा उन्होंने भी तो हिन्दू स्त्री बच्चों को ज़िन्दा जला डाला था। पिछले वर्ष १४-१५ बीमार आदमियों को, जिनमें स्त्री, बच्चे, बूढ़े, अपाहिज सब थे, एक मकान में मिट्टी का तेल डालकर फूंक दिया था। वह क्या था ! आज तुम्हें दर्द होता है कि एक हिन्दू ने एक मुसलमान की लड़की को फूंक दिया है। एक से क्या होता है। हिन्दू बुज़दिल हैं नहीं तो…… !

प्रेमबन्धु (बीच में)—नहीं तो उन्हें अब तक एक हज़ार एक बच्चे ज़िन्दा भून डालने चाहिये थे। (बड़े ज़ोर से हँसता है)

कुलभूषण—आप हँसते हैं !

चन्द्रमणि—मास्टर साहेब ! उस बच्चे की माँ क्या सोचती होगी ! उसने किसी का क्या बिगाड़ा था !

प्रेमबन्धु—सब मा के पेट से पैदा होते हैं। क्या यह उन लोगों की माओं का क़ुसूर नहीं है कि उन्होंने ऐसे बच्चे क्यों पैदा किये, जो दूसरों के बच्चों को बेगुनाह आग में फूंकते फिरें।

जगमोहन—ओह मास्टर साहेब ! यह जघन्य पाप है ! मैं हिन्दुओं की बात नहीं कहता। ऐसा करने वाले मुसलमान भी पापी हैं।

प्रेमबन्धु—आप हिन्दू-मुसलमान कहते ही क्यों हैं ? क्यों नहीं कहते आदमी पागल हो गया है। वह अब तक अपनी पाशविक मनोवृत्ति भूला नहीं है। (मुड़कर) चन्द्रमणि ! तुम भेड़िया और मेमने वाली कहानी जानती हो।

चन्द्रमणि—जानती हूं मास्टर साहेब ! भेड़िया मेमने को खाना चाहता था क्योंकि उसका स्वभाव ऐसा था। इसीलिये उसने कहा था अगर तुमने गालियां नहीं दीं तो तुम्हारे बाप ने दी होंगी तुम अपराधी ज़रूर हो… ।

प्रेम बन्धु—ठीक इसी तरह आदमी भेड़िया है। बहुत दिनों तक खूंख़ार जानवरों के साथ रहा है न ! फ़रक़ केवल इतना है कि उसे भेड़िये वाली बात कभी कभी ही याद आती है। भेड़िया भी प्रेम करना जानता है (मुड़कर) आपने सुना होगा इन्सानों के बच्चे भी वर्षों बाद भेड़ियों की मांद से जीते जागते पकड़े गये हैं… ।

कुलभूषण—आपके उदाहरण मेरी समझ में नहीं आते। हिन्दू लोग स्वभाव के दयालु हैं और मुसलमान मांस खा-खा कर जानवरों की तरह खूंख़ार हैं।

जगमोहन—मांस तो हिन्दू भी खाते हैं भइया।

प्रेमबन्धु—मांस खाने से कोई खूंख़ार हो जाता है यह नियम नहीं है; और फिर हिन्दू क्या कम खूंख़ार हैं। उनके दांत और नाखून तो मुलायम खोल के नीचे छिपे हैं। वे खूंख़ार होने के अतिरिक्त कायर और धोखेबाज़ भी हैं।

कुलभूषण (क्रोध से) आप हिन्दुओं के बारे में ग़लत राय रखते हैं !

प्रेमबन्धु—मैं हिन्दू मुसलमान कुछ नहीं जानता। लड़ना इन्सानी ख़सलत है, इसीलिये वह भेड़िये की तरह मेमने को खाने का बहाना ढूंढ़ा करता है। फ़रक़ केवल इतना है कि यहां भेड़िये और मेमने नहीं हैं, बल्कि हिन्दू-मुसलमान-सिख-जाट बनिये-ब्राह्मण आदि हैं जो बारी बारी से भेड़िये और मेमने का पार्ट अदा करते रहते हैं और……

[सहसा नीचे से कोई पुकारता है]

आवाज़—कुलभूषण बाबू हैं !

कुलभूषण (शीघ्रता से) आया जी। (नीचे झांक कर) आप ! अभी आता हूं जी, (मुड़कर) मणि ! बा० लीलाधर आये हैं, हिन्दू लीग के प्रधान। चाय का प्रबन्ध करो। (मुड़कर) मास्टर साहेब ! आपके विचार बहुत ग़लत हैं। कल बातें करूंगा।

[नीचे उतर जाते हैं। चन्द्रमणि पीछे पीछे जाती है। कुछ क्षण पर चर चर की आवाज़ होकर बन्द हो जाती है। फिर नीचे से हंसने की आवाज़ आती है]

जगमोहन—मास्टर साहेब ! आप की बात मैं भी ठीक ठीक नहीं समझता, पर यह तो पाप है, बन्द होना चाहिये। इस तरह तो जिया नहीं जा सकता (क्षण भर रुक कर) भइया हिन्दू लीग में जाना चाहते हैं। व्यापारी आदमी हैं। मैं जाकर ज़रा उनकी बातें तो सुन ..

[जल्दी जल्दी नीचे उतर जाता है, तेज़ आवाज़ होती है और फिर शान्ति छा जाती है, मास्टर साहेब अनमने से किताबें टटोलते हैं। कुछ देर बाद नौकर वहां आता है]

नौकर—बीबी जी ने कहा है आज छुट्टी कर दें। नीचे चाय तैयार है पीकर जावें। और कहती हैं कल से सबेरे आवें तो ठीक रहेगा।

[प्रेमबन्धु उदासीन से उस नौकर को देखते हैं, फिर बिना बोले मुसकराते हुये नीचे उतर जाते हैं। नौकर किताबें उठाकर पीछे चलता है। कुछ देर उनके उतरने की आवाज़ गूंजती रहती है, फिर शान्ति छा जाती है। Fade] परदा गिर जाता है।

दूसरा अङ्क

समय—प्रातःकाल ७ और ८ के बीच

स्थान—उसी भवन का नीचे का कमरा

[कमरे की दीवारों पर कुटुम्ब के तथा अन्य महापुरुषों के अनेक चित्र टंगे हैं; गान्धी जी व स्वामी दयानन्द के दो बड़े चित्रों के बीच में एक सुन्दर घड़ी है जिसमें ७ बजने वाले हैं। फर्श पर क़ालीन और दरी बिछी है। उत्तर पश्चिम के कोनों में टीक वुड की दो सुन्दर मेजें हैं। दीवार के साथ-साथ ७-८ कुर्सियां करीने से रखी हैं। बीच में गोल तिपाइयों पर फूलदान और हाथीदांत के खिलौने हैं। दो सोफ़े भी हैं।

कमरे में तीन ओर दरवाज़े हैं। मकान के अन्दर वाला दरवाज़ा खुला है। बरांडे वाले दो दरवाज़े बन्द हैं, एक खुला है। एक दरवाज़ा किसी कमरे में खुलता है वह बन्द है। कमरे में कोई नहीं है।

इसी समय बरांडे वाले दरवाज़े से मास्टर जी कमरे में आते हैं। घड़ी पर एक नज़र डाल कर उत्तर वाली मेज़ के पास कुरसी पर बैठ जाते हैं। बैठे रहते हैं। घड़ी सात बजा देती है। वे चौंकते हैं। तभी अन्दर वाले दरवाज़े पर चन्द्रमणि दिखाई देती है। कुछ घबराई हुई है]

चन्द्रमणि—ओह ! आप आ गये, नमस्ते !

प्रेमबन्धु—नमस्ते !

चन्द्रमणि—मास्टर साहेब ! जगमोहन आज सबेरे से बहुत उद्विग्न हैं एक बार तो रो भी पड़े थे।

प्रेमबन्धु—क्यों ? क्या बात हुई ?

चन्द्रमणि—बात तो वाक़ई बड़ी दर्दनाक है परन्तु .....

प्रेमबन्धु—दर्दनाक बात है ..... ।

चन्द्रमणि—कहते हैं उस दंगे में लोगों ने औरतों की छातियां तक काट डाली हैं......(कहती कहती कांप उठती है)

प्रेमबन्धु (मुसकराकर) बस ! यह बात थी।

चन्द्रमणि—मास्टर साहेब ! यह क्या थोड़ी बात है। उफ़ ! छातियां काटना कितना अनर्थ है यह ! दुनिया में कोई अच्छी बात ही न रही। मुझे तो कँपकँपी आती है (कांपती है)।

प्रेमबन्धु—महानाश समीप है, चन्द्रमणि ! इसलिये कोई भी होनेवाली बात बड़ी नहीं है। महानाश जितनी जल्दी पूरा हो उतना ही अच्छा है; लेकिन तुम छोड़ो उन बातों को पढ़ना शुरू करो...

[इसी समय अन्दर के दरवाज़े से जगमोहन आते हैं। अभी नाइट ड्रेस में हैं, फ़रक़ इतना है कि पाजामा कुरते के स्थान पर जाँघिया और बनियाइन है। बहुत दुखी और चिन्तित हैं]

जगमोहन—मास्टर साहेब ! आपने तो सुना है कि लोगों ने अब औरतों की छातियां भी काटनी शुरू करदीं। क्या होगा अब ?

प्रेमबन्धु—महानाश होगा जगमोहन ! तुम समझते नहीं। उन लोगों ने बड़ी दूर की बात सोची है। अब न तो छातियां रहेंगी और न मनुष्य मा का दूध पीकर शेर बनेंगे।

जगमोहन (तेज़ी में)—वे पापी हैं, दुरात्मा हैं। उन्हें गोली से उड़ा देना चाहिये। उन्हें ज़िन्दा गाड़ देना चाहिये।

प्रेमबन्धु—और मैं कहता हूं उन्हें बहादुरी, दूरदर्शिता और प्रगतिशील विवेचन के उपलक्ष में पारितोषिक मिलना चाहिये।

चन्द्रमणि—आप क्या कहते हैं ?

जगमोहन (जोश में) आप कैसी बातें करते हैं मास्टर साहेब ! जो इस तरह मानवता का उपहास करता है, मातृत्व का अपमान करता है, वह भी क्या इन्सान है, वह तो...वह तो...

प्रेमबन्धु (बीच में)—देवता है (हंसता है)।

जगमोहन (क्रोध में) मास्टर साहेब !!!

प्रेमबन्धु—कृपा कर आप बतायेंगे आप कौन हैं ?

जगमोहन—मैं कौन हूं ? मैं तो इन्सान हूं !

प्रेमबन्धु—नहीं जगमोहन ! तुम इन्सान नहीं हो। तुम तो प्रसिद्ध व्यापारी कुलभूषण के छोटे भाई, जन्म के हिन्दू, जाति के वैश्य, धर्म के सनातनी, फिर अग्रवाल असली या नक़ली, फिर वैष्णव-रामानन्दी या रामानुजी कोई अन्त है, इस होने का। फिर इन सबके ऊपर ग़रीब-अमीर; ऊंच नीच, छूत-अछूत के भेद हैं। तुम सब कुछ हो-पर इन्सान नहीं हो सकते। क्योंकि इन्सान ने स्वयं ही अपना असली भेष उतार कर ये भेष धारण किये हैं। वह इन्हें नहीं छोड़ सकता। वह अपने बाल नोंचकर आपही चिल्लाता है, परन्तु उन्हें छोड़ता नहीं।

जगमोहन—तो मास्टर साहेब, अब ये झगड़े बन्द नहीं हो सकते।

प्रेमबन्धु—जब तक वर्ग हैं, वर्ग युद्ध नहीं मिट सकते। हां, यदि वर्गीकरण प्राकृतिक सिद्धान्तों पर किया जावे तो समाज में यथासम्भव शान्ति हो सकती है। महानाश के बाद प्रत्येक समाज में यही शान्ति पैदा हुआ करती है। उस दिन मैं यही कह रहा था कि गान्धी महानाश के बाद आने वाली शान्ति का प्रतीक मात्र है। वह महानाश को रोकने की व्यर्थ चेष्टा करता हुआ मानव समाज में असन्तोष, विद्रोह, उत्तेजना और घृणा पैदा कर रहा है। यह समाज के हित के लिये है, क्योंकि यही अवस्था महानाश के बाद सुख, शान्ति, सन्तोष और स्नेह में पलट जावेगी। तब लोग गान्धी को पहिचानेंगे। ये दर्शन और अर्थ शास्त्र की विचार धारायें अलग-अलग होकर भी· · · ·

[सहसा बरामदे वाला दरवाज़ा तेज़ी से खुलता है। बाबू कुलभूषण घबराये हुये प्रवेश करते हैं। उनके वस्त्र अस्त-व्यस्त हैं। चेहरा पीला पड़ गया है। सब चौंकते हैं।]

जगमोहन　　　　　　　क्या हुआ, भइया ?
प्रेमबन्धु　(एक साथ)　क्या दंगा हो गया ?
चन्द्रमणि　　　　　　　क्या हुआ आपको ?

(कुरसी से उठकर जल्दी-जल्दी उनकी ओर आती है। कुलभूषण धम्म से एक कुरसी पर गिर पड़ते हैं)

कुलभूषण (घबराये हुये स्वर में)—दंगा हो गया।

जगमोहन　　　　　　　कहां हुआ ?
प्रेमबन्धु　(एक साथ)　कहां हुआ ?
चन्द्रमणि　　　　　　　कैसे ?

कुलभूषण (उसी स्वर में)—मुसलमानों ने गोपीगंज पर हज़ारों की तादाद में हमला कर दिया है। कई हिन्दुओं को काट डाला, दूकानें लूट लीं; मकानों में आग लगा दी।

चन्द्रमणि—हाय······ !

कुलभूषण—सब बाज़ार बन्द हो गये हैं। भगदड़ मच रही है।

प्रेमबन्धु—यह कायरता है। इसी कारण दंगों को प्रोत्साहन मिलता है।

जगमोहन—मगर आपके बाज़ार का क्या हाल है ?

कुलभूषण (तनिक स्वस्थ होकर)—वह तो अभी तक ख़तरे से बाहर है। इधर भी कोई डर नहीं है, परन्तु दारागंज, दुर्गाबाड़ी, गोपीगंज मे बहुत बुरी हालत है। रेल का रास्ता उधर से है। बेचारे मुसाफ़िर बेगुनाह मरेंगे !

जगमोहन (अचरज और करुणा से)—मुसाफिरों को भी मारेंगे वे लोग ?

कुलभूषण—जो भी सामने होगा उसी को मारना उनका धर्म होगा। ख़ूंख्वार, वहशी राक्षस हैं वे लोग !

प्रेमबन्धु—तो यह अच्छा ही हुआ। उमस तंग कर रही थी। बादल जी भर कर बरस लेगा तो दिल हल्का हो जावेगा।

[इसी समय जगमोहन चुपचाप अन्दर के दरवाज़े से निकल जाता है। कोई नहीं देखता।]

चन्द्रमणि—मास्टर साहेब। दंगा होगा यह लोग कितने दिन से जानते थे। उनको यह भी पता था कि व्यर्थ ही लाखों का नुक़सान होगा। बेगुनाह लोगों का रक्त बहेगा परन्तु कोई भी दंगे को रोक नहीं सका।

प्रेमबन्धु—रोकता कौन ! सभी तो अपने विरोधियों को कुचल देना चाहते थे। लड़ाई में सभी विरोधी होते हैं।

कुलभूषण—अच्छा जगमोहन ज़रा तुम ····(चौंककर) जगमोहन कहां गया।

चन्द्रमणि] (एक साथ चारों जगमोहन।
प्रेमबन्धु] तरफ़ देखकर) जगमोहन।

[चन्द्रमणि जल्दी से अन्दर जाती है। कुलभूषण और मास्टर साहेब बाहिर। पांच मिनट बाद सब घबराये हुये लौटते हैं]

कुलभूषण] (घबराकर) चला गया, मास्टर
चन्द्रमणि] साहेब। कहीं गये होंगे, मास्टर साहेब !

प्रेमबन्धु (सान्त्वना के स्वर में) आप घबराइये नहीं। मैं उसे खोज लूंगा।

चन्द्रमणि – आप नहीं... ।

कुलभूषण—दोनों नौकरों को भेजता हूं। ओह ! काला मुंह करेगा मेरा...

प्रेमबन्धु—मेरा मतलब था वह अभी वहां नहीं पहुंचा होगा। लौटा दूंगा।

[मास्टर साहेब जल्दी जल्दी बाहिर चले जाते हैं। चन्द्रमणि और कुलभूषण उनके पीछे पीछे मुख्य दरवाज़े तक आते हैं और पागलों की तरह वहीं से देखते हैं। दोनों नौकर भी लाठियां लेकर वहीं से गुज़रते हैं। बाहिर सड़क पर लोग तेज़ी से आ जा रहे हैं। उनके चेहरे भय से पूर्ण हैं। ज़ोर से नहीं बोलते; जल्दी जल्दी फुस फुस करते हैं। पुलिस की लारियां तेज़ी से दौड़ती हैं। पता लगता है अब तक पांच मौत हो चुकी हैं। घायलों की संख्या लगभग बीस है। चन्द्रमणि व कुलभूषण एक दूसरे की ओर प्रश्नवाचक दृष्टि से देखते हैं, परन्तु वहां से हटते नहीं। उसी अशान्त वातावरण में परदा गिर जाता है]

तीसरा दृश्य

समय—लगभग साढ़े १२ बजे।

स्थान—उसी भवन का अन्दरूनी हिस्सा।

[सोने के कमरे में कुलभूषण, चन्द्रमणि और एक डाक्टर हैं। पुलिस के दारोग़ा भी बैठे हैं। चन्द्रमणि और कुलभूषण के चेहरे पीले निस्तेज हैं। डाक्टर थर्मामीटर लिये पलंग पर झुके हैं। पलँग पर एक व्यक्ति लेटा है। पट्टियां इतनी बँधी हैं कि वह पहिचाना नहीं जाता; परन्तु वह जगमोहन है। संज्ञाहीन है, परन्तु बार-बार तेज़ी से उठ बैठता है। बोलने लगता है। दारोग़ा

जल्दी जल्दी लिखते हैं। कमरे में दबी हुई शान्ति है। बाहिर हवा चल रही है]

चन्द्रमणि—कितना टैम्प्रेचर है डाक्टर साहेब ?

डाक्टर—१०५, हालत अभी तक सम्हली नहीं है।

कुलभूषण—क्या होगा डाक्टर ? मैंने न जाने कितनी बार समझाया, परन्तु मुझे सदा इसने छोटे दिल का, साम्प्रदायिक और न जाने क्या क्या कहा। जो जानते हुये साँप के मुह में उँगली डाल देता है, उसे क्या बचाया जा सकता है डाक्टर !...ओह माँ !

जगमोहन (सहसा जाग कर)—कहा हैं वे लोग जो अपनी मनुष्यता को भूलकर ग़रीबों को मार डालना चाहते हैं .. ।

चन्द्रमणि—मोहन ! तुम क्या कह रहे हो ? यहाँ तो कुछ भी नहीं है ?

जगमोहन (उसी तरह)—मास्टर साहेब। उन्होंने बच्चों को भून डाला है। घरों में आग लगा दी है। स्त्रियाँ जल रही हैं। क्या करूँ मास्टर साहेब. . मास्टर साहेब......

कुलभूषण—मोहन, भइया ! मोहन चुप हो जाओ ! सब ठीक है।

[डाक्टर धीरे धीरे लिटा देते हैं। छाती पर हाथ रखते हैं और पलक ढक देते हैं]

दारोगा—कुछ भी हो डाक्टर ! मास्टर साहेब ने साहस का काम किया। वे अकेले थे। मैंने कहा—ख़तरे में जाना ठीक नहीं है। ज़रा ठहरो। कहने लगे—एक भावुक हैवान इन्सान बनने को पागल हो रहा है। उसे बचाना ही चाहिये दारोगा साहेब !' उनकी बातें मैं नहीं समझता था, परन्तु उनकी हिम्मत मानता हूं। एक डंडा लेकर उस तंग रास्ते पर बढ़े चले गये। मजबूरन मुझे केवल दो सिपाहियों के साथ उनका पीछा करना पड़ा.... . ।

जगमोहन (फिर जागकर)—तुम सौ हो वह अकेला है। निहत्था, परदेसी, तुम्हारे शहर में आया है। तुम इसे मारोगे ! मेहमान को मारोगे ! नहीं, नहीं ! तुम ख़ून चाहते हो तो लो मेरा ख़ून लो। मेरा ख़ून पी लो......।

दारोग़ा—ठीक यही शब्द थे डाक्टर ! जो हमने सुने थे। जिनको सुनकर मास्टर साहेब पागलों की तरह भीड़ में घुस गये थे; परन्तु इससे पहिले वे वहाँ पहुँचते कई लाठियां उठ चुकी थीं। मैं जब वहाँ पहुँचा तो मास्टर साहेब ने जगमोहन बाबू को एक हाथ से छाती से चिपका रखा था। दूसरा हाथ उठा कर कह रहे थे, जो भी आगे बढ़ा तो सिर फोड़ दूँगा। उनकी आँखें क्रोध से लाल थीं। चेहरा तमतमा रहा था। मैं एक दम न जाने कैसे सीटी बजा बैठा। भीड़ भाग चली। पांच मिनट बाद आपके दोनों नौकर दोनों सिपाही और मैं, उन दोनों के ऊपर झुके हुये थे और हमारे चारों तरफ़ जगह जगह ख़ून बिखरा हुआ था।

कुलभूषण—मास्टर साहेब को भी चोट लगी है ?

डाक्टर साहेब—जी हाँ। उनका बाँया हाथ टूट गया है। सिर में भी हल्का ज़ख़्म है।

चन्द्रमणि—वे कहाँ हैं ?

डाक्टर साहेब—जगमोहन को ड्रेसिंग करवाकर घर चले गये थे। कह गये थे जल्दी लौट आऊँगा।

[चन्द्रमणि सहसा रो उठती है; जगमोहन फिर चौंकता है]

जगमोहन—तुम्हें भी मारा !...अहह तुम मुसलमान हो वे हिन्दू थे। इन्सान कोई नहीं है। फिर तो एक न एक को मरना था। तुम मर गये, दोस्त ! अच्छा हुआ। वहाँ जाकर अपने ख़ुदा से पूछना कि उसने तुम्हें इस दुनिया में क्या इन्सान के हाथ से मरने के लिये भेजा था और कहना कि......।

[डाक्टर जगमोहन को गोदी में भरते हैं वह छुड़ाता है]

जगमोहन—मुझे रोकोगे ! मैं न हिन्दू हूँ न मुसलमान। केवल इन्सान हूं। इन्सान को कोई नहीं रोक सकता......।

कुलभूषण—इन्सान ! इस इन्सानियत ने ही उसकी जान ली है। चाँद को भी कोई पकड़ सकता है। मुसलमानों मे इन्सानियत की कल्पना करना साप के दांतों मे अमृत की कल्पना करना है।

चन्द्रमणि—लेकिन मोहन को तो हिन्दुओं ने भी पीटा है।

[तभी दरवाजे पर कोई हल्की हल्की दस्तक देता है]

चन्द्रमणि—मास्टर जी आगये !

[शीघ्रता से बाहिर जाती है। नौकर इशारा करता है, चौक के दूसरी ओर बड़े दरवाजे पर मास्टर साहिब नजर आते हैं। उनके सिर पर पट्टी बंधी है। हाथ सैंट जोन स्लिंग में बँधा है। हवा तेज है, मास्टर साहेब और मणि के कपड़े हिलते हैं]

चन्द्रमणि (भर्राये स्वर मे)—मास्टर साहेब . ।

प्रेमबन्धु (शान्त स्वर में)—क्या हाल है उसका ?

चन्द्रमणि (आंसू पोंछकर)—हाल खराब है मास्टर साहेब ! आप अगर न जाते तो शायद वे जिन्दा भी घर न आते। आपने जो कुछ...

[चलते चलते बातें करते हैं]

प्रेमबन्धु (हँसते हैं)—मैंने वही किया जो, सब करते हैं, अपनों को बचाना और स्वार्थ के लिये मरना। बात जगमोहन की अलबत्ता है। वह भावुक युवक इन्सान बनने चला था; परन्तु भूल गया भावुकता जिस प्रकार क्षणिक होती है उसी तरह. (सहसा अपने को रोककर) हां तो डाक्टर कहते क्या हैं !

चन्द्रमणि—डाक्टर क्या कहेंगे ! जगमोहन ही सब कुछ कह रहे हैं।

प्रेमबन्धु—चुप नहीं हुये ?

चन्द्रमणि—नहीं (रो पड़ती है) ।

प्रेमबन्धु—श्री मणि ! रोती हो ! (नर्म होकर) ऐसे वक्त रोना आ ही जाता है। जगमोहन को जब मैंने छाती से अलग किया, तो मैं भी रो पड़ा था। अपनों को देखकर आंखों में सदा आंसू उमड़ आते हैं और दूसरों को देखकर खून उभर आता है। इस दुनिया का यही नियम है। मा दूसरे के बच्चे को प्यार कर ही नहीं सकती।

(तभी दूसरे रास्ते से दारोगा साहेब जाते हुये नज़र आते हैं)

प्रेमबन्धु—दारोगा साहेब तो जारहे हैं चन्द्रमणि।

चन्द्रमणि—(हठात् कांपकर)—दारोगा साहेब जा रहे हैं ।

(शीघ्रता से चौक पार करती है उधर से कुलभूषण बाहिर आते हैं)

कुलभूषण—(मणि को न देखकर)—मणि ! श्री मणि !

मणि—(काँपती काँपती)—क्या है ? क्या कहा डाक्टर ने ?

कुलभूषण—(रुंधे स्वर मे)—डाक्टर ने कहा है .

(हवा का एक झोंका उधर से निकल जाता है। कुलभूषण की आवाज सुनाई नहीं देती। केवल मणि वहीं दरवाज़े पर गिर पड़ती है, मास्टर साहेब दौड़कर उठाते हैं।)

प्रेमबन्धु—मणि ! डाक्टर ने तो यही कहा होगा कि इन्सान इस दुनिया में ज्यादा देर नहीं रहा करते। लो उठो .....

[सहसा अन्दर से एक तेज आवाज आती है; फिर एकदम उसी तरह शान्त हो जाती है। कुछ क्षण के लिये तूफान के आने की सूचना देने वाला सन्नाटा छा जाता है; फिर सहसा बाहिर दरवाजे पर दस्तक की आवाज़ होती है। होती रहती है। मास्टर साहेब दौड़कर खिड़की से झाँकते हैं। चार पांच व्यक्ति व्यग्रता से पुकार रहे हैं—कुलभूषण बाबू, कुलभूषण बाबू...। मास्टर साहेब इशारा करते हैं और खिड़की बन्द कर लेते हैं। वे व्यक्ति अचरज से एक दूसरे को देखते हैं। तभी फिर अन्दर से बहुत

दबा हुआ चीत्कार सुनाई पड़ता है। सुनता रहता है। वे सब लोग जिनमें दो पड़ोसी, दो पुलिस वाले और दो तीन अन्य नागरिक हैं सदर दरवाजे से अन्दर आते हैं। मास्टर साहेब उन्हें संकेत करते हैं।

एक नागरिक (विषाद भरे स्वर में) बिल्कुल आशा नहीं है !

प्रेमबन्धु—खेल कभी का समाप्त हो चुका है, महोदय ! अब आशा कैसी !

दूसरा नागरिक (अचरज से) क्या.. !

प्रेमबन्धु—जी हां !

(कुलभूषण का प्रवेश । पागलों की-सी अवस्था है)

कुलभूषण—(हँसता हुआ)—आप आये हैं। आये न ! रुक गये ! इन्सान आज असली रूप में प्रगट हुआ है। इन्सान...(दांत किटकिटाता है)—इन्सान...इन्सान...(रो पड़ता है) मोहन इन्सान बना है। मां ! मोहन आज इन्सान बना है; कल मैं भी बनूंगा, मां। और मास्टर साहेब ..

[गिरना चाहता है। मास्टर साहेब दौड़कर सँभालते हैं, अन्य लोग भी दौड़ते हैं और सहारा देकर उन्हें अन्दर ले जाते हैं। धीरे धीरे Fade परदा गिर पड़ता है]

युद्ध टालने का सही उपाय

कलकत्ते में जापानी लोग बम बरसायें, तो हम आत्म रक्षा किस तरह करें, इसकी तरकीबें सोची जा रही हैं। लेकिन इनसे क्या होने वाला है ? बम तो बरसने वाले ही हैं। बहुत हुआ तो, आज नहीं दस वर्षों के बाद बरसेंगे। यदि हम एक ओर जापान का सस्ता माल खरीदकर उसे मदद करते रहेंगे और दूसरी ओर उसके बम न गिरें इसकी कोशिश करते रहेंगे, तो वे बम कैसे टलेंगे ? बम या युद्ध टालने का वास्तविक उपाय तो यही है कि हम अपनी आवश्यक चीजें अपने आस पास तैयार करायें और उनके उचित दाम दें।

—विनोबा भावे

एक वंश में एक ही नाम की पुनरावृत्ति

श्री अगरचन्द नाहटा

भारतीय इतिहास में एक ही वंशक्रम में एक ही नाम के कई व्यक्तियों का होना पाया जाता है, विशेषतः राजवंश एवं गुरु परम्परा में। विचार करने पर इसका कारण यही ज्ञात होता है कि किसी वंश में कोई असाधारण प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति का प्रादुर्भाव हुआ, तो यथानाम तथा गुण की रूढ़ि मान्यता के अनुसार यह विचार होता है कि वही नाम उस वंश में प्रादुर्भूत किसी व्यक्ति का पुन. रक्खा जाय, या गद्दीनशीन होने पर पहला नाम बदलकर अभीष्ट नाम रक्खें ताकि वह भी अपने पूर्व पुरुष के अनुरूप हो। इसी भावना को लेकर इस परिपाटी का जन्म हुआ प्रतीत होता है। कभी कभी ऐसे नाम परिपाटी रूप न होकर आकस्मिक भी होते हैं। पर अधिकांश जगहों में महान व्यक्तित्व वाले पुरखाओं के नाम जानबूझकर बार बार रखे जाते हैं। इस कारण कुछ लाभ हुआ हो या नहीं, पर ऐतिहासिक क्षेत्र में अनेकों भूल-भ्रान्तियों की सृष्टि अवश्य हो गई है। जिस घटना का समय नहीं लिखा गया हो, और ऐसे परिपाटी वाले किसी व्यक्ति का केवल नाम ही लिखा गया हो, तो उस घटना का समय एक ही नामके भिन्न भिन्न समय के भिन्न भिन्न व्यक्तियों से सम्बन्धित होने से निर्णय करने में बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। उदाहरणार्थ—आम के परिवारों में कृष्णराज नामके तीन व्यक्ति हुए हैं अब कोई घटना यदि केवल कृष्णराज के राज्य समय की ही लिखी मिलती हो, तो वह प्रथम द्वितीय तृतीय कौन से कृष्णराज से सम्बन्ध रखने वाली या किस समय की है, इसका निर्णय करना बिना किसी अन्य साधन के कठिन हो जाता है।

यह परिपाटी दो रूप में पाई जाती है—(१) नाम रखने का कोई निश्चित क्रम नहीं, कभी यह नाम प्रथम पुरुष के अथवा एक नाम के बाद, कभी दो, कभी तीन, चार या इससे अधिक अन्य नामों के पश्चात्, या उस नाम को एक दो बार रखा गया फिर नहीं,—इसे हम अनिश्चित् क्रम कह सकते हैं, (२) निश्चित क्रम की परिपाटी, जैसे—खरतरगच्छ मे जिनचन्द्रसूरि का नाम चौथे पदधर का पुनः पुनः रखने की परिपाटी है। एक जिनचन्द्रसूरि के बाद तीन पदधरों के नाम भिन्न होंगे पर चौथे पद पर जो आचार्य गद्दीनशीन होगा, उसका नाम निश्चय रूप से जिनचन्द्रसूरि ही रखा जायगा। यही परिपाटी विशेषत. जैन समाज के आचार्यों की नामावली में किसी किसी गच्छ मे पाई जाती है। प्रथम परिपाटी कई राज वंशों में दृष्टिगोचर होती है। मेरे अवलोकन में ऐसे दोनों प्रकार की व्यवस्था वाले नाम जितने आये हैं, इस लेख में दिये जाते हैं; खोज करने पर और ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हो सकते हैं।

केवल भारत ही में क्यों पाश्चात्य देशों के राजवंशों मे भी इस परिपाटी के यथेष्ट उदाहरण उपलब्ध है—और अभी भी चालू है—उदाहरणार्थ ब्रिटिश राजवंश को लीजिये; इसमें कई एडवर्ड और जार्ज हो गये हैं—वर्तमान सम्राट का नाम भी षष्ठ जार्ज है।

राजवंश

१—गुप्तों में—चन्द्रगुप्त २, कुमार गुप्त २,

२—कर्णाटक में—पुलकेशी २,

३—रघुवंशी प्रतिहारों में—नागभट्ट २, महेन्द्रपाल २, भोज २,

४—दक्षिण के कलचूरी वंश में—शिव २, शंकर ३,

५—आबू के परमारों में—कृष्णराज ३, विक्रमसिंह २,

६—बंगीय पालवंश में—गोपाल ३, सुरपाल २, महीपाल २, विग्रहपाल ४,

७—मालवे एवं नागड़ परमारों में—वैरसिंह २, सीयक २, जयसिंह ४, जयवर्मा २, अर्जुनवर्म २, भोज २, वाक्पति २,

८—वल्लभी के मैत्रकों में—शीलादित्य ७ धरसेन ३, खरग्रह २,

९—गुजरात के सोलंकियों में—मूलराज २, भीमदेव २,

१०—दक्षिण के चौलुक्यों में—विक्रमादित्य और सोमेश्वर कई हो गये हैं,

११—जैसलमेर के भाटियों में—विजयराज २, शालिवाहन २, चाचक २, केहर २, जैनसिंह २, मूलराज २,

१२—त्रिपुरी के हैहय वंश में—कोक्कल्ल २, युवराज २,

१३—उदयपुर के राजवंश में—खुम्माण ३, भर्तृभट २, हमीरसिंह २, उदयकरण २, रतनसिंह २, प्रतापसिंह २, अमरसिंह २, जगतसिंह २, समरसिंह २, राजसिंह २,

१४—कलिंग के गंग वंश में—देवेन्द्र वर्मन ४, राजेन्द्र वर्मन २, अनन्त वर्मन २, कामार्णव ५, वज्रहस्त २,

१५—डुंगरपुर के राजवंश में—उदयसिंह २, कर्मसिंह २, विजयसिंह २, जसवन्त २,

१६—मैसूर के राजवंश में—चामराज १०, कृष्णराज ४, तीमराज २,

१७—मराठों में—शंभु जी २,

१८—मुगलों में—हुमायू १, अकबर २, शाहजहां २, आलमगीर २, बहादुरशाह २,

१९—तुगलक वंश में—महम्मदशाह २,

२०—खिलजी वंश में—मुहम्मदशाह २,

२१—गुजरात के सुलतानों में—मुजफ्फरशाह २, महमूदशाह १, अहमदशाह २।

२२—साँभर के चौहानों में—विग्रहराज ४, पृथ्वीराज ३, दुर्लभराज ३, गूवक २,

२३—राष्ट्रकूट राजवंश में—इन्द्र ३, गोविन्द ४, कृष्ण ३, अमोघवर्ष ४, ध्रुव २।

जैन गच्छों में जैन धर्माचार्यों के नाम

१—संडेर गच्छ—यशोभद्रसूरि, शालिसूरि, सुमतिसूरि, शान्तिसूरि, ईश्वरसूरि, ये पांच नाम क्रम से पुनः पुनः।

२—वायड़गच्छ—जीवदेवसूरि, जिनदत्तसूरि पंडित अमर राशिल्लसूरि पुनः पुनः।

३—भावड़ा गच्छ—विजयसिंहसूरि, वीरसूरि, भावदेवसूरि, जिनदेवसूरि, पुनः पुनः।

४—ओशवाल (उपकेश कंवला) गच्छ देवगुप्तसूरि, सिद्धसूरि, कक्कसूरि,—पुनः पुनः अनुमान ३५ पदधरों तक पूर्वोक्त तीन और रत्नप्रभसूरि, यक्षदेवसूरि यह पांच नाम क्रम से पुनः पुनः रखे जाते थे।

५—मांडरी गच्छ—उपरोक्त ओशवाल गच्छ के नाम ही रखे जाते थे।

६—कोरंटवाल—नन्नसूरि, कक्कसूरि, सर्वदेवसूरि पुनः पुनः।

७—कृष्णर्षिगच्छ—जयसिंहसूरि, प्रसन्नचन्द्रसूरि, महेन्द्रसूरि पुनः पुनः।

८—पल्लीवाल गच्छ—शान्तिसूरि, यशोदेवसूरि, नन्नसूरि, उद्योतनसूरि, महेश्वरसूरि, अभयदेवसूरि, आमसूरि, ७ नाम ही क्रमशः पुनः पुनः रखे जाते थे।

९—खरतर गच्छ—बारहवीं शताब्दी से जिनचन्द्रसूरि चतुर्थ पदधर का नाम रखा जाता है। इस गच्छ की कई शाखाओं में भी यही नियम है।

जैनेतर धर्माचार्यों में—

शंकराचार्य की गद्दियों में भी उनके पदधरों का नाम एक ही रखा जाता है।

रहस्यवाद

डाक्टर ए जे अप्पास्वामी

आज हम जिस अद्भुत युग में रह रहे हैं, उसमें जीवन की सुविधाएँ बेहद बढ़ गई हैं। रेडियो, सिनेमा और उपन्यासों ने मनुष्य के आनन्द को बहुत कुछ बढ़ा दिया है। सड़कों पर चारों तरफ बिजली की जगमग रात को दिन बनाती है, रेल गाड़ियाँ दूरी के सिरों को जोड़ती हैं और हवाई जहाज तथा जहाज़ देश और समुद्र के सीमा-भेदों को मिटाते हैं; किन्तु इसके साथ साथ विज्ञान ने जहरीली गैस, बम और लड़ाई के दूसरे भयंकर साधनों का भी आविष्कार किया है। अस्त्र शस्त्रों के अम्बार आसमान को छूते दिखाई देते हैं। मांस और रुधिर के समुद्र के बीच में आज हम अपना जीवन बिता रहे हैं।

इसी तप्त और पीड़ित युग के लिये आज भारतीय सन्तों और सूफियों के रहस्यवाद के आध्यात्मिक सन्देश की कितनी जरूरत है! रहस्यवाद हमें बताता है कि जो कुछ हम अपनी आँखों से देखते हैं, जो कुछ हम अपने कानों से सुनते हैं उससे भी अधिक गहराई में कुछ जानने योग्य बातें हैं। रहस्यवाद हमारी आत्मा का पूर्ण सत्य के साथ साक्षात् कराता है, वह आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में जीवन की वास्तविक कीमत आँकता है। रहस्यवादी सूफी और सन्त हमारे कानों में 'अनहद' शब्द डालते हैं। वे पूर्ण सत्य से जो अदृश्य किन्तु महत् है, हमारा परिचय कराते हैं। वे बताते हैं कि मनुष्य का वास्तविक सुख इस बात में है कि वह सफलता से उस पूर्ण सत्य के साथ जो अनादि, असीम, अदृश्य और अनन्त है घुलमिल जाने का प्रयत्न करे। इसके अतिरिक्त सभी मिथ्या और सभी नश्वर है।

मनुष्य की आत्मा अनेक उपकरणों और साधनों के द्वारा अपना परिचय देती है। तर्क भी एक साधन है, जिसके द्वारा मानव आत्मा अपने को व्यक्त करती है। घटनाओं के साथ मनुष्य के सम्बन्ध को तर्क और ज्ञान द्वारा निश्चित किया जाता है। किन्तु तर्क के अतिरिक्त एक और साधन है जिसका मनुष्य उपयोग करते हैं। वह साधन है आत्म प्रेरणा या सहज-बुद्धि। सहज-बुद्धि तर्कों की सीमा को पार करके मनुष्य के अन्तस्तल में प्रतिबिम्बित हो सकती है।

मनुष्य के पास जो कुछ भी स्वाभाविक है उसमें सहज बुद्धि सब से अधिक प्रभावकारी और सब से अधिक कीमती है। यह तर्क से भी अधिक महत्वपूर्ण है, हालांकि तर्क को मनुष्य का सब से बड़ा गुण बताया जाता है। एक मिसाल लीजिये—हर युग और हर मुल्क में कवियों का बड़ा सम्मान किया गया है। होमर, वर्जिल, शेक्सपीयर, कालिदास और कम्बर सभी आदर के पात्र रहे हैं, किन्तु इनकी कविता में हमें तर्कबुद्धि नहीं दिखाई देती। उन्होंने जो कुछ लिखा है सहज भावना से प्रेरित होकर लिखा है। उनकी दृष्टि आवरण को भेद कर वास्तविकता की जड़ तक पहुँची है। उनकी सहजबुद्धि और आत्म प्रेरणा उनकी अन्तर्दृष्टि का साधन बनी। जिन शब्दों में उन्होंने सौन्दर्य का चित्रण किया है और अपने विचारों को जिस अनुभूति के साथ व्यक्त किया है, उसके समर्थन में तर्क-सिद्ध प्रमाण नहीं दिये जा सकते। इन भावनाओं ने सहज बुद्धि द्वारा ही उनके हृदय में जन्म पाया था। इसीलिये कवि गणित शास्त्रियों और तर्क शास्त्रियों की अपेक्षा लोगों के ऊपर अपना अधिक प्रभाव रखते हैं।

यदि हम यह स्वीकार कर लें कि सहज बुद्धि ही मनुष्य की सब से महत्वपूर्ण शक्ति है, तब हमें रहस्य

वादियों की सहज अनुभूतियों को अधिक महत्त्व देना होगा। रहस्यवाद का जो सबसे महत्वपूर्ण ज्ञान और अनुभव है वह यह कि परम पुरुष परमात्मा के साथ देहधारी मानव का जिस अंश में भी साक्षात्कार सम्भव है, वह रहस्यवाद द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

यहां पर एक बात ध्यान रखनी चाहिए कि कवि और रहस्यवादी, जिसे सहज बुद्धि या आत्म-प्रेरणा कहते हैं, उसे दूसरे व्यक्तियों ने दूसरी तरह ही व्यक्त किया है। मनोविज्ञान इस सहज बुद्धि को अचेतन अवस्था से उत्पन्न वस्तु समझता है। मनुष्य का दिमाग कुछ अंशों में चेतन और अधिक अंशों में अचेतन होता है। अनजान में ही उसके दिमाग में कितनी ही भावनाएं और कल्पनाएं चक्कर काटा करती हैं। मनोविज्ञान बताता है कि यह सहज बुद्धि या आत्म प्रेरणा उन विचारों का समूह है, जो चेतन अवस्था के नीचे अचेतन दबे पड़े रहते हैं और अवसर पाते ही प्रकाश में आ जाते हैं। धर्म शास्त्री आत्म-प्रेरणा को ईश्वरीय ज्ञान समझते हैं। वे उसे इलहाम कहकर पुकारते हैं।

जो लोग सहज बुद्धि और आत्म-प्रेरणा में विश्वास करते हैं, वे तर्क की भी अवहेलना नहीं करते। वे जानते हैं कि तर्क का भी अपना महत्व है, क्योंकि ज्ञान की खोज में तर्क एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा लेता है। धर्म को तर्क की कसौटी पर कस कर ही ग्रहण करना चाहिये। रहस्यवादियों को अपने आत्म प्रेरित ज्ञान को भी तर्क की कसौटी पर कस कर देखना चाहिये। रहस्यवाद की आत्म-प्रेरणा का प्रमुख आधार यानी ईश्वर के प्रत्यक्ष अनुभव को हमें तर्क की कसौटी पर जाँचना चाहिये। यदि आत्म-प्रेरणा हमें बताती है कि ईश्वर का अस्तित्व है, ईश्वर के अस्तित्व का एक उद्देश्य है, वह अपने काम को सुचारु रूप से करता है, उसका नपा तुला कार्यक्रम है और वह मनुष्य की अपनी आत्मा के अन्दर खोजा और पाया जा सकता है, तब इन समस्त अनुभूतियों को हमें ज्ञान के प्रकाश में देखना चाहिये, और तब उन्हें स्वीकार करना चाहिये।

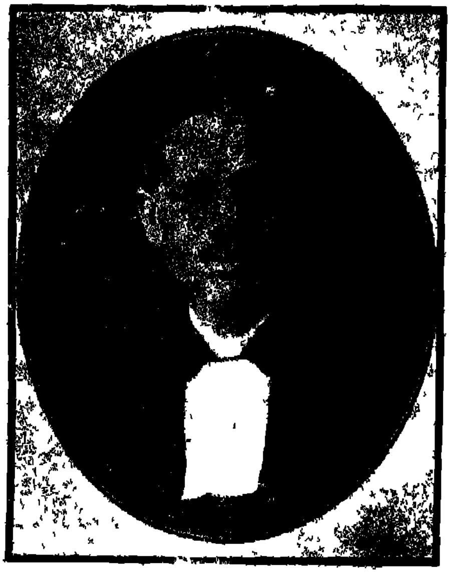
हम आत्म-प्रेरणा के द्वारा तभी आत्म-ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, जब हम देह और मन को कठोर अनुशासन के बीच से निकालें। इसके लिये हमें काम, क्रोध, लोभ और मोह के कर्ता अपने मन को वश में करने की ज़रूरत है। अपनी तर्क शक्ति पर हमें लगाम लगाना पड़ेगा। इस कठोर अनुशासन के द्वारा ही मनुष्य ध्यान और योग को साध सकता है और योग और ध्यान के द्वारा ही प्रभु के निकट समाधि लगा सकता है।

यहां पर एक बात कह देना ज़रूरी है कि रहस्यवादियों के इन साधनों से केवल साधक ही लाभ उठा सकते हैं। साधक अपने मन की गहराई में इस सचाई को भलीभांति अनुभव करता है कि ईश्वर ही प्रेम है। जहां तक उसका सम्बन्ध है उसका हृदय प्रेम के प्रकाश से जगमगा उठेगा, और उसका मस्तिष्क सहज उन्नति से भर जायगा, और वह अपने आप मगन हो जायगा और पूर्ण सुख उसके चारों तरफ़ छा जायगा। सम्भव है सहज सिद्धि के इस प्रकाश पुंज से दूसरा मनुष्य भी प्रभावित हो, किन्तु जब तक वह स्वयं इन साधनाओं के बीच से न गुज़रे तब तक वह इस स्थिति को नहीं प्राप्त कर सकता। इस तरह का रहस्य ज्ञान और सिद्धि केवल उसे ही मिल सकती है जो कठोर अनुशासन द्वारा साधना करे। इसी के अन्दर रहस्यवाद की दुर्बलता और उसकी दृढ़ता छिपी हुई है। इसके द्वारा मानव व्यक्तित्व को चरम उत्कर्ष तक पहुंचाया जा सकता है। हर व्यक्ति को स्वयं ही इस 'अनहद' शब्द को सुनना होगा। बाहर से यह शब्द सुनाई नहीं देता। वह तो अन्तर्ध्वनि है। आज चारों ओर निरंकुश शक्तियां व्यक्ति को फौलादी सांचों में कस कर उसके मन और प्राण को कुंठित कर रही हैं। दुनिया के प्राणों को मुक्त करने के लिये आज इस रहस्यवाद की बेहद ज़रूरत है।

वर्तमान गुजराती साहित्य

दीवान बहादुर श्री के. एम. झावेरी एम. ए., एल-एल. बी

प्राचीन और मध्यकालीन गुजराती साहित्य का आधार प्रेम और पौराणिक कथाएं थीं। यह साहित्य अधिकतर पद्य साहित्य ही था; गद्य में लिखी हुई चीज़ें तो नहीं के बराबर हैं। किन्तु कवि नर्मद के बाद यानी १९ वीं शताब्दी के मध्यकाल के बाद साहित्य में भी विभाजन और परिवर्तन होने लगा, और आज साहित्य की एकरूपता का स्थान पूरी तरह विविधता ने ले लिया है। गत ६ सप्ताह के अन्दर मुझे गुजराती की ६५ पुस्तकें, ३ मासिक पत्र और अनेक साहित्यिक संस्थाओं की वार्षिक रिपोर्टें सम्मति देने के लिए मिलीं। जिन विविध विषयों का उनमें निरूपण हुआ है, वे हैं—इतिहास, नाटक, उपन्यास, कहानी, आख्यायिका (मौलिक और अनुवाद) विज्ञान, धर्म, दर्शन, अध्यात्म, जीवन चरित्र, ललित-कलायें, यात्रा, निबन्ध, बाल-साहित्य और कविता। उपन्यासों की संख्या दर्शन शास्त्र की पुस्तकों के बराबर ही पहुँचती है। इनके बाद कविता आती है। किन्तु सर्व साधारण लोग उपन्यासों को सबसे अधिक महत्व देते हैं, जिनमें अधिकांश उपन्यास कूड़ा-कर्कट ही होते हैं। लेकिन उन्हीं की अधिक प्रतिष्ठा है। कविता जो प्राचीन कालीन साहित्य के क्षेत्र में सबसे प्रमुख थी, अब दूसरी श्रेणी में ढकेल दी गई है; फिर भी गुजराती कविता आजकल अपने लिये नये-नये विषय चुन रही है। प्राकृतिक सौन्दर्य, देश-भक्ति के गीत और इस युग की सब में अच्छी दार्शनिक भावना को कविता में जगह मिल रही है। गद्य में भी इस सम्बन्ध में बेहद उन्नति हुई है। अनगिनती अंग्रेज़ी और पश्चिम की अन्य भाषाओं की पुस्तकों का गुजराती में अनुवाद किया गया है। उपन्यास, इतिहास, यात्रा और जीवन चरित्र के भी बेशुमार मौलिक ग्रन्थ लिखे गये हैं। गुजराती साहित्य



ही क्या बल्कि समस्त भारतीय भाषाओं के साहित्य की उन्नति के कुछ विशेष कारण हैं—(१) अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम द्वारा पश्चिमी साहित्य के साथ हमारा सम्पर्क, (२) भारत के विविध प्रान्तों की भाषाओं को जानने की इच्छा और फिर एक दूसरे के साथ निकट-सम्पर्क और (३) देश के पढ़े लिखे युवकों को देशी भाषा के साहित्य के प्रति अधिक रुचि पैदा होने से भी प्रान्तीय भाषाओं की बेहद उन्नति हुई है। इन तीन बातों ने अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य की तरह गुजराती साहित्य की रूपरेखा के निर्माण करने में बड़ा काम किया है। किसी किसी प्रान्त में तेज़ी के साथ उन्नति हुई है और किसी में धीरे धीरे, किन्तु उन्नति हर देशी भाषा के साहित्य ने की है।

गुजराती साहित्य की नव-जागृति का श्रेय कवि नर्मद (सन् १८३३-१८८६ ई०) को ही है। हालांकि नर्मद कवि की हैसियत से अधिक विख्यात हैं; फिर

भी उन्होंने पद्य की अपेक्षा गद्य अधिक लिखा है, अथवा यह कहना चाहिये कि वे ही वर्त्तमान गुजराती गद्य साहित्य के जन्मदाता हैं। उन्होंने साहित्य की वर्त्तमान शाखाओं, कविता, इतिहास, नाटक, जीवन चरित्र, समाज सुधार आदि सभी विषयों पर काफी लिखा है। उन्होंने अकेले ही गुजराती शब्दों का शब्दकोष तैयार करके उसे छपवाया। उनमें साहसपूर्ण दूरदर्शिता और उत्साहप्रद कल्पना थी। साहित्य की जो लीक वे डाल गये, उनके बाद भी उसी पर बहुत अर्से तक लोग चलते रहे। उनकी शैली को उनके बाद के अधिकाश लिखने वालों ने अपनाया है। प्रगति के जिस पथ पर वे अग्रसर हुये थे, उस पर लोग बढ़ते चले जा रहे हैं। घटने वालों की जगह शक्ति और साहस से पूर्ण नवयुवतियाँ और नवयुवक ले रहे हैं।

इस साहित्यिक प्रगति का सब में ख़ास पहलू यह है कि गुजरात के अन्दर रहने वाले अनेक सम्प्रदाय अपनी प्रान्तीय भाषा और प्रान्तीय साहित्य की उन्नति करने में भरपूर चेष्टा कर रहे हैं। गुजराती कम से कम चार वर्तमान जातियों का घर है—हिन्दू, पारसी, मुसलमान और ईसाई। ये सब के सब मिलकर गुजराती साहित्य के निर्माण में योग दे रहे हैं।

गुजरात के भारतीय ईसाई अंग्रेज़, स्काच और आइरिश पादरियों के प्रभाव में आये हैं। गुजराती भाषा और साहित्य का अध्ययन करके इन विदेशी पादरियों ने गुजराती भाषा में अपने विचारों को सुन्दरता के साथ व्यक्त किया है। स्वर्गीय पादरी डाक्टर टेलर, स्वर्गीय पादरी डाक्टर स्काट और अहमदाबाद के आइरिश प्रेस्बिटेरियन मिशन के पादरी डबल्यू० ग्राहम मुलीगेन एम० ए० आदि ने गुजराती साहित्य पर अप्रत्यक्ष रूप से अपना प्रभाव डाला है। जैसे जैसे गुजराती ईसाइयों की तादाद बढ़ रही है, वैसे वैसे वर्तमान गुजराती साहित्य के निर्माणकारों में भी ईसाइयों की तादाद बढ़ती जाती है। गुजराती ईसाई अपनी गुजराती भाषा में ही ईसाई धर्म के तत्वों का विवेचन चाहते हैं और ईसाई पादरी उनकी इच्छानुकूल गुजराती ही में उन्हें अनुरूप साहित्य देने की चेष्टा करते हैं। गैर ईसाई गुजरातियों को इसका भास तक नहीं है कि ईसाई धर्म के द्वारा गुजराती साहित्य की सतत सेवा हो रही है।

मुसलमान अब तक साहित्य की ओर से उदासीन थे। अब वे कमर कस कर तैयार हो गये हैं। पुरानी पीढ़ियों के खोजा मुसलमान वेदान्त और दर्शन के शौक़ीन थे; किन्तु अब उनकी तादाद घटती जाती है। खोजा मुसलमानों की नई पौध अमली रूप से अपनी मातृ भाषा के साहित्य को ही उन्नत करने में हिस्सा ले रही है। बम्बई, राडेर और सूरत के नवयुवक, जो उर्दू और गुजराती के विद्यार्थी हैं, इस सम्बन्ध में बड़ा काम कर रहे हैं। गुजराती साहित्य के लिये यह एक बड़ी आशाप्रद बात है।

मध्यकालीन भारत के पारसियों ने अपनी दत्तक जन्मभूमि के साहित्य को उन्नत बनाने में काफ़ी हिस्सा लिया है। पुराने ज़माने के पारसी विद्वान पहलवी और फ़ारसी के अतिरिक्त संस्कृत का भी अध्ययन करते थे। अब भी अनेक पारसी विद्वान मिलेंगे, जो संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित हैं। शुरू शुरू में उन्हें ईरानी साहित्य से ही प्रेम था। जैसे-जैसे वे अंग्रेज़ी साहित्य के सम्पर्क में आये वैसे-वैसे उन्हें गुजराती से अरुचि हुई और अंग्रेज़ी साहित्य से प्रेम बढ़ा; ख़ासतौर पर नाटक और उपन्यासों से। किन्तु वह स्थिति अब बदल रही है और उनके कुछ अच्छे लेखक पूरी तरह हिन्दू लेखकों के अनुरूप बन रहे हैं। प्रसिद्ध पारसी कवि ख़बरदार की रचनाओं ने गुजराती कविता के हर क्षेत्र में प्रसिद्धि पाई है। वह न केवल गुजराती और अंग्रेज़ी में ही कविता लिखते हैं, बल्कि वे हिन्दू अध्यात्म के भी अच्छे विद्वान हैं। उन्होंने भारतीय और अंग्रेज़ी ज़रियों से ज्योतिष का भी पूर्ण अध्ययन किया है। ऊपर मैंने जिन किताबों की प्राप्ति स्वीकार की है, उनमें से एक श्री जहांगीर मानक जी देसाई एम० ए० की लिखी हुई 'परीक्षा' नाम की पुस्तक है। यह शिष्ट गुजराती में लिखी गई है। वह

पारसियों के धार्मिक विश्वासों और धार्मिक जीवन के सम्बन्ध में एक सुन्दर कविता-संग्रह है। आमतौर पर यह ग़लतफ़हमी फैली हुई है कि पारसी न तो शुद्ध गुजराती लिख सकते हैं और न शुद्ध गुजराती बोल सकते हैं; किन्तु इस ग़लतफ़हमी के लिये दो चार ग़ैर ज़िम्मेवार लेखक ही उत्तरदायी हैं। पारसियों की एक बहुत बड़ी तादाद शुद्ध गुजराती लिखती है जिनमें खासकर वे लोग हैं, जो बम्बई से बाहर देशी राज्यों और काठियावाड़ में रहते हैं। कवि खबरदार मलाबारी साहित्य में सदा के लिये पारसी-हिन्दू एकता के प्रतिपादक रहेंगे।

हिन्दू, जिनमें जैन और अजैन दोनों शामिल हैं, गुजराती साहित्य के सब से बड़े प्रतिपादक हैं। इसके अनेक कारण हैं। एक समय था जब हिन्दू लेखक अपनी रचनाओं से उन समस्त शब्दों को निकाल कर दूर कर देते थे, जो मूल संस्कृत धातु के नहीं थे, इन हिन्दू लेखकों की शैली इतनी संस्कृतमय हो गयी कि साधारण पढ़े-लिखे हिन्दुओं के लिये भी उसे समझ सकना असम्भव हो गया। स्वभावतः पारसियों ने इसका विरोध किया। हिन्दू लेखकों पर उनका यह इलज़ाम था कि वे साधारण पढ़ी, लिखी जनता के लिये साहित्य निर्माण नहीं कर रहे हैं। किन्तु इन हिन्दू लेखकों ने पारसियों के विरोध पर कोई ध्यान नहीं दिया। तब पारसियों ने मजबूर होकर अपनी ही बोली "पटोई" में लिखना शुरू कर दिया। सौभाग्य से इस स्थिति में परिवर्तन हुआ। महात्मा गान्धी और उनके अनुयाइयों ने फिर पुराने ज़माने की सरल गुजराती को अपना माध्यम बनाया। पिछले वर्षों के गुजराती साहित्य को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि इस सम्बन्ध में बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ है—भाषा की सरलता, शैली की सहजता, वर्णन की सुगमता से पूर्ण ऐसे साहित्य की रचना, जिसे सर्व-साधारण भी समझ सकें, गान्धीवादी साहित्य कारों का मूल ध्येय रहा है। ये वैज्ञानिक और टेकनिकल बातों को भी बड़ी सुगमता से व्यक्त करने की कोशिश करते हैं। अर्थशास्त्र, समाज शास्त्र, राजनीति और देशभक्ति, मज़दूरों की समस्या और पूंजीवाद, अशिक्षा और शिक्षा, मानव-विज्ञान और धार्मिक आदि सभी विषयों पर सरल और सुबोध भाषा में पुस्तकें लिखी गई हैं। इसे पूरी तरह समझने के लिये श्री महादेव देसाई और श्री नरहरि परीख की पुस्तकें पढने की ज़रूरत है। इनके ग्रन्थों को पढ़कर यह बात हम आसानी से समझ सकते हैं। 'नव जीवन' की पुरानी फाइलें और 'हरिजन-बन्धु' को देखकर पता चल सकता है कि वर्तमान गुजराती साहित्य की रचना कितनी सरल भाषा में हो रही है। उसकी सुबोध शैली का प्रतिपादन इतनी ठोस बुनियादों पर हो रहा है कि उसे उखाड़ सकना मुमकिन नहीं। यह सरल गुजराती बेहद सर्वप्रिय हो गई है। गान्धी जी के व्यक्तित्व और उनकी शिक्षा के कारण गुजराती साहित्य बेहद उन्नति कर रहा है। जो लोग कभी लिखने और पढने की तरफ़ ध्यान भी नहीं देते थे, वे भी अब शिक्षा के लिये लालायित हैं। जन-साहित्य की अनेक कमियों को इस गान्धीवादी साहित्यिकों के वर्ग ने दूर किया है। मसलन गुजराती साहित्य के शुद्ध उच्चारण के एक शब्दकोष की बेहद ज़रूरत थी। इस ज़रूरत को गान्धी जी के अनुयाइयों ने पूरा किया।

यह सही है कि अन्य भाषाओं के साहित्य की तरह गुजराती साहित्य में भी बेहद कचरा-कूड़ा प्रकाशित हुआ है, फिर भी गुजराती साहित्य का भविष्य उज्वल है। क़रीब-क़रीब प्रत्येक कालेज और हाई स्कूल में एक-एक गुजराती साहित्य मण्डल है। हर बड़े क़स्बे में गुजराती साहित्य सभा बन गई है। बम्बई विश्वविद्यालय ने मैट्रिकुलेशन के विद्यार्थियों के लिये गुजराती भाषा को ही माध्यम बना दिया है और इस सम्बन्ध में उसने बहुत प्रोत्साहन दिया है; विश्वविद्यालय की और भी अनेक परीक्षाओं में गुजराती को स्थान मिला है। यही सब देख कर यह नतीजा निकलता है कि गुजराती साहित्य का भविष्य उज्वल है और उससे हमें बहुत सी उम्मीदें हैं।

वर्तमान उर्दू साहित्य

सर अब्दुल क़ादिर



वर्तमान उर्दू साहित्य का प्रारम्भ उस समय से माना जाता है, जब दिल्ली में अन्तिम सम्राट बहादुर शाह के दरबार में उर्दू के प्रसिद्ध कवि ग़ालिब और ज़ौक़ अपने शेर-ओ-सख़ुन कहते थे। उस समय १९ वीं शताब्दी अपनी आधी उम्र पार कर रही थी।

ग़ालिब ने उर्दू में कविता करने से पहले फ़ारसी कवि की हैसियत से बेहद ख्याति प्राप्त कर ली थी। किन्तु ग़ालिब, जो आज अमर कवि के रूप में जीवित हैं, वह अपने विशाल फ़ारसी कविता संग्रहों के कारण नहीं, बल्कि उर्दू के अपने संक्षिप्त कविता संग्रह के कारण। उनकी उर्दू कविता में एक अपना ही निराला सौन्दर्य है। अनेक कवियों ने उनकी नक़ल करने की चेष्टा की, किन्तु किसी को पूरी तरह सफलता नहीं मिल सकी। ग़ालिब को ही सुन्दर उर्दू गद्य लिखने का भी अनोखा सौभाग्य प्राप्त है। उनके गद्य की भाषा अत्यन्त सरल और शैली बहुत आसान है।

हालांकि उर्दू के पुराने कवि ग़ज़ल ही लिखा करते थे और ग़ज़ल की प्रणाली अब भी लोगों में चली जा रही है, ताहम उर्दू कविता अब अपने को व्यक्त करने के लिये नये-नये क्षेत्र चुन रही है। इस समय उर्दू कविता में आपको प्राकृतिक सौन्दर्य की उपासना, देशभक्ति के गीत दर्शन और अध्यात्म सब की झाँकी मिलेगी। जहाँ तक गद्य का सम्बन्ध है उर्दू साहित्य ने काफ़ी उन्नति की है। अंग्रेज़ी और अन्य यूरोपीय साहित्य का भी उर्दू में काफ़ी अनुवाद हुआ है; इनमें उपन्यास, इतिहास, यात्रा, जीवन-चरित्र सभी शामिल हैं। इन सब विषयों पर मौलिक ग्रन्थों की रचना भी उर्दू साहित्य में हुई है। जहाँ तक व्याख्यानों का सम्बन्ध है, उर्दू भाषा जनता के ऊपर अपना अद्भुत असर डालती है। बोल चाल में उर्दू को जो लताफ़त और बलाग़त हासिल है, वह किसी अन्य भाषा को नहीं। आपस की बात चीत में भी उर्दू बहुत सलीस और बाअसर मानी जाती है।

वर्तमान उर्दू साहित्य ने अंग्रेज़ी साहित्य के माध्यम और सम्पर्क द्वारा काफ़ी उन्नति की है। भारतवर्ष में एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक अपने विचारों को आपस में एक आमफ़हम भाषा द्वारा व्यक्त करने की इच्छा उर्दू साहित्य की उन्नति का एक दूसरा कारण है। फिर हमारे पढ़े लिखे नवयुवकों की इस ख्वाहिश ने उर्दू को बेहद उन्नत बनाया है कि वे बजाय अंग्रेज़ी के अपने विचार स्वयं अपने देश की भाषा में ही व्यक्त करें। यह सही है कि आज उर्दू और हिन्दी अपने अलग-अलग दावे

पेश कर रही हैं और हमें यह बताया जाता है कि दोनों एक दूसरे से भिन्न अलग-अलग भाषाएं हैं; फिर भी उर्दू के हिन्दी लेखकों ने उर्दू की उन्नति के लिये जो कुछ किया है, उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

वर्तमान उर्दू-साहित्य के जन्मदाताओं में बहुमत इस प्रकार के लोगों का है, जो कभी अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क में नहीं आये, किन्तु जिनके कान समय की पुकार सुनकर चौकन्ने हो गये और जिन्होंने अपने चारों ओर के वातावरण में वक्त की आवाज का मतलब समझ कर अपनी रचनाओं में ऐसे आवश्यक पहलू शामिल किये कि जिनके कारण उर्दू साहित्य ज़माने की रफ़्तार से पीछे नहीं रहने पाया। इन उर्दू लेखकों ने न तो अपनी शैली के सहज सौन्दर्य को ही कम किया और न पश्चिमी साहित्य का अन्धा-अनुकरण किया। इन प्रतिभावान और आदरणीय लेखकों की श्रेणी में सर सय्यद अहमद ख़ाँ, हाली, आज़ाद, शिबली आदि के मशहूर नाम हैं।

उर्दू साहित्य के निर्माण में सर सय्यद अहमद ख़ाँ का प्रमुख हिस्सा केवल वे निबन्ध हैं, जो उन्होंने अपनी मासिक पत्रिका 'तहज़ीबु-उल-अख़लाक़' में शिक्षा, समाज सुधार और संस्कृति आदि विषयों पर लिखे थे, किन्तु उर्दू साहित्य पर सर सय्यद का अप्रत्यक्ष असर काफ़ी पड़ा। उन्होंने अपने समकालीन उर्दू लेखकों को काफ़ी प्रभावित किया।

सर सय्यद अहमद ने हाली के पद्य और गद्य पर गहरा असर डाला था। हाली का मशहूर 'मुसद्दस' ग़ालिबन सर सय्यद के ही प्रभाव का परिणाम है। सर सय्यद अहमद ने अपने एक पत्र में लिखा था कि—"मरने के बाद यदि अल्लाह मुझसे पूछेगा कि तुमने दुनिया के अपने चन्दरोज़ा मुक़ाम में सबसे अच्छा काम कौन सा किया, तो मैं अपने अल्लाह से कहूंगा कि मेरा सबसे अच्छा काम यह है कि मैंने हाली को 'मुसद्दस' लिखने के लिये प्रोत्साहित किया।"

इसी तरह सर सय्यद ने नज़ीर अहमद और शिबली को भी प्रोत्साहन दिया था। हालांकि मुहम्मद हुसेन आज़ाद पर सर सय्यद ने कभी सीधा असर नहीं डाला, फिर भी चूंकि सारे वातावरण में ही सर सय्यद का असर छाया हुआ था, इसलिये मोहम्मद हुसेन भी निश्चय ही उससे अछूते न बचे होंगे। गो कि आज़ाद सुन्दर पद्य रचना करते थे और उनकी कविता काफी प्रसिद्ध है फिर भी उर्दू साहित्य में उनका सबसे बड़ा हिस्सा उनका गद्य-संग्रह "कैसर-ए-हिन्द" माना जाता है। "कैसर-ए-हिन्द" में भारतीय इतिहास की चुनिंदा कहानियाँ और 'दरबार-ए-अकबरी' की घटनाएं दर्ज हैं। आज़ाद लाहौर में ही रहे और लाहौर ही में मरे और अनेक अंशों में उन्हीं के कारण पंजाब में उर्दू साहित्य इतना सर्वप्रिय हुआ।

उर्दू साहित्य की प्रगति में लाहौर का हिस्सा बहुत अधिक है। लाहौर से जितने उर्दू पत्र और पत्रिकाएं प्रकाशित होती हैं, उतनी और किसी केन्द्र से नहीं होतीं। लाहौर को ही यह अभिमान है कि उसने डाक्टर सर मोहम्मद इक़बाल जैसे विश्व-विख्यात कवि को जन्म दिया।

उर्दू साहित्य के अनेक केन्द्र और अनेक गढ़ बनने से पहले दिल्ली ही उर्दू का वास्तविक केन्द्र था। दिल्ली के बाद दूसरा प्रतिद्वन्दी गढ़ लखनऊ बना। अवध के नवाब उर्दू कविता के बड़े हिमायती थे और स्वयं भी उर्दू में कविता लिखा करते थे। इस कारण अनेक उर्दू कवि दिल्ली से लखनऊ की ओर आकर्षित हुये। लखनऊ में भी अनेक स्थानीय कवियों ने प्रसिद्धि पाई और १९ वीं सदी के मध्य में 'आतिश' और 'नासिख़' ग़ज़ल लिखने वालों में अग्रगण्य थे और 'अनीस' और 'दबीर' मरसिया लिखने वालों में अत्यन्त प्रभावपूर्ण थे। इनके मरसिया इतने करुणापूर्ण होते थे कि सुनकर दिल ज़ार ज़ार रोने लगता था। इन मरसियों में करबला के मैदान में इमाम हुसैन की शहादत का वर्णन है।

रतननाथ सरशार और मौलवी अब्दुल हलीम शरार लखनऊ केन्द्र के सब में प्रसिद्ध उपन्यासकार समझे जाते हैं। रतननाथ सरशार ने रोज़मर्रा के जीवन की घटनाओं को डिकिंस की तरह बड़ी ख़ूबी के साथ बयान किया है। उस ज़माने के आम लोगों की बोल चाल की भाषा पर उनका ग़जब का क़ाबू था। सर्व-साधारण की भाषा में उनसे सुन्दर गद्य हिन्दुस्तान में आज तक किसी ने नहीं लिखा। शरार ने ऐतिहासिक उपन्यासों को अपनी रचनाओं का लक्ष्य बनाया और इस सम्बन्ध में सर वाल्टर स्काट उनके माडेल थे।

लखनऊ केन्द्र का प्रभाव पूर्व में फैलते-फैलते बंगाल तक पहुँचा।

कलकत्ते के प्रसिद्ध उर्दू कवियों में रजा अली वहशत का नाम प्रमुख है। उनका उर्दू ग़ज़लों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है और लोगों ने उसे बेहद पसन्द किया है। कलकत्ता केन्द्र के उर्दू गद्य लेखकों में मौलाना अबुल कलाम आज़ाद का नाम सर्वश्रेष्ठ है। उनके जैसा उर्दू गद्य का प्रभावपूर्ण लेखक और वक्ता सारे हिन्दुस्तान में ढूढ़ने से नहीं मिलेगा।

उर्दू साहित्य की चर्चा में यदि हम हैदराबाद दक्खिन का ज़िक्र न करें, तो उर्दू साहित्य का वर्णन अधूरा रह जायगा। अनेक दृष्टियों से हैदराबाद उर्दू साहित्य का सब से महत्वपूर्ण केन्द्र है। हैदराबाद के दरबार ने अपनी दानशीलता से उत्तर भारत के अनेक उर्दू साहित्यिकों को अपने यहाँ आकर्षित किया है। उर्दू साहित्य को उसमानिया विश्वविद्यालय ने बड़ा प्रोत्साहन दिया है। यहाँ उर्दू के माध्यम द्वारा विज्ञान, दर्शन, क़ानून और अर्थ-शास्त्र आदि विषयों की शिक्षा दी जाती है। वर्तमान निज़ाम फ़ारसी के बहुत बड़े विद्वान हैं और फ़ारसी तथा उर्दू दोनों भाषाओं में वे कविता लिखते हैं।

वर्तमान उर्दू के अनेक केन्द्रों से परिचित होने के बाद पाठकों को यह जानने की दिलचस्पी होगी कि उर्दू साहित्य में इस समय कौन कौन सी नई नई धारायें प्रवाहित हो रही हैं।

पहिले कविता को ही लीजिये। कविता के क्षेत्र में परिवर्तन की बात ग़ालिब ने ही सबसे पहिले कही थी। उन्होंने लिखा था कि ग़ज़ल का तंग दायरा मेरे लिये काफ़ी नहीं है—

कुछ और चाहिये वसअत मेरे बयां के लिये

हाली जो कि ग़ालिब के शागिर्द थे इस सम्बन्ध में अपने गुरू से काफ़ी प्रभावित हुये। हाली ही उर्दू कविता को संकुचित क्षेत्र से निकाल कर पहले पहल एक व्यापक दायरे में लाये। उनकी मशहूर कविता 'वतन' और 'बेवा' इसकी सबसे सुन्दर मिसाल हैं। इसमे कोई सन्देह नहीं है कि हाली ही उर्दू कविता की इस नई धारा के जनक हैं।

एक दूसरे कवि जिन्होंने उर्दू कविता की प्रगति को बेहद बढ़ाया वे थे सय्यद अकबर हुसैन 'अकबर' इलाहाबादी। उनकी कविताओं में पश्चिमी जीवन के तर्ज़ तरीक़ों की गहरी भर्त्सना मिलती है। उन्होंने विदेशी बातों की अन्धी नक़ल पर गहरी चुटकियां ली हैं। उन्होंने ऐसे लोगों पर गहरे व्यंग कसे हैं जो बग़ैर समझे बूझे हर विदेशी चीज़ को नक़ल करने पर आमादा थे।

किन्तु उर्दू कवियों में सबसे निराला व्यक्तित्व स्वर्गीय सर मोहम्मद इक़बाल का था। उम्र में वह हाली और अकबर दोनों से छोटे थे, और उन्होंने हाली और अकबर दोनों से जीवन की अनेक बातें सीखी थीं। वह दोनों के परम भक्त थे, और जिस दिशा में उन दोनों ने क़दम उठाया था, उसी दिशा में वे ज़ोर शोर से आगे बढ़े। उनकी क़लम से कोई क्षेत्र अछूता नहीं बचा। इसलाम के सम्बन्ध में हाली के निराशा-जनक संदेश के विपरीत उन्होंने महान आशा का सन्देश दिया। पश्चिमी सभ्यता के सम्बन्ध में उनके विचार अकबर से मिलते-जुलते थे। फ़र्क़ इतना था कि उन्होंने अकबर की अपेक्षा कहीं अधिक दिलेरी के साथ अपने विचारों को व्यक्त किया। पश्चिम की भौतिक उन्नति उनकी आंखों को ज़रा भी चकाचौंध नहीं कर पाई। उन्होंने अपने हमवतनों को पश्चिमी

सभ्यता के ख़तरों से आगाह किया। यही नहीं वे एक क़दम और बढ़े और उन्होंने ख़ुद पश्चिम वालों को अपनी ही सभ्यता से आगाह करने की कोशिश की। सन् १९०७ में लिखी उनकी एक कविता तो बिल्कुल भविष्यवाणी साबित हुई। उस कविता की दो कड़ियाँ हैं—

तुम्हारी तहज़ीब अपने ख़ंजर से
आपही ख़ुदकुशी करेगी,
जो शाखे नाज़ुक पे आशियाना
बना वो नापायदार होगा।

अपने देशभक्ति के गीतों में इक़बाल ने भारत की एकता पर ज़ोर दिया है। उनकी यह पुरानी कविता अक्सर राष्ट्रीय गीत की तरह राजनैतिक मचों से गाई जाती है—

सारे जहां से अच्छा, हिन्दोस्तां हमारा

बाद में उनके अनेक मुस्लिम मित्रों ने उनसे प्रार्थना की कि वे मुस्लिम मचों से गाया जाने वाला कोई इतना ही जोरदार गीत उन्हें दें। इन मित्रों के आग्रह से उन्होंने उसी छन्द में और उसी राग में एक दूसरी कविता बनाकर दी, जिसका शीर्षक है—

चीनो-अरब हमारा, हिन्दोस्तां हमारा;
'मुसलिम हैं हम, वतन है सारा जहां हमारा'।

एक दूसरी कविता 'नये शिवाले' में इक़बाल कहते हैं—

पत्थर की मूरतों में समझा है तू ख़ुदा है,
मेरे लिये वतन का हर ज़र्रा देवता है।

किन्तु उनके जीवन का प्रमुख सन्देश हमें उनकी फ़ारसी कविताओं में मिलता है। उन्होंने ख़ुदी को छोड़कर आत्मा की उन्नति के चरम विकास तक पहुँचाने की अपील की है। उन्होंने बताया है कि प्रकृति ने ही आत्मा के अन्दर महान गुण भर दिये हैं और इन गुणों को साधना से प्राप्त किया जा सकता है। इसी सन्देश को उन्होंने बाद में उर्दू जानने वालों के लिये अपनी उर्दू कविता में व्यक्त किया है, जो 'ज़र्बे-ए-कलीम' और 'बल-ए-जबरील' शीर्षक से मशहूर हैं।

अब हम ज़रा उर्दू गद्य के पृष्ठ उलटें। ऊपर मैंने सर सय्यद अहमद और मोहम्मद हुसैन आज़ाद के सम्बन्ध में चर्चा की है। इन दोनों के बाद मौलाना नज़ीर अहमद देहलवी का नाम उर्दू गद्य लेखकों में प्रमुख है। इन्होंने अनेक कहानियों की पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें 'मीरात-उल-उरूस' और 'तौबात-उल-नसूह' सब में अधिक प्रसिद्ध हैं। ये दिल्ली के मध्यम वर्ग के लोगों की बोलचाल की भाषा में लिखी होने के कारण बहुत सर्वप्रिय हो गईं। मौलाना नज़ीर अहमद की पुस्तकों ने उत्तर भारत में स्त्री शिक्षा को बेहद प्रोत्साहन दिया।

उर्दू के उपन्यास क्षेत्र में दो सबसे प्रसिद्ध लेखक रतननाथ सरशार और अब्दुल हलीम शरर का ज़िक्र ऊपर आ चुका है। राशिद-उल-ख़ैरी के उपन्यास भी अपनी ख़ास जगह रखते हैं। उनकी रचनायें बहुधा दुखान्त हैं। व्यथा और दुःख के दृश्यों को बयान करने में वे अद्वितीय हैं। एक दूसरे उर्दू उपन्यासकार सैयद सज्जादहैदर का नाम भी यहां लिया जा सकता है। तुर्की के उपन्यासों के अच्छे ज्ञाता होने के कारण तुर्की उपन्यासों ने उन्हें बेहद प्रभावित किया है।

इधर हाल में हिन्दुस्तान में छोटी-छोटी कहानियां काफी फैली हैं और छोटी-छोटी कहानियों के लिखने में अब तक जिस व्यक्ति ने सब में अधिक प्रसिद्ध पाई है, वह थे स्वर्गीय मुन्शी प्रेमचन्द। हफ़ीज़ जालन्धरी ने भी अनेक छोटी छोटी कहानियां लिखी हैं, जो पसन्द भी की गई हैं। उनका संग्रह भी प्रकाशित हो चुका है। किन्तु इधर उनका सारा समय और ध्यान अपनी कविताओं में ही सर्फ़ होता है। कहानीकारों की चर्चा में डाक्टर अख़्तर हुसैन रायपुरी का नाम भी लिया जा सकता है। उनका एक कहानी संग्रह 'मोहब्बत और नफ़रत' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। डाक्टर अख़्तर हुसैन प्रसिद्ध कवि 'जोश' मलिहाबादी की तरह मालूम

होता है कि मज़हब से बेहद बरगश्ता हैं, और आज कल के युवक-आन्दोलन का उन पर ख़ासा प्रभाव दिखाई देता है।

ज़रूरत इस बात की है कि उर्दू साहित्य का एक सम्पूर्ण इतिहास तैयार किया जाय। इस सम्बन्ध में मैं उर्दू के एक हिन्दू विद्वान राम बाबू सक्सेना की खोजों के लिये उनका बेहद शुक्रिया अदा करता हूं कि उन्होंने उर्दू साहित्य के इतिहास पर अंग्रेज़ी में एक अनमोल पुस्तक लिखी है।

जहां तक जीवन-चरित्र का सम्बन्ध है उर्दू में अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं। मैं यहाँ पर उनमें से कुछ की चर्चा करूंगा। हाली ने अपनी पुस्तक 'हयात-ए जावेद' में सर सय्यद के जीवन का वर्णन किया है। हाली ने अपनी एक दूसरी पुस्तक में कवि सादी का जीवन चरित्र लिखा है। ग़ालिब के जीवन पर भी उन्होंने एक पुस्तक लिखी है। मौलाना शिबली के लिखे हुए जीवन चरित्र खासतौर पर अच्छे हैं। उनकी मशहूर और महत्वपूर्ण पुस्तक 'सीरत-उन नबी' उनकी सब से बड़ी कृति है। इस पुस्तक में पैग़म्बर के जीवन के सम्बन्ध में काफ़ी खोज और छानबीन की गई है।

यदि मैं यहाँ पर उर्दू नाटकों का ज़िक्र न करूँ, तो उर्दू साहित्य का यह वर्णन अधूरा रह जावेगा। मेरा ख़याल है कि अमानत का लिखा हुआ 'इन्दर सभा' नामक पद्य-नाटक पहला नाटक था, जिसे रंगमंच पर खेला गया। शेक्सपीयर के अनेक नाटकों का उर्दू में अनुवाद किया गया और उन्हें रंगमंच पर खेला गया। अनेक हिन्दी क़िस्सों और पौराणिक कहानियों को भी नाटक रूप में प्रकाशित किया गया है। उर्दू नाटकों में अनेक करिश्मे और अजीब-ओ-ग़रीब बातें दिखाई जाती हैं जिसके कारण उर्दू नाटक वास्तविक जीवन को पूरी तरह चित्रित करने में असमर्थ रहे और इसलिये उर्दू नाटकों की अधिक उन्नति न हो पाई। आज भारत में बोलते चित्रपटों ने लोगों का ध्यान आकर्षित कर लिया है। बोलते चित्रपटों ने उर्दू साहित्य में सिनेमा कहानियों के लेखकों को प्रोत्साहन दिया है। फ़िल्मों के कहानी लेखक देश की व्यापक सेवा कर सकते हैं, यदि वे इस बात का ध्यान रखें कि उनकी भाषा सरल, सादा, शुद्ध, बामुहाविरा और आम-फ़हम हो। इस सम्बन्ध में हमारे जो दो नौजवान नाटककार हमें ख़ासी मदद दे सकते हैं वे हैं, हकीम अहमद शुजा और सैय्यद इम्तियाज़ अली, ताज। इन्होंने संतोषजनक काम किया है और आगे भी ये उर्दू नाटक और फिल्मी कहानियों के सम्बन्ध में बहुत कुछ कर सकते हैं।

लेख समाप्त करने से पहले मैं यहाँ पर उर्दू पत्र-पत्रिकाओं की भी चर्चा कर देना चाहूंगा। पत्र पत्रिकाओं ने भी उर्दू साहित्य की प्रगति में कम हिस्सा नहीं लिया। इस सम्बन्ध में कुछ मासिक पत्रिकाओं ने तो बहुत अच्छा काम किया है; किन्तु वे अब बन्द हो चुकी हैं। दूसरी मौजूदा मासिक पत्रिकायें इस सम्बन्ध में अच्छा काम कर रही हैं। उर्दू को अपने अनेक दैनिक पत्रों के लिए भी गर्व हो सकता है। यहाँ पर उनकी सूची देने की ज़रूरत नहीं है, किन्तु इस सम्बन्ध में मौलाना ज़फ़र अली ख़ां का नाम लिया जा सकता है जो सबमें अच्छे अख़बार नवीस साबित हो चुके हैं। वे एक बड़े साहित्यकार भी हैं, वे गद्य और पद्य दोनों में लिखते हैं और बड़े सुन्दर वक्ता भी हैं। उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखी हैं और अनेक पुस्तकों का अनुवाद किया है। लार्ड कर्ज़न के सम्बन्ध में एक पुस्तक का उनका अनुवाद बहुत सफल रहा है। वर्तमान उर्दू साहित्य पर पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा अंग्रेज़ी का काफ़ी प्रभाव पड़ा है, किन्तु विदेशी शब्दों और विदेशी मुहाविरों का इतना अधिक इस्तेमाल उचित नहीं। यदि हमें उर्दू भाषा के सौन्दर्य और उसकी सादगी की रक्षा करना है, तो उसे हमें अंग्रेज़ी के असर से बचाना ही पड़ेगा।

क्लब : व्यावहारिक-संस्कृति का केन्द्र

सर सी पी. रामस्वामी अय्यर

मैं तीन चार अंग्रेज़ी क्लबों का सदस्य हूं। एक फ्रेञ्च क्लब का भी ऑनरेरी सदस्य हू। क्लबों में लन्दन का 'वेस्ट एण्ड क्लब' अपनी तरह की एक निराली ही संस्था है। पान्च-सात वर्ष पहले तक इस क्लब में स्त्रियों को सदस्य नहीं बनाया जाता था। कोई स्त्री इस क्लब की सीमा में फटक नहीं सकती थी। इस क्लब में एक बार जो व्यक्ति उसका सदस्य होकर उसके अन्दर दाखिल हुआ नहीं कि उसे हर सदस्य के साथ बराबरी का रुतबा मिल जाता है। उसकी सीमा में लोग अपने सारे आपसी राजनैतिक मतभेद भूल जाते हैं। विचारों की विभिन्नता को वहां कोई जगह नहीं और न सामाजिक पदों के लेहाज से ही वहा क्लब के सदस्यों में कोई फर्क किया जाता है। अंग्रेजी क्लबों में यही एक बड़ी भारी खूबी है।

मैं और भी अनेक क्लबों का सदस्य हूं। मद्रास क्लब का तो मैं बुनियादी मेम्बर था। उस क्लब मे कोई व्यक्ति इस बारे मे निश्चित न होता था कि एक कुर्सी पर वह कितनी देर बैठ सकता है। क्लब के सदस्यों में जहा कोई सरकारी अफसर या जज आ जाता, तो हम सब उठकर खड़े हो जाते थे। हम में से कुछ लोग वकील थे और हम जानते थे कि यदि हम उन जजों के आने पर खड़े न हुये, तो दूसरे दिन खुदा जाने हमारे मुक़दमों का क्या हश्र होता। हम सब क्लब के जज मेम्बरों के सामने झुककर ताज़ीम बजाते। बराबरी से सीना तानकर यदि हम खड़े होते तो निश्चय ही दूसरे दिन हमारे मुक़दमों की अपीलें डिसमिस कर दी जातीं। हम कभी उनसे मुंह मिला कर बातें न करते। कौंसिल के सदस्य, हाईकोर्ट के जज और बहुत से छोटे-मोटे मजिस्ट्रेट हर एक को उनके पदों के अनुसार हमको इज़्ज़त देनी पड़ती थी। जो बातें क्लब के जीवन में नहीं होनी चाहियें, वही बातें हमें उस क्लब में करनी पड़ती थीं।

इंगलिस्तान के क्लबों में प्रधान मंत्री और विरोधी दल के नेता साथ-साथ बैठते हैं और इस बात को भूल जाते हैं कि पार्लिमेन्ट में उन्होंने थोड़ी देर पहले कितनी गरमागरम बहस की थी। क्लब का आदर्श यही है कि हमारे दैनिक जीवन से सम्बन्धित जितनी बातें हैं, उन्हें भूलकर हम व्यावहारिक, संस्कृति के आदर्शों का पालन करें। क्लब के अन्दर हम अपने ओहदे, अपने खिताब, अपनी जायदाद, समाज के अन्दर अपना स्थान और अपनी स्थिति, सब कुछ भूलकर केवल एक मानव की हैसियत से अन्य मनुष्यों के साथ जीवन की एकता अनुभव करें और परिणाम-स्वरूप रोजमर्रा के जीवन में हम व्यावहारिक दृष्टि से नम्र, अधिक सुसंस्कृत और अधिक अनुभवी बन सकें। क्लब इस आदर्श को प्राप्त करने में हमें मदद देता है। वह जिन्दगी के तीखेपन को कम कर देता है। वह जीवन की मशीन को सुचारुरूप से चलाने के लिये तेल का काम देता है। यह ऐसा आदर्श है कि जिस तक पहुंचने के लिए हमें व्यावहारिक संस्कृति की भावना जगानी पड़ेगी और उसे अमली रूप देना पड़ेगा।

अलेक्ज़ेण्डर पोप ने एक बार कहा था कि बहुत से लोग जब इकट्ठा होते हैं, तो वे या तो चाय की चुस्कियां लेते हैं या फिर बैठकर मज़े-मज़े में लोगों के बारे में शर्मनाक गन्द बकते हैं। पोप को यह शिकायत थी कि आमतौर पर लोग क्लबों में जब इकट्ठा होते हैं, तो वे चाय के साथ साथ चाय से अधिक मज़ेदार और स्फूर्तिवर्द्धक वस्तु यानी लोगों की बुराई की बातों का ज़ायक़ा लेते हैं। किसी की बुराई बकने में भी एक सम्मोहक नशा होता है। यह भी होता है कि लोग व्यक्तिगत असन्तोष के कारण ही ऐसा करते हैं। वे पहले अपनी बदनामी से ही शुरू करते हैं; फिर वे पड़ोसी को बदनाम करते हैं।

बदनामी या निन्दा छोटी वस्तु है और वह ऐसा कोई भयानक दुर्गुण भी नहीं है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इससे बहुत बड़ा नुक़सान है। जहां लोगों की मजलिस इकट्ठा हुई, वे दुनिया भर के षड्यंत्र और दुनिया भर के लोगों की निन्दा शुरू कर देते हैं। ऐसी संस्था जहां लोग सिर्फ़ इसीलिये इकट्ठा हों कि वे एक दूसरे की बुराइयां कहें और सुनें, तो व्यावहारिक संस्कृति की दृष्टि से ऐसी संस्था किसी काम की नहीं है।

यह बहुत अच्छी बात है कि हम स्त्रियों को भी क्लबों का सदस्य बनावें। बल्कि हमें इस बात के लिये प्रोत्साहन देना चाहिये। जिस क्लब में स्त्रियां सदस्य न हों, उस क्लब को चलने न दें। स्त्रियों की उपस्थिति कम से कम हमें गन्दी और भद्दी बातें करने से तो रोकेगी। स्त्रियाँ ही पुरुषों को मांझ-घिसकर उनमें व्यावहारिक संस्कृति की मात्रा बढ़ा सकती हैं। स्त्रियों की उपस्थिति से कम से कम यह बात तो होगी कि हम एक दूसरे के साथ नम्र व्यवहार करेंगे और यही क्लबों का मुख्य उद्देश्य भी है। इंगलिस्तान के क्लबों में अनेक सुविधायें होती हैं। वहां यदि कोई बिल्कुल अकेले बैठना चाहे, तो बैठ सकता है और यदि वह लोगों से बातें करना चाहे, तो बात कर सकता है। यदि वह एक कोने में जाकर बैठ जाता है, जिसको उसने अपने लिये रिज़र्व करा रक्खा है, तब वहां उसे कोई नहीं छेड़ेगा। कोई उसके पास जाकर न पूछेगा कि—"कहो भाई! कल असेम्बली की मीटिंग में क्या हुआ? और सुनो, क्या तुमने आज सुबह के अख़बार में लड़ाई का हाल पढ़ा?" इंगलिस्तान के जो सदस्य ख़ास सुविधायें चाहते हैं, वे सब उनके लिये जुटाई जाती हैं। वहां क्लबों का अर्थ ही यह है कि यदि कोई अकेला रहना चाहता है तो वह अकेले रह सकता है और यदि लोगों के बीच में रहना चाहता है तो वहीं लोगों के बीच में रह सकता है। मिलने जुलने में लंच, डिनर और चाय की सम्मिलित दावतें उसे मदद दे सकती हैं। दावतों के लिये पश्चिम में एक ख़ास तरह की पोशाक पहनना पड़ता है, एक ख़ास तरह की मुखाकृति बनानी पड़ती है और ऐसा बर्ताव करना पड़ता है कि जिससे लोग उसे देखकर प्रफुल्लित हों। कभी-कभी वहां लोग लंच और डिनर के बीच में राज्य सम्बन्धी महत्व-पूर्ण चर्चा भी कर लेते हैं।

क्लब हमें मिलनसारी सिखाता है, वह आपस के अव्यावहारिक और ग़ैर ज़रूरी फ़र्क़ों को मिटा देता है। वह हमें एक तरह का बर्ताव करना सिखाता है, वह लोगों में नम्रता पैदा करता है और ऐसी छोटी-छोटी बातें हमें सिखाता है, जिनसे जीवन सुखी और पूर्ण बनता है। लोगों में भाई-चारे की भावना बढ़ाता है। भाई चारे की भावना से ही व्यक्ति को बहुत लाभ पहुँचता है और राष्ट्र को भी। यदि हम अपने देश में आदर्श के अनुकूल क्लब स्थापित कर सकें, तो हमारे बहुत से साम्प्रदायिक, राजनैतिक, व्यक्तिगत, और जातीय द्वेष भाव समाप्त हो जायें।

स्वर्गीय गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर

प्रोफ़ैसर तान युन-शान



न तो मैं रवीन्द्रनाथ ठाकुर की स्तुति करने के योग्य हू और न प्रशंसा। सच तो यह है मेरे पास उपयुक्त शब्द ही नहीं हैं, जिनसे मैं उनका वर्णन या प्रशंसा कर सकू। सरस्वती के दिये हुये अपने टूटे-फूटे शब्दों से उनकी प्रशंसा करने का मैं अधिकारी नहीं। अभी तक मानव-भाषा हमारे विचारों के प्रकट करने का एक अधूरा साधन है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर एक लम्बे काल से सारे संसार में वर्तमान समय के सबसे महान कवि की हैसियत से विख्यात थे। किन्तु मैं समझता हूं कि वे और भी बहुत कुछ थे और कवि की महानता की अपेक्षा वे कहीं अधिक महान थे। उनकी कविता की अपेक्षा उनके गीत, परिमाण और सौन्दर्य दोनों दृष्टियों से, उनके अपने लोगों को कहीं अधिक आकर्षित करते थे। उनकी कविता की तुलना शायद संसार के अन्य महान कवियों से, इस युग के नहीं पुरातन युग के कवियों से, की जा सकती है; किन्तु सभ्यता के प्रारम्भिक काल से लेकर अब तक जितने गीतों की रचना हुई है, वे सब उनके गीतों की तुलना में कहीं नहीं ठहरते। उनके गीत अनुपम और अद्वितीय हैं। कवि के अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ एक महान शिक्षक, एक महान दार्शनिक, एक महान उपन्यासकार, एक महान नाटककार, एक महान चित्रकार, एक महान गायक, एक महान वक्ता और क्या नहीं थे। उन्हें वास्तव में 'एक में समस्त', 'समस्त मे समस्त' और 'समस्त और समस्त' कहा जा सकता है। मुझ जैसे तुच्छ व्यक्ति की सम्मति में वे अन्य बातों की अपेक्षा एक पूर्ण सन्त और महान गुरुदेव थे। वे न केवल शान्तिनिकेतन के ही, भारत या चीन के ही या सारी दुनिया के ही महान गुरुदेव थे, बल्कि अब भी हैं और सदा रहेंगे।

चीन में अर्से से लोग रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गान्धी को वर्तमान भारत के बुद्ध समझते हैं। सन् १९२४ की रवीन्द्रनाथ की चीन-यात्रा, चीनी इतिहास की एक महान घटना है। उन्होंने चीनी राष्ट्र की सुप्त आत्मा को, जिस पर लगभग एक शताब्दी से भौतिकवादी पश्चिम की शान औ शौकत का नशा चढ़ा हुआ था, जगा दिया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की इस चीन यात्रा ने ही चीन के सांस्कृतिक नव चेतन के राष्ट्रीय आन्दोलन को बेहद प्रोत्साहन दिया। चीनी राष्ट्र ने उन्हें आदरपूर्वक 'चु चेन-



गुरुदेव और प्रो० तान युन-शान सपरिवार

[फ़ोटो १४-४-४०]



गुरुदेव और प्रो० तान युन-शान

[फ़ोटो सन् १९३८]

तान' की उपाधि दी। भारतवर्ष को प्राचीन चीन में 'चु' नाम से पुकारा जाता था, जिसे 'तिएन-चु' भी कहते थे। 'तियेन चु' का अर्थ है 'स्वर्ग राज्य'। 'चेन-तान' एक बौद्ध ग्रन्थ के अनुसार चीन का पुराना भारतीय नाम है। 'चेन' का अर्थ है 'बिजली', 'तान' का अर्थ है 'सूर्योदय', 'चेन-तान' का सम्मिलित अर्थ है—'एक ऐसा देश जहाँ पर सूर्य उदय होता है' या 'पूर्वीय देश'। प्राचीन भारतवर्ष चीन को इसी नाम से पुकारता था। किन्तु यहाँ रवीन्द्रनाथ के चीनी नाम का अर्थ होगा—'बिजली की तरह कड़क कर उदय होता हुआ सूर्य' (Thunder-Voiced Rising Sun) इस तरह 'चु चेन तान' तीन शब्द मिलकर दो अर्थ देते हैं—(१) 'भारत में बिजली की तरह कड़ककर उदय होता हुआ सूर्य' और (२) 'भारतीय और चीनी एकता और सम्मिलन का प्रतीक'। इतिहासज्ञ और जीवनी लेखक चीनी नामकरण की इस घटना को रवीन्द्रनाथ के जीवन की एक साधारण सी घटना समझेंगे। किन्तु यह घटना रवीन्द्रनाथ के प्रति चीन का अपार प्रेम, आदर, भक्ति और श्रद्धा प्रकट करती है। यह रवीन्द्रनाथ के प्रति चीनी राष्ट्र की श्रद्धांजलि थी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की चीन यात्रा के उपलक्ष में चीनी कवि स्वर्गीय श्री स्सु चिह-मो और डाक्टर हु सिह और दूसरे मित्रों ने इस ऐतिहासिक घटना की स्मृति में 'न्यू क्रेसेंट मून सोसाइटी' नामक एक संस्था स्थापित की। बाद में रवीन्द्रनाथ के प्रोत्साहन से मुझ तुच्छ व्यक्ति द्वारा स्थापित की हुई साइनो इण्डियन कलचरल सोसाइटी' (चीनी भारतीय सांस्कृतिक समिति) नामक संस्था में चीन के लगभग समस्त विद्वान और महान व्यक्ति शामिल हुये। यह संस्था रवीन्द्रनाथ के उदार विचारों की स्मृति में सदा एक ठोस यादगार की तरह रहेगी।

मैं, अति तुच्छ, स्वर्गीय गुरुदेव से पहली बार सन् १९२७ ईसवी में सिंगापुर में मिला था। जब सन् १९२४ में वे चीन गये थे, उसी समय मैं अपने देश से बाहर जा रहा था। किन्तु जब मैंने पहिली बार उन्हें सिंगापुर में देखा, तो मुझे तुरन्त ही उनसे प्रेम हो गया। इसके पूर्व उनकी चीन यात्रा का वर्णन और चीन में उनके व्याख्यानों और प्रवचनों को मैंने ध्यान से पढ़ा था। मैंने उनकी कुछ अंग्रेजी पुस्तकें और थोड़े बहुत उनके चीनी अनुवाद सब पढ़े थे। इन सब का मुझ पर बहुत असर पड़ा। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म के एक तुच्छ विद्यार्थी की हैसियत से मुझे भारत से स्वभावतः इसलिये प्रेम था कि भारत बौद्ध धर्म का जन्म स्थान है। और अनेक शताब्दियों से चीनी इसी देश को 'स्वर्ग राज्य' कह कर पुकारते आये थे। जब मैंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर को देखा तो मैंने उनके अन्दर भारतीय आत्मा का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि पाया। एक वर्ष के बाद सन् १९२८ में मैं पहिली बार शान्तिनिकेतन आया। उसके बाद मैंने रवीन्द्रनाथ के सम्बन्ध में और बहुत कुछ पढ़ा और उनके कामों को नजदीक से देखा। जो काम उन्होंने अपने ऊपर उठा रखा था, उसके हित में धीरे धीरे मैंने अपने आपको समर्पित कर दिया। मेरी नम्र सम्मति थी कि भारत और चीन ये दोनों बहिनें सार्वभौमिक शान्ति और मानव भ्रातृ-भाव स्थापित करने के लिये फिर से सहयोग करें। यह उद्देश्य हमारे सांस्कृतिक सहयोग और सहायता से ही पूरा हो सकता है। एक ओर तो हम अपने प्राचीन ऐतिहासिक सम्पर्क को जो कई सदियों से टूट गया था, फिर से क़ायम करें और दूसरी ओर दोनों देशों की एकता और प्रेम से भरी हुई मित्रता के उदाहरण को सामने रख कर वर्तमान दुनिया को जो बर्बर शत्रुता व घातक और भयंकर युद्धों में फँसी हुई है, आशा का सन्देश देकर एक नया सांस्कृतिक सम्बन्ध क़ायम करें। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर इस आशा ही के प्रतीक थे, इन्हीं विचारों के वे केन्द्र थे। इसीलिये मैंने अपनी तुच्छ सेवाएं उन्हें समर्पित कीं; और उन्हीं के मार्ग-प्रदर्शन और देख-रेख में उनके जीवन के अन्त तक मैंने काम किया। आगे भी मैं उनके प्रति अपनी अचल भक्ति रख कर

उनके आदेश के आध्यात्मिक प्रकाश में अपने जीवन के अन्त तक काम करता रहूँगा।

हम जानते थे और अच्छी तरह समझते थे कि मृत्यु जीवन का ही स्वाभाविक परिणाम है, और प्रकृति के मार्ग में मृत्यु और जीवन दोनों आवश्यक स्थिति हैं। जो इस संसार में पैदा होता है वह निश्चय ही मरता है। इसके लिये उदास होने, या दुःख मनाने की आवश्यकता नहीं। किन्तु यह केवल फलसफा है। मनुष्य आखिर मनुष्य ही है। भावों और विचारों के बिना वह ज़िन्दा नहीं रह सकता। विश्व-प्रिय गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की मृत्यु पर यह बात विशेष रूप से दिखाई दी। हममें से विशेष-कर वे लोग जिनका गुरुदेव के साथ निकट सम्पर्क था, अत्यन्त दुखी और मर्माहत हुये। जैसा कि गुरुदेव के एक मात्र पुत्र श्री रथीन्द्रनाथ के नाम पंडित जवाहरलाल ने अपने शोक सन्देश में कहा था—"गुरुदेव की मृत्यु से हम सब, जो उनकी महान प्रतिभा और महान व्यक्तित्व की छाया में पल कर बड़े हुये और जिनकी महान कृतियों ने हमें पूरी तरह ढक रखा है, आज अपने को असहाय और अंधेरे में पा रहे हैं।" सारे भारत ने उनके लिये शोक मनाया, सारे चीन ने उनके लिये शोक मनाया, यही नहीं सारी दुनिया ने उनके लिये शोक मनाया। किन्तु केवल शोक मनाना तो यथेष्ट नहीं है। न तो शोक सभाओं से काम चलेगा और न पत्र-पत्रिकाओं के विशेषांक निकालने से काम चलेगा। हम यह भी करें और इसके अतिरिक्त सदा के लिये हम अपने हृदय में उनके आदेशों और सिद्धान्तों को अंकित करें। मन-क्रम-वचन से उनके उदाहरण को सामने रखकर उस पर अमल करें। हमारे लिये और दुनिया के लिये जो सब से महान वस्तु वे उत्तराधिकार में छोड़ गये हैं, वह है शान्तिनिकेतन का 'विश्वभारती' विश्वविद्यालय, जो उनके विचारों, उनके आदर्शों और उनके जीवन का वास्तविक प्रतीक है। इसलिये न केवल शान्तिनिकेतन के लोगों का यह कर्त्तव्य है कि वे उनकी इस महान देन को बनाये रखें, उसकी उन्नति करें, उसे बढ़ावें, और फैलावें बल्कि सारे भारत ही नहीं, सारी दुनिया का उसके प्रति यही कर्त्तव्य है। अपने लेख को ख़तम करने से पहले मैं इस बात की अनुमति चाहता हूँ कि गुरुदेव के दो निकटतम और महान मित्र महात्मा गान्धी और पंडित जवाहरलाल नेहरू के कुछ शब्द उद्धृत करूं—

"सारे राष्ट्र के लिये ही नहीं बल्कि सारी दुनिया के लिये उन्होंने शान्तिनिकेतन की देन छोड़ी है। परमात्मा गुरुदेव की महान आत्मा को शान्ति दे; और जो लोग शान्तिनिकेतन के कर्त्ता धर्त्ता हैं, वे उस जिम्मेवारी के योग्य साबित हों, जो आज उनके कन्धों पर है।"

—महात्मा गान्धी

"अपनी उस बहुमूल्य देन को हम सचित करके रखेंगे। मुझे पूरा विश्वास है कि प्रत्येक भारतीय गुरुदेव के आदर्शों की प्रतीक विश्व-भारती और शान्तिनिकेतन को बढ़ाना और सहायता देना अपना कर्त्तव्य समझेगा।"

—पण्डित जवाहरलाल नेहरू

* प्रोफ़ेसर तान युन-शान का यह लेख 'विश्ववाणी' के 'रवीन्द्र अङ्क' के लिये लिखा गया था, किन्तु देर से प्राप्त होने के कारण यह उस अङ्क में प्रकाशित न हो सका—सम्पादक

शरद् का 'शेष प्रश्न'

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

शरद का 'शेष प्रश्न' कल सुबह ही मैंने समाप्त किया है। मेरे पढ़ने की रफ्तार बहुत धीमी है, अगर दो महीने में भी एक पुस्तक पढ़ लूं तो बहुत समझिये। यह नहीं कि पढ़ने की ओर रुचि नहीं है; परिस्थितियों की चञ्चलता तथा समय पर अच्छी पुस्तकों अथवा संगी-साथियों के अभाव ने जीवन को सब तरफ से वञ्चित कर दिया है। किन्तु, शरद बाबू का 'शेष प्रश्न' मैं दो दिन में ही पढ़ गया। इसका यह मतलब नहीं कि यह इतना रोचक उपन्यास है कि इसे इतनी जल्दी समाप्त कर सका। यह तो इतना रूखा उपन्यास है कि किसी तरह एक बार पढ़ लेने पर दूसरी बार पढ़ने को जी नहीं चाहता। यह तो उपन्यास नहीं, जीवन का अंकगणित है।

शरद बाबू मानव-जीवन के आचार्यों में से एक हैं, वे चाहे जो दें उन्हें हमें पढ़ना ही होगा। अतएव, रोचकता के लिए नहीं, जीवन के पोषक तत्त्वों को हृदयगम करने के लिए इसे मुझे पढ़ना ही पड़ा।

शरद और उनके कृतित्व में रूखापन! उनके अन्य उपन्यास तो बड़े सरल-तरल हैं, फिर उनका यह 'शेष प्रश्न' इतना जटिल और रूक्ष क्यों है? असल में शरद का यह उपन्यास उनके शेष वय का सामाजिक वसीयतनामा है, अतएव यह बहुत ही मैटर आफ फैक्ट हो गया है। 'शेष प्रश्न' के पूर्व शरद वैष्णव (भावुक आइडियलिस्ट) और शैव (घोर यथार्थवादी) दोनों थे, किन्तु इस उपन्यास में तो वे एक दम शैव हो गये हैं। पिछले उपन्यासों में उनके यथार्थवाद की गाँठें खुली हुई थीं, किन्तु वे इस उपन्यास में इतनी उलझ गई हैं कि खोले नहीं खुलतीं। जितना ही खोलते हैं उतना ही उलझन बढ़ती जाती है। इसकी जटिलता साहित्यिक छात्रों के लिए ही नहीं, साहित्य के अध्यापकों के लिए भी दुर्भेद्य है। यह उपन्यास तो उच्चकोटि के कलाकारों के लिए है।

यथार्थवाद (शैव) की दिशा में शरद सामाजिक क्रान्तिकारी हैं। देवदास, सतीश, श्रीकान्त, इन्द्रनाथ, सव्यसाची उनकी क्रान्ति के प्रतीक हैं। हमारी गृहदेवियों के जीवन में जो कुछ उज्वल है उसके ये उपासक हैं। हमारे समाज की ऐसी स्थिति है कि नारी क्रान्तमुख होकर नहीं, शान्त मुख होकर चल सकती है; समाज का सारा अन्याय-अविचार विष की घूट की तरह पीकर उसे ही अपनी साधना से अमृत बनाकर वह जीती है। शरद ने अब तक नारी को उसकी इसी साधना में छोड़ कर सामाजिक अन्याय-अविचार के विरुद्ध पुरुष पात्रों से विद्रोह कराया था, इससे न तो नारी का ही उद्धार हुआ, न पुरुष का। नारी अपनी साधना में तपती रही, पुरुष विद्रोह की आग में झुलसता रहा।

आजीवन अपने उपन्यासों में शरद ने नारी को ही महिमावान बना कर उपस्थित किया है। नारी अपने सन्ताप को अपनी आर्द्रता में समुद्र के भीतर वाड़व की तरह शान्त रख सकती है, किन्तु पुरुष शान्त नहीं रह सकता, वह भीतर भीतर सुलगता है और एक दिन ज्वालामुखी की तरह फट पड़ता है। पुरुष में सहिष्णुता नहीं है, नारी में अथाह सहिष्णुता है। किन्तु जिस दिन नारी की सहिष्णुता भी भग हो जाय, उस दिन समझना चाहिये कि सामाजिक अन्याय-अविचार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। अपने पिछले उपन्यासों में शरद ने इस पराकाष्ठा के प्रतिकूल नारी के कण्ठ को भी मुखरित किया है—'चरित्र हीन' में किरणमयी, 'श्रीकान्त' में अभया द्वारा उन्होंने नारी के सामाजिक विद्रोह को स्पष्ट किया है। किन्तु शरद की आदर्श नारियां वे हैं जो विद्रोह-रहित, अपनी साधना

मे सतत निरत शान्त गृहिणी हैं। वे मीरा की भाति महोच्च हैं। शायद शरद का विश्वास था कि इन गृहिणियों की साधना मे समाज के पाप-ताप धुल जायगे, अतएव अपने उपन्यासो में इन्हें ही श्रद्धा-पूर्वक स्थापित करके इन्हें ही समाज में स्थायी बना देने तथा इन्हीं की ओर जीवन को एकाग्र कर देने के लिए वे नवचैतन्य पुरुष पात्रों से विद्रोह कराते रहे। किन्तु 'शेष प्रश्न' तक पहुँचते-पहुँचते शरद का मन समाज की ओर से पूर्ण अविश्वासी हो गया। इतने दिनों तक मरुस्थल में 'ओएसिस' की तरह नारी के जिस तपपूत व्यक्तित्व को सँजोये हुए वे जीवन में चल रहे थे, उसके प्रति भी उनके मन में निर्मोह हो गया, एक प्रकार से उनका स्वप्न-भग हो गया। उन्होने अपनी नई चेतना में यह महसूस किया कि समाज को नई मिट्टी और नये खाद की आवश्यकता है। अतएव, समाज के पुराने मरुस्थल को लुप्त करने के लिये शरद को 'शेष प्रश्न' में भूकम्प करना पड़ा। उनका वैष्णव सस्कार पीछे छूट गया, उनका विद्रोही अश सर्वथा शैव होकर आगे आ गया। अब तक शरद पुरुष पात्रों से विद्रोह कराते रहे, इस बार 'शेष प्रश्न' में उन्होंने नारी के द्वारा सामाजिक विद्रोह कराया है। शिव का विषपान पृथ्वी पर अमृत (जीवन की सुख-शाति) को सुलभ नहीं कर सका, अतएव इस बार स्वय नारी को 'शेष प्रश्न' में 'शिवानी' होकर आना पड़ा। मीरा पीछे छूट गई, शंकरी आगे आ गई। राजलक्ष्मी, अन्नदा जीजी, सुरबाला, विराज बहू, सावित्री पूजा के मन्दिरों में ही रह गई, समाज के प्रांगण में अभया और किरणमयी ने 'शेष प्रश्न' द्वारा पुनर्जन्म लेकर प्रवेश किया।

यह उपन्यास शरद बाबू के जीवन की सबसे बड़ी हाय है। इतने दिनों तक वे जिस संस्कृति और उसकी सन्ततियो (आर्य्यबालाओं) को हृदय से चिपकाये हुए जी रहे थे, 'शेष प्रश्न' में उन्हें ही मृतवत्सा मां की तरह जलाञ्जलि देकर स्वय भी इस संसार से चले गये। मानो उन्हें खोकर वे जी नहीं सकते थे, साथ ही उन्हें लेकर आज के ससार में चल भी नहीं सकते थे। आज उनके पिछले उपन्यासों की समाधि पर शेष है 'शिवानी'— एक उद्दीप्त दीपशिखा। 'पारुल' के लिए, सुरबाला के लिए, अन्नदा जीजी के लिए, सावित्री के लिए शरद बाबू विकल रहे हैं किन्तु शिवानी के लिए वे विकल नहीं हैं, क्योंकि वह अपने नवोज्ज्वल प्रकाश मे अपना आज का मार्ग पहचानती है। पारुल जैसी कोमलता की तपस्विनी कन्याएं पृथ्वी की नहीं, स्वर्ग की देवियां थीं; इसीलिए शरद बाबू उन्हें अपने साथ ही लेते गये। वे थीं आध्यात्मिक युग की सुकुमार रश्मियां। आज के आधिभौतिक युग में जिस आत्म-जागरूक नारी की आवश्यकता थी उसे शरद बाबू छोड़ गये हैं शिवानी के रूप में।

'शेष प्रश्न' को शरद बाबू ने ऐसे समय मे लिखा जब समाजवाद का स्वर सजग हो गया। उनके पिछले उपन्यास हिन्दू समाज के दायरे मे थे। तब तक वे एक विशेष सांस्कृतिक परम्परा के क्रान्त-मुख सनातनी प्रजा थे। समाजवादी युग में जब उन्होंने आज के विस्तृत ससार को देखा तब उनके सामने से देश, काल, और समाज की सक्षिप्त सीमायें लुप्त हो गई, समग्र मानव, समग्र विश्व, समग्र समाज और समग्र युग उनके सामने आ गया। फलतः शरद की सांस्कृतिक गगा, गगासागर में जा मिली। 'शेष प्रश्न' की शिवानी भारतीय माता और यूरोपियन पिता की सन्तति है— पूर्व और पश्चिम की एकीकरण। किसी एक देश या एक जाति की सज्ञा उसे नहीं दी जा सकती, वह अपनी इकाई में आने वाले युग के विश्व समाज की नारी हो गई है।

'शेष प्रश्न' पढ़ने पर हमें रवि बाबू के 'गौर मोहन' का स्मरण हो आया। सन् सत्तावन के गदर में किसी सकटापन्न अंग्रेज दम्पति ने एक बङ्गाली परिवार के अस्तबल में अज्ञात रूप से एक रात आश्रय लिया। वहीं बालक गौर मोहन का जन्म हुआ। गदर से सन्त्रस्त अंग्रेज दम्पति बालक को जन्म देकर अंधेरे मुंह अन्तर्धान हो गई। बङ्गाली परिवार

ने बालक को पाला-पोसा और हिन्दू संस्कारों में उसका विकास हुआ। अपने जन्मवृत्त से अज्ञात गौर मोहन की हिन्दू जातीय कट्टरता इतनी बढ़ी कि स्वयं परिवार के लोग त्रस्त हो गये। वे थे ब्राह्म समाजी, किन्तु 'गौर मोहन' को किसी सन्यासी से वैष्णव धर्म की दीक्षा मिल गई थी। उसकी कट्टरता की अति देखकर एक दिन बङ्गाली दम्पति ने उसे उसके जन्म का रहस्य बतला दिया। रहस्य ज्ञात होते ही उसकी आँखें खुल गई। इतने दिनों वह हिन्दू था, अब क्या वह अंग्रेज बनता! उसने अनुभव किया कि यह देश और जाति तो हमारे अभ्यास मात्र हैं, व्यक्ति तो असल में है मानव। जिस नवीन बोधोदय के धरातल पर गौर मोहन का पुनर्जन्म होता है, वहीं से 'शेष प्रश्न' की शिवानी के संस्कारों का निर्माण होता है।

रवि बाबू ने आज युग के महामानव को जन्म दिया, शरद बाबू ने प्राम युग की महामानवी को। किन्तु रवि बाबू ने जिस औपन्यासिक चमत्कार से गौर मोहन का अन्तःसाक्षात कराया, शरद बाबू ने उस खूबी से हमें शिवानी के निकट नहीं पहुँचाया। अतएव, उसका चरित्र हमारे सामने जटिल पहेली बन गया है। असल में शेष प्रश्न' उपन्यास है ही नहीं, औपन्यासिक ढाँचे में यह एक नवीन समाज-शास्त्र है।

जिस नई सतह पर आकर गौर मोहन विस्तृत आध्यात्मिक सत्य को पहचानता है उसी सतह पर अवतीर्ण होकर शिवानी विस्तृत पार्थिव सत्य का परिचय देती है। एक अलौकिक साधना का पथिक है, दूसरी लौकिक साधना की सदेश-वाहिका। अध्यात्म की दिशा में शरद नारी की साधना दिखला चुके थे, इस बार उसे वे क्षितिज से उतार कर पृथ्वी पर ले चले हैं।

जैसा कि ऊपर कहा है, शरद बाबू ने यह उपन्यास समाजवादी युग में लिखा है। किन्तु समाजवाद का जो अर्थशास्त्रीय राजनीतिक रूप है, वह इस उपन्यास का लक्ष्य नहीं है। केवल जीवन की नैतिक दिशा के सद्-असद् का इसमें नवीन नीर-क्षीर-निरीक्षण है। हम इसे शरद का सामाजिक समाजवाद कह सकते हैं। समाज की कट्टर रूढ़ियों में आबद्ध मुस्लिम समाज का नवीन तुर्की में रूपान्तर हो गया, किन्तु हिन्दू समाज नवीन भारत का स्वरूप अभी तक ग्रहण नहीं कर सका है। शरद ने 'शेष प्रश्न' में उसी स्वरूप को पहचानने का अवसर दिया है।

आज के युग में राजनीतिक समाजवाद जीवन के सभी पहलुओं को जो नवीन मूल्यांकन दे रहा है वही मूल्याङ्कन 'शेष प्रश्न' की शिवानी भी दे रही है। किन्तु वह है नारी। नारी यदि अपने विकास में पुरुष नहीं हो गई है तो वह परम्पराओं की मर्यादा चाहे भले न निभाये, किन्तु सामाजिक स्वतन्त्रता का एक गम्भीर उत्तरदायित्व उस के साथ रहता है। यही उत्तरदायित्व उसका वह बन्धन है जिसमें बंध कर भी वह देवी महादेवी के शब्दों में कह सकती है--'बन्दिनी बनकर हुई मैं बन्धनों की स्वामिनी सी।' 'शेष प्रश्न' की शिवानी स्वतन्त्र सामाजिक विचारों की नारी होकर भी बन्धनों की स्वामिनी है। वह मुक्त है, उन्मुक्त नहीं। बाहर मुखर होकर भी वह भीतर गम्भीर है, उच्छृङ्खल नहीं। पुरुष अपने लिए कभी बन्धन स्वीकार नहीं करता, इसीलिए शिशु को जन्म देकर वह उसे नारी की गृहस्थी में सौंप जाता है। पुरुष में अहम् है, नारी में ममत्व। पुरुष अपने अहम् में व्यक्तिवादी है, नारी अपने ममत्व में समाजवादी। पुरुष तोड़ना (क्रान्ति) जानता है, जोड़ना नहीं। केवल नारी का ममत्व ही अपने संयोजन से व्यक्तियों के समूह को समाज बनाये हुए है। नारी सहज ही क्रान्ति नहीं करती, किन्तु जब क्रान्ति करती है तो उस क्रान्ति के बाद निर्माण का भार भी गृहस्थी की भांति उसी के कन्धों पर आ पड़ता है। यह वह जानती है, इसलिए बहुत समझ बूझकर क्रान्ति करती है। जहां तक साधना का प्रश्न है—नारी समाज के सौ बन्धनों में भी अडिग है; किन्तु पुरुष है अधीर, स्वभाव से ही वह पलायन-वादी है। यदि पुरुष में भी कहीं कुछ साधना है तो

नारी के कारण हों। साधारण जीवन में हम देखते हैं कि तीर्थस्नान के लिए पुरुष स्वयं भले ही न जाए किन्तु नारी के कारण उसे भी जाना ही पड़ता है। साधना ही जिसका सर्वस्व है यदि उस श्रेणी की नारी क्रान्तिमुख हो उठे तो समझना चाहिये कि सचमुच ही क्रान्ति अनिवार्य्य हो गई है। सामाजिक क्रान्ति की दिशा में अपनी अभीष्ट नारी (शिवानी) को आगे लाकर शरद ने यही संकेत किया है।

किन्तु अंग्रेजी में जिसे सामाजिक दृष्टि से 'फारवर्ड' या 'एडवान्स' कहते हैं, 'शेष प्रश्न' की शिवानी वह नहीं है। यदि 'फारवर्ड' या 'एडवान्स' होना ही समाजवादिता का सूचक है तो सोवियत् नारी ही नहीं यूरोप और अमेरिका की सभी स्त्रियां समाजवादी हैं। किन्तु उन्हें समाजवादी कहना तो 'समाज' शब्द की कदर्थना करना होगा। यूरोप और अमेरिका में तो जीवन केवल जोड़-तोड़ लेकर चला आ रहा है। व्यक्ति का अहम् आत्मतृप्ति का द्वन्द्व कर रहा है। सोवियट जनसत्ता जैसे उधर के आर्थिक द्वन्द्वों के सन्तुलन का एक राजनैतिक आविष्कार लेकर चली वैसे ही इधर के सामाजिक द्वन्द्वों के सन्तुलन के लिए भी एक बौद्धिक आविष्कार लेकर। गरीब और अमीर, स्त्री और पुरुष इन्हीं के द्वन्द्वों को लेकर वहां के सामाजिक प्रश्नों की समाप्ति है। उपभोग की विषमता ही वहां का प्रश्न है और उसी का सन्तुलन वहां का समाधान। वहां का सम्पूर्ण दृष्टिकोण वैज्ञानिक है, इसी दृष्टिकोण की त्रुटियों को पूरा करने के लिए सोवियट समाज ने समाजवाद के रूप में एक चश्मा तैयार किया। इस प्रकार भौतिक नेत्रों के ऊपर उसने एक और भौतिक नेत्र लगा दिया। जीवन का प्रकृत प्रकाश उसके लिए अप्राप्य ही रह गया। इधर अपने देश में महात्मा गान्धी जीवन के प्रकृत प्रकाश को ही पाने के लिए सत्यान्वेषी हो गये। दृश्यजगत को देखने के लिए भी प्रकाश का 'पावरहाउस' उन्हें भीतर ही अदृश्य जान पड़ा। शरद अपने पिछले उपन्यासों में उसी प्रकृत प्रकाश की उज्ज्वलता को सुरबाला, पार्वती, अन्नदा जीजी और सावित्री के जीवन में विकीर्ण करते रहे। किन्तु उनके सभी उपन्यासों में एक शेष प्रश्न लगा हुआ था—प्रकृत प्रकाश की साधना के अतिरिक्त समाज में जो अव्यवस्था और जो व्यतिक्रम आ गया है उसकी ओर देवदास, सतीश, तथा अभया और किरणमयी चरित्र संकेत हैं। वे बुरे नहीं हैं, किन्तु समाज की दृष्टि में वे बुरे हैं। समाज जिसे अच्छा समझता है उस अच्छे के लिए वह इन बुरों को भी मार्ग क्यों नहीं दे पाता है? असल में समाज की अच्छाई ऐसी है कि उसमें एक ओर गोपूजा है, दूसरी ओर गोवध। जिसकी वह पूजा करता है उसके वध को वह रोक नहीं पाता और जो इस वध को बर्दाश्त न कर सके वह पूजक समाज की श्रद्धा से दूर जा पड़ता है वह उसकी दृष्टि में बुरा हो जाता है। इसीलिए समाज पार्वती का तो सम्मान करता है, देवदास की उपेक्षा।

शरद बाबू अपने पिछले उपन्यासों में समाज की श्रद्धा (आदर्श) के सामने यथार्थ की ओर से शेष प्रश्न उपस्थित करके भी समाज के आदर्शों को ही प्रमुख बनाये हुए थे शेष प्रश्न सामाजिक अन्याचार की चिता पर देवदास की भांति भस्म होता गया। किन्तु इस 'शेष प्रश्न' में आदर्श को ही उन्होंने चिता पर चढ़ा दिया। पिछले उपन्यासों में जो शेष प्रश्न आदर्श के सम्मुख गौण था वह इस उपन्यास में शीर्ष होकर आ गया। नवीन समाज-विज्ञान के रूप में उन्होंने आज के बौद्धिक समाजवाद को आगे कर दिया। फिर भी 'शेष प्रश्न' की शिवानी सोवियत् समाज की नारी नहीं है, उसका जन्म उसी देश में हुआ है जिस देश में अन्नदा जीजी, सुरबाला और सावित्री ने जन्म लिया था। अतएव उसकी सामाजिक स्वतन्त्रता में आत्मसंयम की गम्भीरता भी है, तभी तो वह प्रीतिभोजों में इन्द्रियों की तृप्ति का रसास्वाद नहीं ग्रहण करती जिसके अभाव में मनुष्य पथभ्रष्ट भी हो सकता है। रूखी-सूखी रोटी में वह अपने सामाजिक स्वतन्त्रता का रस लेती है, और अपनी सीने-पिरोने की मजदूरी में जीवन के स्वाव-

लम्बन की निर्द्वन्द्वता। किन्तु यही उसका लक्ष्य नहीं है, तपस्विनियों का यह आदर्श तो उसके एकाकी जीवन का आपद्धर्म है। समाज की आर्थिक विषमता में भी समाजवादी नारी किस प्रकार चल सकती है, शिवानी के चरित्र का यह अंश इसका दृष्टांत है। ऐसी नारी यदि सोवियत् समाज में उत्पन्न हो जाय तो वह पार्थिव उपभोगों के लिए ही समाजवादी नहीं होगी, बल्कि मनुष्य की आत्मचेतना को सजग रखने की एक ज्योति बनेगी।

तो, शिवानी सोवियत समाज की नारी नहीं है, वह तो उस समाज के आगे एक आदर्श है। शरद बाबू ने समाजवाद को स्वीकार करके भी उसके प्रति शिवानी के रूप में एक सजेस्टिव चरित्र उपस्थित किया है। और जब कि शिवानी सोवियत् समाज की नारी नहीं है तब उस अमेरिकन और यूरोपियन समाज की भी नारी नहीं हो सकती जिसके लिए सोवियत् समाज एक आदर्श होकर उदित हुआ। इस उपन्यास की वेला और मालिनी यूरोपियन और अमेरिकन समाज की एडवान्स लेडिया हैं। वे भी शिवानी के चरित्र के आगे एक ओर छूट जाती हैं।

एक दिन 'चरित्रहीन' में शरद बाबू ने नई रोशनी की नारी 'किरणमयी' के ऊपर भारत की पौराणक ललना सुरबाला को विजय दी थी। वही सुरबाला रूपान्तरित होकर 'शेषप्रश्न' मे 'नीलिमा' होकर आई है। किन्तु नीलिमा भी शिवानी के व्यक्तित्व के सम्मुख सूर्य्यमुखी हो गई है। किरणमयी सुरबाला को अपना अनुरक्त नहीं बना सकी थी, किन्तु नीलिमा शिवानी की अनुरक्त हो गई है। किरणमयी ने भी सामाजिक विद्रोह किया था, शिवानी ने भी सामाजिक विद्रोह किया है। किन्तु किरणमयी का विद्रोह अनियन्त्रित था, उसमें आत्म-नियन्त्रण नहीं था। सामाजिक विद्रोह का एक मनोवांछित चरित्र शरद ने 'श्रीकान्त' में 'अभया' के रूप में भी उपस्थित किया था, शिवानी के रूप में उसी का डेवलपमेण्ट किया है।

शेष प्रश्न' तक आकर शरद को न तो भारत की पौराणिक नारी अभीष्ट थी, न रूस की सोवियत् नारी, न यूरोप और अमेरिका की फ़ारवर्ड नारी। नवागत समाज में वह जिस नारी को देखना चाहते थे, वही है शिवानी।

इस उपन्यास के चरित्र चित्रों के साराश हैं— आशु बाबू, शिवानी और अजित्। इसमें वयोवृद्ध आशु बाबू स्वयं शरद बाबू हैं। आशु बाबू के रूप में शरद शिवानी के मन्तव्यों से विचलित हो-हो जाते हैं। शिवानी मानो उन्हीं को औपन्यासिक सृष्टियों को तोड़-फोड़कर उन्हें नये निर्माण की आवाज सुनाती है। शरद बाबू (आशु बाबू) विचलित अवश्य होते हैं किन्तु शिवानी की आवाज़ को अस्वीकार नहीं कर पाते। अपने परिपक्व विश्वासों पर आघात खाकर भी वे अपनी इस नई सन्तति को प्यार और आशीर्वाद दे जाते हैं।

शरद बाबू शिवानी के लोक-पक्ष को तो दिखला गये हैं, किन्तु उसके आत्मपक्ष को अन्धकार में ही छोड़ गये हैं जिसके कारण उसका सबजेक्टिव चरित्र रहस्य की पहेली बन गया है। इस प्रकार इस उपन्यास मे औपन्यासिकता न रहने पर भी औप-न्यासिकता की सबसे बड़ी बात आ गई है— चरित्र को जानने का कुतूहल। शिवनाथ से उसका साथ क्यों छूट गया, क्यों दो दिन के साधारण परिचय में ही अजित उसका प्रेमपात्र हो गया, यह सब कुछ इस उपन्यास में अस्फुट ही रह गया है। शरद बाबू का सदा से यही तो औपन्यासिक वैचित्र्य रहा है कि बहुत कुछ कहकर भी जहा उन्हें कहने की सबसे अधिक आवश्यकता रहती है वहाँ वे कुछ नहीं कहते। केवल जिज्ञासा जगा जाते हैं।

सचमुच शरद के उपन्यासों में प्रेम की फिलासफी मूक है। जिस प्रेम-प्रसंग को लेकर रसिक लेखक रोमांस का तूमार बाँध देते हैं उस प्रसग को शरद यों ही छोड़ जाते हैं। अन्य उपन्यासकारों को जिससे उपन्यास का खासा मसाला मिलता है, शरद के उपन्यासों में वह ऐसे छूट जाता है जैसे कोई

साधारण बात। किन्तु वह साधारण बात नहीं है, वह इतनी असाधारण है कि उसे कह-सुनकर बतलाने की अपेक्षा शरद उसे सहृदय संवेद्य कर जाते हैं।

शरद की कृतियों में हम पाते हैं कि वे शृङ्गारिक कवियों, रोमान्सकार उपन्यासकारों और वास्तविकतावादी वैज्ञानिकों की तरह प्रेम को शरीरजन्य नहीं मानते। प्राणी स्त्री-पुरुष होने के अतिरिक्त जिस चेतना को लेकर मनुष्य है वह है समवेदना, हृदय का सहज स्वाभाविक धर्म। जो समवेदना समाज को एक दूसरे से बांधे हुए है वही स्त्री पुरुष के बीच जब कुछ और निकट की वस्तु बन जाती है तब उसे हम कहते हैं प्रेम। कुछ ऐसे ही प्रेम को सारे उपन्यासों के नेपथ्य में छोड़कर उनका कथानक सम्पूर्ण हो जाता है।

समवेदना (चेतना) के प्रकाश के कारण प्रेम अन्धा नहीं होता, अतएव उसमें पात्रापात्र का विवेक रहता है।

शिवनाथ को शिवानी की समवेदना की आवश्यकता नहीं रह गई थी; वह प्रेम का सामाजिक प्राणी नहीं, रोमान्स का असामाजिक प्राणी था। अतएव, प्रेम और रोमान्स दोनों ही दृष्टि से जो सर्वथा अबोध और अनगढ़ पात्र था उसी अजित को अपनाकर शिवानी ने अपने 'नारीत्व' की समवेदना (प्रेम) को सार्थक कर लिया।

प्रेम जटिल नहीं, सहज है, अतएव जहां हृदय की सहजता होती है वहीं प्रेम स्थापित हो जाता है। जहां जटिलता है, वहां प्रेम नहीं—रोमान्स रंगीन होकर बोलता है। शिवनाथ वेश्यागामी नहीं होने पर भी रोमान्स का विलासी है, देवदास वेश्यागामी होने पर भी प्रेम का पागल है। उसमें हृदय की सहजता है। समाज की जटिलता दो सहज हृदयों को बिछुड़ा देती है, किन्तु बिछुड़कर भी देवदास और पार्वती एक दूसरे के उतने ही निकट हो गये थे जितने दूर शिवनाथ और शिवानी छूट गये।

सभी धर्म ईश्वरदत्त हैं

सभी धर्म ईश्वरदत्त हैं, परन्तु मनुष्य-कल्पित होने के कारण, मनुष्य द्वारा उनका प्रचार होने के कारण वे अपूर्ण हैं। ईश्वरदत्त धर्म अगम्य है। मनुष्य उसे भाषा में प्रकट करता है। उसका अर्थ भी मनुष्य लगाता है। किसका अर्थ सच्चा माना जाय? सभी अपनी अपनी दृष्टि से, जब तक वह दृष्टि बनी रहे तब तक सच्चे हैं। परन्तु सभी का झूठा होना भी असम्भव नहीं है। इसलिये हमें सब धर्मों के प्रति समभाव रखना चाहिये। इससे अपने धर्म के प्रति उदासीनता नहीं उत्पन्न होगी परन्तु स्वधर्म विषयक प्रेम अन्ध-प्रेम न रहकर ज्ञानमय हो जाता है।

—गान्धी जी

बनफूल

श्री नरेन्द्र शर्मा एम ए

कहीं सरिता के किनारे खिला था बनफूल एक,
अचक उसके पास आई लहर ज्यों भावातिरेक।
वायु डोली, लहर उभरी, फूल फूला, मिले ओठ,
फूल भूला चेत, लहरी गई कर मधुराभिषेक।

बहुत सी आईं गईं लहरें न आई वही एक—
ले गई जो फूल की मुसकान, अन्तर का विवेक।
उलहना देता रहा बनफूल—'तुम आईं नहीं।'
गीत गाता रहा, देती रही मंथर वायु टेक।

नदी बहती, समय जाता, आस भी जाती रही,
विवश हो बनफूल ने यह बात सरिता से कही—
'ले चलो मुझको, जहां वह लहर ठहरी बाट में';
चांद निकला, हँसी सरिता, निरुत्तर बहती गई।

फिर वहां आई चडुल चिड़िया वनी से, वारि देख;
तीर पर बैठी सिमट ज्यों गई नभ की स्वर्ण-रेख।
फूल को देखा सुनहली चोंच में लेकर कहा—
'पिया जल दो-चोंच जो, मैं दे रही हूँ मोल देख।'

फूल धारा में रहा बह, कह रहा है बार बार—
'वह लहर किस महल बसती? कब खुलेंगे बन्द द्वार?'
सूर्य चढ़ आया, नदी हँसती रही ज्यों दिवास्वप्न—
फूल बहता रहा कहता रहा—'बोलो, क्षिप्र धार।'

एक दिन बोली नदी—'मैं तो समय की धार हूँ,
'मैं विरह का अश्रु हूँ, मधुमिलन लोचन चार हूँ,
लहर मेरा अंश, ओ बनफूल, मत यह बात भूल—
छू गया संकेत जिसका, मैं वही मझधार हूँ।'

कहीं सरिता के किनारे था खिला बनफूल एक,
अचक उसके पास आई लहर ज्यों भावातिरेक।
वायु डोली, लहर उभरी, फूल फूला, मिले ओठ,
फूल भूला चेत, लहरी गई कर मधुराभिषेक।

वंचित

श्री भगवतीप्रसाद चन्दोला एम ए

मैं था यथार्थ का बन्दी पर
स्वप्नों में उड़ता मुक्त रहा;
तुम को प्राणों में पाकर भी
जीवन को वंचित किए रहा।

मैं अपनेपन की मस्ती में
ममता की सीमा छोड़ चला,
गति की चंचलता में मन का
शोभन सीधापन तोड़ चला।

मैं खोज रहा था तुम्हें प्रिये,
साधन के निविड़ अकेले में,
मैं खोज रहा था तुम्हें गहन
मृदु आशाओं के मेले में।

सच को सपना समझा मैंने
सपने को सच्चा करने में,
जीवन को फीका कर डाला
मृदु ममता का रंग भरने में!

मैं भटक गया तुम से कितना
निज एकाकीपन के जग में,
मैं पिछड़ गया तुम से कितना
ममता के सरल सुगम मग में।

तुम चमक उठीं निज ममता में
निर्मल निश्चल ध्रुवतारा-सी,
तुम उमड़ीं निज पावनता में
कल्याणी सुरसरि-धारा-सी।

× × ×

मैं तुम्हें आज भी खोज रहा
अपनी भूलों के संचय में,
मैं तुम्हें आज भी खोज रहा
प्राणों के अविचल निश्चय में।

जीवन-धारा

श्री विनोद

ढालूपन गति है अपने में, लहरें गति-मद मातीं।
सरिता नित ढलाव पर जातीं।
कलकल छलछल लहरें आतीं,
अपनी गति से राह बनातीं,
तोड़-फोड़ गिरि को, गह्वर को—
विजय-गर्व पर हर्ष मनातीं,
धरती में जीवन सरसातीं, जीवन में मुसकातीं।
सरिता नित ढलाव पर जातीं।
रजत-रेत नीचे बहती है,
जीवन की गाथा कहती है,
कन-कन गिरि, गिरि में कन-कन है
बिखर दुसह विपदा सहती है,
सर्व-प्रवाही सरि में बहकर अपनी गति-मति पातीं।
सरिता नित ढलाव पर जातीं।
लहरे लहरों पर लहरातीं,
तट से चुप चुप कुछ कह जातीं,
इधर छोर उद्गम का छूकर—
उधर सिन्धु मे लय हो जातीं,
फिर गिरि सोता सरि लहरों में जीवन छटा दिखातीं।
सरिता नित ढलाव पर जातीं।

गीत*

श्री रत्नकुमारी देवी, काव्यतीर्थ

यही धर्म है यह संयम।

जन्मभूमि पर तन - मन वारें
वीरों का है एक नियम।

कर देते धन-रत्न समर्पण,
रात्रि-दिवस के एक एक क्षण,
स्वतन्त्रता पर प्रियतम जीवन,
नहीं मान प्राणों से कम। यही धर्म०

रोम रोम में रमे धूलिकण,
उच्छ्वासों में पवनान्दोलन,
अन्न-नीर से पुष्ट हुआ तन,
मत हो हे मानव! निर्मम। यही धर्म०

जब हो जाता अतिशय मर्दन,
वज्र गिराता सजल मृदुल घन,
बरसो वीरो बादल ही बन
बह जावे रिपुदल तृण सम। यही धर्म०

---

* सेठ गोविन्ददास के अप्रकाशित ऐतिहासिक नाटक 'शशिगुप्त' के लिये लिखित।

भारत की औद्योगिक उन्नति

सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास

भारतवर्ष में जब से मशीनों का उपयोग शुरू हुआ है तब से यहाँ बेकारी बहुत बढ़ गई है। चूंकि मशीनों का उपयोग ढीले ढाले तरीक़े से हुआ है और उसके लिए कोई खास उद्योग नहीं किया गया, इसलिये न तो यहां पूरा औद्योगीकरण ही हो सका है और न पुराने ग्रामोद्योग ही व्यवस्थित रह पाये हैं। जो बात मैं कहना चाहता हूं उसके लिए एक सीधा सा उदाहरण देता हूँ—भारतवर्ष में जब से रेलें चलनी शुरू हुई, तब से इस समय तक निस्सन्देह अनेक दिशाओं में खासा लाभ पहुँचा है। किन्तु रेल-उद्योग से सम्बन्धित अनेक उद्योग-धन्धे आज ७५ वर्ष के बाद भी नहीं शुरू किए गये। इङ्गलिस्तान में भाप के इंजनों के आविष्कार के कारण बेकारी इसलिये नहीं बढ सकी कि इंजन, रेलों के डब्बे और रेल से सम्बन्धित अनेक चीज़ें बनाने के कारखाने भी वहां साथ साथ खुल गये हैं, किन्तु भारतवर्ष में रेल का बना बनाया सामान बाहर से ही मंगाया जाता है। नतीजा यह है कि जो लोग पुराने तरीक़े से माल इधर-उधर लाते ले जाते थे उन बेचारों की पुरानी रोज़ी भी छिन गई और उन्हें नई रोजी भी नहीं मिली। इन्हीं सब बातों के कारण इस वैज्ञानिक और मशीन युग में भी अनेक देशहितैषी सज्जन मिलेंगे, जिनका विश्वास है कि आमदरफ़्त का वही पुराना तरीक़ा अब भी अमल में लाया जाय। वास्तव में भारत न तो पूरी तरह एक किसान देश ही रह सका और न वह पूरी वैज्ञानिक उन्नति ही कर सका। आजकल यदि कोई मशीनों की उन्नति रोकना भी चाहे तो भी नहीं रोक सकता। न तो ज़माना ही इसके अनुकूल है और न दुनिया की परिस्थिति ही हमें ऐसा करने देगी। हमें भरसक भारत के औद्योगीकरण को बढ़ाने की चेष्टा करते रहना चाहिये। कुछ वर्ष हुए सर टामस एन्सकफ ने भारत और ब्रिटेन के व्यापार के सम्बन्ध में एक वक्तव्य प्रकाशित किया था। उन्होंने भारतवर्ष के उद्योग-धन्धों की प्रगति पर अपनी राय जाहिर की थी। यदि वे ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि न होते, तो उनकी हँसी उड़ाई जा सकती थी। सर टामस ने हिन्दुस्तान को ब्रिटिश माल की निकासी के लिए एक अच्छी मण्डी माना है। भारतवर्ष के सम्बन्ध में जान-बूझकर सर टामस ने भ्रम फैलाने की चेष्टा की है। इस ट्रेड कमिश्नर के अनुसार यदि भारतवर्ष में मशीनों का इस्तेमाल बढ़ता गया तो भारतवर्ष का आर्थिक ढांचा टूट जायेगा और उसे बेहद कठिनाई में फँसना पड़ेगा।

फर्ज़ कीजिये औद्योगीकरण में यही दिक्क़त पेश आये। किन्तु क्या ट्रेड कमिश्नर को यह नहीं मालूम था कि भारत की मौजूदा आर्थिक हीनता ब्रिटिश सरकार की व्यापार और मुद्रा नीति ही के कारण है। इस सम्बन्ध में भारत जैसे ग़रीब देश का कभी कोई लिहाज़ नहीं रक्खा गया। ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीति ने भारत को ज़र्रा भर भी फायदा नहीं पहुँचाया। भारत में किसानों की ग़रीबी और विपत्ति अवर्णनीय है। यहाँ खेती पर जितना भार है उसे देखते हुए यहां दूसरे उद्योग-धन्धे शुरू करने ही चाहिए। मुमकिन है इस उलट-फेर से मौजूदा आर्थिक ढाँचे को नुक़सान पहुँचे, लेकिन शुरू-शुरू में इन दिक़्क़तों का सामना तो करना ही पड़ेगा। बग़ैर इन दिक़्क़तों को झेले देश की आर्थिक स्थिति नहीं सुधर सकती। दूसरे मुल्क, जिनकी ज़िन्दगी का मयार हमसे कहीं ऊँचा है और जिनकी आर्थिक स्थिति हमसे कहीं गई बीती है, उन्होंने भी खेती और उद्योग-धन्धों के बीच में एक सन्तुलन पैदा कर लिया है। फिर कोई वजह नहीं कि भारत इस क़िस्म की तब्दीली के ख्याल से ही घबराता रहे। पिछले कुछ वर्षों से

दुनिया जिस आर्थिक दुरावस्था के बीच से गुजर रही है, वह भयंकर है। हमारे यहां के किसानों की जो दुर्दशा है, वैसी दुनिया में और कहीं देखने को नहीं मिलती। करोड़ों आदमी हमारे यहां आधे नंगे और आधे भूखे हैं। हम कब तक उन्हें इस स्थिति में पड़े रहने देंगे? इस बात को समझने के लिए बहुत पेचीदे आंकड़ों की जरूरत नहीं है कि खेती और उद्योग-धन्धों के सन्तुलन से भारत को बेहद फायदा पहुंचा सकता है। भारतवर्ष की स्वाभाविक उन्नति के लिए यह जरूरी है, जरूरी ही नहीं अत्यन्त जरूरी है।

जहां तक उद्योग धन्धों का सम्बन्ध है, उन्हें हम तीन श्रेणियों में बांट सकते हैं। बड़े-बड़े उद्योग धन्धे, छोटे उद्योग-धन्धे और ग्रामोद्योग। जो भी भारत की औद्योगिक उन्नति का इच्छुक है, वह बगैर इन तीनों तरह के उद्योग-धन्धों को ध्यान में रक्खे ठीक नतीजे पर नहीं पहुँच सकता। इसके अतिरिक्त औद्योगिक उन्नति के लिए हमें और जिन बातों की ओर ध्यान देना होगा वे हैं—सरकारी महसूल, माल लाने ले जाने की सुविधाएं और सरकारी मुद्रा नीति।

मैं नहीं समझता कि मुझे इस बात के बताने की ज़रूरत है कि इनमें से कोई एक असुविधा भी हमारी औद्योगिक उन्नति को रोक सकती है। पिछली प्रान्तीय सरकारों ने भारत के औद्योगीकरण को लेकर काफ़ी सरगर्मी दिखाई और तरह-तरह की सुविधाएँ दीं। किन्तु तिस पर भी भारत की औद्योगिक उन्नति, सरकारी महसूलों, यातायात की असुविधाओं और सरकारी मुद्रा-नीति के कारण जैसी उम्मीद थी वैसी नहीं हो पाई। मौजूदा शासन व्यवस्था पर बहस करते समय लन्दन में राउण्डटेबुल कान्फ्रेंस में यह साफ़-साफ कहा गया था कि प्रान्तीय स्वायत्त शासन में चाहे जितने अधिकार बढ़ाये जायं मौजूदा विधान के अनुसार आर्थिक दृष्टिकोण से देश की ज़रा भी उन्नति नहीं की जा सकती; यह विधान देश को एक इंच भी आगे नहीं बढ़ा सकता। प्रान्तीय कांग्रेसी सरकार ने ग्रामोद्योगों के सम्बन्ध में काफी दिलचस्पी दिखाई, किन्तु ग्रामोद्योगों में लगे हुये लोगों की हालत दिन ब-दिन बदतर ही होती जारही है। हर शख्स चाहता है कि गांव के धन्धों को फायदा पहुँचाया जाय, लेकिन लाभ की कोई सूरत नज़र नहीं आती। गांव के उद्योग-धंधे लगातार क्षीण होते जा रहे हैं। ग्रामोद्योगों के सम्बन्ध में सारे देश के लिये कोई आम नियम बना लेने से भी काम नहीं चलेगा। हर ग्रामोद्योग को उसकी तह तक जाकर देखना होगा, उसकी समस्त दिक़्क़तों को समझ कर उसके कारीगरों को मदद देना होगा। बहुत से लाल बुझक्कड़ हमें बताते हैं कि पश्चिम के देशों में भी ग्रामोद्योगों का इसी तरह ह्रास हुआ और ग्रामोद्योगों के साथ इस सहानुभूति से कोई ख़ास फ़ायदा नहीं है। किन्तु भारत के साथ पश्चिम के इन देशों की तुलना निहायत अनुचित है। पश्चिम के देश ग्रामोद्योगों के बन्द हो जाने के कारण अपने यहां के बेकार कारीगरों को नये नये कारखानों में लगाने की व्यवस्था करते हैं। भारत एक ग़ुलाम देश है। अपने बेकार कारीगरों को कल कारख़ानों में लगाना उसके वश की बात नहीं। लेकिन यदि हम स्वतन्त्र भी होते तब भी हम अपने यहां के गावों के कारीगरों को मशीनों के काम में नहीं लगा सकते। लोग यह समझते हैं कि मशीन युग में इतनी बड़ी मिक़दार में चीजें बनती हैं और सस्ती चीज़ें बनती हैं कि उसकी तुलना में हाथ से बनी हुई चीज़ें महंगी पड़ती हैं। और आज कल ग़रीबी की दशा में हाथ की बनी हुई इन महंगी चीज़ों की खपत की कोई गुंजाइश नहीं दिखाई देती। मैं इससे सहमत हूं और पसन्द करता हूं कि हम अपने देश को शीघ्र से शीघ्र मशीनों से भर दें। किन्तु प्रश्न यह है कि जब तक भारत का पूर्ण औद्योगीकरण सम्भव नहीं तब तक हमें ऐसे ग्रामोद्योगों को मदद देनी होगी जो अपने पैरों ख़ुद नहीं खड़े हो सकते। बल्कि पूर्ण औद्योगीकरण के बाद भी ग्रामोद्योगों की हमें ज़रूरत रहेगी। फिर हमारा यह पवित्र

कर्तव्य है कि हम अपने देश के कुशल कारीगरों की रक्षा करें, क्योंकि वे देश की अमूल्य निधि हैं।

भारत की औद्योगिक उन्नति के सम्बन्ध में कुछ और ज़रूरी बातों का इशारा कर देना भी आवश्यक है। कहा जाता है कि पूंजीपति और मज़दूरों के बीच एकता सम्भव नहीं है। मुझे पूरा विश्वास है कि औद्योगिक उन्नति के लिये भरपूर मज़दूरी देने की आवश्यकता है। जब तक मज़दूरों को सतोष न होगा तब तक आपसी मनमुटाव दूर न होगा। इसका यह अर्थ नहीं कि पूंजीपतियों के सिर पर एक नङ्गी तलवार लटकती रहे और उन्हें बिलकुल चूस लिया जाय। हमे खुशहाल मजदूरों और विश्वासी पूंजीपतियों की जरूरत है, और उन्हीं दोनों के मेल से भारत में औद्योगिक उन्नति हो सकेगी। यही बात सरकार को भी ध्यान मे रखनी चाहिये। यदि सरकार इस सम्बन्ध में मजदूरों और कारखाने वाले, दोनों के हितों को ध्यान में रखकर कोई निश्चित क़ानून बनाये, जिससे मजदूरों की रक्षा हो और पूंजीपतियों का भी विश्वास बढ़े, तो भारत में औद्योगिक उन्नति मे बाधा नहीं पड़ सकती, किन्तु ये क़ानून अलग-अलग सूबों में अलग-अलग नहीं होने चाहियें। ये क़ानून सारे हिन्दुस्तान के लिये एक होने चाहियें। यदि अलग-अलग प्रान्तों के अलग-अलग कानून बनाये गये तो इसमे केवल ईर्षा ही बढ़ेगी और इन्तजाम में गड़बड़ी मचेगी। यदि यन्त्र चलित उद्योगों को बढ़ाना है और उन्हें अवश्य बढ़ाना चाहिये, तब हमें सारे भारत के लिये एक से क़ायदे और औद्योगिक उन्नति की एक पूरी तजवीज़ (प्लैनिंग) की जरूरत है। खुशहाल मजदूर और विश्वासी पूंजीपति ये दो पहिये हैं, जिस पर उद्योग का रथ बग़ैर किसी रुकावट के आगे बढ सकता है। इसके लिये समझ, व्यवस्था, सद्भावना और उचित क़ानूनों की जरूरत है।

एक वंश के हैं

हिन्दू और मुसलमान एक वंश के हैं। वे सारे देश में, यद्यपि विषम रूप से, फैले हुए हैं। वे एक भाषा बोलते हैं: बंगाल में बंगाली, गुजरात मे गुजराती। वस्तुतः उन्होंने एक दूसरे की पूजाविधि का सम्मान किया है, और एक संस्कृति का विकास करने का यत्न किया है, जो कि न हिन्दू है न मुस्लिम है, बल्कि भारतीय है। कला और स्थापत्य में, संगीत और चित्रकारी में और धर्म तक मे दोनों के विश्वासों का विष्कम्भक स्पष्ट दिखाई देता है। कबीर, नानक, दादू, चैतन्य और तुकाराम की शिक्षाएँ और सूफी रहस्यवाद का विकास उस एकता की भावना को प्रकट करता है, जिसमे कि धार्मिक नेता काम करते थे। भारत के लाखों गाँवों में हिन्दू और मुसलमान एक ही रीति से खुशियाँ मनाते हैं। उनके खेल और मनोरंजन की चीजें एक हैं। वे एक दूसरे के उत्सवों में भाग लेते हैं और ग्रामजीवन के सामान्य उद्देश्य को पूरा करते हैं। राजनीतिक संग्राममें भी हिन्दू और मुसलमान साथ-साथ लड़े हैं।

—सर्वपल्ली राधाकृष्णन

ग्रामीण अर्थ-शास्त्र

सर टी विजयराघवाचार्य

इधर पिछले वर्षों में भारतवर्ष में अभूतपूर्व ग्रामोन्नति दिखाई दे रही है। ग्राम-सुधार और ग्राम पुनर्निर्माण के नारे चारों ओर बुलन्द हो रहे हैं। ग्रामों को उन्नत बनाने का यह कार्यक्रम कोई नया नहीं है। हिन्दुस्तान की सभ्यता सदा ग्रामोन्मुखी ही रही है, लेकिन जब से कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने मुख्तलिफ प्रान्तों में हकूमत की है, तब से गावों की ओर लोगों की तवज्जह काफी हो गई है। विविध प्रान्तीय सरकारों ने गावों की तरक्की के लिये अलग-अलग महकमे खोल दिये हैं और इसके लिये प्रान्तीय अफ़सर भी मुक़र्रर कर दिये गये हैं।

अकसर यह सवाल उठाया जाता है और इस पर बहसें भी होती हैं कि क्या लगभग सौ वर्षों में भारत में किसानों ने कोई उन्नति की है? मुझे भी इन गरमागरम वाद-विवादों में उपस्थित होने का अवसर मिला है। बहस के बाद जब जब वोट लिये गये हैं, तो मैंने देखा है कि प्रस्ताव के विपक्ष में ही सदा फैसला हुआ है। इसका अर्थ यह है कि भारत में बहु सख्यक किसानों की अवस्था में कोई सुधार नहीं हुआ है। प्रस्ताव के विपक्ष में जो लोग हैं वे अपनी दलील इस तरह शुरू करते हैं—भारत की उपजाऊ ज़मीन में सदियों से खेती हो रही है और वास्तव में जब तक इनसान की याद काम देती है, तब से आज तक भारत में खेती हो रही है। हज़ारों वर्षों से खेती के कारण ज़मीन की पैदावार की ताक़त क़रीब-क़रीब ख़त्म हो गई है और परिणाम स्वरूप दिन-ब-दिन खेती के धन्धे में अवनति होती आ रही है। मद्रास के एक पुराने रेवन्यु आफ़ीसर की हैसियत से मैं तञ्जोर डेल्टा की हालत से भली भांति परिचित हूं। तञ्जोर के डेल्टा में हिन्दुस्तान में अत्यन्त प्राचीन काल से खेती होती आ रही है। इस डेल्टा की भूमि बेहद उपजाऊ है और 'चोल राज्य के हृदय' के नाम से प्रसिद्ध है और आज दिन भी उसी तरह उपजाऊ है, जैसी कि पुराने ज़माने में थी। दुर्भाग्य से इस बात के कोई आंकड़े नहीं रखे गये हैं कि पिछले ज़माने से अबतक किस मिक़दार में वहाँ फ़सल की पैदावार हुई है। ताहम लोगों से पूछ-ताछ कर जो बातें मैंने मालूम की हैं, उनको देखते हुये इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि ज़मीन की पैदावार में किसी तरह की कमी हुई है। इस सबसे क्या अर्थ निकलता है?

लार्ड लिनलिथगो की सदारत में किसानों की जाँच के लिये एक रायल एग्रिकल्चर कमीशन मुक़र्रर हुआ था। उसने ज़मीन की घटती हुई पैदावार के बारे में काफ़ी जाँच-पड़ताल की थी। इस जाँच पड़ताल के बाद कमीशन इस नतीजे पर पहुँचा था कि जिस खेत में हर साल फसल बोई जाती है और कटाई के बाद उसमें खाद नहीं दी जाती, उस खेत में भी फ़सल की छूटी हुई जड़ों तथा कुछ प्राकृतिक कारणों से पैदावार का एक सिलसिला बंध जाता है, फिर चाहे वह पैदावार कम ही क्यों न हो।

ऊपर के इस निष्कर्ष में, मैं नीचे लिखी बातें और जोड़ना चाहूंगा—कि हमारे यहाँ के किसानों को किसानी का अनुभव उत्तराधिकार में मिला है। यह सही है कि वे बे पढ़े लिखे हैं और अशिक्षा ने इनको बुरी तरह से जकड़ रक्खा है; फिर भी वे जहाँ तक किसानी का सम्बन्ध है, बेहद समझदार और होशियार होते हैं। उनके पास अटूट व्यावहारिक ज्ञान होता है। फसलों को किस तरह अदल-बदल कर बोना चाहिये इसे वे खूब जानते हैं। वे यह समझते हैं कि जहाँ नदियाँ बाढ़ के साथ मिट्टी नहीं लातीं, वहाँ उसी खेत में एक ही फ़सल को बार बार बोने से ज़मीन की ताक़त घट जाती है। वे यह भी खूब जानते हैं कि कौन-सी फ़सल के बाद कौन-सी फसल

बोने से ज़मीन की पैदावार बढ़ जाती है। होशियार सरकारी अफ़सर उन्हें इस सम्बन्ध में कोई नई बात नहीं सिखा सकते। किसान अक्सर मिलवा फ़सल बोते हैं। चने के साथ मटर, जौ, गेहूँ, सरसों, अलसी, लाही और अन्य तिलहन बोया जाता है। मिलवाँ बोआई से अधिक खेतों की पैदावार की शक्ति को बराबर क़ायम रखने वाली कोई दूसरी चीज़ नहीं है। वैज्ञानिक हमें बताते हैं कि भारत के खेतों में नाइट्रोजन नामक रसायन की बेहद कमी है, किन्तु यह कमी फ़सलों की पत्तियों और जड़ों द्वारा, ख़ासकर अरहर या तुअर की पत्तियों और जड़ों से बहुत परिमाण में दूर हो जाती है।

एक बात और हमें ध्यान में रखना चाहिये कि कृषि में न केवल फ़सल पैदा करना ही है, बल्कि पशु-पालन, घी, दूध वग़ैरह बनाना भी शामिल है।

हिन्दुस्तान में लोग इस बात को अक्सर भूल जाते हैं और यही हमारी बहुत-सी मुसीबतों का कारण है। इङ्गलिस्तान में हर किसान खेती के साथ साथ अपने यहाँ के पशुओं की बढ़ती की ओर भी उतना ही ध्यान देते हैं। शुरू-शुरू में इङ्गलिस्तान में मनुष्यों के लिये जो अनाज पैदा किया जाता था, उसी में से पशुओं के लिये चारा निकाल लिया जाता था; किन्तु १८ वीं सदी से वहाँ बारी-बारी से मनुष्यों के अनाज और पशुओं के लिये चारे का प्रबन्ध होने लगा है। पहले वहाँ गेहूं बोया जाता है, फिर शलजम, फिर जौ, और उसके बाद तिपतिया घास। शलजम और तिपतिया घास जानवरों को खिलाई जाती है और गेहू और जौ मनुष्यों के लिये होता है। उसके कारण न केवल पशु ही हृष्ट पुष्ट होते हैं बल्कि खेतों के लिये अधिक खाद भी तैयार होती है और खाद अधिक होने से गेहूं और जौ की फ़सल भी अच्छी होने लगी है। सर जान रसल लिखता है—"पशुओं की तादाद जितनी बढ़ाई जाय, उतनी ही खाद बढ़ेगी, जितनी खाद बढ़ेगी उतनी ही फसल बढ़ेगी और जितनी फ़सल बढ़ेगी उतने ही पशु बढ़ेंगे।"

दुर्भाग्य से हिन्दुस्तान के अन्दर थोड़े बहुत लोगों को छोड़ कर किसानों का बहुमत खेती, और पशु पालन में अधिक सम्बन्ध नहीं देखता। पिछले एक सौ वर्षों मे भारत की जन संख्या बेहद बढ़ जाने के कारण खेती पर भार भी बेहद बढ़ गया है। खेती की जमीन में काफ़ी फैलाव हुआ है। इस नई बढ़ी हुई जोत के लिये बजाय इसके कि बैलों की नसल को सुधारा जाता, केवल उनकी तादाद ही बढ़ाई गई। नतीजा यह हुआ कि खेती के बैलों की नसल घटिया हो गई। उसको कैसे सुधारा जाय यह एक समस्या है। जब तक हमारे बैलों की नसल अच्छी न होगी, तब तक हमारे किसान खुशहाल नहीं हो सकते। *हमारा आदर्श होना चाहिये—थोड़े मे पशु* हों किन्तु हों सबल और उन्हें काफ़ी पुष्ट खाना दिया जाय। भारत के किसानों के लिये ज़मीन की उत्पादक शक्ति और अच्छे पशु, ये दो मुख्य समस्याएं हैं। इनके अतिरिक्त भारत जैसे उष्ण देश में प्यासी जमीन की सिंचाई भी बेहद महत्व रखती है। ब्रिटिश भारत की कुल खेती की ज़मीन का ⅙ हिस्सा ३०० विविध नहरों द्वारा सींचा जाता है। यह रक़बा लगभग तीन करोड़ एकड़ होगा। ५० वर्ष पहले सरकारी नहरों से केवल १५ लाख एकड़ खेती सींची जाती थी। सिंचाई का रक़बा बढ़ जाने से निःसन्देह खेतों की उपज में भी काफ़ी वृद्धि हुई है और दुष्काल से बचने का भी अमोघ साधन निकल आया है। सरकारी आँकड़ों से पता चलता है कि नहरों से सींची जाने वाली ज़मीन में प्रति वर्ष जो फ़सल पैदा होती है, उसकी क़ीमत लगभग एक अरब रुपया है।

दुष्काल की बात से मेरे दिमाग़ में रेलों की बात आ गई। रेलें देश के एक हिस्से को दूसरे हिस्से से जोड़ने की बहुत बड़ी साधन हैं। रेलों के ज़रिये ही शीघ्र अकाल-पीड़ित स्थानों में नाज पहुँचाया जा सकता है, या जहाँ ज़्यादा अनाज होता है वहाँ से दूसरी जगह अनाज भेजा जा सकता है। रेलों द्वारा आयात-निर्यात का प्रबन्ध होने के कारण किसान

अनाज का अधिक से अधिक दाम पा सकता है। बदक़िस्मती से किसानों की इस आमदनी का बहुत बड़ा हिस्सा थोक दलाल और व्यापारी हड़प कर जाते हैं। यदि गाँवों के अन्दर स्थान-स्थान पर बाज़ार लगने लगें और गावों की सड़कों को ठीक कर दिया जाय, तो किसानों के पास अपने ग़ल्ले की आमदनी का बहुत-सा हिस्सा बचा रह सकता है। जबसे मोटर बसें निकली हैं, तब से किसानों के रहन-सहन में भी खासा फ़र्क़ हुआ है। वे नजदीक के शहरों में जल्दी से जल्दी जा सकते हैं और सिनेमा, होटलों और चाय के प्यालों द्वारा आधुनिक सभ्यता की धुंधली तस्वीरों का आनन्द ले सकते हैं।

हमारे वैदेशिक व्यापार में रुई, पाट, मूगफली आदि मुख्य हैं। यह सही है कि इसके फ़ायदे का बहुत बड़ा भाग दलाल, व्यापारी और जहाजियों के पास चला जाता है फिर भी यह सच है कि जहाँ ज्यादा फ़सल होती है और वहाँ के किसान जाहिरा तौर पर और जगहों के किसानों से ज्यादा सुखी हैं। अनेक गावों में हमारे देखते-देखते फूस के झोपड़ों की जगह खपरैल के मकान दिखाई देने लगे हैं। जो किसान वधुएं पहले पीतल और गिलट के गहने पहनती थीं, वे अब चांदी के ज़ेवर पहिनने लगी हैं। जहाँ पर छोटे-छोटे गाव थे, वहाँ अब अच्छे खासे क़स्बे दिखाई देने लगे हैं। भारत में चीनी के उद्योग की बढ़ती के साथ-साथ जहां जहां ग्रामीण क्षेत्रों मे चीनी की मिलें बन गई हैं, वहाँ के किसानों की हालत में यथेष्ट आर्थिक सुधार हुआ है।

उपरोक्त बातों से हम इस नतीजे पर पहुंच सकते हैं कि यातायात के सुधार से, नई-नई हाटें खोलने से, और दूसरी वैज्ञानिक खोजों से हम किसानों की स्थिति को बेहतर बना सकते हैं।

एक समय था जब हम समझते थे कि खेतों की उन्नति के लिए मशीनों का प्रयोग बहुत ज़रूरी है, किन्तु पिछले महायुद्ध के बाद से ही यूरोप में भी लोगों की इस धारणा में काफी परिवर्तन हुआ है। गावों में मामूली हलों और दूसरे औज़ारों, मिलवाँ-जुलवाँ फसलों, पशु पालन आदि में भी एक अपने क़िस्म की अच्छाई है। आज कल अर्थशास्त्री इस बात पर ध्यान ही नहीं देते कि मशीनों के परिचालन से जो लोग बेकार हो जायगे, उनका क्या होगा। हमारे पुराने ज़माने के लोगों ने इस पर काफ़ी ध्यान दिया था। सभी बातों को ध्यान में रखते हुए हमारे देश में मशीनों के द्वारा खेती करने को सदिग्ध दृष्टि से देखा जा सकता है।

राजनैतिक वीरता

कहा जाता है कि हम हिन्दुओं ने अपने मुसलमान भाइयों को हद से ज्यादा दे दिया है। मुझे विश्वास है कि यह कहने में कि हमारे लिये हद से ज्यादा देना मुमकिन ही नहीं था, मैं सारे हिन्दुस्तान भर की हिन्दू जाति का विचार व्यक्त कर रहा हूँ। स्वराज्य के अधिकार यदि अकेले मुसलमानों को ही बख्श दिये जांय तो भी मुझे परवाह नहीं, अगर वे राजपूतों को इनायत किये जांय, तो भी चिन्ता नहीं, यदि अछूत जातियों को दिये जांय तब भी हर्ज नहीं। क्योंकि उस हालत में, आज की तरह तिकोना संघर्ष तो नहीं रहेगा।

—लो० तिलक

इम्तिहान

श्री किशोर साहू बी ए.



वकालत के इम्तिहान में जब कैलाश लगातार दो मरतबा फेल हो गया तो पिता जी ने झुंझला कर माजी से कहा—"कहता न था मैं कि ज़रा ठहर जाओ, अभी लड़के की शादी न करो, पहले उसे लॉ कर लेने दो; मगर तुम्हें तो बहू घर में लाने की पड़ी थी। लो, अब आरती उतारो अपने बेटे की।"

"ऐसा क्या गजब हो गया जो तुम तिल का ताड़ बना रहे हो?" माजी भी बिगड़ पड़ीं। "दुनिया में जैसे और किसी का लड़का फेल हुआ ही न होगा। पढ़ा तो था बेचारे ने।"

"जी हाँ, खूब पढ़ा था। दिन-रात बहू के आस-पास चक्कर काटने से कोई इम्तिहान पास नहीं हो जाता। जब देखो तब ग्रामोफोन बज रहा है, कैरम खेला जा रहा है मोटर पर सैर हो रही है—आखिर पढ़ाई के लिये वक्त मिले भी तो कैसे मिले?"

"ज़रा तुम अपनी तो कहो। तुम्हीं ने कौन तीर मार लिया था। मेरे आने के बाद वे दिन भूल गये जब सारा वक्त मेरे पास बैठे बैठे मेरे पेटीकोट सिया करते थे? आखिर तक तो बी० ए० पास कर न सके।"

"आपकी कृपा के लिये मैं आभारी हूं," पिताजी ने ताना कसा। "मगर अब अपने बेटे की जिंदगी तो न बिगाडो। मेरा तो निभ ही गया जैसे तैसे।"

"ईश्वर उसका भी निभा देगा," माजी ने कहा फिर मुसकरा कर बोलीं "खुद तो बी० ए० में तीन बार फेल हुए थे; क्या वह बेचारा वकालत में दो बार भी न हो?

अपनी बातों का कुछ असर न होते देख पिता जी ने ज़रा और ज्यादा गम्भीर सूरत बनाकर, बुझा हुआ चुरुट फिर से सुलगाया। "देखो जी," उन्होंने कहा, "बात हँसी में न ले जाओ। लड़के की जिंदगी का सवाल है। अगर इस तरह एक बार फेल हुआ तो उसका हौसला ही जाता रहेगा। कहे देता हूं, बिना लॉ किये कोई चारा नहीं। वे दिन गए जब नौकरी खुद सर के बल दौड़ी चली आती थी।"

मा जी की समझ में पिता जी की बात तो नहीं आई, परन्तु उन पर उनकी गम्भीर आवाज़ का असर अवश्य हुआ। "तो तुम आखिर चाहते क्या हो?" वे बोलीं।

"यही कि अबकी बहू को मायके भेज दिया जाय और जब तक कैलाश का इम्तिहान खतम न हो जाय, उसे वापस न लाया जाय।"

पिता जी का यह विचार मा जी को बिलकुल अनुचित जान पड़ा। यह तो कैलाश और बहू के प्रति ज्यादती होगी, अन्याय होगा। मगर पिता जी का

चुरुट सुलग चुका था, उनके मुंह और नथनों से गाढ़ा गाढ़ा धुआं निकल कर मूछों के घने बालों में लिपट रहा था। बात काटने की मां जी की हिम्मत न हुई। बात काटना था भी बेकार। अब तो वह हो कर ही रहेगी, क्योंकि बहू ने ये बातें जरूर सुन ली होंगी। दरवाज़े की आड़ में होती हुई चूड़ियों की खनखनाहट उसकी उपस्थिति की काफ़ी बड़ी सूचक थी।

चाय की प्याली लिए बहू अन्दर आई और पिता जी को पकड़ाकर चुपचाप चली गई।

चुरुट के सिरे पर जमी हुई राख की लम्बी तह की ओर देखते हुए पिता जी ने धीरे से कहा—

"शायद सुन लिया बहू ने।"

"सुनेगी नहीं! ऐसी बातें भला इतने ज़ोरों से चिल्ला कर कही जाती हैं!⋯ ⋯ न जाने मन में क्या समझती होगी बेचारी।"

पिता जी को अब पश्चाताप होने लगा। गुस्सा उन्होंने चुरुट पर निकाला। न मां जी पर रोब जमाने के लिए वे चुरुट सुलगाते और न आवाज ही उनकी उतनी ऊंची चढ़ती। मन ही मन खीझ कर उन्होंने चुरुट फेंक दिया और प्याली मुंह से लगाई। गर्म चाय से जीभ झुलस जाने पर उन्हें होश आया कि व शाम की चाय पी रहे हैं सुबह की लस्सी नहीं।

"तशतरी में ऊंडेल लो न," माजी ने अपनी हंसी को रोकते हुए कहा। "ऐसी गर्म गर्म क्यों पी रहे हो?

"क्यों गर्म चाय पीना क्या गुनाह है!" पिता जी तमक उठे।

"पीयो, मेरा क्या। तुम्हारे ही भले के लिए कह रही थी कि कहीं मुंह-ऊंह न जला बैठो"

झुलसी हुई जीभ ऐंठ रही थी मगर पिता जी की अकड़ कम न हुई। "आदमी चाय पीए तो गर्म पीए," उन्होंने कहा, "वरना तुम्हारा बनाया हुआ केवड़े का शरबत क्या बुरा है!"

"अच्छा, अच्छा बाबा शौक से पीयो। कहो तो और लाऊं बना कर एक प्याली उबलती हुई।"

पिता जी को अब सच में गुस्सा आ गया। "जाओ जी यहां से, अपनी यह टें टें बन्द करो" उन्होंने कहा।

"यह लो मैं अभी चली पर जरा उधर तो देख तुमने यह क्या कर दिया।

पिता जी ने देखा मोढे के पास ही धुएं की पतली-सी एक लकीर ऊपर को उठ रही है। लपक कर उन्होंने वहां पड़ा हुआ चुरुट उठा लिया, लेकिन अभी खरीदे हुए उनके बढ़िया बहुमूल्य क़ालीन में सूराख पड़ चुका था।

"तुम भी खड़ी देखती रहीं। पहले भी नहीं बतलाया!" चाय की प्याली में चुरुट बुझाते हुए पिता जी ने मां जी को फटकारा। "लो अब तो दिल की हुई तुम्हारे!"

मगर जवाब देने के लिए वहां था कौन! मांजी तो कब की चलती बनीं।

पिता जी उबल उबल कर रह गए। 'लीडर' को जिसमें लॉ फाइनल का रिजल्ट छपा था—उन्होंने दूर दे मारा। हवा के झोंके से उड़ कर अखबार कमरे के कोने में रखी हुई एक तिकोनी मेज के पैरों से जा लिपटा और ज़ोर ज़ोर से वहां फड़फड़ाने लगा। दिल की आग बुझाने के लिए पिता जी को दूसरा चुरुट सुलगाना पड़ा। 'नहीं, बहू को मायके भेजना ही होगा,' उन्होंने मन में कहा। 'ऐसे तो कैलाश जन्म भर इम्तिहान देता रहे, कभी पास न होगा।'

पास न होने का ग़म पिताजी से भी ज़्यादा कैलाश को हुआ—इसलिये नहीं कि उसका एक साल और जाता रहा, बल्कि इसलिये कि उसके फेल होने का मूल कारण अपने को समझ माया बहुत दुखी हो गई। कैलाश से आँख तक, अब वह नहीं मिलाती। "ऐसी स्त्री किस काम की जो पति की उन्नति में बाधक हो," उसने एक दिन कैलाश से कहा।

"तुम ऐसा क्यों समझती हो कि मेरी उन्नति में तुम बाधा बनी हो!"कैलाश ने पूछा।

"और नहीं तो क्या!" माया बोली। "मेरे इस घर में आने से पहले तो तुम कभी फेल नहीं हुये थे।"

"तो इसमें ताज्जुब की क्या बात है?" कैलाश मुस्कुराया। "तुम्हारे जैसी उर्वशी पाकर भी अगर मैं इम्तिहान पास कर जाता, तो इससे बढ़कर तुम्हारा और कोई अपमान न होता। मेरा फेल होना हमारे सुखी दाम्पत्य जीवन का सुबूत है। समझीं?"

"जी, मगर वह सुबूत तो तुम पिछले साल ही दे चुके थे। क्या उसका इस साल भी दोहराना जरूरी था?"

कैलाश ठहाका मारकर हँस पड़ा। "देखो, माया देवी, नाराज न हो," वह बोला। "अपनी युनिवर्सिटी की क़सम खा कर कहता हूं कि अब की पास हुये बिना न रहूँगा। बस?"

"यही तो अच्छा नहीं लगता जो तुम हमेशा बात हँसी में उड़ा दिया करते हो। मा जी, पिता जी मन में क्या कहते होंगे?"

"यही कि लड़का बड़ा होनहार निकला—युनिवर्सिटी एक्जामिनेशन तक उसकी असीम पत्नि भक्ति में खलल न डाल सका।"

बहुत कोशिश करने पर भी माया हँसी न रोक सकी। "जाओ, मैं अब तुम से कभी न बोलूँगी," उसने कहा।

आँचल पकड़ कर कैलाश उसे अपनी ओर खींचता हुआ बोला "अरे नहीं, ऐसा करोगी तो ग़ज़ब हो जायेगा! सच मानो, इस बार ज़रूर पास हो जाऊंगा। एक मौक़ा और दो।"

"ना, मुझे तुम्हारी बातों पर अब विश्वास नहीं होता। मैं जानती हूं मेरे यहाँ रहते तुम कभी पास नहीं हो सकते।"

"तो फिर क्या किया जाय? हिन्दू लॉ इजाज़त नहीं देता वरना तुम्हें तलाक़ दे दिया होता।"

"कुछ दिनों के लिये मैं मायके चली जाती हूं। तुम्हारा इम्तिहान ख़त्म हो जाने पर चली आऊंगी।"

"यह अक्लमन्द सलाह शायद तुम्हें पिता जी ने दी है?"

"वे क्यों देने लगे? मैं ही कर रही हूं।"

कैलाश को बात पसन्द न आई। आती भी कैसे? साल भर माया से दूर रहना, उसके लिये अकल्पनीय था। परन्तु माया ने जब उसके गले में बाह डालकर उसके बालों को सहलाते हुए समझाया कि वह साल भर के लिये नहीं बल्कि सात, आठ महीनों के लिये जा रही है और इम्तिहान ख़त्म होते ही लौट आयेगी, फिर दशहरा, दिवाली, क्रिसमस की छुट्टियों में वह उसे देखने आता रहेगा, तो बड़ी हिम्मत करके कैलाश राजी हो गया।

जाने से पहले माया ने कैलाश से वचन ले लिया कि वह बराबर पढ़ता रहेगा। लेकिन जब वह चली गई तो पढ़ाई और भी मुहाल हो गई। माया की उपस्थिति में तो वह पढ़ने ही बहुत कम बैठता था। मगर जब भी कभी वह किताब हाथ में लेता—चाहे अल्प समय के ही लिये क्यों न हो—उसकी तीव्र बुद्धि में एक एक अक्षर बराबर उतर जाता था। और अब—जब से उसकी माया मायके चली गई है—तमाम दिन किताबों में वह आँख गड़ाए रहता है, परन्तु समझ में ख़ाक नहीं आता। किताबों के काले काले अक्षर चिऊँटियों की तरह क़तार बाँधे उसकी नज़र के सामने से निकल जाते हैं। मिनटों गुजर जाते और वह पन्ना न उलट पाता। और जब उलटता तो बहुधा पीछे की ओर!

कैलास—माया के शयनागार को कैलाश का पाठागार बनाने के हेतु, वहाँ लटके हुये रोमांटिक चित्रों को हटाकर पिताजी ने धीरे धीरे उनके स्थान पर शंकरजी, हनुमान जी, गणेश जी आदि देवताओं के चित्र लगा दिये। परन्तु देखना गया भी कैलाश की सहायता करने में असमर्थ रहे। दीवारों पर टँगे टँगे वे ऊँघा करते और कैलाश किताबों के पन्नों में माया का चेहरा देखा करता .....

ऊपर के कमरे में रात बड़ी देर तक बिजली जलती देख, एक दिन खुश होकर पिताजी ने माजी से कहा : "देखा, अब कैसे पढ़ाई हो रही है! कहता न था मैं कि बहू के जाने पर अपने आप ठीक हो जायेगा ?"

"कौन जाने पढ़ाई हो रही है या चिट्ठी लिखी जा रही है" माजी ने कहा, फिर भौं चढ़ा कर बोलीं "बहू को भेजकर घर सूना करके रख दिया तुमने तो !"

पिताजी जानते थे कि दिल का गुबार निकालने का माजी मौक़ा ढूंढ रही हैं। अगर उन्होंने एक लफ़्ज़ भी मुंह से निकाला तो आज उनकी ख़ैरियत नहीं। अतएव जल्दी से चुरुट सुलगा कर उन्होंने विषय बदल दिया।

दिन गुजरने लगे। दशहरा आया, फिर दिवाली; फिर क्रिसमस। तीनों छुट्टियों में कैलाश माया से मिल आया। कैलाश के लाख छिपाने पर भी माया ने ताड़ लिया कि पढ़ाई नहीं हो रही है। पिछली बार अपनी क़सम देकर उसने कहा था कि पढ़ने में वह मन लगाये। "अब मैं तब तक तुम से नहीं मिलूंगी जब तक तुम्हारा रिजल्ट आउट नहीं हो जाता—जब तक तुम पास नहीं हो जाते।" कैलाश जानता था माया बात की पक्की है। अगर इस बार वह फिर फ़ेल हो गया तो उसे बिना माया के एक और लम्बा साल काटना होगा। इस विचार मात्र से ही उसका दिल काँप उठा। नहीं, जैसे भी हो, उसे इम्तिहान पास करना ही होगा। माया को पाने के लिये माया को भूलना होगा। विपत्ति की आशङ्का कर जब कमजोर आदमी उसका सामना करने के लिये कमर कसता है, तो सच में, विश्वास नहीं होता कि कभी वह कमजोर भी था। उसकी इस अचानक दिलेरी की मुहर उन लोगों तक के दिलों पर लग जाती है, जो अपने को दुनिया के सामने बुलन्द हौसला क़रार दिये बैठे हैं। कैलाश ने पढ़ाई में दिन और रात एक कर दिये।

नाक बन्द करके जिस तरह रोगी एक साँस में कैस्टरआयल पी जाता है, उसी तरह कैलाश, अपने भावुक हृदय पर गिलाफ़ चढ़ाकर, लौ फ़ाइनल के सारे पर्चे दे आया। और फिर, जैसा कि निश्चित था, उबकाइयाँ आने लगीं। जी होने लगा कि किताबों पर स्टोव का तेल छिड़क कर आग लगा दे। देवताओं के चित्र अपने शयनागार में उसे खटकने लगे। माया के लिये उसका दिल रेत पर पड़ी हुई मछली की तरह, तड़पने लगा। लेकिन जब तक कैलाश के पास होने की ख़बर उसे नहीं मिलती, वह नहीं लौटेगी। कैलाश ने बहुतेरा लिखा परन्तु वह न मानी, और न उसे ही अपने मायके आने की इजाजत दी। कैलाश मन मसोस कर रह गया। उसे पूरी उम्मीद थी कि वह अब की अवश्य पास हो जायेगा। इस अवस्था में रिजल्ट आउट होने तक माया का लौटना उसे मूर्खतापूर्ण जान पड़ा। मन ही मन पिताजी पर वह बहुत झुंझलाया। उसे विश्वास था कि माया से उसे बिछुड़ाने का षड्यन्त्र पिताजी का ही रचा हुआ था। काश उस दिन माया भी यहां मौजूद होती, जिस दिन उसके इम्तिहान का नतीजा निकलेगा—जिस दिन उसकी सफलता का शुभ समाचार मिलेगा! उसकी सफलता का सारा श्रेय जिस को हो, भला क्या उसे ऐसे शुभ अवसर पर अनुपस्थित रहना चाहिये?

कैलाश ने नतीजा निकलने के एक दिन पहले माया को तार देकर ख़बर दी कि वह जल्दी चली आये, उसकी तबीयत ख़राब है। माया ने फ़ौरन जवाब दिया कि वह मेल से रवाना हो रही है। तार देखकर माजी, पिताजी बहुत हैरान हुये, पूछने लगे कि बात क्या है। कैलाश ने कह दिया, बहू आ रही है। पिताजी तो कुछ न बोले, सिर्फ़ चुरुट सुलगा कर रह गये, परन्तु माँजी ने मारे ख़ुशी के, सारा घर सर पर उठा लिया। दूसरे दिन बहुत तड़के ही उठकर कमरों की सफ़ाई आदि शुरू कर दी। सुबह से दुपहर तक कोई बीस मरतबा उन्होंने कैलाश के पास आकर

समय पूछा होगा, जैसे कैलाश के लिये यह सम्भव था कि बहू को लेने स्टेशन जाना वह भूल जाता।

जल्दी जल्दी कपड़े पहन, समय से घण्टा भर पहले ही, बराम्दे में बैठे अखबार का इन्तजार करते हुये पिताजी की आँख बचाकर, कैलाश मोटर लिये स्टेशन को चल पड़ा।

पिताजी सुन्न रह गये जब उन्होंने अखबार में कैलाश का नाम न पाया। यानी इस साल वह फिर गोता खा गया! इतना पैसा, क़ीमती समय फ़िज़ूल नष्ट हो गया! चुरुट सुलगाने लायक सामर्थ्य भी अब पिताजी में न रही। आराम कुर्सी पर बैठे, अखबार के पृष्ठ पर लापाइनल का नतीजा निकला था, वे एक टक घूरने लगे, मानों कैलाश का फ़ेल होना असम्भव है—इसलिये नहीं कि उसने इस साल मेहनत बहुत की थी, बल्कि इसलिये कि इतना कमाए, इतने अनुष्ठान अकारथ नहीं जाने चाहिये थे।

रंज तो माजी को भी हुआ, लेकिन बहू के आगमन की मधुर प्रतीक्षा ने उस रंज पर क़लई कर दी। मोटर की आवाज सुनते ही वे बराम्दे में दौड़ी आई...मगर वहा तो मामला ही कुछ और था। मोटर से अकेला कैलाश ही सर लटकाए उतरा, और, लड़खड़ाता हुआ, बराम्दा, ड्राइंग रूम होता, ऊपर अपने कमरे में जाकर, धड़ाम से पलंग पर गिर पड़ा। किसी भयानक आशङ्का से माजी काँप उठीं।

"क्या हुआ कैलाश? बहू नहीं आई?" उन्होंने पूछा।

कैलाश के चेहरे पर हवाइया उड़ रही थी। 'नहीं, माजी; नहीं आई बहू... .." उसने भर्राई हुई आवाज़ में कहा। "गाड़ी उलट गई —"

"कौनसी गाड़ी?" माजी ने आँचल का छोर मुट्ठी में ज़ोर से कस कर पूछा।

"मेल—जिससे बहू आ रही थी—रास्ते में—उलट गई!"

माजी की छाती पर साँप लोट गया। "हाय राम! मेरा तो घर लुट गया!" वे चीख उठीं और सर पीट कर रोने लगीं।

कैलाश, पागल की तरह आँख फाड़े, माँ जी की ओर देखने लगा, मानो उनके रोने पीटने का सबब वह नहीं जानता। क्या उसकी माया सच में नहीं, ईश्वर ऐसा अन्याय कभी नहीं कर सकता। नहीं! नहीं! ऐसा नहीं हो सकता! ऐसा नहीं होना चाहिए! वह उठ बैठा और बेचैनी से कमरे में टहलने लगा। मुमकिन है उसकी माया बच निकली हो। ओह! लेकिन स्टेशनमास्टर तो कहता था कि सात डब्बे उलटे हैं! वह फिर पलंग पर बैठ गया। आखों से आँसू टप-टप कर उसके कोट के कालर को भिगोने लगे। माया को कितना पसन्द था यह कोट! तभी तो इतना पुराना होने पर भी उसे वह अक्सर पहना करता था। हर तरफ़, कमरे की हर चीज में उसे माया दिखाई देने लगी—वह माया जिसकी आहुति देकर इम्तिहान में कैलाश सफलता प्राप्त कर रहा है! हाय री क़िस्मत! तकिये में मुंह छिपाकर वह रोने लगा।

रोना-बिलखना सुन पिता जी दौड़े आए। "क्या बात है?" उन्होंने साश्चर्य पूछा।

माँ जी से न रहा गया। "बहू बेटे के सुख से ज्यादा तुम्हें इम्तिहान की पड़ी थी! लो, अब रोओ करनी को अपने। हाय राम! कैसी उलटी समझ थी तुम्हारी!" उन्होंने कहा।

"यह क्या बक रही हो? क्या हो गया?" पिता जी ने पूछा।

माँ जी ने रोकर कहा—"मेल गाड़ी उलट गई कहते हैं!"

सहसा कुछ याद कर पिता जी चौंक पड़े। "अरे! मैं बहू का तार देना तो भूल ही गया था" कहते हुए उन्होंने अपने कुरते के जेब से तार का लिफ़ाफ़ा निकालकर कैलाश को पकड़ा दिया। "लिखा है गाड़ी चूक गई। कल निकलेगी मेल से। कैलाश की हालत तार से सूचित करने को कहा है!"

अपने असहनीय दुःख को एक दम निराधार पा, क्षण भर के लिए कैलाश की आखों के आगे अंधियारी छा गई। ऐसी भद्दी ग़लती कर दुख पहुँचाने के लिए माँ जी ने पिता जी को ख़ूब फटकारा।

"मुझे पता ही नहीं कैलाश कब स्टेशन चला गया," पिता जी ने कहा। "अगर मुझसे मिलता तो तार उसे तभी दे दिया होता।" फिर अपनी ग़लती पर पर्दा डालने के इरादे से, बात पलट कर, उन्होंने कैलाश को अख़बार देते हुए कहा—"आज तुम्हारा रिज़ल्ट आउट हुआ है।"

"जी, मैंने देख लिया," अख़बार बाज़ू में रखते हुए कैलाश ने कहा।

"मुझे तुमसे यह उम्मीद न थी, कैलाश ····· यह तुम्हारा तीसरा साल था!" कहकर पिता जी नीचे चले गए।

कैलाश अवाक् खड़ा देखता रह गया। माँ जी ने पास आकर समझाया कि वह दुखी न हो— "जान बची लाखों पाए।" अब कैलाश की समझ में असली भेद आया। पिता जी उसका नाम शायद नहीं देख पाए। अख़बार खोलकर उसने माँ जी को अपना नाम दिखा दिया। युनिवर्सिटी में कैलाश पहले दर्जे में अव्वल आया था और उसका नाम अख़बार में सबसे ऊपर होने की वजह से पिता जी उसे नहीं देख पाए थे। उनकी आँखें तो नीचे नीचे ही भटककर नाउम्मीद हो गईं थीं। माँ जी ख़ुशी से फूल उठीं। "ज़रा ठहरो," उन्होंने अख़बार छाती से लगाते हुए कहा "अभी न बताना उन्हें। तार पहले न देकर ख़ूब रुलाया है उन्होंने हमें। अब हमारी बारी है बदला लेने की। जब तक बहू घर में आ नहीं जाती, तुम्हारे पास होने की ख़बर उन्हें नहीं मिल पाएगी।"

यह ख़याल कैलाश को बहुत पसन्द आया। बड़ी देर बाद उसकी आँखें हँसने लगीं। रैक में से तार का फ़ार्म निकालकर उसने माया के नाम लिखा—

"अच्छा हूँ, फ़र्स्ट क्लास फ़र्स्ट आया, बधाई! तुम्हें लेने मोटर से आ रहा हूँ—कैलाश।"

[कापी राइट लेखक का]

सम्बन्ध और प्रेम

श्री ब्रजमोहन मिहिर

सम्बन्ध चाहे एक के साथ हो या अनेक के साथ, वह कहलायेगा सम्बन्ध ही। एक की सीमा छोटी है और दूसरे की बड़ी। दो व्यक्तियों या दो दलों की इच्छा के बीच समाधान की क्रिया को सम्बन्ध कहते हैं। दो व्यक्ति या दो दल अपने कृत्रिम सम्बन्ध को बनाये रखने की इच्छा से यदा कदा उसमें कुछ सुधार की बातों को भी उपनीत करते रहते हैं; पर ऐसे सम्बन्ध संसार में कभी स्थायी नहीं रहते। जहां पर जीवन की स्वाभाविकता है, वहाँ पर सम्बन्ध या मैत्री का अर्थ व्यर्थ और अनावश्यक है। दो व्यक्तियों या दो दलों की आन्तरिक इच्छा को अधिक समय तक आच्छन्न रखने में इस का मुख्य स्थान है। सम्बन्ध के बीच जब इच्छा, राग, द्वेष, भय, आशा और आसक्ति है तो वह

स्वाभाविक कैसे रह सकता है ? उपरोक्त बातों के न होने पर सम्बन्ध अपनी स्वाभाविक प्रगति में निर्मल और प्रेमयुक्त रहता है। दो व्यक्ति या दो समूह के बीच बिना किसी इच्छा के स्थापित सम्बन्ध में प्रेम अपने नैसर्गिक स्वरूप में विद्यमान रहता है। इसके विपरीत सम्बन्ध से कष्ट उत्पन्न होता है।

हम किसी वस्तु का मान उस समय करते हैं, जब उसकी अस्वाभाविक गति हमारे सम्मुख आती है; जैसे मान में उद्वेग के अधिक बढ़ जाने से 'मैपन" के भाव की प्रतीति होती है। स्वाभाविक सम्बन्ध इच्छापूर्ति की अपेक्षा नहीं रखता। हमारे मन का आन्तरिक सम्बन्ध व्यक्ति या समूह के सम्पर्क में आने से अपना स्थूल रूप धारण करता है। अत. सम्बन्ध का रूप सूक्ष्म और स्थूल दोनों है।

स्थूल रूप में सम्बन्ध जब अपना रुद्र रूप धारण करता है, तो मनुष्य उसे कभी समझने की कोशिश नहीं करता। दूसरों के साथ यदि हम अपने सम्बन्ध की वास्तविकता को समझ लें, तो कृत्रिम समझौते की बात असम्भव हो जायगी। समझौता तो दो निर्बल चीजों में हुआ करता है। सम्बन्ध यदि अनुकूल नहीं है, तो सम्मिलन और अधिक दुःख का कारण होता है। यह भी तथ्य है कि जब तक मनुष्य जीवित है, उसका सम्बन्ध किसी न किसी वस्तु के साथ रहता है। जिन्दा रहना ही सम्बन्धित होना है। पूर्ण प्रथकत्व अज्ञान की दशा है। वहां किसी प्रकार का भाव नहीं रहता। ऐसी दशा में सम्बन्ध या तो प्रतिरोध की दशा में रहता है या वह दूसरों को प्रमूल स्वीकार करता है।

प्रेम, सम्बन्ध या समाधान की कोई वस्तु नहीं है। प्रेम में किसी प्रकार का सम्बन्ध उपेक्षणीय भी नहीं है। सम्बन्ध में क्या कभी अशान्ति का अन्त भी हो सकता है ? यह सम्भव है, पर पूर्व के अनुभवों के बल पर नहीं। अनुभव तो प्राय. मनुष्य के आच्छादित मन की प्रतिक्रिया है, जो सम्बन्ध में संघर्ष उत्पन्न करती है। अपनी आदत वर्तमान सभ्यता और परिस्थिति आदि के आधार पर ही मनुष्य अपने अनुभवों का निर्माण करता है। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक प्रकृति अबाध रूप में कार्य्य नहीं करने पाती।

सम्बन्ध में मनुष्य को अपनी ज्ञात और अज्ञात इच्छाओं पर विशेष ध्यान देना चाहिये। यही सम्बन्ध को कटु बनाती हैं। इच्छा, अज्ञान से उत्पन्न होती है, जिसके अन्दर सदा सुख की लालसा बनी रहती है। इच्छा का कोई भी स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। किसी न किसी प्रकार के सुख पर ही अवलम्बित है। सम्बन्ध में यदि सुख की लालसा और कुछ प्राप्त करने की इच्छा छोड़ दी जाय तो इसका माधुर्य सुलभ हो जाता है। इच्छा, भय, आसक्ति और अन्ध विश्वास के न रहने पर अज्ञान का भी अन्त हो जाता है, जो कि मैत्री स्थापित करने की चेष्टा करता था और बाद में अपनी प्रतिक्रिया से दुःख उत्पन्न करता था।

अज्ञान की बातों से जब हम भली प्रकार परिचित हो जाते हैं, तो हमारे अन्दर स्वत. ही ऐसी चेष्टा उत्पन्न होती है, जिससे हम उन प्रतिरोधों को समझने में समर्थ हो जाते हैं। स्वाभाविक सम्बन्ध बुद्धि में जागरण उत्पन्न करता है। बुद्धि की यह चैतन्यावस्था ही प्रेम है। इससे हमारे मन और हृदय को सम्बन्ध के कृत्रिम भावों से छुट्टी मिल जाती है और प्रेम के प्रकाश में सच्चा सम्बन्ध स्थापित होता है।

बुद्धि की जाग्रतावस्था किसी नियम के अधीन हो जाने या किसी निश्चित नैतिक आचरण से नहीं प्राप्त हो सकती। यह कोई ऐसी विजय भी नहीं है जिसके लिये खोज की जाय। सदैव जाग्रत रहना ही इसका क्रम है।



एक धर्म युद्ध—लेखक श्री महादेव हरि भाई देसाई, प्रकाशक, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, पृष्ठ संख्या १२७, मूल्य आठ आना, छपाई सफाई उत्तम।

प्रस्तुत पुस्तक मूल गुजराती पुस्तक का सरल और सुबोध हिन्दी अनुवाद है। पुस्तक में सन् १९१८ के अहमदाबाद के मिल मजदूरों की लड़ाई का इतिहास है। श्री गान्धी जी मजदूरों की इस शानदार लड़ाई के नेता थे। श्री देसाई अपनी प्रस्तावना मे लिखते हैं—"उस समय मजदूर अपनी मजदूरी में कुछ टकों का इजाफा कराने के लिये लड़े थे और उस लड़ाई में कामयाब हुये थे। लेकिन आज मज़दूरों के सामने एक ही ध्येय है: मिलों के स्वामित्व में तथा कथित मालिकों के साथ बराबरी का हिस्सा प्राप्त करना। जिस तरह पूंजी धन है उसी तरह मेहनत भी धन है और बेशक़ीमती धन है। मिलों पर इन दोनों धन पतियों का संयुक्त स्वामित्व होना चाहिये...इसके लिये धैर्य की आवश्यकता है, संयम और अनुशासन की आवश्यकता है, सघशक्ति और संघनिष्ठा की आवश्यकता है.." निस्सन्देह इन्हीं गुणों के कारण अहमदाबाद का मजूर सघ दुनिया में अपनी तरह की मज़दूरों की एक निराली ही संस्था है। उसके पीछे २४ वर्षों का अहिंसात्मक सगठन है।

इस युद्ध के प्रारम्भ में मजूरों ने यह प्रतिज्ञा की थी—

१—जुलाई की तनख़ाह के साथ साथ जब तक ३५ प्रतिशत वृद्धि न मिले, नौकरी पर न जाना।

२—लाक आउट के क़ायम रहते किसी प्रकार का दगा फसाद न मचाना; मारपीट और लूट मार से बचना, मालिकों की जायदाद को किसी प्रकार की हानि न पहुंचाना, गाली गलौज न करना और शान्ति से रहना।

गान्धी जी के सामने मज़दूरों ने यह प्रतिज्ञा की और पूरे २२ दिन तक अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ रहने के बाद उनकी विजय हुई। इस पुस्तक मे उसी युद्ध और विजय का विस्तृत इतिहास है। मज़दूरों की हड़ताल पर गान्धी जी के सिद्धान्तों के अनुरूप यह एक मात्र पुस्तक है और हर मजदूर कार्यकर्ता को इसे अवश्य पढ़ना चाहिये। इसके पहले और इसके बाद भी हिन्दुस्तान में कई बार अलग अलग जगहों में मालिकों और मज़दूरों के बीच लड़ाई झगड़े हुए किन्तु कहीं भी वे इतने पवित्र साधनों और आपसी प्रेम से नहीं लड़े गये। घृणा और कटुता को बचाकर मज़दूरों के स्वार्थों की किस तरह रक्षा की जा सकती है, यह धर्म युद्ध इसका ज्वलन्त उदाहरण है। आज तो मज़दूरों के स्वार्थों और हितों का प्रश्न ही नहीं रह गया है। हमारे कम्यूनिस्ट और सोशलिस्ट कार्यकर्ता अपनी अपनी पार्टी के हितों के लिये इन ग़रीबों का बलिदान करने पर आमादा हैं। झूठे नारों पर मज़दूरों को बहकाकर उनसे अपना उल्लू सीधा किया जाता है। क्या ही अच्छा हो कि मज़दूरों के सच्चे ख़ैरख़्वाह इस पुस्तक में प्रतिपादित सिद्धान्तों को सामने रखकर मजदूरों की सेवा पर कटिबद्ध हों। हम

प्रत्येक कांग्रेस और मजूर कार्यकर्ता और मिल मालिक से इस पुस्तक के पढ़ने का अनुरोध करते हैं।

गान्धी जी—लेखक श्री जुगतराम दवे, अनु० श्री काशीनाथ त्रिवेदी प्रकाशक, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, पृष्ठ सख्या १५६, मूल्य ।=)

बालकों के लिये मोटे टाइप में ५२ अध्यायों में सरल सुबोध और सरस भाषा में लिखा हुआ यह गान्धी जी की जीवन झाँकियों का रेखा चित्रण है। अनेक बालकों को हमने देखा है कि वे एक बार इस पुस्तक को उठाकर समाप्त किये बिना छोड़ना नहीं चाहते। यही नहीं वे इसे बार बार पढ़ते हैं। बालकों के लिये गान्धी जी की इससे सुन्दर जीवनी शायद ही आजतक किसी भी भाषा में प्रकाशित हुई हो। देश के प्रत्येक बालक बालिका को यह पुस्तक पढनी चाहिये। कोई घर और कोई बालक ऐसा न बचे जहाँ यह पुस्तक न हो और जिसने यह पुस्तक न पढी हो। बच्चों के चरित्र निर्माण के लिये यह पुस्तक एक अमोघ साधन है। 'विश्ववाणी' के प्रत्येक पाठक से हमारा अनुरोध है कि वे अपने बच्चो को यह पुस्तक अवश्य पढावें।

सयानी कन्या से—लेखक श्री नरहरि परीख और श्री महादेव देसाई, अनु० श्री काशीनाथ त्रिवेदी, प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, पृष्ठ सख्या १२०, मूल्य आठ आना।

"अपने दायित्व को समझने वाले एक सस्कारी, प्रेमल और पवित्र पिता ने अपनी पुत्री के नाम तथा पुत्री के साथ रहने और पढने वाली और अपने साथ पुत्रीवत् सम्बन्ध रखनेवाली दूसरी कन्याओं के नाम ये पत्र लिखे हैं।" पुस्तक दो खंडों में है। पहले खंड में निम्नलिखित विषयों पर दस पत्र हैं—(१) तारुण्य का उदय, (२) सजीव और निर्जीव का भेद, (३) जनन व्यापार (वनस्पति), (४) जनन व्यापार (सूक्ष्म जन्तु, मछली आदि), (५) जनन व्यापार (भौंरी मधुमक्खी वगैरह, (६) जनन व्यापार (पक्षी), (७) जनन व्यापार (आंचल वाले प्राणी)। दूसरे खंड में—(१) विद्यार्थी अवस्था, (२) कुंवारों से, (३) विवाह की उचित वय, (४) साथी का चुनाव आदि विषयों के अतिरिक्त उप सहार, महादेव काका के दो शब्द और पूर्ति नामक अध्याय हैं।

विषय क्रम को देखते हुए यह स्पष्ट है कि लेखक अत्यन्त सावधानी के साथ आस पास के प्राकृतिक वातावरण से परिचय कराने के बाद और जनन क्रिया की स्वाभाविकता से अवगत कराकर कन्या को रजोदर्शन का महत्व समझाता है, किन्तु तुरन्त ही उसकी रोमांटिक जिज्ञासा को 'विवेक और सयम' के अनुशासन में बाधने की चेष्टा करता है। ऐसे कोमल और टके गूढ़े विषय को इतने स्वाभाविक और वैज्ञानिक ढङ्ग से लेखक ने अपनी कन्या को समझाया है कि उसकी प्रशसा ही करते बनती है। हमारी कन्यायें जिन बातों को अपनी सखियों से या इधर उधर के भद्दे मजाकों या अधपके ज्ञान से सीखती हैं वह उन्हें इस पुस्तक में वैज्ञानिक और नैतिक विवेचना द्वारा समझाया गया है। पुस्तक के दूसरे खण्ड में कुँआरी कन्याओं को आजकल के समाज और सभ्यता के नाशकर खतरों (flirtation) से आगाह करके उन्हें सफल गृहस्थ जीवन के प्रवेश-द्वार की झाकी दिखाई गई है।

आज जब कि हमारे लेखक और प्रकाशक अबोध युवक युवतियों की मनोभावनाओं को कामोत्तेजक और कुत्सित साहित्य द्वारा दूषित करने का घृणित और नारकीय प्रयत्न कर रहे हैं श्री नरहरि परीख का यह प्रयत्न अत्यन्त सराहनीय है। प्रत्येक माता और पिता निःसंकोच अपनी सयानी कन्या के हाथ में यह पुस्तक दे सकते हैं। हमें पूरा विश्वास है यह पुस्तक अनेक सयानी कन्याओं के लिये पथ प्रदर्शन का काम देगी।

शिक्षा में नई दृष्टि—लेखक आचार्य हरि भाई त्रिवेदी, अनु० श्री यशोधर, प्रकाशक साहित्य सदन, अबोहर, पृष्ठ संख्या १०९, मूल्य आठ आने।

आज जब कि हमारे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में बड़ी तेजी के साथ व्यापक अन्तर पैदा करने

वाले हेर फेर हो रहे हैं और नागरिकों के सामने नये नये प्रश्न आ रहे हैं हमारी शिक्षा जीवन की असली धारा से अलग रहकर अपने पुराने ढर्रे पर लड़खड़ाती चली जा रही है अपने को बदले हुए जमाने के अनुकूल नहीं बना पा रही है। न इसमें कोई सजीवनी शक्ति है और न इसका कोई आदर्श है। शिक्षा की इसी पतित अवस्था पर आज जो विवेक शील शिक्षा शास्त्री चिन्ता कर रहे हैं उनमें पुस्तक के लेखक भी एक हैं। अपनी तरह से उन्होंने शिक्षा पर एक नई दृष्टि देने का स्तुत्य प्रयत्न किया है।

पुस्तक १० अध्यायों में बटी है—(१) स्वतन्त्रता (२) अनुशासन (३) मनोविज्ञान परिचय (४) काम विज्ञान, (५) पाठ्य क्रम, (६) सजा (७) परिचय नम्बर प्रतिस्पर्धा, इनाम, (८) अनिवार्य ऐच्छिक, (९) डाल्टन योजना, (१०) वर्धा योजना। इस छोटी सी पुस्तक में इन सभी विषयों पर खूबी के साथ विचार व्यक्त किये गये हैं। लेखक ने मनोवैज्ञानिक पृष्ठ भूमि को अपना आधार बना कर पुस्तक लिखी है। किन्तु मनो वैज्ञानिक पृष्ठ भूमि का खुद एक आधार होता है। भारत में आर्थिक हीनता राजनैतिक गुलामी और सांस्कृतिक कटुता ने सम्पूर्ण वातावरण को ऐसी समस्याओं में उलझा दिया है कि मनोविज्ञान की अन्तर्दृष्टि पत्तों पर नहीं जड़ पर जानी चाहिये। वर्धा शिक्षा योजना पर डाल्टन योजना को तरजीह देकर लेखक महोदय शिक्षा के क्षेत्र को अधिक व्यापक बनाने में सशक नजर आते हैं। बुनियादी शिक्षा और समवाय शिक्षण की पद्धति को तो लेखक ने क़तई नजर अन्दाज़ किया है। फिर भी सब मिलकर पुस्तक मनन करने योग्य है। क्या हम आशा करें कि अगले संस्करण में अनुवादक महोदय टिप्पणियां देकर इन कामयों को दूर करेंगे! हम शिक्षकों से इस पुस्तक को पढ़ने की सिफारिश करते हैं।

संस्कृत का अध्ययन—डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद के दो व्याख्यानों का संग्रह, प्रकाशक भारती-मन्दिर पटना, पृष्ठ संख्या १२८, चित्र संख्या १६, मूल्य १)

पुस्तक क्या है संस्कृत साहित्य में प्राचीन भारतीय वाङ्मय, विज्ञान, कला, इतिहास आदि की एक छोटी सी सुन्दर डाइरेक्टरी है। पुस्तक में भारतीय संस्कृति के महान गौरव की झांकी इधर से उधर तक दिखाई देती है। चित्रों से पुस्तक की उपयोगिता बेहद बढ़ गई है। वक्ता महोदय ने निष्पक्ष होकर ऐतिहासिक घटनाओं का निरूपण किया है। हम भारती-मन्दिर पटना को ऐसा सुन्दर संकलन प्रकाशित करने के लिये बधाई देते हैं। आजकल कागज़ की महगाई के जमाने में पुस्तक इस मूल्य पर सस्ती ही है।

हिन्दुओं की पोथी—लेखक प० देवी दत्त शुक्ल (सम्पादक 'सरस्वती') प्रकाशक श्री रमादत्त शुक्ल ९३२, कल्याण मन्दिर, प्रयाग, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या १८०, मूल्य १)

हिन्दू पूजा विधियों, दश संस्कारों, नित्य कर्मों, पंच महायज्ञों और सर्व देव पूजा आदि की विधियों का ऐसा सरस और रोचक वर्णन इस पुस्तक में किया गया है कि बगैर पंडितों और पुरोहितों की सहायता के ही हिन्दू सद्‌गृहस्थ अपना काम चला सकते हैं। शुक्ल जी ने शास्त्रों के गहन अध्ययन के बाद यह पुस्तक लिखी है और यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि उन्होंने गागर में सागर भर दिया है। पुस्तक वास्तव में हिन्दुओं की पोथी है।

हिम हास—लेखक डाक्टर रामकुमार वर्मा प्रकाशक—ला जर्नल प्रेस, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या ८८, मूल्य १॥)

डाक्टर रामकुमार वर्मा ने अपनी काश्मीर यात्रा के मनोमुग्ध संस्मरणों को गद्य गीतों के अस्फुट रेखा चित्रों में उतारने का सफल प्रयास किया है। यूं तो भू-शुषुमा की उस उपत्यका पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं किन्तु डाक्टर रामकुमार का यह प्रयत्न सब में निराला और स्तुत्य है। वास्तव में 'हिम हास' गद्य काव्य की एक उत्कृष्टतम कृति है। प्रकृति के इस रोचक सौन्दर्य वर्णन में हर जगह गहन अनुभूति छाई पड़ी है।

ला जर्नल प्रेस की वैसे ही अच्छी छपाई होती है, किन्तु इस पुस्तक के छापने मे 'ला जर्नल' के मेनेजर श्री कृष्णप्रसाद दर ने विशेष उत्साह दिखाया है। ऐसा सुन्दर और नयनाभिराम ग्रन्थ छापकर श्री दर बधाई के पात्र हैं।

THE MINISTER AS A KING MAKER

लेखक—डाक्टर ईश्वर टोपा, प्रकाशक, किताबिस्तान, इलाहाबाद मूल्य ४॥)

स्वर्गीय सर अकबर हैदरी ने पुस्तक मे दो शब्द लिखे हैं और भूमिका लिखी है डाक्टर बेनीप्रसाद ने। पुस्तक के लेखक डाक्टर ईश्वर टोपा ओसमानिया यूनिवर्सिटी में 'भारतीय संस्कृति' के लेक्चरार हैं। किताबिस्तान द्वारा प्रकाशित उनकी पुस्तक 'अवर कल्चरल हेरिटेज' ने काफी ख्याति पाई है। भारतीय संस्कृति और इतिहास का डाक्टर टोपा ने गम्भीर अध्ययन किया है और यह पुस्तक लेखक की पांचवी महत्वपूर्ण पुस्तक है।

इस पुस्तक मे डाक्टर टोपा ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र की वैज्ञानिक विवेचना की है। कौटिल्य का प्रादुर्भाव भारतीय इतिहास की एक महान घटना है। कौटिल्य से पहले धर्मशास्त्र और अध्यात्म शासन-व्यवस्था के आधार थे, कौटिल्य ने उनकी जगह अर्थशास्त्र और राजनीति को दी। विंटरनीत्स के शब्दों में 'कौटिल्य के अर्थशास्त्र की अपेक्षा भारतीय संस्कृति की इतनी विशद झांकी हमे और कहीं नहीं मिलती।' सन् १९०५ में जब मैसूर के डाक्टर शाम शास्त्री ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र की मौलिक हस्तलिपि खोज निकाली तो उसने सारे संसार मे एक तहलका मचा दिया। तब तक लोग राजनीति को यूनान की ही देन समझते थे। बेहद बहस मुबाहिसे के बाद कौटिल्य के अर्थशास्त्र की प्रामाणिकता संसार ने स्वीकार कर ली। उस पेचीदा ग्रन्थ की वैज्ञानिक विवेचना लिखकर डाक्टर टोपा ने वास्तव मे बहुत बड़ा काम किया है। उन्होंने कौटिल्य के विचारों और तरीकों का वैज्ञानिक विभाजन किया है, अर्थशास्त्र के विद्यार्थी का कौटिल्य के मौलिक सिद्धान्तों से परिचय कराया है। पुस्तक को तीन अध्यायों में बाटा गया है—(१) मौलिक सिद्धान्त, (२) राजत्व और (३) राज्य-व्यवस्था।

भारतीय राजनीति के विद्यार्थी के लिये पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। अच्छा हो यदि किताबिस्तान इस उपयोगी ग्रन्थ को हिन्दी और उर्दू मे भी प्रकाशित करने का प्रबन्ध करे।

जगाचा इतिहास (मराठी) लेखक श्री रामचन्द्र नारायण नातू, प्रकाशक नारायण राव हरी नातू, ६८९ सदाशिव पेठ, पूना, पृष्ठ संख्या ७२६, मूल्य ४)

जब कि हिन्दी भाषी नवयुवक अपनी कविता संग्रह प्रकाशित करने मे व्यस्त हैं १९ वर्ष के श्री नातू ने ७२६ पृष्ठ का यह संसार का इतिहास मराठी मे लिख डाला। श्री नातू अभी विद्यार्थी ही हैं किन्तु इस ग्रन्थ के लिखने मे उन्होंने जिस प्रतिभा और लगन का परिचय दिया है उससे यह आशा होती है कि भविष्य मे वे महाराष्ट्र के प्रमुख इतिहासकार का पद ग्रहण करेंगे। विश्व के प्रारम्भ से लेकर अब तक के सम्पूर्ण इतिहास का इस ग्रंथ मे संक्षिप्त विवरण है। महज ऐतिहासिक घटनाओं का ही इसमे उल्लेख नहीं है बल्कि विविध कालों और विविध सभ्यताओं के अन्तर्गत जो सांस्कृतिक धाराये बही हैं उनका भी इस ग्रंथ मे संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया गया है।

हम श्री नातू को इस सत्साहस के लिये बधाई देते हैं और भविष्य में उनसे बहुत कुछ आशा करते हैं।

श्री मद्भगवद्गीता—अनुवादक—दयालगिरि गोस्वामी 'साहित्य रत्न'। प्राप्ति स्थान श्री त्रिवेदी ग्रंथमाला, कल्याण कुटी, बालाघाट, सी० पी०। प्रकाशक श्री अमृतपाल पी० त्रिवेदी, बालाघाट, सी० पी०। पृष्ठ संख्या १६० मूल्य प्रचारार्थ ॥); राजसंस्करण २) दो रुपया।

पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीता का शाब्दिक पद्यानुवाद है। अनुवाद इससे अधिक सुन्दर और सरल किया जा सकता था। पारिभाषिक शब्दों का रूप ज्यों का त्यों रहने दिये जाने के कारण यह पुस्तक साधारण पाठक के लिये समझने मे कुछ ही सरल हो पाई है। पुस्तक के अन्त मे जो शब्द बोध दिया गया है उसमें उन्हीं शब्दों का हिन्दी अर्थ दिया गया है जो हिन्दी मे पर्याप्त प्रचलित हैं। शुर, शठ, सत्ता, हेत, अज्ञ, अनुचर, अभिराम आदि शब्दों के अर्थ लिखने की अपेक्षा यदि गीता मे प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों पर छोटी छोटी टिप्पणियां दे दी जातीं तो पाठक के लिये अधिक सुविधा का कारण बनतीं।

सब कुछ होते हुए भी प्रयास अच्छा है। लेखक ने यदि पद्य बद्ध अनुवाद का मोह न किया होता तो अधिक सरल अनुवाद की सम्भावना थी।

वन फूल—लेखक श्री कन्हैयालाल सेठिया। प्रकाशक एन० के० जैन, मानस मन्दिर, सुजान गढ़। पृष्ठ संख्या ७२, मूल्य अजिल्द ।।।) सजिल्द १)

वन फूल में कुल ५१ गीतों का संग्रह किया गया है। कई गीत बहुत सुन्दर और सप्राण लिखे गये हैं। 'मिलती सूरज की उजियाली' में सन्ध्या के सभी साज मूर्त्ति मान होकर सामने आ खड़े होते हैं।

"मधुमास विजन मे छाया", "आ हम अपनी पीड़ा पालें", "है नहीं कुछ चाह मुझको" आदि कई गीत सुन्दर और भावमय हैं।

है नहीं कुछ चाह मुझको।
भूल से ही द्वार तेरे
आ गये हैं पांव मेरे
बस इशारे से बतादे, आज मेरी राह मुझको

एक स्थल पर कवि राजपूताने के प्राचीन गौरव की स्मृति में कहता है।

रह गई अब तो कहानी
राज पूती यश पुराना
और उसका वीर बाना
जल चुका जौहर अनल में, जल चुकी उसकी जवानी

आज मीरा मानवी के
मन्दिरों मे दानवी के
क्या उल्लू बोलते हैं, देख पद्मी रो बिरानी
पैर आगे रख सम्भल कर
बोल धीरे बात मत कर
भग्न में ही सो रही है पद्मिनी सी रूप रानी॥
हम सेठियाजी के अभ्युदय के इच्छुक हैं॥

मरीचिका—लेखक श्री दयालगिरि गोस्वामी 'साहित्यरत्न'। प्रकाशक श्री अमृतलाल पी० त्रिवेदी, बालाघाट, सी० पी०, पृष्ठ संख्या १४८, मूल्य साधारण संस्करण १) राज संस्करण २)

मरीचिका में भिन्न भिन्न विषय पर लिखे गये छोटे छोटे गीतों का संग्रह है। आधुनिक हिन्दी में कविता साहित्य उत्तरोत्तर प्रगति की ओर जा रहा है और नित्य प्रति नये नये लेखक राष्ट्र भाषा, हिन्दी की विभूति को बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील हैं। हमारी समझ में छोटे मोटे सभी प्रकार के प्रयासों का स्वागत यथायोग्य होना ही चाहिये। गीतों का धरातल साधारण है।

हमारे सहयोगी

विशाल भारत (रवीन्द्र अङ्क, जनवरी १९४२)—सम्पादक प० श्रीराम शर्मा, वार्षिक मूल्य ६), इस अङ्क का २), पता—विशाल भारत आफिस, १२०-२ अपर सरक्यूलर रोड, कलकत्ता से प्राप्त।

विशाल भारत का यह रवीन्द्र अङ्क विशाल भारत की मर्यादा और गौरव के अनुरूप ही निकला है। २०० पृष्ठों के इस विशेषांक में पाठकों को सुन्दर से सुन्दर विचार पूर्ण और मननशील लेख पढ़ने को मिलेंगे। श्री सुधीर खास्तगीर का तिरंगा चित्र 'रवीन्द्रनाथ ठाकुर' और श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर का तिरंगा चित्र 'रवीन्द्रनाथ का महा प्रयाण' कला और कल्पना के उत्कृष्टतम नमूने हैं। इन दो चित्रों के अतिरिक्त अनेक सादे चित्रों से अङ्क की उपयोगिता बेहद बढ़ गई है।

लेखों में आचार्य क्षितिमोहन सेन का 'सार्वभौम रवीन्द्रनाथ', आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'रवीन्द्रनाथ और आधुनिक हिन्दी साहित्य', पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी का 'गुरुदेव और हिन्दी', स्वर्गीय दीनबन्धु एन्ड्रूज़ का 'रवीन्द्रनाथ के साथ इङ्गलैण्ड में', आचार्य गुरुदयाल मलिक का 'ठाकुर अपने दोमजिले से कब उतरोगे', श्री 'वनफूल' का 'अन्तरिक्ष मे रवीन्द्रनाथ' (एकांकी नाटक), श्री देवेन्द्र सत्यार्थी का 'रवीन्द्रनाथ ठाकुर', श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय का 'रवीन्द्रनाथ ठाकुर', श्री विश्वनाथ चट्टोपाध्याय का 'रवीन्द्रनाथ और ग्राम संगठन का आदर्श', श्री दादा धर्माधिकारी का 'विश्वात्मा एक वैतालिक', और श्री इलाचन्द्र जोशी का 'चिरयुवा और चिरजीवी रवीन्द्रनाथ' आदि लेख हम बेहद पसन्द आये। प्रत्येक लेखक ने अधिकार के साथ लिखा है। स्वर्गीय गुरुदेव की स्मृति में 'विशाल भारत' का यह 'रवीन्द्र अङ्क' हिन्दी भाषा भाषियों की सबसे अनुपम श्रद्धाञ्जलि है। प्रत्येक हिन्दी प्रेमी को अपने पुस्तकालय में यह अङ्क अवश्य संग्रह करके रखना चाहिये। पण्डित श्रीराम शर्मा के सफल और सुन्दर सम्पादन की जितनी भी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। सब मिलाकर पूरा अङ्क अपूर्व अनमोल और अद्वितीय है।

आगामी कल—(मासिक), सम्पादक—श्री प्रभाग चन्द्र शर्मा, वार्षिक मूल्य ४), एक प्रति का।=), प्रकाशक, 'आगामी कल' कार्यालय, जवाहर गंज, खंडवा।

गत जनवरी १९४२ मे यह मासिक पत्र खंडवा से प्रकाशित हो रहा है। हमारे सामने इसके दो अङ्क हैं। साहित्य और संस्कृति की जो नवीन विचार धाराएं आज संसार में छा रही हैं 'आगामी कल' ने उन्हीं का आशाप्रद सन्देश देने के लिये जन्म लिया है। दोनों अङ्कों के लेखों की सूची देखकर यह स्पष्ट है कि सम्पादक महोदय के सामने एक उद्देश्य है और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वे पूरी तरह तत्पर हैं। आज कागज की महंगी के जमाने मे जब सभी परेशान हैं 'आगामी कल' का उदय एक आश्चर्य जनक घटना है। हम सहयोगी के सफल दीर्घ जीवन के इच्छुक हैं।

दीपक (सम्मेलनांक) दिसम्बर—जनवरी १९४१-४२, सम्पादक श्री तेगराम, वार्षिक मूल्य २॥), इस अङ्क का ।), पता साहित्य सदन, अबोहर।

अबोहर के गत हिन्दी साहित्य सम्मेलन की कार्यवाही, सभापति का भाषण, सम्मेलन के प्रस्ताव, सम्मेलन के लिये सुझाव, सम्मेलन का नोट—कवि सम्मेलन और सम्मेलन सम्बन्धी अनेक उपयोगी लेख इस अङ्क मे संग्रहीत हैं, जो प्रत्येक हिन्दी प्रेमी को हिन्दी साहित्य की स्थिति पर सोचने के लिये मजबूर करते हैं।

हरिजन-सेवक—सम्पादक श्री प्यारेलाल, वार्षिक मूल्य ५), एक प्रति का दाम =), मिलने का पता मेनेजर हरिजन सेवक, नवजीवन मुद्रणालय, कालुपुर, अहमदाबाद।

अरसे तक बन्द रहने के बाद गान्धी जी का यह पत्र फिर से अहमदाबाद से प्रकाशित होने लगा है। अभी तक इसके ६ अङ्क प्रकाशित हो चुके हैं। इस संकटावस्था में गान्धी जी ही राष्ट्र के कर्णधार हैं। देश की समस्याओं पर 'हरिजन सेवक' में ब्योरेवार उनके विचार प्रकाशित होते रहते हैं। प्रत्येक हिन्दी भाषी से हमारा अनुरोध है कि वह इस बात को अपना धर्म बनाले कि 'हरिजन-सेवक' अवश्य पढेगा। पत्र के सम्पादक स्वयं गान्धी जी के सेक्रेटरी श्री प्यारेलाल जी हैं। हमें विश्वास है कि 'विश्ववाणी' का प्रत्येक पाठक नियमित रूप से 'हरिजन सेवक' पढ़ने का निश्चय करेगा।

सम्पादकीय-विचार

लड़ाई का खतरा सर पर—

जापान की निरन्तर विजयों ने युद्ध के ख़तरे को भारत के अत्यन्त निकट ला दिया है। देश में जगह जगह आज इसी ख़तरे की चर्चा सुनाई दे रही है। इस सम्बन्ध में गान्धी जी २२ फरवरी के हरिजन सेवक में लिखते हैं—

"..आज सच्चा ख़तरा तो सिर्फ शहरों को है। हो सकता है कि सिंगापुर की इस हार और बर्मा के सम्भावित पतन के कारण यह ख़तरा बहुत नजदीक आ गया हो। इस ख़तरे से बचने का एक सबसे अच्छा तरीक़ा यह है कि जिन लोगों की शहरों में जरूरत नहीं है और जो ख़तरे से भागना चाहते हैं, वे चुपचाप, बिना खलबली मचाये, गावों में चले जाय। एक साथ घबराकर भागने की कोई जरूरत नहीं। जिनका अपने व्यापार की वजह से या दूसरे काम धन्धों के कारण शहरों में रहना जरूरी है उन्हें चाहिये कि वे सरकारी अधिकारियों द्वारा समय समय पर जारी की जाने वाली हिदायतों पर अमल करें। किसी भी कारण से क्यों न हो, जिन्हें ऐसा नहीं करना है, उन्हें समय रहते शहर छोड़ देने चाहियें। अगर पहले से इतनी सावधानी बरत ली जायगी तो आगे हम बिना घबराये मुसीबतों का सामना कर सकेंगे। आज इससे ज्यादा मैं कह नहीं सकता क्योंकि हम सब आपस में एक दिल नहीं हैं..."

हरिजन सेवक के इसी अङ्क में काशी में युक्त प्रान्तीय कांग्रेस कार्यकर्ताओं के साथ गान्धी जी के प्रश्नोत्तर की चर्चा की गई है। गान्धी जी से उक्त सभा में पूछा गया—"हवाई हमलों की हालत में लोगों में हौल दिली पैदा हो, और दगे वग़ैरह खड़े हों, तो वैसे मौक़ों पर कांग्रेस जनों को क्या करना चाहिये ?"

गान्धी जी ने उत्तर दिया—

"यह वक्त तो अब आ ही गया है। डाके पड़ने लगे हैं। ऐसे समय अगर कांग्रेस ने सख्त उपायों से काम न लिया, तो परिस्थिति बेकाबू हो जायगी। शान्ति दलों की जितनी अनिवार्य आवश्यकता आज है, उतनी पहले कभी नहीं थी। आप चाहे हिंसा को पसन्द करें चाहे अहिंसा को, मौत का ख़तरा तो दोनों तरफ है। तो फिर अहिंसक रीति से मरने की तय्यारी क्यों न कीजिये। आन्तरिक विग्रह या गृह कलह की हालत में अहिंसा आपको उसका हट प्रतिकार करने की शक्ति प्रदान करेगी। हवाई हमलों के समय घायलों की रक्षा का अधिकतर काम आपही के जिम्मे आयेगा। आप हवाई हमलों से रक्षा करने वाले सरकारी दलों में शामिल नहीं होंगे, क्योंकि एक तो उनकी व्यवस्था पर आपका कोई अंकुश नहीं, दूसरे, उनमें शामिल होने से आप युद्ध प्रयत्न में सक्रिय भाग लेने लगते हैं। लेकिन यह तो स्पष्ट ही है कि सरकार सब जगह मदद नहीं पहुँचा सकेगी। रंगून में पहुँचा पाई थी क्या ? हमारे पास इस विषय की दिल दहला देने वाली ख़बरें आई हैं कि रंगून में रास्तों पर मुर्दों और घायलों के ढेर पड़े रहे, मगर उनकी कोई सार सभाल न की गई। इसलिये जहा सरकारी हाकिम कुछ न कर पायेंगे वहा हमें काफी काम करने का मौक़ा मिलेगा। हमें ऐसे स्वय सेवक तय्यार करने होंगे जो जोखिम उठाने और जरूरत के वक्त अपनी सूझ से काम करने को मुस्तैद रहें। हमें मुर्दों को और घायलों को यथास्थान पहुँचाने की व्यवस्था करनी होगी, ख़ाली मकानों को अपने क़ब्ज़े में लेना होगा और ऐसे अनेक काम करने होंगे। इन कामों में सरकारी हाकिम जहां जहा आपकी मदद लेना स्वीकार करें आपको दिल से उनकी मदद करनी चाहिये।"

इसी सम्बन्ध में गान्धी जी अन्यत्र लिखते हैं—

"......मगर क्या सचमुच घबराहट की कोई वजह है भी ? अहिंसा को मानने वालों के लिये तो ऐसी कोई बात है ही नहीं। उन्हें डर से या आत्म विश्वास की कमी से क्या सरोकार ? हथियारों मे लैस सिपाही जितना निडर और आत्म निर्भर होना है अहिंसा वादी तो उससे कम तो हो ही नहीं सकता। लेकिन अहिंसा के ये गुण अभी शायद पोथी में ही पड़े हुए हैं। व्यवहार में हमे उनका कहीं थोड़ा भी दर्शन नहीं होता। मगर आजकल की यह लड़ाई इस बात का एक ज़बर्दस्त सुबूत है कि जो भी दोनों दल गले गले तक हिंसा में फसे हुए हैं, तो भी उनमे डर और अविश्वास का दूर दूर तक कहीं पता नहीं है। दोनों तरफ के योधा जान झोककर, जिस बहादुरी से लड़ रहे हैं, उसे देखकर मैं तो मन ही मन आश्चर्य और सराहना से भर जाता हूं। यह लडाई हमे बताती है कि मनुष्य के पास कितनी हिम्मत और सहन शक्ति भरी पड़ी है। इसलिये दोनों तरह से विचार करने पर भी हमे अपने डर व अविश्वास पर, और सकट के समय मे अधीर होने की अपनी कमजोरी पर शर्म आनी चाहिये, इसलिये हर एक कार्यकर्ता का यह पवित्र कर्तव्य है कि वह अपने को भीरुतापूर्ण घबराहट के मुक़ाबले में फौलाद की तरह मजबूत बना ले, और अपने भरसक लोगों में वैसी घबराहट न फैलने दे। हमारे लिये दुनिया यह न कहे कि हम कायर थे, क्योंकि 'कायर तो अपनी मौत से पहले कई बार मर चुकने हैं'।"

फिर पूरे युद्ध पर दृष्टि डालते हुए १५ फरवरी के 'हरिजन सेवक' में गान्धी जी लिखते हैं—

"...युद्ध में लिप्त राष्ट्र एक दूसरे को इतनी क्रूरता और भयकरता से नष्ट कर रहे हैं कि अन्त में दोनों लस्त पस्त होकर थक जाने वाले हैं। युद्ध के अन्त में जो जीतेगा, उसकी वही दशा होगी जो पाण्डवों की हुई थी। महाभारतकार कहता है कि अर्जुन के समान गाण्डीवधारी महारथी को भी अन्त में डाकुओं के एक छोटे से दल ने दिन दहाड़े लूट लिया था। परन्तु इस महाप्रलय में से उस नव-विधान का उदय होगा, जिसकी प्रतीक्षा संसार के करोड़ों शोषित नरनारी इतने दिनों से करते आ रहे हैं। अहिंसा के भक्तों की प्रार्थना व्यर्थ नहीं जा सकती। सत्याग्रह आर्त हृदय की एक मूक और अचूक प्रार्थना है।"

हमें गान्धी जी के उपरोक्त वक्तव्यों पर गम्भीरता के साथ मनन करना चाहिये और आने वाले सकट का सामना करने के लिये अपने को सगठित करना चाहिये।

स्व० गणेश शङ्कर विद्यार्थी की स्मृति में

आगामी २५ मार्च को स्वर्गीय गणेश शङ्कर विद्यार्थी की ११वीं निधन तिथि है। उस महान दुर्घटना को हुए आज ११ वर्ष बीत चुके हैं। तब से बराबर राष्ट्र के अङ्ग प्रत्यङ्ग को साम्प्रदायिकता का गलित कुष्ट विकृत और कुरूप बना रहा है। हजारों वर्ष के हमारे इतिहास में देश की इतनी शोचनीय स्थिति कभी भी दिखाई नहीं पड़ी। जब कि चारों ओर सकट के बादल उठकर हमारे अस्तित्व को ही नष्ट करते दिखाई दे रहे हैं हम आपस की नफरत और अवज्ञा के प्रदर्शन में ही व्यस्त हैं। कांग्रेस के नेताओं के सामने साम्प्रदायिक समस्या को लेकर घना अन्धकार छाया है। उन्हें सिवाय शक्ति नीति के इसे सुलझाने की कोई सूरत नजर नहीं आ रही है। समझदार हिन्दू और मुसलमान साम्प्रदायिकता की बढती हुई शाखाओं प्रशाखाओं को देखकर नितान्त बेबसी अनुभव कर रहे हैं। श्री जिन्ना अपनी पाकिस्तान की माग पर दृढ हैं और श्री सावरकर आदि शाब्दिक युद्ध में व्यस्त हैं। आज हमारे स्वतन्त्रता के मार्ग में यह साम्प्रदायिक समस्या पर्वताकार बन कर खड़ी हो गई है। परिस्थिति ऐसी है कि यदि हम साहस पूर्वक इस पर्वत को चूर चूर न करेंगे तो हमारी प्रगति का रास्ता सदा सदा के लिये अवरुद्ध रहेगा।

कांग्रेस जनों ने हिन्दू मुसलिम समस्या के सुलझाने में जो तरीके अख्तियार किये हैं वे इस रोग



हिन्दू मुसलिम एकता के अमर-प्रतीक शहीद गणेश शङ्कर विद्यार्थी
जिनके पुण्य-बलिदान की ग्यारहवीं वर्ष-तिथि, आगामी २५ मार्च, सन् १९४२ को पड़ेगी

की जड़ों तक हमें नहीं ले जाते। लड़ाई का असली कारण पढ़े लिखे स्थायी स्वार्थ वाले हिन्दू मुसलमानों का राजनैतिक स्वार्थ है। पूरा का पूरा साम्प्रदायिक आन्दोलन मध्यम श्रेणी के स्वार्थों के हित मे लड़ा जा रहा है और जनता को झूठे बुलन्द नारों की बिना पर उल्लू बनाया जा रहा है। ज़रूरत इस बात की है कि हम हिन्दू मुसलमान जनता को समझाये कि लड़ाई हिन्दू मुसलमानों की नहीं है। लोगों को बताये कि "मजहब नहीं सिखाता आपस मे बैर करना"। उन्हें समझाय कि सभी धर्म एक हैं और हिन्दू और मुसलमान दोनों का देश एक है, जाति एक है, नस्ल एक है, दोनों के हित एक हैं और दोनों के सुख दुख एक हैं, दोनों की सभ्यता एक है और दोनों की संस्कृति एक है। "राम के नाम हजारों नहीं अरबों हैं, अगणित हैं। अल्लाह कहो, रहीम कहो, रहमान कहो, रज्जाक कहो, रोटी देने वाला कहो, सब उसी के नाम हैं।"

हमारी संस्कृति सर्वग्राही संस्कृति रही है और यदि हजारों वर्षों का समन्वयात्मक इतिहास हमारे सामने न होता तो सम्भव है हमें अन्धकार ही अन्धकार सूझता, किन्तु सौभाग्य से आज भी हमारी जनता का दिल और दिमाग़ दोनों साफ़ हैं और थोड़े से गम्भीर प्रयत्न से ही एकता और प्रेम की सुमधुर ध्वनि देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक गूंज सकती है। शुरू शुरू में इसमें बाधाएं पड़ेंगी। हिन्दू और मुसलिम साम्प्रदायिक दल इसका सब में बड़ा विरोध करेंगे किन्तु मुहब्बत और सांस्कृतिक समन्वय ही एक मात्र तरीक़ा है जिससे जनता के दिलों में प्रवेश किया जा सकता है। एक दूसरे को समझने, एक दूसरे को जानने और एक दूसरे को निकट लाने का इससे उत्तमतर उपाय कोई दूसरा नहीं है। जिस दिन जनता असली तत्व को समझ जायगी उसी दिन साम्प्रदायिकता के बादल भी हवा में उड़ जायगे। हिन्दू मुसलिम समझौता गलियों और कूचों मे होगा। जब तक गोलमेज़ पर या कमेटी में समझौते की चर्चा चलेगी तब तक ख़ुदग़रज़ नेताओं की चांदी रहेगी और तब तक जनता पर इनका जादू चलता रहेगा। हमारे नौ जवान जितना समय स्टडी सर्किल में मार्क्सवाद की शिक्षा के लिये खर्च करते हैं उसका एक चौथाई भी यदि उन्होने इसलाम और हिन्दू धर्म के मौलिक सिद्धान्तों के अध्ययन मे, सूफ़ी सन्तों की शिक्षा मे खर्च किया होता तो यह हिन्दू मुसलिम प्रश्न ही न दिखाई देता। आज कांग्रेस के कार्यकर्ता शिकायत करते हैं कि मुसलिम जनता तक पहुंचने का उनके पास कोई साधन नहीं है। साधन हो भी कैसे? उनके तर्ज तरीक़ों, उनके धर्म और उनके इतिहास से बेखबर, पैग़म्बर और उनकी जीवनी से नावाक़िफ़, इसलाम और क़ुरान की शिक्षा से अनजान, अपने ही ८ करोड़ देशवासियों से अपरिचित कांग्रेसी कार्यकर्ता कैसे मुसलमान जनता के दिलों में प्रवेश पा सकते थे? मुसलमान दिनो दिन कांग्रेस से दूर हटते गये। उनकी अनुपस्थिति ने अनेक कांग्रेसी हिन्दुओं के दिलों मे भी साम्प्रदायिकता का कड़ुआ ज़हर भर दिया, जिसकी झांकी हमे आये दिन दिखाई देती है। कांग्रेस ने 'मास काँटैक्ट' का काम जो शुरू किया वह भी औंधे तरीक़े से। नातजुर्बेकार जोशीले नौजवानों के कन्धों पर इतनी बड़ी समस्या का भार लाद दिया गया जिन्हें हिन्दू मुसलिम एकता से अधिक वर्ग युद्ध के सिद्धान्त प्रिय थे। नतीजा यह हुआ कि 'मास काँटैक्ट' का काम ठप हो गया और कांग्रेस ने मुसलमान जनता को प्रतिक्रियावादी मुसलिम नेताओं के हाथों में सौंप दिया। मुसलिम लीग ने लड़कर शक्ति हासिल नहीं की, उसके हाथों में तो शक्ति सौंपी गई।

व्यवस्थापिका सभाओं के पिछले चुनावों में बंगाल में मुसलिम लीग नहीं जीती, बल्कि कृषक प्रजा पार्टी जीती, पंजाब में मुसलिम लीग के केवल दो व्यक्ति जीत पाये, बाक़ी मैदान यूनियनिस्ट पार्टी के हाथों रहा, सिन्ध में मुसलिम लीग की सत्ता पूरी तरह जमी ही नहीं और सीमाप्रान्त में कांग्रेस का बोल बाला रहा। प्रश्न उठता है कि मुसलिम बहुमत

प्रान्तों की यह हालत होते हुये भी फिर मुसलिम लीग कैसे शक्तिशाली बनी और इन प्रान्तों की मुसलिम जनता कैसे कांग्रेस के साथ नहीं रही ?

युक्त प्रान्त में जहां मुसलिम लीग पार्लिमेण्टरी पार्टी के सदर चौधरी ख़लीक़ुज़्ज़मा और कांग्रेस पार्लिमेण्टरी पार्टी के सदर श्री रफ़ी अहमद क़िदवई ने मिलकर चुनाव लड़ा था और एक दिल होने की क़समें खाई थीं, चुनाव का नतीजा निकलते ही मुसलिम लीग को अंगूठा दिखा दिया गया। यह तो निष्पक्ष इतिहास लेखक ही बतायेगा कि रफ़ी अहमद की चतुराई कांग्रेस के लिये कितनी महगी पड़ी, लेकिन उसी दिन से युक्त प्रान्त में मुसलिम लीग के जेहाद का जो श्री गणेश हुआ उसकी लपटें सारे भारत को झुलसाने लगीं। बंगाल में ८० फी सदी ग़रीब किसान मुसलमान हैं और १० फी सदी ज़मींदार हिन्दू हैं। ये ही हिन्दू वहां के कांग्रेस आन्दोलन के कर्णधार हैं। वहां के ज़मींदार कलकत्ता कार्पोरेशन के वोटों पर हावी थे और कांग्रेस वाले कार्पोरेशन की कुर्सियों के पीछे दीवाने थे। दोनों में चुपके चुपके समझौता हुआ और कार्पोरेशन के पदों के लिये ग़रीब किसानों का बलिदान चढ़ा दिया गया। यदि युक्तप्रान्त के किसानों की तरह कांग्रेस ने बंगाल के किसानों का भी साथ दिया होता तो बंगाल में भी कांग्रेस की वही शक्ति होती जो सीमा प्रान्त में है। पंजाब में रय्यत वाड़ी प्रणाली है। वहां ज़मींदार नहीं। वहां हर किसान ज़मींदार है, जिनमें मुसलमानों और जाटों का बहुमत है। धीरे धीरे इन किसानों की ज़मीनें हिन्दू साहूकारों के क़र्ज़ों में गिरवी होती गईं। इत्तफ़ाक़ से इन साहूकारों में ९० फ़ीसदी हिन्दू हैं। पंजाब में किसानों का पक्ष लेकर यदि नारा लगाया जाता कि पुराने क़र्ज़ें माफ़ हों तो निश्चय ही कांग्रेस साम्प्रदायिकता की दोषी और हिन्दू हितों को बलिदान करने वाली समझी जाती। वहां के कांग्रेस कार्यकर्ता इसी डर के मारे ख़ामोश रहे और किसानों के दुःख दूर करने का काम सर सिकन्दर हयात और सर छोटूराम के कन्धों पर छोड़ दिया गया। यदि कांग्रेस ने पंजाब में मुसलमान किसानों का वैसा ही साथ दिया होता जैसा कि युक्त प्रान्त में दिया तो यह पंजाब के मुसलमान किसान निश्चय ही कांग्रेस के झंडे के नीचे खड़े होते। युक्तप्रान्त के बाइ इलेक्शन में यह बात अच्छी तरह साबित हो गई है कि पचास फ़ीसदी से अधिक मुसलमान किसान वोटर कांग्रेस के साथ हैं।

इस तरह हमने अपने ही हाथों क्षणिक स्वार्थों के वशीभूत होकर मुसलमानों को उन्हीं के करम पर छोड़ दिया। किन्तु आख़िर वर्ग हित के लिये हम अपने देश हित का, अपनी मानवता का कब तक बलिदान करेंगे ? अब भी समय है। यदि हम साहस पूर्वक प्रेम और सम्पर्क के साथ मुसलिम जनता में प्रवेश करें तो हमें निश्चय ही इसमें सफलता मिलेगी।

कितना अच्छा हो कि आगामी २५ मार्च को स्वर्गीय गणेश शङ्कर विद्यार्थी की याद में हम सारे देश में हिन्दू मुसलिम एकता दिवस मनायें और इस बात की शपथ लें कि घर घर के अन्दर हम आपसी भाईचारा और प्रेम का पैग़ाम पहुँचायेंगे।

स्वर्गीय जमनालाल जी

जमना लाल जी की मृत्यु से कांग्रेस और उसके रचनात्मक कार्यक्रम को जो ठेस पहुँची है वह आसानी से पूरी नहीं की जा सकती। जमना लाल जी महज़ व्यक्ति ही नहीं थे वे एक संस्था थे। अपनी व्यावहारिक व्यापर कुशल बुद्धि से उन्होंने रचनात्मक कार्यक्रम में जीवन का सचार किया। पिछले २४ वर्षों से वे लोक हित के लिये अपनी सम्पत्ति के संरक्षक बन कर रहे। अपनी कमाई का रुपया वे अपने लिये नहीं वरन् लोक सेवा के लिये खर्च करने में प्रसन्नता अनुभव करते थे। जमना लाल जी के निधन से गांधी जी को भी बेहद दुःख पहुँचा है। गान्धी जी के ही शब्दों में—"यह मैं कैसे कहूं कि मुझे उनके जाने का दुःख नहीं हुआ ? दुःख होना तो स्वाभाविक था, क्यों कि मेरे लिये तो वही मेरी कामधेनु थे। आफ़त

मुसीबत हो तो बुलाओ जमनालाल जी को; कुछ काम करना हो, कोई ज़रूरत आ पड़ी हो तो बुलाओ जमना लाल जी को और जमना लाल ऐसे कि बुलाया गया नहीं और आये नहीं। ऐसे जमना लाल का दुःख कैसे न हो ? लेकिन जब उनके किये कामों को याद करता हूं और हमारे लिये जो सन्देश वे छोड़ गये हैं, उसका विचार करता हूं, तो अपना दुख भूल जाता हूं।

जमनालाल जी की जगह लेने वाला आज कांग्रेस में हमें तो कोई दूसरा व्यवहार कुशल व्यक्ति दिखाई नहीं देता। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में उन्होंने पूरी शक्ति के साथ गो सेवा संघ का काम अपने कन्धों पर उठाया था। जमनालाल जी जैसे कर्मठ व्यक्ति की शक्तियों को पाकर गो सेवा संघ का काम निश्चय ही ठोस बुनियाद पर सफलतापूर्वक चल निकलता। दरिद्र किसानों के देश में गो रक्षा जीवन मरण का प्रश्न है। हमारे धन पति गो रक्षा का दम बेशक भरते हैं किन्तु उसके लिये अपनी व्यापार कुशल बुद्धि जरा भी खर्च करने को तयार नहीं। इसीलिये जब हमने सुना कि जमनालाल जी ने अपनी सारी शक्ति अब इसी काम में खर्च करने की ठानी है तो हमें बेहद सन्तोष हुआ। लेकिन गो सेवा सम्मेलन को बीते अभी महीना भर भी नहीं हुआ कि अचानक उनके निधन का दुख पूर्ण सम्वाद मिला। जमनालाल जी का सारा जीवन त्याग और सेवा का जीवन था। आज उनका पार्थिव शरीर हमारे बीच में नहीं है, यह सही है; किन्तु उनकी सेवा भावना अज्ञात रूप से हमारे दिलों में वास कर रही है। इस तरह जमनालाल जी मर कर भी अमर हैं। यह बड़े सन्तोष की बात है कि उनके अधूरे काम को उनकी जीवन सहचरी श्री जानकी देवी ने पूरा करने का संकल्प किया है। परमात्मा उन्हें उनके सत्साहस में सहायता दें।

श्री जानकी देवी चि० कमलनयन, चि० रामकृष्ण और परिवार के अन्य लोगों के साथ हमारी हार्दिक सहानुभूति है।

स्वर्गीय अर्जुनलाल जी सेठी

सेठी जी की मृत्यु के इतने दिनों बाद आज हम उनकी स्मृति में क़लम उठा रहे हैं। वे हमारे इतने निकट थे और हमारे इतने अपने थे कि उनका निधन हमारा व्यक्तिगत दुःख है और हमने उसे हर्ष और शोक के साथ सहन किया। हर्ष इसलिये कि, उनका सारा जीवन त्याग, बलिदान, कष्ट और तपस्या का जीवन रहा। बड़ी से बड़ी विरोधी शक्तियां भी उन्हें कर्म पथ से विचलित न कर सकीं। वे अपनी आन के लिये जिये और अपनी आन के लिये मरे। दधीचि का सा त्याग और दृढ़ता लेकर वे जन्मे थे और उसी दृढ़ता में उन्होंने मृत्यु को गले लगाया। यदि जरा भी उनमें बनावट होती, यदि अपने सिद्धान्तों से जरा भी वे समझौता कर सकते, यदि ज़रा भी अपनी आत्मा के निर्देशों के विरुद्ध चल सकते तो वे जयपुर के प्राइम मिनिस्टर या कांग्रेस वर्किंग कमेटी के मेम्बर और जैन समाज के सर्वमान्य नेता हो सकते थे। उनके निधन पर हड़तालें मनाई जातीं, शोक के गीत गाये जाते, लाखों का जुलूस निकलता और स्मारक फण्ड क़ायम होता! किन्तु धिक्कार है ऐसी कीर्ति पर जो अपनी आत्मा को बेचकर प्राप्त की जाय! इसीलिये हमें उनके असफल जीवन में महान सफलता के लक्षण दिखाई देते हैं और इसी लिये हमें उनकी इस महान मृत्यु पर हर्ष है। शोक इसलिये है कि हम उनके देशवासी उनके जीवन की उचित क़ीमत नहीं आंक पाये। हमारे राष्ट्रीय पत्रों ने उनके निधन का समाचार तक छापने की आवश्यकता नहीं समझी। जैन समाज ने समझा कि उसके जिगर से एक चुभता हुआ कांटा निकल गया और नागरिकों ने समझा कि एक पागल था, चलो छुट्टी हुई।

हम क्या करें! हमने तो उसी 'अछ-जैन' के अन्दर जैन धर्म का सच्चा स्वरूप और तीर्थङ्कर के दर्शन पाये थे। अगर जैन धर्म का यह दावा है कि जैन धर्म अखिल मानवता का धर्म है, यह

अखिल विश्व के कल्याण का धर्म है, वह श्रेष्ठ मनुष्यत्व का धर्म है तो सच्चे जैनों का यह पवित्र कर्तव्य है कि उसे वे सीमा बन्धनों से मुक्त करें। जैन समाज के गले और सड़े ढांचे के माध्यम से महान जैन धर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। विदेशी पूंजी पतियों के साथ मिलकर देश के कोटि कोटि जनता जनार्दनों की अवहेलना करने वाले करोड़पति जैन व्यापारी तीर्थङ्कर के सन्देस का प्रचार करने के नितान्त अयोग्य हैं। जब तक जैन समाज का यह ढाचा न बदले तब तक जैन सिद्धान्तों की महानता दुनिया के सामने प्रतिपादित नहीं की जा सकती। जो बात स्वर्गीय स्वामी विवेकानन्द ने वैदिक संस्कृति के सम्बन्ध में सोची थी वही बात जैन दर्शन और अध्यात्म के धुरन्धर ज्ञाता की हैसियत से स्वर्गीय अर्जुनलाल जी ने सोची, किन्तु परिणाम कितने विपरीत हुये। जब कि हिन्दू समाज ने विवेकानन्द को अपना उद्धारक समझा जैन समाज ने सेठी जी को अपना शत्रु और विघातक समझा। काश जैन समाज ने ४० वर्ष पूर्व सेठी जी की बात पर ध्यान दिया होता ! किन्तु क्या यह सच नहीं है कि यहूदियों ने ही अपने पैग़म्बर ईसा को सूली पर चढ़ाया था ? क्या यह सच नहीं है कि सुकरात को एथेन्स वालों ने ही जहर का प्याला दिया था ? क्या यह सच नहीं है कि तूरानियों ने ही महात्मा ज़रथुस्त्र की हत्या की थी ? और क्या यह सच नहीं है कि जैन समाज ने ही स्वर्गीय सेठी जी के जीवन के महान लक्ष्य को नष्ट भ्रष्ट किया ? फिर भी यह सन्तोष की बात है कि जिस दिशा-पथ का निर्देश स्वर्गीय सेठी जी ने किया था उसी पर धीरे धीरे जैन नव-युवकों के पैर बढ़ते हुये दिखाई दे रहे हैं। सेठी जी जैन धर्म को विश्वधर्म के आसन पर आसीन देखना चाहते थे और यह तब तक असम्भव है जब तक जैन समाज गड़े हुये धन पर साँप की तरह बैठकर अभ्यागत पर फुंकार मारता रहेगा।

अपने देश भक्त मित्रों से हम क्या कहें ? भारतीय राष्ट्रीयता के लिये सेठी जी ने क्या किया इसके लिये उन्हें हण्टर कमीशन की रिपोर्ट पढ़नी चाहिये। हिंसात्मक क्रान्ति के युग में अनेक नव-युवकों ने सेठी जी के चरणों में दीक्षा लेकर मातृ-भूमि पर अपनी भेंट चढ़ाई। उस ज़माने में देश भक्ति के इज़हार का कोई दूसरा तरीक़ा ही नहीं था। सेठी जी को भी लम्बे कारावास के रूप में इसका पुरस्कार मिला। उसके बाद असहयोग आन्दोलन में भी वे कई बार जेल गये। सारा जीवन उनका त्याग और कष्ट का जीवन था। साम्प्रदायिक एकता के वे ज़बर्दस्त हामी थे। सभी धर्मों के प्रति उनकी एक सी आस्था थी। तपाये हुये सोने की तरह वे खरे और सच्चे थे और यही गुण उन्हें खा गया।

परमात्मा उनके देशवासियों को सुबुद्धि दे ताकि वे सकुचित भावनाओं से ऊपर उठकर उनके जीवन की भव्यता और महत्व को समझ सकें।

स्व० ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी

इसी महीने जैन समाज के कर्मठ सेवी और विद्वान् ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी की मृत्यु का दुःखद समाचार हमें मिला। यू तो वे महीनों से बीमार चल रहे थे किन्तु एक दुर्घटना ने उनकी मृत्यु को निकट ला दिया। आज से १८ वर्ष पूर्व 'विश्ववाणी' के सम्पादक को स्वर्गीय ब्रह्मचारी जी के साथ लगभग दस दिन रहने का सुअवसर मिला था। साथ में पण्डित सुन्दरलाल जी, महात्मा भगवानदीन जी और स्वर्गीय अर्जुनलाल जी सेठी भी थे। इन विद्वद्जनों के बीच जो धर्म चर्चा चलती थी उनमें ब्रह्मचारी जी अति उदार भावना से हिस्सा लेते थे। उनके जैन धर्म की कल्पना विराट और व्यापक थी, उनमें सकुचित भावना ज़रा न थी। क्या ही अच्छा हो यदि जैन समाज महात्मा भगवान दीन जी को इस बात के लिये राज़ी कर सके कि वे स्वर्गीय ब्रह्मचारी जी और स्वर्गीय सेठी जी के संस्मरण लिख कर दें। इन तीनों

में बड़ी हद मिश्रता थी। महात्मा जी के लिखे हुए संस्मरणों से न केवल जैन समाज के युवकों को ही लाभ पहुँचेगा बल्कि वे सभी के लिये पथ प्रदर्शन का काम देंगे।

जैन समाज की इस क्षति में हमारी उसके साथ हार्दिक सहानुभूति है।

पंडित सुन्दरलाल जी का मिशन

हिन्दू मुसलिम एकता का कार्यक्रम बनाकर पंडित सुन्दर लाल जी पिछले तीन महीने से दिल्ली और पंजाब में प्रचार कर रहे हैं। गत ९ फ़रवरी को लाहौर में कुछ व्यक्तियों ने सभा से आते हुए ११ बजे रात को सड़क पर उन पर हमला कर दिया और उन्हें और सर्वेण्ट्स आफ पीपुल सोसायटी के सदस्य लाला जगन्नाथ जी को चोट पहुँचाई। पत्रों में यह समाचार प्रकाशित होते ही पचासों मित्रों ने चिन्तित होकर इस सम्बन्ध में हमें पत्र लिखे। पंडित जी ने आक्रमणकारियों के सम्बन्ध में अपने २० तारीख के एक पत्र में हमें लिखा है—

"····कुछ फ़िक्र नहीं। मेरे दिल में उनके लिये भी प्रेम है और ईश्वर और अपनी सचाई पर विश्वास। मैं अपनी पूरी ताक़त से अपने जीवन के उद्देश्य को पूरा करने में लगा हूं। आज लाहौर आये तीन दिन कम एक महीना हो गया। जगह जगह से और ज़िलों ज़िलों से दावतें आ रही हैं। लेकिन अभी लाहौर से ही छुटकारा नहीं। इस अरसे में दो दरजन से ऊपर व्याख्यान ज़रूर दे चुका हूं।···मुझे विश्वास है कि आम हिन्दू और मुसलमान और सिख सब मेरी बात को पसन्द करते हैं, मेरे साथ हैं और आपस में प्रेम और एकता चाहते हैं।···हवा काफ़ी गरम है। मैं समझता हूं लोग प्रेम के प्यासे हैं। प्रेम ही सब बीमारियों की दवा है।"

परमात्मा पंडित जी के इस मिशन को कामयाब बनाये।

विश्ववाणी के तीन अगले विशेषाङ्क

'विश्ववाणी' का मई अङ्क "बौद्ध जैन संस्कृति अङ्क" होगा, जून का अङ्क 'सोवियत् रूस अङ्क" होगा और जुलाई का अङ्क "चीन अङ्क" होगा। एजेण्टों और ग्राहकों से निवेदन है कि वे अभी से अपनी अपनी प्रतियां रिज़र्व करालें। काग़ज़ की मंहगी और अप्राप्यता के कारण हम गिनती की ही प्रतियाँ छापेंगे। लेखकों से प्रार्थना है कि वे जुलाई तक हमें विशेषाङ्क सम्बन्धी ही रचनाएं भेजें। अन्य रचनाएं छापने में हम असमर्थ हैं।

सम्पादक, मुद्रक और प्रकाशक—विश्वम्भरनाथ, विश्ववाणी प्रेस, साउथ मलाका, इलाहाबाद।

संरक्षक
पण्डित सुन्दरलाल

सम्पादक
विश्वम्भरनाथ

अप्रैल १९४२

इस अङ्क में आकर्षण

इनके अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण लेख, आलोचना, कहानी आदि

वा० मूल्य ६)   'विश्ववाणी' कार्यालय, इलाहाबाद   एक अङ्क का ॥≈)

विश्ववाणी की

नवयुग निर्माणकारी महान योजना

सोवियत्-संस्कृति-अङ्क

इस अङ्क के सम्पादक

डाकटर भूपेन्द्रनाथ दत्त

इस अङ्क के कुछ महत्वपूर्ण लेख

श्री रजनी पामदत्त	यूरोप में क्रान्ति
श्री डी० डी० कोसम्बी	सोवियत् में विज्ञान साधना
श्री जे० डी० बर्नल	विज्ञान को सोवियत् की देन
श्री हीरेन्द्र मुखर्जी	सोवियत् राष्ट्र व्यवस्था
श्री गोपाल हालदार	सोवियत्-संस्कृति
डा०, भूपेन्द्रनाथ दत्त	रूसी समाज तत्व
श्री वीणा दास	सोवियत् नारी
स्वामी सहजानन्द सरस्वती	सोवियत् और हमारा कर्तव्य
श्री महादेव प्रसाद साहा	मध्य एशिया में सोवियत् सभ्यता
डा०, ज़ैड० ए० अहमद	सोवियत और साम्प्रदायिक समस्या

उपरोक्त प्राप्त लेखों के अतिरिक्त

डा०, मुल्कराज आनन्द, श्री डी० एन० प्रिट् एम० पी०, श्री सिड्नि वेब, डा०, के० एम० अशरफ़, श्री सज्जाद ज़हीर, डा०, एम० ए० अलीम, प० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और श्री नरेन्द्र आदि सज्जनों ने भी लिखने का वचन दिया है।

काग़ज़ की कमी के कारण परिमित संख्या में ही हम यह अङ्क छाप रहे हैं। हमारा दावा है सोवियत् रूस पर हिन्दी में आज तक ऐसी सुन्दर और महत्वपूर्ण सामग्री नहीं प्रकाशित हुई।

अभी से अपनी प्रति रिज़र्व करा लीजिये

'विश्ववाणी' का जुलाई अङ्क "चीन अङ्क" होगा

विषय-सूची

[अप्रैल १६४२]

आवश्यक सूचना

कृपालु पाठकों से प्रार्थना है कि वे पत्र व्यवहार करते समय अपना ग्राहक नम्बर लिखना न भूलें। बग़ैर ग्राहक नम्बर के हजारों नामों में से एक नाम ढूंढ़ना बड़ी परेशानी का काम है।

प्रत्येक ग्राहक को पत्र कार्यालय से तीन बार चेक करके बड़ी छान बीन के साथ भेजा जाता है। यदि किसी महीने की १० तारीख़ तक पत्र न मिले तो अपने यहां के डाकख़ाने को लिखकर उनसे जवाब मांगिये और उनके जवाब के साथ हमसे शिकायत कीजिये।

भवदीय—

शिवकुमार मिश्र

मैनेजर 'विश्ववाणी'



विष पान

चित्रकार—श्री महादेव वर्मा

विश्ववाणी

युक्तप्रान्त, पंजाब, बम्बई, मदरास, मध्यप्रान्त और बरार, होलकर राज्य, मेवाड़, जोधपुर, मैसूर और काशमीर के शिक्षा विभागों द्वारा स्कूल और कालेज लाइब्रेरियों के लिए स्वीकृत

संरक्षक — पण्डित सुन्दरलाल

सम्पादक — विश्वम्भरनाथ

वर्ष २, भाग ३ | अप्रैल, १९४२ | अङ्क ४, पूर्ण अङ्क १६

गीत

श्री महादेवी वर्मा

जग अपना भाता है!
मुझे प्रिय पथ अपना भाता है!

यह सागर का चञ्चल छौना,
नाप शून्य का कोना कोना,
पावस का संकेत
धूलि में मोती बन आता है!
रूप का अम्बर फैलाता है!

आहटहीन चला जब हौले,
कलियों ने भी पलक न खोले,
इन साँसों का बन्धु वात
जब झंझा बन जाता है!
सिन्धु मथ गिरि से टकराता है!

ये मधु-पतझर, साँझ-सवेरे,
मृदु पग से देते नित फेरे,
इनके पीछे दौड़ प्रलय
क्या छाया छू पाता है?
तिमिर में थक थक रह जाता है!

ये साँसें दे हँस कर सोते,
वे दीपित दृग निशि भर रोते,
तारों से सुकुमार तृणों का
कब टूटा नाता है ?
हास में आँसू ढुल जाता है !

अपनी साधों का सम्बल दे,
मिट मिट कर मिटने का बल दे,
दीपक को यह शलभ
प्रात से मिलना सिखलाता है !
पङ्ख मिस स्मृतियाँ बिखराता है !

निज रस-भाग जिसे दे पाला,
सजग जिसे दिन रात सँभाला,
क्षार हुआ वह फूल,
शूल तब पथ में बिछ जाता है !
व्यथा हर पग में दोहराता है !

नयनो ने उर को कब देखा,
हृदय न जाना दृग का लेखा,
आग एक में और
दूसरा सागर ढुलकाता है !
भुला यह, वह निखरा आता है !

पहुँच न पाती जग की आँखे,
राह न पाती मन की पाँखे,
जीवन के उस ओर
स्वप्नशिशु पल में पहुँचाता है !
बिना पथ फिर लौटा लाता है !

और कहेंगे मुक्ति - कहानी,
मै ने भूलिव्यथा भर जानी,
हर कण को छू प्राण
पुलक-बन्धन मे बँध जाता है !
मिलन - उत्सव बन क्षण आता है !
मुझे प्रिय जग अपना भाता है !

—

यूनानी संस्कृति और उसके निर्माता

पण्डित सुन्दरलाल

थेली

दर्शन और विज्ञान दोनों में सब से पहला यूनानी नाम थेली (Thales ६४०-५४६ ई० पू०) का है। थेली को 'पहला यूनानी वैज्ञानिक' (Physicist) और 'यूनानी दर्शन शास्त्र का जन्मदाता' माना जाता है। थेली जन्म से शामी था, बाद में आयोनिया मे जाकर रहा। ज्ञान की खोज में वह अनेक देशों में पहुँचा। वर्षों मिश्र में रहकर उसने वहा के आचार्यों से गणित, ज्योतिष इत्यादि विद्याओं में शिक्षा ग्रहण की। मिश्र से लौटकर यूनान में सब से पहले उसी ने रेखागणित का प्रचार किया और स्वयं इस विज्ञान को खासी उन्नति दी। उक्लैदस की बहुत सी शकलें उसी की हल की हुई हैं। ज्योतिष में वह पहला यूनानी था, जिसने ३६५ दिन का वर्ष निश्चित किया और गणित से हिसाब लगाकर सफलता पूर्वक भावी सूर्यग्रहण का वर्षों पहले से समय बताया। प्रकृति की तमाम घटनाओं का वैज्ञानिक ढङ्ग से अध्ययन और अन्वेषण करने पर उसने ज़ोर दिया। थेली अपने समय में वैज्ञानिक पाण्डित्य और राजनैतिक बुद्धिमत्ता दोनों के लिये प्रसिद्ध था।

पिथागोर

कुछ समय बाद यूनानी विद्वान पिथागोर (Pythagoras) ने पहले मिश्र जाकर वर्षों वहा रहकर विद्याध्ययन किया और उसके बाद ज्ञान की खोज में एशिया के लगभग समस्त देशों भारत इत्यादि की यात्रा की। पिथागोर के अध्यात्मिक सिद्धान्तों पर प्राचीन भारतीय विचारों की विशेष छाप है।

अकगणित, रेखागणित, बीजगणित और ज्योतिष सब का वह पण्डित था। इन सब को उसने यूनान के अन्दर खूब उन्नति दी। गणित की शिक्षा को वह हर मनुष्य के मानसिक विकास के लिये आवश्यक समझता था। वह पहला व्यक्ति था, जिसने यूनान में पृथ्वी के गोल होने का उपदेश दिया, सूर्य को विश्व का केन्द्र बताया और प्रचार किया कि पृथ्वी, चन्द्र इत्यादि सब सूर्य के चारों ओर घूमते रहते हैं। पदार्थ विज्ञान (Physics) में उसने कई नए आविष्कार किये । दर्शन और अध्यात्म विद्या (Metaphysics) में उसका बड़ा ऊंचा स्थान था।

किन्तु पिथागोर का इससे कहीं अधिक महत्व उसके धार्मिक सिद्धान्तों के लिये है। अपनी यात्राओं से लौटकर उसने यूनानियों को उपदेश दिया कि आत्मा अमर है और एक शरीर के बाद दूसरा शरीर धारण करती हुई अनेक योनियों और जन्म जन्मान्तरों में से निकलती रहती है। इस "पुनर्जन्म के चक्र" से बाहर निकलने का उपाय उसने आत्मशुद्धि और सयमी जीवन बताया। किसी भी पशु की हिंसा करने और मास खाने को उसने पाप बताया। प्रचलित धार्मिक अन्धविश्वासों और सामाजिक कुरीतियों का उसने खण्डन किया।

यूनान में पिथागोर ने दो नई तहरीकें शुरू कीं। एक धार्मिक सम्प्रदाय जिसका उद्देश सदाचार, इन्द्रिय सयम और धार्मिक जीवन द्वारा अपनी आत्मा को उन्नत करना और समाज के सदाचार को सुधारना; और दूसरा एक वैज्ञानिक सम्प्रदाय जिसका उद्देश शुद्ध वैज्ञानिक ढङ्ग से खोज करके मानव ज्ञान के भण्डार को बढाना था। पिथागोर को इन दोनों में किसी तरह के विरोध के स्थान पर सामञ्जस्य ही सामञ्जस्य दिखाई देता था। उसका अपना जीवन इसी सामञ्जस्य का उदाहरण था। पिथागोर की मृत्यु के सदियों बाद तक ये दोनों तहरीकें यूनान में उसके नाम से चलती रहीं और यूनानियों के धार्मिक सुधार और वैज्ञानिक उन्नति मे उन्होंने खास हिस्सा लिया।

जेनोफ़ेन

इसके बाद जेनोफ़ेन (Xenophanes) ने देश देशान्तरों में भ्रमण करने के बाद उन मानसिक और नैतिक श्रृङ्खलाओं को, जिन्होंने यूनानी जन सामान्य के मस्तिष्क को जकड़ रखा था और अधिक स्पष्टता के साथ प्रकट किया। मिश्रियों और यूनानियों दोनों के प्रचलित देवी देवताओं का खण्डन करते हुए उसने उपदेश दिया—"ईश्वर केवल एक है, वह सबसे महान है, उसका कोई रूप रंग नहीं, . फिर भी वह सब नेत्र ही नेत्र है, सब चैतन्य ही चैतन्य है, सब कान ही कान है...बिना परिश्रम वह सब पर शासन करता है.. वह स्थिर है, अचल है.. लेकिन लोगों ने ऐसे देवताओं की झूठी कल्पनाएं कर रखी हैं, जो मनुष्यों की तरह जन्म लेते हैं, शरीर धारण करते हैं, कपड़े पहनते हैं और बोलते हैं अफ़रीका वालों के देवता काले और चपटी नाक के हैं, यूनानियों के भूरे बालों वाले और नीली आंख के,.. महाकवि होमर जैसों ने तो देवताओं के साथ चोरी, व्यभिचार और छल कपट जैसी वे बातें भी जोड़ दी हैं, जो मनुष्यों तक के लिये लज्जाजनक और निन्दनीय हैं...यदि पशुओं के हाथ होते और वे देवताओं की मूर्तियाँ बना सकते, तो निस्सन्देह वह भी अपनी ही सी शक्ल के देवता बना लेते।"

एक दूसरे स्थान पर—"सब चीज़ें मिट्टी में से पैदा हुई हैं और अन्त को मिट्टी ही में मिल जावेंगी। . हम सब मिट्टी और पानी से पैदा हुए हैं।"

एक दूसरे यूनानी विद्वान ने जेनोफेन के अध्यात्म विद्या सम्बन्धी मूल सिद्धान्त को इन शब्दों में बयान किया है—"यह सब एक है और वह एक ईश्वर है।" भारतीय वेदान्त के इस वाक्य "सर्वम् खलु इदम् ब्रह्म" का यह ठीक अनुवाद मालूम होता है।

हेराक्लीट

इसके बाद हेराक्लीट (Heraclites) का समय आया, जिसे यूरोपीय अध्यात्म विद्या का जन्मदाता (Founder of Metaphysics) माना जाता है। हेराक्लीट के दार्शनिक सिद्धान्त अत्यन्त गूढ थे। नित्य परिवर्तित होने वाले विश्व की अन्तर्हित एकता में उसे विश्वास था, अनैक्य में इस ऐक्य का अनुभव करना ही उसके अनुसार ज्ञान का लक्ष्य है और इस व्यापक एकता को लक्ष्य में रखकर विवेकपूर्वक आचरण करना मनुष्य का धर्म। प्रचलित धार्मिक प्रथाओं का उसने खण्डन किया।

हेराक्लीट के समकालीन परमेनीद (Parmenides) के सिद्धान्त बिलकुल भारतीय अद्वैतवाद के सिद्धान्त थे। उसका मूल सिद्धान्त जिससे वह अपने सारे दर्शन शास्त्र को शुरू करता है, गीता के

"नासतो विद्यते भाव: नाभावो विद्यते सत:"

का अक्षरश: अनुवाद है। आत्मा को उसने एक मात्र अपरिवर्तनशील, नित्य, सत्य, और शेष सब परिवर्तनशील संसार को असत्य और केवल धोखा बताया और उपदेश दिया कि—"जो कुछ है वह सब आत्मा ही आत्मा है।" उसने उपदेश दिया कि इस मूल सत्य को सामने रखते हुए विद्वान का फ़र्ज़ है कि वह मनुष्यों के ऐहिक अभ्युदय के लिये शुद्ध वैज्ञानिक ढङ्ग से गणित, ज्योतिष और विज्ञान की खोज में लगा रहे।

अनक्सि मन्दर

इन तत्ववेत्ताओं की इस आन्तरिक प्रवृत्ति के अनुकूल गूढ अध्यात्म के साथ साथ यूनान में वैज्ञानिक उन्नति बराबर ज़ोरों के साथ जारी रही। अनक्सिमन्दर (Anaxi Mander) ने पहली बार यूनान में धूपघड़ी का, सूर्य के दक्षिणायन और उत्तरायण होने के समय का पता लगाने के लिये ज्योतिष सम्बन्धी यन्त्र का और भौगोलिक मानचित्रों का प्रचार किया। उसने वैज्ञानिक ढङ्ग से समझाने की कोशिश की कि सूर्य, नक्षत्रों आदि की रचना किस प्रकार हुई, बताया कि पृथ्वी के समस्त जीव-जन्तु नमी और गर्मी के मिलने से पैदा होते हैं और मनुष्य का शरीर धीरे-धीरे लाखों वर्षों के अन्दर अन्य छोटे जन्तुओं के

शरीरों से उन्नति करते करते बना है। इस प्रकार कम से कम यूरोप में अनक्षिमन्दर ढाई हजार साल पहले डार्विन का पूर्वगामी था।

हिकाताई

हिकाताई (Hecataeus) ने कम से कम अधिकांश एशिया, अफ़रीका और यूरोप की यात्रा करके "पृथ्वी परिक्रमा" नाम की एक पुस्तक दो जिल्दों मे लिखी जिसमें नक़शों सहित उसने अनेक देशों का विस्तृत हाल लिखा और यूनानी भूगोल शास्त्र को ख़ूब उन्नति दी। होमर ने कुछ सदियों पहले जिस तरह पद्य में प्राचीन यूनानियों का इतिहास लिखा था, हिकाताई ने अब कल्पित पौराणिक कथाओं और सच्ची ऐतिहासिक घटनाओं में ख़ूब छानबीन करके गद्य में प्राचीन यूनानियों का एक नियमित इतिहास लिखा।

थेली से लेकर हिकाताई तक सब छठवीं सदी के आयोनिया यानी एशिया कोचक के रहने वाले थे।

यूनान और ईरान

हिकाताई ही के समय मे एक घटना हुई, जिसने एक बार यूनानियों के उभरते हुए राष्ट्रीय जीवन को गहरे संकट मे डाल दिया और यूनान के नेताओं को अपने बल और अपनी कमज़ोरियों दोनों की जाच करने का मौक़ा दिया। यह घटना, ईरानी सम्राट कुरु (Cyrus) के समय में, ईरानियों का यूनान पर हमला था।

ईरानियों का बल उस समय बढा हुआ था। एक एक कर पश्चिम के समस्त प्रदेश विशाल ईरानी साम्राज्य के अंग बनते चले जा रहे थे। यूनान की अवस्था उस समय कुछ विचित्र थी। एक ओर उसमें बड़े से बड़े दार्शनिक और वैज्ञानिक पैदा हो रहे थे और कम से कम कुछ उच्चतर श्रेणी के यूनानियों का मस्तिष्क बड़ी सुन्दरता के साथ विकसित होता जा रहा था और दूसरी ओर अधिकांश जनसाधारण वही पुराने अन्ध विश्वासों और धार्मिक कुरीतियों मे डूबे हुए थे। जो लोग समाज की सबसे नीचे की श्रेणी मे थे, जिनके बारह महीने शारीरिक परिश्रम में व्यतीत होते थे, उन्हें अव्वल तो नागरिक अधिकार प्राप्त न थे और दूसरे उन्हें इतनी फ़ुरसत न थी कि वे समाज-सुधार या देश की रक्षा की ओर ध्यान दे सके। केवल एक केन्द्रीय राजनैतिक सत्ता बहुत दरजे तक इन त्रुटियों को दूर कर सकती थी। किन्तु राजनैतिक अवस्था इससे भी अधिक शोचनीय थी। वहां सैकड़ों रग बिरंगी छोटी छोटी रियासतें, जो प्रायः एक दूसरे से लड़ती रहती थीं और जिन्हें कोई एक सूत्र में बांधने वाला न था। यदि कोई समस्त देश को एक शासन में लाने का विचार करता था, तो आपस की प्रतिस्पर्धा और वहा वैयक्तिक स्वतन्त्रता की विवेकशून्य घातक भावना उसके विचार या प्रयत्न को निष्फल कर देती थी।

इसी तरह जो कोई विद्वान जन सामान्य के धार्मिक विचारों को सुधारने का प्रयत्न करता था, पुराने धर्म के ठेकेदार और स्वार्थी नीतिज्ञ मिलकर उसे कुचल डालने का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार का सबसे ज़बरदस्त प्रयत्न अभी तक पिथागोर ने किया था। क़रीब दो सौ वर्ष तक उसका क़ायम किया हुआ समाज जिन्दा रहा। ससार के ज्ञान सचय को बढ़ाने में उसका और उसके अनुयाइयों का हिस्सा सदा के लिये स्मरणीय है। यह भी कहा जाता है कि सहस्रों यूनानियों के जीवन और उनके सदाचार पर उसके उपदेशों का बड़ा हितकर प्रभाव पड़ा। किन्तु पिथागोर के जीवन में ही उसका क्रियात्मक विरोध शुरू हो गया। अपने जीवन का अन्तिम समय उसे एक प्रकार के निर्वासन में व्यतीत करना पड़ा। उसका समाज ख़िलाफ़ क़ानून ऐलान कर दिया गया। पाचवीं सदी ईसा पूर्व में जिस मकान में इस समाज की बैठकें होतीं, उसे जला दिया जाता। एक बार एक घर के अन्दर पिथागोर के पचास से ऊपर अनुयाइयों को अचानक घेर कर मार डाला गया। कुदरती तौर पर यही हालत अन्य अनेक समाज सुधारकों और उनके प्रयत्नों की हुई।

यूनान में उस समय पहली श्रेणी में अनेक दार्शनिक, तत्ववेत्ता और ज्ञानी थे। उनके नीचे अनेक अविश्वासी या संशयात्मा शिक्षित और सबसे नीचे की श्रेणी में मूढ़विश्वासों और कुरीतियों में डूबी हुई बहुसंख्यक जनता। ईरानी हमले के समय के ईरान और यूनान की तुलना करते हुए एक इतिहास लेखक लिखता है:—

"यूनान की जो कुछ हालत थी ईरान की हालत उसके ठीक विपरीत थी। यूनान में हर कोई स्वतन्त्र, ईरान में एक तन्त्र शासन। यूनान में मुख्यकर जोर औद्योगिक या व्यापारी लोगों का था, जिनमें प्रजातन्त्र की भावना प्रबल थी। ईरान में मुख्य जोर एक क्षत्रिय समाज का, जिसे अपनी कुलीनता का अभिमान था और जो समस्त शासन योग्यतापूर्वक अपने हाथों में सँभाले हुए था। यूनान की सेना में था। दारमदार केवल पैदल सिपाहियों पर, ईरान की सेना के बल उसके घुड़सवार। यूनान की सदाचार प्रणाली में सचाई को एक अत्यन्त गौण चीज समझा जाता था, ईरान में सचाई को ही सबसे ऊँचा स्थान दिया जाता था। यूनान में वे धार्मिक विचार, जो स्वयं अधिक अध्यात्मपरायण यूनानियों तक को सदाचार विरुद्ध और तर्क शून्य मालूम होते थे, ईरान में वह व्यवस्थित धर्म (जरथुस्त्री धर्म) था जो संसार के महान धर्मों में से एक है। इस तरह की दो कौमों को न एक दूसरे से सहानुभूति हो सकती थी और न वे एक दूसरे को समझ सकती थीं। छठवीं सदी के ईरानी यूनानियों को तुच्छ समझते थे और यूनानी ईरानियों से डरते थे। ईरानी साम्राज्य के साथ यूनानियों की लड़ाइयों का इतिहास इस बात का चमकता हुआ उदाहरण है कि किसी कौम के चरित्र में मस्तिष्क का बल और राजनैतिक निर्बलता दोनों किस प्रकार साथ साथ रह सकते हैं।"

निस्सन्देह प्राचीन यूनान का इतिहास इस बात का सबूत है कि थोड़े से लोगों में मस्तिष्क की बड़ी से बड़ी उन्नति, बिना जन सामान्य में सच्चे धार्मिक जीवन और सदाचार के, किसी कौम को जिन्दा नहीं रख सकती। व्यक्तिगत बहादुरी बिना राजनैतिक व्यवस्था यानी राष्ट्रीय एकता के निकम्मी है और कालातीत रूढ़ियाँ जन सामान्य के मस्तिष्क या चरित्र को उभरने नहीं देतीं।

यूनानियों की राष्ट्रीय एकता में एक रुकावट यह भी थी कि अलग अलग रियासतों में अलग अलग व्यापारी मण्डल थे, जो उस समय की देशी और विदेशी तिजारत में एक दूसरे से गहरी प्रतिस्पर्धा रखते थे।

ईरानियों ने बड़ी आसानी से अधिकांश रियासतों पर एक एक कर कब्जा कर लिया। एक रियासत पर हमला होते समय दूसरी प्रायः उदासीन रहती थीं या ईरानियों के साथ अलग समझौते का प्रयत्न करती थीं। कुदरती तौर पर सन् ४९४ ई० पू० की गन्द्रा लड़ाई में अन्तिम विजय ईरानियों की रही।

करीब दो सौ वर्ष तक यूनान पर ईरानियों की हुकूमत रही, किन्तु यूनानियों की यह पराधीनता अर्थात् ईरानियों के साथ उनका यह निकट सम्बन्ध यूनानियों के हक में केवल एक शाप ही साबित नहीं हुआ। ईरानी एक अधिक प्राचीन, अधिक सभ्य, अधिक संगठित और धर्मपारायण कौम थे। उस समय के साम्राज्य विजेताओं के पास पराजित देशों के रक्तशोषण के लिये उस प्रकार की प्रणाली भी न थी, जिस प्रकार की आजकल के साम्राज्यवादियों के पास है। ईरानियों के इस सम्पर्क के कारण यूनानी कौम को तीन मुख्य लाभ हुए—

१—ईरान के उस अधिक उन्नत और अधिक व्यवस्थित धर्म का यूनान में प्रवेश, जिसकी ओर ऊपर संकेत आ चुका है।

२—यूनानी ज्ञान विज्ञान का आयोनिया यानी एशिया कोचक से आगे बढ़कर यूरोपीय ग्रीस में प्रवेश और उस ज्ञान विज्ञान के इतिहास में एक नए युग का प्रारम्भ।

३—यूनान में नई राजनैतिक बेदारी और राष्ट्रीय ऐक्य के लिये अधिक ज़ोरदार प्रयत्न।

यूनानी जन समाज की आवश्यकता

यूनानी जन समाज को उस समय सबसे बढ़कर एक अधिक तर्कसिद्ध, अधिक शुद्ध, अधिक उन्नत, किन्तु साथ ही जन सामान्य के लिये उपयोगी एक व्यवस्थित धर्म की आवश्यकता थी। ईरान के महान जरथुस्त्री धर्म या उस धर्म की मिथ्री सम्प्रदाय ने जिस सुन्दरता के साथ इस कमी को पूरा किया और सदियों तक हर श्रेणी के लाखों यूनानियों की आध्यात्मिक पिपासा को शान्त किया उसका वर्णन ईरान के अध्याय मे किया जा चुका है। जन सामान्य के लिये अनेक अच्छे-बुरे छोटे बडे देवी-देवताओं को छोड़कर एक 'मिथ्र' यानी एक अनन्य ईश्वर और उसके नुमायश भौतिक चिह्न 'सूर्य' की उपासना, उपासना की कहीं अधिक सरल, पवित्र और सुन्दर विधि, सच्चाई और सदाचार का जीवन, और विशेष जिज्ञासुओं के लिये कठोर आत्मसंयम और साधना यानी रूहानी तरक्की के उत्तरोत्तर दरजे, जरथुस्त्री धर्म की मिथ्री सम्प्रदाय ने आध्यात्मिक अनावृष्टि से सतप्त यूनानी कौम के सामने खोल दिये। इस उदार सम्प्रदाय के प्रताप से ही यूनानियों में सब धर्मों की ओर एक उदार भाव और सर्वधर्म समन्वय की भावना जाग्रत हुई।

जो धार्मिक विचार उस समय यूनानियों में फैले उन्हें एक इतिहास लेखक ने सार रूप में बयान किया है। इस बयान में जरथुस्त्री धर्म और पिथागोर के विचार यानी ईरानी धार्मिक विचार और भारतीय धार्मिक विचार दोनों सुन्दरता के साथ मिले हुए दिखाई देते हैं। वह लिखता है—

"मनुष्य की रचना में दोनों अंश मौजूद हैं, एक ईश्वरीय अंश जो भलाई की ओर जाता है, और दूसरा दानवी और शैतानी जो मनुष्य को ज़बरदस्ती बुराई की ओर खींचता है। मनुष्य जीवन का मुख्य उद्देश दूसरे अंश को अपने अन्दर से निकाल फेंकना है। इसका उपाय सच्चा धार्मिक जीवन व्यतीत करना और अपने सदाचार को शुद्ध करना है। इसके लिये आत्मा को जन्म-जन्मान्तर में अनेक शरीर धारण करने पड़ते हैं। जब आत्मा बिलकुल शुद्ध हो जाती है, तो 'पुनर्जन्म के इस चक्र' से छूट जाती है और ध्यान द्वारा ईश्वर में लीन यानी शुद्ध ईश्वरीय होकर मुक्त हो जाती है। आत्मशुद्धि के नियमों में से कुछ ये हैं—हर प्रकार के आमिष् भोजन से परहेज किया जावे, जहां कोई मृत शरीर हो या जहाँ बालक का जन्म हुआ हो, वहां से अलग रहा जावे, क्योंकि ये दोनों हालतें अशुद्धि की हैं, सफेद रंग के कपड़े पहने जावें, और आत्मसंयम के लिये (तप, उपवास आदि) कई तरह की साधनाएं की जावें।"

विशेष जिज्ञासुओं के लिये यूनान में अनेक सम्प्रदाए ऐसी चल पड़ीं, जिनमें प्रवेश करने वालों को बाजाब्ता दीक्षा दी जाती थी। दीक्षितों को भारतीय योग की सी क्रियाएं सिखाई जाती थीं।

ईरानी विजय का दूसरा परिणाम हुआ यूनानी ज्ञान विज्ञान का एशिया कोचक से बढ़ कर यूरोपीय ग्रीस में प्रवेश और उस ज्ञान विज्ञान के इतिहास में नए युग का प्रारम्भ।

पाचवीं सदी में सबसे पहला मुख्य नाम हमें अनक्षगोर (Anaxagoras) का मिलता है। गणित और ज्योतिष में अपने पाण्डित्य और पदार्थ विद्या में अपने वैज्ञानिक मस्तिष्क के लिये अनक्षगोर का जितना आदर था, उससे भी अधिक आदर उसके आत्मसंयम और तपस्वी जीवन के लिये था। ग्रहणों, धूम केतुओं, इन्द्र धनुष और सूर्य की धूप को, इसी प्रकार पृथ्वी पर वनस्पतियों, पशुओं और मनुष्यों की पैदाइश को, उसने प्राकृतिक घटनाओं के रूप में वैज्ञानिक ढङ्ग से समझाने का प्रयत्न किया। पदार्थ विद्या (Physics) में उसने अणुओं और परमाणुओं (Atoms) के सिद्धान्त की नींव रखी। वह आयोनिया का रहने वाला था। आयोनिया से समुद्र के पार एथन्स जाकर यानी एशिया से यूरोप जाकर उसने सबसे पहले यूरोपीय ग्रीस में दर्शन शास्त्र की चाह और वैज्ञानिक खोज की प्रवृत्ति को जन्म दिया। उसके

शिष्यों में जगद्विख्यात सुकरात की गणना की जाती है।

यूनानी त्रिमूर्ति

इसके बाद ही मानव ज्ञान के इतिहास में उस अद्भुत त्रिमूर्ति का समय आया जिसके मस्तिष्क की दमक आज दो हज़ार वर्ष से ऊपर हो जाने पर भी अणु मात्र फीकी नहीं पड़ी। सुकरात, अफलातून और अरस्तू इस इतिहास के अमर रत्न हैं। सुकरात ने कोई पुस्तक नहीं लिखी। किन्तु अफलातून और अरस्तू के ग्रन्थ आज तक संसार के बड़े से बड़े विश्व विद्यालयों में आदर के साथ पढाए जाते हैं और उस समय तक पढाए जाते रहेंगे जिस समय तक मनुष्य में ज्ञान की प्यास है।

सुकरात

सुकरात जो "मस्तिष्क की दृष्टि से अपने समय का सबसे अधिक कुशाग्र बुद्धि" "सदाचार की दृष्टि से सबसे अधिक पवित्र"[1] और "उस समस्त युग का सबसे अधिक धर्मात्मा मनुष्य" कहा[2] जाता है, ईसा से ४०० साल पहले पैदा हुआ था। सुकरात के समस्त दार्शनिक और वैज्ञानिक सिद्धान्तों को यहाँ बयान करना असम्भव और अनावश्यक है। केवल एक दो मोटी मोटी बातों से यूनानी संस्कृति के विकास में उसके स्थान को दर्शा देना काफी है।

सुकरात के समय तक दर्शन शास्त्र का मुख्य सम्बन्ध विश्व की उत्पत्ति और रचना से था। सुकरात ने दर्शन को एक अधिक क्रियात्मक रूप दिया। उसके बाद से दर्शन का मुख्य उद्देश मनुष्य जीवन के लक्ष्य को स्थिर करना समझा जाने लगा। सुकरात का अपना दावा था कि परमेश्वर ने मुझे मनुष्यों के लिये एक विशेष सन्देश देकर भेजा है और वह सन्देश यह है—

"जीवन का महान काम अपनी आत्मा की ख़बर लेना, उसका उद्धार करना है। मनुष्य को चाहिये कि अपनी आत्मा को जहाँ तक सम्भव हो सके महान बनावे, उसे स्वयं ईश्वर के सदृश बनावे और अधिकांश मनुष्य जिस प्रकार अपने शरीर या माल असबाब की अधिक परवाह करके और अपनी आत्मा की कम परवाह करके अपने जीवन को बरबाद करते हैं वैसा न करे।"*

सुकरात ने प्रतिपादन किया कि मानव सदाचार या मानव धर्म उन बातों के पालन करने में नहीं है "जिनसे एथन्स वालों का भला हो, या स्पार्टा वालों का भला हो, या सब यूनानियों का भला हो, बल्कि उन बातों का पता लगाने और उनके पालन करने में है, जिनसे मनुष्य मात्र का कल्याण हो।" "हमारे धर्म का सम्बन्ध इस बात से नहीं है कि हम किसी ख़ास देश से अपनापन अनुभव करते हैं और न इस बात से है कि हम मानव इतिहास में किसी ख़ास सभ्यता या संस्कृति में पैदा हुए हैं, बल्कि केवल इस बात से है कि हम विशाल मानव कुटुम्ब के एक अंग हैं।"

सुकरात की मानव धर्म की कल्पना एक व्यापक कल्पना थी। पिथागोर के उपदेशों का उसके विचारों पर काफी असर था।

राज-शास्त्र या राजनीति को वह धर्म का ही एक अंग मानता था। "शासकों और राजनीतिज्ञों का कर्तव्य भी आत्माओं की ख़बर लेना है, न केवल अपनी आत्माओं की, बल्कि उन सब की आत्माओं की जिन पर वह शासन करते हैं। उन सब आत्माओं को जहां तक सम्भव हो सके महान बनाना, यही राजशासन का मूल तत्व है।"

सुकरात अपने समय के प्रजातन्त्रवादी विचारों का कट्टर विरोधी था। उसका एतराज था कि "मानव कल्याण को न समझ सकने वाले अदूरदर्शी लोगों को ये अपने नेता चुन लेते हैं और ऐसों ही

1 W H Thompson "the Phaedrus of Plato" appendix 1.

2 Plato, ch V11, 326 c

*"उद्धरेदात्मानमात्माना नात्मानमवसादयेत्"
—भगवद्गीता

के हाथ में सारे समाज की बाग दे देते हैं।" "प्रजातन्त्रवादी अन्य अनेक बातों में तो विशेषज्ञों को ढूंढते हैं और सिवाय विशेषज्ञों के दूसरे की राय नहीं सुनते, किन्तु जब किसी राजनैतिक नीति के औचित्य, उसकी न्याय्यता और उसके परिणामों पर बहस करनी होती है, तो जितने राय देने वाले होते हैं सब की राय को एक बराबर गिन लेते हैं।"

अपने समय के यूनानी शासकों से वह असन्तुष्ट था। उसका कहना था कि "ये लोग जन सामान्य के केवल शरीरों के नौकर हैं। ये अपनी समाज के वैद्य नहीं हैं; क्योंकि ये धार्मिक जीवन और परहेज़-गारी को नहीं बढाते, जिनसे समाज का अध्यात्मिक स्वास्थ्य सम्हले, इसके विरुद्ध ये उन्हें ऐसी चीजें देते हैं जैसे जलसेना और तिजारत। राष्ट्र की महत्ता का माप इन्होंने धन और साम्राज्य को बना रखा है, चरित्र को नहीं।"

राजनीति के अपने इस आदर्श के अनुकूल ही सुकरात "स्त्रियों को सर्वोच्च राजनीति और युद्ध दोनों में भाग लेने के योग्य" मानता था।

सुक़रात का व्यक्तिगत जीवन अत्यन्त संयमी, सच्चा, सरल और पवित्र था। सरदी गरमी में वह एक ही चोगा पहने रहता था, किन्तु कभी चोगे के नीचे कुरता या पैरों में जूता उसने नहीं पहना। वह हँस-मुख था। कभी किसी के दिल को उससे दुःख नहीं पहुँच सकता था। दूसरों की कमज़ोरियों के लिये उसका हृदय सदा गहरी सहानुभूति से भरा रहता था। वह मर्मी और रहस्यमय मालूम होता था। कभी कभी वह लगातार चौबीस घण्टे तक गहरी समाधि की हालत में रहता था। उसका कहना था कि उसे अकसर अपने भीतर से एक आवाज़ सुनाई देती है, जो उसे बुराई से रोकती रहती है। एक ईश्वर में उसे ज़बरदस्त विश्वास था। आत्मा को वह ईश्वर का एक अंश और अमर मानता था। किन्तु अन्य शिक्षित यूनानियों की तरह वह यूनानी पौराणिक कथाओं और अनेक देवी देवताओं सबको कपोलकल्पित और मिथ्या मानता था। असत्य और बनावट से उसे सबसे अधिक घृणा थी।

गणित और ज्योतिष का वह धुरन्धर पण्डित था। जिस एथन्स रियासत में सुक़रात पैदा हुआ था, वहाँ के धार्मिक और राजनैतिक नेता उसके विचारों को सहन न कर सके। ७० वर्ष की आयु में उस पर 'अधर्मी' और 'राजद्रोही' होने का इलज़ाम लगाया गया। कहा गया कि वह देश के "युवकों को प्रजा-तन्त्र के विरुद्ध बहकाता और ख़राब करता है" और "देश के प्रचलित धार्मिक विचारों और देवताओं का तिरस्कार करता है।" पाँच सौ व्यक्तियों की नगर सभा ने बहुमत से दोषी ठहराकर सुक़रात को प्राण दण्ड की आज्ञा दी। सुक़रात ने बड़ी प्रसन्नता के साथ हँसते हँसते यूनानी प्रथा के अनुसार ज़हर का प्याला पीकर अपनी जीवन यात्रा का अन्त किया। सुक़रात के अज्ञानी और अदूरदर्शी देशवासियों ने चिरस्थायी कलंक अपने ऊपर लेकर उस अनमोल रत्न को शहादत के स्वर्णमुकुट में जड़कर सदा के लिये मानव समाज के मस्तक पर क़ायम कर दिया।

अफ़लातून

सुक़रात ने स्वयं कभी कोई पुस्तक नहीं लिखी। इस त्रिमूर्ति के दूसरे महान व्यक्ति अफ़लातून (Plato) ने सुक़रात के बाद उसके विचारों को लेख-बद्ध करके संसार के सामने रखा और स्वयं उन्हें विस्तार और उन्नति दी।

अफ़लातून के ३६ प्रधान ग्रन्थ, जिनमें से कई अत्यन्त विशाल हैं, यूरोप की आज तक की समस्त दार्शनिक और वैज्ञानिक उन्नति का मुख्य आधार हैं। इनमें से अनेक आज दिन तक लगभग अपौरुषेय, निर्भ्रान्त और अमर प्रतीत होते हैं।

किसी भी प्राचीन तत्ववेत्ता के अधिक गूढ़ दार्शनिक या वैज्ञानिक सिद्धान्तों का बयान करना असम्भव है। हम केवल उनके कुछ मोटे मोटे फुटकर उपदेशों को ही दे सकते हैं, जिससे उस समय की सांस्कृतिक स्थिति का अनुमान हो सके।

२० वर्ष की आयु से ३० वर्ष की आयु तक, १० वर्ष, अफलातून सुक़रात का शिष्य रहा। इसके बाद सुक़रात की मृत्यु हुई, जिसका अफलातून पर गहरा प्रभाव पड़ा। अफलातून ज्ञान की खोज में देश देशान्तरों में घूमा। १२ वर्ष उसने मिस्र में रहकर वहाँ के आचार्यों से शिक्षा ग्रहण की। यूनान लौटकर उसने दर्शन और विज्ञान दोनों की खोज और उन्नति के लिये एक नई संस्था 'एकेडेमी' क़ायम की और वहीं बैठकर एक एक कर अपने ग्रन्थ लिखने शुरू किये। अफलातून की 'एकेडेमी' ९०० वर्ष से ऊपर तक जारी रही और गणित, ज्योतिष, पदार्थ विज्ञान इत्यादि की शिक्षा का एक महान केन्द्र रही। धीरे धीरे उसने यूनान के अन्दर अनेक विश्वविद्यालयों और अमसर विद्यालय' को जन्म दिया।

एक ओर तो अफलातून सुक़रात ही के समान ध्यान और समाधि का आदी, रहस्यमय और अत्यन्त 'स्नेही' स्वभाव का था। दूसरी ओर संसार के बड़े से बड़े वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं कि उससे बढ़कर कुशाग्र वैज्ञानिक मस्तिष्क की नरसता नहीं हो सकती। दर्शन और अध्यात्म, सदाचार शास्त्र और राजनीति, न्याय शास्त्र और गणित, ज्योतिष और पदार्थ विज्ञान सब का वह एक समान धुरन्धर पण्डित था। सुक़रात ही के समान "अपनी आत्मा को पहचानो" पर वह सबसे अधिक ज़ोर देता था।

'कर्तव्याकर्तव्य के विषय में अपनी अन्तरात्मा की आज्ञा के सामने और कोई आज्ञा मान्य नहीं हो सकती, और जो बात धर्म या सदाचार की दृष्टि से ठीक नहीं, वह राजनैतिक दृष्टि से भी जायज़ नहीं हो सकती। अन्याय को सहन कर लेना बुरा है, किन्तु अन्याय करना उससे अधिक बुरा है।" इन विषयों की जितनी हृदयस्पर्शी चर्चा अफलातून के ग्रन्थ "गौर्जिया" (Gargias) में की गई है, संसार के साहित्य में किसी दूसरी जगह नहीं मिलती।

अपने दूसरे ग्रन्थ फीदो (Phaedo) में अफलातून ने आत्मा के "अमर" और ईश्वरीय होने को बड़ी सुन्दरता और विस्तार के साथ समझाया है। समस्त इन्द्रिय गोचर पदार्थ अनित्य और नाशमान हैं। आत्मा नित्य, अविनाशी और अपने असली रूप में सर्वज्ञ है। इन्द्रियों द्वारा ज्ञान को प्राप्त करना केवल आत्मा के उस शुरू के ज्ञान को ताज़ा कर देना है।

इस विषय में अफलातून का सिद्धान्त सार रूप में अफलातून ही के शब्दों में इस प्रकार है—

एक सच्चा दार्शनिक बिना उद्वेग के मृत्यु की प्रतीक्षा कर सकता है। शरीर से आत्मा के पृथक् हो जाने का नाम मृत्यु है और हर दार्शनिक जीवन भर, इसी प्रयत्न में लगा रहता है कि शरीर के बन्धन से आत्मा को मुक्त कर ले। इस जीवन में शरीर आत्मा के कार्यों में सदा बाधक होता रहता है। शरीर की इच्छाएं और वासनाएं ज्ञान और धर्म (Goodness) की खोज करने में बाधा डालती हैं। शरीर की कमज़ोरियां हमारे चिन्तन को सदा रोकती हैं। विज्ञान तत्व में ठीक ठीक सचाई पर हम केवल उसी दरजे तक पहुँच सकते हैं, जिस दरजे तक कि हम केवल इन्द्रियगोचर ज्ञान का सहारा छोड़कर शुद्ध चिन्तन का आश्रय ले सकें। इसलिये मौत केवल उस छुटकारे को पूरा करती है, जिसका दार्शनिक व्यक्ति जीवन भर अभ्यास करता रहा है। मौत के बाद आत्मा जीवित रहती है।

एक दूसरे के पश्चात् आत्मा अनेक जन्म धारण करती रहती है। संसार एक चक्र है, जिस तरह सरदी और गरमी, सोना और जागना एक दूसरे के बाद आते रहते हैं, उसी तरह पैदा होना और मरना। जो पैदा हुआ है वह अवश्य मरेगा और जो मरा है वह अवश्य फिर पैदा होगा।

शरीर अनित्य और नाशमान है। आत्मा नित्य और अविनाशी है।

अफलातून की पुस्तक प्रश्नोत्तर के रूप में है। विपक्षी के इस तरह के एतराज़ों का कि 'शरीर एक बाजा है और आत्मा उसमें से निकलने वाला राग, बाजे के तार टूट गए और राग ख़त्म हो गया'

अफ़लातून ने विद्वत्ता और विस्तार के साथ उत्तर दिया है।

एक और ग्रन्थ 'सिम्पोज़ियम' (Symposium) में अफ़लातून ने "प्रेम" की व्याख्या की है। 'प्रेम' ही वे पर हैं जो आत्मा को उड़ाकर सर्वज्ञता तक पहुँचा सकते हैं। इस "समस्त रचना से पार नित्य और परम सौन्दर्य" के साथ "योग" (Union) द्वारा युक्त होने की अभिलाषा में प्रेम ही जिज्ञासु का सहायक है। जो मनुष्य संसार के सुखों और भोगों के बदले अपनी आत्मा को बेच डालता है, वह इससे वंचित रह जाता है। "प्रेम" के उत्तरोत्तर चार रूप या उसके चार दरजे हैं—

(१) सबसे अधिक स्थूल या असंस्कृत रूप वह है, जिसमें मनुष्य किसी सुन्दर व्यक्ति की ओर आकर्षित होकर उससे मिलने की इच्छा करता है। मनुष्य उस समय उस व्यक्ति द्वारा सन्तान उत्पन्न करके शारीरिक अमरत्व लाभ करना चाहता है। शरीर इससे अधिक नहीं कर सकता। इस प्रेम का केन्द्र शरीर है।

(२) इससे अधिक शुद्ध और संस्कृत रूप प्रेम का वह है, जिसमें मनुष्य किसी अपनी जैसी दूसरी आत्मा के साथ सहयोग करके मानव समाज के लिये उपयोगी संस्थाएं और जीवन के हितकर नियम क़ायम करना चाहता है, और इस प्रकार अमर यश लाभ करने का इच्छुक होता है। इस प्रेम का केन्द्र मस्तिष्क है।

(३) इससे भी अधिक उच्च और संस्कृत रूप उस मनुष्य के प्रेम का है जो संसार के सबसे अधिक धीमान मनुष्यों के साथ मिलकर सत्य की खोज करता है और मानव दर्शन और विज्ञान के भण्डार को बढ़ाना चाहता है। इस प्रेम का केन्द्र बुद्धि है।

किन्तु अन्तिम लक्ष्य अभी और दूर है। जब मनुष्य सत्य की इस खोज में आगे बढ़ता रहता है तो "अकस्मात्" एक समय उसे उस "परम सौन्दर्य" के "दर्शन" होते हैं, जो संसार के समस्त सौन्दर्यों और अच्छाइयों का असल है। ये सब उसकी नक़ल हैं।

(४) तब मनुष्य में शुद्ध "आध्यात्मिक प्रेम" जाग्रत होता है और उस परम सौन्दर्य के साथ "युक्त" होकर सबके साथ एकता अनुभव करता हुआ मनुष्य सच्चा "अमरत्व" लाभ करता है। इसी का नाम "मोक्ष" है।

मौजूदा हालत में हम सिवाय उन बातों के जिनका बोध हमें इन्द्रियों द्वारा होता है, शेष समस्त ज्ञान की ओर से अंधे हैं। किन्तु "प्रेम" का इस प्रकार उचित उपयोग करके आत्मा उस स्थान तक पहुँच जाती है, जहाँ उसे बिना इस शरीर के सम्पूर्ण ज्ञान के साथ साक्षात्कार हो जाता है।

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक रिपब्लिक (Republic) में अफ़लातून ने एक "आदर्श राज्य" या "आदर्श समाज" का चित्र खींचने का प्रयत्न किया है। अफ़लातून के अनुसार हर मनुष्य की व्यक्तिगत प्रवृत्ति, उसकी रुचि और उसकी योग्यता के अनुसार समाज में उसके लिये एक विशेष कार्य नियत है, जिसे वह अच्छी तरह कर सकता है। वही उसका क़ुदरती "पेशा" है। हर मनुष्य का "धर्म" है कि वह अनन्य भाव से उसी कार्य को जितनी अच्छी तरह कर सके करे। वही समाज व्यवस्थित या आदर्श समाज है, जिसमें हर मनुष्य को अपने इस स्वधर्म के ठीक ठीक समझने और पालन करने का मौक़ा मिले। इसी पर व्यक्ति और समाज दोनों का आध्यात्मिक स्वास्थ्य निर्भर है।

हर समाज में "तीन तरह के मनुष्य" होते हैं। एक "ज्ञानी", दूसरे "कर्मी" और तीसरे 'उपभोगी'। पहली श्रेणी के लोगों का मुख्य लक्ष्य ज्ञान की प्राप्ति होता है, दूसरी श्रेणी के लोगों का यश की प्राप्ति, और तीसरी श्रेणी वालों का उपभोग की सामग्री जुटाना। तीन ही तरह के मनुष्यों के स्वभाव होते हैं। आदर्श समाज वह है, जिसमें ये तीनों श्रेणियाँ साफ़ बटी हुई हों और तीनों अपना अलग अलग

काम करती हो। समाज का राजनैतिक नेतृत्व और शिक्षा का काम सच्चे ज्ञानियों के हाथ में होना चाहिये, देश की रक्षा यानी "सेना और पुलिस" का काम वीर कर्म्मियों के हाथों में और "राष्ट्र के लिये धन धान्य" की उत्पत्ति तीसरी श्रेणी वालों के। पहली श्रेणी वालों का गुण विशेष "बुद्धिमत्ता" (Wisdom) है, दूसरी का "वीरता" (Coraugc) और तीसरी का "संयम और मिताहार" (Temperance)। "न्याय" यह है कि ये सब अपना अपना काम करें। जिस समाज मे ये चारों गुण इस रूप में मौजूद हों, वही सुखी और व्यवस्थित रह सकता है।

अफलातून की ये तीनों श्रेणियाँ भारत के ब्राह्मण, क्षत्रियों और वैश्यों की श्रेणियाँ हैं। यूनान में इस कल्पना का प्रारम्भ पिथागोर की भरत-यात्रा के बाद पिथागोर ही से हुआ।

अफ़लातून के अनुसार राज शासन की असली बाग ज्ञानियों यानी दार्शनिकों के हाथों मे होनी चाहिये। अपने इन आदर्श दार्शनिक शासकों के लिये अफलातून ने एक शिक्षाक्रम नियत किया है। २० वर्ष से ३० वर्ष की आयु तक दस वर्ष उन्हें अंक गणित (Arithmetic), सम ज्यामित (Plain Geometry), घन ज्यामित (Solid Geometry), ज्योतिष (Astronomy) और सगीत विज्ञान (Harmonies) में पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त करना चाहिये, और उसके बाद पांच वर्ष तक इन्द्रिय गोचर पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाले समस्त प्रयोगों से अलग रहकर "शुद्ध अध्यात्म की दृष्टि से समस्त विज्ञानों की विवेचना" (A Critical Metaphysic of sciences) करनी चाहिये। ताकि वे "एक में अनेक और अनेक में एक को देख सकें" और उन्हें इस बात का साक्षात्कार हो जावे कि इस "महान विश्व के अन्दर हमारे क्षणिक वैयक्तिक जीवन का क्या मूल्य" है और "समस्त आत्माओं का वास्तविक अभ्युदय" किस बात में है। अफ़लातून के अनुसार देश का शासन केवल इसी तरह के परिपक्व ज्ञानियों के हाथों मे होना चाहिये, और शेष सबको उनकी बताई हुई नीति पर चलना चाहिये।

समस्त रिपब्लिक' गहरे धार्मिक विश्वास और आध्यात्मिक ज्ञान से ओत प्रोत है।

अपनी पुस्तक "थियेटिटस" (Theaetetus) मे अफलातून ने इन्द्रियों द्वारा प्राप्त समस्त ज्ञान को अन्त मे मिथ्या और "धोखा" और सच्चे ज्ञान की प्राप्ति के लिये अन्तर में "ध्यान" की महिमा का वर्णन किया है। ज्ञान धर्म का और अज्ञान अधर्म का मूल है। ज्ञान ही धर्म (Virtue) है। अपने से पहले के अद्वैतवादी परमैनीड का अफलातून ने अपने को अनुयायी लिखा है।

अफलातून का सबसे विशाल ग्रन्थ "लाज" (Laws) है। उसमें भारतीय स्मृतियों के समान धर्म (Ethics and Theology), शिक्षा (Education) और राज नियम (Jurisprudence) सबका समावेश है।

इसमे अफलातून ने अविवाहितों के लिये पूर्ण इन्द्रिय निग्रह यानी ब्रह्मचर्य का आदेश दिया है। एक से अधिक स्त्री या एक से अधिक पुरुष के साथ विवाह को पाप क़रार दिया है। विवाहित पुरुषों के लिये पूर्ण पत्नी व्रत धर्म और विवाहित स्त्रियों के लिये पतिव्रत धर्म दोनों को अत्यन्त आवश्यक बताया है और इसके उल्लघन को क़ानूनन दण्डनीय ठहराया है।

राजनीति मे ईरान के से अनियंत्रित एकतंत्र शासन और एथन्स (यूनान) के से अनियंत्रित प्रजातंत्र दोनों की बुराइयां दर्शाकर उसने एक बीच की मिश्रित व्यवस्था यानी थोड़े से चरित्रवान ज्ञानी पुरुषों की सलाह से योग्य राजा द्वारा एकतंत्र राज शासन की सलाह दी है।

समाज का मुख्य आधार तिजारत पर नहीं बल्कि खेती पर होना चाहिये, अधिकाश आबादी किसानों की होनी चाहिये जो स्वय अपनी अपनी भूमि के मालिक हों।

तमाम सम्पत्ति समाज की सयुक्त सम्पत्ति हो, और किसी की कोई अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति न हो

(Communism), इस सिद्धान्त को उच्च और आदर्श मानते हुए भी उसने मनुष्यों की समाज में इसे अव्यवहार्य बताया है। किन्तु किसी भी घर की सम्पत्ति उससे छीनी न जावे, और यदि किसी घर की सालाना आमदनी एक नियत मिक़दार से अधिक हो तो जितनी रक़म उस नियत मिक़दार से बढ़ी हुई हो, वह सब एक विशेष टैक्स के रूप में राज्य उससे वसूल कर ले ताकि विविध मनुष्यों की व्यक्तिगत सम्पत्ति में बहुत अधिक अन्तर दिखाई न दे।

राज्य का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य 'शिक्षा' है, जो एक विशेष योग्य मंत्री के अधीन रखा गया है। स्त्रियों और पुरुषों की शिक्षा में कोई अन्तर नहीं रखा गया। छोटे बच्चों की खेलने की प्रवृत्ति का शिक्षा में उपयोग किया गया है। बच्चों की शारीरिक उन्नति की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। बड़ों की शिक्षा हर विषय के विशेषज्ञों के सुपुर्द की गई है। छोटी बड़ी शिक्षा संस्थाओं यानी विद्यालयों की विस्तृत व्यवस्था की गई है।

दीवानी और फौजदारी को अलग अलग करके, उचित न्यायालयों, योग्य न्यायाधीशों और छोटे न्यायालयों से बड़े न्यायलय में अपील की व्यवस्था है।

अफलातून के अनुसार तीन खास तरह के भ्रान्त विचार मानव दुराचार के कारण हैं—

(१) ईश्वर में अविश्वास,

(२) इस बात से इनकार कि समस्त विश्व का शासन न्याय और सत्य के अनुसार चल रहा है,

(३) यह समझना कि भेंटों और बलियों के ज़रिये कर्मफल के ईश्वरीय नियम को रोका या टाला जा सकता है।

अफलातून ने इन तीनों भ्रान्तियों का विस्तार के साथ खण्डन किया है।

सोलहवीं, सत्रहवीं और उन्नीसवीं सदी ईसवी तक जब जब यूरोप में आध्यात्मिक पुनर्जागृति की कोई लहर दिखाई दी है, उसमें अफलातून का प्रभाव और उसका नाम दोनों साफ चमकते रहे हैं। अभी बीसवीं सदी में समस्त विज्ञानों का एक दर्शन (A Philosophy of Sciences) रचने के प्रयत्न अफलातून का नाम लेकर ठीक उसी की क़ायम की हुई तेइस सौ साल पहले की लकीरों पर चल रहे हैं।

अरस्तू

इस त्रिमूर्ति में आख़री नाम अरस्तू का है। सुकरात और अफलातून दोनों एथन्स के रहने वाले थे। अरस्तू आयोनिया का निवासी था। यह एक आम बात है कि यूनानी सभ्यता के समस्त काल में एथेन्स वालों के दिमाग़ दर्शन (Philosophy) में अधिक अच्छे समझे जाते थे और एशिया कोचक वालों के विज्ञान (Science) में। सत्रह साल की उमर से सतीस साल की उम्र तक यानी अफलातून की मृत्यु (३०७ ई० पू०) के समय तक अरस्तू अफलातून का शिष्य रहा। सन् ३४२ ईसा से पूर्व से ३३५ ई० पू० तक सात वर्ष वह मक़दून में जगद्-विख्यात सिकन्दर का शिक्षक रहा। ३२२ ई० पू० में उसकी मृत्यु हुई।

अरस्तू के मूल सिद्धान्त लगभग वही थे, जो अफलातून के। अन्तर यह था कि अफलातून ने अधिक ध्यान दर्शन और अध्यात्म की ओर दिया और अरस्तू ने विज्ञान और प्रकृति के अध्ययन की ओर। अफलातून को गणित से अधिक प्रेम था और अरस्तू को प्राणि विज्ञान (Biology) से। अरस्तू ही आजकल के यूरोप के अनेक विज्ञानों (Sciences) का जन्म देने वाला और उनके अलग अलग नाम रखने वाला माना जाता है। दार्शनिक वह था ही। अध्यात्म (Metaphysics), मनोविज्ञान (Psychology), न्यायशास्त्र (Logic), सदाचार शास्त्र (Ethics), राजनीति (Politics), प्राणि-विज्ञान (Biology), जीवन-विज्ञान (Physiology), पशु-विज्ञान (Zoology), पदार्थ विज्ञान (Physics), शरीर-व्यवच्छेद-विद्या (Anatomy) और वैद्यक (Medicine) इन सब पर उसने अलग अलग ऊंची श्रेणी के ग्रन्थ लिखे, जिनमें से अनेक अधिकांश बातों में अभी तक प्रामाणिक माने जाते हैं। लिखा

है कि सिकन्दर के साथ अनेक यूनानी विद्वानों का एक समूह ईरान, भारत और मिश्र आया था, जो लौटते समय अपने साथ वैज्ञानिक अध्ययन की बहुत सी सामग्री इन देशों से यूनान ले गया था। उस सामग्री से अरस्तू को अपने अपूर्व ग्रन्थों की रचना में बहुत बड़ी मदद मिली। उसके जीवन के अन्तिम तेरह वर्ष शुद्ध वैज्ञानिक खोज में ही बीते।

इस पर भी उसने लिखा है कि बाहर की ओर हम ज्ञान की कितनी ही खोज क्यों न करें "ध्यान और एकान्त सेवन ही में वह परम शान्ति प्राप्त होती है, जिसमें मनुष्य ईश्वर के दर्शन (Vision of the Divine) कर सके।" "मनुष्य जिस दरजे तक अमरत्व को पकड़ सकता है ध्यान से ही पकड़ सकता है।" अरस्तू का दिमाग़ जितना तेज़ था, उसका हृदय दीनों और दुखियों के लिये उतना ही प्रेमातुर था।

अरस्तू का "सदाचार शास्त्र" (Ethics) अभी तक ससार के महान ग्रन्थों में गिना जाता है। और बड़े से बड़े विश्वविद्यालयों मे पढ़ाया जाता है। न्याय शास्त्र में यूरोप आज तक अरस्तू के लिखे हुए नियमों और विचारों से अधिक आगे नहीं बढ़ सका और तेरहवीं सदी ईसवी तक सिवाय अरस्तू की पुस्तक के इस विषय पर कोई दूसरी पुस्तक यूरोप के विद्यालयों में पढ़ाने के लिये नहीं थी। गत बाईस सदियों मे यूरोप के लाखों विद्यार्थियों और सैकड़ों बड़े से बड़े विद्वानों ने अरस्तू की अनेक पुस्तकों से ही वैज्ञानिक ढङ्ग से सोचना और वैज्ञानिक खोज करना सीखा। पशु और मानव शरीर के वैज्ञानिक "विकासवाद" (Evolution) का सिद्धान्त यूनान ही में अरस्तु के पहले से चला आता था। अरस्तू ने उसे विस्तृत रूप दिया और १९ वीं सदी में जब इस सिद्धान्त की ओर नए सिरे से ससार के वैज्ञानिकों का ध्यान गया, तब से ससार की वैज्ञानिक उन्नति में अरस्तू का मस्तिष्क और उसका पद अनन्य स्वीकार कर लिया गया।

बुक़रात

इसके बाद उस प्राचीन समय के केवल एक और यूनानी विद्वान् हकीम बुक़रात (Hippocrates) का जिक्र करना बाक़ी है।

बुक़रात एशिया कोचक का रहने वाला सुक़रात और अफलातून का समकालीन था। वैद्यक की शिक्षा ग्रहण करने के लिये उसने अनेक पूर्वीय देशों की यात्रा की। यूनान लौटकर उसने इस विद्या से सम्बन्ध रखने वाले विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे और स्वय बड़ी सफलता के साथ चिकित्सा करनी शुरू की। बुक़रात के सिद्धान्तों और ग्रन्थों को विस्तार से वर्णन करने की ज़रूरत नहीं है। कफ, वात, पित्त और रक्त इन चारों से वह शरीर की रचना मानता था और इनमे से किसी के कार्य में किसी तरह बाधा पड़ने को रोग का कारण। रोग निवारण के लिये औषधि से अधिक महत्व उसने आहार और व्यायाम, शुद्ध जल और शुद्ध वायु पर दिया है। सबसे अधिक जोर उसने वीर्य रक्षा यानी ब्रह्मचर्य पर दिया है। बुक़रात ही उस चिकित्सा पद्धति का जन्मदाता है, जो एशिया में यूनानी पद्धति के नाम से प्रचलित है और जिसे 'होकली सिस्टम' का नाम देकर आज तक फ्रास और जर्मनी के अनेक होशियार डाक्टर लाखों रोगियों को उसी के द्वारा अच्छा करते हैं।

"बुक़रात की चिकित्सा पद्धति हमारी सर्वोच्च प्रशसा के योग्य है, क्योंकि वैज्ञानिक तर्क की शर्तों (Scientific conditions of deduction and induction) में वह पूरी उतरती है। शरीर के अन्दर जो कार्य हो रहा होता है, उसे वह रोकने का प्रयत्न नहीं करता, बल्कि केवल प्रकृति को मदद देने की कोशिश करता है। उसका यह एक महान सिद्धान्त ही उसकी आश्चर्यजनक वैज्ञानिक शक्ति का सिक्का हमारे दिलों पर जमाने के लिये काफी है। बाद के यूनानी चिकित्सक उसे प्रेम से 'दिव्य बूढ़ा मनुष्य' (The Divine Old man) कहा करते थे। यूरोपीय डाक्टर उसे आज तक 'वैद्यक का

पिता' (The Father of Medicine) कह कर पुकारते हैं। निस्सन्देह वह इस उपाधि का पूरी तरह पात्र था।"[1]

'वैद्यक', 'औषधियों', 'महामारियों', 'हवा', 'पानी' 'स्थान', 'सिर के जख्म', "जर्राही" (Surgery) की चीजों के सम्बन्ध में" इत्यादि विषयों पर सत्तर से ऊपर ग्रन्थ बुक़रात के लिखे हुए बताए जाते हैं। "इनमें से जो ग्रन्थ निस्सन्देह बुक़रात ही के लिखे हुए हैं, उनसे इस तरह के विस्तृत ज्ञान का पता चलता है, जो उसके नाम को प्रामाणिक बना देता है। अनेक अवस्थाओं के उसने अपने ग्रन्थों में जो चित्र खींचे हैं, वह इतने विस्तृत और स्पष्ट हैं कि आज तक उनसे बढ़कर तो क्या, शायद उनके बराबर के चित्र भी किसी ने नहीं खींचे। मरते हुए मनुष्य के चेहरे का जिस तरह और जिन शब्दों में उसने बयान किया है, आज तक बिना किसी भी परिवर्तन या दुरुस्ती के ठीक उसी के उन्हीं शब्दों में यूरोपीय वैद्यक की पुस्तकों में बयान किया जाता है।"

जर्राही (Surgery) के विषय में बुक़रात की विस्तृत हिदायतों और औज़ारों के वर्णन को पढ़कर बीसवीं सदी ईसवी के यूरोप के बड़े से बड़े डाक्टर कहते हैं—"निस्सन्देह बिलकुल यह मालूम होता है कि हम आज कल के किसी अपटुडेट सर्जिकल हाल में खड़े हुए हैं।[2]

आज तक प्रसिद्ध यूरोपीय अग्निवर्धक मिक्सचर "हिप्पोक्रास" (Vinum Hippocraticum) और दवाएं छानने की यूरोपीय छनना (Hippocrates Siane) बुक़रात के नाम से मशहूर हैं। अनेक यूरोपीय विश्वविद्यालयों में नए स्नातकों को "रोगियों और उनके सम्बन्धियों के रहस्यों को गुप्त रखने की" जो शपथ दी जाती है, वह "बुक़राती शपथ" (Hippocratic Oath) कहलाती है और ठीक बुक़रात ही के शब्दों में दी जाती है।

वैद्यक में भारत और जर्राही में मिश्र इससे पूर्व अपूर्व उन्नति कर चुके थे और बुक़रात के विचारों में निस्सन्देह भारत और मिश्र दोनों के ज्ञान का सुन्दर सम्मिश्रण था। यूनानी वैद्यक के आकाश में बुक़रात एक अकस्मात तारे की तरह चमका।

इसके बाद उसके अनेक शिष्यों ने उसके कार्य को जारी रखा और इस विषय पर अनेक विद्वत्ता-पूर्ण ग्रन्थ लिखे। "आजकल के इतिहास लेखकों ने मुक्त कण्ठ से इस बात को स्वीकार किया है कि बुक़रात के ये अनुयायी स्पष्ट और खुली आंखों से चीज़ों को देखते थे। सत्य की खोज में वे पहले से किसी तरह की भी कल्पना करके उससे प्रभावित न होते थे, किसी भी सम्प्रदाय के विशेष सिद्धान्तों या सम्प्रदायों के वाद-विवादों से उनके मस्तिष्क दूषित न थे। वे विज्ञान के वीर, निर्लेप और अनन्य सेनानी थे। भौतिक संसार जैसा है वैसा ही उसका सामना करते थे, जैसा फ़र्ज़ कर लिया जाय वैसा नहीं।"*

यूनानी चिकित्सा पद्धति

बुक़रात और उसके शिष्यों ने अपने अधिकतर ग्रन्थ सूत्रों के रूप में लिखे हैं। चिकित्सक के समस्त व्यवहार में सचाई, ईमानदारी और चरित्र की शुद्धता पर बुक़रात ने बहुद अधिक ज़ोर दिया है।

वैद्यक का कार्य यूनान में इतना पवित्र कार्य समझा जाता था कि स्वयं अरस्तू ने अपना सब धन विज्ञान की सेवा में व्यय कर देने के बाद अन्त के

१ "A History of the Intellectual Development of Europe", by J W Draper, vol. I, PP 394-96

२ Charles Singer M. A, M. D., D Litt, F R. C P a Lecture in the History of Medicine in the University of London,—as quoted in the Encyclopedia Brittanica, vol. XI., P 585.

* Ibid, vol. XI., P. 584

दिनों में अपने गुज़ारे के लिये अत्तार की एक दूकान खोल रखी थी और अपने हाथ से नुसखे बाँधता था।

इस उन्नत यूनानी विज्ञान के नाश की कहानी एक दूसरे स्थान पर दी जायगी। बहुत मुमकिन है कि जर्राहों में आजकल के यूरोप निवासी बुकरात के समय से बहुत आगे बढ़े हुए हों। प्राकृतिक चिकित्सा में भी आज यूरोप में तरह तरह के सुन्दर प्रयोग हो रहे हैं। किन्तु जहाँ तक औषधियों द्वारा चिकित्सा का सम्बन्ध है यूरोप अभी तक बुकरात से आगे नहीं बढ़ा। निस्सन्देह तरह तरह के रोगों के कीटाणुओं पर तरह तरह के विषों के प्रयोग करके रोग दिखाई देते ही उन कीटाणुओं के संहार में लग जाने की अपेक्षा यह कहीं अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है कि पहले शरीर के भीतर की उस त्रुटि का पता लगाया जावे, जिसके कारण वे कीटाणु वहाँ अपनी जगह बना सके और इस भीतर की त्रुटि को इस तरह दूर करने का प्रयत्न किया जावे कि जिससे न केवल वे कीटाणु ही निकल जावें, बल्कि जहाँ तक हो सके आइन्दा भी मानव स्वास्थ्य का कोई शत्रु भीतर न घुस सके। आजकल की एलोपैथिक पद्धति और प्राचीन यूनानी या भारतीय पद्धति में यही मोटा अन्तर है।

यूनान में आज़ादी का जनम

डाक्टर ताराचन्द

यूरोप के पूरब दक्खिनी कोने में बल्कान का इलाक़ा है, जिसे क़ुदरत ने अजीब ढंग पर गढ़ा है। इसके पथरीले बदन पर हर तरफ़ पहाड़ी पसलियाँ उभरी हुई हैं। समुन्दर की लम्बी लम्बी बाहों ने उसे कई तरफ से घेर रखा है। पहाड़ियों के बीच में तंग वादिया हैं, जिनकी चौड़ाई कहीं भी ४० मील से ज़्यादा नहीं। और समुन्दर इस इलाक़े में ऐसा घुसा हुआ है कि कोई जगह इससे ५० मील से ज्यादा परे नहीं। पहाड़ समुन्दर में अनोखे तर्ज़ से समूए हुये हैं। इनके सिलसिले समुन्दर के किनारे तक पहुँचते हैं और जहाँ किनारा समुन्दर में डूब गया है, किनारे से थोड़ी थोड़ी दूरी पर पहाड़ी सिलसिलों ने अपनी चोटिया पानी से ऊपर निकाल दी हैं। और बल्कान और एशिया के बीच मे जज़ीरों की लडिया पिरो दी हैं। खारी समुन्दर की लहरों और पथरीले मैदानों की हमवारी पर उसके जीने का सहारा है। इसकी कड़ी जमीन इसके बाशिन्दों से सख़्त मेहनत चाहती है। और पैदावार की कमी इन्हें समुन्दरों की आंधियों और तूफ़ान के मुक़ाबले के लिये ललकारती है। पहाड़ी वादियों में खेती होती है और मैदानों और ढालों पर फलों के बाग़ हैं, जिन में अंगूर, अजीर, शहतूत और जैतून कसरत से लगते हैं। इस देश का मौसम न बहुत गर्म है न बहुत ठंढा। गर्मियों में उत्तर से ठंढी हवायें चलती हैं और गर्मियों के होने पर दक्खिन से गरम हवा आती है। यहाँ आसमान खुला और साफ़ रहता है। सूरज और रात को तारे बड़ी आब और ताब से चमकते हैं।

बहुत ही पुराने ज़माने से इस इलाक़े मे आदमियों की बस्तिया बसती चलीं। ये तो कहना मुश्किल है कि यहाँ के पहले बाशिन्दे किस क़ौम और नस्ल के थे। लेकिन अन्दाज़ यही है कि यह आर्य थे। इन्हें रहते काफी अरसा हो गया। फिर उत्तर से डेन्यूब के मैदानों से आर्यों के नये गिरोह बल्कान की पहाड़ियों को पार कर दक्खिन की वादियों में घुस आये। पुराने निवासियों और नये हमला करने वालों में मुद्दतों कश-म-कश चलती रही। देश के कुछ हिस्से तो इन नये गिरोहों की चढ़ाइयों से बिलकुल बच गये; लेकिन कुछ हिस्सों में पुराने बसने वाले दब कर गुलाम बन गये। और कहीं कहीं आपस मे समझौता हो गया। और दोनों साथ मिल कर रहने लगे। इन नई आबादियों को रोम वालों ने ग्रीक का नाम दिया और इसी वजह से उनके देश का नाम ग्रीस पड़ा। लेकिन ग्रीस अपने आपको इस नाम से नहीं पुकारते थे। उनके यहाँ यह रवायत थी कि उनका पहला पुरखा हेलेन नाम का राजा था, जो थीसाली में राज्य करता था। इसके दो बेटे थे। एक का नाम दूरूस, दूसरे का अयूलूस था, और दो पोते थे, जिनके नाम एक्यूस और यून थे। दूरूस की औलाद दक्खिनी ग्रीस में पहुंची और उन्होंने यूरूनास नदी के किनारे स्पार्टा नगर बसाया। एक्यूस के कुनबे ने बहुत से इलाक़ों पर क़ब्ज़ा किया। लेकिन आरगूस उनकी सब से बड़ी बस्ती थी। अकयूलों ने बड़ा नाम पैदा किया, लेकिन उनका सबसे मशहूर कारनामा ट्राय का हमला है। इस हमले का क़िस्सा होमर ने अपनी नामी नज़्मों एलेड और ओडीसी मे बयान किये हैं। अयूलूस ख़ानदान के लोग इस चढाई में शामिल थे। उनके रहने का इलाक़ा उत्तरी ग्रीस में एटूलिया कहलाता था। यून की औलाद अटिका में आबाद हुई। उन्होंने एथेंज़ का शहर बसाया और उनके कुनबे वालों में समुन्दर पार एशिया के किनारे पर बहुत से जज़ीरे और शहर आबाद किये। इन ही के नाम पर एशियाइयों ने ग्रीस को यूनान और वहाँ के

लोगों को यूनानी का नाम दिया। लेकिन यूनानी अपनी क़ौम को हेलन और अपने देश को हेलास कहते थे।

पाँच सौ बरस नए और पुरानों की खींच-तान और मार-धाड़ में गुजर गए। फिर शान्ति का ज़माना आया। यूनान में, जिसे कुदरत ने पहाड़ियों से घिरी वादियों और छोटे-छोटे मैदानों में बाँटा है, सैकड़ों रियासतें कायम हो गईं। हर क़बीले ने अपनी डेढ़ ईंट की मसजिद अलग बनाई, हर एक को इस बात पर घमण्ड था कि उसकी समाज सबसे अलग और उसका राज सबसे आज़ाद है। हर एक का अपना अपना रहन-सहन और चलन था। अपना अपना धरम अपने अपने रीत और रिवाज थे। हर एक का शहर अलग बसा था। मैदानों में ऊँची ऊँची जगहों पर शहर आबाद थे। पथरीली चट्टानों के ढूहों की छतों और ढलवाँ दीवारों पर पत्थर मन्दिर, मकान और किले बने थे, ताकि दूर से आते दुश्मनों को देख लें। और लड़ाई के लिये तय्यार हो जाय। शहरों के चारों तरफ़ फ़सीलें खिंची थीं जो समुन्दर के किनारे बन्दरगाह तक जाती थीं। और शहर को समुन्दर से मिला देती थीं।

हर एक समाज इस ढंग से बना था कि इस में कई कई कबीले होते थे। हर क़बीला कई घरानों से मिलकर बनता था। घरानों के मेल से बिरादरियाँ क़ायम थीं, जो पूजापाठ की रसमें एक साथ अदा करती थीं। समाज के वही मेम्बर हो सकते थे, जो नगरवासी थे। इसलिये समाज, नगर और राज तीनों के एक ही माने थे। जिस सहज पर इन नगर और राजों का ढाँचा तय्यार हुआ, उसकी मिसाल दुनिया की तारीख़ में कम मिलती है। राज और रईयत का जैसा घना और गहरा साथ यहाँ दिखाई देता है, वैसा कहीं नज़र नहीं आता। परजा की जितनी ज़रूरतें हो सकती हैं, राज इन सब का निबाह करता था। घर बार, हाट बाज़ार, मेला ठेला, खेल कूद, पढ़ना लिखना और पूजा पाठ सब ही का आसरा राज पर था।

इन समाजों के सामने दो सवाल थे। या यों कहिये कि एक सवाल था, जिसके दो पहलू थे। सवाल था समाज के जीने और जिन्दा रहने का। जीना भी ऐसा नहीं कि जिसका मक़सद सिर्फ़ पेट पालना, बच्चों का रखना, बाहरी और भीतरी ख़तरों से बचाव करना हो; बल्कि ऐसा जीना जो आदमी की आदमीयत के लायक़ हो, ऐसा चलन जिससे आदमी सच्चा इतमीनान हासिल कर सके। यह बड़ा ऊँचा ख़याल था, बड़ा पाक मंसूबा था।

इस ख़याल का यह मतलब था कि एक तरफ़ तो आदमी कुदरत की इन ताक़तों पर क़ाबू हासिल करे, जिनसे तरह तरह फल पैदा होते हैं, जिन पर हमारे [illegible] का आसरा है; और दूसरी तरफ़ अपने नफ़्स या आत्मा को अक़्ल के ज़रिये ऐसा सीधा करे कि जिससे अपना और समाज का कल्याण हो। इस मन्सूबे के कामयाब होने, इस धरे सवाल के हल करने के एक ही माने थे, यानी कुदरत और ख़ुदी के बवाल से छुटकारा पाना, आज़ाद हो जाना।

अच्छे और आज़ाद जीने का मसला आज़ादी के साथ हल न हो सकता था। यूनानियों का देश उन लोगों के लिये न था, जिन्हें आराम की आदत है, जो काहिली-पसन्द हैं। वहाँ की ज़मीन पानी और हवा—मेहनत और फुर्ती चाहती है। क़ुदरत ने यहाँ किसी चीज़ की इफ़रात नहीं दी। सब चीज़ों को हदों में बाँध दिया है। जब तक आदमी अपने बल को न जाने अपने आपको न पहिचाने, कुदरत ने जो सामान दिया है उसकी पूरी पूरी क़दर न करे, तब तक उसके लिये अपने मनसूबे तक पहुँचना कठिन ही नहीं नामुमकिन-सा है। यही नहीं हेलन की औलाद के सामने एक और कठिनाई थी। उनकी समाजें बड़ी मिली जुली थीं। इनमें कई नसलों का पुट था। जब यह समाजें अपने अपने नगरों में पाँव जमा रही थीं, इन्हें पुरानी समाजों से कड़ी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं। इन लड़ाइयों का नतीजा यह हुआ कि पुरानी तहज़ीबें मिट गईं। मुद्दतों के बने हुए इन्तज़ाम बिगड़ गए और नई समाजों को फिर

नए सिरे से तहज़ीब और इन्तज़ाम की दाग़ बेल डालनी पड़ी। इस बिगाड़ और सवार का हाल टार्च के धुन्धियाले में छिपा है।

लेकिन कई सदियों के बाद ज़माना आता है। इस पर यूनानी तारीख़ के लिखने वाले रोशनी डालते हैं। इल्म की पौ फटती है। और दुनिया अचरज के साथ आज़ादी के लड़के का नज़ारा करती है। पहिला मजर जो हमारे सामने आता है उस वक्त का है, जब यूनानी समाजों में इन्तज़ाम की बाग़ राजाओं के हाथ में थी। राजा फौज के सिपह-सालार, अदालत के हाकिम और परोसियों के चौधरी होते थे। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिये कि इनका अख़्तियार बेरोकटोक था। अमीर घरानों के बड़े बूढ़ों की मजलिस होती थी। जिसकी सलाह और मशवरे के बग़ैर कोई काम न होता था। रियाया भी राज में हिस्सा लेती थी। समाज के मेम्बर राजा के फ़ैसलों और मजलिस के मसविदों पर राय ज़ाहिर करने के लिये सभा करते थे और हां या नहीं के बिना कोई जरूरी काम या क़ानून तय नहीं हो पाता था। यह आज़ाद मर्द शहर के मैदान में इकट्ठा होते थे। बान से ऊंचे नेज़े हाथों में लिये रहते थे। उन्हें सर से ऊंचा उठाकर या ज़मीन पर गिराकर या नारे लगाकर अपना मत बताते थे। यही वह परजा-सभा है, जिसमें यूनान की आज़ादी का दरिया बह निकलता है।

ज़माने बदले। राजाओं की हकूमत का ख़ात्मा हुआ। अमीरों की मजलिसों ने राजकाज सभाला। लेकिन इनसे इन्तज़ाम बहुत दिन न चला। अमीरों के बनाए हुए क़ानून अपने लिये अच्छे हों, पर न रियाया को उनकी ख़बर होती थी, न रियाया इन पर अमल करने से ख़ुश थी। रियाया में हलचल मची। यह माग उठी कि क़ानून समाज को मालूम होने चाहियें। क़ानूनों को लिखने और सब को बताने के लिये क़ानून बनाने वाले मुक़र्रर हुए। अब क़ानून सामने आया, तो उनकी सख़्ती सब पर ज़ाहिर हो गई। नाराज़गी बढ़ी। अमीरी राज के अमीरों में ही दुश्मन निकल आए। अमीर राजों को ठिकाने लगा, उन सरदारों ने ख़ुदसरी हकूमतें क़ायम कर दीं। लेकिन सरदारों ने यह ज़रूर किया कि रियाया की भलाई की तरह-तरह से कोशिश की। व्यापार और धन्धे बढ़ाये। कारीगरी को तरक्क़ी दी। महल और मन्दिर तामीर कराये। तालीम का इन्तज़ाम किया। लेकिन जब इख़्तियार हाथ में आता है, तो घमण्ड सर पर सवार हो जाता है। समाज ने सरदारों का साथ इसलिये दिया था कि अमीरी हकूमत से छुटकारा मिले। लेकिन वही सरदार, जिन्हें अपना समझा था, पराये बन गए। इससे बढ़कर क्या बेवफ़ाई हो सकती थी और रय्यत उसे कैसे बरदाश्त कर सकती थी? सरदारों के ख़िलाफ़ चारों तरफ़ शोर उठा। एथेंज में दो जवानों ने, जो एक दूसरे के मतवाले और आज़ादी पर जान देने वाले थे, अपने जाबिर सरदारों को तलवार के घाट उतार दिया और ख़ुद भी शहीद हो गए। सरदारी राज की मंजिल पूरी हो चुकी थी। ज़माना आज़ादी के रास्ते पर बढ़ने का बेसब्री से इन्तज़ार कर रहा था।

सोलनसरी के क़ानून बनाने वालों ने पुराने समाजी ढांचों को बदलने और नए परजा-राज क़ायम करने की कोशिश की थी। लेकिन जब तक सरदारी हकूमत ख़तम न हुई, समाज के सुधार का काम पूरी तौर पर शुरू नहीं हुआ। एथेंज़ और दूसरे नगरों में नए दस्तूर जारी हुए। नए ढंग से राज बने। कलायस थनेज़ ने एथेंज की समाज को नए सांचे में ढाला। पुरानी समाज की नींव रिश्ते नाते पर पड़ी थी। यह फ़िरक़ाबन्दी के जाल में फंसी थी। कलायस थनेज ने बिरादरियों और क़बीलों को तोड़ फोड़ डाला। एथेंज़ की अमलदारी को तीन इलाक़ों में बांटा और कुल आबादी के दस जर्गे बना दिये। हर जर्गे में तीनों इलाक़ों का एक-एक गिरोह शामिल किया। उन जर्गों की एक मजलिस बनाई, जिसके पांच सौ मेम्बर थे, उसमें हर जर्गा पचास नुमाइन्दे भेजता था।

२० वर्ष की आयु से ३० वर्ष की आयु तक, १० वर्ष, अफलातून सुक़रात का शिष्य रहा। इसके बाद सुक़रात की मृत्यु हुई, जिसका अफलातून पर गहरा प्रभाव पड़ा। अफलातून ज्ञान की खोज में देश देशान्तरों में घूमा। १३ वर्ष उसने मिश्र में रहकर वहाँ के आचार्यों से शिक्षा ग्रहण की। यूनान लौटकर उसने दर्शन और विज्ञान दोनों की खोज और उन्नति के लिये एक नई संस्था 'एकेडेमी' क़ायम की और वहीं बैठकर एक एक कर अपने ग्रन्थ लिखने शुरू किये। अफलातून की 'एकेडेमी' ९०० वर्ष से ऊपर तक जारी रही और गणित, ज्योतिष, पदार्थ विज्ञान इत्यादि की शिक्षा का एक महान केन्द्र रही। धीरे धीरे उसने यूनान के अन्दर अनेक विश्वविद्यालयों और असंख्य विद्यालयों को जन्म दिया।

एक ओर तो अफलातून सुक़रात ही के समान ध्यान और समाधि का आदी, रहस्यमय और अत्यन्त 'स्नेही' स्वभाव का था। दूसरी ओर संसार के बड़े से बड़े वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं कि उससे बढ़कर कुशाग्र वैज्ञानिक मस्तिष्क की कल्पना नहीं हो सकती। दर्शन और अध्यात्म, सदाचार शास्त्र और राजनीति, न्याय शास्त्र और गणित, ज्योतिष और पदार्थ विज्ञान सब का वह एक समान धुरन्धर पण्डित था। सुक़रात ही के समान "अपनी आत्मा को पहचानो" पर वह सबसे अधिक ज़ोर देता था।

'कर्तव्याकर्तव्य के विषय मे अपनी अन्तरात्मा की आज्ञा के सामने और कोई आज्ञा मान्य नहीं हो सकती, और जो बात धर्म या सदाचार की दृष्टि से ठीक नहीं, वह राजनैतिक दृष्टि से भी जायज़ नहीं हो सकती। अन्याय को सहन कर लेना बुरा है, किन्तु अन्याय करना उससे अधिक बुरा है।" इन विषयों की जितनी हृदयस्पर्शी चर्चा अफलातून के ग्रन्थ "गौर्जिया" (Gaigias) में की गई है, संसार के साहित्य में किसी दूसरी जगह नहीं मिलती।

अपने दूसरे ग्रन्थ फीदो (Phaedo) में अफलातून ने आत्मा के "अमर" और ईश्वरीय होने को बड़ी सुन्दरता और विस्तार के साथ समझाया है। समस्त इन्द्रिय गोचर पदार्थ अनित्य और नाशमान हैं। आत्मा नित्य, अविनाशी और अपने असली रूप में सर्वज्ञ है। इन्द्रियों द्वारा ज्ञान को प्राप्त करना केवल आत्मा के उस शुरू के ज्ञान को ताज़ा कर देना है।

इस विषय में अफलातून का सिद्धान्त सार रूप में अफलातून ही के शब्दों में इस प्रकार है—

एक सच्चा दार्शनिक बिना उद्वेग के मृत्यु की प्रतीक्षा कर सकता है। शरीर से आत्मा के पृथक् हो जाने का नाम मृत्यु है और हर दार्शनिक जीवन भर, इसी प्रयत्न में लगा रहता है कि शरीर के बन्धन से आत्मा को मुक्त कर ले। इस जीवन में शरीर आत्मा के कार्यों में सदा बाधक होता रहता है। शरीर की इच्छाएं और वासनाएं ज्ञान और धर्म (Goodness) की खोज करने में बाधा डालती हैं। शरीर की कमज़ोरियां हमारे चिन्तन को सदा रोकती हैं। विज्ञान तक में ठीक ठीक सचाई पर हम केवल उसी दरजे तक पहुँच सकते हैं, जिस दरजे तक कि हम केवल इन्द्रियगोचर ज्ञान का सहारा छोड़कर शुद्ध चिन्तन का आश्रय ले सकें। इसलिये मौत केवल उस छुटकारे को पूरा करती है, जिसका दार्शनिक व्यक्ति जीवन भर अभ्यास करता रहा है। मौत के बाद आत्मा जीवित रहती है।

एक दूसरे के पश्चात् आत्मा अनेक जन्म धारण करती रहती है। संसार एक चक्र है, जिस तरह सरदी और गरमी, सोना और जागना एक दूसरे के बाद आते रहते हैं, उसी तरह पैदा होना और मरना। जो पैदा हुआ है वह अवश्य मरेगा और जो मरा है वह अवश्य फिर पैदा होगा।

शरीर अनित्य और नाशमान है। आत्मा नित्य और अविनाशी है।

अफलातून की पुस्तक प्रश्नोत्तर के रूप में है। विपक्षी के इस तरह के एतराज़ों का कि 'शरीर एक बाजा है और आत्मा उसमें से निकलने वाला राग, बाजे के तार टूट गए और राग ख़त्म हो गया'

अफ़लातून ने विद्वत्ता और विस्तार के साथ उत्तर दिया है।

एक और ग्रन्थ 'सिम्पोज़ियम' (Symposium) में अफ़लातून ने "प्रेम" की व्याख्या की है। 'प्रेम' ही वे पख हैं जो आत्मा को उड़ाकर सर्वज्ञता तक पहुंचा सकते हैं। इस "समस्त रचना से पार नित्य और परम सौन्दर्य" के साथ "योग" (Union) द्वारा युक्त होने की अभिलाषा में प्रेम ही जिज्ञासु का सहायक है। जो मनुष्य ससार के सुखों और भोगों के बदले अपनी आत्मा को बेच डालता है, वह इससे वञ्चित रह जाता है। "प्रेम" के उत्तरोत्तर चार रूप या उसके चार दरजे हैं—

(१) सबसे अधिक स्थूल या असंस्कृत रूप वह है, जिसमें मनुष्य किसी सुन्दर व्यक्ति की ओर आकर्षित होकर उससे मिलने की इच्छा करता है। मनुष्य उस समय उस व्यक्ति द्वारा सन्तान उत्पन्न करके शारीरिक अमरत्व लाभ करना चाहता है। शरीर इससे अधिक नहीं कर सकता। इस प्रेम का केन्द्र शरीर है।

(२) इससे अधिक शुद्ध और संस्कृत रूप प्रेम का वह है, जिसमे मनुष्य किसी अपनी जैसी दूसरी आत्मा के साथ सहयोग करके मानव समाज के लिये उपयोगी संस्थाएं और जीवन के हितकर नियम क़ायम करना चाहता है, और इस प्रकार अमर यश लाभ करने का इच्छुक होता है। इस प्रेम का केन्द्र मस्तिष्क है।

(३) इससे भी अधिक उच्च और संस्कृत रूप उस मनुष्य के प्रेम का है जो ससार के सबसे अधिक धीमान मनुष्यों के साथ मिलकर सत्य की खोज करता है और मानव दर्शन और विज्ञान के भण्डार को बढ़ाना चाहता है। इस प्रेम का केन्द्र बुद्धि है।

किन्तु अन्तिम लक्ष्य अभी और दूर है। जब मनुष्य सत्य की इस खोज में आगे बढ़ता रहता है तो "अकस्मात्" एक समय उसे उस "परम सौन्दर्य" के "दर्शन" होते हैं, जो संसार के समस्त सौन्दर्यों और अच्छाइयों का असल है। ये सब उसकी नक़ल हैं।

(४) तब मनुष्य में शुद्ध "आध्यात्मिक प्रेम" जाग्रत होता है और उस परम सौन्दर्य के साथ "युक्त" होकर सबके साथ एकता अनुभव करता हुआ मनुष्य सच्चा "अमरत्व" लाभ करता है। इसी का नाम "मोक्ष" है।

मौजूदा हालत में हम सिवाय उन बातों के जिनका बोध हमें इन्द्रियों द्वारा होता है, शेष समस्त ज्ञान की ओर से अंधे हैं। किन्तु "प्रेम" का इस प्रकार उचित उपयोग करके आत्मा उस स्थान तक पहुँच जाती है, जहाँ उसे बिना इस शरीर के सम्पूर्ण ज्ञान के साथ साक्षात्कार हो जाता है।

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक रिपब्लिक (Republic) में अफ़लातून ने एक "आदर्श राज्य" या "आदर्श समाज" का चित्र खींचने का प्रयत्न किया है। अफ़लातून के अनुसार हर मनुष्य की व्यक्तिगत प्रवृत्ति, उसकी रुचि और उसकी योग्यता के अनुसार समाज में उसके लिये एक विशेष कार्य नियत है, जिसे वह अच्छी तरह कर सकता है। वही उसका क़ुदरती "पेशा" है। हर मनुष्य का "धर्म" है कि वह अनन्य भाव से उसी कार्य को जितनी अच्छी तरह कर सके करे। वही समाज व्यवस्थित या आदर्श समाज है, जिसमें हर मनुष्य को अपने इस स्वधर्म के ठीक ठीक समझने और पालन करने का मौक़ा मिले। इसी पर व्यक्ति और समाज दोनों का आध्यात्मिक स्वास्थ्य निर्भर है।

हर समाज में "तीन तरह के मनुष्य" होते हैं। एक "ज्ञानी", दूसरे "कर्मी" और तीसरे 'उपभोगी"। पहली श्रेणी के लोगों का मुख्य लक्ष्य ज्ञान की प्राप्ति होता है, दूसरी श्रेणी के लोगों का यश की प्राप्ति, और तीसरी श्रेणी वालों का उपभोग की सामग्री जुटाना। तीन ही तरह के मनुष्यों के स्वभाव होते हैं। आदर्श समाज वह है, जिसमें ये तीनों श्रेणियाँ साफ़ बटी हुई हों और तीनों अपना अलग अलग

काम करती हों। समाज का राजनैतिक नेतृत्व और शिक्षा का काम सच्चे ज्ञानियों के हाथ में होना चाहिये, देश की रक्षा यानी "सेना और पुलिस" का काम वीर कर्म्मियों के हाथों में और "राष्ट्र के लिये धन धान्य" की उत्पत्ति तीसरी श्रेणी वालों के। पहली श्रेणी वालों का गुण विशेष "बुद्धिमत्ता" (Wisdom) है, दूसरी का "वीरता" (Corauge) और तीसरी का "संयम और मिताहार" (Temperance)। "न्याय" यह है कि ये सब अपना अपना काम करें। जिस समाज में ये चारों गुण इस रूप में मौजूद हों, वही सुखी और व्यवस्थित रह सकता है।

अफ़लातून की ये तीनों श्रेणियाँ भारत के ब्राह्मण, क्षत्रियों और वैश्यों की श्रेणियाँ हैं। यूनान में इस कल्पना का प्रारम्भ पिथागोर को भारत यात्रा के बाद पिथागोर ही से हुआ।

अफ़लातून के अनुसार राज शासन की असली बाग ज्ञानियों यानी दार्शनिकों के हाथों में होनी चाहिये। अपने इन आदर्श दार्शनिक शासकों के लिये अफलातून ने एक शिक्षाक्रम नियत किया है। २० वर्ष से ३० वर्ष की आयु तक दस वर्ष उन्हें अंक गणित (Arithmetic), सम ज्यामित (Plain Geometry), घन ज्यामित (Solid Geometry) , ज्योतिष (Astronomy) और संगीत विज्ञान (Harmonies) में पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त करना चाहिये, और उसके बाद पांच वर्ष तक इन्द्रिय गोचर पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाले समस्त प्रयोगों से अलग रहकर "शुद्ध अध्यात्म की दृष्टि से समस्त विज्ञानों की विवेचना" (A Critical Metaphysic of sciences) करनी चाहिये। ताकि वे "एक में अनेक और अनेक में एक को देख सकें" और उन्हें इस बात का साक्षात्कार हो जावे कि इस "महान विश्व के अन्दर हमारे क्षणिक वैयक्तिक जीवन का क्या मूल्य" है और 'समस्त आत्माओं का वास्तविक अभ्युदय" किस बात में है। अफ़लातून के अनुसार देश का शासन केवल इसी तरह के परिपक्व ज्ञानियों के हाथों में होना चाहिये, और शेष सबको उनकी बताई हुई नीति पर चलना चाहिये।

समस्त रिपब्लिक' गहरे धार्मिक विश्वास और आध्यात्मिक ज्ञान से ओत प्रोत है।

अपनी पुस्तक "थियेटिटस" (Theaetetus) में अफलातून ने इन्द्रियों द्वारा प्राप्त समस्त ज्ञान को अन्त में मिथ्या और "धोखा" और सच्चे ज्ञान की प्राप्ति के लिये अन्तर में "ध्यान" की महिमा का वर्णन किया है। ज्ञान धर्म का और अज्ञान अधर्म का मूल है। ज्ञान ही धर्म (Virtue) है। अपने से पहले के अद्वैतवादी परमैनीड का अफलातून ने अपने को अनुयायी लिखा है।

अफलातून का सबसे विशाल ग्रन्थ "लाज" (Laws) है। उसमें भारतीय स्मृतियों के समान धर्म (Ethics and Theology), शिक्षा (Education) और राज नियम (Jurisprudence) सबका समावेश है।

इसमें अफलातून ने अविवाहितों के लिये पूर्ण इन्द्रिय निग्रह यानी ब्रह्मचर्य का आदेश दिया है। एक से अधिक स्त्री या एक से अधिक पुरुष के साथ विवाह को पाप क़रार दिया है। विवाहित पुरुषों के लिये पूर्ण पत्नी व्रत धर्म और विवाहित स्त्रियों के लिये पतिव्रत धर्म दोनों को अत्यन्त आवश्यक बताया है और इसके उल्लंघन को क़ानूनन दण्डनीय ठहराया है।

राजनीति में ईरान के से अनियन्त्रित एकतंत्र शासन और एथन्स (यूनान) के से अनियन्त्रित प्रजातंत्र दोनों की बुराइयां दर्शाकर उसने एक बीच की मिश्रित व्यवस्था यानी थोड़े से चरित्रवान ज्ञानी पुरुषों की सलाह से योग्य राजा द्वारा एकतंत्र राज शासन की सलाह दी है।

समाज का मुख्य आधार तिजारत पर नहीं बल्कि खेती पर होना चाहिये, अधिकांश आबादी किसानों की होनी चाहिये जो स्वयं अपनी अपनी भूमि के मालिक हों।

तमाम सम्पत्ति समाज की संयुक्त सम्पत्ति हो, और किसी की कोई अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति न हो

(Communism), इस सिद्धान्त को उच्च और आदर्श मानते हुए भी उसने मनुष्यों की समाज में इसे अव्यवहार्य बताया है। किन्तु किसी भी घर की सम्पत्ति उससे छीनी न जावे, और यदि किसी घर की सालाना आमदनी एक नियत मिक़दार से अधिक हो, तो जितनी रक़म उस नियत मिक़दार से बढ़ी हुई हो, वह सब एक विशेष टैक्स के रूप में राज्य उससे वसूल कर ले ताकि विविध मनुष्यों की व्यक्तिगत सम्पत्ति में बहुत अधिक अन्तर दिखाई न दे।

राज्य का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य 'शिक्षा' है, जो एक विशेष योग्य मंत्री के अधीन रखा गया है। स्त्रियों और पुरुषों की शिक्षा में कोई अन्तर नहीं रखा गया। छोटे बच्चों की खेलने की प्रवृत्ति का शिक्षा में उपयोग किया गया है। बच्चों की शारीरिक उन्नति की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। बड़ों की शिक्षा हर विषय के विशेषज्ञों के सुपुर्द की गई है। छोटी बड़ी शिक्षा संस्थाओं यानी विद्यालयों की विस्तृत व्यवस्था की गई है।

दीवानी और फौजदारी को अलग अलग करके, उचित न्यायालयों, योग्य न्यायाधीशों और छोटे न्यायालयों से बड़े न्यायलय में अपील की व्यवस्था है।

अफलातून के अनुसार तीन ख़ास तरह के भ्रान्त विचार मानव दुराचार के कारण हैं—

(१) ईश्वर में अविश्वास,

(२) इस बात से इनकार कि समस्त विश्व का शासन न्याय और सत्य के अनुसार चल रहा है,

(३) यह समझना कि भेंटों और बलियों के जरिये कर्मफल के ईश्वरीय नियम को रोका या टाला जा सकता है।

अफलातून ने इन तीनों भ्रान्तियों का विस्तार के साथ खण्डन किया है।

सोलहवीं, सत्रहवीं और उन्नीसवीं सदी ईसवी तक जब जब यूरोप में आध्यात्मिक पुनर्जागृति की कोई लहर दिखाई दी है, उसमें अफ़लातून का प्रभाव और उसका नाम दोनों साफ़ चमकते रहे हैं। अभी बीसवीं सदी में समस्त विज्ञानों का एक दर्शन (A Philosophy of Sciences) रचने के प्रयत्न अफ़लातून का नाम लेकर ठीक उसी की क़ायम की हुई तेईस सौ साल पहले की लकीरों पर चल रहे हैं।

अरस्तू

इस त्रिमूर्ति में आख़री नाम अरस्तू का है। सुक़रात और अफलातून दोनों एथन्स के रहने वाले थे। अरस्तू आयोनिया का निवासी था। यह एक आम बात है कि यूनानी सभ्यता के समस्त काल में एथेन्स वालों के दिमाग़ दर्शन (Philosophy) में अधिक अच्छे समझे जाते थे और एशिया कोचक वालों के विज्ञान (Science) में। सत्रह साल की उमर से छत्तीस साल की उम्र तक यानी अफलातून की मृत्यु (३४७ ई० पू०) के समय तक अरस्तू अफलातून का शिष्य रहा। सन् ३४२ ईसा से पूर्व से ३३५ ई० पू० तक सात वर्ष वह मक़दून में जगद्-विख्यात सिकन्दर का शिक्षक रहा। ३२२ ई० पू० में उसकी मृत्यु हुई।

अरस्तू के मूल सिद्धान्त लगभग वही थे, जो अफलातून के। अन्तर यह था कि अफ़लातून ने अधिक ध्यान दर्शन और अध्यात्म की ओर दिया और अरस्तू ने विज्ञान और प्रकृति के अध्ययन की ओर। अफलातून को गणित से अधिक प्रेम था और अरस्तू को प्राणि विज्ञान (Biology) से। अरस्तू ही आजकल के यूरोप के अनेक विज्ञानों (Sciences) का जन्म देने वाला और उनके अलग अलग नाम रखने वाला माना जाता है। दार्शनिक वह था ही। अध्यात्म (Metaphysics), मनोविज्ञान (Psychology), न्यायशास्त्र (Logic), सदाचार शास्त्र (Ethics), राजनीति (Politics), प्राणि-विज्ञान (Biology), जीवन-विज्ञान (Physiology), पशु-विज्ञान (Zoology), पदार्थ विज्ञान (Physics), शरीर-व्यवच्छेद-विद्या (Anatomy) और वैद्यक (Medicine) इन सब पर उसने अलग अलग ऊंची श्रेणी के ग्रन्थ लिखे, जिनमें से अनेक अधिकांश बातों में अभी तक प्रामाणिक माने जाते हैं। लिखा

है कि सिकन्दर के साथ अनेक यूनानी विद्वानों का एक समूह ईरान, भारत और मिस्र आया था, जो लौटते समय अपने साथ वैज्ञानिक अध्ययन की बहुत सी सामग्री इन देशों से यूनान ले गया था। उस सामग्री से अरस्तू को अपने अपूर्व ग्रन्थों की रचना में बहुत बड़ी मदद मिली। उसके जीवन के अन्तिम तेरह वर्ष शुद्ध वैज्ञानिक खोज में ही बीते।

इस पर भी उसने लिखा है कि बाहर की ओर हम ज्ञान की कितनी ही खोज क्यों न करें "ध्यान और एकान्त सेवन ही में वह परम शान्ति प्राप्त होती है, जिसमें मनुष्य ईश्वर के दर्शन (Vision of the Divine) कर सके।" "मनुष्य जिस दरजे तक अमरत्व को पकड़ सकता है ध्यान से ही पकड़ सकता है।" अरस्तू का दिमाग़ जितना तेज़ था, उसका हृदय दीनों और दुखियों के लिये उतना ही प्रेमातुर था।

अरस्तू का "सदाचार शास्त्र" (Ethics) अभी तक संसार के महान ग्रन्थों में गिना जाता है। और बड़े से बड़े विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता है। न्याय शास्त्र में यूरोप आज तक अरस्तू के लिखे हुए नियमों और विचारों से अधिक आगे नहीं बढ़ सका और तेरहवीं सदी ईसवी तक सिवाय अरस्तू की पुस्तक के इस विषय पर कोई दूसरी पुस्तक यूरोप के विद्यालयों में पढ़ाने के लिये नहीं थी। गत बाईस सदियों से यूरोप के लाखों विद्यार्थियों और सैकड़ों बड़े से बड़े विद्वानों ने अरस्तू की अनेक पुस्तकों से ही वैज्ञानिक ढङ्ग से सोचना और वैज्ञानिक खोज करना सीखा। पशु और मानव शरीर के वैज्ञानिक "विकासवाद" (Evolution) का सिद्धान्त यूनान ही में अरस्तु के पहले से चला आता था। अरस्तू ने उसे विस्तृत रूप दिया और १९ वीं सदी में जब इस सिद्धान्त की ओर नए सिरे से संसार के वैज्ञानिकों का ध्यान गया, तब से संसार की वैज्ञानिक उन्नति में अरस्तू का मस्तिष्क और उसका पद अनन्य स्वीकार कर लिया गया।

बुक़रात

इसके बाद उस प्राचीन समय के केवल एक और यूनानी विद्वान् हकीम बुक़रात (Hippocrates) का ज़िक्र करना बाक़ी है।

बुक़रात एशिया कोचक का रहने वाला सुक़रात और अफलातून का समकालीन था। वैद्यक की शिक्षा ग्रहण करने के लिये उसने अनेक पूर्वीय देशों की यात्रा की। यूनान लौटकर उसने इस विद्या से सम्बन्ध रखने वाले विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे और स्वयं बड़ी सफलता के साथ चिकित्सा करनी शुरू की। बुक़रात के सिद्धान्तों और ग्रन्थों को विस्तार से वर्णन करने की ज़रूरत नहीं है। कफ, बात, पित्त और रक्त इन चारों से वह शरीर की रचना मानता था और इनमें से किसी के कार्य में किसी तरह बाधा पड़ने को रोग का कारण। रोग निवारण के लिये औषधि से अधिक महत्व उसने आहार और व्यायाम, शुद्ध जल और शुद्ध वायु पर दिया है। सबसे अधिक जोर उसने वीर्य रक्षा यानी ब्रह्मचर्य पर दिया है। बुक़रात ही उस चिकित्सा पद्धति का जन्मदाता है, जो एशिया में यूनानी पद्धति के नाम से प्रचलित है और जिसे 'होकली सिस्टम' का नाम देकर आज तक फ्रांस और जर्मनी के अनेक होशियार डाक्टर लाखों रोगियों को उसी के द्वारा अच्छा करते हैं।

"बुक़रात की चिकित्सा पद्धति हमारी सर्वोच्च प्रशंसा के योग्य है, क्योंकि वैज्ञानिक तर्क की शर्तों (Scientific conditions of deduction and induction) में वह पूरी उतरती है। शरीर के अन्दर जो कार्य हो रहा होता है, उसे वह रोकने का प्रयत्न नहीं करता, बल्कि केवल प्रकृति को मदद देने की कोशिश करता है। उसका यह एक महान सिद्धान्त ही उसकी आश्चर्यजनक वैज्ञानिक शक्ति का सिक्का हमारे दिलों पर जमाने के लिये काफ़ी है। बाद के यूनानी चिकित्सक उसे प्रेम से 'दिव्य बूढ़ा मनुष्य' (The Divine Old man) कहा करते थे। यूरोपीय डाक्टर उसे आज तक 'वैद्यक का

पिता' (The Father of Medicine) कह कर पुकारते हैं। निस्सन्देह वह इस उपाधि का पूरी तरह पात्र था।"[1]

'वैद्यक', 'औषधियों', 'महामारियों', 'हवा', 'पानी' 'स्थान', 'सिर के ज़ख्म', "जर्राही" (Surgery) की चीज़ों के सम्बन्ध में" इत्यादि विषयों पर सत्तर से ऊपर ग्रन्थ बुक़रात के लिखे हुए बताए जाते हैं। "इनमें से जो ग्रन्थ निस्सन्देह बुक़रात ही के लिखे हुए हैं, उनमे इस तरह के विस्तृत ज्ञान का पता चलता है, जो उसके नाम को प्रामाणिक बना देता है। अनेक अवस्थाओं के उसने अपने ग्रन्थों में जो चित्र खींचे हैं, वह इतने विस्तृत और स्पष्ट हैं कि आज तक उनसे बढकर तो क्या, शायद उनके बराबर के चित्र भी किसी ने नहीं खींचे। मरते हुए मनुष्य के चेहरे का जिस तरह और जिन शब्दों में उसने बयान किया है, आज तक बिना किसी भी परिवर्तन या दुरुस्ती के ठीक उसी के उन्हीं शब्दों में यूरोपीय वैद्यक की पुस्तकों में बयान किया जाता है।"

जर्राही (Surgery) के विषय में बुक़रात की विस्तृत हिदायतों और औज़ारों के वर्णन को पढ़कर बीसवीं सदी ईसवी के यूरोप के बड़े से बड़े डाक्टर कहते हैं—"निस्सन्देह बिलकुल यह मालूम होता है कि हम आज कल के किसी अपटुडेट सर्जिकल हाल में खड़े हुए हैं।[2]

आज तक प्रसिद्ध यूरोपीय अग्निवर्धक मिक्सचर "हिप्पोक्रास" (Vinum Hippocraticum) और दवाएं छानने की यूरोपीय छननी (Hippocrates Siane) बुक़रात के नाम से मशहूर हैं। अनेक यूरोपीय विश्वविद्यालयों में नए स्नातकों को "रोगियों और उनके सम्बन्धियों के रहस्यों को गुप्त रखने की" जो शपथ दी जाती है, वह "बुक़राती शपथ" (Hippocratic Oath) कहलाती है और ठीक बुक़रात ही के शब्दों में दी जाती है।

वैद्यक में भारत और जर्राही में मिश्र इससे पूर्व अपूर्व उन्नति कर चुके थे और बुक़रात के विचारों में निस्सन्देह भारत और मिश्र दोनों के ज्ञान का सुन्दर सम्मिश्रण था। यूनानी वैद्यक के आकाश में बुक़रात एक अकस्मात तारे की तरह चमका।

इसके बाद उसके अनेक शिष्यों ने उसके कार्य को जारी रखा और इस विषय पर अनेक विद्वत्ता-पूर्ण ग्रन्थ लिखे। "आजकल के इतिहास लेखकों ने मुक्त कण्ठ से इस बात को स्वीकार किया है कि बुक़रात के ये अनुयायी स्पष्ट और खुली आंखों से चीजों को देखते थे। सत्य की खोज में वे पहले से किसी तरह की भी कल्पना करके उससे प्रभावित न होते थे, किसी भी सम्प्रदाय के विशेष सिद्धान्तों या सम्प्रदायों के वाद-विवादों से उनके मस्तिष्क दूषित न थे। वे विज्ञान के वीर, निर्लेप और अनन्य सेनानी थे। भौतिक संसार जैसा है वैसा ही उसका सामना करते थे, जैसा फ़र्ज़ कर लिया जाय वैसा नहीं।"*

यूनानी चिकित्सा पद्धति

बुक़रात और उसके शिष्यों ने अपने अधिकतर ग्रन्थ सूत्रों के रूप में लिखे हैं। चिकित्सक के समस्त व्यवहार में सचाई, ईमानदारी और चरित्र की शुद्धता पर बुक़रात ने बहुद अधिक ज़ोर दिया है।

वैद्यक का कार्य यूनान में इतना पवित्र कार्य समझा जाता था कि स्वयं अरस्तू ने अपना सब धन विज्ञान की सेवा में व्यय कर देने के बाद अन्त के

---

१ "A History of the Intellectual Development of Europe", by J W Draper, vol I, PP 394-96

२ Charles Singer M. A, M. D, D Litt, F R. C P a Lecture in the History of Medicine in the University of London,—as quoted in the Encyclopedia Brittanica, vol. XI., P 585.

* Ibid, vol XI., P 584

दिनों में अपने गुज़ारे के लिये अत्तार की एक दूकान खोल रखी थी और अपने हाथ से नुसखे बाधता था।

इस उन्नत यूनानी विज्ञान के नाश की कहानी एक दूसरे स्थान पर दी जायगी। बहुत मुमकिन है कि जर्राहों में आजकल के यूरोप निवासी बुक़रात के समय से बहुत आगे बढ़े हुए हों। प्राकृतिक चकित्सा में भी आज यूरोप मे तरह तरह के सुन्दर प्रयोग हो रहे हैं। किन्तु जहाँ तक औषधियों द्वारा चिकित्सा का सम्बन्ध है यूरोप अभी तक बुक़रात से आगे नहीं बढ़ा। निस्सन्देह तरह तरह के रोगों के कीटाणुओं पर तरह तरह के विषों के प्रयोग करके रोग दिखाई देते ही उन कीटाणुओं के संहार में लग जाने की अपेक्षा यह कहीं अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है कि पहले शरीर के भीतर की उस त्रुटि का पता लगाया जावे, जिसके कारण वे कीटाणु वहाँ अपनी जगह बना सके और इस भीतर की त्रुटि को इस तरह दूर करने का प्रयत्न किया जावे कि जिससे न केवल वे कीटाणु ही निकल जावें, बल्कि जहाँ तक हो सके आइन्दा भी मानव स्वास्थ्य का कोई शत्रु भीतर न घुस सके। आजकल की एलोपैथिक पद्धति और प्राचीन यूनानी या भारतीय पद्धति में यही मोटा अन्तर है।



यूनान में आज़ादी का जनम

डाक्टर ताराचन्द

यूरोप के पूरब दक्खिनी कोने में बल्कान का इलाक़ा है, जिसे क़ुदरत ने अजीब ढंग पर गढ़ा है। इसके पथरीले बदन पर हर तरफ़ पहाड़ी पसलियाँ उभरी हुई हैं। समुन्दर की लम्बी लम्बी बाहों ने उसे कई तरफ़ से घेर रखा है। पहाड़ियों के बीच में तग वादियाँ हैं, जिनकी चौड़ाई कहीं भी ४० मील से ज़्यादा नहीं। और समुन्दर इस इलाक़े में ऐसा घुसा हुआ है कि कोई जगह इससे ५० मील से ज्यादा परे नहीं। पहाड़ समुन्दर में अनोखे तर्ज़ से समूए हुये हैं। इनके सिलसिले समुन्दर के किनारे तक पहुँचते हैं और जहाँ किनारा समुन्दर में डूब गया है, किनारे से थोड़ी थोड़ी दूरी पर पहाड़ी सिलसिलों ने अपनी चोटियाँ पानी से ऊपर निकाल दी हैं। और बल्कान और एशिया के बीच में जज़ीरों की लड़ियाँ पिरो दी हैं। खारी समुन्दर की लहरों और पथरीले मैदानों की हमवारी पर उसके जीने का सहारा है। इसकी कड़ी ज़मीन इसके बाशिन्दों से सख़्त मेहनत चाहती है। और पैदावार की कमी इन्हें समुन्दरों की आँधियों और तूफ़ान के मुक़ाबले के लिये ललकारती है। पहाड़ी वादियों में खेती होती है और मैदानों और ढालों पर फलों के बाग़ हैं, जिन में अंगूर, अंजीर, शहतूत और जैतून कसरत से लगते हैं। इस देश का मौसम न बहुत गर्म है न बहुत ठंडा। गर्मियों में उत्तर से ठंडी हवायें चलती हैं और गर्मियों के होने पर दक्खिन से गरम हवा आती है। यहाँ आसमान खुला और साफ़ रहता है। सूरज और रात को तारे बड़ी आब और ताब से चमकते हैं।

बहुत ही पुराने जमाने से इस इलाक़े में आदमियों की बस्तियाँ बसती चलीं। ये तो कहना मुश्किल है कि यहाँ के पहले बाशिन्दे किस क़ौम और नस्ल के थे। लेकिन अन्दाज़ यही है कि यह आर्य थे। इन्हें रहते काफ़ी अरसा हो गया। फिर उत्तर से डेन्यूब के मैदानों से आर्यों के नये गिरोह बल्कान की पहाड़ियों को पार कर दक्खिन की वादियों में घुस आये। पुराने निवासियों और नये हमला करने वालों में मुद्दतों कश-म-कश चलती रही। देश के कुछ हिस्से तो इन नये गिरोहों की चढ़ाइयों से बिलकुल बच गये; लेकिन कुछ हिस्सों में पुराने बसने वाले दब कर ग़ुलाम बन गये। और कहीं कहीं आपस में समझौता हो गया। और दोनों साथ मिल कर रहने लगे। इन नई आबादियों को रोम वालों ने ग्रीक का नाम दिया और इसी वजह से उनके देश का नाम ग्रीस पड़ा। लेकिन ग्रीस अपने आपको इस नाम से नहीं पुकारते थे। उनके यहाँ यह रवायत थी कि उनका पहला पुरखा हेलेन नाम का राजा था, जो थीसाली में राज्य करता था। इसके दो बेटे थे। एक का नाम दूरुस, दूसरे का अयूलुस था, और दो पोते थे, जिनके नाम एक्यूस और यूम थे। दूरुस की औलाद दक्खिनी ग्रीस में पहुँची और उन्होंने यूरूतास नदी के किनारे स्पार्टा नगर बसाया। एक्यूस के कुनबे ने बहुत से इलाक़ों पर क़ब्ज़ा किया। लेकिन आरगूस उनकी सब से बड़ी बस्ती थी। अकयूसों ने बड़ा नाम पैदा किया; लेकिन उनका सबसे मशहूर कारनामा ट्राय का हमला है। इस हमले का क़िस्सा होमर ने अपनी नामी नज़्मों एलेड और ओडीसी में बयान किये हैं। अयूलुस ख़ानदान के लोग इस चढाई में शामिल थे। उनके रहने का इलाक़ा उत्तरी ग्रीस में एटूलिया कहलाता था। यून की औलाद अटिका में आबाद हुई। उन्होंने एथेंज़ का शहर बसाया और उनके कुनबे वालों मे समुन्दर पार एशिया के किनारे पर बहुत से जज़ीरे और शहर आबाद किये। इन ही के नाम पर एशियाइयों ने ग्रीस को यूनान और यहाँ के

लोगों को यूनानी का नाम दिया। लेकिन यूनान अपनी क़ौम को हेलन और अपने देश को हेलास कहते थे।

पाँच सौ बरस नए और पुरानों की खींच-तान और मार-धाड़ में गुजर गए। फिर शान्ति का जमाना आया। यूनान में, जिसे क़ुदरत ने पहाड़ियों से घिरी वादियों और छोटे-छोटे मैदानों में बाँटा है, सैकड़ों रियासतें क़ायम हो गईं। हर क़बीले ने अपनी डेढ़ ईंट की मसजिद अलग बनाई, हर एक को इस बात पर घमण्ड था कि उसकी समाज सबसे अलग और उसका राज सबसे आजाद है। हर एक का अपना अपना रहन-सहन और चलन था। अपना अपना धरम अपने अपने रीत और रवाज थे। हर एक का शहर अलग बसा था। मैदानों में ऊँची ऊँची जगहों पर शहर आबाद थे। पथरीली चट्टानों के ढूहों की छतों और ढलवाँ दीवारों पर महल, मन्दिर, मकान और क़िले बने थे, ताकि दूर से आते दुश्मनों को देख लें। और लड़ाई के लिये तय्यार हो जाय। शहरों के चारों तरफ़ फ़सीलें खिंची थीं जो समुन्दर के किनारे बन्दरगाह तक जाती थीं। और शहर को समुन्दर से मिला देती थीं।

हर एक समाज इस ढंग से बना था कि इसमें कई कई क़बीले होते थे। हर क़बीला कई घरानों से मिलकर बनता था। घरानों के मेल से बिरादरियाँ क़ायम थीं, जो पूजापाठ की रसमें एक साथ अदा करती थीं। समाज के वही मेम्बर हो सकते थे, जो नगरवासी थे। इसलिये समाज, नगर और राज तीनों के एक ही माने थे। जिस नहज पर इन नगर और राजों का ढाँचा तय्यार हुआ, उसकी मिसाल दुनिया की तारीख़ में कम मिलती है। राज और रईयत का जैसा घना और गहरा साथ यहाँ दिखाई देता है, वैसा कहीं नज़र नहीं आता। परजा की जितनी जरूरतें हो सकती हैं, राज इन सब का निबाह करता था। घर बार, हाट बाजार, मेला ठेला, खेल कूद, पढ़ना लिखना और पूजा पाठ सब ही का आसरा राज पर था।

इन समाजों के सामने दो सवाल थे। या यूं कहिये कि एक सवाल था, जिसके दो पहलू थे। सवाल था समाज के जीने और ज़िन्दा रहने का। जीना भी ऐसा नहीं कि जिसका मक़सद सिर्फ़ पेट पालना, बच्चों का रखना, बाहरी और भीतरी ख़तरों से बचाव करना हो; बल्कि ऐसा जीना जो आदमी की आदमीयत के लायक़ हो, ऐसा चलन जिससे आदमी सच्चा इतमीनान हासिल कर सके। यह बड़ा ऊँचा ख़याल था, बड़ा पाक मंसूबा था।

इस ख़याल का यह मतलब था कि एक तरफ़ तो आदमी क़ुदरत की इन ताक़तों पर क़ाबू हासिल करे, जिनसे यह बल पैदा होते हैं, जिन पर हमारे बदन के दुख-सुख का आसरा है; और दूसरी तरफ़ अपने नफ़स या आत्मा को अक़्ल के ज़रिये ऐसा सीधा करे कि जिससे अपना और समाज का कल्यान हो। इस मन्सूबे में कामयाब होने, इस दोहरे सवाल के हल करने के एक ही माने थे, यानी क़ुदरत और ख़ुदी के चंगुल से छुटकारा पाना, आजाद हो जाना।

अच्छे और आज़ाद जीने का मसला आज़ादी से साथ हल न हो सकता था। यूनानियों का देश उन लोगों के लिये न था जिन्हें आराम की आदत है, जो काहिलीपसन्द हैं। यहाँ की ज़मीन, पानी और हवा—मेहनत और फुर्ती चाहती है। क़ुदरत ने यहाँ किसी चीज़ की इफ़रात नहीं दी। सब चीज़ों को हदों में जकड़ दिया है। जब तक आदमी अपने बल को न जाने, अपने आपको न पहिचाने, क़ुदरत ने जो सामान दिया है उसकी पूरी पूरी क़दर न करे, तब तक उसके लिये अपने मनसूबे तक पहुँचना कठिन ही नहीं नामुमकिन-सा है। यही नहीं हेलन की औलाद के सामने एक और कठिनाई थी। उनकी समाजें बड़ी मिली जुली थीं। इनमें कई नसलों का पुट था। जब यह समाजें अपने अपने नगरों में राज जमा रही थीं, इन्हें पुरानी समाजों से कड़ी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं। इन लड़ाइयों का नतीजा यह हुआ कि पुरानी तहज़ीबें मिट गईं। मुद्दतों के बने हुए इन्तज़ाम बिगड़ गए और नई समाजों को फिर

नए सिरे से तहज़ीब और इन्तज़ाम की दाग़ बेल डालनी पड़ी। इस बिगाड़ और संवार का हाल टार्च के धुन्धियाले में छिपा है।

लेकिन कई सदियों के बाद ज़माना आता है। इस पर यूनानी तारीख़ के लिखने वाले रोशनी डालते हैं। इल्म की पौ फटती है। और दुनिया अचरज के साथ आज़ादी के लड़के का नज़ारा करती है। पहिला मजर जो हमारे सामने आता है उस वक्त का है, जब यूनानी समाजों में इन्तज़ाम की बाग़ राजाओं के हाथ में थी। राजा फ़ौज के सिपह-सालार, अदालत के हाकिम और परोसियों के चौधरी होते थे। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिये कि इनका अख़्तियार बेरोकटोक था। अमीर घरानों के बड़े बूढ़ों की मजलिस होती थी। जिसकी सलाह और मशवरे के बग़ैर कोई काम न होता था। रियाया भी राज में हिस्सा लेती थी। समाज के मेम्बर राजा के फ़ैसलों और मजलिस के मसविदों पर राय ज़ाहिर करने के लिये सभा करते थे और हां या नहीं के बिना कोई जरूरी काम या क़ानून तय नहीं हो पाता था। यह आज़ाद मर्द शहर के मैदान में इकट्ठा होते थे। कान से ऊंचे नेज़े हाथों में लिये रहते थे। उन्हें सर से ऊंचा उठाकर या जमीन पर गिराकर या नारे लगाकर अपना मत बताते थे। यही वह परजा-सभा है, जिससे यूनान की आज़ादी का दरिया बह निकलता है।

ज़माने बदले। राजाओं की हकूमत का ख़ात्मा हुआ। अमीरों की मजलिसों ने राजकाज संभाला। लेकिन इनसे इन्तज़ाम बहुत दिन न चला। अमीरों के बनाए हुए क़ानून अपने लिये अच्छे हों, पर न रियाया को उनकी ख़बर होती थी, न रियाया इन पर अमल करने से ख़ुश थी। रियाया में हलचल मची। यह मांग उठी कि क़ानून समाज को मालूम होने चाहियें। क़ानूनों को लिखने और सब को बताने के लिये क़ानून बनाने वाले मुक़र्रर हुए। अब क़ानून सामने आया, तो उनकी सख़्ती सब पर ज़ाहिर हो गई। नाराज़गी बढ़ी। अमीरी राज के अमीरों में ही दुश्मन निकल आए। अमीर राजों को ठिकाने लगा, उन सरदारों ने ख़ुदसरी हकूमतें क़ायम कर दीं। लेकिन सरदारों ने यह ज़रूर किया कि रियाया की भलाई की तरह-तरह से कोशिश की। व्यापार और धन्धे बढ़ाये। कारीगरी को तरक्क़ी दी। महल और मन्दिर तामीर कराये। तालीम का इन्तज़ाम किया। लेकिन जब अख़्तियार हाथ में आता है, तो घमण्ड सर पर सवार हो जाता है। समाज ने सरदारों का साथ इसलिये दिया था कि अमीरी हकूमत से छुटकारा मिले। लेकिन वही सरदार, जिन्हें अपना समझा था, पराये बन गए। इससे बढ़कर क्या बेवफ़ाई हो सकती थी और रय्यत उसे कैसे बरदाश्त कर सकती थी? सरदारों के ख़िलाफ़ चारों तरफ़ शोर उठा। एथेंज़ में दो जवानों ने, जो एक दूसरे के मतवाले और आज़ादी पर जान देने वाले थे, अपने जाबिर सरदारों को तलवार के घाट उतार दिया और ख़ुद भी शहीद हो गए। सरदारी राज की मंजिल पूरी हो चुकी थी। ज़माना आज़ादी के रास्ते पर बढ़ने का बेसब्री से इन्तज़ार कर रहा था।

सोलनसरी के क़ानून बनाने वालों ने पुराने समाजी ढांचों को बदलने और नए परजा-राज क़ायम करने की कोशिश की थी। लेकिन जब तक सरदारी हकूमत ख़तम न हुई, समाज के सुधार का काम पूरी तौर पर शुरू नहीं हुआ। एथेंज़ और दूसरे नगरों में नए दस्तूर जारी हुए। नए ढंग से राज बने। कलाइस्थनेज़ ने एथेंज की समाज को नए सांचे में ढाला। पुरानी समाज की नींव रिश्ते नाते पर पड़ी थी। यह फ़िरक़ाबन्दी के जाल में फंसी थी। कलाइस्थनेज़ ने बिरादरियों और क़बीलों को तोड़ फोड़ डाला। एथेंज़ की अमलदारी को तीन इलाक़ों में बांटा और कुल आबादी के दस जर्गे बना दिये। हर जर्गे में तीनों इलाक़ों का एक-एक गिरोह शामिल किया। उन जर्गों की एक मजलिस बनाई, जिसके पांच सौ मेम्बर थे; उसमें हर जर्गा पचास नुमाइन्दे भेजता था।

इस मजलिस के सुपुर्द सारा इन्तज़ाम था, इसलिये सारी परजा इन्तज़ाम की जिम्मेवार थी। हर क़ानून बनाने का एख्तियार परजा की सभा के हाथों में था, जिसमें एथेंज का हर बाशिन्दा हिस्सा ले सकता था। कलायस थनेज ने फ़ौज का निजाम भी बदला, हर जर्गा का यही फ़र्ज़ हुआ कि पियादों की रेजीमेन्टें और सवारों के दस्ते भर्ती करे, और उनके कमानदारों को जर्गे की वोट से चुने—यही दस कमानदारों की कमेटी फौज़ी मामलों में सियाह-सफेद की मालिक हुई। इन सुधारों से आज़ादी का चश्मा चल निकला।

बहुत देर न हुई थी कि आजादी की जाच का वक्त आन पहुंचा। एशिया में ईरान की ताक़त दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही थी—ईरानियों ने सिन्ध से मेडीट्रेनियन तक सारे इलाक़े को रौंद डाला था। दारा ने दर्रेदानियाल को पारकर यूरोप पर हमला कर दिया। इसके सिपेहसालारों ने उत्तरी बल्कान में थेरीस और मक़दूनिया पर कब्ज़ा कर लिया। अब क्या था। यूनानी आजादी और ईरानी शहेन्शाहियत का आमना-सामना हुआ। माराथों के मैदान में समुन्दर के किनारे पहिली मुठभेड़ हुई। आजादी ने शाहन्शाहियत को नीचा दिखाया। दारा अपना-सा मुह लेकर वापस गया। पर उसके जानशीनकैखुशरू ने बदला लेने की ठानी।

ईरानियों के दल बादल उमड़-उमड़ कर आगए जे यूनानियों ने अपनी आज़ादी को बचाने के लिये जान पर खेल जाना अच्छा समझा। उन्होंने अपनी फौज की कमान स्पार्टा के जनरेल लियुनीदास के हाथ में सौंपी। उसने तीन सौ शूरमाओं के साथ थर्मापली की घाटी में डेरा जमाया। कैखुशरू के लश्कर ने उन पर हमला किया। घमसान की लड़ाई हुई। लियुनीदास तो पहिले ही काम आया, पर उसके सिपाही सारा दिन उसकी लाश के गिर्द बहादुरी के जौहर दिखाते रहे। आखिर मैदान ईरानियों के हाथ रहा। लेकिन थर्मापली की हार, जीत से बढकर साबित हुई। उसने यूनानियों के जोश को उभारा। एथेंज वालों ने शहर ख़ाली कर दिया और समुन्दर का आसरा लिया। समुन्दर की गोद में तो यह पले ही थे। समुन्दरी लड़ाई में कौन उनसे पार पा सकता था। मालामस का जज़ीरा एथेंज़ की बन्दरगाह की दरबानी करता है। वहीं उन्होंने ईरानी बेड़े को ललकारा। ईरानी भी अपने शहेन्शाह के लिये जान तोड़ कर लड़े। पर उनके कुछ जहाज़ तो समुन्दर में डूब गए और कुछ तितिर-बितिर हो गए। बेड़े की हार ने फौज़ों का दिल तोड़ दिया। अब जो मुक़ाबिला हुआ, तो पलीटिया के मैदान में आजादी की क़िस्मत का फैसला हुआ। ईरानी सिपाह हार कर भागी और ईरानी सिपेहसालार मारा गया। ईरानी शहेन्शाहियत के यूनानी आजादी को कुचल कर दुनिया पर क़ब्ज़ा जमाने के सुनहरे ख्वाब झूठे हुए। यूनानियों ने "आजादी का त्योहार" (एलोथेरिया) क़ायम किया। जो हर चौथे बरस मनाया जाता था।

ईरानी रोक का हटना था कि आजादी में बाढ आई। अमीरी हकूमत के बचे खुचे खण्डहर साफ हो गये। प्रजा-राज की इमारत शानदार बुर्जियों और आसमान से बातें करने वाले गुम्बदों से सजाई गई। कुल ऊंचे ओहदे ग़रीब और अमीर हर एक के लिये खोल दिये गये। परजा-सभा हर काम का फैसला करने, हर क़ानून के चलाने में मोख्तार होगई। अदालती कार्रवाइयों में परजा ही का हुक्म सब से ऊपर माना गया। अफसरों के मोक़र्रर करने के लिये चुनाव का तरीक़ा जारी हुआ और सभा और अदालत के काम करने के लिये तनख्वाह दी जाने लगी। एथेंज़ का हर निवासी, हर ओहदे पर पहुंच सकता था। जो आज मूंज की रस्सी बटने वाला था, वह कल फौज का कमाण्डर हो सकता था। जो कल तक सड़कों पर लम्प जलाता फिरता था, वही दूसरे दिन शहर का मजिस्ट्रेट बन सकता था। आख़िर वह दिन आ पहुंचा, जब हर आदमी इतमीनान के साथ हर एक अच्छे से अच्छे और ऊचे से ऊचे काम को पूरा करने के लायक़ समझा जाय, जो आदमीयत के लिये ज़रूर हो; आदमी के नेक चलन और अक़ल के लिये

मुनासिब हो। आख़िर यूनान ने इस आज़ादी को पा लिया, जिसके आगे कोई समाज आज तक नहीं जा सकी।

आइये आज़ादी की बुनियादों की जांच करें। देखें वह कितनी गहरी और ठोस हैं, जिनके सहारे आज़ादी का अनूठा महल खड़ा हुआ। यूनानी सभाओं, यूनानी चलन, यूनानी ज़ेहन की थाह लें और उस आज़ादी के भेद को तह तक पहुचें। पहिली बात, जो उनके ज़ेहन में ख़ास तौर पर दिखाई देती है, वह उनकी सादगी है। उनके यहाँ न बनावट है न उतार चढाव। जो चीज़ जैसी है उनका ज़ेहन उसका वैसा ही अक्स उतारता है। वह कुदरत के नज़ारों को देखते हैं, मगर आंखों पर रंगीन ऐनक चढा कर नहीं। वह प्रेम के बहावों में मस्त होते हैं, लेकिन न तो उसके पीछे जानवरों की तरह कीचड़ में लोटते हैं न देवताओं की तरह आसमान में उड़ते हैं। वह मौत से आंख मिलाते हैं। उसके ज़ुल्मों को समझते हैं। लेकिन उसके तमाचों से मुह नहीं मोड़ते। रोने-धोने में बेफायदा वक्त नहीं खोते। उनकी सभाओं की सादगी उन्हें सचाई का पाठ पढाती है। उनके ज़ेहन की दूसरी खासियत भी बड़ी अनोखी है। उनकी हर बात नपी तुली होती है। उनके सोच विचार में, चलन में हद का अन्दाज़ा है, मौज़ूनियत का ख़्याल है। इसलिये वह आदमी बदन में सुडौलपन चाहते हैं। रहने के मकानों में, काम में लाने के सामानों में, बरतन भाड़ों में पहिनने के कपड़ों में सलीक़ा बरतते हैं। उनके नज़दीक दौलत उस हद तक ठीक है कि आदमी न तो तंग हाल रहे न ऐश में डूबा रहे। क्योंकि हदों से घट बढ जाने से आदमी नेक चलन नहीं रह सकता। वह नेकियों में सब से ऊंची जगह इंसाफ़ को देते हैं। आत्मा की तराजू के पलड़े बराबर और उसकी डण्डी सीधी रहनी चाहिये। जहाँ डण्डी टेढी हुई, आदमी का दिल बिगड़ा और बदचलन की शुरुआत हुई। इसलिये सबसे बड़ा ऐब अफ़रा-तफ़री है। आदमी की जरूरतें कई तरह की हैं। एक जिनका ताल्लुक उसके बदन से है और दूसरी जिनका ताल्लुक रूह या आत्मा से है। दोनों को पूरा करना चाहिए। इस तरह दर्जे का ख़्याल रहे। मरतबे का पास रहे। यह ख़ासियत यूनानियों की घुट्टी में पड़ी थी। ख़ूबसूरती का बहाव इनकी रग-रग में समाया हुआ था। इसी से तस्वीरें बनाने, गढ़ने, मकान तामीर करने में उन्होंने जो कमाल हासिल किया, वह शायद ही किसी और क़ौम को नसीब हुआ। यूनानियों ने साइन्स और फ़लसफ़ा, इल्म और अदब में ऐसी तरक्क़ी की कि आज तक दुनिया हैरत में है। यूनान यूरोप की तहज़ीब का गहवारा है। उस के फ़लासफ़र, शायर, नाटक लिखने वाले, तारीख़ जानने वाले आज भी यूनान का एहसान मानते हैं।

एक आख़िरी बात जो ग़ौर करने के क़ाबिल है, वह यूनानियों का आदमी और ख़ुदा का रिश्ता है। आदमी की उनके यहाँ बड़ी क़दर और क़ीमत थी। कम से कम यूनानी नसल के आदमी को वह हेच और बेचारा मानने को तयार नहीं थे। यही नहीं, वह हर यूनानी को हक़ीक़त में एक दूसरे के बराबर समझते थे। इसीलिये हर एक को इसका मौक़ा देते थे कि वह अपनी लियाक़त के मुताबिक़ अपनी समझ से जैसा पेशा, जैसी जिन्दगी चाहे अख़्तियार करे। हर एक को अपनी राय ज़ाहिर करने की आज़ादी थी। हर एक के साथ बराबर का बरताव था। हर एक के लिये एक से क़ानून थे। यह ऐसा पक्का और गहरा विचार था कि वह देवी देवताओं को भी आदमी से ज्यादा नहीं समझते थे। उनके यहाँ कोई ख़ास पाक ताब न थी, जिसे वह देवताओं की तरफ़ से भेजी हुई मानते हों। देवताओं की कथायें नज़मों में बन्द ही हुई थीं। और उनमें देवताओं की ऐसी ही कैफ़ियत दिखाई देती है, जैसी मामूली आदमियों की। इसलिये इनका मज़हब इनकी अक़्ल को ईमान की ज़ंजीरों में क़ैद नहीं रखता था। वह देवताओं को भी उसी कसौटी पर परखते थे, जिस पर दुनिया की और सब चीज़ों को। उनकी तारीख़ में बहुत कम मिसलें मिलेंगी कि जब

धरम के लिये उन्होंने किसी को सताया हो। उनका धरम उन्हें यह नहीं सिखाता था कि दुनिया को धोखा समझो। परलोक को, जिसे न देखा है न सुना, जहां तक पहुँचने में अक़्ल के पर जलते हैं, सच्चा समझो। वह तो इस लोक को आदमी की रूहानी और जिस्मानी खींच-तान के काम में हार-जीत का मैदान समझते थे। आदमी को आदमी की मदद से ऐसा बनाना चाहते थे कि उसकी आत्मा की दबी हुई ताक़तें पूरी तरह से उभर आए। छुपी हुई जोति सूरज की तरह जगमगा उठे। आदमी और समाज में ऐसा मेल हो कि बैर और फूट का खटका बन्द हो जाय। आदमी की बासुरी से मन मोहने वाला सुर निकले। दुनिया बहिश्त का नमूना बन जाय। यही इनकी आज़ादी का सच्चा सपना था।

आल इण्डिया रेडियो दिल्ली से डाक्टर साहब ने एक व्याख्यान दिया था। उसी व्याख्यान का कुछ बढ़ा हुआ रूप यह लेख है।

भारतीय औद्योगिक उन्नति के मूल सिद्धान्त

आनरेबुल श्री नलिनीरञ्जन सरकार

भारत के औद्योगीकरण को लेकर देश में दो विरोधी और विपरीत रायें हैं। एक का कहना है कि भारत के उद्योगों को तीव्र गति से बढ़ाना चाहिये और इसके लिये सारे देश में बड़े बड़े कारखाने खोलने चाहिए। इन लोगों की राय में मशीनों के अधिक से अधिक प्रचार से ही हम अपने देश को जापान और पश्चिम के देशों के समकक्ष पहुँचा सकते हैं। इस विचार के प्रचारकों के दो उद्देश्य हैं— (१) विदेशी मुल्कों की होड़ को रोकना और (२) देश के औद्योगिक भविष्य को मज़बूत बुनियादों पर क़ायम करना, ताकि देश निश्चित रूप से समृद्ध हो सके।

दूसरे विचार के लोगों का कहना है कि बड़े बड़े कल कारखानों से कोई लाभ न होगा और देश की ख़ुशिहाली ग्राम-ग्रामोन्नति से ही बढ़ेगी। इस विचार के लोगों की राय में कारखाने और मशीनें ज़िन्दगी का रस चूस लेती हैं। मजदूरों की जिन्दगी कारख़ानों में रह कर पनप नहीं पाती। मशीनें इनसान की नसों पर बहुत घातक असर डालती हैं और मनुष्य के शारीरिक ओज को समाप्त कर देती हैं। यह कहा जाता है कि बड़े बड़े कल कारखाने और मशीनें मज़दूरों की ज़िन्दगी को बिलकुल मशीन की तरह बना देती हैं। इस विचार के लोगों की राय में कल कारखाने के मज़दूरों का जीवन नैतिक दृष्टि से भी हीन हो जाता है। ये लोग १९ वीं सदी के मज़दूरों की ज़िन्दगी को याद करके काँप उठते हैं।

इस बात से कोई इनकार नहीं करता कि भारत के उद्योगीकरण में ग्रामोद्योग का महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु महज़ ग्रामोद्योग से ही हम भारत के औद्योगिक जीवन का पुनर्निर्माण नहीं कर सकते और न ग्रामोद्योग से हम विदेशी व्यापारियों का मुक़ाबिला कर सकते हैं और न अपने यहाँ के कच्चे माल को पूरी तरह खपा सकते हैं। इसके अतिरिक्त जनता को जितना फायदा पहुँचना चाहिये, उतना फायदा भी हम नहीं पहुँचा सकते।

मेरी नम्र सम्मति में औद्योगीकरण हमारे लिये न केवल ज़रूरी ही है, बल्कि अवश्यम्भावी है। यह कह सकना बड़ा मुश्किल है कि चूंकि पश्चिम के औद्योगीकरण ने वहाँ की जनता को बड़ा नुक़सान पहुंचाया है, इसलिये भारत को भी उससे अवश्य नुक़सान पहुंचेगा। उद्योगों में लगे हुये हमारे यहाँ के मिल के मज़दूरों की स्थिति खेतिहर मज़दूरों की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी है। फिर मज़दूरों के सिलसिले में जो क़ानून यहाँ बने हैं, उनको देखते हुये यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि हमारे यहाँ के मज़दूर मशीनों के गुलाम नहीं बन सकते।

यह सही है कि भारत के औद्योगीकरण की नवीन योजना बनाने से पहले हमें उसके प्रत्येक पहलू पर पूरी तरह विचार करना होगा। ग्रामीण उद्योग-धन्धों, साधारण उद्योग-धन्धों, बड़े बड़े उद्योग-धन्धे हर एक का हमारी नवीन योजना में और हमारे आर्थिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान होगा।

यदि मैं यह कहता हूं कि भारत के लिए औद्योगीकरण आवश्यक और फ़ायदेमन्द है, तो मैं यह भी जानता हूं कि उसके रास्ते में ख़तरे भी अनेक हैं। अपने यहाँ भारी भारी कारख़ाने खोलकर भी हमें अपने आर्थिक जीवन में खेती और उद्योग के बीच में एक सन्तुलन क़ायम रखना पड़ेगा। औद्योगिक उन्नति के साथ साथ हमें कृषि की भी उन्नति करनी पड़ेगी। उद्योग-धन्धों में कच्चे माल की बेहद ज़रूरत होती है। बग़ैर कच्चे माल के उद्योग-धन्धों की उन्नति नहीं हो सकती। और बिना कृषि की उन्नति के कच्चा माल बड़ी मिक़दार में तय्यार नहीं

हो सकता। जापान में इस तरह के संतुलन से वहाँ की राष्ट्रीय अर्थनीति को बेहद लाभ पहुँचा है। हिन्दुस्तान को भी जापान के अनुभवों से लाभ उठाना चाहिए। इसी उपाय से हम औद्योगीकरण के ख़तरों से अपने देश को सुरक्षित रख सकते हैं। हमारे यहाँ अब तक जो भी औद्योगिक उन्नति हुई है, वह किसी योजना के अनुसार नहीं हुई। इसीलिये वह बिल्कुल शहरों तक ही परिमित रह गई है। इने गिने शहरों में हमने कल कारख़ाने खोल लिए हैं और कल कारख़ानों के साथ गाँव के जीवन का कोई सम्पर्क स्थापित नहीं किया है। आइन्दा के लिए सरकार कारख़ानेदारों पर असर डाल कर उन्हें ऐसी जगह कारख़ाना खोलने की सलाह दे सकती है कि जिन जगहों के आस पास इन कारख़ानों को चलाने के लिए बहुतायत से कच्चा माल मिल सकता हो। कारख़ाना खोलने वालों को इस तरह के क्षेत्रों का पता भी नहीं होता। सरकार इस तरह के लोगों को थोड़ा बहुत आर्थिक मुआविज़ा देकर ऐसे क्षेत्रों में कारख़ाने खुलवा सकती है।

हमें यह बात स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि आज भी भारत की अर्थनीति प्रधानतः कृषि-अर्थनीति ही है। भारत की ७० फीसदी आबादी खेती पर निर्भर है। मुश्किल से १० फीसदी लोग उद्योग-धन्धों में लगे हैं। इनमें से अधिकांश छोटे-छोटे छुट-पुट धन्धों में लगे हैं। सन् १९०१ की जन गणना के अनुसार १५.५ फ़ीसदी आबादी उद्योग-धन्धों पर निर्भर थी। सन् १९११ ई० में यह संख्या घट कर ११.९ रह गई। सन् १९२१ ई० में १०.३ रह गई। सन् १९३१ ई० में वह केवल ९.७ थी। और सन् १९४१ ई० में ९.५ रह गई है।

इसलिये मैं इस बात की ओर संकेत कर देना चाहता हूं कि आगे औद्योगिक उन्नति के लिए यह बेहद ज़रूरी है कि पहले हम एक निश्चित योजना बना लें तब उस पर अमल करें। जब तक हम पूरी तरह से इस योजना को नाप तोल न लें, तब तक हमें अन्धाधुन्ध क़दम नहीं बढ़ाना चाहिए। शीघ्रता के साथ उद्योग-धन्धों की उन्नति की भावना में काफ़ी ख़तरे छुपे हुए हैं। आर्थिक और सामाजिक दिक़्क़तों को बग़ैर ध्यान में रक्खे औद्योगीकरण की योजना लाभदायक सिद्ध नहीं हो सकती। यदि उसमें सफलता मिल भी जाय, तब भी उससे अनेक सामाजिक उलट-फेर हो सकते हैं। सब में महत्वपूर्ण बात यह है कि हमें उसी परिमाण में यहाँ माल तय्यार करना चाहिए, जिस परिमाण में यहाँ के बाज़ारों में वह खप सके।

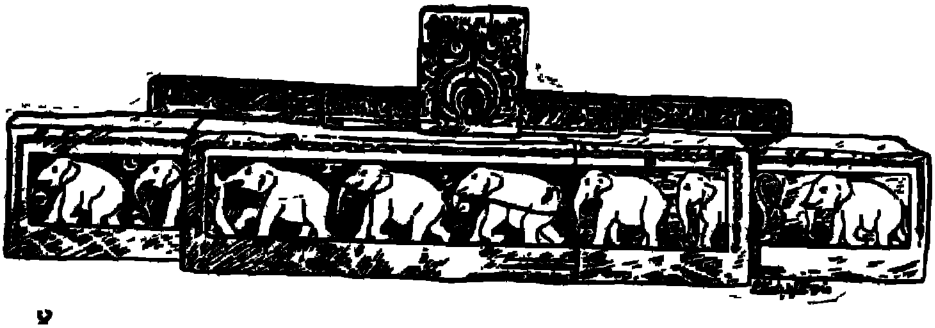
युद्ध के बाद भविष्य में निश्चित समय के लिए हमें विविध प्रान्तीय सरकारों के आश्वासन पर ही नये नये उद्योग-धन्धों को बढ़ाना चाहिए। हमें कोई बात ऐसी नहीं करनी चाहिए जिससे हम स्थानिक ग्रामोद्योगों को नुक़सान पहुँचा बैठें। पहले हमें ऐसी ही वस्तु बनाने की ओर ध्यान देना चाहिए, जो वस्तुएँ विदेश से हमारे यहाँ आती हैं; किन्तु बहुत सी चीजें हम बग़ैर किसी ख़तरे के शुरू कर सकते हैं। मसलन जहाँ रेलें न हों, वहाँ मोटर से माल लाने ले जाने का काम, जल-बिजली के नये नये कारख़ाने खोलने का काम या इसी तरह के दूसरे उद्योग शुरू किये जा सकते हैं।

मैं यहाँ पर यह बात साफ़ कर देना चाहता हूं कि उद्योगीकरण से हमारे यहाँ की बेकारी की समस्या किसी तरह हल नहीं हो सकती। हिन्दुस्तान में जो लोग इस समय कल कारख़ानों में काम कर रहे हैं, उनकी तादाद लगभग २० लाख है। यदि हम इस तादाद को दूना भी करदें, तब भी ४० करोड़ आबादी में ४० लाख व्यक्तियों की क्या गिनती?

इस तरह यह स्पष्ट है कि औद्योगिक क्षेत्र में यदि हम सौ फी सदी तरक़्क़ी कर लें, तब भी इससे भारत की बेकारी की समस्या को हम हल नहीं कर सकते। अलबत्ता यह हो सकता है कि खेती के भार को हम थोड़ा बहुत हलका कर सकते हैं और किसानों को कच्चा माल तैयार करने की अधिक सुविधाएं दे सकते हैं।

हमारी औद्योगिक उन्नति का यही एक असर हो सकता है कि हम थोड़े से खेतीहर मज़दूरों को कल कारख़ानों के काम में लगा दें, किन्तु फिर भी इसका थोड़ा बहुत असर तो पड़ेगा ही। औद्योगिक उन्नति और कृषि इन दोनों बातों का सन्तुलन दो सम्भव तरीक़ों से किया जा सकता है—(१) हम ऐसे उद्योग धन्धों को ख़ास तौर से मदद दे सकते हैं, जिनसे ग्रामोद्योग की बुनियादों को उन्नत किया जा सके। ऐसी जगह कच्चे माल की पैदावार को बढ़ायें, जहाँ से बाज़ार और कारख़ाने नज़दीक हों, (२) ऐसे बड़े बड़े कारख़ानों को सरकारी मदद दें, जो भारतीय किसानों के कच्चे माल को ज़्यादह से ज़्यादह खापायें।

भारत का औद्योगीकरण भारत की अपनी आर्थिक उन्नति को ध्यान में रखकर होना चाहिए। भारत दूसरे मुल्कों के औद्योगिक तरीक़ों और उनके टेकनीक से भी लाभ उठा सकता है। किन्तु हमारी इस उन्नति का विशेष लक्ष्य होना चाहिए—किसानों का भार हल्का हो और विशेष सुविधाएं मिलें। हमें कारख़ानों के बढ़ाने के साथ-साथ गावों के उद्योग-धन्धों को भी अधिक से अधिक बढ़ावा देने की बात अपने ध्यान में रखनी पड़ेगी।



मशीनें और हमारी आर्थिक उन्नति

डाक्टर एन एस. सुब्बाराव

मशीनों और आर्थिक उन्नति के प्रश्न को हम तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं—(१) मशीनें और उद्योग-धन्धे, (२) मशीनें और आर्थिक उन्नति, (३) मशीनें और जन हित। बहुत शुरू ज़माने से इनसान औज़ारों के इस्तेमाल कर रहे थे, किन्तु पिछली शताब्दी से मशीनों ने औज़ारों की जगह ले ली है। नतीजा यह हुआ कि न केवल इंजीनियर और मशीनें ही बढ़ गईं, बल्कि पैदावार में भी अनाप शनाप तरक़्क़ी हो गई। अधिक पैदावार होने के कारण पूंजीपति मज़दूरों पर हावी हो गये। समाज में पूंजीपतियों का बेहद महत्त्व हो गया है, किन्तु इन पूंजीपतियों के कारण आर्थिक दुनिया की सब में बड़ी बीमारी यानी बेकारी भी बढ़ गई है। अर्थ शास्त्र का कहना है कि किसी काम में शनैः शनैः पूंजी लगाने से यह बेकारी की समस्या दूर की जा सकती है। इसलिये आज इस बात की माँग की जा रही है कि बेकारी की समस्या को समाप्त करने के लिये हमारी राष्ट्रीय नीति होनी चाहिए कि हम कम से कम सरकारी कामों में तो 'क्रमशः उन्नति' की नीति का ही पालन करें।

इस समय हिन्दुस्तान में बेहद चर्चा हो रही है कि हम बड़ी मात्रा में माल तय्यार करें या साधारण मात्रा में। अनेक ज़िम्मेवार लोग यही पसन्द करते हैं कि हमें उद्योगवाद के मौजूदा तरीक़ों से अपने देश में औद्योगिक उन्नति करनी चाहिए। किन्तु यह महज़ उनकी राय है, जो ज़माने को देखकर बनाई गई है। इंजीनियरों ने हमारे लिये इन प्रश्नों को हल कर दिया है और यदि दूसरे देशों की तरह भारत में भी छोटे-छोटे उत्पादन केन्द्र आज दिखाई दे रहे हैं, तो वे भी बड़े-बड़े उद्योगों के सहारे ही क़ायम किये गये हैं; और चूंकि बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों के कारण कच्चा माल बड़ी मात्रा में बाज़ारों में आ जाता है, जिससे छोटे-छोटे उद्योग वाले भी फ़ायदा उठा लेते हैं।

आर्थिक उन्नति के लिये मशीनों ने जो कुछ किया है, वह बिल्कुल स्पष्ट है। अधिक मात्रा में चीज़ें तय्यार करना आज कल लोगों का लक्ष्य है। कम-से-कम लोगों की खपत की आम चीज़ें तो मशीनों द्वारा बड़ी मात्रा में बनाई जाती हैं। गत वर्षों में इंजीनियर और रसायन शास्त्रियों ने पैदावार के तरीक़ों में जो उन्नति की है, उसके कारण अब इनसान की ज़रूरत की चीज़ें बाज़ारों में हमें पुष्कल मात्रा में दिखाई देती हैं। दुर्भाग्य से इस क्षेत्र में कुछ ऐसी रुकावटें पैदा हो गई हैं, जिन पर ग़रीब इंजीनियर और वैज्ञानिकों का कोई प्रभाव नहीं है। पूंजीवाद और मजदूरों की समस्या को लेकर विशेषज्ञ यह कहते हैं कि इस परिस्थिति का एक ही इलाज है कि लोग समाज के आर्थिक ढाँचे में मुनासिब सुधार करें। हमारा सामाजिक सगठन उस ज़माने का है, जब बहुत थोड़ी मिक़दार मे कारीगर चीज़ें तय्यार करते थे। किन्तु अब ज़माना ऐसा आ गया कि खपत की चीज़ें बड़ी मिक़दार मे चारों तरफ़ दिखाई दे रही हैं। हमारा मौजूदा आर्थिक ढाँचा इस बोझ को कैसे सम्हाल सकता है।

इंजीनियर देश की आर्थिक उन्नति के साथ यह बात भी ध्यान में रखते हैं कि वे ऐसी बातें करें, जो सर्वसाधारण के हित की हों। यह सही है कि मशीनों की मदद से उन्होंने इनसानों को ख़तरनाक और मुश्किल कामों से बचाया है। ऐसे काम अब मशीनों से लिये जाते हैं, जो पहले जान जोखिम में डालकर इनसान को करने पड़ते थे। मशीनों ने मनुष्य को बड़ी-बड़ी आपदाओं से बचाया है, किन्तु फिर भी समाज को वह कोई विशेष लाभ न पहुंचा सकीं। मशीनों के कारण ग़रीब इनसान बेकार हो गये।

इसीलिये लोग यह कहते हैं कि सार्वजनिक हित की दृष्टि से मशीनें इनसान की दुश्मन साबित हुई हैं और उन्हें हाथ की कारीगरी पर तरजीह नहीं दी जा सकती। मनुष्य ने मशीनों की मदद से प्रकृति के ऊपर तो क़ाबू पाया है, किन्तु मनुष्य का अपने ऊपर से क़ाबू चला गया है।

इंजीनियरों के ख़िलाफ़ आज भी एक ज़बरदस्त इलज़ाम है कि उन्होंने विज्ञान को जरूरत का दास बना दिया है। इंजीनियरों ने सभ्यता के साथ ही साथ बर्बरता के भी भयंकर हथियार दिये हैं और आज उनसे उत्पन्न नाश को रोकने वाला कोई नहीं है। जो मशीन लोगों को सुविधाएं देने और लोगों की परिस्थिति सुधारने के लिये ईजाद की गई थीं, उन्हें भयकर बर्बरता का रूप दे दिया गया है। इस इलज़ाम से कोई इनकार भी नहीं कर सकता। मगर इसमें इंजीनियर बेचारों का तो आंशिक अ· ·ध है। इसके लिये दोषी तो समाज है, जो अपनी वैज्ञानिक उन्नति के साथ-साथ अपनी नैतिक और अध्यात्मिक उन्नति न कर सका और इसीलिये इस समय दुनिया में इतनी मुसीबत छाई हुई है। इसके लिये जिस तरह समाज के दूसरे लोग अपराधी हैं, उसी मात्रा में इंजीनियर भी। अन्य लोगों से अधिक उनकी जिम्मेवारी नहीं है। इंजीनियर के दिये हुये साधन को इनसान ने अपनी ज़रूरत के कामों के बजाय वर्बर कामों में इस्तेमाल किया। शान्तिमय जीवन में भी उसने इंजीनियरों के दिये हुये साधन को बेदर्दी से इस्तेमाल किया। यह एक बदनाम वाक़ा है कि यूरोप और अमरीका में हर साल हज़ारों राहगीर मोटरों के नीचे दब कर मरते हैं, रेलों से भी हज़ारों आदमी कटते हैं। कारखानों और खानों में भी मरने वालों की तादाद हज़ारों तक पहुंचती है। हालांकि इस क़िस्म के क़ानून बनाये गये हैं कि जिनके अनुसार कारखाने के मालिकों को मज़दूरों के चोट पहुँचने या दुर्घटना से उनकी मृत्यु होने पर हरजाना देना पड़ता है। फिर भी इसमें बहुत कुछ सुधार करने बाक़ी हैं।

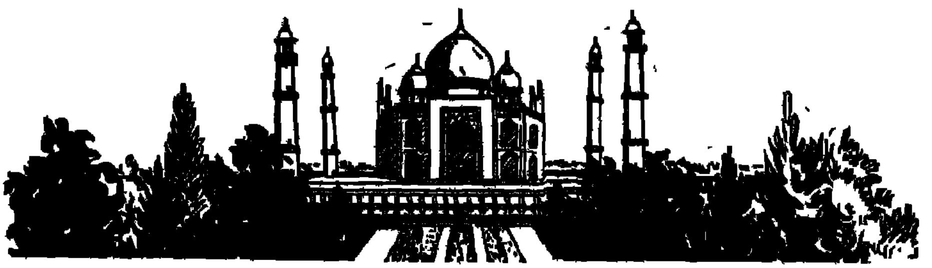
यहीं आकर इंजीनियर सार्वजनिक हित की दृष्टि से निकम्मा साबित हो रहा है। आवश्यकता से अधिक माल तय्यार करने पर आवश्यकताएं अपने आप बढ जाती हैं और सादे जीवन से समृद्ध जीवन को लोग तरजीह देने लगते हैं। इस युग में मशीनों का इतना महत्त्व बढ गया है कि लोग बजाय आध्यात्मिक गुणों के चूना, गारा, लोहा, फौलाद और सीमेंट को ही जीवन में प्रमुख स्थान देने लगे हैं।

भिन्न-भिन्न युगों में, भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्ति मानव समाज के नेता समझे जाते रहे हैं। अफलातून ने एक ऐसे समाज की कल्पना की है कि जहाँ दार्शनिक ही राज करेगा। किसी जमाने में सैनिक और पुरोहित समाज के अन्दर सब में प्रमुख थे। इधर पिछले दिनों से बैंकर और अर्थ-शास्त्री समाज के नेता बन गये हैं। एच० जी० वेल्स बहुधन्धी व्यक्तियों को मानव समाज का शासक बनाना चाहता है। हमें मशीनों और इंजीनियरों को, दुनिया के लिये सुविधा देने वाला बनाना है। मशीनों में हमे इस तरह के सुधार करने हैं कि जो समाज की नैतिक और सामाजिक उन्नति के साथ चल सकें और इंजीनियरों को हमें इस तरह की शिक्षा देनी है कि उनमें मानवता की भावना बड़ी मात्रा में मौजूद रहे।

हमारे देश मे इंजीनियर को दो भिन्न-भिन्न दिशाओं में काम करना है—(१) उसे गांव के जीवन मे सुधार करना है। गांव वालों को अधिक से अधिक सुभीता पहुँचाना है। आज गांवों को नई बुनियादों पर बसाने की काफी चर्चा चल रही है और यह स्पष्ट है कि अच्छी सड़कें, सिंचाई के लिये नहरें, बिजली आदि ऐसी चीजें हैं—जिन्हें छोटे छोटे स्केल में गाव वालों के हित में इस्तेमाल किया जा सकता है। गाव में लोगों के रहने के मकान और गाव की सफ़ाई में काफी उन्नति करने की ज़रूरत है। इन्हीं को पूरा करने में बड़े-अच्छे इंजीनियरों की बुद्धि की परीक्षा होनी चाहिये। करोड़ों ग्रामवासियों के लाभ

को दृष्टि में रखकर इंजीनियरों को दक्ष बनने की ज़रूरत है, घरेलू जीवन की सुविधाओं को ही लीजिये। उसमें बेहद सुधार की ज़रूरत है। रोमनों के ज़माने में जब नाज पीसने के लिये पनचक्कियाँ चलीं, तो रोमन लोग ख़ुशी से फूल उठे और उन्होंने ऐलान किया—"स्त्रियों अब चक्की पीसना बन्द कर दो। मुर्गों की कुकुड़ूँ कूँ की परवाह न करो और पूरी नींद सोओ। डिमिटर ने निम्फ से हमारे लिये काम करने को कहा है और वे ही लोग पनचक्कियों के बड़े बड़े पखों के ऊपर बैठकर उन्हें चलते हैं, वही उसकी धुरी घुमाते हैं और पंखों के घूमने से चक्के पूरी तरह घूमते हैं। मानव-जीवन की प्रारम्भिक सुविधाएं शुरू हुईं और लोग बग़ैर मेहनत के डिमीटर के प्रबन्ध से लाभ उठाने लगे।"

हमारे देश में कारीगर घरों के प्रवेश द्वार को शानदार बनाने की कोशिश करते हैं। छोटे-छोटे ख़ूबसूरत ड्राइङ्ग रूम, और अच्छे शयन-गृह भी बनाने लगे हैं। किन्तु हमारे रसोई घर और भंडार घर वही पुराने तर्ज़ के बनाये जाते हैं। उनमें कोई सुधार नहीं किया जाता। अमरीका के गृहस्थों के रसोई घरों और भण्डार घरों के सामने हमारे रसोई घर और भण्डार घर अत्यन्त तुच्छ दिखाई देते हैं। इंजीनियरों को इस सम्बन्ध में काफी सुधार करके दिखाना है।



चूड़ियों की ध्वनि !

डाक्टर एन एस वर्धन

प्रेम करने योग्य सभी स्त्री पुरुषों को 'प्रेम की स्थिरता' की चर्चा में दिलचस्पी होती है। मेरा अनुमान है बहुत थोड़े से प्रश्न ऐसे होंगे, जिन पर कोई भी आधे दर्जन व्यक्ति इतनी भिन्न भिन्न और विपरीत धारणाएं रखते हों! और इसमें भी सन्देह नहीं कि इन आधे दर्जन व्यक्तियों में किसी एक ऐसे व्यक्ति को छोड़ कर, जो अभी नादान और अनुभव हीन है कोई भी अपने हृदय की वास्तविक स्थिति को प्रकट न करेगा। लगभग समस्त स्त्रियां और अधिकांश पुरुष ऐसा सोचते हैं कि नैतिक दृष्टि से वे अपने प्रेम की स्थिरता, दृढता और निश्चलता की घोषणा करने के लिये विवश हैं। और यदि कोई व्यक्ति प्रेम-पथ से विचलित हो जाता है, तो सबके सब उस पर अवज्ञा और घृणा की बौछार करने लगते हैं। वह अपनी इस भावना-परिवर्तन के लिये समाज के निकट दोषी घोषित कर दिया जाता है। भावना-परिवर्तन से मेरा तात्पर्य यहाँ पुरुष के प्रति स्त्री के और स्त्री के प्रति पुरुष के उद्घोषित प्रेम से है।

अभी उस दिन कोलम्बो में मेरी एक महिला मित्र ने प्रशंसनीय और निष्कपट भावना के साथ लिखा—"यह न समझना मेरा हृदय इतना संकुचित है कि वह केवल एक ही पुरुष के प्रेम को संचित रख सके।" और मैं यह जानता हूँ कि इससे मेरी महिला मित्र का तात्पर्य है एक समय में एक पुरुष का प्रेम। इस व्यंजना के अन्दर जो वक्रता है, उसमें भी एक आकर्षण है। क्यों न हम इस पर ज़रा विस्तार से सोचें और यदि इसकी पेचीदगीएं हमें भूलभुलइयों में डालने लगें, तो हम तर्क के सहारे वास्तविकता की ठोस बुनियाद पर खड़े हो सकते हैं।

जीवन वसन्त में युवक और युवतियों की भावनाएं सहज भाव से प्रेम दोलों में झूलने लगती हैं। सामान्यतः प्रेमी अपने प्रेम की अनन्त स्थिरता पर विश्वास करते हैं। जितना उन्हें अपने प्रेम पर विश्वास होता है, उतना ही उन्हें अपने प्रेम के अधीश्वर या अधीश्वरी पर होता है। उन्हें उस स्त्री या पुरुष के प्रति अवज्ञा दर्शाने के लिये शब्द नहीं मिलते, जो अपने प्रेमी या प्रेमिका के प्रति अपनी प्रेम-भावना को बदल देते हैं; और यदि वे अपने प्रेम का आधार किसी अन्य व्यक्ति को बना बैठते हैं, तब तो उनकी भर्त्सना की कोई सीमा नहीं रहती विलासी, विश्वासघाती, धोखेबाज, दिल तोड़ने वाले, हृदय की शान्ति हरने वाले आदि बीसों विष बुझे शब्द धाराप्रवाह रूप से हिंसा का दावानल सुलगाते फूट निकलते हैं।

कल्पना कीजिये—अचल प्रेम पर विश्वास करने वाले दो प्रेमी विवाह बन्धन में बंधते हैं। दोनों एक दूसरे के प्रति अपने प्रेम की स्थिरता की सौगन्ध खाते हैं, एक दूसरे की प्रशंसा करते थकते नहीं। किन्तु ऐसे सुखमय जीवन की पहली सीढ़ी भी वे नहीं लांघ पाते कि सहसा उनमें से एक की मृत्यु हो जाती है—तो क्या समय बीतने पर दूसरा अपने प्रेम का नया आधार न ढूंढ लेगा? अकसर ऐसा ही होता नज़र आता है। वियोग के घावों पर जब नवीन प्रेमाधार का प्लास्टर चढ़ा दिया जाता है, तो अनेक धार्मिक और नैतिक व्यक्ति भी सन्तोष की सांस लेकर कहते हैं—"चलो, अच्छा हुआ।"

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे प्रेम के आधार परिवर्तनशील हैं। 'अ' जिसने किसी समय 'ब' के प्रति आमरण प्रेम की शपथ खाई थी, वही शपथ वह सम्भवतः 'स' के लिये भी खा सकता है। यही होता आया है और समाज इसको स्वीकार करता है।

एक कदम और बढ़िये और आगे कल्पना कीजिये कि ऊपर मैंने जिन अचल प्रेमियों के विवाह का ज़िक्र किया है, उनमें से कोई अकाल मृत्यु का शिकार

नहीं होता और अधिक या कम समय के पश्चात् वे एक दूसरे से ऊब जाते हैं और उनमें से एक को, जैसा होता आया है, स्त्री को, उस विवाहित जीवन से घृणा होजाती है, और इसी बीच शैतान एक अन्य पुरुष को स्त्री के हृदय-मन्दिर में आसीन करता है और जीवन का नाटक पूर्ववत् अनुराग के साथ चलता रहता है। 'अ' के प्रति 'ब' का आमरण प्रेम रद्दी की टोकरी में फेंक दिया जाता है। और 'ब' अपने प्रेम को 'स' के चरणों में न्योछावर कर देती है, हा सुखी घर को नष्ट करने वाले 'स' के चरणों में! कोई इससे इनकार करेगा कि यह भी अक्सर होता है!

फिर ऐसे अनेक प्रेमी हैं जो कई कारणों से शीघ्र विवाह बन्धन में नहीं बंध पाते। समय की प्यास उनकी प्रेम गगरी को रीता करने लगती है, और वे दोनों या उनमें से एक यह समझने लगता है कि हृदय के कैनवेस पर कल्पना ने प्रेम की कूची से उनके प्रियतम का जो चित्र खींचा था, वास्तव में वह वैसा तो नहीं है। कुछ दिन पूर्व शान्ति का अमृत बरसाने वाली त्यागी प्रियतमा अब स्वार्थी और आग उगलने वाली वैतालिक बन जाती है। प्रेमी का आमरण प्रेम किसी और ही क्यारी में लहलहाने लगता है और प्रेमिका के प्रेम की विजय वैजयन्ती किसी और ही सीमा क्षेत्र में फहराने लगती है। दोनों को उपयुक्त साथी मिल जाते हैं और कुछ अरसे के लिये दोनों सन्तोष की सांस लेते हैं।

यदि कोई प्यार करे, प्यार को विवाह के सुनहले फ्रेम में जड़े, उस प्यार को त्याग दे और फिर प्यार करे; या कोई प्यार करे और विवाह की प्रतिज्ञा करे किन्तु अपनी प्रतिज्ञा में अपना सर्वनाश देखकर किसी और को प्यार करने लगे या कोई प्यार करे और उसके प्यार की बेल मुरझा जाये किन्तु नये स्पर्श से फिर लहलहा उठे—यदि ये सारी बातें सम्भव हैं, और जिन्हें ये अनुभव होते हैं वे समाज में अभियुक्त नहीं समझे जाते, तो निश्चय ही ऐसा प्यार होगा, जो सच्चा होगा, दोनों हाथों से उदारता पूर्वक दिया जाता होगा, बेताब होकर लिया जाता होगा और फिर भी एक समय आ सकता है कि हजार में एक, दो या तीन कारणों से वह प्रेम, जो अपनी चमक से सारा वातावरण जगमग करता है, अदृश्य हो जावे और अपने पीछे छोड़ जावे अमावस्या की अन्धकारमय रात्रि। किन्तु प्रेमाकाश में पुनः दूज का चांद उदय हो सकता है और धीरे धीरे अपनी सम्पूर्ण कलाओं के साथ जीवन को अपनी धवल ज्योत्स्ना से आलोकित कर सकता है और हृदय बग़ैर अतीत स्मृतियों को भूले अपनी सम्पूर्ण अनुभूतियों के साथ वर्त्तमान में रम सकता है। दिल से उद्‌गार उठ सकते हैं—"जीवन कितना मधुर, कितना मनोरम और कितना सुखमय है! चाहे जिस रूप में हो हमें उसका स्वागत करना चाहिये!" यदि यह सम्भव है, प्रेम की परिवर्तनशील दिवा-रात्रियाँ सम्भव हैं, प्रेम और विद्रोह के ये निरन्तर अवसर सम्भव हैं, तब आधार परिवर्तन की इच्छुक प्रेमी या प्रेमिका को अधीरता या चंचलता का दोषी ठहराना कहां तक उचित और न्याय सगत है!

प्यार करना और बदले में प्यार पाना, अपने साथी के निश्चल प्रेम पर विश्वास करना, उसके प्रेम को निर्दोष समझना, उसके प्रति ऐसी भक्ति रखना जैसी कोई ईश्वर में रखता है, उसके प्रति ऐसी आस्था रखना जैसी प्रकृति के साधारण नियमों या किसी भी अपरिवर्तनशील वस्तु पर रखी जाती है और उसके बाद यह मालूम होना कि हमारे इष्ट देव के चरण तो मिट्टी के हैं या हमारा हीरा नकली है—कोई बड़ा सुखकर अनुभव नहीं है। इससे भी अधिक कष्टकर बात यह है कि बिना मृत्यु के ऐसे प्यार को खो देना, सदा सदा के लिये खो देना, जिसकी जड़ें हृदय की अत्यन्त गहराई में जमी हुई थीं, ऐसा प्यार जो पवित्र से पवित्र सिद्धान्तों से भी पवित्रतर था, किसी भी भौतिक वस्तु से अधिक जिस पर हमारा अधिकार था, एक ऐसी व्यथा है कि जो उन लोगों की कल्पना तक में नहीं आ सकती,

जिन्हें कभी इसका कटु अनुभव नहीं हुआ। इसके साथ साथ यह ज्ञान कि यह विपत्ति का पहाड़ हमारी ही करनी का फल है, हमारे ही मूर्खतापूर्ण, अन्ध विश्वास का परिणाम है, मानव वेदना की चरम सीमा है। यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की वस्तु नहीं। बीते हुए प्रेम की क़ब्र पर, उसकी वास्तविकता की इति श्री पर, कल्पना के समस्त स्वप्न और जीवन का प्रत्येक आदर्श व्याकुल और मथित रोमांस की गहराई से ऐसा गरल पैदा करता है जो वातावरण को विषैला बना कर दिमाग़ में पागलपन भर देता है। यदि सम्भव होता तो यही उपयुक्त था कि—"गड़े मुर्दे न उखाड़े जाय !" किन्तु यदि सम्भव होता तब न !

हां, तो मैं अपनी कोलम्बो की मित्र की चर्चा कर रहा था कि वे अपने प्यार को अनेक आधारों पर स्थापित करने की क्षमता रखती हैं। मैं जानता हूं कि वे इसे किस तरह समझाएंगी। वे एक व्यक्ति को इसलिये प्यार करती हैं कि वह उन्हें एक तरह से आकर्षित करता है। दूसरे को इसलिये प्यार करती हैं कि वह उन्हें दूसरी तरह से अपील करता है और चूंकि उनके हृदय तक पहुँचने के अनेक मार्ग हैं, इसलिये एक या दूसरे मार्ग से अनेक व्यक्ति उनके हृदय तक प्रवेश पा सकते हैं। उनके प्यार के वितरण में उदारता और बाहुल्यता है। ऐसे कितने व्यक्ति हैं जो तीस बसन्तों की सीमा तक पहुँचकर यह दावा करें कि उन्हें अपने प्रेम के लचीलेपन का अनुभव नहीं हुआ ! या उन्होंने अनेकों मन्दिरों में नाना देवी देवताओं की पूजा नहीं की। पुरुषों के लिये रम्भा, उर्वशी एफ्रा-डाइटे और स्त्रियों के लिये एरेस और हरमेस और इनके अतिरिक्त दोनों के लिये अनेक छोटे छोटे देवी देवता। हर विक्षोभ और वेदना की यवनिका के बाद हृत्तन्त्री के तारों में कोमल लय और मादक संगीत फूट निकलता है। अत्यन्त चतुराई के साथ स्वर साधन, उसका उत्तरोत्तर निश्चित प्रभाव और सदा नवीन नायक नायिकाओं के हास परिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर आधुनिक प्रेमी जीवन-संगीत का चित्रण करते हैं।

बाइबिल में लिखा है कि खुदा के बेटों ने मनुष्यों की बेटियों को अपनी पत्नी बनाया। तो क्या तुम्हारा यह ख़याल है कि स्वर्ग से पृथ्वी पर आने के पहले उन्होंने स्वर्ग में अपनी तलाक़ शुदा बीबियां नहीं छोड़ीं ! स्वर्ग में क्या वे अपने प्रेम की अनेक दुःखान्त कहानियां नहीं छोड़कर आये ! जिस प्रेम को वे स्वर्ग में नहीं पा सके क्या उसी की तलाश में वे पृथ्वी पर नहीं आये ! तुम्हीं अनुमान करो आख़िर मनुष्यों की बेटियों के साथ उन्होंने किस तर्ह की शादियां की होंगी ! क्या अनश्वर प्रेम-भावना से उन्होंने शादियां की होंगी ! जीवन पर्यन्त जिस प्रेम में अटूट भावना रही हो, मृत्यु के बाद क्या वह प्रेम स्वर्ग में सुखद वैवाहिक अमरत्व का द्वार नहीं खोल देता ! यदि स्वर्ग की यही वास्तविक स्थिति होती तो क्या ये मनुष्यों की बेटियां देवताओं को अपने सांसारिक प्रेम में लुभा सकती थीं ! असल में चाहे मनुष्य हों या देवता सभी प्रेम के आधारों में परिवर्तन के इच्छुक होते हैं। इस सम्बन्ध में लोगों का कहीं न कहीं कोई पुरज़ा ढीला है। मनुष्यों की बेटियों के लिये देवताओं को लुभा लेना कोई गर्व की बात नहीं, यह तो उनपर एक अभियोग ही रहेगा। इसके विपरीत संसार के पुरुषों ने स्वर्ग की सुरक्षित ऊँचाई से देवताओं की बेटियों को मृत्युलोक में आकर अपनी पत्नी बनने के लिये लालायित नहीं किया। आख़िर इन स्त्री पुरुषों से यह आशा क्यों की जाय कि आंखें चार होते ही अपने लिये साथी चुन लेने के बाद वे अपने प्रेम में उस समय तक स्खलित न हों, जब तक मृत्यु आकर उन्हें अलग न कर दे। कभी कभी ऐसा ही होता है और यह ईर्षा और प्रशंसा की बात है। किन्तु अब स्त्री या पुरुष अवज्ञा से प्रेम-विह्वलता और प्रेम-विह्वलता से पुनः अवज्ञा बल्कि नफ़रत की सीमा तक पहुँचने का आचरण करते हैं, तो प्रेम का आधार बदलने वाली निरीह आत्माओं की भर्त्सना क्यों की जाय ? उन्हें

पत्थर क्यों मारे जायँ ? और यह सब ऐसे व्यक्ति करें जिन्हें जीवन में ये समस्त अनुभव या तो हो चुके हैं या होने वाले हैं।

प्रेम और प्रेम के आधारों के परिवर्तन की सम्भावना को तुम मानते होगे। यदि तुमने इस परिवर्तन को कभी अनुभव नहीं किया तो तुम एक अपवाद हो और अपनी शक्तिपूर्ण सहायता से तुम ऐसे व्यक्तियों के साथ, जिन्हें प्रेम के अनेक अनुभव हुए हैं, सहानुभूति प्रदर्शित कर सकते हो। किन्तु क्या तुम्हारा विश्वास कभी विचलित नहीं हुआ ? क्या तुमने अपने जीवन में एक ही व्यक्ति को प्यार किया है ? और क्या उसके प्रति तुम्हारी भावना आज भी उतनी ही दृढ़, उतनी ही सच्ची, उतनी ही एकाग्र और उतनी ही सन्तुष्ट है जितनी पहले थी ? आश्चर्य है !! लेकिन मुझे क्षमा करना यदि मैं तुम्हारी इस 'हां' पर विश्वास न करूं !

कभी कभी ऐसे दो व्यक्तियों को जिन्हें प्रेम एकत्रित करता है; क़िस्मत एक लम्बी अवधि के लिये जुदा कर देती है। तब अकसर यह होता है कि उनमें से एक काया से सच्चा रहता है किन्तु मन से डिग जाता है। स्त्रियां अकसर यही करती हैं। पुरुष इसके विपरीत काया और आचरण से डिग जाते हैं, किन्तु मन से वे अपनी प्रियतमा के प्रति उसी अटूट प्रेम की सौगन्ध खाते हैं। वे यह नहीं समझते कि उनका यह मिथ्या दम्भ उनके दुष्कर्म को और अधिक घृणित बना देता है। यह भी एक अजीब बात है कि यदि स्त्री को पुरुष की आचरण हीनता का पता चल जावे तब भी वह उसे क्षमा कर देती है; किन्तु वह पुरुष के मानसिक विश्वासघात को कभी क्षमा न करेगी, चाहे वह उस दोष की दोषी स्वयं क्यों न हो। इसके विपरीत पुरुष स्त्री के मानसिक विश्वासघात पर पहले तो कभी विश्वास ही न करेगा। जहां उसका सम्बन्ध है ऐसी बहुत सी बातों में तो वह स्त्री के मानसिक विश्वासघात की कल्पना ही नहीं करेगा। किन्तु फ़र्ज़ कीजिये यदि स्त्री स्वयं पुरुष से अपने इस पाप को स्वीकार भी करले तब भी पुरुष इसे अधिक महत्व न देगा; किन्तु स्त्री का कायिक विश्वासघात पुरुष के निकट अक्षम्य है। न शब्द, न रक्त कोई उसकी आहत भावना को सान्त्वना नहीं पहुँचा सकते। वह स्वयं कायिक विश्वासघात का दोषी होते हुए भी स्त्री के लिये इसे अक्षम्य समझता है।

स्त्री समझती है कि यदि पुरुष की पाशविक वासनायें उसे गन्दे और नापाक स्थानों में ले जाती हैं तो उसका कारण केवल क्षणिक उन्माद है। एक बार जहा उसके आकर्षण का लक्ष्य हटा कि उसकी चेतना लौट आवेगी। वह झल्लाती है किन्तु पुरुष की इस अभक्ति की उचित कीमत आँकती है। इसी तरह पुरुष भी स्त्री के मानसिक दुराचरण की मुनासिब कीमत आंक कर सन्तोष की ठण्डी साँस लेता है।

मैं यहां पर ईर्षालु व्यक्तियों की बात नहीं कहता। इन अमस्मन्त व्यक्तियों के प्रति तो कोई भी दया नहीं दिखा सकता। वे अपने हर प्रयत्न से अपनी ही मुसीबतों का सृजन करते हैं। ऐसे व्यक्ति भी होते हैं, जिन्हें पर-पोश तक से ईर्षा होगी, किन्तु ऐसे व्यक्तियों का सुधार सर्वथा असम्भव है।

× × ×

मैं नहीं समझा कि आख़िर मैं इतनी लम्बी चौड़ी भूमिका क्यों बाँध गया ? प्रेम के इस वैज्ञानिक विश्लेषण के बाद भी घटनाओं का तारतम्य इस विश्लेषण की कसौटी पर पूरा उतरता नहीं। हर व्यक्ति के अन्दर अपवाद की दुर्दमनीय प्रवृत्ति होती है। कोई सांचा ऐसा खरा नहीं जिस पर समस्त मानवीय भावनाएं कसी जा सकें और कोई नियम ऐसा निर्भ्रान्त नहीं जिस पर हृदय का क्रम नियमानुकूल बैठ सके। इतनी विस्तृत भूमिका के बाद तुम इस उपोद्घात का मुझसे अर्थ पूछोगे ! तो लो सुनो—

मैं उस समय हिन्दुस्तान के एक हिल स्टेशन—नाम ही क्यों न बता दूं—मसूरी में था। आक्सफ़ोर्ड के मेरे एक साथी वहां अनेक वर्षों से रह रहे

थे। एक दिन मैं उनके साथ घूमता हुआ सरस्यूमर रोड के पीछे जा पहुँचा। सामने नन्दा देवी हिमकिरीट पहने अनुपम लावण्य सजो रही थी। दूर से तुषार-धवल कैलाश अलसायी और मदमाती चितवनों से अपनी प्रेयसि हिम सुन्दरी का सौन्दर्य निरख रहे थे। हमारी दृष्टि पड़ते ही नन्दा ने सकुचाकर बादलों का अचल वक्षस्थल पर डाल लिया। नन्दा अपने इस अवगुण्ठन में भी अपूर्व हो उठी!

मैं वह दृश्य एक टक देख ही रहा था कि सहसा किसी रमणी की चूड़ियों की ध्वनि मेरे कानों में पड़ी। मैंने चौंककर देखा किन्तु वहां किसी की परछाईं तक न थी। साथी ने ओठों पर उँगली रखकर नीचे कई सौ फुट गहरे खड्ड में एक चमकते हुए संगमरमर के स्तूप की ओर संकेत किया—"देखो, उसे देख रहे हो!" वायु से प्रताड़ित पत्तियां अपनी सम्पूर्ण चेष्टा से उस स्तूप को दर्शकों की दृष्टि से ओझल रखने का सफल प्रयत्न कर रही थीं। बड़ी कठिनता से मैं उस स्तूप की पतली रेखा पर आँख गड़ा सका। साथी ने उसके सम्बन्ध में जो कुछ मुझे सुनाया वह उन्हीं के शब्दों में मैं यहां दोहरा रहा हूं—

"तुम यह चूड़ियों की रहस्यमय ध्वनि सुन रहे हो? तो क्या इसका भेद जानना चाहते हो? तो सुनो, लेकिन जो कुछ मैं बताऊँ उसके अतिरिक्त न तुम मुझसे कुछ और जानने की इच्छा करना और न कोई प्रश्न पूछना।" साथी ने शुरू किया—

"पहले पहल जब मैं मसूरी आया तो यहां मैंने एक व्यक्ति की सब में अधिक चर्चा सुनी। वह अपने में रमा रहता। न ऊधो से कुछ लेता था न माधो को कुछ देता। ऐसे एकान्त प्रिय रहस्यमय व्यक्ति के सम्बन्ध में सारा मसूरी चर्चा से भर गया। इन चर्चाओं ने उस व्यक्ति को और अधिक एकान्त प्रिय और रहस्यपूर्ण बना दिया। लोगों की चर्चाएं उस पर कोई असर न डाल सकीं। वह अपने एकान्तवास से विचलित न हो सका। सम्भवतः इसका कारण उसका दृढ़ चरित्र हो, किन्तु जिस व्यक्ति को लेकर बदनामी का भयंकर रोला चलता है, स्वभावतः वह भी इसी तरह चुप रहने लगता है। अपने घनिष्ठ मित्रों तक को वह अपने हृदय की वेदना का आभास न देता था। अनेक तरह की चर्चायें, जिनके रचयिता का कोई पता न लगता, छनछन कर उसके मित्रों द्वारा उसके कानों में पहुँचती रहतीं। दुनिया में वह किसी की सहानुभूति का इच्छुक न था। अत्यधिक आवश्यकता पड़ने पर वह स्वयं ही अपने साथ समवेदना प्रकट करता। शायद उसका सब में अधिक परिचित मैं ही था। जिस समय की मैं चर्चा कर रहा हूँ, उसके कुछ ही महीनों बाद जीवन में पहली बार एक लड़की की ओर वह आकर्षित हुआ। लड़की क्यों उसे स्त्री ही कहूँ, क्योंकि वह विवाहित थी। उसके अनुपम सौन्दर्य को देखकर उसके हृदय में अनुराग पैदा हुआ। प्रथम साक्षात् के बाद ही उस व्यक्ति को अपने काम से मसूरी छोड़ना पड़ा। उस प्रथम साक्षात् का जितना प्रत्यक्ष प्रभाव उस पर पड़ा, उससे अधिक जानने का न तो उस समय मुझे अवसर ही मिला न समय ही। मैं यह न जान सका कि बाहर की सुखद मुद्रा के भीतर प्रेम का अनमोल हीरा है या कल्पना हीन निराशा। उस स्त्री ने भी इस व्यक्ति के सम्बन्ध में बहुत सी गप्पें सुनी थीं। यद्यपि उसने उन गप्पों को अपनी सम्मति का आधार नहीं बनाया, ताहम उस व्यक्ति के साथ अपनी प्रथम क्षणिक भेंट में यह तो वह जान ही गई कि यह सनकी और दीवाना है और इसीलिये वह उसमें सतर्क हो गई। अन्यथा उसमें स्त्रियोचित उदारता थी। वह जानना चाहती थी कि आखिर कैसा है यह व्यक्ति, जिसके विरुद्ध अनेक परिचितों ने सावधान किया है।

"कुछ काल बीता और भाग्य उन दोनों को एक ही मकान की छाया में ले आया। उस व्यक्ति ने इस स्त्री के पूर्ण सौन्दर्य के आकर्षण को मुक्त रूप से स्वीकार किया और ईमानदारी के साथ इस

बात का निश्चय किया कि वह साधारण मित्रता के अतिरिक्त उस स्त्री के प्रति और कोई कल्पना न करेगा। अपने इस निश्चय का उसने ईमानदारी के साथ पालन किया। यद्यपि उस लड़की के साथ उसे अकेले रहने के अनेक अवसर मिले तब भी न तो उसने उसके चरित्र के पढ़ने की चेष्टा की, न उसके विश्वास पात्र बनने की कामना और न उसकी मित्रता प्राप्त करने का ही प्रयत्न। कभी कभी वह अपने ऊपर अभियोग लगाता कि वह उस के प्रति उतनी भी सज्जनता और नेहाभिनय नहीं बरतता, जो प्रत्येक सभ्य पुरुष को स्त्री मात्र के प्रति बरतनी चाहिये। जब वह उससे विदा हुआ तो सोचने लगा कि कौन सा ऐसा व्यक्ति होगा, जो इतना अधिक इस स्त्री के सम्पर्क में आया हो और जिसने उसके साथ इस तरह की थोड़ी सी बातें की हों, जिन्हें वह सरे आम न दोहरा सकता हो। उसे यह तो मालूम ही हो गया था कि मजूरी के समाज ने उसके सम्बन्ध में उस स्त्री के हृदय में अनेक भ्रान्त धारणायें पैदा कर दी थीं और यदि वह चाहता तो इन धारणाओं को आसानी से दूर भी कर सकता था। किन्तु उसने यह तक नहीं किया। जहाँ तक उस स्त्री का सम्बन्ध था वह यह अच्छी तरह जान गई थी कि इसके सम्बन्ध में जो अफ़-वाहें हैं, वह ठीक उसके विपरीत है और इस ज्ञान ने स्त्री के हृदय में उसके प्रति कौतूहल और आकर्षण भर दिया।

"काल चक्र, जो पुरुष और स्त्रियों के भाग्यों को अजीब ताने बानों में उलझा देता है, उसने इन दोनों को उठाकर एक दूसरे से दूर, बहुत दूर फेंक दिया। वर्षों बिताकर दुख से मर्माहत अन्त में यह व्यक्ति भाग्य की शरण में गया। जिस व्यक्ति ने ज़िन्दगी भर कभी भाग्य के चरणों में शीश नहीं झुकाया; भाग्य, निर्मम ही सही, किन्तु पहली बार कैसे उसे विमुख फेर सकता था! भाग्य के विश्वस्त अनुचर अवसर ने टूटे हुये इन तारों को एकत्रित करके सावधानी के साथ गूंथ दिया। एक सुनहला दिवस या एक मधुर क्षण यथेष्ट होता है ऐसा बन्धन गढ़ने में जिसे मृत्यु ही तोड़ने की क्षमता रखे। ऐसे ऐसे अनेक सुनहले दिनों के तारों से इन्होंने सावधानी के साथ अपने प्रेम को गूंथा। जितना ही वह अनिर्वचनीय और अभिन्न था, उतना ही अगोचर और अज्ञात। सात लाख नक्षत्र किरणों के प्रकाश में सहसा इतने बड़े भेद की बात उन पर प्रकट हुई।

"स्त्री की विजय वाहिनी सुन्दरता यद्यपि अद्वितीय और आकर्षक थी, फिर भी वह अकेले मेरे मित्र पर विजय प्राप्त न कर पाती। जैसे जैसे दिन बीतते गये और जैसे जैसे वे लोग एक दूसरे के अत्य-धिक निकट सम्पर्क में आते गये, वैसे वैसे उस व्यक्ति को उस स्त्री की आत्मा की महानता के दर्शन भी होने गये। और इसमें क्या आश्चर्य कि आत्मा और शरीर के इस दोहरे सौन्दर्य ने उस व्यक्ति के हृदय को पूरी तरह वशीभूत कर लिया। वह अभी केवल २७ वर्ष की ही थी। मगर इस छोटी उम्र में ही उसने इतनी दुनिया देखली थी कि उससे दूनी उमर वाले भी न देख पाये होंगे। उसके अनुपम शारीरिक और व्यवहारिक सौन्दर्य पर रीझ कर प्रशंसकों की एक भीड़ लगी रहती थी। यह सब होते हुये भी उसने कहीं अपनी आत्मा में एक खरोंच तक न लगने दी। स्नेहपूर्ण मुखमुद्रा, ज्ञान की ज्योति से प्रकाशित नेत्र और प्रेम से भरा स्वभाव—यह उसकी आश्रय पूंजी थे। उसके बर्ताव में एक भव्यता थी, उसके स्वभाव में सहनशीलता और उसकी गति विधि में दृढ़ता थी। इन बाहरी आकर्षणों के साथ साथ उसमें निर्लिप्त भावना, मन क्रम वचन में सत्यता और ईमानदारी, हृदय में निष्ठा और साहस, आध्यात्मिक और नैतिक उच्चता की प्रतिमूर्ति ऐसी वह स्नेहशीला, लाजशीला, कर्तव्यशीला युवती इस पुरुष को, जिसके जीवन का लक्ष्य ही मनुष्य-चरित्र का अध्ययन था अपनी मानवीय आभा से चकाचौंध करने में समर्थ हुई। अब तक इस मित्र को प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर मनुष्यता के नाम पर कुरूपता और आरोप दिखाई दिये थे, किन्तु इस स्त्री के अन्दर उसने एक

ऐसी मानवीय सम्पूर्णता के दर्शन किये, जो महान विचारों और महान कार्यों की स्रोत थी; जिसकी आत्म-प्रेरणा सदा उसे ऊंचे धरातल पर रखती और जो अपने दुर्बल पुरुष बन्धुओं के विचारों और कृतियों को सहानुभूति और उपेक्षा से देखने की क्षमता रखती। यदि उसने इस व्यक्ति के प्रेम को स्वीकार किया, तो वह उसी तरह जिस तरह स्वर्ग की देवी किसी मनुष्य पुत्र के प्रेम को स्वीकार करे।

"लाज की कलियाँ धीरे धीरे विश्वास की ज्योत्स्ना में प्रस्फुटित हुईं। घनिष्ट मित्रता की सहानुभूति के प्रकाश में उस स्त्री ने इस मित्र को अपनी आत्मा के उस सौन्दर्य के दर्शन कराये कि दूसरों के सामने जिसकी चर्चा कुफ्र है। किस बात ने उस स्त्री को इस पुरुष की ओर आकर्षित किया मैं कह नहीं सकता। भक्ति, प्रशंसा या स्त्री के सम्बन्ध में सम्पूर्ण ज्ञान की भावना जो भी चीज रही हो, शायद इस व्यक्ति का अटूट प्यार ही उसे बहा ले आया हो। स्त्री विवाहित थी और दोनों अपनी परिस्थिति की निराशा को खूब समझते थे। किन्तु दोनों को एक दूसरे के प्रेम पर असीम विश्वास था। यही अक्षय विश्वास उनकी सान्त्वना का सम्पूर्ण हेतु था और था भाग्य—जिसके रहस्योद्घाटन का उन्हें कोई ज्ञान न था। आशा की जर्जर नौका में इतना असीम प्रेम का इतना भार लादकर उन्होंने सन्तोष के महासागर की यात्रा शुरू की।

"मेरे मित्र पुरातत्व वेत्ता भी थे। अनेक प्राचीन वस्तुओं का उन्होंने संग्रह किया था। उनके संग्रह में तक्षशिला से प्राप्त आधी दर्जन जड़ाऊ चूड़ियां भी थीं, मरकत पुखराज के नगीने उनमें जड़े हुए थे। चूड़ियों के मूल्य आदि को देखकर यही मालूम होता था कि समय की क्रूर चेष्टाओं ने उन्हें तक्षशिला की किसी कोमलाङ्गी रूपवती रानी के हाथों से उतारा होगा। मित्र ने एक दिन अत्यन्त स्नेह से वे चूड़ियाँ उस स्त्री को पहनाते हुए कहा—'सौभाग्य की ये चूड़ियां सहस्रों वर्ष पूर्व न जाने किस भाग्यशाली रानी के हाथों की!' स्त्री ने उन्हें पहनते हुए मुसकरा कर कहा—'यदि मैं तुम्हें भूलने लगूंगी तो इन चूड़ियों की मधुर ध्वनि मुझे बरबस तुम्हारी याद दिलायेगी।' वे चूड़ियां दिन रात उसके हाथों में पड़ी हुई सुमधुर ध्वनि पैदा करती रहतीं।

"उसके बाद वे दोनों एक दिन लैण्डौर के इसी पार्श्व मार्ग में घोड़े पर घूमते हुए आये। स्त्री को आज ही फिर मित्र से लम्बी बिदा लेनी थी। पति का बुलावा आया था। स्त्री घोड़े पर सवार आगे आगे चल रही थी और मित्र घोड़ा पर पीछे पीछे। साथ में दो साईस भी थे। तीसरे पहर का समय था। धूप की तेज़ी समाप्त हो रही थी। अब तो यह रास्ता चौड़ा हो गया है, पहले सकरा और बेहद ढालू था। धीरे धीरे चुप निस्तब्ध वे चले जा रहे थे कि सहसा घोड़े को मोड़कर स्त्री ने साईस को किसी वस्तु को उठाने के लिये कहा। झटके से मुड़ने के कारण घोड़ा बेकाबू हो रहा था और सहसा उसके दोनों अगले पैर खड्ड की ओर धसक गये। पलक मारते सारा काण्ड हो गया। घोड़ा चीत्कार से भरी हिनहिनाहट के साथ पेट के बल पीछे की दोनों निस्तेज टांगों के सहारे खड्ड में पड़ी हुई दानवी मृत्यु के मुख में पड़ने से बचने का क्षीण प्रयास कर रहा था। साईसों के मुह से केवल इतना निकल सका—'बीबी जी कूद पड़िये! फौरन कूद पड़िये!' किन्तु लाख चेष्टा करने पर भी स्त्री रकाब से पैर निकालकर न कूद सकी। मित्र जैसे ही विद्युत गति से उसकी मदद के लिये लपका, घोड़ा अपने सुकुमार सवार को लिये दिये अतुल वेग के साथ २५०० फुट नीचे पेड़ों, पत्थरों, झाड़ियों, चट्टानों से टकराता, भयंकर ध्वनि के साथ खड्ड में जा पड़ा। उफ़! सारा वातावरण आर्त्तनाद से भर गया प्रकृति चीत्कार कर उठी और उसके बाद मौत का सा निर्मम सन्नाटा छा गया!!

× × ×

"मित्र ने अन्तिम बार उस स्त्री का मुंह तक नहीं देखा। नीचे गिरते हुए स्त्री की पीठ ही उसे

दिखाई दी। स्त्री ने मुंह से भय और घबराहट की कोई आवाज़ तक न निकाली। सारी आपदा का उसने इसी तरह स्वागत किया, मानों कोई योगी समाधि में प्रवेश कर रहा हो।

"अनेक चक्करदार पगडंडियों को पागल की तरह पार करता मित्र नीचे खड्ड में उस जगह पहुँचा, जहां घोड़ा निश्चल पड़ा हुआ था। उसकी गर्दन और चारों टाँगें टूट चुकी थीं। घोड़े से लगभग डेढ़ सौ फ़ुट ऊपर एक झरने के किनारे स्त्री निस्तेज कराह भरती हुई संज्ञाशून्य पड़ी थी..... हड्डी हड्डी टूटी हुई.....चूर्ण विचूर्ण.....विकृत.....; ठीक उसी जगह जहाँ तुम नीचे पेड़ों की झुरमुट में वह संगमरमर का स्तूप देख रहे हो। मित्र के पहुँचने के कुछ मिनट बाद स्त्री ने बेहोशी ही में दम तोड़ा।

"घण्टों बाद जब मित्र की दारुण स्थिति व्यतिक्रम हुई वह शव को कन्धे पर लादकर ऊपर आया। उसने देखा वे जड़ाऊ चूड़ियाँ हाथों में न थीं।

"सड़क पर पहुँच कर साईस डाँडी की तलाश में गया। उसी पर शव को रख कर वे घर पहुँचे। घर पहुँचने के थोड़ी देर बाद मैं जाकर मित्र से मिला। उसका चेहरा इतना भयंकर हो रहा था कि पहिचाना न जाता था। उसके पूर्व जब जब मैंने उसे देखा था, तब तब मैं उसे संसार का सबसे अधिक दुखी व्यक्ति समझता था। किन्तु आज तो वह ऐसा लग रहा था मानों अभी कब्र से निकल कर आया हो। चेहरा सिकुड़ कर काठ हो रहा था। आंखें, ऊफ़! उनकी ओर तो देखा तक न जाता था। बात करते करते उसने चौंक कर मुझसे पूछा—

"कुछ तुम सुन रहे हो?

"क्या?—मैंने पूछा।

"हलकी हलकी चूड़ियों की ध्वनि? क्या तुम्हें नहीं सुनाई पड़ रही?'—उसने बेचैन होकर पूछा।

"नहीं मुझे तो चूड़ियों की कोई ध्वनि नहीं सुनाई पड़ रही", मैंने कहा।

"खड़ा होकर चारों तरफ़ उसने इस अन्दाज़ से देखा मानों वहां उसकी चिर परिचित पग-ध्वनि सुनाई पड़ रही हो। उसके बाद वह फिर आकर बैठ गया। मैंने उससे सोने के लिये कहा किन्तु वह विक्षिप्त सा बैठा ही रहा और उसे उसी स्थिति में छोड़कर मैं घर चला आया।

'दूसरे दिन दोपहर को उस स्त्री का शव चिता को समर्पित कर दिया गया। मित्र भीड़ से बाहर खड़ा रहा। सब के चले जाने के बाद भी हम दोनों वहां रुके रहे। ज्वाला की हर उठती हुई लपट लगता था मित्र के प्राणों को झुलसा रही थी। न कुछ कहने की बात थी और न हमने कोई बात की। किन्तु मैंने कई बार देखा की वह कुछ सुनने के लिये मानों कान लगाये था। मुझे उसकी स्थिति देखकर डर लगने लगा। और उसके बाद कई दिन तक तो उसने कोई बात ही नहीं की।

"फिर कई दिन के बाद उसने फिर एक दो मरतबा मुझसे पूछा कि क्या मैं चूड़ियों की ध्वनि नहीं सुन रहा? वह दिन का अधिकांश हिस्सा गुम शुम इसी जगह बैठकर बिताता। कभी कभी मैं भी उसके साथ यहां निस्तब्ध बैठा रहता। और एक दिन सहसा मेरे कानों में भी चूड़ियों की ध्वनि सुनाई पड़ी! हलकी हलकी, फिर स्पष्ट, फिर क्षीण होती हुई मर्मभेदी चूड़ियों की ध्वनि।

"इस दुर्घटना के कोई महीने भर बाद वह मेरे ही साथ आकर रहने लगा। एक दिन शाम को उसे अपना रिवाल्वर साफ़ करने की सूझी। वह उत्कृष्ट शिकारी था और उसे अपने रिवाल्वर पर नाज़ था। हमने कई घंटे शिकार पर ही बातें कीं। रात के दस बजे होंगे और मैं उसे छोड़कर सोने चला गया। मैं अभी बिस्तर में लेटा ही था कि सहसा मुझे रिवाल्वर छूटने की आवाज़ सुनाई दी। मैं बद होश होकर भागा हुआ मित्र के कमरे में गया; देखा वह टेबुल के पास बैठा था। बांया हाथ उठा था

और दाहिना हाथ नीचे और रिवाल्वर जमीन पर गिरा हुआ था। गोली सीधा दिल को पार करके प्राणों को निस्तेज कर चुकी थी। सर उसका कुरसी पर पीछे झुक गया था। आखें चौपट खुली हुई थीं और ओंठों पर एक किनारे हलकी मुसकान की रेखा बच रही थी।

"यह बड़े आश्चर्य की बात है, मित्र ने कहा कि उसके बाद इस जगह बराबर वही चूड़ियों की मर्म-भेदी ध्वनि होती रहती है। अभी अभी तुमने भी वही ध्वनि सुनी थी। जो भी व्यक्ति यहाँ थोड़ी देर के लिये तन्मय खड़ा हो जाता है, निश्चय ही उसे यह चूड़ियों की यह मर्मभेदी ध्वनि सुनाई देने लगती है।"

× × ×

मित्र एक लम्बी सांस खींचकर चुप हो गये। दिन भर के परिश्रम के बाद सूर्य पश्चिम में विश्राम की तय्यारी कर रहे थे और शिव की रंगशाला में जाने के लिये नन्दा गुलाबी रंग के परिधान पहन रही थी। नीड़ों में बैठे हुये पक्षी दिन भर के सुख दुख की चर्चा कर रहे थे। हिमवात सांय सांय कर रहा था। मैं सोचने लगा प्रेम की गहन से गहन वैज्ञानिक विवेचना क्या इन चूड़ियों की ध्वनि के पासग भी ठहर सकती है!



देश की दुर्दशा और सरकारी कैफ़ियत

श्री हीरेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, एम ए, बी. लिट् (आक्सन) बार-एट-ला

आज से ग्यारह साल पहले रवीन्द्रनाथ ने अपनी एक चिट्ठी में लिखा था—"हमारे सम्राट के वंश के ईसाई पादरियों ने हिन्दुस्तान में बहुत वर्ष बिता दिये हैं; कठिनाइयां कैसी अचल हैं इस बात को वे समझ गये हैं। एक बार उन्हें मास्को आना चाहिये। पर आने से विशेष लाभ नहीं होगा, क्योंकि खासतौर से कलंक देखना ही उनका व्यवसायगत अभ्यास है, प्रकाश पर उनकी दृष्टि नहीं पड़ती,—खासकर उन पर तो और भी नहीं पड़ती, जिनसे उन्हें झुंझलाहट है। वे भूल जाते हैं कि उनके शासन-यन्त्र में भी कलंक ढूढने के लिये बड़े चश्मे की ज़रूरत नहीं पड़ती।" (४ अक्तूबर १९३०- रूस की चिट्ठी, पृ० ७४-७५)।

हिन्दुस्तान को उन्नत करना कितना कठिन है, इस विषय में सरकारी प्रोपेगैण्डा बहुत दिनों से चलता आ रहा है, आज भी इसकी प्रतिध्वनि पार्लियामेण्ट के कितने ही भाषणों में हमेशा मिलती है। हम भी सोचते हैं कि मामला कठिन जरूर है; नहीं तो हमारी ऐसी दशा होती ही क्यों!

पहले तो बड़े बड़े अंग्रेज़ दावे के साथ कहा करते थे कि इस देश का अस्तित्व तो सिर्फ भूगोल के पन्नों में है। हिन्दुस्तान एक महादेश है, जहां नाना जातियां बसती हैं, उनकी भाषाएं अलग हैं, धर्म और विचार धारा भी अलग है। यह देश तो स्वाधीन हो ही नहीं सकता है, अतएव अंग्रेज़ शासन के अलावा काम कैसे चल सकता है!

इस देश के लोगों ने जब स्वराज्य-संग्राम करके अपनी जाति सत्ता प्रमाणित करने की चेष्टा की, तब महाप्रभुओं का सुर कुछ बदला। स्वतंत्रता की लड़ाई को जब एकदम दबा रखना सम्भव नहीं हुआ, तब उन लोगों ने फिर कहना शुरू किया कि केवल अंग्रेज़ों के शासन के प्रसाद से इस देश में राष्ट्रीय ।का बोध दिखाई पड़ा है। परन्तु अकृतज्ञ हिन्दुस्तानी इस बात को मानकर अंग्रेजी हुकूमत की प्रशंसा करने के लिये राज़ी नहीं हुये।

हाल ही में पार्लिमेण्ट के कई भाषणों में अमेरी साहब ने भारतीय 'समस्या' की अत्यधिक कठिनाई के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा है। साइमन कमीशन की रिपोर्ट में इस कठिनाई के सम्बन्ध में अनेकों प्रमाण इकट्ठे किये गये थे, रिपोर्ट प्रकाशित करने का उद्देश्य भी सहज ही में पूरा हो गया था। यहाँ तक कि सोशलिस्ट अख़बार 'न्यू लीडर' मे नेविनसन साहब जैसे प्रसिद्ध पत्रकार ने प्रगतिवादी के नाम से लिखा कि—"जहां ५६० देशी राज्य हैं, २२२ भाषाओं में जिस देश के आदमी बातचीत करते हैं, जहाँ दस करोड़ जनता अछूत है, वहा के लायक शासनविधान तय्यार करना एक प्रकार से असम्भव है।" पाठकों को उन्होंने लिखा कि,—"जो हिन्दुस्तान के सम्बन्ध में सोचते हैं, उन्हें यह रिपोर्ट अवश्य पढ़नी चाहिये, और जिन्होंने नहीं पढा है, उन्हें इस विषय मे मुह खोलने का दुस्साहस नहीं करना चाहिये।" साइमन कमीशन का वृत्तान्त प्रायः वेदवाक्य-सा ही है; संक्षेप में यही उन्होंने समझाना चाहा है। अंग्रेज़ 'सोशलिस्टों' ने आनन्द से इस रिपोर्ट का स्वागत करके तय किया कि जब हिन्दुस्तान स्वतंत्र होने के बिलकुल अयोग्य है, तब इस बात को लेकर वृथा माथापच्ची करने की ज़रूरत नहीं; बल्कि अगर यह देश हमारे अधीन रहा तो बड़े लोगों के मुनाफे से थोड़ा बहुत उन्हें भी मिलेगा।

इस देश की हालत की रिपोर्ट तय्यार करने के लिये साधारण जनता की दुःख दुर्दशा, मुट्ठी भर बड़े लोगों के काले कारनामों, अंग्रेज़ पूंजीपतियों का अपनी हुकूमत और लाभ को बढ़ाने के प्रयास, जन आन्दोलन को बर्बाद करने के षड्यंत्र—इन विषयों

में कुछ लिखने की ज़रूरत नहीं होती है। हम अति अधम हैं, आपस में लड़ने में हम निपुण हैं और अंग्रेज़ी शासन के सद्गुण से ही हम कुछ-कुछ आदमी बन सके हैं—इन बातों का उल्लेख करने से ही रिपोर्ट सार्थक हो जाती है।

कल्पना कीजिये साइमन कमीशन अमरीका भेजा जाता, तब वहाँ की हालत के सम्बन्ध में निपुण और विश्वसनीय वृत्तान्त प्रकाशित होता। पक्षपात-रहित रिपोर्ट में सब बातें सही होतीं, और अमरीका के विषय में अवश्य ही हमें पढ़ने को मिलता—

"संयुक्त राष्ट्र अमरीका को साधारणत: एक देश कहा जाता है, लेकिन वहाँ नाना जाति और अनेक धर्मावलम्बी लोग बसते हैं। केवल न्यूयार्क शहर में प्रायः एक सौ जाति के लोग रहते हैं। वहाँ इतालियन इतने अधिक हैं कि इतालियन शहर के हिसाब से न्यूयार्क दुनिया में सबसे बड़ा है। उसी प्रकार इतने यहूदी या काफ़्री किसी दूसरे यहूदी या काफ़्री शहर में नहीं दिखाई पड़ते हैं। नाना प्रकार के लोगों के एक ही जगह रहने के कारण अक्सर साम्प्रदायिक गोलमाल हुआ करते हैं। संयुक्त राष्ट्र के दक्षिण में दंगा फ़साद और मारकाट लगी ही रहती है। आदिम अधिवासियों के अलावा ऊटा में मरमन, मिनेसोटा में फ़िनिश, मिसिसिपी नदी के किनारे किनारे मेक्सिकन लोगों का निवास है, और पश्चिमी समुद्री किनारे पर बहुत से जापानी आकर बस गये हैं। किसी बाहरी निष्पक्ष शक्ति को चाहिये कि वह संयुक्त राष्ट्र अमरीका के शासन का भार अपने ऊपर ले ले।"

ऊपर की सभी बातें सची हैं। परन्तु अमरीका विदेशी शासन नहीं चाहता है। और साइमन कमीशन रिपोर्ट की सभी बातें ठीक भी नहीं हैं। पर विदेशी शासन के समर्थन के लिये उसी वृत्तान्त को मान लेने के लिये सभी व्यग्र हैं।

चर्चिल साहब ने अपने एक मज़ेदार भाषण में कहा था कि अगर अंग्रेज किसी दिन हिन्दुस्तान छोड़ कर चले आयें, तो वहाँ केवल ख़ूरेज़ी और ध्वंसलीला ही दिखाई पड़ेगी। आज अमरीका के संयुक्त राष्ट्र में जो अंग्रेज़, डच, जर्मन, फ़्रांसीसी, स्वीडिश आयरिश आदि जातियों के वंशधर एक ही साथ रहते हैं, उनके सम्बन्ध में पहले कहा जाता था कि उनमे आपसी झगड़े बहुत ज़्यादा हैं। तेल और पानी में कभी स्थायी मेल नहीं हो सकता है, इत्यादि। उस समय जिन्होंने स्वतन्त्र अमरीका के निकट भविष्य में पतन की भविष्यवाणी की थी, उन्हीं के उत्तराधिकारी गण हिन्दुस्तान की विभिन्नता के नारे बुलन्द करने में तनिक भी नहीं शर्माते।

विनसेण्ट स्मिथ जैसे साम्राज्यगर्वी इतिहासकार ने स्वीकार किया है कि "हिन्दुस्तान के इतिहास में हमेशा से एकता देखने में आती है। विषमता में साम्य और अनैक्य में एकता भारतीय इतिहास की विशेषता है।" हमारे देश में फूट पैदा करने और उसे ज़िन्दा रखने के अनेकों साम्राज्यवादी हथकण्डों के बावजूद पिछले बीस सालों से जो जन आन्दोलन दिखाई पड़े हैं, वे ही भविष्य की सम्पूर्ण एकता के पूर्वाभास हैं।

हमारे कन्धों पर अतीत का कोई हल्का बोझ नहीं लदा हुआ है। लेकिन क्षोभ की बात है कि हमारी अयोग्यता के प्रमाण रूप में जिस बोझे की बात हमें बारम्बार सुनाई जाती है, उस बोझे को साम्राज्यवादी शासन व्यवस्था ने और भी भारी बना दिया है। शासन सूत्र जब तक हमारे देशवासी अपने हाथ में नहीं ले लेते हैं, तब तक यह बोझ हमारे कन्धों से नहीं उतरेगा।

हिन्दू मुसलमान विरोध से विदेशी शासकों को ही फायदा होता है। लेकिन हिन्दुस्तान तो हिन्दू मुसलमान सभी का देश है। पाकिस्तान का समर्थन करते हुए कुछ दिन पहले एक मुसलमान नेता ने कहा था कि हिन्दुस्तान हिन्दुओं से अधिक मुसलमानों का है; हिन्दू मरने के बाद जला कर राख बना दिया जाता है, और मुसलमान को तो मरने के पश्चात् भी इसी देश की गोद में सो जाना पड़ता है। इस देश के हिन्दू मुसलमान एक ही तरह से लूटे जा रहे

है, उन्हें एक साथ मिलकर इसका प्रतिकार करना पड़ेगा। लेकिन इस एकता को विदेशी सरकार जब नहीं होने देना चाहती है, तब इसे क़ायम करने का प्रयत्न कष्ट साध्य तो होगा ही।

हिन्दुस्तान में अनेक वर्णों के लोग बसते हैं, लेकिन अछूत या पिछड़े हुए लोगों की आबादी कितनी है, उसका हिसाब भी हमें अचरज में डाल देता है। देश के लोगों में जागरण जब कम था, तो यह संख्या आम तौर से तीन करोड़ बताई जाती थी। स्वदेशी आन्दोलन के बाद वेलेण्टाइन चिरोल ने इसे पाँच करोड़ बताया था। सन् १९२९ ई० में श्रीमती आन्स्टे ने अपनी प्रामाणिक पुस्तक में (Development of the Capitalist Enterprises in India) में इसे छै करोड़ लिखा। इसके दो साल बाद सर जान कमिंग ने कुछ सिविलियनों के लिखे हुए निबन्धों का सम्पादन किया। इसके अनुसार अछूतों की संख्या तीन से छै करोड़ निर्द्धारित की गई। साइमन कमीशन रिपोर्ट में इसे चार करोड़ तीस लाख लिखा गया। लेकिन उसी रिपोर्ट में लिखा हुआ है कि बंगाल, बिहार, उड़ीसा और संयुक्त प्रान्त में इस प्रथा का प्रचलन कम है। और इन्हीं तीन प्रान्तों में अछूतों की आबादी दो करोड़ अस्सी लाख दिखाई गई। इस तरह के आँकड़ों पर कहाँ तक विश्वास किया जा सकता है, इसका विचार पाठक पाठिकाएं स्वयं करें।

अस्पृश्यता हमारे लिये अभिशाप है। लेकिन इसे मिटाने में सरकार ने कितनी मदद की है! अछूतों में अलग चुनाव की व्यवस्था करने की कोशिश सरकार ने की है। बारह साल पहले अखिल भारतीय अनुन्नत जाति सम्मेलन में सभापति की हैसियत से डा० अम्बेदकर ने ठीक ही कहा था—"हमारी दुर्गति का प्रचार सरकार कर रही है, लेकिन उसका उद्देश्य उसे हटाना नहीं है, यह किया जा रहा है भारत की राजनीतिक उन्नति में रोड़ा अटकाने के लिये। अपनी तकलीफ़ों से रिहा होने के लिये हमें आत्मविश्वास पैदा करना होगा, अपने हाथों में सरकार की बागडोर लेनी होगी। आज़ादी हासिल किये बग़ैर यह काम पूरा नहीं हो सकता।"

भाषण और प्रचारकार्य से जाति की विषमता दूर नहीं की जा सकती है। आधुनिक उद्योग धंधों की व्यवस्था के साथ ही साथ राष्ट्रीय स्वतंत्रता और गणतांत्रिक शासन क़ायम होने पर ही जात पात का कलंक मिटा दिया जायगा। १८५३ ई० में कार्ल मार्क्स ने लिखा था—"हिन्दुस्तान की प्रगति और शक्ति के लिये वर्ण-व्यवस्था प्रधान बाधा है। आधुनिक उद्योग धंधों से वंश परम्परा से प्रचलित श्रम-विभाग, जो वर्ण व्यवस्था की आधारशिला है, मिट जायगी।" १९२१ ई० की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में मार्क्स के कथन की पुष्टि होती है—"जमशेदपुर सी जगहों में सभी वर्णों और धर्मों के लोग कंधे से कंधा मिलाकर कारख़ाने में काम करते हैं। किसी की जाति या धर्म के बारे में वे पूछ ताछ तक नहीं करते।"

इस देश में अनेकों भाषाएं प्रचलित हैं। और सरकार ने अपने स्वार्थ के लिये इसका ख़ूब प्रचार भी किया है। इसकी संख्या भी सरकार अपनी आवश्यकता के अनुसार बढ़ाती है। १९०१ ई० की जनगणना रिपोर्ट में हिन्दुस्तान में १४७ प्रचलित भाषाएं लिखी गई। बीस साल के बाद यह संख्या २२२ हो गई। कोई नई भाषा भाषी प्रान्त इस बीच में हिन्दुस्तान में नहीं मिलाया गया है। हमारी समझ में यह बात नहीं आती है कि यह संख्या १४७ से २२२ कैसे हो गई! एक ही पुश्त में ७५ भाषाओं को 'उगा' लेने की क्षमता हमें अचरज में डाल देती है।

वास्तव में २२२ भाषाओं की बात नानी की कहानी-सी है। थोड़ी-सी खोज करने से मालूम हो जाता है कि २२२ में १३७ भाषाएं तिब्बती-बर्मी-गोष्ठी' (Tibeto-Burmese Family of Languages) की हैं। इनमें से १०३ तथाकथित भाषाओं की फ़ेहरिस्त "इम्पीरियल गजेटियर" में मिलती है। इस सूची के कुछ मनन योग्य अंश ये हैं—

भाषा का नाम	भाषा भाषियों की संख्या
काबुई	४
आन्द्रा	१
वासुइ	११
आगु	१५
आका	२६
तेरं	१२
नोरा	२

भाषा तात्त्विकों ने कहा है कि कम से कम दो आदमी जब तक एक ही बोली नहीं बोलते हैं, तब तक उस बोली से भाषा नहीं बन सकती। लेकिन आन्द्रो के बोलने वाले एक ही सज्जन हैं, उसके मुकाबले नोरा जनप्रिय कही जा सकती है।

साम्राज्यवाद के झूठे प्रचारों का भण्डाफोड़ इस बात से हो जाता है कि उपर्युक्त २२२ भाषाओं में से १४५ ऐसी भाषाएं हैं, जिन्हें कोई हिन्दुस्तानी अपने काम में नहीं लाता है। हिमालय की दुर्गम तराइयों तथा घाटियों में और बर्मा, चीन के सीमान्त में वे बोली जाती हैं। इनमें से अधिकांश को तो भाषा कहा ही नहीं जा सकता, अधिक से अधिक उन्हें हम बोली (Dialect) कह सकते हैं। इनमें से केवल बर्मी ही एक भाषा है।

१९३१ ई० की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में भाषा की संख्या २०२ बताई गई है। शायद प्रचारकार्य करने वालों में से कुछ की मृत्यु के कारण ही पूरा शुमार न हुआ होगा!

१९३७ ई० की पहली अप्रैल से बर्मा हिन्दुस्तान से अलग कर दिया गया। हमारी एक क़ौमियत या एक जातीयता के खिलाफ जिन भाषाओं का पचड़ा गाया जाता था, उनमें से अधिकांश (१२८) बर्मा की भाषाएं हैं। साम्राज्यवाद को अपने स्वार्थ के लिये बर्मा को हमसे अलग करना था। और अब वे १२७ भाषाओं को पी गए और उन्होंने प्रचार करना शुरू किया कि बर्मा एक जाति है और वहां एक ही भाषा है। प्रभु! तेरी महिमा अपरमपार!

कारोबार से सालाना अरबों रुपया लूट कर ले जाने के समय ये साम्राज्यवादी भाषाओं के बाहुल्य की बात भूल जाते हैं। १९११ ई० में 'टाइम्स' के 'वाणिज्य परिशिष्ट' में हिन्दुस्तान में माल चालान करने वालों को सलाह देते हुए एक अंग्रेज लेखक ने लिखा था—"हिन्दुस्तान में अनेक भाषाएं प्रचलित हैं, इस बात को सुनकर घबराना नहीं चाहिए। क्योंकि कुछ ही को जान लेने से वहां काम चल जाता है। उत्तर और मध्य-भारत में सभी कमोबेश एक दूसरे की भाषा समझते हैं। इस बात को जनगणना रिपोर्ट में भी स्वीकार करना पड़ा है।

पार्लमेण्ट की बहसों तथा निबन्धों की दलीलों से हमारी एकजातीयता सिद्ध या असिद्ध नहीं हो सकती है। पिछले बीस सालों का राष्ट्रीय संघर्ष ही इसका जीता जागता प्रमाण है। बन्धन कितना भी मजबूत क्यों न हो, उसे हम तोड़कर ही दम लेंगे, इसमें तनिक भी सन्देह की गुंजाइश नहीं।

यह कैसे टूटेगा, इसकी आलोचना हमें यहां करने की जरूरत नहीं। सोवियत् देश में दुनिया के महान ऐतिहासिक यज्ञ' को आंखों से देखकर रवीन्द्रनाथ ने वहां की अनेकों बाधाओं (Enormous difficulties) के समाधान का जो वृत्तान्त सुनाया था, उससे हमें आशा और प्रेरणा मिलती है। सोवियत् देश के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था—

"सुना जाता है कि यूरोप के कुछ तीर्थ स्थानों में देवता की कृपा से चिर पंगु अपनी लाठी फेंक कर लौटते हैं—यहां भी ऐसा ही हुआ है, हमारी नज़रों के सामने पंगुओं की लकुटी को फेंक कर इन्होंने हवा से बातें करते हुए चलने वाले रथ बना लिए हैं—पैदल से भी जो तुच्छ थे, वे दस ही साल में महारथी बन गए हैं। मानव समाज में मस्तक ऊंचा करके खड़े हुए हैं, उनकी बुद्धि अपने वश में है, उनके हाथ और हथियार भी अपने ही वश में हैं।'

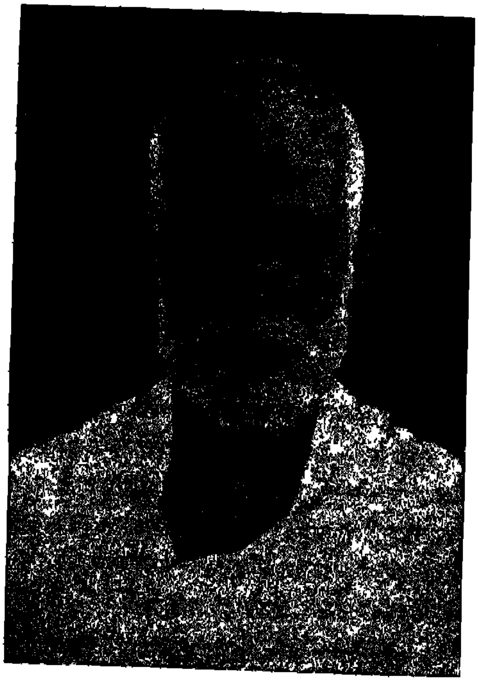
क्या निकट भविष्य में यही बात हमारे देश के लिए नहीं कही जा सकेगी?

आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी

श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन

यदि आप कभी सारनाथ पधारें तो यहाँ की एक विभूति के दर्शन करना न भूलें।

मूलगन्ध कुटी विहार पुस्तकालय के पिछवाड़े हो सकता है कि आप उन्हें उनके कमरे में देख सकें। सहारे के लिए अपने पीछे बिस्तर रक्खे कुछ पढ़ते हुए; या सामने एक छोटे डैस्क पर धीरे धीरे कुछ लिखते हुए, अथवा अपने निवासस्थान के आस-पास कहीं कुछ घास छीलते हुए या मिट्टी पीटते हुए अथवा बेजा बढ़ी हुई झाड़ियों को तराशते हुए ही यदि आप किसी श्वेतकेश, गौर-वर्ण पतले दुबले शरीर की मूर्त्ति को देखें, तो तुरन्त समझ लें कि आप ही आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी हैं।



आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी

आज से ४२ वर्ष पूर्व एक महाराष्ट्र तरुण ने, जिसकी आयु उस समय केवल २३ वर्ष की थी, भगवान् बुद्ध के चरित्र से प्रभावित हो, उन्हीं की तरह अपनी सहधर्मिणी का त्याग कर उन्हीं की यथार्थ शिक्षाओं के ज्ञान की प्राप्ति के लिए अपनी जन्मभूमि* से प्रस्थान किया। धार्मिक साहित्य के अध्ययन के लिए संस्कृत की गहरी जानकारी अनिवार्य समझ सर्व-प्रथम ग्वालियर और वहाँ से काशी पहुँचा। काशी के अन्न छत्रों में भोजन करते हुए लगभग डेढ़ दो वर्ष उसने बड़े परिश्रम से संस्कृत, व्याकरण और साहित्य का अध्ययन किया। तदनन्तर भगवान् बुद्ध की जन्मभूमि लुम्बिनी (नैपाल) की यात्रा इस आशा से की कि वहाँ बौद्ध धर्म के कुछ जीवित अवशेष होंगे। किन्तु उसे निराशा हुई। वहा से वह बुद्ध गया पहुँचा। बुद्ध गया स्थित एक भिक्षु से मालूम हुआ कि सिंहल द्वीप जाने से बौद्ध साहित्य का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सकेगा। उसने सिंहल जाने का निश्चय किया। अकथनीय त्रास, कष्ट और संकट झेलता हुआ वह सिंहल पहुँचा। जिस चीज की उसे तलाश थी, वह मिल गई। कोलम्बो के विद्योदय परिवेण में महास्थविर सुमङ्गलाचार्य्य से आपने प्रव्रज्या ग्रहण की और उन्हीं की अधीनता में पालि ग्रन्थों का अभ्यास आरम्भ किया। किन्तु भोजन अनुकूल न पड़ने से वहां स्वास्थ्य अच्छा न रहने लगा। एक वर्ष सिंहल में रहने के बाद आप मद्रास आए और वहाँ से फिर अधिक अध्ययन के लिए बर्मा चले गए। बर्मा-निवास के दिनों में आप विशेष रूप से योगाभ्यास करते रहे। किन्तु वहां भी स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहने लगा। इसलिये आप बर्मा से भी लौट आए। यहाँ आकर पीत वस्त्रधारी भिक्षु धम्मानन्द कोसम्बी ने भगवान् बुद्ध के चरणों से पूत कुसिनारा, सारनाथ, लुम्बिनी

*कोसम्बी, गोआ [पुर्तगाल राज्य]

वन, कपिलवस्तु आदि बौद्ध तीर्थों की यात्रा की। फिर दूसरी बार बर्मा गए। वहाँ मांडले शहर में एक एकान्त स्थान में रह कर बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन तथा ध्यानाभ्यास करते रहे। १९०६ में भिक्षु धर्मानन्द कलकत्ते लौटे।

बंग-भंग के कारण उसी समय भारत में, विशेष रूप से बङ्गाल में राष्ट्रीय आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा था। कलकत्ते में नैशनल कॉलेज की स्थापना हुई। कोसम्बी जी* उस कालेज तथा कलकत्ता यूनिवर्सिटी में पालि भाषा के अध्यापक के पद पर रहे। परन्तु कोसम्बी जी की विशेष इच्छा महाराष्ट्र में बौद्ध धर्म का प्रचार करने की थी। श्रीमत सयाजी राव महाराज गायकवाड़ को जब इसका पता लगा, तो उन्होंने तार द्वारा सदेश भेजा—"आप महाराष्ट्र के किसी भी शहर में रहें। आप को बड़ौदा सरकार से ५०) मासिक बराबर मिलते रहेंगे। यह सहायता तीन वर्ष चालू रहेगी। हा प्रति वर्ष एकाध पुस्तक आप बड़ौदा सरकार के लिए तय्यार कर देंगे।" बहुत सोच विचार के अनन्तर कोसम्बी जी ने यह प्रस्ताव स्वीकार किया। इस के बारे में उन्होंने स्वयं लिखा है "प्रति मास २५०) की कलकत्ता यूनिवर्सिटी की नौकरी छोड़ कर ५०) माहवार का श्रीमंत गायकवाड़ महाराज का दिया वेतन स्वीकार करने से मुझे कभी पश्चाताप नहीं हुआ। यह वेतन न स्वीकार करता, तो डा० वुड्स से परिचय न होता। पूना आकर रहने से डा० भण्डारकर से निकट सम्बन्ध स्थापित हुआ और उनके प्रयत्न से बम्बई यूनिवर्सिटी में पालि को स्थान मिला।"

डा० जेम्स एच० वुड्स अमरीका की प्रसिद्ध हार्वर्ड यूनिवर्सिटी के प्रोफ़ैसर थे। पालि सीखने के उद्देश्य को लेकर उनका और कोसम्बी जी का परिचय हुआ। शनैः शनैः वह परिचय स्नेह में परिणित हो गया। "विसुद्धमग्गो" नामक प्रसिद्ध पालि ग्रन्थ के सशोधनार्थ उन्होंने कोसम्बी जी को अमरीका निमन्त्रित किया। सयाजीराव महाराज की स्वीकृति ले कोसम्बी जी ने अप्रैल १९१० में अमरीका प्रयाण किया। हार्वर्ड यूनिवर्सिटी में संस्कृत आदि भाषाओं के मुख्य आचार्य्य प्रो० लैनमैन के सहयोग में यह कार्य्य आरम्भ हुआ। कोसम्बी जी को बहुत परिश्रम करना पड़ा। १९११ के अन्त तक "विसुद्धिमग्गो" का सशोधन कार्य्य हुआ। प्रो० लैनमैन से कोसम्बी जी की पटी नहीं, क्योंकि प्रो० लैनमैन चाहते थे कि 'लड़े सिपाही और नाम हो सरदार का।' दूसरी ओर छत्रपति शिवाजी के देश का मराठा भी किसी से दबने वाला नहीं था। जब लैनमैन ने देखा कि उसकी इच्छा पूरी नहीं होती, तो वह चिढ़ा और क्या क्या न करने की धमकी दी। कोसम्बी जी ने अमरीका से भारत आने का निश्चय किया और १९१८ में न्यूयार्क से स्वदेश वापिस लौट आये।

हिन्दुस्तान आकर कोसम्बी जी ने डेकन एजुकेशन सोसाइटी द्वारा सचालित फर्गुसन कॉलिज में पालि भाषा के अध्यापक का पद ग्रहण किया। पांच छै वर्ष आप इस पद पर रहे। इस समय में आपकी शिक्षा से पालि और बौद्ध धर्म के अनेक विद्वान तय्यार हुये। श्री राजवाड़े, श्री बापट, श्री जोशी तथा श्री भागवत—जो अनेक कॉलेजों के पालि अध्यापकों के पदों को सुशोभित कर रहे हैं—कोसम्बी जी की ही शिष्यमण्डली के कुछ रत्न हैं।

६ वर्ष फर्गुसन कॉलेज में पढ़ाते रहने के बाद डा० वुड्स के आग्रह से १९१८ में आप फिर अमरीका गये। विसुद्धिमग्गो का सस्करण प्रो० लैनमैन के दुराग्रह के कारण वैसे ही पड़ा रहे, यह उन्हें अच्छा न लगता था। श्री वारन के वसीयतनामे के अनुसार वह छपाया जा सकेगा, यही आशा उन्हें फिर अमरीका खींच कर ले गई।

उस समय महायुद्ध चल रहा था। इसलिये कोसम्बी जी ने अपना यह अमरीका प्रवास प्रशान्त महासागर के मार्ग से किया। उनके साथ उनकी सन्तान तथा श्रीमती पार्वती बाई आठवले थीं। इस बार कोसम्बी जी अमरीका में चार वर्ष रहे। १९२२ में वापिस भारत लौटे। किन्तु प्रो० लैनमैन

* इस समय कोसम्बी जी ने विधिवत पीत वस्त्र छोड़ दिये थे।

के दुराग्रह के कारण यह सारा समय कष्ट में ही बीता।

१९११ में अमरीका की पहली यात्रा के समय से ही कोसम्बी जी के विचारों ने नई दिशा ग्रहण की। अमरीका में रह कर आपने समाजशास्त्र—विशेष रूप से समाजवाद के ग्रन्थों का अध्ययन किया। आप सोचने लगे कि बिना पूंजीवाद को नष्ट किये और उसकी जगह समाजवाद को स्थापित किये, सामान्य जनता को सुख नहीं मिल सकता, और उनमें स्पर्धा, कलह इत्यादि ने जो जड़ पकड़ रक्खी है, उसका नाश नहीं हो सकता। लेकिन साथ ही वह देखते थे कि पाश्चात्य देशों में समाजवाद जड़ नहीं पकड़ सकता, क्योंकि सभी राष्ट्रों के हाथ हिंसा और अत्याचार से रंगे हैं। "जब तक संसार भर के मजदूर आपस में प्रेमपूर्वक मिलने के इस मार्ग को स्वीकार नहीं करते, तब तक मनुष्य मनुष्य की हत्या करता ही रहेगा। परन्तु देशाभिमान से उन्मत्त लोग आपस में कैसे मिलेंगे?"

पूंजीवाद के गढ़ अमरीका में रहते समय जब उनकी ऐसी मनःस्थिति हो रही थी, १९२०-२१ में महात्मा गान्धी के सत्याग्रह संग्राम के समाचार एक के बाद एक अमरीका पहुँचने लगे। उन्हें पढ़कर कोसम्बी जी का हृदय प्रसन्नता से भर गया। "राष्ट्र द्वेष तथा वर्ण द्वेष से मुक्ति दिला सकने वाला इसे छोड़ दूसरा मार्ग नहीं।"

"सत्याग्रह का आन्दोलन देखने के लिये अमरीकन रिपोर्टर भारत आए। यहाँ से वह कालम पर कालम समाचार वहां भेजते थे, जिन्हें पढ़कर मैं गद्गद् हो उठता। और कभी कभी मेरी आखों से आँसू गिरने लग जाते।" ऐसी मानसिक अवस्था में कोसम्बी जी अमरीका से लौटे। और इस समय समाजवादी सत्याग्रही थे। हिन्दुस्तान पहुँचने पर १९२२-१९२५ पर्यन्त गान्धी जी द्वारा आरम्भ किये गुजरात विद्यापीठ की पुरातत्त्व मन्दिर शाखा में पालि भाषा के आचार्य्य की हैसियत से कार्य्य करते रहे। प्रो० लैनमैन के नौकरी छोड़ देने पर विसुद्धिमग्गो के संपादन के शेष कार्य्य को पूर्ण करने के लिये आपको १९२६ में फिर अमरीका जाना पड़ा। वह कार्य्य समाप्त कर आप १९२७ में भारत लौटे।

हिन्दुस्तान आने पर आपने अपनी धर्मपत्नी के साथ सब तीर्थों की यात्रा की और फिर पहले की तरह गुजरात विद्यापीठ में रहने लगे। १९२९ में लैनिनग्रेड (रूस) में बौद्ध संस्कृति के अध्ययनार्थ स्थापित संस्था का कार्य्य करने के लिये आप रूस गये। रूस के अनुभवों ने आपके समाजवादी विचारों को और पक्का कर दिया। किन्तु रूस का जल-वायु आपको अनुकूल नहीं पड़ा। इसलिये १९३० के प्रारम्भ में ही आप हिन्दुस्तान वापिस आ गये। यहाँ पहुँचे तो सारे देश में सत्याग्रह युद्ध चल रहा था। मार्च में प्रसिद्ध दाण्डी-यात्रा हुई। कोसम्बी जी इस स्वातन्त्र्य-संग्राम में कूद पड़े। गाँव गाँव घूमकर प्रचार करने लगे। शिरोड़े (जि० रत्नागिरि) में नमक-सत्याग्रह में हिस्सा लिया। अन्त में विलेपार्ले (बम्बई) की सत्याग्रह छावनी के डिक्टेटर बने। वहां से पकड़े जाने के बाद हाईकोर्ट द्वारा शीघ्र ही छोड़ दिये गये। १९३१ में डा० वुड्स के आग्रह से आप चौथी बार अमरीका गये। १९३२ में लौटे। "१९३४ के अगस्त महीने में मैं बनारस जाकर रहने लगा। छै महीने हिन्दू विश्वविद्यालय का अतिथि रहा। उसके बाद आठ नौ महीने काशी विद्यापीठ में रहा। विद्यापीठ के संचालकों ने मेरे लिये एक घर बनवा दिया था। उसी घर में रहकर मैंने 'हिन्दी संस्कृति आणि अहिंसा'* किताब लिखी।"

श्रमजीवी लोगों में बुद्ध के अहिंसातत्त्व के प्रचारार्थ तथा अस्पृश्या-स्पृश्य भेद को नष्ट करने के उद्देश्य से पार्ले (बम्बई) में आपने एक आश्रम स्थापित करने की बात सोची। १९३७ के जनवरी में 'बहुजन बिहार' (जनता का बिहार) की स्थापना हुई। दो

* पुस्तक मराठी और गुजराती में एक क्रान्तिकारी पुस्तक समझी जाती है। हिन्दी में भी यह कब प्रकाशित होती है। —लेखक

तीन वर्ष लगातार उस विहार में रहने के अनन्तर इस समय आप सारनाथ में हैं।

इतने अथक भ्रमण के साथ साथ आपका साहित्य-सृजन कार्य्य बराबर चलता रहा है। १९१० में आपने 'बुद्ध-धर्म आणि संघ' नामक पुस्तक लिखी थी, जो बड़ौदा से प्रकाशित हुई। १९१४ में 'बुद्धलीला सार संग्रह' तीन भागों में प्रकाशित हुआ। 'समाधि मार्ग' (१९२५) तथा 'बौद्ध-संघ का परिचय' (१९२६) यह दो पुस्तकें गुजरात विद्यापीठ में रहते समय लिखी गई, 'हिन्दी संस्कृति आणि अहिंसा' (१९३५) काशी विद्यापीठ में रहते समय लिखी गई। इस पुस्तक में भारतीय इतिहास में अहिंसा का स्थान और आपके समाज संगठन सम्बन्धी विचार विस्तार पूर्वक दर्ज हैं। यदि हिन्दी में यह पुस्तक शीघ्र प्रकाशित न हो, तो हम हिन्दी पाठकों से यही एक पुस्तक पढ़ने के लिये गुजराती या मराठी पढ़ने की सिफ़ारिश करेंगे।

विशुद्धिमग्गो (जिसका संशोधन कार्य्य आपको चार बार अमरीका ले गया) का एक नागरी संस्करण भारतीय-विद्या भवन बम्बई से प्रकाशित हुआ है।

सारनाथ में रहते समय आपने 'अभिधम्मत्थ संग्रह' नामक पालि ग्रन्थ पर पालि में ही एक अनुपम टीका प्रकाशित की है; और इस समय आप एक ऐसे कार्य्य में लगे हैं, जिसे आपको छोड़ कोई दूसरा न कर सकता था—वह कार्य्य है विसुद्धिमग्गो पर पालि में ही टीका लिखने का।

न जाने आजकल दिन के कितने घंटे आपकी लेखनी काग़ज़ पर दौड़ती रहती है।

आगता

पण्डित सुन्दरलाल त्रिपाठी

क्या लिखूं और क्या न लिखूं! मन की बातें मन में घुला डालने की मेरी बान हो गई है। लेकिन बातें भी कहीं मन में घुली हैं! मन बातों को कभी घुला नहीं पाता—यदि बातें मन की हैं। बल्कि ऐसी हालत में बातों के साथ मन ही घुल-मिल जाता है।

मेरा मन भी घुल-मिल गया है। बातों का सुख-दुख भी इसीलिये मेरे मन में घुल-मिल गया है। यह मेरे लिये अच्छा ही है। मेरे मन की और मेरे जीवन की यह बात है। मेरे मन का सुख-दुख मेरे जीवन के साथ रहेगा और जीवन के साथ ही जायेगा। और कुछ चाहे न हो—सुख-दुख तो मेरा अपना है। उसी को लेकर सुख और दुख दोनों में सुख से ही मैं अपना जीवन व्यतीत करता आया हूं और व्यतीत करता जाऊँगा।

अपने मन की सुख दुख की बातें मैं लिख कैसे पाऊँगा। यह शक्ति मुझ में नहीं है। जो सुख और जो दुख मेरे मन का और मेरे प्राण का है, उसे मन और प्राण से बाहर निकाल कर रख कैसे सकूंगा! मेरा सुख दुख मेरे मन में ही और मेरे प्राण में ही रहा आये।

लेकिन मैं समझता हूं कि स्वभाव के कारण शायद—शायद भाग्य के कारण या शायद होनहार के कारण कभी कभी मेरे सुख दुख का निरुपाय कोई कोई साथी हो गया है। सुख मैं अपना किसी को

बांट दे सकूं तो मेरे बड़े भाग्य। परन्तु मैं ऐसा कर कब पाता हूं! मेरा दुख भी तो उसे बँट जाता है। सचमुच यह मेरी कष्ट की बात है—लेकिन है मेरे लिये मधुर।

मैं जानता हूं, सुख अथवा दुःख मधुर यदि है, तो वह सत्य है। मेरा 'सत्य मधुर' आज कल मेरे साथ है। इसीलिये पाने योग्य तमाम खोकर भी और खोने योग्य तमाम पाकर भी कष्ट मुझे कोई नहीं है। इतना ही क्या कम है कि उठते बैठते, सोते-जागते मेरा 'सत्य मधुर' मेरे सामने है और मेरे साथ है।

मैं समझता हूं, देवता की प्रतिमा जिस प्रकार सामने रखकर साधक अपनी साधना आरम्भ करता है और एक दिन वह निर्विकार, निराकार की पूजा में और उसके प्रेम मे लीन हो जाता है; ससार की किसी वस्तु की, ससार के किसी सुख की उसे वान्छा नहीं रह जाती; वह अपना ही सुख सँभाल नहीं पाता, केवल सुख, केवल सुख एक दिन उसे रुलाने लग जाता है; अपने सुख, मे तब वह केवल रोता है, उसी प्रकार मैं चाहता हूं, मेरी गति स्थिति भी बदल जाय।

एक बात अवश्य साधक से अधिक मैं चाहता हूं—कि मेरी प्रतिमा पर मेरे दुख की छाया न पड़े। शायद भगवान् मेरी साध पूरी करें। इसीलिये शायद भगवान् मुझे प्रतिमा के सम्मुख और समीप रखकर भी दूर रख रहे हैं।—लेकिन अत्याचार यह मैं सहन नहीं कर पाता।

मैं जानता हूँ, स्थूल प्रतिमा का मेरा साथ अधिक दिनों का नहीं है।—साधना की और जीवन की यही तो एक गति है। एक दिन मुझे भी निर्विकार की,—निराकार की—पूजा करनी है। आज तक इसी तरह की पूजा करता आया हूं और एक दिन नहीं करूँगा।

मैं जानता हूं, परलोक जाने का मेरा जो दिन-समय है, उसमें विशेष एक यमदूत विमान के सहित ही मेरे समीप होगा और सुख से ही मैं जाऊँगा। यन्त्रणा यमदूत की मुझे सहन नहीं करनी पड़ेगी; यद्यपि मैं जानता हूं कि परलोक जाने के मेरे दिन अभी दूर,—बहुत दूर हैं।

मुझसे अब लिखा नहीं जाता। लेकिन मेरे 'सत्य मधुर', तुमसे मुझे तमाम बातें जो करनी हैं!—मेरा तुम्हारा आलापन (वार्तालाप) मन से जितना हो जाता है, उतना लिखकर अथवा बोलकर हो नहीं पाता। 'प्रतिमा' ने अथवा 'निर्विकार' अथवा 'निराकार' ने कभी मुंह की वाणी अथवा लिखने की भाषा चाही है!—उसे चाहिये मन का भाव,—मन का आलापन। मेरे मन का आलापन इसीलिये मेरी भाषा अथवा मेरे लेखन तक उतर नहीं पाता।

मैं जानता हूं, मेरी प्रतिमा के देवता,—मेरे 'सत्यमधुर'! कि तुम मेरी चाह की थाह रखते हो।—मैं जानता हूं कि तुम्हें मेरे सुख-दुख की, मेरे लाड़-दुलार की चिन्ता है।—इसीलिये तो मैं दुखी भी आज सुखी हूं।

—लेकिन मैं जानता हूं मेरे देवता कि साधना की मेरी 'प्रतिमा' एक दिन ओझल होगी और उस दिन से 'प्रतिमा पूजन' त्याग कर 'मानस-पूजन' के बिरते केवल मुझे जीवित रहना है,—जितने दिन जिऊँ और उसके बाद परम आत्मा की प्राप्ति मैं परम निलय को प्राप्त करूँ।*

---

*मनोभावनामूलक आत्मिक एक विश्लेषण। इस प्रकार की अपनी कृतियों का 'आगता' शीर्षक लेखक को पसन्द है।

हज़रत इमाम हुसेन की १३००वीं पुण्य-स्मृति-तिथि

प्रो० शिवपूजन सहाय

संसार इस तथ्य से परिचित है कि अरब के पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद साहब के पहले अरबनिवासी मनुष्यत्व से बहुत ही नीचे गिरे हुए थे। हज़रत मुहम्मद साहब ने प्राणपण से प्रयत्न करके और अत्यन्त दुःख झेलकर उन अरबों को पतितावस्था से उठाया, तथा मनुष्यत्व के उस उच्च आदर्श तक पहुँचाने की चेष्टा की, जहां पहुंचकर वे दूसरे देश वालों को भी आध्यात्मिक उन्नति का सन्देश दे सकें। यह आपकी अद्भुत दिव्य शक्ति का ही चमत्कार था कि आपने बीस वर्षों की अवधि में ही अरबों का कायाकल्प कर दिया—उनके जीवन की धारा पलट दी, उनके जीवन का आदर्श ऊंचा कर दिया। इससे उनका बौद्धिक विकास हुआ, उनकी आध्यात्मिक शक्ति बढ़ी, उनमें नवजीवन का संचार हुआ। इस प्रकार समस्त अरब की काया पलट गई।

हज़रत मुहम्मद साहब के पहले अरब के निवासी सदा पारस्परिक कलह में ही लीन रहते थे। वे इतने अशिक्षित और असभ्य थे कि घर में कन्या की उत्पत्ति को घोर विपत्ति समझते थे, इसलिये वे कन्याओं को जीते जी दफ़ना देते थे। नारी जाति की यह दुर्दशा देखकर आपने स्त्रियों के अधिकारों की रक्षा के लिये ऐसे विधानों की सृष्टि की, जिनसे अबला समाज पुरुषों के क्रूर अत्याचार से मुक्त हो गया। जहाँ स्वच्छन्दता पूर्वक बलात्कार हुआ करता था, वहां स्त्रियों का महत्व समझा जाने लगा। जहाँ पूंजीपतियों का बोलबाला था, जहां समाज में कुलीनता का अहंकार छा रहा था, वहां आपने समता और बन्धुत्व की स्थापना कर दी। जहाँ ईश्वर का नाम भी नहीं सुन पड़ता था, वहाँ ईश्वरानुराग की धारा बहा दी। जहां लोगों में स्वार्थ की प्रबलता थी, वहा सबके हृदय में परोपकार और सहानुभूति की भावना भर दी। आपके उपदेशों के प्रभाव से अरबों का जीवन-क्रम ही बदल गया। अब उनके जीवन पर ईश्वर भक्ति और लोकसेवा, त्याग और सादगी, नम्रता और सचाई, दया और सहिष्णुता का रङ्ग चढ़ गया।

किन्तु मनुष्य में जो पशुता है, वह अधिक दिनों तक शुभ प्रवृत्ति को टिकने नहीं देती। ज्यों ही मनुष्य सत्कार्य में प्रवृत्त होता है, मानव-स्वभाव की दुर्बलताएं सहसा उग्र रूप धारण कर उस पर आक्रमण कर बैठती हैं। इसलिये सदाचार के नियमों और सिद्धान्तों के संरक्षण के लिए सतत सावधान रहने के प्रयत्न की आवश्यकता होती है। पतन के पथ पर अग्रसर होने में मनुष्य के भीतर का पशुत्व बड़ा प्रचंड होता है।

वही दशा अरबों की हुई। वे पतन की ओर जाने लगे। उनकी सदाचारिता को पशुता दबाने लगी।

हज़रत मुहम्मद साहब और पिछले चार ख़लीफ़ों का युग बीत जाने के बाद, जब उमैया-वंश का आधिपत्य हुआ, तब ऐसे-ऐसे राजाओं के हाथ में सत्ता आई, जो "दुनिया की दौलत को पकड़ने वाले थे।" परिणाम यह हुआ कि इसलाम-धर्म का रूप विकृत होने लगा। ख़िलाफ़त की गद्दी पर बैठ कर उमैया-वंशी बादशाह मदिरा और मदिराक्षी का सेवन करने लगे। छल-कपट और मान-मत्सर के शिकार हो गए। दीन दुखी जनों को सन्ताप देने लगे। पूंजीपतियों और चाटुकारों के हाथ के खिलौने बन गए। उनके दरबार में सत्य की प्रतिष्ठा लेशमात्र न रही, असत्य का तांडव नृत्य होने लगा। वे केवल नाम के मुसलमान थे, उन्होंने इसलाम के वास्तविक तत्व को सर्वथा विस्मृत कर दिया था।

उस समय सबसे बड़ा संकट यह उपस्थित हुआ कि कहीं वह जनता, जो हज़रत मुहम्मद साहब के पवित्र जीवन को आदर्श मानती थी, फिर उसी पतन के

गर्त में न गिर जाय, जिसमें से हज़रत मुहम्मद ने बड़ी-बड़ी कठिनाइयों के बाद उसे निकाला था। यदि ऐसा होता तो हज़रत मुहम्मद साहब का सारा परिश्रम निष्फल हो जाता।

किन्तु जब यजीद सिंहासनारूढ़ हुआ, तब परिस्थिति और भी भयावह हो गई। वह विषयी और मद्यप था। भोगविलास में ही मस्त रहता था। दूसरे की पत्नी पर आसक्त होकर, अपने पति से उसका सम्बन्धविच्छेद कराकर, उससे अपनी दुर्वासना को तृप्त करना ही उसका ध्येय था। मदान्ध की तरह वह अपने प्रासादकक्ष से ईश्वरभक्तों और असहाय दीनों पर घृणा एवं क्रोध की दृष्टि डालता था। पूज्य धर्मग्रन्थ पर मदिरा ढाल कर उसे तलवार की नोक से छेदता था। नबी और पैग़म्बर के उपदेशों तथा सिद्धान्तों का तिरस्कार और उपहास करना उसका स्वभाव हो गया था। वह कहा करता था—"मुहम्मद पर न तो कोई फ़रिश्ता (स्वर्गीय दूत), आया और न आसमानी पैग़ाम (स्वर्गीय सन्देश), यह तो उन्होंने प्रभाव जमाने का एक दम्भ रचा था।"

ऐसा मनुष्य अरब की सभ्यता और संस्कृति का संरक्षक अथवा ख़लीफ़ा बना दिया गया था! उसकी सत्ता की धाक सर्वत्र जमती जा रही थी। मनुष्यत्व का गला घोंटा जा रहा था, सचाई का नाम मिटाया जा रहा था। पैगम्बर साहब के सारे शुभ प्रयत्न पर पानी फिर रहा था।

ऐसे कुसमय में कौन सत्य की रक्षा करने का साहस करता, कौन धर्माचरण का पक्ष लेकर दृढ़ सबल हो सामने आता, कौन अपने प्राणों का उत्सर्ग कर मानवता की रक्षा करता?

उस भीषण काल में ऐसे सत्यव्रती वही हज़रत मुहम्मद साहब के दौहित्र हज़रत इमाम हुसेन साहब निकले, जो आत्मत्याग की ज्वलन्त प्रतिमा थे, जो सत्य पर बलिदान होने वालों में सिरमौर थे, जिन्होंने सन् ६१ हिजरी में करबला की जलती रेत पर आत्मोत्सर्ग करके मनुष्य की उस महत्ता को सजीव किया, जो पशुत्व की प्रतिक्रिया का शिकार हुआ चाहती थी।

× × ×

जब यजीद सिंहासन पर बैठा, उसने प्रत्येक नगर के अधिकारियों को यह आदेश भेजा कि वे लोगों से उसके नाम की शपथ लें—उसका आधिपत्य स्वीकृत करावें। मदीना के अधिकारीवर्ग को भी ऐसा ही आदेश भेजा गया—विशेषत: हज़रत इमाम साहब के प्रभावशाली संगी-साथियों को, यजीद की प्रभुता मानने के हेतु प्रतिज्ञाबद्ध होने को, विवश करने के लिये। साथ-साथ बलपूर्वक यह आदेश भी दिया गया था कि इमाम हुसेन साहब से अवश्य ही शपथ ली जाय—चाहे जिस तरह हो। और, यदि वे यजीद की सत्ता मानने को उद्यत न हों, तो उनका वध कर दिया जाय।

किन्तु इमाम साहब ने इस कठोर आदेश के सामने नतमस्तक होने में असमर्थता एवं अनिच्छा प्रकट की। वे अपने परिवार और पार्श्ववर्त्तियों के साथ मक्का चले गये। मक्का में ख़ान-ए काबा है, जिसकी महिमा इसलामधर्म मे यह है कि उसके अन्दर कोई मनुष्य एक चींटी या जूँ को भी मार नहीं सकता।

इमाम साहब जब वहां पहुँचे, तीर्थयात्री (हाजी) और नागरिक दल-के-दल उनकी सेवा और आराधना के लिये आने लगे। किन्तु इन्हीं हाजियों (तीर्थयात्रियों) के वेश में ऐसे सिपाही भी यजीद की ओर से पठाए गये, जो घात पाकर इमाम साहब का वध कर डालें।

इमाम साहब को यह बात मालूम हो गई। उनकी यह इच्छा न हुई कि उनके हत्याकांड से काबा की पवित्र प्रतिष्ठा में बट्टा लगे।

इसी के साथ साथ हाजियों के हाथों कूफ़ा नगर के मुसलमानों के कई सौ पत्र इमाम साहब के पास पहुँचे, जिनमें कूफ़ा-निवासियों ने लिखा था कि यजीद के ऐसे अधर्मी के आधिपत्य को हम लोग नहीं मान

सकते, हम लोग आपसे प्रार्थना करते हैं कि हम लोगों की बाँह पकड़िये और हमें सर्वनाश से बचाइये, और आप यदि ऐसा न करेंगे, तो हम लोग अनन्तकाल तक आप ही का पल्ला पकड़ेंगे और कहेंगे कि ईश्वर-भक्तों ने आपसे प्रार्थना की थी अधर्म से बचाने के लिये, मगर आपने नहीं बचाया।

ऐसा संवाद पाकर इमाम साहब ने कूफ़ा की ओर प्रस्थान किया। किन्तु आपके कूफ़ा पहुँचने से पहले ही यज़ीद का भेजा हुआ एक शासनाधिकारी कूफ़ा पहुँच गया। उसने कूफ़ानिवासियों को डरा-धमका कर और लालच दिखाकर अपनी तरफ़ मोड़ लिया। उन विश्वासघातियों में कुछ ही सज्जन सम्मिलित न हुए—ये अन्त तक इमाम साहब के विश्वासपात्र बने रहे और इसीलिये तलवार के घाट उतारे गये।

संसार कितना विकट और विचित्र है! सांसारिक धनसम्पदा के लिये ही अभागों ने यहिया पैग़म्बर का वध कराया, मसीह को शत्रुओं के हाथ सौंपा और इमाम साहब से विश्वासघात किया!

कूफ़ निवासी सब के सब यज़ीद के पक्ष में जा मिले और जिन लोगों ने इमाम साहब को उत्साह-वर्द्धक पत्र लिखे थे, वे भी आप पर सैन्यसहित चढ़ाई करने आए। करबला के मैदान में इमाम साहब के छोटे से दल को कई हज़ार फ़ौजों ने घेर लिया।

आपसे यज़ीद की शर्तें मानने के लिए आग्रह किया गया। आपने उन्हें न मानकर उत्तर दिया कि तुम लोगों ने मुझे बुलाया तो मैं आया, अब यदि तुम मुझे नहीं चाहते, तो मुझे लौट जाने दो यदि वापस जाने देना भी नहीं चाहते, तो मुझे छोड़ दो कि मैं इस राज की सीमा से बाहर निकल कर भारतवर्ष चला जाऊँ।

आपने भारतवर्ष का स्मरण उस समय किया, जब आपके नाना हज़रत मुहम्मद साहब की भूमि आपसे छीन ली गई थी। आपके उसी भारतस्मरण का यह फल है कि आज तेरह सौ साल बाद भी भारतीय आकाश के नीचे हिन्दू और मुसलमान आपका नाम बड़े सम्मान और प्रेम के साथ याद कर रहे हैं।

जब इमाम साहब ने यज़ीद की शर्तें न मानकर शहीद होने पर कमर बाँध ली, तब शत्रु की सेना ने नहर पर पहरा बिठा दिया और मुहर्रम की सातवीं तारीख़ से हज़रत इमाम साहब के ख़ेमों में पानी का अकाल पड़ गया। वे अपने परिवार और दल-बल के साथ तीन दिन भूखे-प्यासे रहे। नवीं तारीख़ तक उनसे शर्तें मनवाने की अवधि निश्चित की गई; पर उन्होंने न मानी—न मानी।

जब मुहर्रम की नवीं तारीख़ भी बीत गई तब उन्होंने अपने साथियों को ख़ेमे में एकत्र किया और कहा—"तुम लोगों की स्वामिभक्ति से मैं बहुत प्रसन्न हूँ। तुम लोगों ने यहाँ तक मेरा साथ दिया, इससे मैं अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ। अब कल बलिदान-दिवस है। इस समय मैं तुम लोगों को अपनी अधीनता से मुक्त करता हूँ। तुम में से जिसकी इच्छा हो, रात के अँधेरे में चला जाय, मुझे कोई आपत्ति नहीं, और वह बचकर निकल भी जा सकेगा, क्योंकि शत्रु केवल मेरे ही प्राणों के भूखे हैं, दूसरे किसी से छेड़छाड़ न करेंगे। और, यदि तुम्हें मेरी आँखों के सामने से उठकर जाते लज्जा मालूम होती है, तो मैं दीपक बुझाये देता हूँ, तुम अँधेरे में निकल जाओ।"

इमाम साहब की ऐसी उदारतापूर्ण वाणी सुन कर उनके संगियों ने कहा—"हम लोग आपके परम विश्वसनीय और आपके लिये प्राणोत्सर्ग करने वाले सेवक हैं। यदि हम सत्तर बार मारे जायँ, और फिर जीवित किये जायँ, तो भी आपके पूज्य चरणों को नहीं छोड़ सकते।"

दूसरे दिन, दसवीं मुहर्रम को, इमाम साहब, सुबह की नमाज़ के बाद, अपने स्त्री-बच्चों और साथियों के संग, जिनकी कुल संख्या ७२ थी, तीन दिन की भूख प्यास को आश्चर्यजनक शान्ति एवं दृढ़ता के साथ झेलकर शहीद हुये। शहीदों में छः

महीने का एक बच्चा भी था, जो तीर का शिकार हुआ! अज़ानों में उनके घराने के ऐसे-ऐसे अनमोल लाल थे, जिनकी तुलना के नवयुवक इस लोक में दुर्लभ थे, पर एक-एक करके उनकी आखों के सामने ही सब मारे गये।

जैसे-जैसे उनके परम प्रिय स्वजन मारे जाते थे, उनका मुखड़ा दमकता जाता था। उनको प्रसन्नता इस बात की होती थी कि इस पवित्र और सर्वश्रेष्ठ बलिदान की कठिन मंज़िलें तय होती जाती हैं। प्यासे बच्चों का पानी के लिये तड़पना, स्त्रियों की अधीरता और व्याकुलता, सूरज की तीखी गरमी, बड़े लाड़-प्यार से पले हुओं का एक एक बूंद पानी के लिये तरसते हुये मरना, बहत्तर लाशों का क्रमशः उठाना, स्वय अपने तन पर नौ सौ निन्नान्बे घाव सहना, और मरते-मरते निष्ठुर पापियों के कल्याण के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते जाना—इतिहास में यह सब ऐसी घटनाएं हैं, जो मनुष्य की बुद्धि को कुंठित, चकित और स्तब्ध कर देती हैं।

सूर्यास्त का समय था। इमाम साहब ने भी अपने धर्मनिष्ठ प्राणों का विसर्जन कर दिया। यह महान् बलिदान इसलिये हुआ कि सत्य और धर्म की रक्षा के निमित्त कर्त्तव्यपरायणता और निर्भीकता सिखानेवाला एक ऐसा जाज्वल्यमान आदर्श दृष्टान्त इतिहास के पृष्ठों पर सदा के लिये अंकित हो जाय, जिसकी अदम्य शक्ति आगे की पीढ़ियों को आत्म-बल प्रदान करती रहे, और जब कभी प्रकाश पर अन्धकार का—सत्य पर असत्य का—प्रभाव जमने लगे, तब प्रकाश के प्रेमी उसके लिये प्रत्येक प्रकार का बलिदान करने के निमित्त एक सजीव दृष्टान्त पा सकें।

× × ×

ज्यों ही हज़रत इमाम साहब के बलिदान का समाचार चारों ओर फैला, त्यों ही उन सभी स्थानों में, जहाँ-जहाँ यज़ीदी अत्याचार का विष फैल चुका था, एक ऐसी क्रान्तिकारिणी प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई कि समस्त इसलामी संसार यज़ीद और उसकी काली करतूतों से तटस्थ हो गया। आज तक इसलामी जगत् में किसी भी कुकर्म को 'यज़ीदी फेल' कहते हैं।

यदि इमाम साहब यज़ीद की शर्तें मानकर आत्मबलिदान से विमुख हो जाते, तो यज़ीद और उसके उत्तराधिकारियों के मनुष्यता-ध्वंसक कार्य मुसलमानों पर सदैव की काली घटा बनकर छा गए होते। और, तदुपरान्त मुसलमानों का प्रभाव जहाँ जहाँ जमा वहाँ भी वज्र घहराते। यज़ीदी दुर्गुण राजकीय आचरण के रूप में, समय के प्रवाह के साथ-साथ, मनुष्य की पशु प्रवृत्ति से मिलकर, मानवीय महत्ता और आध्यात्मिक सत्ता का संहार कर चुके होते।

किन्तु इमाम साहब के अतुलनीय बलिदान के कारण सदा के लिये सत्य की मर्यादा अक्षुण्ण हो गई। एक क्या सैकड़ों यज़ीदों से भी कभी इसका बाल बांका नहीं हो सकता। जबतक इमाम साहब की पुण्यस्मृति जीवित रहेगी, तब तक यज़ीदी दुर्गुणों पर कुठाराघात होते रहेंगे और मनुष्यता अँगड़ाइयां लेकर उठती जायगी।

इमाम साहब का बलिदान वास्तव में पाप और अत्याचार का अवसान है। मनुष्य बलिदान से ही अमर होता है।

मध्य एशिया की जातियाँ और उनका भारत से सम्बन्ध

डाक्टर भूपेन्द्रनाथ दत्त

हमने अपने पिछले लेखों में अफ़ग़ानियों, बलूचियों और हिन्दुकुश के क़बीलों की चर्चा की है।[1] किन्तु जब तक हमें मध्य एशिया और एशिया के पश्चिमी हिस्से की नृवंश विद्या (Elhnology) का पूरा ज्ञान न हो, तब तक हम भारत की नृवंश विद्या ठीक ठीक नहीं समझ सकते। इसके लिये हमें मध्य एशिया के मानव जाति शास्त्र का ज्ञान होना ही चाहिये। मध्य एशिया की आबादी ख़ानाबदोश रही है। ऐतिहासिक युग में इस क्षेत्र का नाम भी बदल दिया गया है। हखामनीषी काल के प्राचीन ईरानी इसे शकों का देश, अर्थात् ईरानी बोलने वाले ख़ानाबदोश लोगों का देश कहा करते थे। ईरान से बाहर रहने वाले इस तरह के ख़ानाबदोश लोगों को वे 'दहस'[2] कहा करते थे। बाद में जब पूर्व से यू-ए-ची जाति ने आकर मध्य एशिया पर अपना प्रभुत्व क़ायम किया, तब इस भू-भाग को 'ख़ारिस्तान' कहने लगे। संस्कृत भाषा में इन लोगों का 'तुखारा और तुषार' नाम से वर्णन आया है। इस समय से लेकर पूर्व से तुर्कों के हमले तक यह भू भाग ताख़रिस्तान के नाम से ही प्रसिद्ध रहा। यहाँ तक कि महमूद ग़ज़नवी के वक़्त में भी यही नाम था। महमूद अपनी सेना के भारतीय सैनिकों को अपने ताख़री दुश्मनों से लड़ने के लिये भेजा करता था। ईसा की १५ वीं शताब्दी तक पूर्वी तुर्किस्तान में ताख़रियों ने अपनी संस्कृति और अपनी स्वतन्त्र हस्ती को क़ायम रखा।[3] किन्तु ईरान से अरबों के लगातार हमलों और तुर्कों के इसलाम धर्म में दीक्षित होने से मध्य एशिया के लोगों में ज़बरदस्त उलट फेर हो गये। पुरानी सभ्यता नष्ट हो गई, लोग मुसलमान बने और उन पर तुर्की रङ्ग चढ़ गया। इसके बाद मंगोल चङ्गेज़ ख़ां का भयङ्कर हमला हुआ कि जिस की बरबादी से इसलामी दुनिया अब तक नहीं सम्हल पाई। सबसे अन्त में रूसियों ने इस भू-भाग को विजय किया और आज उनके प्रयत्न से यहां की जनता में अपूर्व जागृति दिखाई दे रही है। इन हमलों और आबादियों के उलट फेर ने एशिया के इस भू-भाग पर अपने प्रभाव छोड़े हैं।

थोड़े दिनों पहले तक यह रिवाज था कि यहां के हर निवासी को तुर्क, यानी तातारी क़ौम का कहकर पुकारा जाता था! मध्य युगीन भारत में एशिया के इस हिस्से के प्रत्येक अधिवासी को 'तुरुष्क' कहा जाता था। १९वीं सदी के यूरोपीय विद्वानों ने भी यही ग़ल्ती की है। ये लोग शकों, यू-ए चियों, ऐतिहासिक तुर्कों और मुग़लों (मंगोलों) सभी को तुर्क कहते थे। इसी रोशनी में उन्हों ने भारत की नृवंश विद्या की छान बीन की। इसलिये उन्हें राजपूतों में शक, जाटों में यू-ए-ची (इन्हें वे 'ये-ठा' कहकर पुकारते थे) और गूजरों में ख़ज़ार दिखाई दिये। इसी के कारण भारतीय विद्वान भी भ्रम में पड़े हुए हैं और यूरोपीय विद्वानों की इस ग़ल्ती को वे तोते की तरह ईश्वरीय सत्य मानकर रटते रहते हैं! मध्य एशिया के निवासी किस जाति से निकले हैं, यह जानने के लिये हमें

---

१ देखो फ़रवरी, मार्च, मई, अगस्त [१६४१] की 'विश्ववाणी'।

२ कुछ प्राच्य विशारदों के अनुसार वेदों में जिन 'दस्यु' या दास जातियों का जिक्र आता है उनके नाम इसी दहस शब्द से निकले हैं। उनके अनुसार वैदिक आर्य यह शब्द अपने साथ भारत लाये—Vide Zommer-Alt Indisches Leben

३ तुर्फ़ान [पूर्वीय तुर्किस्तान] में बौद्ध कला और चित्रकारी के जो अवशेष मिले हैं, वे बर्लिन के एथनालाजिकल म्यूज़ियम में संग्रहीत हैं।

मानव-विज्ञान शास्त्र के शारीरिक पहलू और भूतत्त्व शास्त्र की मदद लेनी होगी। हालांकि इस सम्बन्ध में बहुत कम खोज बीन की गई है, ताहम जो कुछ भी इस सम्बन्ध में अब तक मालूम हुआ है, वह संक्षेप में यहां बयान किया जाता है। डाक्टर पम्पेली के ग्रन्थ 'तुर्किस्तान में खोज बीन' (Explorations in Turkistan) की मदद से अनाउ में अनेक ज़मींदोज़ शहर खोज निकाले गये हैं। ये शहर एक के बाद एक उसी जगह बसाये गये हैं। विविध इतिहासज्ञों के अनुसार ये शहर ८००० ईसा पूर्व से लेकर ३००० ईसा पूर्व के बीच में आबाद हुए हैं। भूतत्त्व वेत्ताओं और मानव विज्ञान शास्त्री अपनी खोजों से इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि इस जगह जो सभ्यताएं खोदकर निकाली गई हैं, उनमें सबसे प्राचीन सभ्यता निकटवर्ती प्रस्तर युग (New Stone Age) की है। और इस सभ्यता का एशिया कोचक की कोबान, तेरेक और कुबान सभ्यताओं से सम्बन्ध था। अनाउ में प्रफैसर सर्गी[४] की खुदाई से जो वस्तुएं मिली हैं, उनमें एक जार है, जिसमें एक बच्चे को बन्द करके दफनाया गया था। इसी खुदाई में प्रफैसर सर्गी को और अनेक लम्बे मस्तक वाले बच्चों के अवशेष मिले हैं। प्रो० सर्गी इन्हें प्राचीन मेडीटरेनियन जाति के लोगों से सम्बन्धित बताता है। इस तरह हम देखते हैं कि अत्यन्त प्राचीन प्रागैतिहासिक काल में मध्य एशिया का यह भू-भाग लम्बे मस्तक वाली मेडेटरेनियन जाति के लोगों से आबाद था। बच्चों को घड़े में बन्द करके दफनाने का रिवाज मेडीटरेनियन की अन्य प्राचीन जातियों जैसे मायोनियन[५], अथीनियन[६], थेमालियन, कुछ प्राचीन फिलिस्तीनियों और ईजियनों आदि में भी था। लोग बच्चों को घड़े में बन्दकर मकान के नीचे दफ़नाते थे। यही रिवाज भारत के भी अनेक हिस्सों में है। यहां छै बरस तक के हिन्दू बच्चों को या तो यूं ही ज़मीन में दफना देते हैं, या फिर घड़े में बन्द कर के दफ़नाते हैं। हिन्दुओं में बच्चों को जलाने का रिवाज नहीं है। इसके अतिरिक्त अनाउ के लोग भी भारत की तरह ही कच्ची ईंटों के मकानों में रहते थे।[७]

इसके बाद एशिया का ऐतिहासिक युग शुरू होता है। इस भू-भाग में रहने वाली ख़ानाबदोश कौम को ईरानी 'शक' और यूनानी 'सीदियन' कहकर पुकारते थे। आदिम शकों की खोपड़ियों के सम्बन्ध में ई० एच० मिन्स कहता है कि अनेक तरह की खोपड़ियाँ उनमें मिली हैं, जिनमें ख़ास तौर पर सीदियन टाइप की भी हैं। चेरटाम्लिक में पाँच खोपड़िया मिली हैं, जिनका ज़िक्र के० ई० वान बायर ने ए० एस० एच० में किया है। इनमें दो के मस्तक छोटे थे, दो के लम्बे थे और दो के साधारण। काउण्ट बोल रिन्सकोव ने स्मेला में जिन खोपड़ियों का पता लगाया है, उनमें से कुछ मगोल तर्ज की हैं, दूसरी शुद्ध यूरोपीय हैं (Sm. II, BL XXVIIXXX)। इसी नतीजे पर अनातोल बागदेनाव भी पहुँचा है (Congress International d' Archaelogie Prehistorique et d' Anthropologie, II 1895, P 5)। बागदेनाव के अनुसार शकों की जो खोपड़िया मिली हैं, उनमें अधिकांश लम्बे मस्तक

४ Sergi in Pumpelley's 'Explorations in Turkistan" Carnegie Publications No 73

५ Burroughs— Discoveries in Crete', P 168 and Encyclopaedia Brittanica', vol XVII, P 565, 1929.

६ The writer was an eye witness in 1914 of the disinternment of the urn-burial of a child during the excavation of an ancient site in Athens

७ I Gordon childe—'The Aryans', P III.

की हैं।[८] और कुछ मंगोल तर्ज़ की चौड़े मस्तक की हैं, इस तरह मानव विज्ञान के अनुसार शरीर शास्त्र की दृष्टि से प्राचीन शक मिलवा-जुलवा टाइप के थे। किन्तु जहां तक उनकी बोली का सम्बन्ध है, भाषा शास्त्रियों के अनुसार वे ईरानी भाषा बोलते थे। ईरान की सभ्य आबाद जनता इन ख़ानाबदोश ईरानियों को उसी तरह शक कहकर पुकारते थे, जिस तरह वैदिक साहित्य में ब्राह्मणोचित कर्मकाण्ड को न मानने वाले लोगों को 'व्रात्य' कहकर पुकारा गया है।

इस भू-भाग में जो प्रागैतिहासिक खोपड़िया मिली हैं, उनके सम्बन्ध में ईवानोवस्की (१८६०) ने कुछ ज़िक्र किया है। ये पश्चिमी तियान-शान में इस्सिकुल में पाई गई हैं और विशेषतः चौड़े मस्तक की हैं। ईवानेवस्की के अनुसार ये पहली या दूसरी ईसा पूर्व की हैं। अब हम ताक्लिस्तान की ऐतिहासिक जातियों पर आते हैं। जर्मन अन्वेषक जो तुर्फ़ान (पूर्वीय तुर्किस्तान, इस समय सिंकियांग) में वहां के पुराने बौद्ध धर्मावलम्बियों के अवशेष का पता लगाने के लिये गये, खुदाई में उन्हें अन्य चीज़ों के अतिरिक्त कुछ खोपड़ियाँ भी मिलीं। इन खोपड़ियों की ब्रेसला विश्वविद्यालय के स्वर्गीय प्रो० एच० क्लाअत्श ने परीक्षा की। परीक्षा से वे इस नतीजे पर पहुंचे कि उस भू-भाग में मिलवां-जुलवा आबादी थी। एक ओर यदि वहाँ खुशमिजाज़ मंगोल जाति के अवशेष मिले हैं, तो उन्हीं के साथ भूरे बाल, लम्बी नाक, उदास नज़रों वाले लोगों के अवशेष भी मिले हैं।[९] तुरफ़ान से प्राप्त सामग्री का विश्लेषण करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कुछ असर वहां अलग अलग और कुछ मिलवाँ-जुलवाँ दिखाई देते हैं। प्रोफ़ेसर क्लाअत्श लिखते हैं—"भूतत्व विद्या विशारदों द्वारा इस भू-भाग में प्राप्त सामग्री से मुझे यह बताया जाता है कि यहां रहने वाले लोगों में काफ़ी मिश्रण हुआ है, यही बात तुरफ़ान में पाई गई अधिकांश खोपड़ियों को देखकर भी साबित होती है।"[१०] इस तरह शकों और यू-ए-चि लोगों की खोपड़ियों की परीक्षा से हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि वे दोनों मिश्रित ख़ासियतों के लोग थे।

किन्तु जहां तक ताक्लियों की भाषा का प्रश्न है यह एक अजीबोग़रीब बात मालूम हुई है कि वे लोग इण्डो-यूरोपियन भाषा बोलने वाले समूह, यानी ग्रीक लैटिन, केल्टिक, ट्यूटानिक आदि भाषा बोलने वाले समूह के थे! इससे कुछ लोग इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि ताक्लियों का निकास जर्मन जाति से है और अत्यन्त प्राचीन काल में वे पश्चिम से चलकर चीनी सरहद पर जाकर बस गये होंगे। किन्तु बाद की जांच पड़ताल से यह साबित हुआ है कि हालांकि ताक्लियों की भाषा केल्टिक समूह की है फिर भी उसमें बहुत कुछ मिलान हुआ है।[११]

इन लोगों के सम्बन्ध में और दूसरी खोजों से पता चलता है कि इनमें शासकवर्ग 'ऋषि' कहलाता था। (संस्कृत में इन्हें 'ऋषिक' [१२] कहते थे) वे बौद्ध धर्म की महायान शाखा के अनुयायी थे। चूंकि यह भू-भाग भारतीय, चीनी, यूनानी और ईरानियों का मिलन केन्द्र था इसलिये ताक्लिस्तान के लोगों की संस्कृति बहुत ऊँचे दर्जे की हो गई। यहां पर

८ E. H Minns—'Scythians and Greeks' PP. 46-47.

९ बर्लिन के एथनालाजिकल म्यूज़ियम में जो तसवीरें सुरक्षित हैं उनमें यू-ए-चि लम्बी झुकी हुई नाक वाले मजबूत बदन, भूरी आंखें, मगोल गठन के और लाल दाढ़ियों वाले दिखाये गये हैं। इसके साथ 'गर्ग संहिता' के 'गोलक खण्ड' में काल यवन का वर्णन पढ़िये, जिसमें उसे लाल दाढ़ी वाला कहा गया है।

१० Klaatsch—Mophologis chestudien Zur Rassen diagnostik Der Turfan Schaedel, PP I-47.

११ Feist—Indo Germanen and Germanen

१२ भारतीय इतिहास की रूप रेखा—जयचन्द्र नारंग, पृष्ठ १०२२, भाग २

अनेक भाषाओं के अवशेष मिले हैं। इनमें एक भारतीय भाषा थी, जो खोतान में बोली जाती थी और चौथी सदी ईसवी तक वहाँ की सरकारी भाषा थी।[१३] यहाँ तक कि संस्कृत 'कतन्त्र व्याकरण' का एक पृष्ठ भी जर्मन अन्वेषकों को वहाँ मिला है।[१४] मानी धर्म और ईसाई धर्म वहाँ के प्रचलित धर्म थे। यहूदी भी उनके बीच में रहते थे (रूसी मध्य एशिया में वे अब भी रहते हैं)। खुदाई से जो वस्तुएं मिली हैं वे कला के टेकनीक के लिहाज से बहुत ऊँचे दरजे की हैं।[१५]

फिर भारतीय ग्रन्थों मे यह वर्णन आता है कि सम्राट अशोक के पुत्र कुणाल की जिन लोगों ने आँखें निकाली थीं, उन्हें सम्राट अशोक ने मध्य एशिया में निर्वासित किया था। युआन च्वांग की यात्राओं के वर्णन में यह मिलता है कि इस भू भाग के कुछ हिस्से में सातवीं सदी ईसवी में साक्य वंश के कुछ लोग राज्य करते थे।[१६] इस तरह प्राचीन काल मे एशिया का यह हिस्सा भारतीय उपनिवेश था।[१७]

पूर्वीय तुर्किस्तान के इन दिलचस्प और सांस्कृतिक दृष्टि से बेहद उन्नत लोगों के सम्बन्ध में हमें नृवंश विज्ञान की दृष्टि से और अधिक जाँच पड़ताल करनी चाहिये। यूरोप के प्राच्य विशारद तुरफान में पाई गई हस्तलिपियों के आधार पर इस सम्बन्ध मे और अधिक खोजबीन कर रहे हैं और किसी न किसी दिन मध्य एशिया की नष्ट संस्कृति और तिब्बत के लामा धर्म पर नई रोशनी पड़ेगी।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि ताक्सी भाषा इण्डो यूरोपियन भाषाओं के पश्चिमी यूरोपीय समूह से निकली है। ताक्सी भाषा को हम और दो विभागों में बाँट सकते हैं—तोकारिश (अ) और तोकारिश (ब)। इसके लिये हम कुछ उदाहरण लें। जैसे तोकारिश (अ) के अनुसार एक शब्द की हिज्जे है Kaent (अर्थात् १००) (ब) के अनुसार Kaente = १००; लैटिन में कहेंगे Centum = १००, ग्रीक में e'xnto'n = १००, पुरानी भारतीय भाषा में इसके लिये शब्द है शतम् = १००। तोकारिश (ब) के अनुसार एक शब्द है laks (एक तरह की मछली, Salmon fish), जर्मन में उसे कहते हैं lacks। इस सादृश्य के कारण पोकोर्नी और एफ० डब्लू० के० मूलर जैसे जर्मन विद्वानों की राय है कि चूंकि सालमन मछली उन नदियों में पाई जाती है, जो उत्तरी सागर (North Sea) मे गिरती हैं, चुनांचे मध्य एशिया में यह शब्द कार्पेथिया होता हुआ मध्य यूरोप या उत्तरी यूरोप से पहुँचा होगा। किन्तु साथ ही साथ यहां यह भी कह देना आवश्यक है कि तोकारिश (Tocharish) भाषा में बहुत से शब्द मिलेंगे, जो मौलिक रूप से इण्डो-यूरोपियन भाषा के नहीं हैं, किन्तु यही बात हर इण्डो यूरोपियन भाषा के सम्बन्ध में छानबीन करने पर पाई जायगी।[१८] इसी बात से लोग यह अन्दाजा लगाते हैं कि अन्तिम रूप से तैक्सलामकन (Taxlamakan) के रेगिस्तान में बस जाने से पहले तोकारिशों में खानाबदोशी की हालत में काफ़ी विदेशी रक्त का मिश्रण हो चुका होगा।

ताक्सरिस्तानी (प्राच्य विशारदों के अनुसार तोकारियन, Tocharians) लोगों का ज़िक्र चीनी इतिहास में सबसे पहले सन् ६०० ईसवी में 'वे'

१३ Ibd, P 885

१४ यह आजकल बर्लिन के एथनालाजिकल म्यूजिअम में है और इसकी लिपि बङ्गला से मिलती जुलती है।

१५ Vide the publication of Prof Gruenwedel of Berlin

१६ Yuan Chwang's travels—translated by Watters 1905

१७ जयचन्द्र नारङ्ग—भारतीय इतिहास की रूप रेखा पृष्ठ १३१-५६१, और
Dr. H Von Glasenapp—"Der Buddhismus"

१८ Feist—op cit

राजकुल के जमाने में आता है। चीनी भाषा में उन्हें तु-हुओ-लो (Tu huo lo), कारियन भाषा में तो-हो-रा [१९] (To-ho-ra) और जापानी में तो को-रा (To ko-ra) कहा गया है। चीनी ग्रन्थों के अनुसार इन लोगों का देश तोकारिस्तान पश्चिम में तियान-शान पहाड़ में तारिम के उत्तर में था, यानी ठीक उस जगह जहा यूरोपीय अन्वेषकों को तोकारिशा हस्त लिपिया मिली हैं। किन्तु प्राचीन ताक्खिस्तान या तोकारिस्तान तारिम के दक्षिण और खोतान के पूर्व में था जिसे चीनी यात्री युआन-च्वाग ने पार किया था। युआन च्वाग ने अपने ग्रन्थ सि जुइ कि (Si-jue-ki = डायरी विवरण) में लिखा है कि यह देश बहुत पहले से त्याग दिया गया था और मरुस्थल का हमला शहरों की प्राचीरों तक पहुँच चुका था। शायद लोगों ने इस देश को सैकड़ों वर्ष पूर्व पानी की कमी के कारण छोड़ दिया होगा।[२०] लोग उत्तर की ओर चले गये। प्राचीन चीनी ग्रन्थों में उनकी चर्चा ता-हिया या ता-हा के साथ आती है। चीनी विवरणों के अनुसार ये ता-हिया लोग सीधे सादे व्यापारी लोग थे जो नगर शासकों के अधीन रहते थे। पूर्वीय तुर्किस्तान के उत्तर से उन्होंने 'कुसि' या 'कुसु' नाम की एक पुरानी आबादी को खदेड़ दिया।

इस तरह हमने ताक्खि या तोशारियन लोगों की खानाबदोश स्थिति पर ग़ौर किया।[२१] अब हम ज़रा उनके राजकुल 'अर्सि' के सम्बन्ध में विचार करें। प्राचीन यूनानी इतिहासज्ञ उनका 'असिआनी' या 'असीई' नाम से ज़िक्र करता है। कुछ जर्मन विद्वानों के अनुसार तोशारियन जाति पर हुकूमत करने वाले ये लोग भारतीय-यूरोपियन जाति के शासक वर्ग के थे। बहुत अरसे तक तोशारियन लोगों को लोग प्राचीन चीनी उल्लेखों के यू-ए-चि ही समझते रहे। "स्चि कि"[२२] (Scti-ki, Chap 123) में ज़िक्र है कि "हिउङ्ग-नु (हूण) राजा मोतुक या मक्तुर ने १७६ ई० पू० में चीनी सम्राट को सूचना दी कि उसने यू-ए-चि लोगों का नाश कर दिया।" हूण राज लाउ स्वाङ्ग ने यू-ए-चि राजा को मारकर उसकी खोपड़ी का सुरा-प्याला बनाया। प्रारम्भ में यू-ए-चि तुन-हुआङ्ग और कि-लिअन पहाड़ों के बीच के भू-भाग में रहते थे। यह भू-भाग चीन की पश्चिमी सीमा पर है। हिउङ्ग-नु से हारने के बाद वे फरग़ान (रूसी तुर्किस्तान) के उस पार चले गये। पश्चिम मे उन्होंने ता-हिआ को हराकर उन्हें अपने अधीन किया। उस समय से वे आक्सस नदी के उत्तर में बस गये और वहीं उन्होंने अपना राज्य क़ायम किया। इनका कुछ हिस्सा किआङ्ग के पास दक्षिणी पहाड़ों में ही बस गया और ये लोग लघु यू-ए-चि कहलाने लगे। ये लोग तुन हुआङ्ग के दक्षिण से लेकर पामिर तक पहाड़ों पर तिब्बती क़बीलों के साथ रहते थे। इन्हीं लोगों ने शायद प्राचीन तोशार राज्य (ताक्खिस्तान) की स्थापना की होगी।[२३] विन्सेण्ट स्मिथ और स्टेन कोनाव के अनुसार गान्धार में पुरुषपुर को अपनी राजधानी बनाने वाले लघु यू-ए-चि लोग ही थे।[२४]

किन्तु यदि कुछ विद्वानों के अनुसार तोशारी लोग यू-ए-चि द्वारा जीते हुए ता-हिआ जाति के लोग हैं, तब यू-ए-चि जाति के लिये हमें दूसरी वंशावलि ढूंढनी पड़ेगी। भाषा वैज्ञानिकों के अनुसार आजकल का पीकिङ्ग का उच्चारण यू-ए-चि उच्चारण

१९ J. Marquart—Eranstatr, P 200

२० O. Francke—Zur Keuntnis der Tuerk voelker und Skythen Zentralasiens, P. 28.

२१ J Marquart—Vaelkstum der Komanen, P 64 F.

२२ Translated by F W K Mueller—"Toxri und Kuisan, P 571

२३ Feist—Op cit, P 119.

२४ V. Smith E. H. I —264, Konow Corpus II i LXXVI.

है। २००० हजार वर्ष पूर्व उसका दूसरा उच्चारण था। जे० मार्क्वार्ट के अनुसार वह 'गेत-सि' या 'गोत-सि' था और इसमें उसे स्ट्रैबो के पासिअनास ओगुस के असियानी का आभास मिलता है।[२५] ओ० फ्रैङ्क ने जापानी उच्चारण गेत-सु (ग्वात-सु) को ध्यान में रखकर एक प्राचीन उच्चारण 'नॅगुएत-सु' गढ़ा है, और इस शब्द के पहले हिस्से में उसे एक जाति के नाम का बोध दिखाई दिया।[२६] यानी गुएत, गेत = गाथ, अथवा यूनानी पौराणिक उपाख्यानों के 'मसागेत'। इस तरह यू-ए-चि यूनानी सिंदियन की तरह ही एक परिवर्धित नाम हुआ।[२७] किन्तु मध्य एशिया के क़बीलों के लिये यह नाम तो अनिश्चित और अस्पष्ट नाम रहा। एफ़० डब्लू० के० मुलर प्रोफेसर सीग द्वारा खोज किये हुये नये शब्द अर्सि का एक नया ही अर्थ ढूंढ़ना है। उसके अनुसार यू-ए चि का सबसे प्राचीन चीनी उच्चारण अर्सि था। ओट्टो फ्रैङ्क इस बात को स्वीकार करता है कि चीनी शब्द ध्वनि के अनुसार यू ए चि का उच्चारण किसी समय अर्सि हो सकता है (Yue-tchi = Arsi)। यदि हम चीनी भाषा के यूरोपीय विशेषज्ञों की इस धारणा को स्वीकार कर लें[२८] कि यू ए चि और अर्सि एक थे तब हमें तोशारियन, इण्डो-यूरोपियन समस्याओं और भारतीय नृवंश विज्ञान के एक पहलू को हल करने के लिये एक नया ही दृष्टिकोण मिल जायगा।

अब हम तारिम और कुइसानों के आपसी सम्बन्ध पर ग़ौर करें। चीनी भाषा विशेषज्ञ मूलर का कहना है कि प्राचीन उइगुर तुर्क जिस भाषा को तारिम भाषा कहते थे, उसे आजकल के प्राच्य विशारद तोकारिस्ट (अ) कहते हैं।[२९] जहां तक कुइसान (उइगुर) का सम्बन्ध है तुरफान में पाये गए अवशेषों मे 'दश कर्म बुद्ध अवदान माला' नामक पुस्तक के सम्बन्ध में वह कहता है "कुइसान भाषा से तोकारिश भाषा में और फिर तुर्की भाषा मे अनुवाद।" इससे यह साबित होता है कि पुस्तक कुइसान से तोकारिस्तान आई और फिर उसे तुर्कों के पाया।[३०] यहां पर तोकारियों और कुइ-सान या कुशानों मे जैसा कि उन्हें भारत मे कहते हैं, एक साफ़ फर्क किया गया है। मूलर का कहना है कि कुइ-सान का अर्थ है कुशानों का देश, अर्थात् गान्धार का देश या कलात की उपत्यका। स्टेन कोनाव की भी राय है कि कुइ-शुआङ्ग या कुशान का राज्य और गान्धार एक थे।[३१] इस तरह हम देखते हैं कि हूणों ने यू-ए-चि लोगों को चीन की पश्चिमी सीमा से खदेड़ दिया[३२], जो अन्त में जाकर फ़रग़ना मे बस गये और उन्होने ता-हिआ यानी तोशारियनों को जीता। यू-ए-चि लोगों का एक छोटा-सा हिस्सा कियाङ्ग के पास बस गया, जो बाद में लघु यू-ए-चि कहलाये। यह सम्भव है कि वही तोकारिस्तान के प्राचीन राज्य के संस्थापक थे। फिर हमें यह पता चलता है कि कुशान गान्धार या काबुल की उपत्यका में रहते थे। और ये कुइ-शान

---

२५ Eranstatr P 206

२६ O. Francke—op. cit P. 23 F.

२७ इसी शाब्दिक भ्रम के कारण प्राचीन अंग्रेज लेखक भारतीय जाटों, उत्तरी यूरोप के जूतेस और यूरोप के गाथ और यू-ए-चि लोगों को एक समझते थे। किन्तु जब से तुरफ़ान की खुदाई हुई है तब से यह साबित हो गया है कि भारतीय जाट और यू-ए-चि एक नहीं हैं। प्रो० सिलाफ ने स्वयं यही बात इस लेख के लेखक से कही थी। जाट शब्द का मूल रूप कहीं और खोजना चाहिये।

२८ Feist—Op cit, P. 120

२९—३१ Muller—Toxri und Kuisan PP 575 58,4,584.

३२ Sten Konow—E. P. Ind. XXI, 258.

कुसि या कुसु[३३] या कुशान लोग ता-हिआ या तोग़र लोगों द्वारा पूर्वी तुर्किस्तान के उत्तर से खदेड़े गए थे।[३४] और ये कुशान अपना असली जगह से खदेड़े जाकर पश्चिमोत्तर भारत में फूट पड़े। इस तरह एक के बाद एक कुशानों के अनेकों दल या तो भारत के पश्चिमोत्तर सीमा-प्रदेश की ओर आये या ख़ुरासान से ईरान और वहां से यूरोप पहुंचे। एक के बाद एक इनके इतने दल भारत की ओर आये कि उस समय के भारतीय दिमाग़ में ऐसी ग़लतफ़हमी रह गई कि मध्य एशिया से आने वाले हर क़बीले को वे तुरुष्क (Turuskas) कहकर पुकारने लगे।

इनसे सम्बन्धित एक प्रश्न यह उठाया जाता है कि भूरी आखों और लाल डाढी वाले यू-ए-चि या आर्षि मूल रूप से किस जाति से निकले हैं। कुछ यूरोपीय विद्वान इन्हें चीनी ग्रन्थों में वर्णित उत्तरी यूरोप से चीन की ओर गये हुए मध्य एशिया के वु-सुन कहते हैं। उनकी राय में वु-सुन और यू-ए-चि एक ही हैं। उपसला विश्वविद्यालय के प्रो० कार्पेंटिअर उन्हें चौड़े मस्तक वाले केल्ट समझते हैं, जो गाथिक हमलों के परिणाम स्वरूप वहाँ गये होंगे। पोकर्नी उन्हें थ्रेशियन फ्रिजयन जाति का कहता है।[३५] किन्तु सवाल उठता है कि इतिहास कहीं इस बात का उल्लेख नहीं करता कि यूरोपीय जातिया मध्य एशिया की ओर गईं। इसके विपरीत यूरोप पर एशियाई जातियों के हमले लगातार होते रहे हैं। एशियाई क़बीले यूरोप जा जा कर बसते रहे हैं। इतिहासज्ञ एडोआर्ड मेयेर, मानव विज्ञान वेत्ता ऐक्स टेड्ट और भाषा तत्व वेत्ता फ़ीस्ट इससे पूरी तरह सहमत हैं।[३६]

स्वभावत: यह प्रश्न पैदा होता है कि आख़िर मध्य एशिया में ये भूरे लोग कहां से आये? युआन-च्वाग ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि मध्य एशिया में उसे भूरी आखों वाले लोग मिले। आज कल के मानव विज्ञान शास्त्रियों का कहना है कि यूरोपीय मुखाकृति के भूरी और नीली आँखों वाले लोग मध्य एशिया के इस भू-भाग में आज भी मिलते हैं। जर्मन नृवंश विज्ञान वेत्ता स्व्वार ने इस क्षेत्र के ईरानी बोलने वाले लोगों को उपरोक्त ख़ासियतों से भरा हुआ पाया है। इसी बिना पर उसने मध्य एशिया को आर्यों की जन्म भूमि कहा है।[३७] इनके अति रिक्त उजवाल्फ़ी और औरेल स्टीन जैसे लोजियों ने इस बात का पता लगाया है कि समस्त मध्य एशिया में मुलायम बालों और आखों वाले लोग मिलेंगे। ये ही विशेषताएं साइबीरिया की कुछ तातार जातियों में भी पाई जाती हैं। गत महायुद्ध के बाद जोखेलसन ब्राइस्की ने जो खोजें की हैं, उनसे पता चलता है कि दक्षिण पश्चिम साईबेरिया की रहने वाली एक तातार क़ौम भूरी आँखों वाली है। कहा जाता है कि यचिसी नामक एक तातार क़बीले वाले भी भूरी आखों वाले हैं। उनके चेहरे लाल लाल, बालों का बहुत हल्का रङ्ग और आखें नीली हैं। डेनीकर के अनुसार साइबीरिया के सबसे प्राचीन

३३ इन कुसि [कुसु] लोगों के सम्बन्ध में अब तक निश्चित रूप से कुछ भी नहीं मालूम हो सका है। क्या शक द्वीप की तरह यह नाम पुराणों के कुस द्वीप से सम्बन्ध रखता है?

३४ J Marquart—Op cit, P. 64 F

३५ J Charpentier—in Z D M G, vol 7I, P 347 F. quoted by Feist P. II3.

३६ Meyer—Geschichtedes Altertums; PP 864—890, Eickstedt—Rassenkunde und Rassengeschichte der Menschheit, PP 267-28I, Feist—Indo Germanen and Germanen, P. 12I.

३७ F O. Schwar F. Turkestery die wiege der Indo Germanen Voelker, 1900

निवासी लम्बे मस्तकवाले[३८] यूरोपीय मुखाकृति के लोग थे। इस चीज़ से ऐक्सटेड्ट और गुइफ्रिदा रगेरी जैसे मानव विज्ञान वेत्ता इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि भूरी आँखों वाले लोगों का विकास सबसे पहले उत्तर-पश्चिम एशिया में हुआ।[३९] इनमें रगेरी का कहना है कि तकला मकन के रेगिस्तान और पामिर के मौजूदा चौड़ी खोपड़ी वाले लोगों में यूरोपीय मुखाकृति के प्रमाण मिलते हैं।[४०] इससे आगे वह कहता है, "इन चीज़ों को देखकर बिना पक्षपात के कोई भी यह कह सकता है कि गौरवर्ण एशिया यूरोप की तरह आज जितना अधिक आर्य है, प्राचीन काल में वह इससे कहीं अधिक था। (पृष्ठ३२)

इससे यह स्पष्ट है कि मध्य एशिया के प्राचीन नृवंश का मौलिक आधार पुरातनकाल में तथाकथित काकेशश या इराडो-यूरोपियन आधार था। जायस ने लिखा है कि तकला मकन (पूर्वीय तुर्किस्तान) की मौलिक जाति अब भी ईरानी है।[४१]

इसके बाद पूरब से तातारी क़ौमों के हमले शुरू हुए। सबसे पहले उइगुर तुर्क एशिया के इस हिस्से में आबाद हुए। इसके बाद मुसलमान अरबों के यहाँ हमले हुए, जिन्होंने तुर्कों को इसलाम धर्म में दीक्षित किया। परिणाम स्वरूप यहा के यूनानी-भारतीय सभ्यता के अनुगामी और आर्य भाषा बोलने वाले लोग समाप्त हो गये। अन्त में मगोल चग़ेज़ ख़ां के हमले ने तो एशिया के इस हिस्से को वीरान और बरबाद ही कर डाला।

नृवंश-विज्ञान वेत्ताओं का बहुमत इस बात से सहमत है कि एशिया का यह हिस्सा आर्य भाषा या भारतीय-यूरोपीय भाषा बोलने वाली जातियों का जन्म-स्थान है। यह भी हम देख चुके हैं कि यहा के प्राचीन अधिवासी लम्बी खोपड़ी वाले लोग थे और चौड़ी खोपड़ी वाले लोग यहां पूर्व की ओर से बाद में आये। आजकल एशिया के इस भू-भाग में अधिकाश चौड़ी खोपड़ी के लोग हैं, जिनमें चौड़ी खोपड़ी वाले ईरानी[४२] और चौड़ी खोपड़ी वाले तुर्कोमान या तुर्क दोनों हैं। किन्तु उइगर तुर्कों के हमले के बाद से मध्य एशिया की आबादी में तुर्क अंश बहुत अधिक हो गया है।

अन्त मे यहा पर एक बात और कह देनी है कि राजपूतों, गूजरों और जाटों के सम्बन्ध मे उनके मध्य एशिया के मूल निवासी होने के बारे में जो चर्चा चलती है, मानव विज्ञान शास्त्र उसका समर्थन नहीं करता। भूरी आँखों और लाल डाढ़ो वाले तोशारियों के शासक, जो असिया यू-ए-चि कहलाते हैं गहरे रङ्ग के जाटों के पूर्वज नहीं हैं। हम ऊपर देख चुके हैं कि शब्द के ग़लत उच्चारण से बहुत ग़लतफहमी हुई है। जाट आर्सि नहीं हैं और न लम्बी खोपड़ी पतली नाक और भूरे रङ्ग के गूजर ही तातार और ख़ज़ारों के वंशज हैं और न राजपूत ही शक वंश के हैं। मानव-विज्ञान सम्बन्धी इनके अस्तित्व की खोज भारत में ही करनी चाहिये। मध्य एशिया से जो ख़ानाबदोश यहा आये, वे हिन्दू आबादियों में पूरी तरह घुल मिल गये, किन्तु उनकी तादाद बहुत थोड़ी थी। वास्तव में शक और कुशान सकस्तान (सीसतान) और अफ़ग़ानिस्तान में ही बस गये थे। आजकल के अफ़ग़ानों में से कुछ की मुखाकृति साफ़ साफ़ शक और कुशानों की मुखाकृति से मिलती है। टालेमी ने शकों के एक दल का बलितोइ (Balytoi) कहकर ज़िक्र किया है और यह अन्दाज़ा लगाया जाता है कि बाल्तिस्तान के बस्ती वे ही लोग हैं।[४३]

३८ Denker—"Les Races et les Peuples de la Terre", P. 424.

३९ Eickstedt—Op. cit, Guiffrida-Ruggeri—"The first outline of a systematic Anthropology" translated by H Choklodar.

४० Guiffrida-Ruggeri--Op cit, P. 33.

४१ Joyce Journal Anthropological Institute, Bk XVI

४२ Ripley—'Races of Europe.'

४३ Haddon—Races of Man, PP 114-115.

कहानी-कला का मूल तत्व

श्री गङ्गाप्रसाद पाण्डेय

स्पष्ट अभिव्यक्ति ही मनुष्यता की महत्ता है। भाषा के संकेतों पर आरूढ़ व्यञ्जना ही मनुष्य और पशु की भिन्नता का साधन है। मानव, स्वभाव से ही अपने को व्यक्त करना चाहता है, वह जीवन और जगत में जो कुछ देखता, समझता अथवा अनुभव करता है, उसकी मनोरम अभिव्यक्ति के लिये लालायित हो उठता है। अपनी उन सचित और साधनशील अनुभूतियों को दूसरे तक पहुँचाने के लिये उसे किसी एक विशेष पद्धति का आधार लेना पड़ता है। इसी अभिव्यक्ति की अभिरुचि ने संसार की परिवर्तित सामाजिक तथा कलात्मक परिस्थितियों के अनुसार मानवीय व्यञ्जना के अनेक स्वरूपों को जन्म दिया है, इसमें सन्देह नहीं। कहानी ऐसी ही अनन्त अभिव्यक्तियों में एक अभिव्यक्ति है।

हमारा भौतिक जीवन स्थूल रूप से केवल घटनाओं का एक आख्यान है। जन्म के साथ जीवन का पथ प्रारम्भ होता है और मरण के छोर पर पहुँच कर थम जाता है। जन्म-मरण के इन्हीं दोनों छोरों के बीच में हम अपना जीवन सजोते हैं। इस अनिश्चित यात्रा में मनुष्य को अनेक प्रकार के अनुभव होते हैं, अनेक प्रकार के दृश्य देखने को मिलते हैं, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि यह सब उसे एक विशेष तारतम्य या क्रम से ही प्राप्त हों। जीवन की अनेक घटनायें व्यक्ति के लिये कोई आशय नहीं रखतीं, किसी भावना विशेष की मार्मिकता का उद्घाटन नहीं करतीं, कोई अभिनव सन्देश नहीं दे पातीं और वह स्वभावतः उन्हें कुछ दिन बाद विस्मृति के अन्धकार मय आलय में छोड़कर आगे बढ़ जाता है। जब कलाकार इन्हीं घटनाओं को अपनी व्यक्तिगत जीवन साधना से अनुप्राणित करके एक क्रम, अभिप्राय और सीमा दे देता है, तब वे स्वयं अपनी संयमित समष्टि में सजीव हो उठती हैं और उनका चित्र समाज तथा संसार के सामने स्पष्ट हो जाता है। ऐसा चित्र, जिसमें पहिली रेखा से अन्तिम रेखा तक के बीच की सभी रेखायें एक ही भाव विशेष की ओर संकेत करें, एक ही विचार की चरितार्थता का आग्रह करें तथा एक ही मार्मिकता को ममता दें, कहानी की संज्ञा पा सकेगा। काव्य में यही स्थान गीत का है। गीत में व्यक्तित्व की भावना का अनुरञ्जन अधिक रहता है, किन्तु कहानी में जीवन और जगतव्यापी सामूहिक चेतना का।

आत्म-अभिव्यञ्जन के साथ दूसरों के मनोभावनाओं का परिचय भी कहानीकार के लिये आवश्य होता है। अपने मनोभावों की तुष्टि व्यक्ति अपने परिचितों तथा प्रियजनों के बीच में पा सकता है, किन्तु दूसरे के मनोभावों तथा प्रवृत्तियों का परिचय देने के लिये उसे कहानी की शरण लेनी पड़ती है। मनुष्य की परापेक्षित प्रवृत्तियां इतनी शक्तिशाली होती हैं कि वे अपनी एकान्त सीमा में सीमित नहीं रह सकतीं, वे तो अपने विस्तार तथा प्रसार में सारे संसार को समेट लेना चाहती हैं। इस विस्तार की व्याकुलता ही से कथा-साहित्य की सृष्टि होती है। मानवता तथा सभ्यता के विकास के साथ कहानियों के विषय तथा स्वरूप बदलते रहते हैं, किन्तु उनका मूल तत्व वैसा ही स्थिर रहता है। कला का सत्य विज्ञान तथा इतिहास नहीं है, क्योंकि विज्ञान प्रयोगों की सफलता का साक्षी है और इतिहास जो था या है का साक्षी है। कलाकार के सत्य की सीमा सम्भाव्य के भविष्याञ्चल को भी स्पर्श करती है। आचार्यों ने इसी कारण ज्ञान-साहित्य और शक्ति-साहित्य की कल्पना की है। शक्ति-साहित्य का दूसरा नाम सृजनात्मक साहित्य है। ज्ञान का साहित्य जीवन का तात्विक दर्शन देता है और शक्ति का साहित्य जीवन की गति। तर्क की उलझनों से दब कर ज्ञान-

साहित्य कुछ दिनों के बाद जीर्ण पड़ जाता है; किन्तु शक्ति-साहित्य मानव के रागों तथा विरागों के साथ नित्य नूतन होता जाता है। कहानी की कमनीयता तथा मनमोहकता जीवन के प्रारम्भ से लेकर जीवन के अन्त तक बराबर बनी रहती है। महाभारत की द्रौपदी की कथा पढ़कर हमारे हृदय में आज भी करुणा के वही भाव उठते हैं, जो भगवान कृष्ण के हृदय में उस समय उठे थे। नानी की कहानी के पश्चात शिक्षा की कहानियों का चाव बढ़ता है, यौवन में, मादकता की माधुरी से पूर्ण सरस कहानिया ही मनोरंजन कर पाती हैं, वृद्धावस्था में धार्मिक कहानियों का आकर्षण अधिक हो जाता है। आशय यह है कि मानव हृदय अपनी अवस्था और स्थिति के अनुसार किसी न किसी प्रकार की कहानियों का सदैव प्रेमी बना रहता है। मानव की इसी प्रवृत्ति के सदुपयोग से कहानीकार अपने भावों को मानवता तक निरन्तर पहुँचाता रहता है। कला तो कलाकार और शेष मानवता के बीच की साधना का शपथ है, तभी तो कलाकार मनुष्य होता है और मनुष्यता में कला की कल्पना।

कथा-साहित्य का निर्माण सब से पहिले कहा और किस रूप में हुआ, इसका निर्णय विवाद का विषय है। इसका प्रचार सब देशों और कालों में था, यह निर्विवाद है। अतीत की गोद में सोये हुये चाहे जिस वसंत काल में कहानी की कली खिली हो, किन्तु उसके सौरभ से आज तक सारा संसार विभोर है, यह निश्चय है। कुछ विद्वानों का मत है कि मिश्र देश के मरुस्थल में यह लता पहले पहिल लहलहाई। कुछ विद्वान इसे तमसा के किनारे की उर्वर भूमि की उपज मानते हैं। भारतीय साहित्य में ऋग्वेद, सांख्य तथा जातकों में सुन्दर कहानिया मिलती हैं। धीरे धीरे इन कहानियों के आधार पर देश में लोक-कल्याण की भावना से ज्ञान-वर्धिनी कहानियों का सृजन हुआ। इस प्रकार साहित्यिक कहानियों का प्रादुर्भाव पंचतंत्र से माना जाता है। संस्कृत में हितोपदेश, वृहत् कथा-मंजरी, कथासरित्सागर, बैताल पंचविंशति आदि ग्रन्थ कथा-साहित्य के आदि विकास के रूप में लिये जा सकते हैं। उसी समय फारसी, अर्बी तथा ग्रीक आदि भाषाओं में भारतीय कहानियों के अनुवाद भी हुये। संसार के सभी देशों में कहानी लिखने की प्रथा लेखनकला के साथ चल पड़ी थी किन्तु भारत का इसमें विशेष प्रयत्न प्रतीत होता है।

आधुनिक कहानियों का प्रारम्भ उन्नीसवीं सदी से होता है। इसके मूल में फ्रेंच तथा रूसी साहित्य-साधकों की साधना का सम्बल है। कहानी-कला को इस उच्च तथा आदर्श स्थान में प्रतिष्ठापित करने का श्रेय इन्हीं दोनों देशों को है। इनमें फ्रान्स के मेरिम तथा मोपासा एवं ज़ोला और रूस के डोस्टावेस्की, टाल्स्टाय, गोर्की तथा चेखाव के नाम स्मरणीय हैं। हिन्दी में भी इसी समय कहानी लिखने का श्री गणेश हुआ। इन्शाअल्ला खां ने 'रानी केतकी' की कहानी लिखी, सदल मिश्र तथा लल्लूलाल ने कुछ कहानिया अनुवादित कीं, जो कहानियाँ अवश्य हैं, किन्तु कलाशून्य कंकाल मात्र। आगे चलकर कहानी-साहित्य अन्तःसलिला सरस्वती की भाति कुछ समय के लिये लुप्त हो जाता है; किन्तु गदर की भीषणता तथा हलचल के साथ एक बार पुनः उसकी करुणामयी सजलता बाहर फूट पड़ती है। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की 'राजा भोज का सपना' कहानी में हम कथा-साहित्य की साकारता का साक्षात् करते हैं। भारतेन्दु काल में भी कहानियों का विस्तार न बढ़ सका; केवल दो एक अनुवाद हुये, जिनमें काशीनाथ का लैम्ब्स टेल्स आफ़ शेक्सपियर का अनुवाद उल्लेखनीय है। हमारे कथा-साहित्य का आरम्भ बीसवीं सदी की अनुवादित कहानियों में अपना निश्चित रूप पा लेता है। किशोरीलाल गोस्वामी, गिरजाकुमार घोष, और आचार्य द्विवेदी जी उस समय के अधिनायक थे। इधर सन् २४ के बाद अनुवादित कहानियों की अपेक्षा लोगों ने मौलिक कहानियों की ओर अपनी ममता देनी प्रारम्भ कर दी और फल स्वरूप हिन्दी में मौलिक

कहानियों का सूत्रपात हुआ। प्रसाद की प्रथम कहानी 'ग्राम' इस ओर का प्रथम पद है। उसके बाद प्रेमचन्द्र के उदय में कहानी-साहित्य की उज्ज्वलता का अन्यतम उदाहरण हमें मिलता है। प्रेमचन्द्र के साथ कहानी लिखने वाले, कौशिक, गुलेरी तथा उग्र साहित्याकाश में उसी तरह चमकते रहे; यथा चन्द्र के साथ तारे।

आज इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्रकुमार, भगवती-प्रसाद वाजपेयी, सुदर्शन, विनोदशंकर व्यास, भगवती चरण वर्मा, पहाड़ी, अज्ञेय, अश्क, यशपाल तथा उषा-देवी मित्रा, अपनी अपनी आत्म-चेतना के अनुसार कहानी साहित्य का भण्डार भर रहे हैं। इनके अतिरिक्त सामयिक पत्र पत्रिकाओं में अनेकों ऐसी कहानिया देखने को मिलती हैं, जिनमें कहानी-कला का वास्त-विक आदर्श तथा निर्वाह पूर्ण रूप से पाया जाता है।

आधुनिक युग मे छोटी कहानियों का आग्रह बहुत बढता जाता है। इसका मुख्य कारण हमारी बहुव्यस्त सामयिक परिस्थितियां हैं। आज के मानव की दैनिक जटिलता बहुत बढ़ गई है। वह जीवन से क्लान्त और उदास है। जीवन संघर्ष से इस तरह ऊब कर मानव की यह स्वभाविक इच्छा होती है कि वह मनोरंजन के शान्त स्पर्श से अपने को कुछ विश्राम दे, अपने जीवन की उलझनों को थोड़ी देर के लिये भुला दे और इस यथार्थ की दुनिया से उठकर किसी कल्पना-लोक में विहार करे। ऐसी स्थिति को सहज सुलभ करने वाला सबसे सरल साधन है कहानी या उपन्यास। कहानी और उपन्यास दोनों इस वस्तु-जगत की सरल से सरल एव सुलभ से सुलभ अभिव्यक्तियां हैं, जिनमें मनोरजन के साथ शिक्षण का भी तत्व निहित रहता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मनोरंजन का आशय सतोष की उस श्वास से है, जो क्षण भर के लिये मनुष्य को नवीन स्फूर्ति तथा नवीन उत्साह से ओत-प्रोत कर दे, जो भावना के पुनीत प्रकाश में जीवन की शाश्वत गति का आश्वासन दे और जो दे जीवन की कठोरता अपनाने का साहस। आज का युग विज्ञान का युग है। विज्ञान के इस विकास ने हमारे जीवन में यथार्थ का वह ठोस तत्व मिला दिया है, जो आवश्यकता से अधिक हमारे दैनिक स्वातंत्र्य में बाधा उपस्थित करने लगता है। हमें मशीन के साथ दौड़ाने का उपक्रम करता है। विज्ञान के कोड़ों से आज का जीवन चलता नहीं, भागता है, पग-पग पर लड़खड़ाने से डरता है। इस स्थिति में मानव का भावना की कोमल भूमि से हटकर तर्कना की कठिन भूमि पर आ जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यही कारण है कि आज का जीवन कोमलता की अपेक्षा कठोरता का उपासक है। इस परिस्थिति में ज्यों ज्यों मनुष्य को अवकाश की कमी होती गई, त्यों त्यों उसने थोड़े से थोड़े समय में अपने अनुरंजन के उपायों की खोज करनी प्रारम्भ करदी। छोटी कहानी इस उपाय का एक प्रमुख अग और उपादान है। उपन्यासों के पढने तथा लिखने दोनों में समय की अधिक अपेक्षा रहती है, किन्तु कहानी में कम। सम्भवतः कहानी की रचना कलाकार के ऊपर उतना उत्तरदायित्व भी नहीं रखती, जितना उपन्यास रचना। नये लेखकों का इसके प्रति अधिक आकर्षण होने का शायद यही कारण हो, यद्यपि कहानीकार को भी उपन्यासकार की भाँति ही जीवन की व्यापक तथा विस्तृत परिस्थितियों और मनोभावों का ज्ञान आवश्यक है।

हा, तो यदि कहानी एक ही विचार या एक ही भाव अथवा एक ही घटना की मार्मिक अभिव्यक्ति है, तो उपन्यास अनेकों विचारों तथा भावों एव घटनाओं की एक सम्बद्ध तथा सम्पूर्ण व्यञ्जना है। दोनों में आगे बढने की ओर से कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही मानव जीवन के पथ पर चलते हैं। साधारणतः दोनों का साम्य या वैषम्य, दोनों का सम्बन्ध या विच्छेद उसी भाँति है, जिस भांति एक नदी और उसकी लहर का होता है। नदी भी सागर की ओर बराबर गतिशील है और लहरें भी उसी ओर बढ़ती हैं; किन्तु दोनों अपनी अपनी अवस्था तथा गति में स्वच्छन्द हैं। कहानी में यदि मानव-जीवन की झलक है, एक दृष्टिबिन्दु है, तो उपन्यास में जीवन की पूर्ण प्रकाश-रेखा और उसका

पूर्ण चित्र है। कहानी यदि जीवन-कमल का एक दल है, तो उपन्यास पूर्ण कमल। इन तथ्यों से पता चलता है कि समय की सुविधा तथा आकार-प्रकार के अतिरिक्त भी कहानी और उपन्यास के तत्वों में बहुत अन्तर है। कहानी जीवन की एक विशेष अवस्था का चित्र है और उपन्यास जीवन की पूर्णता का। अतएव उपन्यास का जीवन की भाँति व्यापक होना भी आवश्य है किन्तु कहानी के लिये यह इतना अपेक्षित नहीं। कहानी की विशेषता उसके अनेक सञ्चित कथानकों में नहीं; उसका कार्य जीवन, जगत तथा प्रकृति के छोटे-छोटे किन्तु सुन्दर और मनोरम चित्र उपस्थित करना है। उपन्यासकार जिन छोटी घटनाओं को महत्व देता है, कहानीकार उन्हें बिलकुल छोड़ सकता है, क्योंकि यदि उपन्यास जीवन का पूर्ण चन्द्र है, तो कहानी उसकी एक कोमल किरण। उपन्यास में आधार स्वरूप जीवन की अपेक्षा रहती है और कहानी में भाव की। आधुनिक कहानी की विशेषता किसी भाव या प्रभाव का कलात्मक चित्रण है। उपन्यासों में अनेक चरित्रों का चित्रण रहता है, किन्तु कहानी में एक या दो से भी काम चल जाता है। उपन्यास में चरित्रों का क्रम-विकास तथा जीवन की परिस्थितियों के प्रभावों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी आवश्यक है; किन्तु कहानी में जीवन के किसी एक अंश की अभिव्यक्ति ही पर्याप्त होती है। कहानी के पात्रों का परिचय पाठक को, कवि-सम्मेलन में आये हुये कवियों के तात्कालिक परिचय से अधिक नहीं मिलता। कवि की मधुर-स्वर-लहरी की भाँति वे कभी कभी हमारे एकान्त क्षणों में झाँक अवश्य जाते हैं, किन्तु व्यक्ति रूप में नहीं, केवल भाव रूप में। अस्तु हम कह सकते हैं कि कहानी और उपन्यास की भिन्नता, उद्देश्य, कथानक, रचना-कौशल, चित्रण की प्रणाली आदि को लेकर भी उतनी ही है, जितनी उसके आकार प्रकार की। कहानी की अपनी विशेषता तथा विशिष्टता है और उपन्यास की अपनी।

पो ने छोटी कहानी की विवेचना करते हुये लिखा है कि उसके पढ़ने का समय दो घन्टे से किसी प्रकार भी अधिक नहीं होना चाहिये, क्योंकि उससे पूर्णता का प्रभाव बिगड़ जाता है। ठीक भी है, किसी कहानी को क्रमशः पढ़ने से भावना की तन्मयता तथा तीव्रता में अवश्य ही अन्तर पड़ जायगा। कहानी की भाँति रसोद्रेक के लिये गीत का छोटा होना आवश्यक है। कहानी के छोटे होने का यह अर्थ नहीं कि उसमें केवल एक घटना, जीवन का केवल एक ही अंश रहे वरन् यह कलाकार के चुनाव पर निर्भर है कि वह कितनी घटनाओं तथा चरित्रों के मार्मिक अंश को एक ही भाव-सूत्र में बांध कर उपस्थित कर सके। कलाकार कहानी की विषयवस्तु के साथ अपने रचना-कौशल के सहयोग से जीवन की आंशिक अभिव्यक्ति में जीवन की पूर्णता का आभास दे सकता है। सूर्य अपनी सारी किरणों के साथ सूर्य है; किन्तु उसकी एक किरण भी उसी की है। उपवन का सारा सौन्दर्य फूलों की समष्टि से अपनी अभिव्यक्ति पाता है; किन्तु एक अकेला फूल भी उस सौन्दर्य का एक अंश अपने में समेटे रहता है, इसे कौन नहीं जानता! इसी प्रकार कहानीकार अपनी साधना और संयम से जीवन के एक क्षण में जीवन-व्यापी भावना को सजीव कर देता है। कहानी छोटी हो या बड़ी, यदि लेखक अपने आधार-भाव की संगति तथा सामञ्जस्य, वर्णित वातावरण से करता चलेगा, तो वह कहानी अवश्य ही सरस और सुन्दर होगी अन्यथा नहीं। समय, उद्देश्य और चरम परिणति की एकता में कार्य की सफलता सन्निहित रहती है। इसी एकता की प्रधानता का ध्यान रखते हुये कहानीकार सफल मनोरथ हो सकता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जो कहानीकार अपने रचना-कौशल की प्रतिभा से अपने कथानक की एकता का सामञ्जस्य रखते हुये कहानी को गतिशील करेगा, वही कहानी लिखने के उद्देश्य की पूर्ति का सहायक होगा। कहानी का उद्देश्य है मानव-मन के सूक्ष्म रहस्यों तथा व्यापारों का उद्घाटन। इसके लिए आवश्यक है कि लेखक जीवन का स्थूल और सूक्ष्म अध्ययन भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से करे और जीवन के सार्वजनीन एवं व्यापक तथ्यों का परिचय प्राप्त कर ले।

बुन्देलखण्ड मूक नहीं

श्री देवेन्द्र सत्यार्थी

आगे चल कर शायद बुन्देलखण्ड का एक अलग प्रान्त बन सके। अभी से इसका एक भूगोल लिखे जाने की आवश्यकता महसूस की जा रही है। श्री कृष्णानन्द गुप्त ने लिखा है—"हमें अपने प्रान्त की भौगोलिक सीमा भी निश्चित कर लेनी चाहिये। सीमा के सम्बन्ध में जो प्राचीन दोहा है—'इत जमना उत नर्मदा, इत चम्बल उत टौंस' इस से हमारा काम नहीं चलेगा। वर्तमान परिस्थिति के अनुकूल वैज्ञानिक ढंग से हमें अपने प्रान्त की सही और सर्वसम्मत सीमा निश्चित करनी चाहिये। अतएव ओरछा, दतिया, समथर, पन्ना, चरखारी, बिजावर, छतरपुर और साथ ही भोपाल और ग्वालियर राज्यों तथा ब्रिटिश राज्य के अन्य बुन्देलखण्डी ज़िलों के शिक्षा-विभागों के अधिकारियों से हमारी प्रार्थना है कि इस विषय पर अपनी सम्मति दें।"[1]

बुन्देलखण्डी भाषा का एक विशाल शब्द-कोष तैयार किया जा रहा है। साथ ही बुन्देलखण्डी लोक-साहित्य का संग्रह तथा अध्ययन शुरू हो चुका है। इस जागृति का सारा श्रेय यहां के पाक्षिक पत्र 'मधुकर' को मिलना चाहिये।

बुन्देलखण्ड है कहां?—

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी से ओरछा में एक रियासत के राजकुमार ने पूछा, "आप जिस बुन्देलखण्ड की चर्चा करते हैं, वह आख़िर है कहां जनाब?" चतुर्वेदी जी ने इसका सही उत्तर दिया है:—

"बुन्देलखण्ड है इस प्रान्त के लाखों साधारण स्त्री पुरुषों के हृदय में, किसान-मजदूरों की भुजाओं में···बुन्देलखण्ड है यहां के पशु-पक्षियों में, नदी, नद, सरोवरों और प्रपातों में, वृक्षों, क्षेत्रों, वनों, उपवनों में, यहां के जल में, यहां के वायु में और इस भूमि के कण कण में···बुन्देलखण्ड है यहां से दो फ़र्लांग दूर बेतवा तट पर, बल्कि यों कहिये कि वेत्रवती के प्रत्येक बिन्दु में!···वेत्रवती और केन, धसान और जामनेर बुन्देलखण्डियों के लिये मातृ तुल्य हैं और वे इस प्रान्त की प्रतीक हैं···माता सीता ने जब इस बुन्देलखण्ड के वन-प्रान्त को अपने चरणों से पवित्र किया था, तो उन्हों ने यहां के फूल पत्तों और लताओं के विषय में भगवान से प्रश्न किये थे···और लक्ष्मण जी से जगज्जननी ने अनुरोध किया था कि हमारे लिये तरह तरह के पौधे लाओ···विचित्र जलयुक्त और हंस-सारसों से मुखरित नदी-नद देख कर सीता माता ने मन ही मन आनन्द का अनुभव भी किया था··· आज भी बुन्देलखण्ड में वे ही नदियां और वन विद्यमान हैं, तरु, पुष्प और लताओं की भी कमी नहीं, पर हम लोगों में वह उत्सुकता कहां है, जो सीता माता में थी! भगवान श्री रामचन्द्र के लिये आदि कवि वाल्मीकि ने जिस 'गिरी वन प्रियः' 'पहाड़ों तथा वनों के प्रेमी' विशेषण का प्रयोग किया है, उसके मर्म को जानने वाले हम लोगों में कितने हैं! भगवान ने सीता जी को चित्रकूट पर्वत दिखाते हुये कहा था—'इस रमणीय पर्वत को देखकर राज्य-च्युति का दुःख भी मुझे नहीं सताता, सुहृदों के पास से दूर रहना भी मेरे लिये पीड़ा का कारण नहीं होता'···जिस प्रान्त में स्वर्णमृगों के सौ-सौ, दो-दो सौ के झुण्ड पाये जाते हों, वहां स्वर्णमृग (चीतल) के विषय में एक भी पुस्तक का न होना, इस बात का सूचक है कि अभी तक हम लोगों ने इस जनपद से वास्तविक प्रेम नहीं किया···बुन्देलखण्ड के प्राकृतिक सौन्दर्य ने हमें जितना आनन्द दिया है, उस से कहीं अधिक दुःख उस के करुणोत्पादक रूप ने दिया है। जब जब हम ने चैतुओं (चैत के महीने में मज़दूरी के लिये बाहर जाने वालों) के झुण्ड के झुण्ड मालवा

1—'मधुकर', १६ अप्रैल १९४१

इत्यादि को जाते हुए देखे हैं, हमारा माथा लज्जा से झुक गया है। हजारों ही श्रमजीवियों का इस प्रान्त से सिर्फ इसीलिये बाहर जाना कि वे दो-चार मन अनाज ले आवें, हमारी आर्थिक कुव्यवस्था का सूचक है। रोती-बिसूरती गायें और आध-आध सेर दूध देने वाली भैंसें हमारी अकर्मण्यता तथा अदूरदर्शिता की परिचायक हैं। जहां जंगलों तथा चरागाहों की भरमार हो, वहाँ दूध घी की कमी 'पानी में मीन पियासी' की याद दिलाती है। जिस भूमि में निर्जीव बैल साँड़ों की जगह सन्तानोत्पादन करते हों वहां की दुर्दशा का क्या कहना! .... लाखों भूखों को अन्न, नंगों को वस्त्र और मूकों को वाणी देना आसान काम नहीं है.. .... ..प्रत्येक ग्राम मे स्वाधीन प्रजातन्त्र स्थापित करना होगा, प्रत्येक झोपड़ी में ज्ञान की ज्योति जगानी होगी . "[२]

किसी समय यह प्रदेश, जिसके उत्तर में यमुना, दक्षिण में नर्मदा, पूर्व मे टौंस (सोन) और पश्चिम में चम्बल बहती हैं, सब का सब ओरछा राज्य के आधीन रहा है। इधर इस सारे प्रदेश में, जिसके कई शासक हो गये हैं, बुन्देलखण्ड मानने में मतभेद हो सकता है। पर थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ बुन्देलखण्डी भाषा ने इसे एक सूत्र में बाँध रखा है। इस की रूप-रेखा यों है :—

संयुक्त प्रान्त में—

झांसी, जालौन, बांदा और हमीरपुर।

मध्य प्रान्त में—

सागर, दमोह और जबलपुर का कुछ अंश।

ग्वालियर राज्य में—

भिण्ड, ग्वालियर, गिर्द, नरवर, ईसागढ और भिलसा।

भोपाल में—

बिरासिया, रायसेन, सांची, राजगढ, नरसिंहगढ, कुरवाई, पठारी, मकसूदगढ, मुहम्मदगढ और बासौदा।

बुन्देलखण्ड के देशी राज्यों और जागीरों में—

ओरछा, दतिया, पन्ना, अजयगढ़, चरखारी, बिजावर, छतरपुर, समथर, बावनी कदौरा, सरीला, दुरवई, बिजना, टोड़ी फतहपुर, बंका पहाड़ी, जिगनी, लुगासी, बीहट, बेरी, अलीपुरा गौरहार, गरौली, बिलहरी, नैगवां और रिवई।[३]

"बुन्देलखण्ड के अनेक ग्राम रेल की लाइन तथा आधुनिक सभ्यता से बहुत दूर पड़ गये हैं। जहाँ इस से हानि हुई है, वहाँ कुछ लाभ भी हुआ है। बुन्देलखण्डी ग्राम-साहित्य का जायका ज्यों का त्यों सुरक्षित है। इधर इस प्रान्त के ग्राम-साहित्य का संग्रह हमने देखा है, उसमे हमें आश्चर्य के साथ हर्ष भी हुआ और कुछ ईर्ष्या भी। ईर्ष्या इसलिये कि ब्रज के ग्राम साहित्य को हम इस प्रान्त के ग्राम-साहित्य से बहुत पिछड़ा हुआ पाते हैं।[४]...आधुनिक सभ्यता के उपकरणों के आक्रमण से ग्रमीण-साहित्य की कितनी हानि हो रही है, इसका अनुमान अब हम कर सकते हैं। अभी उस दिन प्रातःकाल में एक ग्राम में चक्की पीसती हुई बुढ़िया के मुह से सुना था "सुनौरी परोसिन गुइयाँ, जे बारे लाला मानत नइयाँ" उस समय हम सोचने लगे कि मिल की चक्किया खुल गई हैं और नगर के निकट बसे हुये ग्रामों की औरतें भी अब मिलों में ही आटा पिसवाती हैं। इसलिये अब चक्की के गीत भी थोड़े दिन के महमान हैं।"[५]

---

२ 'मधुकर' १, नवम्बर १६४१

३—श्री गौरीशङ्कर द्विवेदी 'बुन्देल वैभव' "यह देश ईसा की १४ वीं शताब्दि मे बुन्देले राजपूतों के अधिकार में आया था।" उन्ही के नाम पर यह बुन्देलखण्ड कहलाया। पर स्व० श्री कृष्ण बलदेव वर्मा के अनुसार 'विशेषतः विन्ध्याटवी में स्थित होने के कारण यह भाग 'विन्ध्येलखण्ड' नाम से सम्बोधित हुआ था, जो आगे चलकर 'बुन्देलखण्ड' नाम में परिवर्तित हो गया।" 'मधुकर' १५ दिसम्बर १६४०

४—यहां मैं सहमत नहीं हूँ [लेखक]

५—श्री बनारसीदास चतुर्वेदी 'ग्राम-साहित्य' 'मधुकर' १ सितम्बर १६४१।

एक चक्की के गीत ही क्यों, अन्य पुराने लोक-गीत भी मिट रहे हैं। छोटे बड़े, सभी तरह के गीतों को लिपिबद्ध कर लेना चाहिये। वे हमारे साहित्य ही की नहीं, इतिहास और संस्कृति की भी एक क़ीमती सम्पत्ति हैं और इनका संग्रह तथा अध्ययन राष्ट्रीय महत्त्व ही नहीं रखता, बल्कि इसका अपना वैज्ञानिक महत्त्व भी है। हर लोक-गीत ठीक ठीक, ज्यों का त्यों लिखा जाना चाहिये।

जैसा कि स्वर्गीय लाला लाजपतराय ने अपने एक पत्र में लिखा था—"देश का सच्चा इतिहास और उसका नैतिक और सामाजिक आदर्श इन गीतों में इतना अधिक बन्द है कि इनका नाश हमारे लिये बड़े दुर्भाग्य की बात होगी। ग्राम-गीतों में जो प्राचीन गाथायें उपलब्ध हैं, हम उन सब को खोते जा रहे हैं।"[६]

बुन्देलखण्डी लोक-गीतों का अध्ययन करते समय बुन्देलखण्ड का समस्त मान-अपमान, सुख-दुःख, धार्मिक विश्वास, रीति-रिवाज सब हमारी आँखों में फिर जाते हैं। अध्ययन-पद्धति का वैज्ञानिक होना अत्यन्त आवश्यक है।

२

लोक-गीतों से कहीं अधिक लोक-जीवन की पृष्ठ-भूमि का ध्यान रखकर चलना होगा। यह कहा जा सकता है कि लोक-गीतों का बचपन धर्म की छाया में व्यतीत होता है। गीतों की काफ़ी संख्या ऐसी मिलेगी, जिनका जन्म पूजा-पर्व-त्योहारों तथा व्रतों के साथ होता है। कुल-देवताओं की पूजाओं के गिर्द घूमने वाले गीतों में जनता के रीति-रिवाज हमें अपनी आत्म-कथा सुना देते हैं। जन्म, विवाह तथा मृत्यु सम्बन्धी अन्धविश्वास, शकुन-अशकुन भूत-प्रेतों की पूजा के मन्त्र और गीत, जादू-टोने और पशु-पक्षियों तथा पेड़ों सम्बन्धी विश्वास—इन सब के अध्ययन से हम बुन्देलखण्ड की नब्ज़ पर हाथ रख सकते हैं। इस श्रेणी के मुख्य गीत हैं—

१ माता के भजन
२ कार्तिक के गीत
३ बाबा के गीत
४ नौरता-गीत

वीर गाथाओं का अलग स्थान है। इनके कथा गीतों (ballads) के मुख्य विभाग हैं—

१ राछरे
२ पँवारे

एक और श्रेणी यों हो सकती है—

१ लोरियाँ
२ बच्चों की तुकबन्दियाँ तथा खेल-गीत फिर संस्कार-गीत—

१ सोहरे
२ विवाह-गीत—साजन, बनरा, बधाई और गारी, फिर ऋतु-गीत—

१ सावन और मालारें
२ बिलवारी—क्वार में
३ दिवाली—कार्तिक
४ फागें। ये चार प्रकार की होती हैं—१ सखयाऊ फागें, २ खुरयाऊ फागें, ३ चौकड़याऊ फागें और ४ छन्दयाऊ फागें।

इनके अलावा रसियों और दादरों का अपना स्थान है। लेदें भी बहुत शौक़ से गाई जाती हैं। 'सैरों' को हम खेतों की कविता कह सकते हैं।

अलग अलग जातियों के कुछ विशेष गीत भी मिलते हैं, जैसे धोबियों के 'धुबयाऊ', ढीमरों के 'ढीमरयाऊ'; गड़रियों के 'गड़रायाऊ'।

इनके अलावा—

१ लोक-नृत्यों के गीत
२ विभिन्न कथा-गीत (ballads)
३ लोक-नाटकों के गीत
४ लोक-कथाओं में प्रयोग किये हुये दोहे और अन्य छोटे गीत

"रात्रि की गम्भीर निस्तब्धता में यदि आप कभी पहली बार ढफ और झाँझ की आवाज़ के

६—'कविता-कौमुदी' [पाँचवाँ भाग] भूमिका पृ० ७७।

साथ 'हो-ओ-ओ-ओ' की गूंजती हुई तान सुनें, तो आप को ऐसा जान पड़ेगा कि जंगल के भूत-प्रेत जगाये जा रहे हैं। परन्तु यह वास्तव में 'कान्हा घँघरे का राछुरा' गाया जा रहा है। आपका जी चाहे तो आप इस राछुरे को 'अहीरों का काव्य' कह सकते हैं, क्योंकि इसकी नायिका एक अहीर की कन्या है। परन्तु बात यहीं ख़तम नहीं हो जाती। आइये, हम इस बात का पता लगायें कि यह 'कान्हा घँघरा' आख़िर था कौन और यह भी देखें कि जिस देहाती कवि ने उसे अपने काव्य का नायक बनाया है, वह कैसे समाज में रहता है और कैसी विचार तरंगे उसके हृदय-मानस में उठ रही थीं। अहीरों के इस काव्य का अध्ययन करके हम यह पता लगा सकते हैं। इस विषय पर एक लेख ही लिखा जा सकता है, जो मनोरंजक होने के साथ ही शिक्षाप्रद भी होगा। परन्तु इस कार्य को हर कोई नहीं कर सकता।

"किसी भी ग्राम-गीत का साहित्यिक मूल्य आँकना बड़ा कठिन है। साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि ऐतिहासिक दृष्टि से उसका क्या महत्त्व है। वास्तव में इन दोनों के बीच कोई रेखा नहीं खींची जा सकती। एक सुन्दर ग्राम-कहानी कला की श्रेष्ठ वस्तु हो सकती है। इसका परिचय हमें टालस्टाय की उन कहानियों से मिल सकता है, जिन्हें रूसी किसानों के मुख से सुनकर उसने अपने ढँग से लिख दिया है। साथ ही इस तरह की कहानियाँ ऐतिहासिक दृष्टि से हमारे लिये महत्त्वपूर्ण हो सकती हैं।

"हमारे प्रान्त में अज्ञात काल से जो राछुरे, पवारे, देवी के भजन आदि प्रचलित हैं, वे तो हमारी प्राचीन संस्कृति के भग्नावशेष हैं। उनमें हमारे समाज और भाषा के विकास का इतिहास छिपा पड़ा है। ये गीत कब बने, किसने इनकी रचना की, इसका कुछ पता नहीं। परन्तु वे मानव-सभ्यता के किसी बीते हुये युग की स्मृति हमें दिलाते हैं। ज़रा देखिये, अतीत का यह कवि जब कभी अपनी नायिका या नायक की यात्रा का वर्णन करता है, तो वह कोस या दो कोस का प्रयोग न करके कहता है :—

इक बन चाली, दोय बन चाली,
तीजे वहां पहुंची, हो...ओ जाय।

क्या ये पंक्तियां हमें सभ्यता की उस अवस्था का परिचय नहीं देतीं, जब सड़कें नहीं थीं, और मनुष्य को सघन बनों में होकर ही अपनी यात्रा का अधिकाश भाग तै करना पड़ता था ? इसीलिये तो कवि कहता है, 'उसकी नायिका एक बन चली, दो बन चली, और तीसरा बन पार करके वह अपने स्थान पर पहुंची।'"[७]

३

बुन्देलखण्ड का सामूहिक व्यक्तित्व यहां के लोक-साहित्य ही में अधिक प्रतिबिम्बित होता है। यहाँ के जंगलों, पहाड़ों, दरियाओं और सरोवरों ने शताब्दियों से उस रक्त को पैदा करने में मदद दी है, जो बुन्देलखण्ड की धमनियों में आज भी बह रहा है—वह है यहाँ का परम्परागत मौखिक साहित्य, यहाँ का वाङ्मय, जिसकी रक्षा के लिये केवल साहित्य-सेवी ही नहीं, बल्कि भाषातत्त्वज्ञ भी अपना सहयोग दे सकते हैं। यह बुन्देलखण्ड की आत्मा को हमारे सामने ले आता है।

पुरानी खेरी (टीकमगढ़) के नन्हें धोबी ने 'घनसिंह का गीत' बड़े मधुर और करुण स्वरों में गा सुनाया था। वह कपड़े धो रहा था और उसका मन पीछे की ओर झांक रहा था—जाने कितने वर्ष पीछे की ओर ! और बुन्देलखण्ड के इतिहास का एक पृष्ठ, जो उसके गीत में अंकित था, सरोवर की लहरों से खेलता नज़र आता था।

तेरी मत कौने हरी, घनसिंघ !
तेरी मत कौने हरी ?

७—श्री कृष्णानन्द गुप्त ग्राम-साहित्य 'मधुकर' १ मार्च १९४१

१ औंकत बछेरा पलानियौं,[८]
बरजत भये असवार
जातन मारो गौर को
गढ़ एरछ के मैदान।
तेरी मत कौने हरी, धनसिंघ !
तेरी मत कौने हरी ?

२ माता पकरें फैंटरी[९]
बैन घोडे की बाग
रानी बोले धनसिंघ की
मोए कौन की करकें जात ?
तेरी मत कौने हरी, धनसिंघ !
तेरी मत कौने हरी, ?

३ माता को गाली दई
बैंदुल[१०] को दयो ललकार
'बैठी जो रहियो, रानी सतखण्डा !
मोतिन से [११] भरा देऊँ माग।'
तेरी मत कौने हरी धनसिंघ !
तेरी मत कौने हरी ?

४ डेरी[१२] बोली टीटही[१३]
दाइनीं बोली सिहार[१४]
सिर के सामे[१५] तीतर बोले—
'पर भू में[१६] मरन काए जात ?'[१७]
तेरी मत कौने हरी, धनसिंघ !
तेरी मत कौने हरी ?

५ कोऊ जो मेले ढेरी ढेरां
कोऊ जिल्ला के बाग
जा मेले धनसिंघ जू
जां डटे कसब[१८] के पाल[१९]
तेरी मत कौने हरी, धनसिंघ !
तेरी मत कौने हरी ?

६ पैले मते भये ओरछे[२०]
दूजे बरुया के बदान
तीजे मते भये पाल में
सो मर गये कुंवर धनसिंघ !
तेरी मत कौने हरी, धनसिंघ !
तेरी मत कौने हरी ?

७ भागन लागे भागेलुया
उड़ रई गुलाबी धूर
रानी देखे धनसिंघ की
घोरो आगो उबीनी पीठ ![२१]
तेरी मत कौने हरी, धनसिंघ !
तेरी मत कौने हरी ?

८ काटौं बछेरा तारी बजखुरीं[२२]
मेटौं कनक और दार[२३]
मेरे स्वामी जुझवाय के
तैं आय बन्धो घुरसार
तेरी मत कौने हरी, धनसिंघ !
तेरी मत कौने हरी ?

९ 'काय को काटो, रानी, बजखुरी ?
काय मेटौ कनक औ' दार ?
दगा जो होगौ पाल में[२४]
मो पै होनेई न पाये असवार !'[२५]
तेरी मत कौने हरी, धनसिंघ ![२६]
तेरी मत कौने हरी ?

आखिर यह कुँवर धनसिंह थे कौन, जिसकी याद में एक नन्हें घोड़ी ही की आँखों में नहीं, बल्कि समस्त बुन्देलखण्ड की आंखों में आँसू आ जाते हैं ! और जब लोक-कवि यह बताता है कि धनसिंह ने

८ पलान कसा　९ कमरबन्द　१० बहन　११ मोतियों से　१२ बाई ओर　१३ टिटिहरी　१४ सियार　१५ सामने　१६ पराई भूमि पर　१७ क्यों जाते हो　१८ एक वस्त्र विशेष　१९ तम्बू

२० पहली सलाह ओरछे में हुई　२१ घोड़ा खाली पीठ के साथ आ गया　२२ हे बछेटे, तेरी खुरियों के ऊपरी भाग काट डालूं　२३ गेहूं और दाल [दाना] देना बन्द करदूं　२४ तम्बू में धोखा हुआ　२५ वे मुझ पर सवार ही न हो पाये थे　२६ तेरी बुद्धि किस ने हर ली, धनसिंह ?

छींकते हुये पलान कसा था और वह मना किये जाने की परवा न करते हुये घोड़े पर सवार हो गया था, और रास्ते में उसके बाईं ओर टिटिहरी बोल उठी थी, और दाईं ओर गीदड़ चिल्लाने लगा था, तो हम किसी एक व्यक्ति या परिवार के नहीं, बल्कि समस्त बुन्देलखण्ड के पुरातन अशकुनों का परिचय पा लेते हैं। घोड़े का यह उत्तर कि धनसिंह धोखे से मारा गया और स्वयं उसका इसमें कुछ क़सूर नहीं, काफ़ी प्रभावकारी है।

बुन्देलखण्ड ने "बड़े ही प्राचीन काल से लेकर ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ काल तक अनेक प्रभावशाली राज्यों का उत्थान और पतन देखा है। यह क्षेत्र सदा साहसी वीरों का लीला-क्षेत्र रहा है। इसकी भूमि रक्त से सदैव सिंचित रहने के कारण प्रायः रक्तवर्ण ही रही है। उत्तरापथ और दक्षिणापथ का कटिबन्ध होने से यहाँ का इतिहास भी देश के इतिहास में एक विशेष महत्त्व रखता है ..." [२७]

इतिहास की बड़ी बड़ी बातें नन्हें धोधो क्या जाने, पर शायद धनसिंह के गीत की तरह के और गीत भी वह गाया करता है। धनसिंह कोई काल्पनिक वीर नहीं है, यह वह समझता है और उसके साहस का इतिहास उसके मन में सुरक्षित है।

और खेतों में 'सैरे' गाये जाते हैं। सीधे-सादे, नपे-तुले, घरेलू शब्दों के साथ किसान-कवि धीमा हल चलाये जाता है, कभी कभी इन गीतों में व्यंग्य भी समाया रहता है। जी चाहता है बढ़कर किसान को गले लगा लें। उसकी रग-रग में प्रकृति-प्रेम भरा है। वह जंगली सागों की मूक भाषा ख़ूब समझता है :—

> चौंरई नौरपा तोरे दिन कढ़ गये
> कनकऊथा लहरियाँ लेय
> ठाड़ो घूमा बिनती करे—
> 'मोरी तोरे फुदरिया कोय।'

२७ स्व० श्री कृष्ण बलदेव वर्मा, बुन्देलखण्डीय इतिहास के साधन, 'मधुकर', १ जनवरी १९४१

चौंरई (चौलाई), नौरपा, कनकऊथा और घूमा, ये सब जंगली साग हैं। नौरपा काँटेदार होता है और ग्रीष्म में उगता है। कनकऊथा और घूमा वर्षा ऋतु के साग हैं; घूमा अपने पत्तों और सफ़ेद फूलों समेत पका कर खाया जाता है।

—'ओ चौलाई और नौरपा, तुम्हारे दिन बीत गये। कनकऊथा लहरा रहा है। घूमा खड़ा बिनती कर रहा है—कोई मेरी फुदिया तोड़ ले।'

वर्षाऋतु सुहावनी है। ये जो कनकऊथा और घूमा लहरा रहे हैं, शताब्दियों से किसान इन्हें जानते हैं, इन्हें पकाकर खाते आये हैं। और यह गीत कोई आज का नहीं है। सब लोग 'घूमा' खाते हैं घूमा स्वयं जो कहता है—मुझे तोड़ लो, खा लो पकाकर।

जीवन-पथ के एक-एक मोड़ पर लोक-गीत में नई चेतना आती रहती है। और लोक गीत की रचना बुन्देलखण्ड में आज भी जारी है :—

> अगरेजी परी, गोरी, गम खानें!
> काहां बने चौंकी काहां बने थाने?
> काहां जो बन गये वे जेरखाने!
> अगरेजी परी, गोरी, गम खाने!
> अंगीत बनी चौंकी पछीत बने थाने
> बा के देरी पै बन गये जेरखाने!
> अगरेजी परी, गोरी, गम खाने!

टीकमगढ़ की जमुनियाँ बरेठन यह 'दादरो' गाया करती है। शायद यह गीत उसी का बनाया हुआ है, मैंने बहुत पूछा, उत्तर में वह केवल हँसती रही। एक पति अपनी स्त्री से कहता है कि अंग्रेज़ी राज शुरू हो गया है। आगे पुलिस की चौकी बन गई, पीछे थाना बन गया। घर की देहली के क़रीब ही जेलखाना मौजूद है। मुहब्बत के गीत जमुनिया को अब याद नहीं रहते। भूख और ग़रीबी के बोल उस के गीतों की विशेषता हैं। और अब तो 'फाग' जैसे खुशी के गीत में भी ग़रीबी बोल उठती है:—

गोहूँ हुते सो हो गये
भुस ले गई आंदवार
टोटे में टलवा गये
बाढ़ी में खगवार—
जरीवाने में लिख लौ दोई जोबना !

—'गेहूं था वह ख़त्म हो गया। भूसे को झक्कड़ उड़ा ले गया। घाटे में बैल बिक गये। बनिये को 'बाढ़ी' का अनाज लौटाने में मेरी हँसली भी चली गई। अब (लगान न चुका सकने के) जुरमाने में मेरे दोनों उरोज लिख लो!'

यह एक स्त्री की आवाज़ नहीं, समस्त जनता की आवाज़ है। इसे क्या हम एक व्यंग्य के रूप में देखें। यह दबी हुई, पिसी हुई जनता आने कब तक अपने उरोज पेश करती रहेगी।[२८] श्रद्धेय बनारसीदास चतुर्वेदी जी के शब्द मेरे मन में गूंज उठते हैं, "प्रत्येक ग्राम में स्वाधीन प्रजातन्त्र स्थापित करना होगा।" और यह तो ज़ाहिर है कि ग़रीब बुन्देलखण्ड मूक नहीं है।

२८ सिलसिले के लिये देखिये 'फिर बुन्देलखण्ड में' [विशाल भारत, जनवरी १६४०] और बुन्देलखण्ड के ग्राम गीत' [विशाल भारत, मई १६४०]



गुप्त-काल में भारतीय केश-विन्यास

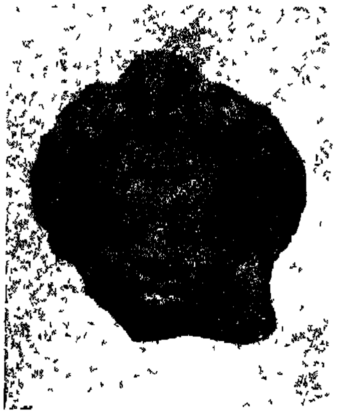
श्री विजयकृष्ण

प्रबल प्रतापी, गुणी एवं गुणग्राही गुप्त सम्राटों के लगातार कई सदियों तक के सुव्यवस्थित एवं शांतिपूर्ण शासन काल में भारत में सभी उद्योग-धंधों, कला-कौशल तथा शिल्प आदि में अनुपम उन्नति हुई थी, और निःसन्देह भारतीयों ने उन्नति की चरम सीमा को भी पार कर लिया था, जिन सबके वर्तमान समय में उपलब्ध उदाहरण ही काफ़ी चकित कर देते हैं। सम्पूर्ण वातावरण उन्नत तथा सुसंस्कृत होने के कारण लोगों का रहन-सहन भी उस काल में वैसा ही कलापूर्ण और शृंगारित हो गया था, जिसमें केश-रचना का तो विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान था। लोग अधिकतर लंबे बाल ही रखना पसंद करते थे और प्रायः नंगे सिर रहने के कारण वे उसे विविध प्रकार से संवारते थे। स्त्रियों एवं पुरुषों के केश-विन्यास में अंतर तो बहुत था, किन्तु इस समय के उपलब्ध प्रमाणों द्वारा उनका वर्गीकरण प्राय. कठिन ही है। हां, एक बात अवश्य थी कि पुरुषों के बाल प्रायः खुले प्रकार के और स्त्रियों के बाल बंधे हुए होते थे। गुप्तकालीन मूर्तियों, मिट्टी के खिलौनों तथा अजन्ता एवं अन्य गुप्तकालीन गुफाओं के भित्ति-चित्रों को देखने से उस काल में प्रचलित केश-रचना के बीसों प्रकार ज्ञात होते हैं।

सभी प्रकार के केश-विन्यास में मोतियों की लड़ी या गजरे, सोने चाँदी का बादला या पतला तार, रंग विरंगा रेशम तथा सूत काम में लाया जाता था। गुप्तकाल के कवियों ने अलकों के वर्णन में प्रायः "मुक्ताजाल ग्रथित" विशेषण का प्रयोग किया है। आज कल केश-विन्यास को स्थिर रखने के लिए जिस प्रकार पतले रेशम की जाली काम में लाई जाती है, वैसे ही उस काल में संभवतः मोती गुथी हुई जाली भी काम आती थी। इन सब उत्कृष्ट तथा मनोहर केश-रचना का तत्कालीन साहित्य में जो वर्णन मिलता है, उससे तो उसका हम अनुमान कर ही सकते हैं, यद्यपि वास्तविक दृश्य का सामने आना तो प्रायः असंभव-सा ही है।

मांग के लिए कालिदास ने "सीमंत" लिखा है और मल्लिनाथ ने इसका अर्थ "मस्तक-केशवीथी" किया है। आज कल स्त्रियाँ जो जूड़ा सिर के पीछे बाँधती हैं, उसके लिए कालिदास ने "चूड़ापाश" शब्द लिखा है। उत्तर मेघ (मेघ दूत) के दूसरे श्लोक में तो अलक, चूड़ापाश तथा सीमंत, तीनों के विभिन्न फूलों से शृंगार का एक ही जगह सुंदर वर्णन किया है।

आम तौर से माँग के दोनों ओर घुंघराले बाल फूल की कलियों की पंक्ति की तरह सजाए जाते थे। (चित्र सं १) मांग कभी सँकरी और कभी खूब फैली

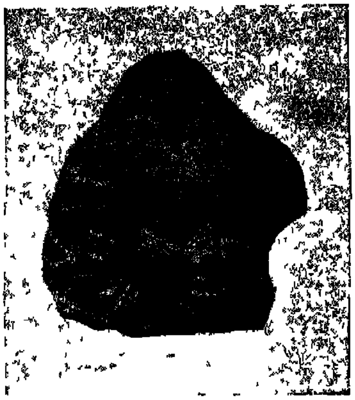


चित्र सं १

हुई रखी जाती थी। उसके बीच में स्त्रियां तरह तरह के आभूषण भी पहनती थीं। आभूषणों का रूप या तो सादा किसी खिले या अधखिले फूल-सा या तितली अथवा भौंरे के समान होता था। इन आभूषणों के साथ कभी कभी लटकन भी होता था, जो ललाट पर

लटका हुआ हिला करता था। बाणभट्ट ने इस प्रकार के आभूषण को चटुला-तिलक कहा है।

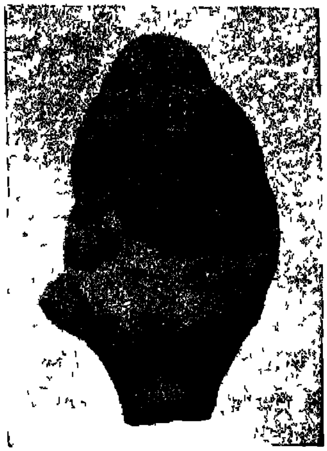
बीच में माग निकाल कर दोनों ओर पटिया बनाने की प्रथा जैसी आज है, वैसी उस काल में भी थी। बाल जब छोटे होते थे तभी से उन्हें सवारने लगते थे ताकि आगे कठिनाई न हो। इस प्रारंभिक दशा में भी कलापूर्ण विन्यास का ध्यान रखा जाता था। (चित्र सं २) चित्र में बालों के उठे हुए छोर



चित्र स २

मोर की ऊपर उठी हुई फहराती पूँछ की तरह कितने सुन्दर मालूम होते हैं। बढे हुए बाल को दोनों बगल कई प्रकार से लटकाते थे, जिनमें से अधिकाश आज कल के जजों आदि की विग (Wig) से बहुत कुछ मिलते हैं। (चित्र स ३) बालों को पीछे न लटका कर जूड़ा भी बना लिया जाता था, जो आजकल की तरह ठीक पीछे नीचे न होकर सिर की सतह से कुछ ऊपर उठा रहता था। इस प्रकार का जूड़ा बंगाल के कुछ भागों में अभी भी प्रचलित है; किन्तु अब धीरे धीरे लोप हो रहा है।

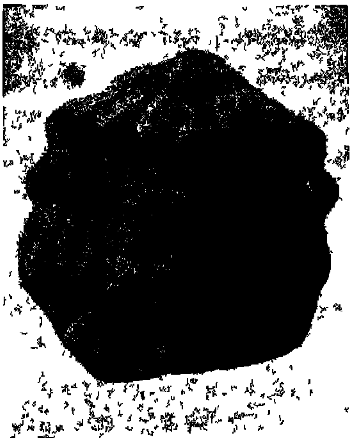
घूघरदार बाल तो प्राय: सभी रखते थे, किन्तु इसे बहुत तरह का बनाते थे और उनका विन्यास भी बहुत प्रकार से किया जाता था। संस्कृत में घूघर को अलक कहते हैं। कालिदास तथा बाणभट्ट के ग्रंथों में अलकावलि का वर्णन बहुत है। अमरकोष में अलक का स्वरूप—अलकाश्चूर्ण कुंतलाः—लिखा है, अर्थात् तरह तरह के चूर्ण के प्रयोग से अलक बनाए जाते थे। भारत के बहुत से भागों में अभी भी यह प्रथा प्रचलित है। पाश्चात्य देशों तथा सारे फ़ैशनेबुल समाज में भी बाल को घुघराला करने एव उसे स्थायी रखने के लिए इसी तरह चूर्ण का प्रयोग होता है, जिसे शैम्पू पाउडर (Shampoo Powders) कहते हैं।



चित्र सं ३

शुद्ध घूघर-विन्यास में मांग के दोनों ओर केवल बलखाए हुए बालों की कुछ समानान्तर पंक्तिया भौंह की सीध से लेकर कान के पीछे तक एव ऊपर से नीचे तक होती थीं। छतरीदार-घूघर-विन्यास एक विचित्र प्रकार था, जिसमें घूघरों की आपस में सटी हुई पंक्तिया सिर पर अर्धवृत्त की तरह घूमती हुई क़रीब क़रीब सिर के पीछे तक चली जाती हैं और लगभग छोटी खुली हुई छतरी-सी मालूम होती हैं (चित्र सं ४)। यह प्रथा विशेषतः पुरुषों में प्रचलित थी। स्त्रियों में एक बहुत ही उत्कृष्ट प्रकार के केश-विन्यास का रिवाज़ था, जिसमें मांग के दोनों ओर के बाल शहद के छत्ते की तरह झझरीदार प्रगट होने वाले बनाए जाते थे (चित्र सं ५)। प्राचीन रोम की संभ्रान्त युवतियों में भी इस प्रकार के केश-विन्यास का बहुत

अधिक एवं प्रिय रिवाज़ था। इस शृंगारित विन्यास के लिए आवश्यक अनुभव, समय और साधन एवं उसके वास्तविक सौन्दर्य का अनुमान भी करना प्रायः कठिन ही है।



चित्र सं ४

सिर पर बाल को एकत्र करके अनेक प्रकार से बांधने की भी प्रथा काफी प्रचलित थी। इसे संस्कृत



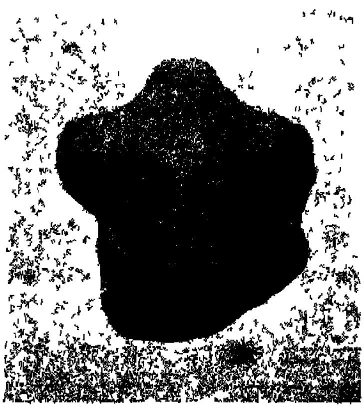
चित्र सं ५

में मौलि कहते हैं। मौलि में फूल अक्सर गूंथे जाते थे। कालिदास ने रघुवंश में "मुक्तागुणोन्नद्ध अंतर्गत स्रजमौलि" का उल्लेख किया है। प्रस्तुत चित्र (चित्र सं ६) में सिर पर आभूषणयुक्त मौलि और दोनों ओर उससे निकले हुए घुंघराले बाल पंक्तिबद्ध लटकन की तरह लटके हैं।



चित्र सं ६

बाल्यावस्था में सिर पर तीन चोटी करने की प्रथा, जैसी कहीं कहीं आजकल है, वैसी प्रथा उस समय बहुत प्रचलित थी। किशोरावस्था में इन्हीं तीन चोटियों के बदले बाल को उन्हीं तीनों स्थानों पर बांध दिया जाता था। चित्र सं ७ में चेहरा अवस्था के अनुरूप कैसा प्रफुल्ल और फुर्तीला जंचता है।



चित्र सं ७

इस लेख के सब चित्र राजघाट [काशी] से प्राप्त मिट्टी के मस्तकों के हैं, जो भारत कला भवन, काशी में प्रदर्शित हैं।

परिव्राजक

कुमारी दिनेशनन्दिनी चोरड्या

ज्येष्ठ की दुपहरिया-सा मन भारी था, भरे हुए बादल न बरसते थे और न बिखर कर हगाकाशको ही साफ होने देते थे। इच्छायें मृगतृष्णा पर अटकी थीं, जीवन की रस-धार सूख रही थी, दुःख की बात न मुंह से निकलती थी, न अब सहन ही हो सकती थी, मूक आहें नित बरजोरी से बाहर निकल आतीं, मानों स्मृति-घट उफन कर घावों को व्यर्थ धोने का प्रयास करता था।

इस कमज़ोर मन की कायरता मुझे परवश बनाये थी—जगती की निष्ठुर भृंगिया इस व्यथा को कैसे समझतीं जब वे स्वयं इससे अनजान थीं! उनकी पुलक को यदि मेरी भींगी पलकें दुःख-सुख का भार लिये केवल एक बार छू सकतीं! इस अमित व्यथा के कण कण में जो प्यार सिंचित है, उसकी छाया उन तक पहुँच सकती तो···

उस दिन की छोटी-सी घटना जीवन का इतना महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण करेगी, यह कौन जानता था! शीतल तृषा में इतनी भयंकर ज्वाला होगी, इसकी कल्पना मुझे न हो सकी; अकस्मात जब उनके स्पर्ष ने मेरे सोये हुए शव में रोमाँच भर दिया और काया थर थर कापने लगी और ग्राम्य वधू की तरह मन ने लज्जा का अवगुंठन ओढ लिया, अन्तर के चिर जग में उषा आई और फिर से बसन्त फूट पड़ा, तब मुझे उनकी शक्ति का ज्ञान हुआ। हृदय में निरन्तर जलने वाले शोले का बीज बोकर मैंने समझा वे अदृश्य हो गये हैं—परन्तु भाग्य से उस दिन फिर भेंट हो गई।

मेरी भावुकता ने मुझे चैन नहीं लेने दिया। पता लगा कर मैं फिर उनके पास पहुंची। बड़ी जल्दी में आई हूं और शीघ्र ही चली जाना चाहती हूं ऐसा ही भाव बना कर पहुँची। वे आधा सोते और आधा जागते बैठे थे। मैं मन की पुस्तक पढ़ सकती तो पढ कर बताती कि वे क्या सोच रहे थे। मैं केवल एक चिर मुस्कान के सिवाय वहां कुछ भी न देख पाई। हमेशा से अधिक गम्भीर थे वे।

मैंने कहा "आपने इस बार मुझे अपने आने की कोई खबर न दी और न आज तक कोई पत्र ही भेजा, यही मैं जानना चाहती हूँ!" "तुम्हें खबर देने की विशेष आवश्यकता नहीं मालूम हुई" उन्होंने कहा। इस सूखे उत्तर से मेरा समाधान न हुआ। बोलने के ढङ्ग से मैंने यह भी समझ लिया कि वे मेरे प्रति उदासीन हैं। आहत हृदय को ठेस-सी लगी। फिर बात करने की गरज़ से मैंने कहा "आप का वक्तव्य मैंने कुछ दिनों पहले पढ़ा। उसे पढ़कर मैं मुग्ध-सी हो गई। मेरी आन्तरिक कृतज्ञता चन्द्रमा के अस्पष्ट प्रकाश में आपका अभिनन्दन कर आपके जीवन पर श्रद्धा के फूल चढ़ाती रही।"

"मैंने भी तुम्हारी कहानी पढ़ी, परन्तु मुझे तो वह अधिक पसन्द नहीं आई। तुम्हारी लेखनी में पक्षपात है। तुम स्त्रियों के प्रेम, उनके त्याग तथा उनकी मधुरिमा का मार्मिक शब्दों में वर्णन करती हो—किन्तु तुम पुरुषों के बारे में जो कुछ लिखती हो, वह निराधार है। केवल अपने वर्ग की सहानुभूति पाने के लिये तुम इस प्रपच की रचना करती हो, क्यों?"

"जी नहीं, अपने पात्र की सम्पूर्ण कल्पना पहले मानस में करती हूं तब उसे काग़ज पर उतारती हूं। मैं अपने अभिव्यक्ति के अणु-परमाणुओं को ठीक से परख कर ही जनता के सामने रखने का साहस करती हू।" मैंने संक्षेप में कहा। 'और ये सब बातें जाने दीजिये, पर मुझे यह तो बताइये आपने मुझे पत्र क्यों नहीं लिखा। मुझे आपकी चुप्पी ने कितना कष्ट दिया, इसका शायद आप अन्दाज़ा नहीं लगा सकते! आप अन्तर्यामी बनने का दावा करते हैं,

आपका अध्ययन इतना गहरा है, परन्तु नारी के हृदय की खुली पुस्तक भी आप नहीं पढ सकते, क्यों ?"

थोड़ी देर चुप रह कर वे बोले "तुम मेरे न लिखने अथवा आने की ख़बर न देने का कारण जानना चाहती हो ?"

"यही जानने का तो मैं आप से आग्रह कर रही हूं, अन्यथा मैं आपका अमूल्य समय ख़राब क्यों करती ?"

"तुम्हारा उस दिन का व्यवहार अच्छा नहीं था, और उसी को ध्यान में रखते हुये मैंने निश्चय-सा कर लिया था कि मैं अब तुमसे कोई सम्बन्ध नहीं रखूंगा।"

"किस दिन का बर्ताव ? मैंने आपसे क्या कहा ? मैंने तो आप पर हृदय से श्रद्धा के पुष्प चढ़ाये हैं ! आप के प्रति बुरा बर्ताव ? ज़रा समझा कर कहिये !" मैंने भर्राये कंठ से पूछा।

पर वे वैसे ही शान्त रहे। उन्होंने कहा "जब तुम नहीं समझतीं कि तुमने ऐसा कुछ किया है, तो जाने दो। अब इस पर समय बर्बाद न करो मैं भी उसे भूल जाने का प्रयास करूंगा।"

मेरी समझ में नहीं आया कि ऐसी मुझसे कौन सी ग़लती हुई, जिसे वे अब तक भूल नहीं पाये हैं। एक दिन मुझे ज्वर आया था, वे एक मित्र के यहां चाय की दावत में गये थे, मैंने वहीं से उन्हें अपने यहां निमन्त्रण दिया था। जब वे आये मेरी प्रतीक्षा के दीपक भभक उठे। किन्तु वे अकेले नहीं आये, उनके साथ उनकी एक मित्र आईं। मैं उन्हें अकेला चाहती थी। मैं जानती थी कि यदि मेरा आतप-भाल उनके हाथ का स्पर्श अनुभव कर सका, तो मैं शीघ्र ही उस व्याधि से मुक्त हो जाऊंगी। मरना भी हो तो भी मैं उनके समक्ष मरना चाहती थी। दिल की बात दिल में ही रह गई। वे भी कुछ न बोले। बात ही बात में मैं रुष्ट होगई। उन्होंने कहा कि "अकेले तुम्हीं तो विश्वास की पात्र नहीं। अधिक विश्वास है उन पर, जिन्हें मैं बरसों से जानता हूं। उन पर मेरा अधिक विश्वास कैसे न हो ? तुम्हें तो केवल दस ही दिन से पहचानने लगा हूं।" मेरे अभिमान को ठेस लगी। मैंने आहत होकर कहा—"आप मेरा विश्वास नहीं करते तो जाने दीजिये, मैं भी क्यों आपके लिये अपना समय नष्ट करू ! आपने ही तो एक बार कहा था कि ऐसा मालूम होता है जैसे जन्म-जन्मान्तर से हमारा परिचय है।"

उसके बाद वे कुछ नहीं बोले। कुछ देर मेरी पुस्तक के पन्ने उलटते रहे, फिर—"शीघ्र अच्छी हो जाना" कहकर तीर की तरह बाहर निकल गये।

वे बातें मुझे एक एक कर याद आ रही थीं और वे गम्भीरता की प्रतिमूर्ति बने न जाने क्या सोच रहे थे—मैंने ख़ामोशी तोड़ते हुए कहा—"अब जब मैं आई तब आपने मुझे क्यों आने दिया ?"

"मैं तो तुम्हें बुलाने गया नहीं और अतिथि का अपमान करना मनुष्यता नहीं।"

मुझे लगा बात बिगड़ती जा रही है, वे उन्मुक्त ठहरे, किन्तु मुझे तो बन्धनों में ही सुख मिलता है। बेसुरे तारों को मिलाने की ग़रज से मैंने कहा "मुझे क्षमा करिये। मुझे समझाइये, मैं बिलकुल नादान हूं, दुनिया के रास्तों से अनजान हूं, मुझे ज़रा भी व्यवहारिक ज्ञान नहीं। घर की चहारदीवारी पर दिन भर छाया-चित्र बनाने और बिगाड़ने में ही मैंने शैशव विदा करके यौवन का स्वागत किया है। अब आप ही मुझे जीवन का ज्ञान दीजिये ! एक बार आपने कहा था कि मैं आपके साथ खुल कर बातें कर सकती हूं। आपने ही तो मुझे यह स्वतन्त्रता दी थी; लेकिन आप ही अब नाराज़ हो गये। मुझमें तो साधारण बुद्धि भी नहीं है। मैं आप से क्षमा की भीख चाहती हूं। आप को इतनी दया तो करनी ही होगी।"

उनकी आंखें नरम हो गईं। बोले—"तुम्हारे अपराध को भूलने का प्रयत्न करूंगा।"

"तो क्या अब तक आप भूले नहीं ?"

आज तक भूला न था, तुम्हारे आने तक सारी घटना मुझे ज्यों की त्यों याद थी, किन्तु अब क़रीब क़रीब भूल रहा हूं। अच्छा और बातें करो।

परन्तु मैं बोल नहीं सकी, घर लौटने का समय हो रहा था। मैंने कहा "आज्ञा हो तो मैं कल फिर किसी समय आऊं।"

किन्तु वे ठहरे सेनानी। मिलने के लिये मुझे कोई निश्चत समय न बता सके। उन्हें हज़ार काम थे। मैंने बहुत आग्रह किया परन्तु उन्होंने निश्चित समय न दिया। अन्त में यही ठहरा कि कालेज ख़तम होने पर मैं उन्हें 'फोन' करू और यदि वे हों तो फिर आ जाऊँ।

भारी-सा दिल लेकर घर लौटी। रात भर सो न सकी। कितनी आशा और कितनी प्रतीक्षा लेकर मैंने उनके पथ पर पलकें बिछाई थीं, और वे उसे न समझ सके, या समझे हों तो भी मुझे उसका उन्होंने कोई आभास नहीं दिया। मैं छोटे बच्चे के समान फूट फूट कर तकिये पर सर रख कर रोती रही। जीवन में जितना सीखना है, वह सब रो रोकर ही सीखना पड़ता है। शायद सीख लेने के बाद ही मानव हँस सकता है।

×　　　　×　　　　×

कालेज से पुस्तक लिये हुए सीधी मैं वहीं पहुँची। वे बातों में व्यस्त थे। कुछ लोग बैठे थे। मेरा एक एक क्षण भारी हो रहा था। लोगों के जाने पर उन्होंने कहा "कहो!" मैंने पूछा "आप मेरा अपराध भूल गये न?"

"हाँ!" कह कर वे कलियों की तरह खिल-खिला कर हँस पड़े। इसी जीवन भरे हास्य ने तो मुझे बाध लिया था।

मेरी पलकें भींग रही थीं।

"क्या तुम रो रही हो!" उन्होंने पूछा।

"नहीं······"

"अच्छा, देखो रोना स्त्रियों का सबसे उत्तम और अन्तिम शस्त्र है।" फिर पुस्तकों की ओर संकेत करते हुए पूछा—"ये पुस्तकें क्या हैं!"

ये पुस्तकें मैं लाइब्रेरी से आपको दिखाने के लिये ले आई हूं।"

"तो मुझे दे दो, मैं समय पाकर पढ़ूगा।"

"नहीं, मैं ही इनमें से आपको कुछ सुनाऊँगी"—कहकर मैंने उनमें से कुछ कविताएँ पढीं। वे ध्यान से सुनते रहे।

पौने चार बज रहे थे। चार बजे की गाड़ी से उन्हें जाना था। वे अपना सामान ठीक से रख रहे थे और मैं पढ़ रही थी।

मोटर आ गई, ड्राइवर ने सामान रख दिया, वे भी तैयार हो गए, पर मेरे मन का भार न गया। वे समझ गये कि मैं अस्वस्थ हूं। मेरे पास आकर उन्होंने मेरे सर पर हाथ रखा। तब मैंने उनके विशाल वक्षःस्थल पर अपना माथा टेक दिया। मैं सुन रही थी उनके हृदय का, उनकी आत्मा का वह अविरल संगीत, जो हज़ारों मधुर नैसर्गिक संगीतों से भी अधिक मधुर था। मैं समझा सकती तो संसार को उसका अर्थ समझा कर उसकी निद्रा भंग करती, मुर्दों में जीवन का संचार करती।

कितना मुक्त, कितना युवा, कितना जाग्रत, कितना ओज भरा वह गायन था, जिसके सभी स्वर मधुर और सुरीले थे। उनमें लय था समा था और क्या नहीं था!

यदि मैं उसे सुनते सुनते जीवन के बन्धन तोड़ सकती। परन्तु मेरे भाग्य में वह बदा न था। थोड़ी ही देर में वह सुख-स्वप्न टूट गया।

मोटर द्रुतगति से निकल गई, मैं देखती ही रही। धूल के बादल चारों ओर छाकर मेरे स्वप्न को, उस चिर सत्य को ढकने का प्रयास कर रहे थे।

तब से जाने कितना समय बीत गया है। मैं उसी संगीत के कुछ चुराए तरानों को दिन भर अलापती हू, सिरहाने श्वेत प्रदीप सजोकर अपनी कल्पना को नये नये आवरण पहनाती हूं, उसे जीवन का रक्त पिलाती हू। बुझती जलती जुगुनु बालाएं मेरे सर के पास कोई मूक सन्देश कहकर निकल जाती हैं और मेरी आँखें आंसुओं का भार लिये झुकी रहती हैं···।*

---

* इसी शीर्षक की यह तीसरी कहानी है। अन्य दो दूसरी पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं।—लेखक

'अतीत के चल चित्र'

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

[१]

चाँदनी की तरह हँसती हुई महादेवी 'अतीत के चल चित्र' में आँसुओं का परिवार समेटे हुई हैं। एक ओर इतना आह्लाद, दूसरी ओर इतना विषाद !

किन्तु महादेवी ने अपने जीवन में दुःख की ही साधना ली है।

बिना किसी आध्यात्मिक केन्द्र के पार्थिव जीवन अपनी सार्थकता नहीं पाता, क्योंकि सच्चिदानन्द की ओर उन्मुख हुये बिना पार्थिव आनन्द मनुष्य को आत्मलिप्सु बना देता है और करुणाकर को जाने बिना पार्थिव दुःख व्यक्ति को आत्मविरत कर देता है। जीवन में आध्यात्मिक जागरूकता लेकर चलने पर सुख उत्सर्गशील हो जाता है और दुःख सम्वेदनशील। दोनों ही व्यक्ति को समष्टि की गति दे देते हैं; यह अन्तर की प्रगति है।

तो, महादेवी ने अपने जीवन में दुःख की साधना ली है। दुःख का आध्यात्मिक केन्द्रीयकरण उनकी कविताओं में है, उसकी पार्थिव-समवेदना उनके सामाजिक जीवन और इस सस्मरण-साहित्य में।

'अतीत के चल चित्र' में महादेवी काव्य की भाव-भूमि से समाज की अभाव-भूमि में आई हैं। यहाँ मानों उनकी समवेदना विश्व-पर्य्यटन कर रही है। महादेवी ने इससे पूर्व भी इस सामाजिक भूमि में प्रवेश किया था, अपने सम्पादन काल में 'चाद' के सम्पादकीय लेखों ('अपनी बात') द्वारा। इसीलिये 'अतीत के चल चित्र' के एक करुण प्रसग में वे कहती हैं—

'सामाजिक विकृति का बौद्धिक निरूपण मैंने अनेक बार किया है, पर जीवन की विभीषिका से मेरा यही पहला साक्षात् था।'

'चांद' के उन लेखों में यदि बौद्धिक निरूपण था, तो 'अतीत के चल चित्र' के इन संस्मरणों में आत्मद्रवण है। इन चित्रों में महादेवी गहरी व्यथा से उच्छ्वसित हो गई हैं, सामाजिक कदर्थनाओं पर व्याजस्तुति से मार्मिक व्यंग भी कर गई हैं, उनके मानसिक द्वन्द्व और मनोगत विचार भी उद्‌गत हुये हैं; सम्पूर्ण मिलाकर ये संस्मरण मर्मस्पन्दनों की व्यथा-कथा हैं।

'ग्राम्या' में पन्त जो भी उस भूमि पर हैं, जिस भूमि पर महादेवी 'अतीत के चल चित्र' में; किन्तु दोनों के दृष्टिकोणों में अन्तर है। 'ग्राम्या' मे है पर्य्यवेक्षण, 'अतीत के चल चित्र' में है संस्मरण। पन्त ने 'ग्राम्या' के चित्रों को समाजवादी राजनैतिक दृष्टिकोण से देखा है, महादेवी ने अतीत के चित्रों को अध्यात्मवादी सामाजिक दृष्टिकोण से। फलतः पन्त अपने देखे हुये चित्रों से भिन्न हो गये हैं और महादेवी अपने चित्रों से अभिन्न हो गई हैं। पन्त के मनोजगत का 'ग्राम्या' के चित्रों से पृथक् होना स्वाभाविक है, क्योंकि वे जिस युग के स्वप्नदर्शी हैं, वह युग भविष्य में अदृश्य है, साथ ही महादेवी के अन्तर्जगत का अपने अतीत के चित्रों से सादृश्य होना भी स्वाभाविक है, क्योंकि उन्हें युग को चित्रों से बहिर्भूत होकर अलग नहीं खोजना पड़ा है। 'ग्राम्या' के चित्रों में पन्त का आत्मनिर्माण नहीं है; अतीत के चित्रों में महादेवी का आत्मनिर्माण है। इसीलिये 'ग्राम्या' के पन्त द्वारा बौद्धिक सहानुभूति मिल पाना ही सम्भव हुआ, 'अतीत के चल चित्र' में महादेवी द्वारा हार्दिक सहानुभूति।

'ग्राम्या' के चित्रों से पन्त के मनोजगत का विसादृश्य होने के कारण उनके वक्तव्य प्रक्षिप्त-से लगते हैं, किन्तु महादेवी के वक्तव्यों का अपने चित्रों से सामञ्जस्य हो गया है। पन्त ने जिन्हें चित्रित किया है, अपनी बौद्धिक सहानुभूति से उनके बाह्य आकारों को ही रेखायें दी हैं, किन्तु महादेवी ने अपनी

हार्दिक सहानुभूति से बाह्य अभिव्यक्तियों में चित्रों के अभ्यन्तर की प्राणप्रतिष्ठा भी की है। 'ग्राम्या' में पन्त को जो कुछ गर्हित कुत्सित दीख पड़ा है, वह महादेवी को भी त्याज्य है, किन्तु महादेवी उन्हीं कीचड़ों में से कमल भी ले आई हैं।

यहा यह ध्यान देने की बात है कि पन्त और महादेवी—जैसे रेशमी कला के कलाकार—खद्दर जैसे खुरदुरे जीवन को भी उसकी ठेठ स्वाभाविकता में उपस्थित कर सकते हैं। जो कार्य्य द्विवेदी-युग के कवियों, विशेषत. गुप्त जी और निराला जी का था, उसे पन्त और महादेवी ने सँभाल लिया। इस दृष्टि से उस युग में सियारामशरण अपवाद हैं, वे महादेवी के चित्रित समाज के उपन्यासकार हैं।

स्थल विशेष पर पन्त और महादेवी में दृष्टि-साम्य भी है। 'ग्राम्या' में पन्त जी ने हमें जिस 'ग्राम-नारी' से परिचित कराया है—महादेवी ने उसी महीयसी नारी और उसकी तद्रूप सन्ततियों को 'चल चित्र' में व्यक्तित्व दिया है। जीवन की जिस सहजता के पन्त प्रशसक हैं; महादेवी की वही सिद्धि है। जीवन के मूल तत्वों पर पन्त और महादेवी की एक-सी निष्ठा है। पन्त जब कहते हैं—

सुन्दर विश्वासो से ही बनता रे सुखमय जीवन,
ज्यो सहज-सहज सांसो से चलता उर का मृदु स्पन्दन।

तब जीवन की सबजेक्टिव दिशा में पन्त और महादेवी में अनैक्य नहीं रह जाता।

[२]

'अतीत के चल चित्र' आयलपेन्टिंग नहीं, अश्रु चित्र हैं। अलोपी के प्रसग में महादेवी कहती हैं—'मुझे तो उसकी कथा आर्द्र भरी दृष्टि की छाया में कांपते हुए दुख-गीत की एक कड़ी-सी लगती रही है।' किन्तु इन संस्मरणों में यही कड़ी पूरी लड़ी बन गयी है।

यह पुस्तक सामाजिक विकृतियों की म्यूज़ियम है और इसीलिये करुणा की चित्रशाला भी है। इसे वे भी देख सकते हैं जिनके नेत्र मदान्ध हैं और वे भी जो अपनी आखों से दो बूद आसुओं के अर्घ्य दे सकते हैं।

इन चित्रों में निम्नवर्ग के जीवन की मुरझाई झांकियां हैं। साहित्य के माध्यम से महादेवी केवल हमारे ससार में नहीं हैं, बल्कि अपने अध्यापन और सम्वेदन के माध्यम से उनके भी संसार में हैं, जिनकी कल्पना करना आज के प्रगतिशील साहित्य की श्रेष्ठ सहृदयता समझा जाता है। बेचारा कल्पनाशील प्रगतिवादी साहित्यिक निम्नवर्ग को सहृदयता देने के बहाने स्वय भी बड़ा दयनीय बन गया है। कल तक छायावाद में वह भावों की कल्पना करता रहा है और आज प्रगतिवाद में अभावों की कल्पना कर रहा है। कल्पना उसे न तो भाव ही सुलभ कर सकी, न अभाव ही। वह मध्य वर्ग का मानसिक त्रिशंकु हो गया है। आवश्यकताओं की विवशता उसे निम्न वर्ग की ओर खींचती है, आवश्यकताओं का प्रलोभन उच्चवर्ग की ओर। फलतः उसका असन्तोष अपनी ही विभीषिका का गर्जन होकर प्रगतिवाद का स्वर बन जाना चाहता है। यह स्थिति तो मानसिक स्वास्थ्य की सूचक नहीं।

'अतीत के चल चित्र' में जिस निम्नवर्ग को महादेवी ने अपनाया है, उसके सम्बन्ध में वे कहती हैं—'इस वर्ग का जीवन खुली पुस्तक जैसा रहता है, अतः महान ही नहीं तुच्छतम आवश्यकता के अवसर पर भी उसकी कथा आदि से अन्त तक सुना देना सहज हो जाता है। इसके विपरीत हमारा जटिल से जटिलतम होता हुआ अन्तर्जगत और कृत्रिम से कृत्रिम बनता हुआ बाह्य जीवन ऐसी स्थिति उत्पन्न किये बिना नहीं रहता, जिसमें बाहर के अनुलेपन को भीतर की सड़ी-गली मछलियों से सफ़ेदी मिलने लगती है। इसी से हमारी तारतम्यहीन कथा अधिकाधिक अकथनीय बनती जाती है और सुख-दुख की सरल मार्मिकता निर्जीव होने लगती है। हम सहज भाव से अपनी उलझी कहानी कह नहीं सकते। अतः जब कहने बैठते हैं, तब कल्पना का एक-एक तार सत्य की

अनेक झंकारों की भ्रान्ति उत्पन्न करके उसे और उलझाने लगता है।'

यह मनोवैज्ञानिक तथ्य क्या आज के अनेक तथाकथित प्रगतिशील साहित्यिकों के भी सम्बन्ध में ठीक नहीं है ?

कल तक साहित्य में हम जिस शरच्चन्द्र से परिचित थे, उस शरद का प्रतिनिधित्व शेष नहीं हो गया है, वह महादेवी में और प्राजल होकर जीवित है। जिन देवियों का शरद ने औपन्यासिक चरित्र दिया है, उन्हें महादेवी ने वस्तु जगत में प्रत्यक्ष कर दिया है और इस प्रकार मानों शरद के मानस लोक को पृथ्वी का धरातल मिल गया है।

बुर्जुआ न होते हुए भी अपने युग के संस्कारों में शरद अपेक्षाकृत बुर्जुआ टाइप के कलाकार मालूम पड़ते हैं। उनके चरित्रों में एक यदि सुसम्पन्न है, तो दूसरा अकिंचन। स्त्री पुरुष के प्रेम में सम्पन्न से अकिंचन के लिये आत्मदान कराकर वे आज की सामाजिक विषमता में दोनों को बड़ी आसानी से आर्थिक समस्या की ओर से निश्चिन्त कर देते हैं। यदि दोनों ही अकिंचन होते, तो वे राह की धूल में मिल जाते, जैसे शरद की किन्हीं कहानियों में।

'शेष प्रश्न' में शरद ने समाजवादी होने का प्रयत्न किया है। अकिंचनता को उसके स्वावलम्बन में उज्ज्वल करके दिखाने का यत्न किया है, किन्तु अन्त में गरीबिनी शिवानी वैभव-कुमार अजित को ही अपनाकर शरद की पुरानी औपन्यासिक परिणतियों की पुनरावृत्ति कर देती है। यह ठीक है कि हृदय के सम्मुख धनी और निर्धन का प्रश्न नहीं है, किन्तु इस आर्थिक वैषम्य के समाज में भी चरित्र किस तरह निखर सकता है, 'शेष प्रश्न' के बाद फिर यह एक प्रश्न शेष रह जाता है। शायद शरद ने अपने किसी नवीन उपन्यास में इसका समाधान किया हो। आर्थिक सुयोग न मिलने पर स्वावलम्बन का उपयोग और मनोनुकूल पात्र से आर्थिक सुयोग मिल जाने पर उसे अपना लेना; यह तो उस अधिकांश जन-समुदाय की सामाजिक परिस्थिति नहीं हुई, जिसके जीवन में अभावों का निरन्तर दुर्योग है।

महादेवी ने इस दुर्योग को दिखलाया है। किन्तु इस प्रकार के दुर्योग-सुयोग को वे जीवन के अभाव-भराव के रूप में नहीं लेतीं; 'अतीत के चल चित्र' में उन्होंने जिस आत्मसाधना की महिमा दिखलायी है, वह इस प्रकार की स्थितियों की मोहताज नहीं। इन चित्रों में निपट अकिंचनता की ही कथाएँ हैं, इसी के भीतर से चरित्रों की साधना अश्रुओं के मेघ से ढँके मुख पर चन्द्रकिरण की तरह फूटी है। दीन-हीनों को उनके स्वावलम्बन में ही रखकर महादेवी ने उनकी आत्मा की आभा विकीर्ण की है।

परिस्थितियों के दुर्योग और सुयोग में जो जीवन के दुख-सुख को देखते हैं, शिक्षा और संस्कार में उन्नत कहे जाने वाले उन स्त्री-पुरुषों से 'अतीत के चल चित्र' के निर्म्मल चरित्र भिन्न हैं। ये अशिक्षित किन्तु अपनी आत्मा में उन्नत प्राणी ऐसे मूढ़ हैं, 'जिन्हें न व्यापै जगत-गति।' चाहे वर्गवैषम्य हो, चाहे स्वभाव-वैषम्य, ये अपनी लौ में लवलीन हैं। यह वह साधना है, जो न तो वैभव से विक्षिप्त हो जाती है, न अकिंचनता से कुण्ठित। यदि शिक्षा और संस्कारिता का धरातल नहीं है, जहां जीवन के बाह्य द्वन्द्व ही प्रधान हो गये हैं, तो उसका परिचय हम इन मूढ़ प्राणियों को देकर कोई बड़ा काम तो नहीं करेंगे।

फिर भी यथार्थवादी दृष्टिकोण से महादेवी के सामने यह प्रश्न आ सकता है कि जिन चरित्रों को उन्होंने उनके स्वावलम्बन में प्रस्फुटित किया है, यदि आज के विषम युग में उनके स्वावलम्बन का भी पथ अवरुद्ध हो जाय तो ?—तब महादेवी कदाचित प्रतिक्रियावादी नहीं होंगी। आदर्शों की उनकी पुरागामिता जीवन के कल्याण-पक्ष के लिये है, अनिष्ट-पक्ष के लिये नहीं। वर्ग-चेतना के प्रति महादेवी उदासीन नहीं। सबिया के प्रसंग का एक संलाप इसका सूचक है। कर्त्तव्य की मूर्ति साध्वी सबिया के अयोग्य पति को लक्ष्य कर एक वकील-पत्नी का प्रश्न

था—'आप चोरों की औरतों को क्यों नौकर रख लेती हैं?'—महादेवी का उत्तर था—'यदि दूसरे के धन को किसी न किसी प्रकार अपना बना लेने का नाम चोरी है, तो मैं जानना चाहती हूं कि हम में से कौन सम्पन्न महिला चोर-पत्नी नहीं कही जा सकती?'—यह उत्तर तो किसी प्रतिक्रियावादी के मुँह से नहीं निकल सकता था।

किन्तु इस वाह्य समस्या के पूर्व महादेवी व्यक्ति की आत्मसाधना पर अधिक ज़ोर देती हैं। इसका आवजेक्टिव पक्ष यह होगा कि आत्मसाधना में हमें जिस प्रकार सहज जीवी होना है, उसी प्रकार लोक-साधना में भी। वहिर्जगत में सांसारिक जटिलता तब बढ़ती है, जब जीवन में उपभोग ही प्रधान हो जाता है। वीतराग होकर हम लोक से भागें तो नहीं, किन्तु राग रहित अनुरागिता को जीवन का निरपेक्ष दृष्टिकोण बना लेने पर आत्म-साधना और लोक-साधना दोनों में मनुष्य सहज जीवी हो सकता है।

समूह व्यक्तियों का सगठन ही तो है, अतएव महादेवी सामूहिक चेतना के लिये पहिले वैयक्तिक आत्मनिर्माण चाहती हैं। यह ऐसा ही है, जैसे सत्याग्रह के पूर्व सत्याग्रह की पात्रता। इसे चाहे हम अध्यात्मवाद कहें, चाहे गान्धीवाद; इसी स्टेज पर पहुँचकर लोक-कल्याण के किसी भी सत्प्रयत्न के प्रति मनुष्य 'हार्दिक' हो सकेगा। अन्यथा, मूल रहित होकर केवल 'मूल्य' पर चले जाने से तो क्रान्ति-प्रतिक्रान्ति का तारतम्य टूटने का नहीं। साधना के उसी स्टेज से पन्त वहिर्जगत में जाकर प्रवासी हो गये हैं और महादेवी अपने आवास को भूल नहीं सकी हैं, बस इतना ही इनमें अन्तर है।

मूल्य केवल साधन रहे, साध्य नहीं। साध्य को प्रतिष्ठित रखकर जीवित रहने के किसी भी सामूहिक सत्प्रयत्न के प्रति महादेवी की कोटि के किसी भी व्यक्ति को क्या एतराज़ हो सकता है!

[३]

हमारे साहित्य में पुरुष की आँखों से देखा हुआ समाज पर्य्याप्त आ चुका है, किन्तु यह पहला गम्भीर प्रयत्न है, जो नारी की आँखों से समाज का चित्रोद्घाटन करता है। शरद ने समाज की जिस मर्य्यादा का भार देवियों के कन्धों पर डाल दिया है, 'अतीत के चल चित्र' में महादेवी ने उसे ही सँभाला है। स्वभावतः महादेवी ने नारी से उसकी आत्मसाधना में साक्षात् कराया है। शरद के श्रीकान्त, देवदास और सतीश भी तो ऐसी ही देवियों की गरिमा के ममतालु हैं। उनकी वाह्य सामाजिक विशृंखलता इन्हीं की स्नेह शृंखला से तो आन्तरिक छन्द पा गई है।

शरद के ये पात्र बाहर से विशृंखलित और भीतर से सुशृंखलित हैं। किन्तु 'अतीत के चल चित्र' की देवियों की गृहस्थी में प्रायः सभी पात्र बाहर-भीतर दोनों ही जगह शृंखलित हैं। बौद्धिक द्वन्द न होने के कारण चरित्र का यह सन्तुलन निम्नवर्ग में सुलभ है। किन्तु महादेवी ने वर्ग-पक्षपात नहीं किया है। असल में जिनकी आत्मा को वाह्य प्रलोभनों ने—(चाहे वे आर्थिक हों, चाहे कायिक)—ग्रस लिया है, वे निम्नवर्ग के (जैसे 'मैकू') होकर भी उतने ही क्षुद्र हो गये हैं, जितने क्षुद्र उच्च वर्ग के हो सकते हैं। अन्तर यह है कि निम्नवर्ग अपनी क्षुद्रता के प्रति अभिमानी नहीं है, जब कि उच्चवर्ग अपने अभिमान से क्षुद्रता को ही महत्ता बनाकर चलता है। किन्तु शरद के तथा-कथित पात्र उच्च वर्ग के होकर भी उच्च वर्ग के प्रलोभनों से अस्पृश्य हैं, वे तो समाज की विषम रूढ़ियों के शिकार हैं, जैसे निम्नवर्ग दरिद्रता का शिकार। 'अतीत के चल चित्र' में यदि एक ओर सबिया, रधिया, दुखिया, लछमा, बिट्टो, बिन्दा और भाभी हैं, तो दूसरी ओर रामा, अलोपी, बदलू और बालक भी। ये सारे स्त्री-पुरुष अपनी दरिद्रता में गुदड़ी के लाल हैं।

—ये देवियाँ, 'उन महिलाओं में नहीं हैं, जो पति के हल्केपन को, उसके बँगले, कार, वैभव आदि के पासंग रख रखकर भारी कर सकती हैं। इनकी गणना न उनमें हो सकती है, जिनके वासना-मन्दिर

के द्वार पर स्वयं धर्म कठोर और सजग पहरेदार है और न उनमें, जिनके उद्भ्रान्त मस्तिष्कों पर समाज की नगी तलवार लटकती रहती है।'

—और ये पात्र उन जैसों में नहीं हैं 'जो सुख के साधनों के लिये उस मा से झगड़ते हैं, जिसकी उँगुलियों के पोर सिलाई करते करते चलनी हो चुके हैं। कुलवधुओं के समान आंसू पीने वाले युवकों का अभाव नहीं, जिनका पौरुष न दरिद्र पिता का सब कुछ छीन लेने में कुंठित होता है और न भिक्षा वृत्ति से मूर्छित। अपनी पराजय को विजय मानने वाले ऐसे पुरुषों से भी समाज शून्य नहीं, जो छोटे बच्चों को छोड़कर दिन-दिन भर परिश्रम करने वाली पत्नियों के उपार्जित पैसों से सिनेमा घरों की शोभा बढ़ा आते हैं।

साधारणतः आज के पुरुष का पुरुषार्थ विलाप है। जितने प्रकार से, जितनी भाव-भंगियों के साथ जितने स्वरों में वह अपने निराश जीवन का मर्सिया गा सके, अपनी असमर्थता का स्यापा कर सके, उतना ही वह स्तुत्य है और उतना ही वह पुरुष नाम के उपयुक्त है।'—हमारे साहित्य में भी तो इस कोटि के पुरुषों के दर्शन होते हैं।

पुरुष जहां नारी की साधना से प्रभावित नहीं होता, वहां निष्ठुर और पलायनवादी हो जाता है—'वह अपने छोटे से छोटे सुख के लिये स्त्री को बड़ा दुःख दे डालता है और ऐसी निश्चिन्तता से मानो वह स्त्री को उसका प्राप्य ही दे रहा है। सभी कर्त्तव्यों को वह चीनी से ढकी कुनैन के समान मीठे मीठे रूप में ही चाहता है। जैसे ही कटुता का आभास मिला कि उसकी पहली प्रवृत्ति सब कुछ जहां का तहां छोड़कर भाग खड़े होने की होती है।'

और नारी!—तपस्विनी नारी!—'वह जैसे अपने नादान बच्चों के उत्पात की चिन्ता नहीं करती, उसी प्रकार पति की हृदयहीन कृतघ्नता, सम्बन्धी के अनुचित व्यंग और सास की अकारण भर्त्सना पर ध्यान नहीं देती। उसके निकट मानों सब बच्चे हैं। इसी से उनका कर्त्तव्य से जी चुराना उसे कर्त्तव्य-विमुख नहीं बनाता।'

और यह भी कैसी विडम्बना है!—'एक पुरुष के प्रति अन्याय की कल्पना से ही सारा पुरुष समाज उस स्त्री से प्रतिशोध लेने पर उतारू हो जाता है, और एक स्त्री के प्रति क्रूरतम व्यवहार का प्रमाण पाकर भी सब स्त्रियां उसके अकारण दण्ड को भारी बनाये बिना नहीं रहतीं।'

किन्तु 'इतने अंगारों से भरे जाने पर भी इसके वात्सल्य का अञ्चल दूसरों को छाया देने में समर्थ है।'

'अतीत के चल चित्र' में महादेवी ने नारी की जिस मर्य्यादा का प्रतिनिधित्व दिया है, उस मर्य्यादा का नाम क्या है?—'समाज ने स्त्री की मर्य्यादा का जो मूल्य निश्चित कर दिया है, केवल वही उसकी गुरुता का मापदण्ड नहीं। स्त्री की आत्मा में उसकी मर्य्यादा की जो सीमा अंकित रहती है, वह समाज के मूल्य से बहुत अधिक गुरु और निश्चित है; इसी से संसार भर का समर्थन पाकर जीवन का सौदा करनेवाली नारी के हृदय में भी सतीत्व जीवित रह सकता है और समाज भर के निषेध से घिरकर धर्म का व्यवसाय करने वाली सती की साँसें भी तिल-तिल करके असती के निर्माण में लगी रह सकती हैं।'—यहीं पर शरद और महादेवी का सामाजिक दृष्टि-साम्य है। इसी दृष्टि से शरद की राजलक्ष्मी और 'अतीत के चल चित्र' की बालविधू भी हमारी श्रद्धा पा जाती है।

[४]

यह पुस्तक एक स्वच्छ सामाजिक दर्पण है। अत्याचारी इसमें अपनी मुखाकृति देख सकते हैं और नारी अपनी साधना का प्रकाश।

'अतीत के चल चित्र' है तो करुणा प्रधान, किन्तु इसमें अन्य रस भी सश्लिष्ट हैं—हास्य, व्यंग, वीभत्स, रौद्र, शृंगार, वात्सल्य, शान्त। करुणा के अञ्चल में इन रसों के चित्र कसीदे की तरह कढ़े हुये हैं।

चित्रांकन में महादेवी के सूक्ष्म-निरीक्षण का कुशल-परिचय मिलता है, और चरित्रांकन में अन्तः निरूपण का। इसीलिये उनमें चित्रकारिता और मूर्त्तिमत्ता भी है; सहृदयता और मनोवैज्ञानिकता भी। ये चित्र और चरित्र इतने अमिट हैं कि पुस्तक के नामकरण में नवीनता नहीं रह जाती।

संस्मरणों के साहित्य में यह पुस्तक अपने ढंग की अकेली है।

महादेवी कवि तो हैं ही, अतएव इन संस्मरणों में रसात्मकता स्वाभाविक ही है। एक प्रकार से इस पुस्तक को कवित्व, कहानी, निबन्ध और संस्मरण का संयोग कह सकते हैं। कला के सभी उपादानों से इसकी शैली का संगठन हुआ है। कवि महादेवी कितनी उच्चकोटि की ललित प्राञ्जल गद्यकार भी हैं, यह पुस्तक इसका प्रमाण है। इसके प्रत्येक आख्यान साँचों में ढले सुघड़ सृष्टि की तरह सुडौल हैं। यद्यपि इसके प्रत्येक आख्यान अपने आप में पूर्ण हैं, तथापि बचपन से लेकर अब तक की जीवन-यात्रा के क्रमबद्ध पुलिन-से बन गये हैं— जैसे किसी दीर्घ कथा के अविच्छिन्न परिच्छेद।

अन्त के दो चित्रों में इन संस्मरणों का क्लाइमेक्स है—करुणा और प्रसन्नता।

दसवें चित्र की वह कुम्हार दम्पति तो दुःख-दारिद्र्य की हद है! यह अपढ़ किन्तु सुख दुःख से निर्लिप्त दार्शनिक दम्पति समय के प्रवाह में अपनी टूटी-फूटी नौका खेती जा रही है। रधिया चली जाती है, तो 'दुखिया' उसकी पतवार अपने कृश-शिशु हाथों में ले लेती है। बस, इसी तरह इनका लोक और परलोक बनता है।

महादेवी के ड्राइङ्गरूम की सुघड़ कलात्मक मूर्त्तियाँ उसी रधिया के पति बदलू की लगन की कारीगरी हैं। महादेवी की कलात्मक रुचि से प्रेरणा और प्रोत्साहन पाकर वह कुम्हार स्वयं भी कला में साकार हो गया है।

जिस प्रकार वे मूर्त्तियां महादेवी के नित्य जीवन की बैकग्राउन्ड बन गई हैं, उसी प्रकार अतीत के ये चित्र उनके आन्तरिक जीवन की पार्श्वभूमि बन गये हैं।

अन्तिम ग्यारहवें चित्र में चाँदनी की तरह हँसती महादेवी ने स्वयं अपने को उद्घटित कर दिया है। अन्य चित्रों में महादेवी को खोजना पड़ता है, किन्तु इस चित्र में महादेवी ही तो कूर्मांचल की वह 'लछमा' है। यद्यपि लछमा के जीवन के अभाव महादेवी के अभाव नहीं हैं, तथापि जीवन के ऊँचे-नीचे पथों में शिलाओं से टकराती हुई अपनी उज्ज्वलता में शुभ्र निर्झरिणी की तरह हँसती-खिलखिलाती लछमा क्या महादेवी नहीं है!—सुख-दुःख झेलते हुए भी सुख-दुःख में बालिका की भांति उत्फुल्ल! इस प्रफुल्ल मुख को देखकर कौन कहेगा इसे कभी दुःख भी होता है! किन्तु "सूखी-सूखी पलकों में तरल तरल आँखें ऐसी लगती हैं मानों नीचे आंसुओं के अथाह जल में तैर रही हों और ऊपर हँसी की धूप से सूख गई हों।"

ऐसी लछमा भी समाज की छिद्रान्वेषी मूषक-दृष्टि के सन्मुख सुलक्षणा नहीं!—'एक बार तो जब एक सज्जन मेरे घर में बैठकर मुझे लछमा के कल्पित दोष गिना रहे थे, तब वह दरवाज़े के बाहर खड़ी होकर उन्हें छोटे बच्चों की तरह मुंह चिढ़ा रही थी।'

—और क्या इसी तरह महादेवी ने भी 'अतीत के चल चित्र' के व्यंग-विद्रूपों में छिद्रान्वेषी समाज को मुंह नहीं चिढ़ा दिया है—इन चित्रों की अत्याचार-पीड़ित देवियों की ओर से!

सम्पादकीय-विचार

महावीर जयन्ती

गत तीस मार्च को देश भर में जगह जगह अत्यन्त समारोह के साथ महावीर जयन्ती मनाई गई। जब कि तोपों की गड़गड़ाहट और बमों का भीषण रव वातावरण में चारों ओर गूंज रहा हो, जब कि हिंसा अपनी सम्पूर्ण विकरालता के साथ ताण्डव नृत्य का आयोजन कर रही हो, यही अवसर है अभिशापित और पीड़ित दुनिया को अहिंसा का सन्देश देने का। आज से ढाई हज़ार वर्ष पूर्व तीर्थङ्कर महावीर ने जितनी दृढ़ता और स्पष्टता के साथ अहिंसा के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया वह संसार के इतिहास में एक चिर स्मरणीय घटना है। उनका जीवन त्याग और कष्टों से पूर्ण दिव्य और महान था। अपने समय के भारतीय समाज का उन्होंने एक तरह से कायाकल्प ही कर दिया था। उन्होंने नये संगठन और नई बुनियादों पर एक आदर्श समाज की स्थापना की। यह दूसरी बात है कि समय और परिस्थितियों ने मिलकर तीर्थङ्कर की शिक्षा पर भारतीय समाज को अधिक दिनों तक चलने न दिया, किन्तु इससे कौन इनकार कर सकता है कि आज ढाई हजार वर्ष के बाद तीर्थङ्कर महावीर के दिव्य उपदेश सत्य और अहिंसा के प्रकाश पुंज के रूप में संसार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं। आज संसार के दार्शनिक और अध्यात्मिक नेता एक मत से इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि मानव जाति, मानव संस्कृति और मानव सभ्यता को नाश से बचाने का एक मात्र उपाय अहिंसा है। जो समाज हिंसा की बुनियादों पर क़ायम किया जायगा हिंसा से ही उसका नाश होगा। तलवार के बल पर न मानव संस्कृति की रक्षा आज तक हुई है और न आगे हो सकती है। वर्तमान ऐतिहासिक युग की नव चेतना के प्रारम्भ में तीर्थङ्कर महावीर, भगवान बुद्ध, सन्त कन्फ्यूशियस, पेरोथे इखनातन, महात्मा सुकरात, हज़रत ईसा आदि अनेकों धर्म प्रवृत्तकों और पैग़म्बरों ने मानव जाति को अहिंसा का कल्याणकर रास्ता दिखाया था। व्याकुल दुनिया ने अपनी सम्पूर्ण चेष्टाओं के साथ समय समय पर इन महान आत्माओं के उपदेशों पर अमल करने का सराहनीय प्रयत्न किया। यह दूसरी बात है कि बर्बरता, हिंसा और मानव स्वार्थों ने इन प्रयत्नों पर विजय पाई, किन्तु यह भी सत्य है कि दुनिया ने हिंसा को सदा अपवाद के रूप में ही स्वीकार किया। जिन्होंने तलवारें उठाकर मानव जाति को रक्त स्नान कराया वे भी महावीर, बुद्ध, ईसा और कान्फ्यूशियस की प्रशंसा के नित्य प्रति गीत ही गाते रहे। आज भी दुनिया की आत्मा ईसा, बुद्ध और महावीर के उपदेशों को सुनने के लिये लालायित है। उसके सन्तप्त कान शान्ति और अहिंसा की वाणी को सुनने की ओर लगे हुए हैं। ज़रूरत सिर्फ इस बात की है कि आज जिनको अहिंसा की इस वाणी पर विश्वास है क्या उनमें इतना आत्मबल है कि वे दृढ़ता के साथ इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर सकें। आज समय का ज़बर्दस्त तक़ाज़ा है कि हम अपनी आत्मा और अपने सिद्धान्तों के प्रति सच्चे बनें।

भगवान महावीर की इस जयन्ती पर हमें अपने जैन भाइयों से भी कुछ खरी खरी बातें कहनी हैं। जैन समाज एक महान संस्कृति और एक महान सभ्यता का उत्तराधिकारी है। तीर्थङ्करों की अमर वाणी उसकी दिव्य विभूति और थाती है। आज दुनिया जिस संघर्ष के बीच से गुज़र रही है उसे देखते हुए वह दिन दूर नहीं दीख पड़ता जब संसार में एक नई व्यवस्था का सृजन होगा। हमें पूरा विश्वास है वह नई व्यवस्था शान्ति और

अहिंसा के आधार पर क़ायम होगी। ऐसी स्थिति में यदि जैन समाज अपने तीर्थङ्कर के महान उपदेशों पर व्यावहारिक रूप से अमल करने का दृढ़ संकल्प कर ले तो भावी संसार का संपूर्ण नेतृत्व ही उसकी मुट्ठी में है। किन्तु इसके लिये उसे अपने अन्दर ज़बरदस्त सुधार करने होंगे। आज जैन समाज की छाती पर मुर्दा रूढ़ियों और कर्म काण्डों का बोझ लदा हुआ है। जैन पत्रों को पढ़कर हमें हैरत होती है कि अहिंसा और प्रेम के प्रचार का दावा करने के बावजूद भी वे आपसी घृणा, द्वेष और बुग़्ज़ के प्रचार में संलग्न हैं। आज जैन समाज का रास्ता प्रेम और सार्वभौम मानवता का रास्ता नहीं। आज जैन समाज व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति का अखाड़ा बना हुआ है। जैनों में आज कोई ऐसा नेता नहीं जो उन्हें झकझोर कर जगा दे और उन्हें बताये कि गम्भीर व्यापक प्रयत्न के बाद जैन समाज सारे संसार का नेतृत्व हाथ में ले सकता है। आज जैनों की अहिंसा वीरों की नहीं किन्तु कायरों की अहिंसा बनी हुई है। जीवन के सहज सिद्धान्तों का गूढ़ दार्शनिक विचारों की वेदी पर बलिदान कर दिया गया है। कार्य शीलता की जगह अकर्मण्यता और त्याग की जगह व्यक्तिगत स्वार्थों ने ले ली है। हमें नहीं मालूम हमारी यह आवाज़ कितने जैन भाइयों तक पहुँचेगी! किन्तु हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि जैन समाज एक बार करवट लेकर जागरूक होकर खड़ा हो जाय तो आज दुनिया में फिर २५०० वर्ष पूर्व की घटनाओं की पुनरावृत्ति हो सकती है। किन्तु यदि साहस और त्याग के साथ जैन समाज खड़ा हो जाय तब न!

यदि वह यह नहीं करता तो निकम्मे और कूप-मण्डूक समाजों के लिये आज दुनिया में जगह नहीं। स्वार्थी व्यक्ति तीर्थङ्कर महावीर की शिक्षा की रक्षा करने के सर्वथा अयोग्य हैं। वैसी सूरत में दुनिया की कोई दूसरी संस्था मृत जैन समाज के खंडहरों से भगवान महावीर के उपदेशों का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न करेगी। जैन समाज चाहे भले ही नष्ट हो जाय किन्तु भगवान महावीर की शिक्षायें सदा सदा के लिये अमर रहेंगी।

किन्तु हमारा अब भी यह विश्वास है कि जैन समाज में ऐसे दृढ़ और त्यागव्रती नेता मौजूद हैं जो दुनिया के सामने निर्भयता और साहस से प्रेम और अहिंसा के सिद्धान्तों का दावा पेश करेंगे और संसार के भावी निर्माण में अपना यथा उचित हिस्सा लेंगे।

अ० भा० दिगम्बर जैन खण्डेलवाल महासभा

हर सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था का प्रारम्भ अपने से पहले की अव्यवस्था को दूर करने के लिये किया जाता है, लेकिन कालान्तर में सब व्यवस्थायें अव्यवस्था में परिणित हो कर समाज के पतन का कारण बन जाती हैं। सार्वभौम भ्रातृभाव की भावना से प्रेरित होकर जिन व्यवस्थाओं की स्थापना समाज में से जात पात, छूत छात, ऊंच नीच तथा अन्य ऐसे भेद भावों को दूर करने के लिये हुई थी उनमें भी सामाजिक दायरे इतने संकुचित बन गये कि समाज के अनेकों टुकड़े हो गये और जब उन्हें फिर से मिलाने की आवाज़ उठाई जाती है तब समाज में धर्म, परम्परा, रूढि और मर्यादा के नाम पर कलह, संघर्ष एवं विद्रोह तक खड़ा कर दिया जाता है। अग्रवाल में बीसा और दस्सा का, माहेश्वरियों में डीडू और कोलवार का और खण्डेलवालों में सोलह साजन और बड़ साजन का जो भेद भाव पाया जाता है उसे दूर करने के लिये जब जब आवाज़ उठाई गई तब तब इन समाजों में इसी प्रकार का विद्रोह सा मच गया। माहेश्वरी समाज में कोलवार डीडू का संघर्ष कई वर्षों तक चलता रहा। माहेश्वरी महा सभा ने सिर्फ़ जांच का काम अपने हाथों में लिया था कि उसी पर समाज में भीषण कलह मच गई। फ़ौरन दो दल हो गये और एक ने दूसरे का इतना ज़ोरदार बहिष्कार किया कि दूसरे दल में ब्याही गई लड़कियों का अपने माँ-बाप के घरों में आना तक रोक दिया गया। बिड़ला परिवार के ही

साथ नहीं, बल्कि उनके साथ रोटी-बेटी का व्यवहार रखने वालों के साथ भी रोटी बेटी का व्यवहार बन्द कर दिया गया। दस्सा और बीसा अग्रवालों को एक करने की कोशिश करने वालों के साथ भी ऐसा ही व्यवहार किया गया। खण्डेलवाल समाज में भी लोहडसाजन और बड़साजन की समस्या के कारण उसी तरह की स्थिति पैदा हो गई थी। लेकिन विक्रमी सम्वत् १९८९ में सवाई माधोपुर (जयपुर) की महा पचायत में इस समस्या को हल कर दिया गया था और दोनों वर्गों का परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार खोल दिया गया था। बाद में खण्डेलवाल महा सभा के अधिवेशन ने ९ सज्जनों की एक कमेटी नियुक्त की जिसने लोहड़साजनों को विशुद्ध बीसा खण्डेलवाल उद्घोषित करते हुए परस्पर रोटी बेटी व्यवहार का होते रहना प्रामाणिक ठहराया था। इसके विरुद्ध प्रमाण पेश करने वालों के लिये इनाम की भी घोषणा की गई थी। अब अखिल भारतीय दिगम्बर जैन खण्डेलवाल महासभा ने इन्दौर के अपने अधिवेशन में मिथ्या भ्रम एव द्वेष फैलानेवाले इस सवाल का अन्तिम फैसला कर दिया है और दोनों मे रोटी बेटी व्यवहार होने के पक्ष मे अपना निर्णय दे दिया है।

इस निर्णय के साथ महा सभा के इतिहास और जैन खण्डेलवाल समाज के जीवन मे एक नया पन्ना जोड़ दिया गया है, जिसका अधिकाश श्रेय जैनरत्न सेठ हीरालाल जी को है जिनके सभापतित्व में महा सभा का यह अधिवेशन हुआ था। खण्डेलवाल महा सभा की स्थापना हुए २१ वर्ष हो चुके। किन्तु उसमें प्रगतिशील, सुधार प्रेमी और क्रान्तिकारी युवकों के लिये कोई स्थान न था। वह कुछ पुरातन पन्थी लोगों के हाथ का खिलौना बनी हुई थी। दिसम्बर के पहले सप्ताह में किशन गढ के अधिवेशन में उपस्थित प्रतिनिधियों ने विद्रोह कर दिया और परिणाम यह हुआ कि श्रीमन्त हीरालाल जी उसके सभापति और कुवर राज कुमार सिंह उसके प्रधान मत्री चुन दिये गये। इतने थोड़े समय में डेढ़ दो ही मास में इन्दौर में अधिवेशन का इतनी सफलता के साथ होना उस नये युग का सूचक था जिसका सूत्रपात खण्डेलवाल समाज में महा सभा के नये हाथों में जाने से हुआ है। जैन समाज मे बिम्ब प्रतिष्ठा किवा पंचकल्याण महोत्सव का विशेष महत्त्व है। इसी अवसर पर सेठ हीरालाल जी द्वारा शान्तिनाथ जिनालय की बिम्ब प्रतिष्ठा का महोत्सव और प्रान्तीय सभा का भी अधिवेशन हुआ। प्रान्तीय सभा का अधिवेशन दानवीर साहू शान्ति प्रसाद जी के सभापतित्व में हुआ। अधिवेशन के प्रस्तावों और भाषणों पर प्रगतिशील विचारों की यथेष्ट छाप थी। महिला रत्न रमारानी जैन का जो भाषण अ० भा० दिगम्बर जैन महिला परिषद की अध्यक्षा के पद से हुआ, वह भी बहुत ओजस्वी था। खण्डेलवाल समाज तथा उसके नेताओं को समाज सुधार की ओर इस तेजी के साथ कदम बढाने पर हम हार्दिक बधाई देते हैं।

जैन संस्कृति अङ्क

भारतीय समाज में जैन सस्कृति को लेकर आज अनेकों गलतफहमिया फैली हुई हैं। लोगों में यह भ्रम समाया हुआ है कि जैनों की अहिंसा ने ही भारत को गारत किया, जैन धर्म और जैन सस्कृति का भारतीय सभ्यता के निर्माण मे कोई हाथ नहीं और जैन समाज भारतीय समाज का एक ऐसा अङ्ग रहा है जिस पर भारत को कोई अभिमान नहीं हो सकता, आदि तरह तरह की मिथ्या बातें पढे लिखे लोगों के दिलों मे घर किये हुए हैं। सौभाग्य से इतिहास के अनुसार वास्तविकता ऐसी नहीं है। जैन दार्शनिकों और आध्यात्मिक नेताओं ने हजरत ईसा से दो शताब्दी पूर्व मध्य एशिया, निकट पूर्व, फिलस्तीन, इथियोपिया और मिस्र तक अपने मठ क़ायम करके वहा से जैन धर्म का प्रचार किया था। जैसे जैसे पुरातत्ववेत्ता इतिहास पर से अतीत का आवरण हटाते जाते हैं वैसे वैसे जैन सस्कृति के सम्बन्ध में नई नई बातें दुनिया के सामने आती जाती हैं। यह भी हर्ष का

अखिल भा० ख० दिगम्बर जैन महासभा, इन्दौर अधिवेशन



श्री बालचन्द गंगवाल
स्वागताध्यक्ष



श्री गुलाबचन्द टोंग्या
स्वागत-मन्त्री



श्री तनसुखराय जैन
मन्त्री आबू मन्दिर आन्दोलन कमेटी



श्री पन्नालाल जी
पत्र व्यवहार-मन्त्री

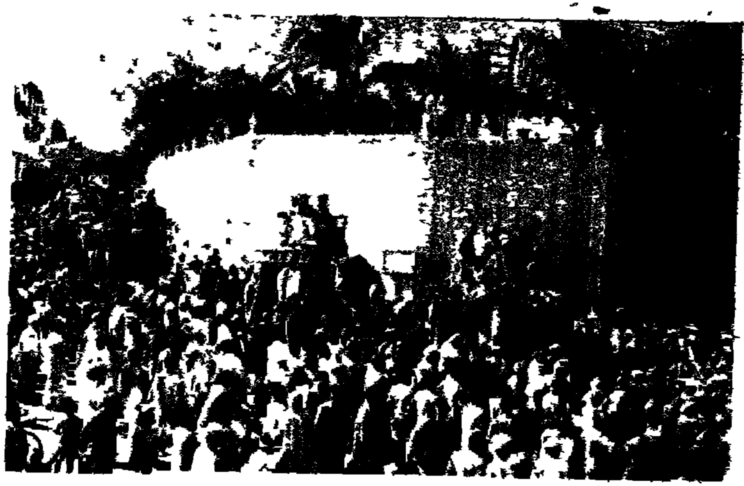


रायबहादुर सेठ हीरालाल जी

प्रधान, अ० भा० खण्डेलवाल दिगम्बर जैन महासभा



अ० भा० ख० दि० जैन महिला परिषद् का एक दृश्य

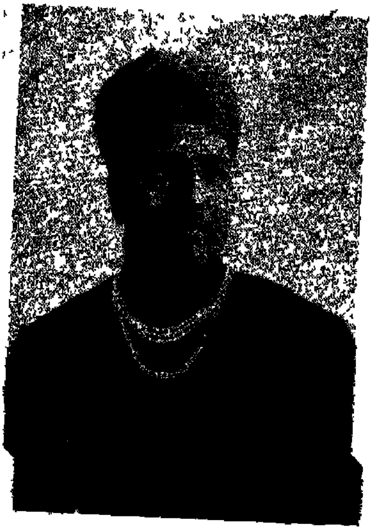


गजरथ उत्सव का एक दृश्य



अ० भा० जैन ख० महासभा के प्रतिनिधियों का निवास स्थान

महासभा के कुछ प्रतिष्ठित कार्यकर्ता



कुवर मैंदालाल



वर राजकुमारसिंह एम० ए० एल-एल०
प्रधान-मन्त्री



कुंवर निरेन्द्रकुमार सिंह एम०ए०
सत्कार-मन्त्री



कुंवर देवकुमार सिंह एम० ए०

विषय है कि मन्दिर जी के तहखानों से निकल कर जैन दर्शन की पुस्तकें प्रकाश में आरही हैं और जैन संस्कृति के व्यापक स्वरूप का परिचय धीरे धीरे लोगों को मिलता जा रहा है। जैन पुरातत्व के अनुसन्धान का काम केवल जैनों का कर्तव्य नहीं है, प्रत्येक भारतीय विद्वान को जैन संस्कृति को भारतीय संस्कृति का एक महान अङ्ग मानकर उस पर गवेषणा और अन्वेषण करना चाहिये।

हमने पहले यह सोचा था कि मई १९४२ का 'विश्ववाणी' का अङ्क बौद्ध और जैन संस्कृति के नाम से निकाला जाय किन्तु हमने यह देखा कि इस तरह न तो हमें सन्तोष होगा और न हम जैन संस्कृति के साथ समुचित न्याय कर पायेंगे। इस विचार से हमने यह निश्चय किया है कि 'विश्ववाणी' का मई का अङ्क 'बौद्ध संस्कृति' अङ्क होगा और आगामी पर्युषण पर्व पर हम 'विश्ववाणी' का एक पूरा अङ्क 'जैन संस्कृति' पर निकाले, जिस पर जैन धर्म, जैन संस्कृति, जैन दर्शन, जैन कर्मयोग, जैन तीर्थङ्कर, जैन स्थापत्य, जैन कला, जैन साहित्य, विदेशों मे जैन धर्म आदि आदि विषयों पर पूरा पूरा प्रकाश डाला जाय। देश के समस्त जैन और अजैन विद्वानों से हमारी नम्र प्रार्थना है कि वे हमें इस काम मे मदद दें। जिन भाइयों को इस सम्बन्ध मे हमने अब तक व्यक्तिगत निमन्त्रण नहीं दिया वह अपरिचित होने के कारण ही। अभी तीन चार महीने का समय है और यदि हमें सब का सहयोग मिला तो हम पर्युषण पर्व पर एक शानदार और आदर्श 'जैन संस्कृति' अङ्क निकालने मे सफल हो सकेंगे।

सर स्टैफर्ड क्रिप्स की तजवीजे

सर स्टैफर्ड क्रिप्स जो तजवीजें लेकर भारत आये हैं उनके पीछे ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल की सम्पूर्ण सहमति और सम्पूर्ण बुद्धि है। तजवीजों का उद्देश्य है लड़ाई की इस दारुण परिस्थिति में सुप्त और निराश भारतीय आत्मा को जगाकर इस युद्ध मे मित्र राष्ट्रों की मदद और भारत की रक्षा के लिये कटिबद्ध करना। सर स्टैफर्ड की तजवीजों में हमें मोटे तौर पर तीन बड़ी खामियां नज़र आई'- -

(१) तजवीज मे भारत के लिये पूर्ण स्वराज्य की घोषणा नहीं की गई है और बग़ैर पूर्ण स्वराज्य की भावना के भारत राष्ट्र को आजादी की लड़ाई के लिये पूरी तरह से कटिबद्ध नहीं किया जा सकता।

(२) देश की रक्षा की सम्पूर्ण जिम्मेवारी ब्रिटिश सरकार के सुपुर्द रहेगी। उसमे दखल देने का भारत को कोई अधिकार न होगा।

(३) इन तजवीजों के मातहत भारतीय राष्ट्र के खण्ड खण्ड होकर कई टुकड़ों मे बॅट जाने की सम्भावना है।

जब तक भारतीय राष्ट्र पूर्ण स्वराज्य का अनुभव नहीं करता तब तक फैसिस्ट विरोधी युद्ध में वह किसी तरह की उपयोगी मदद नहीं दे सकता। कितने भारतीय उस झण्डे के लिये प्राण विसर्जन को तय्यार होंगे जो झण्डा उनका अपना राष्ट्रीय झण्डा नहीं है? कौनसा भारतीय मिनिस्टर भारतीय युवकों को रण के लिये आह्वान करेगा जब तक उसे यह पता नहीं कि तोपों के इस मानवीय चारे का कैसा उपयोग होगा! हम हैरान हैं कि ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल ने कैसे इतने बड़े मौलिक सिद्धान्त को नजर अन्दाज किया कि यदि यह लड़ाई वास्तव मे भारतवासियों की लड़ाई है तो भारतवासियों का देश की रक्षा पर सम्पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिये। किन्तु तजवीज़ के इस अंश पर सर स्टैफर्ड ज़रा सा भी झुकने को तैयार नहीं। जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है हम अपने देश की रक्षा की जिम्मेवारी जानते बूझते ऐसे व्यक्तियों पर छोड़ने के लिये तय्यार नहीं जिन्होंने हर जगह अपने निकम्मेपन का परिचय दिया है। यूनान, क्रीट, सुमात्रा, मलाया, डचहिन्द, सिंगापुर और रंगून के पतन के बाद क्या किसी भी बहादुर और जाँबाज़ को एक मिनट के लिये भी अङ्गरेज जनरलों की युद्ध-क्षमता पर विश्वास हो सकता है? शायद नहीं! यदि इनके ऊपर लड़ाई की

जिम्मेवारी छोड़ी गई तो भारत की क़िस्मत का भी यही नतीजा हो सकता है।

प्रेस कान्फ्रेंस में सर स्टैफर्ड ने यह फरमाया था कि आस्ट्रेलिया को रक्षा का भार भी तो अमरीका के ऊपर है। किन्तु यदि अमरीकन सैनिक आज आस्ट्रेलिया में हैं और अमरीकन जनरल मैकआर्थर पर आज आस्ट्रेलिया की रक्षा का भार है तो वह केवल इसलिये कि आस्ट्रेलियन प्राइम मिनिस्टर मिस्टर कर्टिन ने गला फाड़ फाड़ कर उन्हें अपने यहां आने की दावत दी है। आस्ट्रेलिया ७० लाख आबादी का एक छुच्चा सा मुल्क है। ४० करोड़ आबादी वाले देश के साथ उसकी तुलना करना मूर्खता की बात है। फिर दूसरी बात यह है कि हमने एक मिनट के लिये भी अंग्रेजों से प्रार्थना नहीं की कि—'हुज़ूर हमारी रक्षा कीजिये।' हमारा तो उन्हें सदा से यही कहना है कि 'जनाब अपने नक्शे कदम यहां से हटा ले जाएं हम अपनी हिफाजत आप कर लेंगे।'

सर स्टैफर्ड युद्ध रक्षा के मामले में द्वैध शासन चलाना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि वायसराय की कौन्सिल का सप्लाइ मेम्बर लड़ाई का जखीरा इकट्ठा करे, फाइनेन्स मेम्बर पैसा इकट्ठा करे, कम्यूनिकेशन मेम्बर आवागमन की सुविधाएं करे और पूरी कौन्सिल रंगरूट भरती करे ताकि कमाण्डर-इन-चीफ बहादुर ब्रिटिश वार कौंसिल के हुक्म पर लड़ाइयां लड़ें। इस द्वैध शासन से किसी की भलाई नहीं हो सकती।

सर स्टैफर्ड की तजवीजें भारतीय राष्ट्र को खण्ड खण्ड कर देने की भावना को और अधिक उकसाती हैं। इन तजवीजों पर अमल करने से कितने ही पाकिस्तानों, सिखिस्तानों, द्राविड़स्तानों और राजस्तानों के बीच में हिन्दुस्तान के टुकड़े टुकड़े हो सकते हैं और हिन्दुस्तान में बलकान का नजारा दिखाई दे सकता है। तजवीज का यह अङ्ग ब्रिटिश कूटनीति का सब से बड़ा दांव है। इसमें पूर्ण स्वराज्य की आजादी नहीं बल्कि अपने टुकड़े टुकड़े कर डालने की आजादी है।

इन तजवीजों के मुताबिक़ फौरन जो चीज होगी वह वायसराय की कौन्सिल का निर्माण। सर स्टैफर्ड तो अपना तानपूरा उठाकर चलते बनेंगे और वायसराय महोदय उसके बाद १०१ आदमियों से मुलाकातें करके भानमती का ऐसा कुनबा जोड़ेंगे जिसकी खुदा ही खैर करे। फिर वायसराय महोदय के विशेषाधिकार ज्यों के त्यों क़ायम रहते हैं। अब भी उन्हें निरंकुश शासन का अधिकार है। वे अपनी मर्जी के मताबिक़ अपनी कौंसिल का निर्माण कर सकते हैं, वे व्यवस्थापिका सभाओं को जब चाहे बुला और तोड़ सकते हैं और वे ऐलानों और आर्डिनेन्सों से शासन कर सकते हैं। भानमती के कुनबे जैसी कौंसिल के सदस्य की हैसियत से वे क्या करेंगे यह खुदा ही जाने।

पूत के पाँव पालने में ही दिखाई देते हैं। यदि आरजी इन्तजाम की यह कैफियत है तो बाद में जो होगा उसकी कल्पना की जा सकती है और फर्ज कीजिये बाद के सुधारों में वास्तविक सत्ता भी हमारे हाथों में आने की गुञ्जाइश हो तब भी गान्धी जी के शब्दों में ऐसी हुण्डी किस काम की जिस पर देर की तारीख पड़ी हो और जो अभी सकारी न जा सकती हो। यदि ब्रिटिश मन्त्रि मण्डल के प्रतिनिधि की हैसियत से सर स्टैफर्ड किञ्चित् अधिक झुकने के लिये तैयार नहीं तो हमें तो भारत और इङ्गलैण्ड के बीच कोई समझौते की सूरत नजर नहीं आती। और इङ्गलैण्ड बेचारे का भी क्या क़ुसूर? कहा जाता है कि रस्सी जल जाती है पर उसकी ऐंठन नहीं जाती।

अगला जर्मन आक्रमण

गत सप्ताह यूरोपीय शतरंज पर जो मोहरे इधर उधर हेर फेर गये हैं उन्हें देखकर यूरोपीय युद्ध की हवा का रुख मध्यपूर्व की ओर बहता नज़र आता है। बलगारिया के शाह बोरिस का बर्लिन जाना कि जहां उन्हीं दिनों तुर्की स्थित जर्मन राजदूत वान पापन भी

छुट्टी लेकर गये हुए थे और उसके बाद बलगारिया के प्रधान मंत्री ब्रागडन फिलाफ का वक्तव्य कि 'बलगारिया की क़िस्मत धुरी राष्ट्रों के साथ नत्थी है' और उसके बाद बलगारिया की फौजों का दक्षिणी सीमा की ओर कूच और फील्ड मार्शल वान ब्राखिश का यूनान जाना और बलकान के देशों में धुरी राष्ट्रों की युद्ध की जबरदस्त तय्यारी और रोडीज और यूनान में जर्मन पैराशूटियों का जमाव और डाडेकेनीज मे धुरी राष्ट्रों के जहाजों, बरबाद कुन किश्तियों और बाजों का इकट्ठा किया जाना, यह साबित करता है कि मौका मिलते ही धुरी राष्ट्र बिजली की सी तड़प के साथ मध्य पूर्व पर टूट पड़ेंगे।

हिटलर इस समय तेल का प्यासा है। रूस के साथ हजारों मील के मोर्चों पर उसे आगामी ग्रीष्म ऋतु में जबर्दस्त मोरचा लेना है। उसे कोहकाफ तक पहुँचना है। और यह सब बग़ैर तेल के कैसे हो? उसके जहाज, टैंक, ट्रकस और मोटरें बग़ैर पैट्रोल के कैसे दौड़ेंगी? मध्य पूर्व तेल के समुन्दर पर तैरता हुआ एक खित्ता है। मध्य पूर्व के इस तेल पर हिटलर के दांत हैं। वहां तक पहुँचने के लिये तुर्की बीच में रुकावट है। प्रश्न उठता है कि तुर्की राजी से जर्मनी को रास्ता देगा? तुर्की यदि जर्मनों को आसानी से कोहकाफ, इराक और काले सागर का रास्ता नहीं देता तो उसे लड़ाई के लिये तय्यार रहना होगा। बलगारिया तुर्की के थ्रेस पर अपना पुराना दावा पेश कर रहा है। तुर्क इस शिखण्डी के पीछे लड़ने वाले को पहचानते हैं। तुर्की पर दो तरफ से हमला हो सकता है। एक तो बलगारिया और यूनान से इस्ताम्बूल पर और दूसरा डाडेकेनीज और यूनानी द्वीपों से अनातोलिया पर। इस आक्रमण के तीन उद्देश्य होंगे। कोहकाफ पर दक्षिण से हमला, इराकी तेल के कुओं पर पश्चिम से हमला, दर्रे दानियाल से इटाली जहाजों का काले सागर में प्रवेश और अंगरेजी गढ़ों पर लीबिया और मध्य पूर्व से दुतरफा हमला।

गोकि तुर्की ने अपनी तय्यारी जोर शोर से शुरू कर दी है फिर भी उसका लड़ना अङ्गरेजों और रूसियों की मदद पर निर्भर करता है। रूसियों से भिड़ने से पहले हिटलर इस छोटे शिकार पर शायद इसी महीने टूट पड़ना चाहता है।

राष्ट्रीय सप्ताह

श्री गांधी जी 'हरिजन-सेवक' में लिखते हैं—

"राष्ट्रीय सप्ताह प्रति वर्ष ऋतुओं की सी नियमितता के साथ आता रहा है। बीस से भी ज्यादह साल हुए यह हर साल आता रहा है; फिर भी अपनी स्वतन्त्रता से, साम्प्रदायिक एकता से और खादी के व्यापक प्रचार से हम जितनी दूर थे, उतनी ही दूर बने हुए हैं। राष्ट्रीय सप्ताह का प्रथम समारोह हमने इन तीन निश्चित चीजों से शुरू किया था। ये तीनों चीजें परस्पर पर्यायवाची थीं। यदि हममें एकता होती, तो हम स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते। इसी प्रकार यदि हम सब खादी के उपासक बने होते, तो भी उसे प्राप्त कर पाते। यद्यपि उसके बाद हमने अपने रचनात्मक काम में बहुतेरी बातें बढ़ाई हैं, तो भी असल चीज तो जितनी सच शुरू में थी, उतनी ही आज भी है। यानी जिस रूप में हमने उसे सोचा और शुरू किया था, उसका वही रूप आज भी मौजूद है।"

आगे चलकर गांधी जी लिखते हैं—

"ऊंचे दर्जे के लोगों में साम्प्रदायिक एकता जब होनी बदी होगी, तब हो रहेगी। हम तो देश की आम जनता के लिये स्वतन्त्रता चाहते हैं और इसलिये देश के करोड़ों लोगों के वास्ते और उनके बीच क़ौमी एकता की कामना करते हैं। यह एकता हमारे हृदयों में है, तो हमें इसका परिचय अपने रोजमर्रा के छोटे छोटे कामों में एक दूसरे के साथ व्यवहार करते समय देना चाहिये।"

यदि अकेले कांग्रेस कार्यकर्ता ही गांधी जी की इस क़ीमती सलाह को दिल में बैठाकर उस पर अमल करना शुरू कर दें; तो हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय जीवन की हम शकल ही बदल सकते हैं।

राष्ट्रीय सप्ताह के सम्बन्ध में एक बात गान्धी जी और कहते हैं—

सम्पादक मुद्रक और प्रकाशक—विश्वम्भरनाथ, विश्ववाणी प्रेस, साउथ मलाका इलाहाबाद



विश्व-वाणी

बौद्ध संस्कृति अङ्क

मई, १९४२

इस अङ्क का मूल्य ।)

विश्ववाणी

युक्तप्रान्त, पञ्जाब, बम्बई, मद्रास, मध्यप्रान्त और बरार, होलकर राज्य, मेवाड़, जोधपुर, मैसूर और काश्मीर के शिक्षा विभागों द्वारा स्कूल और कालेज लाइब्रेरियों के लिए स्वीकृत

बौद्ध संस्कृति अंक

मई १९४२

वार्षिक मूल्य ६)

इस अंक का मूल्य १)

विश्ववाणी कार्यालय, इलाहाबाद

विषय-सूची

[मई १९४२]



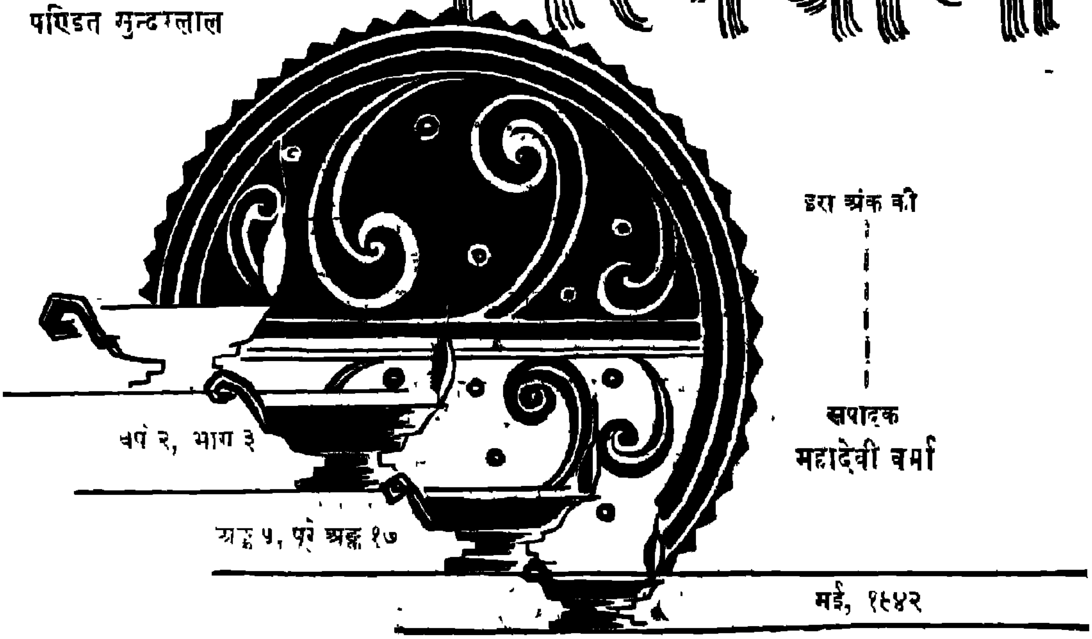
कला की दृष्टि से भगवान बुद्ध की यह
प्रतिमा संसार भर में प्रसिद्ध है।
यह मूर्ति गुप्त काल की बनी
हुई है और इस समय
सारनाथ के म्यू-
जियम में
है।

विश्ववाणी

संरक्षक
पण्डित सुन्दरलाल

इस अंक की
सम्पादक
महादेवी वर्मा

वर्ष २, भाग ३
अङ्क ५, पूरे अङ्क १७
मई, १९४२



मैत्री-भावना

हो चुका हो चित्त- जिसका द्वेषहीन महान,
सब कहीं सबके लिये हो सौमनस्य समान,

प्रेम से भर दिश-विदिश-भू-अन्तरिक्ष अछोर,
लोक को संस्पर्श कर जो विहरता सब ओर,

सत्व है जो द्रोह-वैर-विरोध से निर्मुक्त,
मित्रता की भावना में एकरस संयुक्त,

एक सीमा में उसी से आचरित सविशेष,
आचरण त्यों हो न जाता है वहीं पर शेष,

ज्यों न रुकता शंख-वादक का तनिक आयास,
दूर तक प्रतिध्वनि जगा, भरता विपुल अवकाश !

[दीघनिकाय]

आभा-कण

आवेग क्रोध का सके थाम
जो पथ-विचलित रथ के समान,
सारथी कहाता वही सत्य
हैं अन्य रश्मि-ग्राहक अजान !

*

यह नियम सनातन, एक वैर
करता न दूसरे का अभाव,
निर्वैरभावना से जग में
होता सब शान्त विरोधभाव।

*

संग्राम - भूमि में जय पाता
कोई कर लाखों को सभीत,
पर सत्य समर-विजयी है वह
जो स्वयं आपको चुका जीत !

*

क्या हास और आनन्द कहाँ
जलता जाता, जो कुछ समीप,
घन अन्धकार से घिर कर भी
तुम क्यों न खोजते हो प्रदीप ?

*

जय उपजाती है द्वेष-द्रोह
औ' पराभूत में दुःख-दाह,
जो हार-जीत को तज प्रशान्त
उसका सुखमय जीवन-प्रवाह !

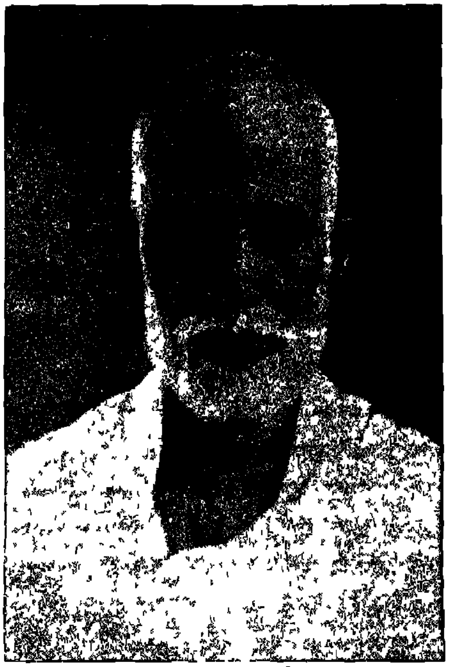
*

मल्लिका-मलय-कलि - तगर - गन्ध
प्रतिवात कभी पाता न राह,
दिश दिश सज्जन-सौरभ फैला
विपरीत बहा जब गन्धवाह !

(धम्मपद से)

बौद्ध संस्कृति

आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी



अहिंसा धर्म का उद्गम

इन्द्र के नेतृत्व में आर्य लोगों ने सप्त सिन्धु (सिन्ध और पंजाब का) प्रदेश जीता और उस प्रदेश में यज्ञयागों की संस्कृति को बहुत उत्तेजना दी। उस समय मध्य हिन्दुस्तान में बलिदानपूर्वक यज्ञ करने की प्रथा नहीं थी। इन्द्र ने इस प्रदेश पर आक्रमण किया और उसे देवकी-पुत्र कृष्ण ने पीछे हटा दिया। यह बात खास ऋग्वेद में आती है।[1] इन्द्र के आक्रमण में केवल मुल्क जीतने की बात नहीं थी, इसमें सांस्कृतिक झगड़ा भी था। यज्ञयाग की संस्कृति कृष्ण पसन्द करते, तो शायद यह आक्रमण नहीं होता।

कृष्ण को घोर आंगिरस ऋषि ने आत्म-यज्ञ की शिक्षा दी। उस यज्ञ की दक्षिणा तपश्चर्या, दान, ऋजुभाव, अहिंसा तथा सत्य वचन थी। (अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः। छान्दोग्य उपनिषद ३।१७।४–६)। जैन ग्रन्थकारों का कहना है कि कृष्ण के गुरु तीर्थङ्कर नेमिनाथ थे। अब यह प्रश्न उठता है कि क्या यह नेमिनाथ तथा घोर आंगिरस दोनों एक ही व्यक्ति के नाम थे? कुछ भी हो इससे एक बात सिद्ध होती है कि मध्य हिन्दुस्तान पर वेदों का प्रभाव पड़ने के पहिले एक प्रकार का अहिंसा-धर्म प्रचलित था और इसके सबसे बड़े पुरस्कर्ता देवकीनन्दन कृष्ण थे।

जैनों के स्तानाङ्ग सूत्र में (क्रमाङ्क २६६) यह बात आती है कि भरत तथा एरवत प्रदेशों में पहला और अन्तिम छोड़कर बाकी २२ तीर्थङ्कर चातुर्याम धर्म का उपदेश इस प्रकार करते हैं—सब प्राणघातों का त्याग, उसी प्रकार असत्य का त्याग, सब अदत्तादान (चोरी इत्यादि) का त्याग, सब बहिर्धा आदानों (परिग्रहों) का त्याग। यह गढ़ी हुई कहानी हो सकती है, पर छान्दोग्य उपनिषद में घोर आंगिरस का जो उपदेश है, उससे और परम्परा से चली आई हुई इस कहानी से तुलना करके देखा जाय, तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कृष्ण के समय मध्य हिन्दुस्तान में अहिंसा का अर्थ लोग जानते थे।

मज्झिमनिकाय के (बारहवें) महासीहनाद सुत्त में बुद्ध के बोधिसत्वावस्था (पूर्व जन्म) में चार प्रकार के तप का आचरण करने का वर्णन मिलता है। तप के चार प्रकार याने तपस्विता, रूक्षता, जुगुप्सा और प्रविविक्तता। नंगे रहना, अंजलि में ही भिक्षान्न मांगकर खाना, बाल तोड़ के निकालना, कांटों की शय्या पर लेटना इत्यादि प्रकार से देह-दण्डन करने को तपस्विता कहते थे। कई साल की धूल वैसी ही शरीर पर पड़ी

१—ऋ० ८। ९६। १३–१५ और देखिये "भारतीय संस्कृति और अहिंसा", विभाग १, पैरा ४८–५४।

रहने देना और उसको कोई न निकाले इसको रूक्षता कहते थे। इस रूक्षता की अतिशयोक्ति का उदाहरण पुराणों में भी पाया जाता है। ऋषि लोगों के शरीर पर दीमक का घर बनना और सिर्फ उनकी आँखें बाहर दिखाई देने के वर्णन आते हैं। पानी की बूंद तक पर भी दया करना, इस को जुगुप्सा कहते थे। जुगुप्सा याने हिंसा का तिरस्कार। जंगल में अकेले रहने को प्रविविक्तता कहते थे।

इन बातों से यह जाना जा सकता है कि अहिंसा अथवा दया को लोग तपाचरण का एक तरीका मानते थे। इन तपों का आचरण करने वाले बुद्ध के पूर्व विद्यमान थे। उन लोगों में कृष्ण के गुरु घोर आंगिरस—जैनों के कथनानुसार नेमिनाथ—का होना सम्भव है। पर उनके पास संघ नहीं थे और साम्प्रदायिक रीति से वे अहिंसा का प्रचार नहीं करते थे। इसी कारण से कुरु देश में यज्ञयाग का महत्व बढ़ गया और अहिंसा का वातावरण नष्ट हो गया।

ज्यादातर पाश्चात्य पंडितों का यह मत है कि जैनों के २३ वें तीर्थङ्कर पार्श्व ऐतिहासिक व्यक्ति थे। उनके चरित्र में भी काल्पनिक बातें हैं ही, पर पहिले तीर्थङ्करों के चरित्र में जो बातें हैं, उनसे बहुत कम हैं। इस सब में मुख्य ऐतिहासिक बात यह है कि २४ वें तीर्थङ्कर वर्धमान के १७८ साल पहिले पार्श्व तीर्थङ्कर का परिनिर्वाण हुआ।

वर्धमान या महावीर तीर्थङ्कर बुद्ध के समकालीन थे यह बात प्रसिद्ध है। बुद्ध का जन्म वर्धमान के जन्म के कम से कम १५ साल बाद हुआ होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि बुद्ध का जन्म तथा पार्श्व तीर्थङ्कर का परिनिर्वाण इन दोनों में १९३ साल का अन्तर था। मरने के पूर्व लगभग ५० साल तो पार्श्व तीर्थङ्कर उपदेश देते रहे होंगे। इस प्रकार बुद्ध के जन्म के करीब २४३ वर्ष पूर्व पार्श्व मुनि ने उपदेश देने का काम शुरू किया। निर्ग्रन्थ श्रमणों का संघ भी उन्हीं ने स्थापित किया होगा।

परीक्षित राजा के राज्य काल से कुरु देश में वैदिक संस्कृति का आगमन हुआ। उसके बाद जनमेजय गद्दी पर आया और उसने कुरु देश में महायज्ञ कर के वैदिक धर्म का झंडा फहराया। इसी समय काशी देश में पार्श्व तीर्थङ्कर एक नई संस्कृति की नींव डाल रहे थे। पार्श्व का जन्म वाराणसी नगर में—अश्वसेन नामक राजा की वामा नामक रानी से—हुआ, ऐसी कथा जैन ग्रन्थों में आई है। उस समय अधिकारी ज़मींदारों को राजा कहते थे। ऐसे एक राजा को यह पुत्र होना कोई असम्भव बात नहीं है। पार्श्व की नई संस्कृति काशी राज्य में अच्छी तरह टिकी होगी, क्योंकि बुद्ध को भी अपने पहिले शिष्यों को खोजने के लिये वाराणसी जाना पड़ा। पार्श्व का धर्म उपर्निर्दिष्ट अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह इन चार यमों का था। इतने प्राचीन काल में अहिंसा को इतना सुसम्बद्ध रूप देने का यह पहिला ही उदाहरण है।

सिनाई पर्वत पर मूसा को ईश्वर ने जो दस आज्ञायें सुनाईं, उनमें हत्या मत करो, इसका भी समावेश था। पर उन आज्ञाओं को सुन कर मूसा और उसके अनुयायी पैलेस्टाइन में घुसे और वहां खून की नदियां बहाईं! कितने लोगों को क़त्ल किया व कितनी युवती स्त्रियों को पकड़ कर आपस में बांट लिया। इन बातों को अहिंसा कहना हो, तो फिर हिंसा किसे कहा जाय? तात्पर्य यह है कि पार्श्व के पहिले पृथ्वी पर सच्चो अहिंसा से भरा हुआ धर्म या तत्वज्ञान था ही नहीं।

पार्श्व मुनि ने एक और भी बात की। उन्होंने अहिंसा को सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह इन तीनों नियमों के साथ जकड़ दिया। इस कारण पहिले जो अहिंसा ऋषि मुनियों के आचरण तक ही थी, और जनता के व्यवहार में जिसका कोई स्थान न था, वह अब इन नियमों के कारण सामाजिक एवं व्यावहारिक हो गई।

पार्श्व मुनि ने तीसरी बात यह की कि अपने नवीन धर्म के प्रचार के लिये संघ बनाया। बौद्ध साहित्य से हमें इस बात का पता लगता है कि बुद्ध

के समय जो संघ विद्यमान थे, उन सबों में जैन साधु और साध्वियों का संघ सब से बड़ा था।

उपर्युक्त वर्णन से मालूम होगा कि ऋषि मुनियों की तपश्चर्या रूपी अहिंसा से पार्श्व मुनि की लोकोपकारी अहिंसा का उद्गम हुआ।

बुद्ध की संक्षिप्त जीवनी

बुद्ध सम्बन्धी बहुत सी जानकारी आजकल सर्वसाधारण को उपलब्ध है, तथापि अधिकांश बुद्ध चरित्र "बुद्ध चरित काव्य" तथा "ललितविस्तर" इन दो ग्रन्थों के आधार पर लिखे जाने के कारण ऐसी दन्त कथाओं से, यथा बुद्ध एक बड़े राजा का पुत्र था आदि, बिलकुल अलिप्त नहीं है। इसलिये यहाँ पाली ग्रन्थों के आधार पर संक्षिप्त बुद्ध चरित्र दे देना उचित जान पड़ता है।

कोसल देश के उत्तर में शाक्य क्षत्रियों का एक छोटा सा गणतन्त्र राज्य था। उस समय इस प्रकार के तीन चार राज्य थे। इन गणतन्त्र राज्यों में राज सत्ता परम्परागत नहीं थी। गाँव-गाँव के ज़मींदार होते थे, जो राजा कहलाते थे। वे एक स्थान पर एकत्र होकर अपना एक अध्यक्ष चुनते थे, जो महाराज कहलाता था। वह किसी निश्चित काल के लिये नहीं चुना जाता था। जब तक उसे सब राजाओं की सम्मति रहती थी, तब तक वह अध्यक्ष का काम करता था, अन्यथा दूसरा अध्यक्ष चुना जाता था। महत्व का कार्य उपस्थित होने पर सारे राज-संघ की सम्मति ली जाया करती थी, अन्य काम यह अध्यक्ष और सेनापति आदि अधिकारी किया करते थे।

बुद्ध जन्म के पूर्व ही कपिलवस्तु के शाक्यों का स्वातन्त्र्य नष्ट हो चला था। उन्हें एक प्रकार का "होमरूल" प्राप्त था; पर किसी को फाँसी देने या निर्वासित करने का उन्हें अधिकार नहीं रह गया था। उसके लिये कोसल महाराज की अनुमति लेनी पड़ती थी। मगध देश के पूर्व अंग राजाओं की भी यही स्थिति थी। उनका अन्तर्भाव मगध देश में ही होता था। काशी देश का भी स्वातन्त्र्य नष्ट होकर उसका अन्तर्भाव कोसल देश में हो गया था। पावा और कुशीनारा के मल्लों के दो और वैशाली के वज्जियों का एक, इस प्रकार तीन गणतन्त्र राज्य अब तक स्वतन्त्र रह गये थे। कोसल और मगध देशों में सार्वभौम राज्य प्रणाली दृढ़ होती जा रही थी।

ऐसे समय में कपिलवस्तु से चौदह-पन्द्रह मील की दूरी पर शुद्धोदन राजा (ज़मींदार) की माया देवी नाम की रानी के पेट से गोतम का (बुद्ध का) जन्म हुआ। बुद्ध चरित काव्य तथा ललितविस्तर में उसे सर्वार्थ सिद्ध तथा सिद्धार्थ नाम दिया गया है, पर वे प्राचीन पाली ग्रन्थों में कहीं नहीं मिलते। सब स्थानों पर उन्हें गोतम ही कहा गया है और वही उनका वास्तविक नाम रहा होगा।

गोतम के जन्म के बाद सातवें दिन माया देवी परलोक वासिनी हुई और उनके पालने का सारा भार (माया देवी की छोटी बहन) उनकी मौसी महाप्रजापती गोतमी पर पड़ा। *गोतमी भी शुद्धोदन की स्त्री थी*, ऐसा उल्लेख पाली में मिलता है। लेकिन इसके साथ शुद्धोदन की शादी गोतम के जन्म के पहले हुई या बाद में इसका कोई पता नहीं। किन्तु इतना तो सत्य है कि गोतम का पालन महाप्रजापती ने अत्यन्त कोमलता और सावधानी से किया। ऐसा मालूम होता है कि इसी से बहुत सी वर्तमान भाषाओं में 'माँ मरे पर मौसी जीवे' की कहावत प्रचलित हुई। लेकिन खास माँ के मरने की बात जब युवक गोतम ने समझी होगी, तब उनके ऊपर कुछ न कुछ वैराग्य की छाया अवश्य पड़ी होगी। इस कारण से अथवा पूर्व जन्म के संस्कार से, जो भी हो, पर गोतम की प्रवृत्ति युवावस्था में ही धर्म की ओर हुई।

उस काल में कोसल देश में, जिसमें शाक्य देश का भी अन्तर्भाव हुआ था, आडार कालाम और उद्रक रामपुत्र ये दो सुप्रसिद्ध योगाचार्य थे। उनमें से पहला योग की सात श्रेणी का उपदेश देता था और दूसरा आठ श्रेणी का। आडार कालाम का एक आश्रम कपिलवस्तु नगर के पास था। वहाँ जाकर गोतम योगाभ्यास करने लगे और उन्होंने

योग की प्रथम श्रेणी (प्रथम ध्यान) का सम्पादन किया।

शुद्धोदन राजा तथा और दूसरे शाक्य राजे खुद खेत मे जाकर खेती का काम करते थे और दास तथा कमकरों से भी कराते थे। इसी तरह गोतम भी स्वय खेती करते और करवाते थे। पर उनमें एक विशेषता यह थी कि वह खेत पर फ़ुर्सत के समय एक जामुन के वृक्ष के नीचे बैठकर उपरोक्त प्रथम ध्यान का सम्पादन करते थे। जातक-अट्ठकथा में इस प्रसग का अद्भुत चमत्कार के रूप मे वर्णन किया गया है।

अब यह प्रश्न आया कि गोतम ने २९ साल की उम्र मे गृह-त्याग क्यों किया? ललितविस्तर आदि ग्रन्थों में इसके जो कारण दिये गये हैं, उन्हें केवल दन्तकथा समझना चाहिये। २९ साल के अपने हाथ से खेती करने वाले आदमी ने वृद्ध, रोगी, और मृतक न देखा हो, यह सम्भव नहीं है। जरा, व्याधि और मृत्यु के विचार गोतम के मन में अवश्य आते होंगे लेकिन गृह-त्याग के लिये ये कारण पर्याप्त नहीं थे।

शाक्यों के पड़ोसी और सम्बन्धी कोलिये राजे थे। वे भी कोसल राज के अधीन हुये थे। किन्तु फिर भी शाक्यों और कोलियों में रोहिणी नदी के पानी के बारे मे बार बार युद्ध हुआ करता था। इसका नतीजा यह होता था कि दोनों को ही खेती के लिये पर्याप्त पानी नहीं मिलता था और आपस मे लड़ने से बहुत हानि होने के अलावा कोसल राज को इन छोटे गण राज्यों की अन्तर व्यवस्था में हस्तक्षेप करने का बार-बार मौका मिलता था। इसलिये यह कलह गोतम को बुरी लगना स्वाभाविक था। अन्त में किसी अवसर पर कोलियों के विरुद्ध शस्त्र धारण से गोतम ने साफ इन्कार कर दिया। इसमे कठिन प्रसग आ उपस्थित हुआ। इसका नतीजा यह होने वाला था कि शुद्धोदन के सारे कुटुम्ब का शाक्य देश से निष्काशन किया जाता। इस विपत्ति से मुक्त होने के लिये एक ही रास्ता था कि गोतम परिव्राजक हो जाते। और उन्होंने उसी रास्ते को स्वीकार किया। शस्त्र धारण करना क्षत्रियों का धर्म है, यह कहकर गोतम को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिये आप्त मित्रों और पण्डितों ने अवश्य प्रयत्न किया होगा। लेकिन अर्जुन की तरह गोतम का यह क्षणिक वैराग्य नहीं था। यह परिपक्व विचारों का परिणाम था। इसलिये स्वयं कोई भगवान भी गोतम को शस्त्र उठाने के लिये प्रवृत्त नहीं कर सकता था।

शाक्य और कोलियों की तरह छोटे-छोटे गण-सत्ताक राजे आपस में लड़कर दुर्बल हो गये थे और उनमें से तीन को छोड़कर बाकी राजों की स्वाधीनता नष्ट हो गई थी। अग राजों को जीत कर मगध महाराजा ने अपने मुल्क में शामिल कर लिया था। काशी राजाओं, शाक्यों और कोलियों को जीत कर कोसल महाराज ने अपने अधीन कर लिया था। फिर भी क्षत्रिय के कर्तव्य के नाम पर आपस में लड़ते रहना कितनी बुरी बात थी! और यह गोतम को पसन्द नहीं हुआ, इसमें आश्चर्य ही क्या।

गोतम से सच्छील, कोमल हृदय के प्रिय लड़के को परिव्राजक होने के लिये अनुज्ञा देना सहज बात नहीं थी। इस प्रसग में महाप्रजापती गोतमी और शुद्धोदन राजा को कितना दुख हुआ, इसका थोड़ा सा वर्णन मज्झिमनिकाय के अरियपरियेसनसुत्त मे आया है। कुटुम्ब के बचाने के लिये दूसरा कोई रास्ता नहीं होने से उन्होंने रोते रोते गोतम को आज्ञा दी। और गोतम आडार कालाम के आश्रम मे चले गये। केवल कुटुम्ब का बचाना ही गोतम का उद्देश्य होता, तो वह सात वर्ष तक घोर तपश्चर्या का प्रयत्न करके तत्वबोध का मार्ग नहीं खोजते। परिव्राजकों के तत्त्वज्ञान में से आदमी आदमी के झगड़ों के मिटाने का कोई रास्ता अवश्य मिलेगा, यह उनका विश्वास था। गृह त्याग के उपर्युक्त कारण को ध्यान में रखने से गोतम के परिव्राजक जीवन के तपश्चर्यादिक सारे कार्यों का समन्वय प्रकट होता है।

आलार कालाम के ध्यान मार्ग से कलह मिटाने का प्रश्न हल नहीं हो सकता था, इसलिये गोतम ने उसको छोड़कर उद्रक रामपुत्र का आश्रय लिया। योग की और एक श्रेणी प्राप्त करने से भी कुछ लाभ नहीं दिखा, इसलिये उद्रक रामपुत्र को छोड़ कर गोतम राजगृह को चले गये। उस काल में बड़े-बड़े श्रमण संघ के नेता इस शहर के आस पास बार-बार आया जाया करते थे। उन नेताओं का धर्मोपदेश सुन कर कुछ रास्ता निकालना गोतम का उद्देश्य होना चाहिये था। वे सब नेता अनेक तरह के आत्मवाद बताते थे। कोई एक नेता आत्मा को शास्वत और दूसरे अशाश्वत मानते थे। इस तरह आत्मा के सम्बन्ध मे इन लोगों मे किसी प्रकार का एक मत नहीं था। लेकिन वैदिक हिंसा के प्रति घृणा और किसी प्रकार की तपश्चर्या करना चाहिये, इसमें सभी क़रीब क़रीब एक मत थे। इस स्थिति मे गोतम ने यह सोचा कि तपश्चर्या के बिना आत्मबोध न होगा और कलह मिटाने का रास्ता नहीं मिलेगा। इसलिये राजगृह को छोड़ कर वे उरुवेला (वर्तमान गया) की ओर गये और वहा क़रीब ७ वर्ष तक तपश्चर्या की। उनके उस समय के कोई-कोई अनुभव त्रिपिटक मे निर्दिष्ट हैं। उन सबों का विस्तार भय से यहा उल्लेख नहीं किया जारहा है।

अन्त में गोतम इस निश्चय पर आये कि श्रमण सम्प्रदायों में सबसे बड़ा ख़तरा आत्मवाद से है। इतना त्याग और तपश्चर्या करके भी आत्मवाद के जाल में फंस जाने से श्रमण दुनिया को झगड़ों से मुक्ति का पथ नहीं बता सकते। इसलिये आत्मवाद के सम्पर्क के अलावा कोई रास्ता होना चाहिये। दूसरी बात उनके मन में यह आई कि श्रमणों का सर्व प्रकार का संयम और सच्चरित्रता उपयुक्त होने पर भी तपश्चर्या निष्फल है।

गोतम के साथ पाच तपस्वी थे। वे समझते थे कि गोतम किसी नये पथ का शोध लगायेंगे। लेकिन जब वह आत्मवाद का ख़तरा प्रतिपादन करने लगे और उपोषणादिक तपश्चर्या छोड़ कर शरीर धारणोपयुक्त अन्न ग्रहण करने लगे, तब उन तपस्वियों को विश्वास हो गया कि गोतम धर्म भ्रष्ट हो गये, और उनको छोड़ कर वे काशी चले आये। लेकिन गोतम का धैर्य्य विचलित नहीं हुआ। एकाग्रता से उन्होंने अपना शोध आगे बढाया। अन्त में आजकल जिसे बुद्ध गया कहते हैं, उस जगह एक पीपल[१] के पेड़ के नीचे बैठकर बैशाखी पूर्णिमा की रात में गोतम ने अपना नया पथ निश्चित किया। यह पथ दो अन्तों से मुक्त है। उनमें से पहला अन्त कामोपभोग की आसक्ति है। इस अन्त में फंसकर दुनिया का बहुत बड़ा समुदाय आपस में लड़ता कटता और दुख पाता है। इसलिये यह त्याज्य है। यह छोड़कर जो परिव्राजक होते हैं, वे तपश्चर्या मे लगकर नाना प्रकार से देह-दण्डन करते हैं; जो किसी प्रयोजन का नहीं। इसलिये यह तपश्चर्या का अन्त भी निरर्थक है। ये दो अन्त छोड़कर बीच का रास्ता चार आर्य सत्यों का है।

पहला आर्य सत्य यह है कि दुनिया जन्म, जरा, मरण, व्याधि से, और अप्राप्य वस्तु की कामना से दुख भोग रही है। इसका कारण केवल मानवीय तृष्णा है। तृष्णा से ही यह सारा दुख उत्पन्न होता है, यह दूसरा आर्य सत्य है। तृष्णा के त्याग से ही दुख मे मुक्ति हो सकती है, (कामोपभोग मे अथवा तपश्चर्या से मुक्ति नहीं होती) यह तीसरा आर्य सत्य है। इस तृष्णा के नाश के लिये कैसा बर्ताव होना चाहिये, यह चौथा आर्य सत्य है; जिसे अष्टांगिक मार्ग बताता है। वह अष्टांगिक मार्ग निम्नलिखित है—

सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।

इस मार्ग का सार यह है कि मनुष्य मनुष्य के साथ काया, वाचा मन से सम्यक् बर्ताव कर अपनी तृष्णा का क्षय करे। इसी मार्ग से आदमी आदमी मे, कुटुम्ब कुटुम्ब में, और देश देश में जो झगड़े

---

१ आज कल बोध गया मन्दिर के पीछे जो बोधि वृक्ष है, वहां ही वह वृक्ष था।

उठते हैं, वे सब मिट सकते हैं। केवल शाक्यों और कोलियों का ही नहीं सारी दुनिया के लिये इस नये पथ का शोध लगाने से गोतम का अन्तःकरण कितना प्रकाशित हुआ, इसका अनुमान ही लगाया जा सकता है। यहीं से भक्त जन उनको बुद्ध संज्ञा प्रदान करते हैं।

गोतम बुद्ध तो हो गये, लेकिन उनका नया मार्ग सुनने वाला था कौन ? जिसमें आत्मा का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है और तपश्चर्या का खुल्लमखुल्ला निषेध किया गया है, वह मार्ग सुनकर कोई भी परिव्राजक बौखला जाता। इसलिये एक ही आशा थी कि शायद जो पांच तपस्वी गोतम के साथ रहते थे, वे गोतम बुद्ध का यह नया मार्ग समझ सकें। इसलिये बुद्ध ने मगध देश में रहने वाले सारे परिव्राजकों को छोड़कर घोर गर्मी के दिनों में नंगे पांव गया से काशी तक प्रवास किया और बहुत प्रयत्न से उन पांच परिव्राजकों को समझाया।

इस मार्ग के शोध में बुद्ध को बहुत कष्ट उठाना पड़ा; और समझाने में भी काफी प्रयत्न करना पड़ा। लेकिन इसका प्रचार होने में बहुत समय नहीं लगा। दूसरे परिव्राजकों के संघ बहुत प्राचीन थे और उन संघों के नेता भी बुद्ध से बहुत वृद्ध थे। बुद्ध सबमें कम उम्र के थे। फिर भी उनके इस नये पथ का प्रभाव सामान्य जनों पर शीघ्र ही पड़ा। बुद्ध के जीवन में ही उसकी बड़ी प्रसिद्धि हुई और मध्य देश[१] में मध्यम वर्ग के लोगों ने उनके संघ के लिये बहुत से विहार बनवाये।

आजकल ऐसी एक मान्यता है कि बौद्ध धर्म सांख्य तत्वज्ञान से निकला, पर यह बहुत भ्रामक है। सांख्यों का तत्वज्ञान बुद्ध के समय में बीज रूप से विद्यमान था। उसका अगर बुद्ध पर कुछ प्रभाव पड़ा हो, तो यह यही है कि सांख्य द्वारा वर्णित आत्मा में बुद्ध को कुछ भी सार नहीं दिखाई दिया। अपितु बुद्ध का यह निश्चित मत हो गया कि उस प्रकार की आत्मा को मानना हानिकारक है। बुद्ध पर समकालीन किसी सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा हो, तो वह पार्श्वनाथ के उपर्निर्दिष्ट चार यामों वाले सम्प्रदाय का ही हो सकता है। बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग को उन्हीं यामों का विकास समझना चाहिये। लेकिन इसके साथ जैन साधु जो तपश्चर्या मिला देते थे, उसका बुद्ध ने साफ साफ निषेध किया। उसी समय में जैन आत्मा का अस्तित्व भी मानने लगे थे। उसको भी बुद्ध ने स्वीकार नहीं किया। बुद्ध के समय में जो बहुत से प्रख्यात संघ थे, उनमें एक जैनों को छोड़कर बाकी सब संघ कुछ शताब्दियों में ही नष्ट हो गये।

हमारी राय में जैन संघ के बच रहने का मुख्य कारण उनका चातुर्याम धर्म है, न कि तपश्चर्या और आत्मवाद !

अशोक और बौद्ध धर्म

यद्यपि बौद्ध संघ का जनता पर काफी प्रभाव था, फिर भी सम्राट अशोक का प्रोत्साहन यदि नहीं मिलता, तो बौद्ध धर्म का भारत में और भारत के बाहर इतना विस्तार न हो सकता।

जैनों का कहना है कि चन्द्रगुप्त मौर्य जैन सम्प्रदायी था और यह ठीक भी हो सकता है। पर चन्द्रगुप्त ने यज्ञयाग बन्द करने का प्रयत्न नहीं किया। उसने स्वयं यज्ञ नहीं किये और ब्राह्मणों को इस सम्बन्ध में उत्तेजित नहीं किया। इसी कारण ब्राह्मण ग्रन्थकारों ने उसे शूद्र वंशी कहा होगा। उसका पुत्र बिन्दुसार किस पंथ का था, इसका पता नहीं लगता। वह किसी भी पंथ का रहा हो, उसने अपने राज्य का प्रबन्ध करने के अतिरिक्त और कुछ किया हो, ऐसा नहीं जान पड़ता। उसका पुत्र अशोक अवश्य श्रमण संस्कृति का—और उसमें भी ज्यादा से ज़्यादा बौद्ध धर्म का—पूर्ण समर्थक बना।

राज्याभिषेक के पश्चात आठवें या नवें वर्ष अशोक ने कलिंग देश पर चढ़ाई की। वहां एक लाख आदमी मारे गये और डेढ़ लाख आदमी पकड़

१—विन्ध्य, हिमालय, पंजाब और बंगाल के बीच के देश।

कर लाये गये।[1] इससे कलिंग देश में बड़ा हाहाकार मचा और अशोक के मन पर उसका विलक्षण प्रभाव पड़ा। वह जितना हिंसक था, उतना ही अहिंसक बना। उस समय जो श्रमण पंथ मौजूद थे, उनमें से बौद्ध पंथ उसे विशेष अच्छा लगा और वह बुद्ध का पूर्ण भक्त बना। बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये उसने जो प्रयत्न किया वह प्रसिद्ध ही है। पर वह किसी प्रकार भी सम्प्रदायवादी नहीं था। बौद्ध सम्प्रदाय की यद्यपि उसने सब तरह से सहायता की, तो भी वह इसका ध्यान रखता था कि अन्य श्रमण सम्प्रदायों का निर्वाह भली भांति होता रहे। इतना ही नहीं उसने इसकी भी यथा-सम्भव व्यवस्था की थी कि श्रमण सम्प्रदाय आपस में लड़कर समय का अपव्यय न करें।

सातवें शिलालेख में वह कहता है—"सब स्थानों पर सब पाषण्ड (श्रमण सम्प्रदायी) रहें, कारण वे संयम और भाव शुद्धि की इच्छा रखते हैं... ...बहुत दान धर्म करके भी जिस मनुष्य में संयम, भाव शुद्धि, कृतज्ञता और दृढ़ भक्ति नहीं, वह सचमुच नीच है।" इसके बाद बारहवें शिलालेख में अशोक कहता है—"देवों का प्रिय प्रियदर्शी राजा सब प्रकार के श्रमणों की (पाषण्डियों की), परिव्राजकों की और गृहस्थों की दान धर्म तथा अन्य अनेक प्रकार से पूजा करता है। पर देवों का प्रिय दान और पूजा को उतना महत्व नहीं देता, जितना सब पाषण्डियों की सारवृद्धि को। सारवृद्धि के अनेक प्रकार हैं। उसका मूल है वाचा गुप्ति। उदाहरणार्थ आत्म पाषण्ड की भरमार न करे और पर पाषण्ड की निन्दा न होने दे[2]। पर पाषण्ड का मान रखना अनेक प्रकार से उचित है। ऐसा करने से आत्म-पाषण्ड की निश्चय से अभिवृद्धि करता है और पर पाषण्ड पर भी उपकार करता है.... परस्पर का धर्म एक दूसरा सुने और एक दूसरे की शुश्रूषा करे, इसलिये एकता अच्छी। सब पाषण्ड बहुश्रुत और कल्याणागम[3] हों, यही देवों के प्रिय की इच्छा है......इसके लिये धर्म महामात्रों की (तथा दूसरों की) नियुक्ति की है......।"

इस शिलालेख से दिखाई देता है कि जितने भी अहिंसक पन्थ थे, उन सबके साथ अशोक समानता का व्यवहार करता था। इतना ही नहीं, उसने इसके लिये भी बहुत प्रयत्न किया कि इन पन्थों में झगड़ा न होकर ऐक्य की अभिवृद्धि हो और ये लोगों को संयम और आत्मशुद्धि का मार्ग दिखा दें। वैदिक संस्कृति का आधार है यज्ञ याग। उनका निषेध अशोक ने पहले ही शिलालेख में किया है; और उसने सर्वसाधारण को अग्रस्थान दिया है। फलतः अशोक के साम्राज्य में ही नहीं, उसके आस पास के राज्यों में भी यदि श्रमण संस्कृति—उसमें से भी बौद्ध संस्कृति—बहुत ज़ोर से फैली हो, तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं।

बौद्ध संस्कृति का ह्रास

बौद्ध श्रमणों को इतना बड़ा राजाश्रय मिला, इसी में उनकी अवनति का बीज था। उनके बड़े बड़े संघाराम राजाश्रय के बिना चल नहीं सके। यह कार्य जन सामान्य की शक्ति के बाहर भी था। केवल धनी और राजा लोगों के आश्रय से ही ये संघाराम चले। फलतः महायान सम्प्रदाय वालों को वरिष्ट वर्गों को प्रिय लगने वाले ग्रन्थों की रचना करनी पड़ी। उन ग्रन्थकारों ने सामान्य लोगों की भाषा को त्याग कर श्रेष्ठ वर्ग में प्रतिष्ठित संस्कृत भाषा को स्वीकार किया। इससे सामान्य जनता का सम्बन्ध उनसे टूट गया। न्याय, व्याकरण, दर्शन इत्यादि विषयों पर बौद्ध ग्रन्थकारों ने उत्तमोत्तम रचनायें कीं। किन्तु सामान्य जन उन ग्रन्थों को समझने में असमर्थ थे और उनके लिये ये ग्रन्थ किसी काम के न थे। इतना ही नहीं भिक्षुओं के मठों को जो बड़ी-बड़ी जागीरें मिली थीं, उनमें रहने वाले श्रमजीवी लोगों का उत्पीड़न होने लगा।

१—अशोक का १३ वां शिलालेख।

२—यदि कोई झगड़े का कारण उपस्थित हो ही जाय तो उसे महत्व न देना।

३—जिनके धर्म ग्रन्थ कल्याणकारक हों।

जैसे आजकल के ज़मीन्दार भिन्न-भिन्न रूप से किसानों से लगान लेते हैं, उसी तरह बौद्ध सन्यासी भी किसानों का शोषण करते थे, यह मानना अप्रामाणिक नहीं है।

ऐसी अवस्था मे उन मठाधीश बौद्ध और जैन संघों में से आजकल के फैसिज्म की तरह का एक हिंसावादी शैव सम्प्रदाय पैदा हुआ, जिसका नाम है पाशुपत। इन्हीं पाशुपतों में से अघोरी सम्प्रदाय की तरह के बड़े क्रूर और अत्याचारी शैव सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई, और उन लोगों ने तलवार, स्त्री, और मदिरा के साधन द्वारा या तो बौद्ध और जैन श्रमणों का नाश कर दिया अथवा अपने में मिलाने के लिये बाध्य किया।

उत्तर मे शशाक जैसे और दक्षिण में सुन्दर पाण्ड्य जैसे राजाओं ने बौद्धों और जैनों पर सातवीं शताब्दी में जो भयकर अत्याचार किये, उसका वर्णन इतिहास में है। शशाक ने षड़यन्त्र रचकर राज्यवर्धन की हत्या करवाई और बुद्ध गया के सारे विहारों को लूट कर उन्हें तोड़ डाला। बोधि-वृक्ष को मूल से उखाड़ कर जला दिया और दक्षिण में सुन्दर पाण्ड्य ने उसी शताब्दी में जैन साधुओं पर अनेक प्रकार के घोर अत्याचार किये। उनके सिर कोल्हू में डाल कर पिरवाये। उसके इन सारे अत्याचारों के प्रदर्शन आज भी अर्काट के तिरुवत्तूर मन्दिर की दीवारों मे अंकित हैं। इस तरफ़ शैव राजाओं, कापालिकादि शैव सन्यासियों और उन लोगों के सहायक ब्राह्मणों के प्रयत्न से बौद्ध और जैन धर्म लगभग नष्ट प्रायः हो गया।

इन अत्याचारों से शैव सन्यासियों के मठ बौद्धों के विहार तथा जैनों के जो उपाश्रय बच रहे थे, मुसलमानों के आक्रमण से उन सब का क़रीब-क़रीब सहार हो गया। बचे खुचे बौद्ध श्रमणों ने तिब्बत आदि देशों में आश्रय लिया। जैन साधु, अपने नियमों मे बद्ध होने के कारण हिन्दुस्तान के बाहर न जा सके। जो जैन और शैव सन्यासी बचे, वे यहां ही छिप कर रहने लगे। आगे चलकर इन सन्यासियों का कुछ पुनरुत्थान भी हुआ। लेकिन वह इतना दुर्बल रहा कि वे कुछ सांस्कृतिक कार्य नहीं कर सके।

बौद्ध संस्कृति की देन

क़रीब पचास साल पहले हमारे देश के बड़े-बड़े पंडितों को भी बौद्ध धर्म के विषय की स्पष्ट जानकारी नहीं थी। पुराण पढ़ने वाले ब्राह्मण समझते थे कि विष्णु ने दैत्यों को बुरे मार्ग में लगा कर नष्ट करने के लिये बुद्ध का अवतार लिया था। पण्डित लोग दर्शनों में बौद्ध मत का खण्डन पढ़ते थे। शंकराचार्य को विशिष्टाद्वैत वादियों और माध्व साम्प्रदायिकों ने प्रच्छन्न बौद्ध कहा, यह भी लोग जानते थे। लेकिन बुद्ध कौन? और उसके मतका प्रचार कैसे हुआ तथा शंकराचार्य आदि के दर्शनों पर उसका प्रभाव इतना कैसे पड़ा, जिससे उनको प्रच्छन्न बौद्ध कहने लगे? इनमें से किसी बात को भी कोई पण्डित स्पष्टत: नहीं जानता था। जिस प्रकार अन्धकार में पदार्थ विपरीत दीख पड़ता है, उसी प्रकार उस अन्धकार युग में बौद्ध धर्म भी विपरीत दिखाई देता था। पूनाँ के एक सुप्रसिद्ध पडित ने नागानन्द नाटक सम्पादित किया। इसके नान्दी श्लोक में जो "मारवधू"[1] शब्द है, उसको उसने नहीं समझा। सभी हस्तलिखित प्रतियों में यही शब्द था, तथापि उसने उसे बदल कर "वारवधू" कर दिया। हमारे यहां के दिग्गज पंडितों को भी बौद्ध धर्म के विषय में इतना अज्ञान था।

पाश्चात्य पण्डितों को भी बौद्ध धर्म के विषय में बहुत कम जानकारी थी। वे जानते थे कि तिब्बत, ब्रह्म, चीन इत्यादि देशों में बौद्ध धर्म प्रचलित है; पर यह नहीं जानते थे कि इस धर्म का उद्गम और विकास भारतवर्ष में ही हुआ था और भारतीय भिक्षुओं ने ही विदेशों में जाकर इस धर्म का प्रचार किया। जब प्रथमत: अंग्रेज़ विद्वानों ने एलोरा की तरह की कलाकृतियों के स्थान देखे, तब उन लोगों ने अनुमान किया कि ये कृतियां भारतीयों की हो

१—मार की स्त्रियां।

ही नहीं सकती। उनका अनुमान हुआ कि उन्हीं के समान किसी सुसंस्कृत जाति ने भारत में आकर इन कलाकृतियों का निर्माण किया होगा। धीरे-धीरे पाश्चात्य पंडितों के प्रयत्न से, जिनमें पाश्चात्य मिशनरियों का भी समावेश था; भारतीयों को बौद्ध धर्म के विषय में कुछ ज्ञान होने लगा। फिर भी सामान्य जनता एलोरा अथवा अजन्ता की कलाकृतियों का बौद्धों से सम्बन्ध न जान सकी। और सर्व भारतीय दर्शनों पर बौद्ध धर्म का जो प्रभाव पड़ा है, उसका भला उन्हें कैसे ज्ञान हो सकता!

वेद, ब्राह्मण और आरण्यकों को छोड़ कर ऐसा कोई धार्मिक अथवा अन्य प्राचीन ग्रन्थ नहीं है, जिस पर बौद्ध ग्रन्थों का प्रभाव न पड़ा हो। इतना ही कहना काफ़ी है कि जो वेदान्त दर्शन सब से उत्कृष्ट समझा जाता है, उसका सारभूत अंश शून्यवाद और विज्ञानवाद से ही लिया गया है और इसी कारण शंकराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध कहलाये। कला कौशल के सम्बन्ध में तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं है। जो कुछ उत्तमोत्तम कलाकौशल आज कल उपलब्ध है, वह सब बौद्ध कलाकारों का ही है। बौद्धों के पश्चात जैनों और शैव सन्यासियों ने भी उनका अनुकरण किया। पर बौद्ध कला की तुलना में वे न आ सके।

जापान, चीन, तिब्बत, सयाम, सिंहल आदि देशों में भारत के विषय में जो इतना आदर देखा जाता है वह किस की देन है? उन देशों के जिन लोगों ने भारत नहीं देखा है, वे भारत को नहीं भारतवासियों को भी पूज्य मानते हैं। पाश्चात्य लोगों की तरह हमारे पूर्वज यदि हथियारों से इन देशों पर विजय पाते, तो उनसे आदर की जगह पर आज हम घृणा ही पाते। हमारे पूर्वज बौद्ध सन्तों ने उन देशों पर जो धार्मिक विजय पाई, वह हमारे लिये भूषणप्रद हुई। किन्तु दुःख की बात है कि हमारे विद्वानों को भी बौद्ध धर्म की अभी बहुत ही कम जानकारी है।

बौद्ध धर्म के ज्ञान के बिना हमारे प्राचीन इतिहास और कला कौशल का ज्ञान हो ही नहीं सकता। इतना ही नहीं, मध्य युग में जो वैष्णव साधु-सन्त हुये, उनकी उक्तियों में भरी हुई भूत दया, सच्छीलता, सत् सगति इत्यादि सभी बातें कहां से आईं? इन सबों का उद्गम बौद्ध धर्म ही है। बौद्ध धर्म के भिक्षुओं और उपदेशकों ने जनता के जीवन में सौजन्य का जो बीज बोया, वह नष्ट नहीं हुआ। विपरीत परिस्थितियों में भी उसी का अज्ञातः संरक्षण इन वैष्णव साधु-सन्तों ने किया है।

आज महात्मा गांधी जी ने जो अहिंसात्मक आन्दोलन शुरू किया है और सामान्य जनता ने एक स्वर से उसका जो समर्थन किया है; इसका भी बीज इसी बौद्ध और अज्ञातः जैन संस्कृति में है। सब लोग जानते हैं कि महात्मा गांधी पर श्रीमद् राजचन्द्र नामक एक जैन विद्वान का बहुत प्रभाव पड़ा। एक तो काठियावाड़ में वे वैष्णव कुटुम्ब में पैदा हुये और दूसरे वहां जैन सम्प्रदाय भी काफ़ी परिमाण में प्रचलित है। यदि अहिंसा का बीज भारत में नहीं होता तो बहुजन हिन्दू समाज को महात्मा जी का सत्याग्रह पसन्द न होता। अतः आज सामान्य जनता की नाड़ी परीक्षा और भारतवर्ष के सांस्कृतिक पुनःसजीवन के लिये बौद्ध संस्कृति का ज्ञान होना परमावश्यक है।*

*यह लेख आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी जी ने अपनी मराठी पुस्तक "भारतीय संस्कृति आणि अहिंसा" के आधार पर लिखा है। लेख की विस्तृत बातें जानने के लिये मूल ग्रन्थ या उसके गुजराती अनुवाद को देखना जरूरी है। मराठी प्रति १॥) में महाबोधी सोसाइटी सारनाथ से और गुजराती अनुवाद जीवन लाल एन्ड सन्स १२८, प्रिन्सेज स्ट्रीट, बम्बई २, से २) में मिल सकती है। हिन्दी में यदि इस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक और सांस्कृतिक ग्रन्थ का प्रकाशन हो जाय, तो हमारा विश्वास है कि हिन्दी पाठक एक नई दिशा का ज्ञान प्राप्त करेंगे और बहुत सी सांस्कृतिक तथा साहित्यिक समस्याओं पर प्रकाश पड़ेगा —सम्पादक

भारतीय संस्कृति और बौद्ध-धर्म

महापण्डित त्रिपिटकाचार्य, श्री राहुल सांकृत्यायन

साठ-सत्तर वर्ष पहले बौद्ध-धर्म के बारे में हम भारतीयों को कुछ भी ज्ञान न था; अगर यह कहा जाय, तो बहुत लोगों को आश्चर्य होगा। नव जागृति के साथ साथ वर्तमान शताब्दी में इतनी जल्दी बौद्ध-धर्म विशेषकर उसके संस्थापक के बारे में हम सुनने लगे हैं कि हमको उससे पहले के अपने अज्ञान पर विश्वास नहीं होता। साठ-सत्तर वर्ष की बात तो छोड़ दीजिए, वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में भी बौद्ध-धर्म के बारे मे हम लोगों में से बहुतों का ज्ञान स्कूल के इतिहास की दस-बीस पंक्तियों पर ही अवलम्बित था। लोग कहा करते हैं हत्या हत्यारे के सिर पर चढ़कर बोलती है, उदाहरण सभी अश में चाहे भले ही ठीक न हो, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि भारत ने सात सौ वर्ष पहले हिन्दुस्तान से बौद्ध धर्म को मार भगाया था, और उसके क्षीण-चिन्ह फुटों नीचे पृथ्वी के उदर में दब गये थे। एक तरह से समय ने निश्चय समझ लिया था कि अब यह मुर्दा कभी नहीं उठेगा। हमारी भी मनोवृत्ति पिछली शताब्दी तक जो थी, उससे भी ऐसा ही होने की आशा थी। संस्कृत के पण्डितों से ही बौद्ध धर्म का नाम पहले सुना जाता था, और वे बौद्ध-धर्म का जो चित्र खींचते थे, वह यद्यपि घृणा के लिये होता था, लेकिन हम बौद्ध-धर्म को हमेशा के लिये मिट गया समझ, उस पर कुछ ध्यान भी नहीं देते थे। बौद्ध-धर्म का भारतीयों को पुस्तकों से ज्ञान हो सकता था, लेकिन वे पुस्तकें भी बौद्ध-धर्म के साथ ही भारत से लुप्त हो चुकी थीं। पर सौभाग्य से तिब्बती, चीनी तथा लङ्का और बर्मा की पाली पुस्तकों में बौद्ध-धर्म का ज्ञान-भण्डार अब भी सुरक्षित था। पश्चिमी विद्वानों को सबसे पहले इस धर्म की बुद्धिवादिता ने अपनी ओर आकर्षित किया। उन्होंने अपनी भाषाओं में बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया; और उस अनुवाद को पढ़कर यूरोप के दर्जनों प्रथम श्रेणी के दिमाग़ प्रभावित हुए। आप पिछले सवा सौ वर्षों के यूरोप के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिकों, साहित्यिकों, कलाकारों और विचारकों की जीवनियों को पढ़ें, तो आपको मालूम होगा कि उनमें से प्रायः सभी को बौद्ध-धर्म ने अपना ऋणी बनाया था। पहला कारण यही हुआ जिससे पश्चिमी भाषाओं में बौद्ध-धर्म को पढ़कर भारतीय शिक्षित उधर आकर्षित हुए। पिछली शताब्दी के मध्य से ही भारत की पुरानी चीज़ों की खोज आरम्भ होती है, पुराने स्थान खोदे जाते हैं, पुरानी गुफाएँ ढूंढी जाती हैं और शताब्दियों से विस्मृत अक्षर पढ़े जाते हैं। इन सब चीजों से भारतीय समझते हैं कि बौद्ध-धर्म भारत में कितना व्यापक था और उसने भारतीय जाति को कितने व्यापक रूप म प्रभावित किया।

पिछली शताब्दियों में भारतीय कला का इतना सर्वनाश हुआ कि लोगों को भ्रम होने लगा कि कला भारतीय स्वभाव के विरुद्ध चीज़ है। लेकिन जब एक भूला भटका अँगरेज़ शिकारी अजन्ता की गुफाओं में जाकर वहाँ के अद्भुत चित्रों को देखता और दुनिया के सामने उसकी सूचना देता है, तो विदेशी दङ्ग हो जाते हैं और धीरे-धीरे अजन्ता की विस्मृत चित्रशालाएँ संसार के कलाकारों और कला-प्रेमियों का पवित्र तीर्थ हो जाती हैं। बाहरी दुनिया के इस सम्मान को देखकर भारतीय का सिर ऊंचा हो उठता है; और वह अजन्ता के निर्माताओं के सामने नत-मस्तक होता है। उसके बाद उसे मालूम होता है कि यह उसी धर्म की देन है, जिसे सात सौ वर्ष पहले देश-निकाला मिला था। उस वक्त हृदय से एक ठंडी साँस के साथ कृतज्ञता का भाव प्रकट होता है। वह समझता है कि चित्रकला में किसी समय हम संसार

में किसी से पीछे न थे; और इसका श्रेय बहुत हद तक बौद्ध-धर्म को है।

जब वह मूर्तिकला और प्रस्तर शिल्प की ओर दृष्टि डालता है, तो उसके सामने साँची, भरहुत के स्तूप, सारनाथ का सिंह-स्तम्भ, कारले की गुफाएँ सबसे पहले आती हैं। ईसा के पूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दी के ये उत्कृष्ट नमूने संसार को चकित कर चुके हैं, और हरेक शिक्षित भारतीय को उन्हें अपने गौरव की बात समझना स्वाभाविक ही ठहरा; इस गौरव को भी दिलानेवाला यदि बौद्ध-धर्म दिखाई पड़ता है, तो वह कैसे भुलाया जा सकता है ?

साहित्य-निर्माण में भी बौद्धों का स्थान बहुत ऊँचा रहा है। वाल्मीकि के बाद अश्वघोष ही को हम प्रथम महान् कवि पाते हैं। उसके 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरानन्द' काव्यों को देखने से पता लगता है कि कविकुलगुरु कालिदास उसके कितने ऋणी हैं। संस्कृत और प्राकृत के काव्यों के बाद, जब देशी बोली का आरम्भ होता है, और हमारी हिन्दी अपने प्राचीन रूप में दिखाई पड़ती है, तब ८५० ई० में हम हिन्दी के आदिकवि 'सरहा' को दोहा लिखते देखते हैं। 'सरहा' की शिष्य-परम्परा के चौरासी सिद्धों ने हिन्दी की अपने दोहों और गीतों द्वारा जो सेवा की है, उसे हम अपने अज्ञान के ही द्वारा विस्मृत कर सकते हैं। इस प्रकार साहित्य-क्षेत्र में बौद्धों का काम बड़े महत्व का है।

विचारों में क्रान्ति पैदा करना बुद्ध और उनके अनुयायियों का एक विशेष काम रहा है। उन्होंने स्वतन्त्र विचार और बुद्धिवाद पर नागार्जुन, असङ्ग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति जैसे महान् दार्शनिकों और विचार-स्वातन्त्र्य के पुजारियों को पैदा किया। जिन्होंने हमारी विचारशैली में महान् परिवर्तन किये और शताब्दियों तक जो विचार सघर्ष होते रहे, उसी से हमको न्याय, वैशेषिक, वेदान्त दर्शनों की प्राप्ति हुई। उनके विचार इतने प्रौढ़ थे कि उनमें से कितनों को विरोधी भी अपनाने को मजबूर हुए। योगाचार्य (असङ्ग) के विज्ञानवाद की शङ्कर के वेदान्त से इतनी समता है कि उनके विरोधी उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध कहा करते थे। शङ्कराचार्य के नित्य विज्ञान से तो योगाचार्य के क्षणिक-विज्ञान का भेद भी है; किन्तु काश्मीर के शैवों ने तो ठीक क्षणिक-विज्ञान के रूप ही को अपना लिया। भारतीय न्याय दर्शन जहा तक आज पहुँचता है, वहा तक न पहुँचता यदि वसुबन्धु, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति ने उसे उतना सोचने पर मजबूर न किया होता। बौद्ध नय्यायिक धर्मकीर्ति का पाश्चात्य विद्वानों से "भारतीय काण्ट" की उपाधि प्राप्त करना ही इस बात का द्योतक है कि बौद्धों ने भारत के न्याय-क्षेत्र में कितना उच्च स्थान ग्रहण किया था। धर्मकीर्ति का दिमाग़ कितना साफ और सीधा था और मानसिक बन्धनों से वह कितना मुक्त था, यह उसके प्रमाण-वार्तिक के इस श्लोक से मालूम होगा—

> वेद प्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः।
> स्नाने धर्मेच्छाजातिवादावलेपः
> सन्तापारम्भः पापहानाय चेति
> ध्वस्तप्रज्ञाना पञ्चलिङ्गानि जाड्ये॥

(बुद्धि के भी ऊपर पोथी रखना, संसार के कर्ता ईश्वर को मानना, स्नान कराने से धर्म होने की इच्छा, जन्म जात का अभिमान, पाप नाश कराने के लिये शरीर को सन्तप्त करना, जिनकी अक़ल मारी गई है, उनकी जड़ता के ये पाच लक्षण हैं।)

वैसे तो भारतीय संस्कृति के हर एक अङ्गों में बौद्धों की सेवा अपूर्व है, तो भी दर्शन के क्षेत्र में तो वह सबसे बढ़कर है।

बौद्ध-धर्म से पहले भारतीय संस्कृति और विचारों का प्रभाव-क्षेत्र भारतीयों तक ही परिसीमित था। पर बौद्ध धर्म की प्रधानता के साथ, ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दी से वह भारत से बाहर दूर तक फैलने लगा। उसकी संस्कृति के अग्रदूत पश्चिम में जहाँ यूरोप के मैसेदूनिया और अफ्रीका के मिस्र तक पहुँचे; वहा पूरब में उन्हें प्रशान्त महासागर की विशाल जलराशि

जापान पहुँचने से रोक न सकी। उत्तर में हिमालय के उत्तुङ्ग शिखर और गोबी का दुर्लंघ्य रेगिस्तान भी जहां उन्हें तिब्बत और साइबेरिया तक पहुँचने में बाधा नहीं दे सका, वहां हिन्द महासागर को पार कर दक्षिण में जावा और बाली तथा आस-पास के द्वीप-समूहों में उन्होंने अपनी धर्म-ध्वजा फहराई। इसका प्रभाव भारतीयों के ऊपर कितना अधिक पड़ा होगा कहां उनका प्रचार-क्षेत्र और दृष्टि-विस्तार भारत के प्रान्तों अथवा अधिक से अधिक भारतीय सीमा के भीतर ही तक परसीमित था; और कहा इस विशाल कार्यक्षेत्र के कारण उनमें मानसिक भावों का विस्तृत होना! जिस समय नालन्दा की ओर पूरब, पच्छिम, दक्षिण सभ्य दुनियाँ के कोने कोने से विद्यार्थी अपनी ज्ञान-पिपासा बुझाने के लिये आते थे और वर्षों उस महान् शिक्षणालय में विद्यावगाहन कर अपने साथ सम्मान-पूर्ण मधुर स्मृति लेकर स्वदेश को लौटते थे, उनके द्वारा भारत के प्रति कितना सद्भाव दूर-दूर के देशों में प्रसारित होता था। और इसके लिये उन्नत मस्तक हो भारत अपनी कितनी सकीर्णताओं को तिलाञ्जलि दे उदार हृदय बनता था। उस समय उसमें उस कूप-मण्डूकता का आना सम्भव ही न था, जिसे हम अभी हाल तक अपने में पाते रहे हैं, और पाते हैं।

बौद्ध-धर्म द्वारा ही हम भारत के साहसिक जीवन के विकास को बहुत ऊंचा उठता देखते हैं। बौद्ध धर्म प्रचारक अपने आदर्श लोक-सेवा के उद्देश्य के लिये बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को तिनके के समान समझते थे। इसी साहस का परिणाम था कि हम बुद्ध-निर्वाण की ४-५ शताब्दियों के भीतर ही बौद्ध-धर्म को उस समय के सारे सभ्य जगत् में प्रसारित और सम्मानित देखते हैं। जवानों की बात तो छोड़ दीजिए, दीपङ्कर, शान्तरक्षित शाक्य श्री भद्र जैसे महान् विद्वान् साठ-साठ अस्सी-अस्सी वर्ष की उमर में हिमालय की दुर्गम घाटियों को पार कर तिब्बत पहुंचे हैं। दुनिया में बौद्ध-धर्म ही यह कहकर गर्व कर सकता है कि उसने अपने प्रचार में कभी तलवार की सहायता नहीं ली।

बुद्ध वाणी

"जैसे भिक्षुओ, कोई व्यक्ति तृणों की प्रज्वलित मशाल लेकर आवे और कहे—'मैं इससे गङ्गा नदी को उष्ण करूंगा परितप्त करूंगा।' तो क्या मानते हो भिक्षुओ! कि वह व्यक्ति प्रज्वलित तृण-उल्का से गङ्गा को उत्तप्त करने में सफल होगा, परितप्त करने में समर्थ होगा?

नहीं भन्ते!

यह किस कारण?

भन्ते! गङ्गा तो गम्भीर है, अथाह है, वह जलती हुई तृण-उल्का से उष्ण नहीं की जा सकती, परितप्त नहीं की जा सकती। वह व्यक्ति व्यर्थ ही आयास और कष्ट स्वीकार करेगा!

ऐसे ही भिक्षुओ! वचन के पांच मार्ग हैं जिनके द्वारा अन्य व्यक्ति तुमसे बोलते हैं—काल या अकाल से, भूत या अभूत से, स्नेह या कटुता से, सार्थकता या निरर्थकता से और मित्रभाव या विद्वेष से। भिक्षुओ! अन्य चाहे काल से वार्तालाप करें, चाहे अकाल से, भूत से चाहे अभूत से, स्नेह या कटुता से, सार्थकता या निरर्थकता से और मित्र भाव या विद्वेष भरे चित्त से, पर भिक्षुओ तुम्हें इस प्रकार सोचना चाहिये—'मैं अपने चित्त में न विकार आने दूंगा और न कुवचन कहूंगा—मित्रभाव से हितैषी होकर विहरूंगा विद्वेषपूर्ण चित्त से नहीं। उस व्यक्ति को अपने मित्र-भाव से प्लावित करके विहरूंगा और उसे लक्ष्य करके सम्पूर्ण संसार को अपने विपुल मैत्रीपूर्ण चित्त से और वैरहीन भाव से प्लावित कर विहरूंगा।

—ककचूपम सुत्तन्त से (मज्झिम निकाय)

मैं बौद्ध क्यों हूं

भदन्त आनन्द कौसल्यायन,



यह जानने के लिए कि वर्तमान संसार दिन प्रति-दिन 'धर्म' से दूर भाग रहा है, हमें किसी ग्रन्थ के पन्ने पलटने की जरूरत नहीं। धर्म से दूर भागने से हमारा मतलब इस बात से नहीं कि आज हम अपने मन्दिरों, मसजिदों तथा गिर्जों की ओर से उदासीन और इस बात से भी नहीं कि हमारे पूर्वज तो धर्म के मूर्तिमान् स्वरूप थे और हम उनकी संतान उनके बिल्कुल प्रतिकूल हैं। वर्तमान संसार के धर्म से दूर भागने से हमारा मतलब यही है कि एक आदर्शवादी तरुण जब आज किसी आदर्शविशेष की ओर अग्रसर होता है, तो उसका आदर्शमय क्रियात्मक जीवन, किसी धार्मिक या मज़हबी कार्यक्रम का रूप धारण करना नहीं चाहता। मुझे यूरोप के देशों में जो कुछ रहने का मौक़ा मिला और उस समय में जितने युवकों के संसर्ग में आया, लगभग उनमें भी मुझे एक बात दिखाई दी; वह यह कि अपने आप को साम्यवादी, कम्यूनिस्ट आदि कहने से पहले तो वह बहुत विचार करते, लेकिन अपने आपको वैजलियन वा प्रैसबिटेरियन कहते समय—अपने नाम के साथ कोई न कोई ईसाई उपाधि लगाते समय—वह कुछ वैसा विचार न करते। उनके अपने अपने देशों तथा संसार की राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं ने उनका ध्यान अपनी ओर कुछ ऐसा आकर्षित किया कि उन बेचारों के लिए परंपरागत ईसाइयत की ओर से उदासीन होने के अतिरिक्त और कोई उपाय न रहा।

अपने ही देश की बात लीजिये। पिछली शताब्दी में उत्तर भारत के उन्नतिशील तरुणों में अधिकांश आर्यसमाजी थे, पूर्वीय भारत में अधिकांश ब्रह्मसमाजी थे और पश्चिमीय भारत में प्रार्थनासमाजी; लेकिन आज क्या दशा है? आज भारतीय तरुण अपने देश की सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने में कुछ ऐसा उलझा हुआ है कि इस बात की फ़ुरसत ही नहीं कि वह इस का निर्णय करता फिरे कि वह आर्यसमाजी है या सनातनधर्मी। अधिक उन्नतिशील तरुणों को तो इस बात की फ़िकर नहीं कि लोग उन्हें हिन्दू कहते हैं या मुसलमान। वे तो केवल यह चाहते हैं कि भारत इस चतुर्मुखी दासता से मुक्त हो। कहने का मतलब यह कि विचार के क्षेत्र में कुछ आगे बढ़ सकने का साहस रखनेवाले लोग 'धर्म' की ओर से उदासीन हैं।

अपने समीपस्थ स्याम, चीन, जापान आदि देशों के वर्तमान आन्दोलनों का ज्ञान भी हमारे इसी विचार का समर्थन करता है।

भिन्न भिन्न देशों की परिस्थिति में और चाहे कुछ भी अन्तर हो, एक बात स्पष्ट दीख पड़ती है। वह यह कि लगभग सभी देशों में वर्तमान प्रगतिशील युवकों के विचार परंपरागत 'धर्म' के बन्धनों से मुक्त होने के पक्ष में हैं।

हाँ, तो अब प्रश्न यह है कि इस आधुनिक विचार-धारा से, जो कि इस धर्मविरोधिनी स्वरूप में प्रकट हो रही है, भिन्न भिन्न धर्मों को कहा तक खतरा है ? क्या सभी धर्मों के लिए यह समानरूप से ख़तरे की घटी है ? क्या बौद्धधर्म अथवा भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं के लिए भी यह वैसा ही भयावह संदेश है जैसा और धर्मों के लिए ? आधुनिक विचारधारा का थोडा सूक्ष्म अध्ययन करने पर हमें उसमें दो चार ख़ास ख़ास बातें दिखाई देंगी। प्रथम तो आज कल के प्रगतिशील विचार के लोगों को यह बात नहीं रुचती कि वह किसी एक ही व्यक्ति की बातों मे—चाहे वह व्यक्ति कितना ही बड़ा क्यों न हो—सतुष्ट हो जायँ। उनकी चतुर्मुखी प्रवृत्ति इस बात की खोज मे लगी रहती है कि जहाँ कहीं से भी उनको कोई नया प्रकाश मिल सके, वह उसे ग्रहण किये बिना न छोड़ें। गीता के "मामेक शरणं व्रज" में जो सपूर्ण आत्मसमर्पण का भाव है, उससे वर्तमान विचारधारा दिन प्रतिदिन दूर हटती जा रही है। बौद्धधर्म का इस प्रगति के प्रति क्या भाव है ? एक बौद्ध जब अपने आपको बौद्ध कहता है, तो वह अपने आपको किसी भी एक अकेले व्यक्ति का अनुयायी नहीं कहता। उसका मन्त्र है कि जो भी भूतकाल में बुद्ध (=जगे हुए) रहे हैं जो वर्तमान काल में बुद्ध (=जागे हुए) हैं और जो भविष्य में बुद्ध (=जागे हुए) होंगे, मैं उन सबको प्रणाम करता हूं[1]। बुद्ध किसी का व्यक्तिगत नाम नहीं है। वह तो एक प्रकार का पद है, जिसे शाक्यमुनि गौतम ने प्राप्त किया था। और उसे जो प्रयत्नवान् चाहे प्राप्त कर सकता है। अनुश्रुति के अनुसार शाक्यमुनि गौतम से पहले अनेक बुद्ध हो चुके हैं। इसलिये बौद्धधर्मी को चाहिए कि उसे जहाँ से भी प्रकाश मिले उसे ग्रहण करने के वास्ते सदा उद्यत रहे। शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से भी गौतम बुद्ध का अनुयायी एक ऐसे पुरुषोत्तम का अनुयायी है, जिसने जो कुछ भी उपदेश दिया, वह अपने (आत्म) अनुभव मे दिया। अनेक दूसरे उपदेष्टाओं ने अपने उपदेशों को किसी इल्हामी किताब अथवा किसी ईश्वरीय ग्रन्थ पर आश्रित बताया है। हज़रत मुहम्मद का कहना था कि वह ख़ुदा के पैग़ंबर हैं और जो कुछ वह कहते हैं वह ख़ुदा के हुक्म से कहते हैं। अतः कुरान इल्हामी किताब हुई। हज़रत ईसा की भी यही मान्यता थी कि वह अपनी ओर से कुछ नहीं कह रहे हैं; जो कुछ वह कहते हैं, वह परमपिता परमात्मा की ओर से कहते हैं। अतः बाइबिल भी इल्हामी किताब हुई। यही हाल अन्य अनेक उपदेष्टाओं और उनकी किताबों का रहा। किसी ने माना है ईश्वरीय उपदेश सृष्टि के आदि में हुआ था, किसी ने उसे सीधा अपने ही ग्रहण करने का दावा किया है। बुद्ध का कथन इन सबके सर्वथा प्रतिकूल रहा है। न उन्होंने अपने को ईश्वर का अवतार कहा, न अपने को ईश्वर का पुत्र और न ईश्वर का पैग़ंबर (=सदेशग्राहक)। अपने व्यक्तिगत अनुभव से जिस ज्ञान का उन्हें बोध हुआ उसका उन्होंने बिना किसी भेदभाव के उपदेश दिया। उन्होंने यह नहीं कहा कि "मैं ही सत्य हूँ", किन्तु यह कहा कि "मैंने सत्य ढूंढ निकाला है"। जिस जिसको उस आत्मानुभव का परिचय प्राप्त करने की आवश्यकता रही है, उस उसने उनके जीवनकाल में तथा उनके बाद, उस आत्मानुभव का परिचय प्राप्त करने को कोशिश की है। बुद्ध का ज्ञान तथा उनका उपदेश केवल उनके आत्मानुभव का परिणाम है।

अतः बौद्धधर्मानुयायी इस बात के लिए स्वतन्त्र हैं कि वे जहा से चाहें प्रकाश ग्रहण करें। बौद्धधर्म वर्तमान काल की इस चतुर्मुखी (फैलाव की) प्रवृत्ति का स्वागत करता है।

आधुनिक विचारधारा की दूसरी प्रवृत्ति यह है कि वह दिनोंदिन अधिक से अधिक आलोचनात्मक होती जा रही है। अन्धी श्रद्धा या अन्धा विश्वास करने वालों की गिनती घट रही है। नई पीढ़ी के लड़के

१—ये च बुद्धा अतीता च ये च बुद्धा अनागता च पच्चुप्पन्ना च ये बुद्धा अहं वन्दामि सब्बदा

लड़की अपने बड़े बूढ़ों से हर जगह यह प्रश्न पूछते दिखाई देते हैं कि हम अमुक काम करें तो क्यों करें? बड़े बूढ़ों को यह स्वभावतः अच्छा नहीं लगता। लेकिन क्या किया जाय? समय की प्रगति है।

हां, तो बुद्ध की शिक्षाओं का इस आलोचनात्मक प्रवृत्ति के प्रति क्या भाव है? बुद्ध इसके विरोधी नहीं हैं, समर्थक हैं। उनका कहना है कि किसी भी बात को केवल इसलिए स्वीकार मत करो कि वह 'बुद्ध-वचन' है, बल्कि जिस प्रकार सुनार सोने को आग में तपाकर उसके खरे खोटे का निश्चय करता है, उसी प्रकार प्रत्येक बात को अपने अनुभव की कसौटी पर कसकर स्वीकार करो।

अंगुत्तरनिकाय[1] में एक कथा आती है। एक बार भगवान् बुद्ध केसपुत्तिय नामक गांव में ठहरे थे। उस गांव के निवासियों ने (जिनका नाम कालाम था) आकर पूछा—"भंते! हमारे गाँव में कुछ लोग आते हैं वे अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं और औरों के सिद्धान्त का खण्डन। हम कैसे जानें कि किसकी बात सच्ची है और किसकी झूठ?"

भगवान् ने कहा—"कालामो! यह तो स्वाभाविक ही है कि मनुष्य के हृदय में किसी किसी विषय में संदेह उठे। तुम किसी बात पर केवल इसलिये विश्वास मत करो कि तुमने उसे किसी से सुना है, केवल इसलिए विश्वास मत करो कि वह बात बाप दादा से चली आई है, केवल इसलिये विश्वास मत करो कि उसके कहनेवाले अनेक लोग हैं, केवल इसलिए विश्वास मत करो कि वह तुम्हारे धार्मिक ग्रन्थों में लिखी हुई है, केवल इसलिये विश्वास मत करो कि उसके कहनेवाले तुम्हारे आदरणीय गुरुजन हैं; बल्कि हरएक बात को बुद्धिपूर्वक विचारकर देखो कि वह तुम्हारे तथा औरों के लिये कल्याणकर है या नहीं? यदि कल्याणकर प्रतीत हो, तो उसे स्वीकार करो और उसके अनुसार आचरण करो।"

एक दिन की बात है, मैं अपने लन्दन के बौद्ध-विहार के एक कमरे में बैठा था। एक सज्जन, जिनकी आयु लगभग ८० वर्ष की थी और जिन्होंने अपने जीवन का अधिकांश एक ईसाई पादरी के तौर पर व्यतीत किया था, मुझसे मिलने के लिये आये, और जाते समय अपनी एक किताब भेंट करते गये। किताब का नाम था 'भविष्य में संसार का धर्म।' मेरे आश्चर्य और प्रसन्नता की हद न रही, जब मैंने देखा कि पुस्तक के मुखपृष्ठ पर जो उद्धरण है, वह कालामों को दिया हुआ भगवान् का उक्त उपदेश ही है।

उस पुस्तक में यद्यपि उन्होंने यह नहीं कहा था कि भविष्य में संसार का धर्म बौद्ध धर्म होगा, तो भी उनका कहना इतना अवश्य था कि भविष्य में संसार का जो भी धर्म हो, वह कोई इल्हामी धर्म न होगा। लेखक के इस निश्चय पर पहुँचने के अनेक कारण हो सकते हैं, लेकिन मुख्य कारण मेरी सम्मति में यह है कि इल्हाम की कल्पना तथा ईश्वर की कल्पना दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं। ईश्वर को मानने वाले लगभग सभी धर्मों में श्रुति का उद्गमस्थान ईश्वर है। और दूसरी ओर ईश्वर को केवल इसलिये स्वीकार किया गया है कि वह श्रुतिप्रतिपाद्य है। इसका अर्थ है कि ईश्वर और श्रुति दोनों अन्योन्याश्रित हैं। यदि आप श्रुति को मानते हैं, तो आपको ईश्वर को मानना होगा, क्योंकि श्रुति ईश्वर का प्रतिपादन करती है; और यदि आप ईश्वर को मानते हैं, तो आपको श्रुति में भी विश्वास करना होगा, क्योंकि आप ईश्वर को इतना लापरवाह वा इतना बेरहम नहीं समझ सकते कि वह अपने प्यारे पुत्रों को उत्पन्न करे और उनकी जीवनयात्रा को सफल बनाने के लिये सृष्टि के आदि में उनको ज्ञान न दे और अन्धकार में रहने दे।

उक्त शब्द कुछ सज्जनों को तनिक कठोर लगेंगे, लेकिन स्थिति को स्पष्ट करने के लिये वे आवश्यक हैं। बुद्ध की शिक्षाओं का इस वर्तमान आलोचनात्मक प्रवृत्ति से भी विरोध नहीं, वे इसकी समर्थक हैं।

[1]—त्रिपिटक का एक ग्रन्थ।

आधुनिक काल की विचारधारा की तीसरी प्रवृत्ति यह है कि वह वर्तमान संसार के वैज्ञानिक अनुभवों के विपरीत नहीं जा सकती। मैडम डेविड् नील नामक प्रसिद्ध फ्रेंच रमणी का कथन है कि "डारविन के विकासवाद के सिद्धान्त ने पाश्चात्य विचारों में आमूल परिवर्तन कर दिया है, और ईसाई पादरी इस बात के लिये मजबूर हो गये हैं कि या तो वे विकासवाद को केवल एक सुन्दर कल्पना कहकर उसकी ओर बिल्कुल ध्यान न दें या फिर उसके साथ केवल बाहरी ऐक्य भी पैदा करने के लिये अपने अनेक सिद्धान्तों का परित्याग करें।" इसी लेखिका ने आगे चलकर लिखा है कि यद्यपि ईसाइयों में से अधिकांश पादरियों ने पहला ढंग इख्तियार किया है, लेकिन फिर भी प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय के ऐसे अनेक आचार्य हैं, जिन्होंने दूसरा ढंग ग्रहण किया है। उसका परिणाम यह हुआ है कि आज वे जिस ईसाइयत का उपदेश कर रहे हैं, वह एक प्रकार से बिल्कुल नया ही धर्म हो गया है।"

बुद्ध की शिक्षाओं की बात इससे बिल्कुल भिन्न है। बुद्ध को आप बिना किसी भय के विकासवाद का समर्थक कह सकते हैं। उनके विचार में और वर्तमान समय के अनेक पाश्चात्य वैज्ञानिकों के विचार में आपको बड़ी समानता दिखाई देगी। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि बौद्ध धर्म की सभी शिक्षाएं वर्तमान साइन्स के सभी नतीजों के साथ पूर्णतः मेल खा लेती हैं। वैसा होना आवश्यक भी नहीं। वर्तमान साइन्स किन्हीं विशेष परिणामों का नाम नहीं। वह सत्य की ओर बढ़ने का केवल एक ढंग है, एक तरीक़ा है। बौद्ध धर्म इस तरीक़े के विरुद्ध नहीं, वह इसके साथ साथ चलने के लिये तैयार है। यह दूसरी बात है कि कुछ बातों में वह एक क़दम आगे बढ़ा है।

इसलिये बुद्ध की शिक्षाएं वर्तमान काल की इस तीसरी प्रवृत्ति के मार्ग में भी रोड़ा नहीं अटकातीं।

दिन प्रतिदिन यथार्थवाद की ओर अधिक से अधिक बढ़ने की प्रवृत्ति को हम वर्तमान काल की विचारधारा की चौथी विशेषता कह सकते हैं। यह प्रवृत्ति आधुनिक उपन्यासों तक में स्पष्ट दिखाई देती है। वे दिन प्रति दिन यथार्थवादी (realistic) होते जा रहे हैं। बात कुछ ज़रा दूर की मालूम देगी, लेकिन मुझे यह प्रवृत्ति भी अत्यन्त सार्थक प्रतीत होती है। मैं समझता हूँ कि बौद्ध विचार भी यथार्थ-वादी हैं। उदाहरण के लिये, यह जो दुःखरूप संसार है उसे बुद्ध न तो मिथ्या कहते हैं, न माया। उनका कथन है कि यह एक वास्तविकता है और बड़ी कठोर वास्तविकता है। अपने व्यक्तिगत मज़े के छोटे से संसार में फंसे रहकर अंधे हुए हम लोग अपने इर्द-गिर्द के दुःख को देख सकें या न देख सकें, उसकी ओर से हम उदासीन नहीं हो सकते, अपनी आंखें नहीं मूंद सकते। अंधे बने रहने से हमारा काम न चलेगा। बिल्ली के आने पर कबूतर अपनी आँखें मूंद लेता है; समझता है कि जैसे मैं बिल्ली को नहीं देखता, वैसे ही वह भी मुझे न देखती होगी। लेकिन इससे क्या वह बिल्ली से बच जाता है? कभी नहीं। वैसे ही हम यह जो अपने को प्रतिक्षण अनुभव होने वाला दुःख है, उसे 'मिथ्या' या 'माया' समझ कर उससे पीछा नहीं छुड़ा सकते। हमें उसका नाश करना होगा।

कुछ लोग चित्र को नहीं देखते, चित्र की पृष्ठिका (Background) को देखते हैं। उनका कहना है कि बौद्धधर्म निराशावाद का धर्म है। हाँ, ऐसा अवश्य प्रतीत होता है, लेकिन तभी तक जब तक मनुष्य यह नहीं समझ जाता कि वास्तव में बौद्धधर्म दुःख का नाश करनेवाले मार्ग का उपदेश करता है। एक ईसाई पादरी ने कहा 'संसार दुःखमय है' यह कहना अधिक से अधिक एक अर्धसत्य है।

मैंने कहा, 'हाँ'।

दूसरा अर्धांश यह है कि दुःख से बच निकलने का एक मार्ग है। जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र, चिकित्सा से पहले का निदान करने मात्र के कारण रोग फैलानेवाला शास्त्र नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार बौद्धधर्म दुःख के नाश का मार्ग बताने से

पहले दुःख का निदान करनेवाला धर्म होने से निराशावादीधर्म नहीं कहा जा सकता। बुद्ध का अपना वचन है कि 'हे भिक्षुओ! समुद्र के जल का केवल एक रस है, और वह है नमकीन रस। उसी प्रकार मेरी शिक्षाओं का केवल एक रस है, और वह है विमुक्ति रस।''

हाँ, तो बुद्ध की शिक्षाएँ वर्तमान काल की इस प्रवृत्ति के भी विरुद्ध नहीं जातीं।

आधुनिक विचारधारा की एक और विशेषता है, जिसकी ओर आधुनिक समाज का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ है। वह है वर्तमान समाज का "हम बड़े हैं" की प्रवृत्ति के विरुद्ध आन्दोलन करना। शायद ही कोई दूसरा ऐसा मिथ्या विश्वास हो, जिससे मनुष्यसमाज की इतनी हानि हुई हो, जितनी कि इस "हम बड़े हैं" के मिथ्याविश्वास से।

"कुछ वर्ष हुए", हाल्दार महाशय ने लिखा है कि "मैं छोटानागपुर (बिहार) की तरफ घुमक्कड़ बना घूम रहा था। वहाँ 'मुण्ड' तथा 'हू' नामक आदिम निवासी जातियों से मेरा संपर्क हुआ। उन बहुत सी बातों में, जो मैंने इन जातियों में देखीं, एक बात, जिसने मेरा ध्यान विशेषरूप से आकृष्ट किया, यह थी कि ये लोग अपने को छोड़कर और किसी को मनुष्य (= हू) नहीं समझते। इन्होंने हिन्दू-समाज की जाति पाँति की कुछ बातों को अपना लिया है। वे एक कुत्ते के साथ हिस्सा बाँट लेंगे, लेकिन एक ब्राह्मण का हाथ लगने पर, वे फिर उस पानी को न पीयेंगे।" इन्हीं लेखक का कथन है कि एक बार उन्होंने देखा, अकाल के दिन थे, बहुत से आदिम निवासी एक मुफ्त की भोजनशाला में भोजन कर रहे थे। एक ईसाई मिशनरी ने अपने फोटो के कैमरे के साथ, उनके बाँस के घेरे में पाँव रख दिया। सब अपनी अपनी पत्तल छोड़कर भाग गये।

ऐसा है यह 'हम बड़े हैं' का बड़प्पन! ऐसा है यह 'हम बड़े हैं' का रोग!!

सौभाग्य की बात है कि भगवान् बुद्ध की शिक्षा किसी प्रकार की जाति पाँति और ऊँच नीच को स्वीकार नहीं करती। वह न तो ब्राह्मण को ऊँचा समझती है, न शूद्र को नीचा। वास्तविक बात तो यह है कि भगवान् बुद्ध की शिक्षा के अनुसार न तो कोई ब्राह्मण के घर में जन्म लेने से ब्राह्मण होता है, न शूद्र के घर में जन्म लेने से शूद्र। मनुष्य को उसका कर्म ही ब्राह्मण और शूद्र बनाता है।[1]

सिंहलद्वीप में बौद्ध और हिन्दू साथ साथ रहते हैं। जहाँ तक बौद्धों का सम्बन्ध है, सभी लोग उनके मन्दिरों में बिना किसी भेदभाव के जा सकते हैं; लेकिन भारत की ही तरह वहाँ भी सनातनधर्मी हिंदू अछूत जातियों को अपने मन्दिरों मे नहीं जाने देते।

यहा मैं केवल यह दिखाना चाहता हूँ कि भगवान् बुद्ध की शिक्षा इस "हम बड़े हैं" के रोग के लिए रामबाण औषध है। और जो लोग इस "हम बड़े हैं" के अभिमान के विरुद्ध किसी भी रूप में कुछ कार्य कर रहे हों, वे भगवान् की शिक्षाओं से बहुत लाभ उठा सकते हैं।

वर्तमान समय के प्रगतिशील विचार की एक और प्रवृत्ति हमारी समझ में यह है कि वह युद्ध के विरुद्ध युद्ध करना चाहती है। महात्मा गाधी जिन्होंने शान्ति स्थापित रखने के लिए सबसे अधिक प्रयत्न किया है, रूस के प्रो० रोएरिक, जो हिमालय मे एक आश्रम में रहते हैं, आइसटाइन, जिन्हें हिटलर की हिटलरशाही के कारण जर्मनी छोड़कर भाग जाना पड़ा तथा संसार के अन्य अनेक नेताओं का यही प्रयत्न रहा कि वे भिन्न भिन्न जातियों को इस सिरफुटौवल से बचा सकते। पिछले १९१४ के महा सग्राम के बाद से ही यूरोप की सारी सभ्य जनता सग्रामवाद से तग आई हुई थी। इस सग्राम में तो यूरोपियन सभ्यता का सफाया ही हुआ समझो।

शान्तिवाद के वर्तमान् और भविष्य के कार्यकर्ताओं को भगवान् बुद्ध की शान्तिदायिनी शिक्षा से बढ़कर कोई दूसरा सहायक मिलना कठिन है।

---

१ न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मना वसलो होति, कम्मना होति ब्राह्मणो॥

उनकी शिक्षा में जीवहिंसा के लिए कहीं तनिक भी स्थान नहीं। और यह उन्हीं की शिक्षा का परिणाम है कि पिछले २५०० वर्षों में बौद्धों ने धर्मप्रचार के लिए किसी प्रकार से हाथ नहीं उठाया, यद्यपि उन पर अनेक ओर से अत्याचार हुए।

समय की प्रगति के अनुकूल होने के अतिरिक्त बौद्धधर्म की एक अपनी बड़ी विशेषता है,—वह है बौद्धधर्म का आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग। मनुष्य आजतक जिन ऊचे से ऊचे आदर्शों की कल्पना कर सका है, उन सबका समावेश इस आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग में होता है। यह किन्हीं गिने चुने सिद्धान्तों अथवा मतों का संग्रह नहीं। जो सत्य है, जो कल्याणकर है, जो दुःख के नाश में सहायक है, वही सब आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग है।

उक्त बातों पर विचार करने से कदाचित् आप हमारे साथ इस बात में सहमत होंगे कि यद्यपि बुद्ध ने आज से २५०० वर्ष पूर्व उस समय उपदेश दिया था जब लोग धर्म को विज्ञान से बहुत ऊचा समझते थे, लेकिन उनकी शिक्षाओं का मूल्य आज भी उतना ही है, जब लोग विज्ञान को धर्म से बढ़कर समझने लगे हैं। इन्हीं कुछ कारणों से मैं अपने को बौद्ध कहता हूं।

बुद्ध-वाणी

तथागत ने कहा—जैसे कोई व्यक्ति अस्थान पथ पर चलते चलते एक ऐसे विशाल समुद्र तक पहुँच जावे जिसके इस ओर के तट पर भय और आशंका हो तथा उस ओर के तट पर क्षेम और भयशून्यता। वहा न पार पहुँचानेवाली नाव हो और न वार पार जोड़ने वाला सेतु। तब वह व्यक्ति सोचे—अहो यह तो अथाह जलराशि है! इसका इधर का तीर भय और आशंका से भरा हुआ है और उधर का क्षेम तथा भय-शून्यता से। न तो यहा पार पहुँचाने वाली नाव है और न वार पार मिलाने वाला सेतु। क्यों न मैं काष्ट-तृण-पत्र एकत्र कर बेड़ा बना लूँ और उसका अवलम्ब ले अपने हाथपैरों से परिश्रम करता हुआ उस पार पहुँच जाऊँ।

तब भिक्षुओ! वह पुरुष तृण-काष्ट-पत्र एकत्र कर बेड़ा बाँधे और उसके सहारे हाथपैर से श्रम करता हुआ पार उतर जावे। पार पहुँच जाने पर वह मन में विचार करे—यह बेड़ा मेरा महान उपकारक है, इसका अवलम्ब लेकर मैं हाथपैर से प्रयत्न करता हुआ पार उतरा हूँ क्यों न मैं इस बेड़े को सिर पर रखकर या कन्धे पर उठा कर जहां इच्छा हो वहा चलूँ! तो क्या मानते हो भिक्षुओ! ऐसा करनेवाला व्यक्ति उस बेड़े के सम्बन्ध में कर्तव्यपालक कहा जायगा?

नहीं भन्ते!

भिक्षुओ! वह पुरुष उस बेड़े से दुःख उठायेगा! यदि पार पहुँचकर उत्तीर्ण व्यक्ति सोचे—यह बेड़ा मेरे लिए महत उपकारक सिद्ध हुआ है, इसके सहारे हाथपैर से प्रयास करता हुआ मैं इस पार उतर सका हूँ, क्यों न इसे स्थल पर रखकर या पानी में डाल कर जहां इच्छा हो वहा जाऊँ! भिक्षुओ! ऐसा करनेवाला व्यक्ति उस बेड़े के प्रति कर्तव्यपालक होगा। ऐसे ही बेड़े के समान निस्तरण के लिए तुम्हें धर्मोपदेश दिया गया है, पकड़ रखने के लिए नहीं। उपदिष्ट धर्म को बेड़े के समान जानकर तुम उसे भी पकड़ न रखो—अधर्म की तो बात ही क्या है!

—अलगद्दूपम सुत्तन्त से (मज्झिम निकाय)

अभिधम्म क्या है ?

त्रिपिटकाचार्य, भिक्षु जगदीश काश्यप एम. ए.

परिचय

भगवान् के परिनिर्वाण पा लेने के बाद आनन्द, काश्यप, उपालि प्रभृति उनके प्रधान क्षीणाश्रव शिष्यों ने उनके उपदेशों का जो संग्रह किया उसी को, क्योंकि यह तीन भागों में विभक्त है, त्रि-पिटक कहते हैं। त्रिपिटक के ग्रन्थ, जो विस्तार में महाभारत के करीब तिगुने हैं, तत्कालीन भारतीय संस्कृति के ज्ञान के अमूल्य कोष हैं। विनय-पिटक और सुत्त पिटक के प्रधान अंशों का हिन्दी अनुवाद, महाबोधि सभा, सारनाथ, के सहयोग तथा दानी महानुभावों के साहाय्य से हम लोग पाठकों के समक्ष उपस्थित करने में समर्थ हुए हैं। हम लोगों को यह देखकर बड़ा आनन्द होता है कि इन अनुवादों से हिन्दी-पाठकों में पालि साहित्य की ओर रुचि बढ़ रही है।

किन्तु अभी तक हिन्दी में अभिधम्म-पिटक पर कुछ नहीं लिखा गया है। बौद्ध देशों में तो अभिधम्म का बड़ा सम्मान है और बिना इसका अध्ययन किए बौद्ध दर्शन का ज्ञान पूर्ण नहीं माना जाता है! 'महावंस' के पढ़ने से ज्ञात होता है कि लंका के राजा अभिधम्म के अध्ययन-अध्यापन में कितना उत्साह रखते थे। महाराज पञ्चम कस्सप (सन् ९२९ ई०) ने तो अभिधम्म के सारे ग्रन्थों को सोने के पत्तों पर खुदवा कर रक्खा था, और प्रथम ग्रन्थ 'धम्मसंगणि' के अक्षरों को तो बहुमूल्य रत्न के कणों से विभूषित कर दिया था। दूसरे बौद्ध देशों में भी अभिधम्म के प्रति आदर भाव के ऐसे उदाहरण अनेक हैं।

'अभिधम्म' भारतवर्ष की उपज है। हमारे पूर्वजों ने ही समाधि की अवस्था में इस दर्शन का साक्षात्कार किया। संसार से इसने जो इतना सम्मान पाया उसे सुनकर किस भारतीय की छाती ऊंची नहीं होगी, चाहे भले ही उसे कुछ पता न हो कि यह है क्या चीज़।

बर्मा में अभिधम्म का इतना प्रचार है कि वहाँ इसके बड़े बड़े विद्यालय हैं, जिनमें हजारों की संख्या में विद्यार्थी इसका अध्ययन करते हैं। लंका में भी इसके अध्ययन अध्यापन का बड़ा जबर्दस्त संगठन हो रहा है।

पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लंदन ने अभिधम्म के अनेक ग्रन्थों का अंगरेजी अनुवाद प्रकाशित करके अभिधम्म के पाण्डित्य की बड़ी सेवा की है ईसाई संस्था होते हुए भी इसने जो बौद्ध-साहित्य का इतना बड़ा उपकार किया है उसके लिए बौद्ध-जगत् में कृतज्ञता का प्रबल भाव है।

यह अत्यन्त दुःख की बात थी कि अभी हाल तक किसी भारतीय ने 'अभिधम्म' के अध्यापन करने का प्रयास नहीं किया था। हम लोगों ने अपने इस अमूल्य रत्न की जितनी उपेक्षा की है, शायद उतनी उपेक्षा किसी दूसरे राष्ट्र ने अपनी ऐसी चीज की न की होगी। हमारे इस कलंक को दूर करके 'अभिधम्म' के पाण्डित्य को फिर भी अपनी जन्म भूमि में शताब्दियों के प्रवास के उपरान्त, लाने का श्रेय श्रद्धेय प्रो० धर्मानन्द कोसम्बी को ही है। भाषा की तथा अन्य प्रकार की असुविधाओं के होते हुए भी किस कठिनाई से आपने लंका और बर्मा के भिन्न भिन्न मठों में रहकर 'अभिधम्म' का पाण्डित्य प्राप्त किया इसका संकेत आपने 'अभिधम्मत्थसंगह' पर अपनी पालि-टीका, नवनीतटीका, की भूमिका में किया है। आपके इस महान उपकार के लिये चिरकाल तक भारतीय संस्कृति के उद्धारकों में आपका नाम लिया जायगा।

× × ×

मूल-सिद्धान्त

सुत्त-पिटक में बार बार यह बताया गया है कि मनुष्य, या कोई भी सत्व, पाँच स्कन्धों से बना है।

'पञ्च-स्कन्ध' हमारी मानसिक और भौतिक स्थितियों का एक विभागीकरण मात्र है, जैसे—

१—रूप-स्कन्ध	भौतिक स्थितिया
२—वेदना-स्कन्ध ३—संज्ञा-स्कन्ध ४—संस्कार-स्कन्ध ५—विज्ञान-स्कन्ध	मानसिक स्थितिया

अब, प्रश्न उठते हैं—भौतिक और मानसिक स्थितिया, जो एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं, कैसे एकत्र होती हैं ? वे एक दूसरे को किस प्रकार प्रभावित करती हैं ? जन्म-ग्रहण कैसे होता है ? जीवन की अवस्था में उन स्थितियों का विकास कैसे होता है ? मृत्युक्षण में उनकी कैसी प्रवृत्ति होती है ? इत्यादि इत्यादि। इन्हीं प्रश्नों से 'अभिधम्म' शास्त्र का श्रीगणेश होता है।

पुग्गलपञ्ञत्ति और कथावत्थु, इन दो को छोड़ अभिधम्म पिटक के अन्य ग्रन्थों के दर्शन का विषय है "धम्म" (=मानसिक और भौतिक स्थितिया, तथा निर्वाण)। शायद इसीलिये इस शास्त्र का नाम 'अभि-धम्म' पड़ा है।

आचार्य अनुरुद्ध अपने 'अभिधम्मत्थसङ्गहो' नामक ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही लिखते हैं—

"तत्थ वुत्ताभिधम्मत्था चतुधा परमत्थतो।
चित्तं चेतसिकं रूपं निब्बानमिति सब्बथा॥"

अर्थात् अभिधम्म शास्त्र के अनुसार पदार्थ चार ही हैं, (१) चित्त, (२) चैतसिक, (३) रूप और निर्वाण।

चित्त

चित्त, मन, बुद्धि सभी पर्यायवाचक हैं।

"जैसे भेरि पर दण्ड का अभिघात होने से शब्द होता है, उसी प्रकार जब चक्षु आदि इन्द्रियों का रूप आदि विषयों से संयोग होता है तब 'चक्षु-विज्ञान' की उत्पत्ति होती है। जैसे 'शब्द' भेरि और दण्ड दोनों से असम्मिश्रित एक पृथक् सत्ता है वैसे ही 'चक्षु-विज्ञान' इन्द्रिय और विषय दोनों से असम्मिश्रित एक पृथक् सत्ता है।" (विशुद्धि-मार्ग १८-२३)।

लोभ, द्वेष, मोह, अलोभ (=परोपकारता), अद्वेष (=हितचिन्ता) और अमोह (=प्रज्ञा) मनुष्य में यह छः ऐसी प्रवृत्तियां हैं जिनसे प्रेरित हो कर वह किसी, अच्छे या बुरे कार्य में लगता है। इन प्रवृत्तियों को अभिधम्म की परिभाषा में 'हेतु' कहते हैं। जो चित्त किसी 'हेतु' से युक्त हैं उन्हें 'सहेतुक', और जो किसी से युक्त नहीं हैं उन्हें 'अहेतुक' चित्त कहते हैं। चित्त की क्षीण अवस्था में जिनमें हम पूरे सचेत नहीं हो पाते हैं 'अहेतुक' ही हैं, क्योंकि उनमें लोभ-द्वेषादि का होना सम्भव नहीं है।

'सहेतुक-चित्त' भी तीन प्रकार के हैं—(१) 'कुशल', (२) 'अकुशल' और (३) 'अव्याकृत'। 'अलोभ', 'अद्वेष' और 'अमोह' से प्रवृत्त हो कर हम लोग जो दानादि पुण्य कृत्य करते हैं सभी 'कुशल-चित्त' हैं। लोभ, द्वेष और मोह से प्रवृत्त हो कर जो चौरादि कुकृत्य होते हैं सभी 'अकुशल-चित्त' हैं।

'अव्याकृत-सहेतुक-चित्त' दो प्रकार के हैं—(१) 'विपाक' और (२) 'क्रिया'। 'अकुशल' या 'कुशल' चित्तों के संस्कार जो रह जाते हैं और जो हमारे व्यक्तित्व पर प्रत्येक क्षण प्रभाव डाल रहे हैं 'विपाक-चित्त' हैं। विपाक-चित्तों का स्कन्ध वाला सिद्धान्त, जिसकी अभिधम्म में बड़ी सुन्दर व्याख्या है, वर्तमान मनोविज्ञान के 'Subconscious' वाले सिद्धान्त से बड़ी समता रखता है। बल्कि 'अभिधम्म' उससे भी आगे जाता है, और जन्म से जन्मान्तर में किस प्रकार चित्त की सन्तति प्रवाहित होती है इसकी व्याख्या इसी 'विपाक-स्कन्ध' से करता है। 'विपाक-चित्त' को 'अव्याकृत' इसलिए कहा गया कि पहले किए कराये का फल होने के कारण इसे न 'कुशल' और न 'अकुशल' कह सकते हैं।

'क्रिया-सहेतुक-चित्त' वह चित्त है जिसमें 'अलोभ', 'अद्वेष' और 'अमोह' यह तीन प्रवृत्तिया वर्तमान तो हैं, किन्तु तृष्णा के अशेष निरुद्ध हो जाने के कारण उनका 'विपाक' नहीं होता। अतः

यह चित्त अर्हत के ही हो सकते हैं। 'अलोभ', 'अद्वेष', और 'अमोह' के कारण अर्हत् भी दान-बुद्धवन्दनादि कर्म कर सकता है, किन्तु सगातीत होने के कारण वे केवल 'क्रिया'—मात्र हैं, उनका विपाक सञ्चित नहीं होता। और 'विपाक-स्कन्ध' के निरुद्ध हो जाने के कारण शरीर-पात के बाद उसका पुनरागमन नहीं होता।

२ चैतसिक

चित्त के साथ ही साथ उत्पन्न और निरुद्ध होने वाले 'स्पर्श', 'वेदना', 'संज्ञा', 'वितर्क', 'विचार' आदि जो उत्पन्न और निरुद्ध होते हैं उन्हें 'चैतसिक' कहते हैं। ऐसे 'चैतसिक' कुल ५२ हैं। अभिधम्म में चित्त और चेतसिकों के परस्पर सम्बन्ध की व्याख्या अत्यन्त सूक्ष्म और गम्भीर है।

३ रूप

'रूप' गुणों का समुदायमात्र है। यदि अग्नि से उष्णता, प्रकाश, आदि सभी गुण अलग कर लिए जाय तो क्या उसकी स्थिति की भी कल्पना की जा सकती है? अत. उदाहरणार्थ, अभिधम्म मे 'पृथ्वी' न तो 'परमाणु-रूप' और न 'अन्धवती' है किन्तु यह 'कर्कशत्वलक्षण' है।.....

'विपाक-स्कन्ध' से प्रेरित हो कर जब चित्तसन्तति मरणोपरान्त जन्मान्तर में प्रवाहित होती है तो वहा प्रथम क्षण में ही 'हृदय' का प्रादुर्भाव होता है जो चित्त का आधार बनता है। फिर क्रमशः दूसरी इन्द्रियां भी विकसित हो जाती हैं। और फिर भी स्पर्श, वेदना तृष्णा आदि का सिलसिला चलता है।

४ निर्वाण

'वाण'=तृष्णा का अशेष निरोध हो जाना ही 'निर्वाण' है। यह 'अच्युत-पद', 'अत्यन्त', 'असंस्कृत' 'अनुत्तर', 'परम सुख', 'शून्य' आदि नामों से पुकारा गया है।

× × ×

अभिधम्म जैसे विशाल और गम्भीर शास्त्र के सिद्धान्तों को अत्यन्त संक्षिप्त करके विद्वानों के सामने रखने में मुझे बड़ा संकोच हो रहा है। यह तो 'आदौ रामस्तपोवनादि गमनं' वाले श्लोक से रामायण कह डालने जैसा हुआ।

बुद्ध-वाणी

आश्वलायन! यदि यहां मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा विविध जातियों में से सौ पुरुषों को एकत्र करे और उनसे कहे—'आप में से जो क्षत्रिय' ब्राह्मण और राजन्य कुलों से उत्पन्न हैं वे आवें और शाल-सरल-चन्दन-पद्म की उत्तरारणी लेकर अग्नि प्रादुर्भूत करें, तेज प्रज्ज्वलित करें तथा आप में से जो चाण्डाल-निषाद-वेणुरथकार पुक्कस कुलों से उत्पन्न हैं, वे भी आवें और श्वान-शूकर के पान की कठौती धोबी की कठरी तथा रेंड की लकड़ी की उत्तरारणी लेकर अग्नि प्रादुर्भूत करें, तेज प्रज्ज्वलित करें—तो क्या मानते हो आश्वलायन! कि क्षत्रिय वैश्यादि कुलों से उत्पन्न व्यक्तियों के द्वारा, शाल-सरल-चन्दन-पद्म की उत्तरारणी लेकर जो अग्नि आविर्भूत हुई है, तेज प्रादुर्भूत हुआ है, वही लौ-युक्त, सुवर्ण और भास्वर अग्नि होगी? उसी से अग्नि का काम लिया जा सकता है? और चाण्डाल-निषाद-वेणुरथकार-पुक्कस-कुलों में उत्पन्न व्यक्तियों द्वारा श्वान-शूकर-पान की कठौती, रजक की कठरी तथा रेंड की लकड़ी की उत्तरारणी लेकर जो अग्नि उत्पन्न की गई है, तेज आविर्भूत किया गया है, वह लौ-युक्त सुवर्ण और भास्वर न होगी? उससे अग्नि का काम न लिया जा सकेगा?

नहीं भो गौतम! क्षत्रिय.. ..कुलोत्पन्नों द्वारा, जो अग्नि प्रादुर्भूत की गई है..... वह भी अर्चिमान,.. ...अग्नि होगी। उससे भी अग्नि का काम लिया जा सकता है और जो चाण्डाल...कुलोत्पन्नों द्वारा.....प्रादुर्भूत की गई है वह भी अर्चिमान.. अग्नि होगी। सभी की आग से अग्नि का काम लिया जा सकता है।

अस्सलायन सुत्तन्त से (मज्झिम निकाय)

मरे राजा से भी भय

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

पूर्व समय में वाराणसी में महापिंगल[1] नाम का राजा अधर्म से, अनुचित ढङ्ग से राज्य करता था, वह जनता को ऐसे पीड़ता था जैसे ऊख यन्त्र ऊख को। वह रौद्र स्वभाव का था, कठोर था और था दुस्साहसी। उसमें दूसरों के लिये तनिक भी दया न थी। घर में स्त्रियों का, लड़के लड़कियों का, अमात्य ब्राह्मणों तथा गृहपति आदि सभी का अप्रिय था। वह ऐसा था मानों आंख में धूल हो, भात के कौर में कंकर हो, अथवा एड़ी को बींध कर कांटा घुस गया हो।

महापिंगल चिरकाल तक राज्य करके मर गया। उसके मरने पर सभी वाराणसी वासियों ने खूब प्रसन्न हो एक हजार गाड़ी लकड़ी से महापिंगल को जलाकर अनेक सहस्र घड़ों से आग बुझाई। फिर—महा पिंगल के पुत्र को राज्य पर अभिषिक्त कर 'हमें धार्मिक राजा मिला' सोच प्रसन्न हुए। उन्होंने नगर में उत्सव भेरि बजवाई। ऊंची ध्वजाओं तथा पताकाओं से नगर को अलंकृत किया। दरवाजे दरवाजे पर मण्डप बनवा, खील-पुष्प बिखरे सजे मण्डपों में बैठ खाने पीने लगे।

महापिंगल का पुत्र अलंकृत महान आसन पर श्वेत छत्र के नीचे बैठा था। अमात्य, ब्राह्मण, गृहपति, राष्ट्रिक तथा द्वारपाल आदि राजा को घेरकर खड़े थे। एक द्वारपाल थोड़ी ही दूर पर खड़ा रो रहा था।

राजा ने पूछा—

"पिंगल ने सब जनों को कष्ट दिया। उसके मरने पर सभी आनन्द का अनुभव करते हैं। हे द्वारपाल, क्या वह तेरा प्रिय था? तू रोता क्यों है?"

द्वारपाल ने कहा—

"मैं इसलिये नहीं रोता कि महापिंगल मर गया। मुझे तो इससे सुख हुआ है। पिङ्गल राजा महल से उतरते चढ़ते मेरे सिर पर आठ आठ टोके लगाता था। वह परलोक जाकर भी यमराज के सिर पर टोके लगायेगा। 'यह हमें बहुत कष्ट देता है' सोच वह इसे यहां फिर लाकर छोड़ जा सकता है। वह मेरे सिर में फिर टोके मारेगा। मैं इस भय के कारण रोता हूं।"

राजा ने आश्वासन दिया—

दड्ढो वाह सहस्सेहि सित्तो घट सतेहि सो ॥
परिक्खता च स भूमि मा भायि नागमिस्सति ॥

अर्थात् महापिङ्गल लकड़ी के हज़ारों भारों से जला दिया गया। सैकड़ों घड़ों से चिता बुझा दी गई। जिस जगह जलाया गया वह जगह चारों ओर से खन दी गई है। जो परलोक जाते हैं वे दूसरी जगह जन्म ग्रहण करते हैं। उसी शरीर से कभी नहीं आते। इसलिये तू मत डर।

बड़ी मुश्किल से द्वारपाल को सन्तोष हुआ। उस जन्म में तथागत ही महापिङ्गल के पुत्र थे।*

१—जिसकी दोनों आंखें एकदम पिङ्गल वर्ण की बिल्ली की आंखों के समान हों।

* शीघ्र ही प्रकाशित होने वाले 'जातक' द्वितीय खण्ड से।

बौद्ध धर्म ही भावी संसार का धर्म होगा

सर बैरन जयतिलक, प्राइम मिनिस्टर, सीलोन

बौद्ध धर्म के सार्वभौम रूप की कल्पना बौद्धों के लिये कोई नवीन और आश्चर्यजनक नहीं है। बुद्ध की धारणा में ही बौद्ध धर्म की सार्वभौमिक भावना निहित है। बुद्ध इस पृथ्वी पर आये—मानव मात्र के कल्याण के लिये, मानव मात्र के सुख के लिये, मानव मात्र को पाप और दुःख से मोक्ष दिलाने के लिये। इसलिये उनका सन्देश अखिल विश्व और अखिल मानवता के लिये है।

किन्तु यह सम्भव नहीं है कि किसी समय संसार के सभी मनुष्य बौद्धधर्म के अनुयायी हो जायंगे। पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि बौद्ध धर्म जिन बुनियादी उसूलों पर क़ायम है, धीरे धीरे वे उसूल दुनिया को अधिक से अधिक प्रभावित करेंगे। जैसे जैसे दुनिया में इन उसूलों का असर बढ़ता जायगा, वैसे वैसे ही दुनिया की वास्तविक उन्नति भी होती जायगी और वास्तविक सुख भी बढ़ता जायगा। यह खुशी की बात है कि चाहे धीरे धीरे ही सही लेकिन निश्चित रूप से धर्म की भावना दुनिया की विचार धारा पर अपना प्रभाव डाल रही है, लोगों के हृदय में वह प्रवेश कर रही है; और इस बात के लक्षण दिखाई दे रहे हैं कि संसार का नवीन मानव धर्म अपने युग की सर्वोच्च धर्म भावना से प्रेरित और नियन्त्रित होगा; उस भावना पर 'धर्म' की छाप होगी। यहां धर्म से मेरा तात्पर्य है—युग के सर्वोच्च आध्यात्मिक आदर्श, और यही स्वाभाविक भी है। इस दृष्टि से यदि बौद्ध धर्म को देखा जाय तो बौद्ध धर्म के अन्दर वे सब गुण दिखाई देंगे जिनके कारण विचारवान व्यक्ति बौद्ध धर्म को संसार का भावी धर्म स्वीकार करेंगे।

इस सम्बन्ध में हमें यहां दो एक ज़रूरी बातों पर विचार करना आवश्यक है—इनमें पहली बात है धर्म का सार्वभौम रूप। इस सम्बन्ध में जो एक मोटी सी ग़लतफ़हमी लोगों में फैली हुई है, उसे मैं दूर कर देना चाहता हूं। बुद्ध विश्व गुरू—सत्त देव मनुस्सनम—हैं। उनका सन्देश अखिल मानवता के लिये है। वह किसी विशेष जाति, और विशेष वर्ग के लिये नहीं है। वह प्रत्येक के लिये है। बौद्ध धर्म का यह सार्वभौमिक रूप कुछ बाद में सोची हुई या गढी हुई वस्तु नहीं है। न यह कोई इतिहास की आकस्मिक घटना है; यह स्वयं भगवान बुद्ध की प्रतिपादित की हुई बौद्ध धर्म की रूप रेखा है, जो उनके जीवन के अन्तिम काल में, उन पर उदित नहीं हुई, वरन् उनके धर्म प्रचार के प्रारम्भ में ही, उनकी योजना का यह अङ्ग थी। जब सबसे पहले उन्होंने अपने शिष्यों को धर्म प्रचार के लिये भेजा तो यह आदेश देकर भेजा कि वे बहुतों के दुख निवारण के लिये, बहुतों के कल्याण के लिये, अखिल मानवता को शान्ति का सन्देश देने के लिये सारी दुनिया में प्रचारार्थ जावें। वे लोगों के सामने जीवन के पवित्र और उच्च आदर्श रखें।

और इस तरह का सन्देश सब को यकसा शान्ति और सुख पहुंचाने के लिये था। छोटे बड़े, अमीर ग़रीब, राजा रंक किसी के बीच में भेद भाव नहीं था। मगध के अधिपति बिम्बसार और अन्त्यज सुनीता के बीच में कोई फ़र्क़ न था। वणिकराज अनाथपिण्डक और भिखमंगे इन्दिका में, शाक्य राजमाता प्रजावती और शिकारी पत्नी कपा में, धनी और पवित्र विशाखा और वेश्या अम्बपाली में, दुखी पटकार और ब्राह्मण महर्षि पोखरासती और बालक सोपा इनमें प्रत्येक के लिये इन सन्देशों का एक सा महत्व था। बुद्ध के सन्देश सब के लिये एक से थे। वह किसी में भेद भाव नहीं करते थे।

इस तरह हालाकि बौद्ध धर्म सब के लिये था, फिर भी पश्चिमीय लेखकों के दिमाग़ में बौद्ध धर्म केवल ससार त्यागियों का धर्म है; वह केवल सन्यासियों का धर्म है और वह केवल उन लोगों का धर्म है जो ससार से ऊब चुके हैं। यह एक बहुत बड़ी ग़लतफ़हमी है। यह सही है कि बौद्ध धर्म त्याग पर बेहद ज़ोर देता है और सत्य के लिये हर प्यारी से प्यारी वस्तु की वह क़ुर्बानी सिखाता है। बुद्ध कहते हैं—"हर अच्छे काम के अन्दर त्याग का अंश मौजूद है।" किन्तु साथ ही साथ यह बात भी स्वीकार की गई है कि पूरी तरह आत्म त्याग, फिर चाहे वह आत्म त्याग निर्वाण प्राप्ति के लिये ही क्यों न करना पड़े हर एक के लिये सम्भव नहीं। केवल थोड़े से आदमी इस चरम आत्म त्याग का पालन कर सकते हैं। अधिकाश मनुष्य तो सहज मार्ग का ही अनुसरण करते हैं। वे ग्रहस्थ धर्म का पालन करते हुये लोक कल्याण का काम कर सकते हैं। बुद्ध ने ग्रहस्थ के कर्तव्यों के उचित पालन को भी बेहद महत्व दिया है। एक बार बुद्ध से पूछा गया—

"सब से बड़ा सौभाग्य क्या है ?"

बुद्ध ने उत्तर दिया—

"माता पिता की सेवा करना,
स्त्री बच्चों का पालन पोषण करना,
निर्दोष कामों में लगना,
यही सब में बड़ा सौभाग्य है।" (मगल सूत्र)

यह कोई कठिन मार्ग नहीं है। वास्तव में बौद्ध धर्म सब तरह की कठोर तपस्या का उसी तरह विरोध करता है जिस तरह वासना पूर्ति की भावना का करता है। बौद्ध धर्म बीच के रास्ते (मज्झिम पतिपद) को उचित समझता है। बीच के रास्ते से ही मनुष्य पूर्णता को प्राप्त होता है। वह बाहरी दिखावे को कोई महत्व नहीं देता। "वस्त्रों का त्याग, लम्बी जटायें रखना, शरीर में भस्म लेपना, उपवास रखना, ज़मीन पर सोना—आदि कोई चीज मनुष्य को पवित्र नहीं बनाती, किन्तु यदि कोई मनुष्य सुन्दर कपड़े और बहुमूल्य मणि मुक्ता पहनता है, किन्तु अपने मस्तिष्क को शान्त, गम्भीर और सयमित रख के शुद्ध जीवन व्यतीत करता है और किसी प्राणी को चोट नहीं पहुंचाता वही पवित्र मनुष्य (ब्राह्मण) है, वही सच्चा तपस्वी (श्रमण) है, और सच्चा भिक्खु है।" (धम्मपद १०,१३,१४)।

संसार के भावी धर्म को मानव अनुभव की कसौटी पर खरा उतरना चाहिये। उसके लिये बोधिगम्य होना ज़रूरी है। बौद्ध धर्म सब तरह इन शर्तों को पूरा करता है। बौद्ध धर्म तर्क को प्रधानता देता है। बुद्ध के व्यक्तित्व और उनकी शिक्षा को किसी तरह के रहस्य ने नहीं ढक रखा है। बुद्ध ने कभी इस बात का दावा नहीं किया कि उनके अन्दर असाधारण शक्ति है, न उन्होंने यही कहा कि जिन सच्चाइयों की वे शिक्षा देते हैं वे किसी पारलौकिक माध्यम से उन्हें प्राप्त होती हैं। वह मानवीय माँ बाप की सन्तान, केवल साधारण मानव थे। उन्हें जो सत्य का साक्षात्कार हुआ वह किसी बाहरी शक्ति की सहायता से नहीं बल्कि अपने हृदय की वासनाओं पर विजय प्राप्त करके। उन्होंने जो पद पाया वह पद हम सब भी चेष्टा करने से पा सकते हैं। वास्तव में हम सबों के अन्दर बुद्ध की शक्ति छुपी हुई है। बौद्ध धर्म से अधिक सुन्दर शिक्षा दुनिया को कोई दूसरी नहीं मिली। वह निकृष्ट से निकृष्ट प्राणियों में महानता और अच्छाई की सम्भावना देखता है। वह हममे साहस और विश्वास भरता है। बुद्ध की शिक्षा है—

"तुम्हें हिम्मत न हारना चाहिये। यदि तुम उद्योग करोगे तो उसी तरह विजयी होगे जिस तरह मैं हुआ।"

फिर बौद्ध धर्म ऐसा कोई कर्मकाण्ड पेश नहीं करता कि जिस पर बग़ैर विश्वास लाये निर्वाण न प्राप्त हो। केवल भक्ति ही मनुष्य को पवित्र नहीं बनाती उसके लिये समझ, ज्ञान और विश्वास की भी ज़रूरत है। तर्क ही उचित मार्ग प्रदर्शन करता है। एक बार कुछ लोग बुद्ध के पास आये। उन्होंने बुद्ध से कहा— विविध कालों में विविध गुरू उनके पास आये। हर एक ने दूसरे गुरुओं की शिक्षा की

निन्दा करके अपनी ही शिक्षा को आदर्श और सर्व मान्य बताया। अब उन्हें क्या करना चाहिये और किस शिक्षा को स्वीकार करना चाहिये? बुद्ध ने उत्तर दिया—तुम्हें किसी शिक्षा को इसलिये स्वीकार न करना चाहिये कि वह युगों से चली आ रही है, या धर्म ग्रन्थों में उसकी चर्चा है, या अमुक अमुक गुरू ने उसका प्रतिपादन किया है, या दलीलों से उसका समर्थन हो सकता है, बल्कि तुम किसी शिक्षा को इसलिये स्वीकार करो कि तुम्हारी बुद्धि उसे स्वीकार करने को कहती है और तुम्हें उस पर अमल करने में अपना आध्यात्मिक लाभ दिखाई देता है।

बौद्ध धर्म ज्ञान को कर्म काण्डों के बन्धनों से उनमुक्त करता है। मानसिक स्वाधीनता को लक्ष्य बना कर बौद्ध धर्म का प्रचार किया गया है, इसीलिये इसमे कुछ भी सशय नहीं है कि बौद्ध धर्म इतना अधिक सहनशील दिखाई देता है और उसका इतिहास धर्म युद्धों के काले पृष्ठों से कलंकित नहीं है। जैसे जैसे बौद्ध धर्म को कहीं पैर रखने की जगह मिलती है, वैसे-वैसे उसके विद्वान् वहा ज्ञान को प्रोत्साहन देते हैं, क्योंकि ज्ञान को ही वह निर्वाण का रास्ता समझते हैं। बौद्ध काल में भारत अपनी प्रतिष्ठा के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा। सिंहल मे हमारे पूर्वजों ने विविध क्षेत्रों मे जा कुछ भी महती उन्नति की है वह केवल बौद्ध धर्म के ससर्ग से। जापान में भी बौद्ध धर्म के विस्तार से कला और विज्ञान को प्रोत्साहन मिला है।

जहाँ तक बौद्ध धर्म की शिक्षा का सम्बन्ध है वहां तक विज्ञान और धर्म में कभी कोई संघर्ष हो ही नहीं सकता। बौद्ध धर्म पृथ्वी की रचना और भौतिक तत्वों के सम्बन्ध में कोई अंध विश्वास नहीं रखता और अनेक धर्मों में जो मूढ विश्वास प्रतिपादित किये गये हैं उनके कारण धर्म और विज्ञान मे काफी लड़ाई चली है। जिनमें बौद्ध धर्म इस तरह की लाल बुझक्कड़ चीज़ों को कोई महत्व नहीं देता। जीवन की वास्तविक ठोस बुनियादों पर वह व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर जीवन के सिद्धान्तों का निर्माण करता है। वह व्यक्ति की सस्कृति को बेहद महत्व देता है। व्यक्ति की सस्कृति ही मनुष्य का बुराइयों और सकटों से उद्धार करती है। बुद्ध ने इसके लिये तीन सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं—

सब प्रकार की बुराइयों से बचो,
अच्छे काम करो,
दिल को पवित्र करो,
यही बुद्ध की शिक्षा है।

यह कितनी आसान शिक्षा है। न इसमें कोई कर्मकाण्ड है, न कोई रूढ़िया हैं, न कोई अंध विश्वास है कि जिनके पालन में मनुष्य को कोई सघर्ष करना पड़े। यदि तीनों सिद्धान्तों को ज़रा ग़ौर से देखें तो आपको पता चलेगा कि इनके अन्दर एक महान तथ्य निहित है। ये मानव उन्नति के वास्तविक सोपान हैं और मनुष्य के आचरण और नैतिक उन्नति को पूरी तरह ध्यान में रखते हैं। प्रश्न यहा यह उठता है कि बुराई क्या है और भलाई क्या है? एक बौद्ध के दृष्टिकोण से ऐसी हर बात बुराई है जिसके करने से दूसरों को हानि पहुंचे और अपनी अध्यात्मिक उन्नति रुके। दूसरी ओर ऐसी हर बात अच्छाई है जिससे दूसरों का कल्याण हो और अपनी अध्यात्मिक उन्नति हो। नैतिक जीवन की पहली सीढ़ी बौद्ध धर्म के अनुसार बुराई से बचना है, लेकिन लोग कहेंगे कि यह तो 'न करने की बात' है। इसमें निश्चित रूप से कुछ करने की बात नहीं है। किन्तु सदाचार की शिक्षा में कुछ बातों का न करना ही बहुत महत्व रखता है, क्योंकि इससे आत्म सयम की भावना दृढ होती है और व्यक्ति की उन्नति में आत्म सयम पहली सीढी है। समाज में नैतिक दृष्टि से आदर्श बनने के लिये हमें ऐसी चीज़ों से बचना चाहिये जिससे समाज को नुक़सान पहुँचे। इसीलिये यदि कोई व्यक्ति अच्छा जीवन बिताना चाहता है तो उस व्यक्ति को समाज में कल्याणकर काम करने चाहिए। अर्थात् (१) उसे जीव हिंसा न करनी चाहिए, (२) जो वस्तु उसकी अपनी न हो उसे ज़ोर ज़बर्दस्ती के साथ न लेना चाहिए, (३) हर

तरह के दुराचार से बचना चाहिए, (४) जो बात उचित न हो उसे न करना चाहिए, (५) नशे की चीज़ों से बचना चाहिए। फिर उसे किसी भी ऐसे व्यापार में नहीं लगना चाहिए जिससे किसी दूसरे को नुक़सान पहुंचे। उसे नशे की चीज़ें और लड़ाई के हथियारों को नहीं बनाना चाहिए क्योंकि इन दोनों चीज़ों से दूसरों का अकल्याण होता है।

किन्तु केवल बुराइयों से बचने में ही बौद्ध धर्म की शिक्षा समाप्त नहीं हो जाती। उसमें ऐसे अच्छे कामों की योजना है जिससे दूसरों का कल्याण हो। बुद्ध कहते हैं—"भले काम करने के लिये सदा तत्पर रहो। जो व्यक्ति भले काम करने से बचता है उसके दिमाग़ में बुराइयां चिपटी रहती हैं।" किन्तु बुराई से बचने और भलाई करने में कर्त्तव्य की इति श्री नहीं हो जाती। इसके अलावा एक और जरूरी बात रह जाती है। मनुष्य के हर कार्य का स्रोत मन है। हमारे सारे प्रयत्नों का जन्मदाता मन ही है। किसी भी काम को करने का वास्तविक महत्व तभी होगा जब उस काम मे मन अपना पूरा सहयोग दिखावे। इसलिये बौद्ध धर्म व्यक्ति की संस्कृति के तीसरे नियम को अर्थात् मन को पवित्र रखने पर बेहद महत्व देता है। मन के ऊपर वासना, बुराई, लोभ और अज्ञान की गर्द छाई पड़ी है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम इस गर्द को हटा कर मन को इतना चमकदार बनावें कि जिसमें सत्य अपनी सम्पूर्णता के साथ हमें दिखाई दे। यह कैसे हो सकता है? यह तभी हो सकता है कि जब हम निरन्तर प्रयत्नों और अध्यवसाय से उन गुणों को बढ़ावें जो बुराई को मन में बैठने नहीं देते।

जो बातें मन को पवित्र बनाती हैं उनमें प्रेम का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। प्रेम ही एक ऐसा मंत्र है कि जो मानव समाज को समस्त बुराइयों से बचा सकता है किन्तु यह तभी हो सकता है जब हम बुद्ध के शब्दों का पालन करें, अर्थात्—"हमारा मन चंचल न हो, हम बुरी बातें मुह से न निकालें, हम दूसरों के प्रति नम्र और उदार रहें, हमारे हृदय में दूसरों के प्रति प्रेम हो, मन में किसी के प्रति नफ़रत न हो और हम बुराई करने वालों के प्रति प्रेम से भरे रहें, हम सारे संसार के प्रति प्रेम की भावना रखें और हमारा यह प्रेम बढ़ता जाय कि जिसके अन्दर कोई बुराई न हो और जो किसी तरह नापा न जाय।" (मज्झिम १ १२९)। यही हमारा आदर्श है और इसी की प्राप्ति के लिए हमें प्रयत्न करना चाहिए। ऐसे पवित्र प्रेम के सामीप्य से बुराई दूर हो जायेगी, सारी नफ़रत बह जायेगी और अन्त में भलाई की भावना जागेगी। जो व्यक्ति इस पथ में, इस आर्य पथ में चलेगा "वह सन्तों की ओर, आत्म दर्शन की ओर, विराट ज्ञान की ओर और निर्वाण की ओर अग्रसर होगा"।

एक बात यहाँ पूछी जा सकती है कि लोग बुराई को क्यों छोड़ें, भलाई क्यों करें, हृदय को पवित्र क्यों करें, और लोग ऊंचे जीवन तक पहुँचने का प्रयत्न क्यों करें? इसका उद्देश्य यह हो सकता है—(१) अपनी भलाई और (२) सब की भलाई। हममें से कोई भी व्यक्ति दुख और कष्टों से बरी नहीं है। हम सब जानते हैं कि हम कितने तुच्छ हैं। हम चाहते हैं कि हम सुखी हों। हम चाहते हैं कि हममें पूर्णता आये। हम देखते हैं कि हमारे चारों तरफ कष्ट और दुख छाया है। कम से कम हम अपने निस्वार्थ क्षणों में चाहते हैं कि दूसरों के दुख और दर्द दूर करने के उपाय खोजे जांय। इन्ही दोनों बातों के लिए मनुष्य नेक काम करता है। ये दोनों बातें एक दूसरे की विरोधी नहीं हैं। ये एक ही प्रश्न के दो पहलू हैं। क्योंकि जब सब का भला होगा तो हमारा भी भला होगा। हम जब दूसरों के कल्याण के लिए अपने आप को भूल जायगे तभी हमें आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त होगा। इसलिए मानव मात्र के प्रति प्रेम की भावना, दूसरे मनुष्यों की भलाई के लिए उत्साह की भावना, ये दो बाते हैं जो मनुष्य को जीवन के मार्ग पर आगे बढ़ाती हैं। इसी में बौद्ध धर्म की मूल भावना छिपी है और मेरा विश्वास है कि यही भावना आने वाले मानव धर्म की मूल भावना होगी।

बौद्ध धर्म और राजनीति

श्री जे. आर. जयवर्धन

बौद्ध धर्म और राजनीति जाहिरा देखने में दो विपरीत विचार प्रणालियां दिखाई देती हैं। मानव विचारों के उनमें दो अलग अलग-आधार नज़र आते हैं। कहा जाता है कि बुद्ध ने, बौद्ध संघ के सदस्यों को यह सलाह दी कि वे राजनीति में हिस्सा न लें, किन्तु उन्होंने राजनीतिज्ञों को यह सलाह कभी नहीं दी की वे बौद्ध धर्म का अध्ययन न करें या बौद्ध धर्म को स्वीकार न करें।

आज राजनीति का मानव जीवन के हर क्षेत्र में प्रवेश है। आज जो राजनीतिज्ञ दुनिया का नाश कर रहे हैं वे मानव जीवन को नये सिरे से गढ़ने का दावा कर रहे हैं। इन राजनीतिज्ञों के चरित्र और जिन आदर्शों को लेकर वे खड़े हुए हैं उनका आज बेहद महत्व है।

इसलिए जो लोग आज राजनीति का व्यापार करते हैं उनके सामने संसार के एक महान विचारक की शिक्षा बौद्ध धर्म के रूप में विद्यमान है और उन्हें उससे लाभ उठाना चाहिये। बुद्ध ने अपने विचारों को स्पष्टता के साथ व्यक्त किया है और इसी लिये हम उनकी शिक्षाओं को वैज्ञानिक विश्लेषण की कसौटी पर कस सकते हैं।

मेरे विचार से बौद्ध धर्म का वह अर्थ नहीं है जैसा अनेक पूर्वी देशों के बौद्ध करते हैं, या जिस पर अनेक बुद्ध भक्त अमल करते हैं; यानी मन्दिर बनवाना, फूल चढ़ाना, पेड़ों की पूजा करना और उत्सव मनाना। बौद्ध धर्म केवल बुद्ध की शिक्षा है। बुद्ध की शिक्षा ही बौद्ध धर्म है। कुछ लोग इस शिक्षा को दार्शनिक कहते हैं, कुछ लोग इसे धार्मिक कहते हैं और कुछ लोग इसे नैतिक शिक्षा कहते हैं। भिक्खु न्यानातिलोक के अनुसार बौद्ध धर्म एक "नैतिक और दार्शनिक विचार प्रणाली" है। यह दूसरी बात है कि आजकल के सांस्कृतिक और धार्मिक विचार बुद्ध की शिक्षाओं से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन की सम्मति के अनुसार "बौद्ध धर्म की शिक्षा की महानता इस बात में है कि वह नैतिक आचरण को बेहद प्रधानता देती है।" किन्तु वास्तव में बौद्ध धर्म इनमें से कुछ भी नहीं है।

मानव धर्म के अमरीकन प्रचारक प्रोफेसर बैबिट बौद्ध धर्म को एक 'पथ' कहता है। उसके अनुसार —"बौद्ध धर्म इच्छा शक्ति पर बेहद ज़ोर देता है, और प्रचलित अर्थों में बौद्ध धर्म कोई प्रणाली नहीं है बल्कि एक 'मार्ग' है, एक 'पथ' है। बुद्ध वह है जो इस पथ पर चलता है और जो दूसरों को यह बताता है कि उसे इस पथ पर क्या-क्या अनुभव हुये।" बुद्ध ने इस बात को और भी स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने कहा है—"भिक्खुओ, एक 'मध्य मार्ग' भी है जो मनुष्य को दोनों ओर की अति से बचाता है। जिसे तथागत ने खोजा है। ऐसा पथ जो आँखें खोल देता है, जो हमें बुद्धि देता है और जो हममें उदार बौद्धिक भावना भरता है, जो हमें ज्ञान प्रदान करता है और जो हमें पूर्ण निर्वाण तक ले जाता है।"

इस तरह बौद्ध धर्म एक पथ है जिस पर चलने से एक विशेष उद्देश्य की प्राप्ति होती है। किन्तु आज वे ही लोग इसे भुला बैठे हैं जो अपने को कट्टर बौद्ध कहते हैं।

वह उद्देश्य है निर्वाण (निब्बान—पाली) की प्राप्ति। "हे मित्र, सरिपुत्त, वे लोग निब्बान—निब्बान कहते हैं। किन्तु मित्र, निब्बान का अर्थ क्या है? मित्र, निब्बान का अर्थ है—लोभ को मिटाना, घृणा को मिटाना और माया-मोह को मिटाना। मित्र, यही निब्बान है।" यह स्वयं बुद्ध ने कहा है। इससे अधिक परिभाषा की हमें आवश्यकता नहीं। निब्बान भी सम्भवतः आत्म तुष्टि की ही एक अवस्था हो। जिस व्यक्ति ने पूरी तरह अपने मन से लोभ, घृणा

और मोह को मिटा दिया है वही यह बात कह सकता है कि निर्वाण यहां और अभी प्राप्त हो सकता है।

बुद्ध ने न केवल 'पथ' पर ही ज़ोर दिया है बल्कि उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया है कि इस पथ पर चलने से उद्देश्य की प्राप्ति "यहां और अभी" हो सकती है। इस 'यहां और अभी को' यदि ठीक तरह से लोग समझ जाय तो उससे कितना लाभ हो सकता है। कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त के कारण बुद्ध की शिक्षा का ठीक ठीक पालन नहीं हो सका। 'कर्म गति टारे नाहिं टरे' की भावना ने बेहद नुक़सान पहुँचाया है। पुनर्जन्म मानने वाले कहते हैं—"पिछले कर्मों का फल हम भोग रहे हैं। हमें अब बुद्ध के मन्दिर बनवाने चाहियें और पिकस करना चाहिये।" इन्हीं विचारों के कारण बौद्ध धर्म में प्रगति विरोधी भावना आ गई। यह उसी तरह है जिस तरह ईसा मसीह की शिक्षा से अपरिचित कोई यह कहे—"तेरी ही मर्ज़ी होकर रहेगी।" बुद्ध का स्वयं अपना जीवन और उनकी बौद्ध भिक्खुओं को सलाह थी कि आध्यात्मिक उन्नति का निरन्तर प्रयत्न करो और जीवन में कर्म करो। बुद्ध इसी जीवन में कर्म करने को महत्व देते थे। वह अपने शिष्यों को जागरूक, परिश्रमी और दृढ़ निश्चयी होने को कहते थे। उनका कहना था कि इसी तरह जीवन के उचित पथ पर अग्रसर होकर फल की प्राप्ति होती है। बौद्ध धर्म के उचित अध्ययन से मालूम होगा कि बौद्ध धर्म कर्म और पुनर्जन्म की चिन्ता न करते हुए हमें एक विशेष प्रकार के जीवन बिताने पर ज़ोर देता है। वह मनुष्य को जीवन की कला की शिक्षा देता है। जिस कला का पालन करते हुए उसे इसी जीवन में निर्वाण की प्राप्ति होती है। न ईश्वर, न शैतान, न प्रार्थना, न रिश्वत किसी से निर्वाण प्राप्ति में सहायता नहीं मिल सकती। स्वयं मनुष्य ही अपने भविष्य का निर्माण करता है। सर एडविन आर्नाल्ड ने कहा है—"मानव स्वाधीनता का इससे बड़ा दावा कभी किसी ने नहीं किया।"

बुद्ध के आदेश हैं—लोभ, घृणा और मोह का त्याग। और इस पर इसी जीवन में पूरी तरह अमल किया जा सकता है। हम दुनिया भर के राजनीतिज्ञों से पूछते हैं कि क्या इससे अधिक व्यापक कोई दूसरा आदर्श है जिसकी प्राप्ति के लिये वे प्रयत्नशील हों?

आज संसार की राजनीति में घुन लग गया है। वह बिल्कुल सड़-गल गई है। आज कल के राजनीतिज्ञों के प्रति लियोनल कार्टिस कहता है—"आज कल की राजनीति का परिणाम युद्ध और महा नाश है। इसे देखते हुए यह स्पष्ट है कि जिनके ऊपर राष्ट्रों की ज़िम्मेवारी है उन्हें मानव जीवन के वास्तविक उद्देश्य का पूरा अनुभव और ज्ञान होना चाहिये। युद्ध से बचने के लिए जो भी उपाय सोचा जाय वह केवल मानव कल्याण का एक साधन ही समझा जाय, किन्तु साध्य या लक्ष्य प्राप्ति की ज़िम्मेवारी ऐसे लोगों पर छोड़ी जाय जिन्होंने मानव कल्याण की साधना में अपने जीवन को तपाया है और जो यह कहने में न डरेंगे कि उन्होंने कैसे और क्या अनुभव किए हैं। वास्तव में साध्य यह है कि लोग अपने लोभ की बात छोड़ कर लोक-कल्याण की भावना को महत्व दें।

इस बात पर सभी एक मत हैं कि आदर्श मनुष्य या शुद्ध नागरिक वह अनासक्त व्यक्ति है जो न दौलत से बंधा है न जायदाद से, जो न आवश्यकता का भूखा है और न अपनी इच्छा का प्यासा, जो किसी से नहीं लड़ता और जो दूसरों की सेवा करता है। इस तरह के व्यक्ति को न तो लोभ हो सकता है, न घृणा और न मोह। यदि ऐसा ही है तो आदर्श शासन इसी तरह के व्यक्तियों द्वारा होना चाहिए। क्या राज्य शासन अपने सामने नैतिक आदर्श नहीं रखता? क्या राज्य शासन में सदाचार का कोई स्थान नहीं? प्रोफ़ेसर हैराल्ड लास्की कहता है-"राज्य का नैतिक चरित्र वही होगा जो उसके अन्तर्गत व्यक्तियों और समाज का होगा। प्रत्येक राज्य शासन अपने यहाँ के नागरिकों के चरित्र का प्रतिबिम्ब है।

वास्तव में आदर्श शासन वह है जो आदर्श मनुष्यों द्वारा संचालित हो; ऐसे मनुष्यों द्वारा जिन्हें सेवा में कोई लोभ न हो। यह एक सत्य है कि कोई व्यक्ति दूसरे को शुद्ध नहीं कर सकता। वातावरण के कारण ही शुद्धता और अशुद्धता पैदा होती है। मनुष्य जिस समाज में रहता है उसका जीवन बहुत कुछ उस समाज के ऊपर निर्भर करता है। राजनीतिज्ञ समाज को शुद्ध बनाने में सहायता दें। यदि राजनीति जन-कल्याण की भावना को सामने रख कर शासन प्रबन्ध करती है तो जन-कल्याण का कार्य क्रम आदर्श मनुष्य ही उत्तम रूप में चला सकते हैं। आदर्श राजनीतिज्ञों का यह कर्त्तव्य है कि वे इस बात को देखें कि आदर्श प्राप्ति में अनुपयुक्त बाधाएं बाक़ी न रह जांय।

आज के राज्य शासन से जो वातावरण पैदा हो रहा है उससे नागरिकों के चरित्र में उन्नति नहीं होती, बल्कि लोगों के सर्वनाश का कार्य क्रम तैयार होता है। दुनिया के सभी राष्ट्र आज ख़ुदग़रज़ी की भावना लेकर खड़े हुये हैं। हरएक अपने-अपने उद्योग-धन्धों को दूसरों से आगे बढाने में तल्लीन है। सभी सैनिक शक्ति को और मशीनों को अपने राष्ट्र हित के साधन के लिये लगा रहे हैं। राज्य की ओर से जो शिक्षा दी जाती है वह भी विद्यार्थियों के अन्दर स्वार्थ भावना को प्रोत्साहन देती है। धार्मिक संस्थायें, हालांकि परोपकार के आदर्श का प्रचार करती हैं, किन्तु उनके व्यवहार इसके बिल्कुल विपरीत होते हैं। सामाजिक जगत में, व्यापार में, राजनीति में और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हमें यही दिखाई देता है कि लोग अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को सब में अधिक महत्व देते हैं। विष से कहीं अमृत का फल पैदा हो सकता है! थोड़े व्यक्ति भले ही इस स्वार्थी और ज़हरीली भावना से ऊपर उठने में समर्थ हो जांय किन्तु जनता को न तो अपने उद्धार का कोई ज्ञान ही है और न उन्हें कोई उपाय ही मालूम है। परिणाम यह है कि शक्ति और स्वार्थ का बोलबाला है। एक दूसरे के प्रति नफरत की भावना आज जीवन की स्वाभाविक और नाशकर परिणाम है।

दुनिया के राजनीतिज्ञ यदि चाहें तो इस सामाजिक व्यवस्था को बदल सकते हैं। वे सामाजिक तरीक़ों में हेर-फेर कर सकते हैं। नये तरह की शिक्षा दे सकते हैं। वे ऐसे क़ायदे-क़ानून बना सकते हैं जिससे व्यक्तिगत जायदाद और धन पर व्यक्तिगत आधिपत्य असम्भव हो जाय। वे शिक्षा के द्वारा नवयुवकों में भी त्याग की भावना भर सकते हैं। जीवन का उद्देश्य स्वार्थ की पूजा नहीं बल्कि परमार्थ की भावना है।

जो राजनीतिज्ञ इस आदर्श को अपने सामने रक्खेंगे उनको इसके लिये नैतिक साधन अपनाना होगा। नैतिक आदर्श पर ही उनकी नई दुनिया की बुनियाद खड़ी होगी और तब उन्हें नैतिक अधिकार होगा कि वे अपने नागरिकों से भी इस आदर्श के प्रति वफ़ादारी की उम्मीद रखें।

कोलम्बो (सीलोन)



चीन में बौद्ध धर्म

प्रो. तान युन-शान



दो हजार वर्ष से अधिक हुए जब बौद्ध धर्म ने भारत में जन्म लिया था और करीब दो हजार वर्ष हुए जब बौद्ध धर्म ने पहली बार चीन में प्रवेश किया था। बौद्ध धर्म के चीन प्रवेश की निश्चित तिथि बता सकना बहुत कठिन है। फिर भी चीनी ऐतिहासिक उल्लेखों के अनुसार बौद्ध धर्म पहली बार हान् राजकुल के मिन ति सम्राट के शासन काल के दसवें वर्ष मे अर्थात् सन् ६७ ई० में चीन पहुँचा। किन्तु दूसरी पुस्तकों के आधार पर ऐसा मालूम होता है कि बौद्ध धर्म चिन् राजकुल के भी पहले अर्थात् सन् २४६-२०७ ईसा पूर्व में चीन पहुँच चुका था। मिसाल के तौर पर पुराने चीनी ग्रन्थ लेह-त्सु में नीचे लिखा वाक्य आता है—

"कनफ्यूसिअस ने कहा है 'मैंने पश्चिम के एक सन्त की चर्चा सुनी है, जिसने बग़ैर शासन के व्यवस्था कायम की है, जिसने बग़ैर उपदेशों के लोगों का विश्वास प्राप्त किया और बग़ैर प्रचार के लोगों को सच्चा आचरण सिखाया। वह सन्त इतना महान और भव्य था कि शब्दों के सहारे उसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती।"

जहाँ तक मैं जानता हूँ कनफ्यूसिअस बुद्ध के समकालीन थे और पश्चिम से उनका तात्पर्य निःसन्देह भारत से था। चीन में यह पुराना रिवाज है कि वहाँ भारत को "पश्चिमीय राज्य" या "पश्चिमीय स्वर्ग" और चीन को "मध्य राज्य" या "मध्य देश" कहा जाता था। जब कनफ्यूसिअस ने पश्चिमी राज्य के एक सन्त की प्रशंसा की तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि इससे उनकी मुराद बुद्ध, उनकी शिक्षा और भारतीय संस्कृति से थी। एक दूसरी चीनी पुस्तक "पुरातन विवरण" नाम की है। उसमें एक जगह यह ज़िक्र आता है कि चिन प्रान्त म चेङ्ग० राजा के चौथे वर्ष में पश्चिमी राज्य के १८ भिक्षु बौद्ध ग्रन्थ और बुद्ध की मूर्ति लेकर वहाँ पहिली बार आये। उन भिक्षुओं के नेता सिह लि-फाङ्ग थे। चिन् राज्य के चेङ्ग सम्राट के चौथे वर्ष में अर्थात् सन् २६८ ई० पूर्व की यह घटना है। उस समय समस्त चीन चेङ्ग राजा के अधीन था। इसी तरह के अनेकों उल्लेख विविध पुस्तकों में भरे पड़े हैं। उन सब का यहां वर्णन कर सकना असम्भव है। प्रश्न उठता है कि जब बुद्ध स्वयम् भारत में अपनी शिक्षा का प्रचार कर रहे थे, उस समय ही चीन ने उनके सम्बन्ध में सुना होगा और हान् राजकुल के ३०० वर्ष

पहले बौद्ध धर्म चीन में पहुँच चुका था, किन्तु चीनी इतिहास हान् राजकुल के समय ही बौद्ध धर्म के चीन प्रवेश का उल्लेख करता है। चीनी राजकीय इतिहास में उसके पहले बौद्ध धर्म का कहीं ज़िक्र नहीं मिलता। शायद हान् राजकुल का मिन् ति सम्राट ही पहला चीनी सम्राट था जिसने चीनी राजधानी में पहिली बार बहैसियत सम्राट के बौद्ध धर्म का स्वागत किया। हालांकि उसके पहले चीन में बौद्ध धर्म पहुँच चुका था फिर भी किसी चीनी सम्राट ने उसे स्वीकार नहीं किया था। इसीलिये राजकीय चीनी इतिहास में इससे पहले बौद्ध धर्म का कोई सरकारी उल्लेख नहीं मिलता। यदि कोई ऐसा उल्लेख भी किया गया होगा तो भी रूढ़िवादी इतिहासज्ञों ने उसे अनुचित समझा होगा और बाद में ऐतिहासिक उल्लेखों से उसे निकाल दिया होगा। कुछ लोगों का कहना है कि चीनी इतिहास के अतिरिक्त और जिन पुस्तकों में बौद्ध धर्म का वर्णन आता है वे विश्वसनीय नहीं हैं। किन्तु मुझे ऐसा मालूम होता है कि चाहे हम उन पर पूरी तरह से विश्वास न करें, किन्तु कुछ अंशों तक तो हमे उनको सत्य मानना ही पड़ेगा। बुद्ध के जीवन काल में भारतीय और चीनी सस्कृतियों ने काफी उन्नति करली थी। बुद्ध और कनफ्यूसिअस दोनों महान् गुरु एक ही समय में एक "पश्चिम" में और दूसरा "पूर्व" में अपना प्रचार कर रहे थे। दोनों सूर्य और चन्द्रमा की तरह सतत मानवता को प्रकाश दे रहे थे। यह भी सम्भव है कि दोनों को एक दूसरे का अता-पता हो। उस ज़माने में सम्भवतः दोनों संस्कृतियों का आदान-प्रदान होता होगा। बुद्ध भी अपने प्रचार के सिलसिले में अक्सर "पूर्व में बौद्धों के देश" का ज़िक्र किया करते थे। इससे उनका तात्पर्य सिवाय चीन के किसी दूसरे देश से नहीं हो सकता; किन्तु यह ऐतिहासिक खोज का विषय है और बग़ैर पूरी खोज हुए बारिकियों में जाना व्यर्थ है।

यहाँ पर यह बताना अनुचित न होगा कि सम्राट हान-मिन-ति ने बौद्ध धर्म का अपने साम्राज्य में कैसा स्वागत किया। इसकी भी एक अजीब कहानी है। "हान-फा-पेन चुआन" (हान राजकुल के समय बौद्ध धर्म का ब्यौरा) नामक ग्रन्थ में लिखा है कि सम्राट हान मिन ति ने अपने शासन के तीसरे वर्ष में अर्थात् सन् ६० ई० में रात को एक बार यह सपना देखा कि १६ फुट ऊंचा एक सुनहला देव, जिसके सिर में प्रकाश चमकता है, राजमहल के ऊपर उड़ रहा है। सम्राट ने इस आश्चर्यजनक सपने का कोई मतलब नहीं समझा। उसने अपने बुद्धिमान मन्त्रियों को अपने सपने की बात सुनाकर उनसे इसका अर्थ पूछा। उसके मन्त्रियों में एक फु-यि था। उसने सम्राट से कहा कि इस सपने का यह अर्थ है कि तिएन-चु अर्थात् भारत में बुद्ध का अवतार हुआ है। सम्राट ने फौरन सेनापति त्साई-यिन और दीवान वाङ्ग-त्सुन को एक जत्थे के साथ, बौद्ध धर्म का स्वागत करने के लिए तिएन-चु अर्थात् भारत भेजा। त्साई-यिन अपने जत्थे के साथ सन् ६५ ई० में खोतान पहुंचा। वहाँ सौभाग्य से अकस्मात उनकी काश्यप मातङ्ग और गोभरण से भेंट हो गई। ये दोनों भारतीय सन्त बौद्ध ग्रन्थों और बुद्ध की मूर्त्तियां लेकर "पूर्वीय देश" की ओर जा रहे थे। त्साई-यिन मय अपने जत्थे के इन लोगों के साथ वापिस चीन लौट आया। ये लोग चीनी राजधानी लो-यङ्ग नगर मे सम्राट मिन ति के शासन के दसवें वर्ष में पहुंचे। चूंकि बौद्ध ग्रन्थ और बुद्ध की मूर्त्तियां सफेद रंग के घोड़ों पर लदी हुई थीं इसलिये सम्राट ने उनके लिये एक विशेष मन्दिर बनवा कर उसका नाम "पे-मा-स्जु" अर्थात् "सफेद घोड़ों का मन्दिर" रक्खा। इन बौद्ध ग्रन्थों और मूर्त्तियों की उसी मन्दिर में स्थापना की गई। चीन का सबसे पहला बौद्ध मन्दिर यही है और अब भी मध्य चीन में हुनान नामक प्रान्त के लो-यङ्ग शहर के बाहर यह मन्दिर अपूर्व शान-शौकत के साथ खड़ा है। इससे आसानी से कल्पना की जा सकती है कि शाही संरक्षण में बौद्ध धर्म का उस समय चीन में कितना महान स्वागत हुआ होगा! चीनी जनता में हान-मिन-ति सम्राट के बौद्ध धर्म के स्वागत की यह

कहानी दो हज़ार वर्ष से प्रचलित है। इस कहानी से यह नतीजा निकल सकता है कि हान-मिन-ति के शासन काल के बहुत पहले से भारतीय और चीनी संस्कृतियों का आपसी आदान-प्रदान होता रहा होगा और बौद्ध धर्म का चीनी जनता में प्रचार होगा। यदि यह नहीं था तो सम्राट कैसे अकस्मात् ऐसा सपना देख सकता था? मंत्री कैसे उसे बुद्ध का नाम बता सकता था? सम्राट कैसे अपने सेनापति और दीवान को बौद्ध धर्म की खोज करने के लिये भेज सकता था? और यह कैसे सम्भव था कि मातङ्ग और गोभरण रास्ते में उनको चीन आते हुये मिल जाते? ये सारे कारण इतने स्पष्ट हैं कि इनके लिये किसी दलील की ज़रूरत नहीं।

काश्यप मातङ्ग और गोभरण सफ़ेद घोड़ों के मन्दिर में रहकर बौद्ध धर्म का प्रचार करते रहे। साथ ही साथ उन्होंने अनेक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। उनके अनुवादित ग्रन्थों में सबमें प्रमुख "४२ अध्यायों वाला धर्म ग्रन्थ" है। यह धर्म ग्रन्थ चीनी स्वभाव के बिलकुल उपयुक्त है और तब से लेकर अब तक चीनी जनता बराबर उसका पारायण करती है। किन्तु यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि यह "४२ अध्यायों वाला धर्म ग्रन्थ" एक तरह का सकलन है। यह धर्म ग्रन्थ किसी एक पुस्तक का अनुवाद नहीं है बल्कि अनेक बौद्ध पुस्तकों के विचार उसमें सकलित किये गये हैं; ऐसे विचार जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चीनी जनता के उपयुक्त थे। पुराने चीनी धर्म ग्रन्थों के साथ इस ग्रन्थ का पूरा मेल था। पुराने चीनी ग्रन्थ जैसे "माता-पिता की भक्ति", "चार पुस्तकें" और "लाओ-त्ज़ु" और यह "४२ अध्यायों वाला ग्रन्थ" एक ही तरह की शिक्षाओं से भरे हैं। यदि इस बौद्ध ग्रन्थ में से "बुद्ध ने कहा," "हे भिक्खुओ" जैसे शब्द निकाल दिये जाय तो पाठक मुश्किल से उसे बौद्ध धर्म का कोई ग्रन्थ समझेंगे। सकलन के अतिरिक्त मातङ्ग और गोभरण ने और दूसरे अनुवाद भी किये थे कि जिनका इस समय कोई पता नहीं चलता। इसके दसियों वर्ष बाद पार्थिया के राजकुमार अशिकाओ सम्राट हान हुआन-ति (१४८ ई०) के समय में चीन आये। अशिकाओ के बाद ही शक-हिन्द के प्रसिद्ध भिक्खु लोकरक्ष भी चीन पहुँचे। इन दोनों बौद्ध सन्तों ने जो बौद्ध धर्म के अच्छे ज्ञाता थे और बहुत बड़े विद्वान थे, चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार किया और बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करने का काम शुरू किया। अशिकाओ ने "लो यङ्ग" में २० वर्ष से अधिक बौद्ध धर्म की पुस्तकों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इन अनमोल ग्रन्थों के पढने के बाद चीनियों ने बौद्ध साहित्य की गहराई और धर्म की वास्तविकता को ठीक ठीक समझना शुरू किया। उसके बाद भारत से अनेकों बौद्ध सन्त और विद्वान् चीन आये और उन्होंने चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। उनमें अधिक प्रसिद्ध ये हैं— बुद्धभद्र, धमरक्ष, कुमारजीव, बोधिधर्म, शुभाकर वज्रबोधि और अमोघ। इन बौद्ध सन्तों और विद्वानों के कार्यों और उनकी सफलताओं का इस छोटे से लेख में दिग्दर्शन करा सकना असम्भव है।

अनेक महान बौद्ध भिक्खु रास्ते की सैकड़ों आपदाएँ उठा कर भारत से चीन पहुँच रहे थे। उन्हें देख-देख कर चीनी भिक्खुओं में बौद्ध धर्म की जन्म-भूमि भारत जाने की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई। यात्रा की समस्त मुसीबतों का सामना करने की उनमें हिम्मत आई। ऐसे चीनी भिक्खु जो भारत पहुंचे उनमें सबमें प्रमुख सिन राजकुल के समय का चीनी बौद्ध यात्री फाहियान है। फाहियान ५ वीं सदी ईसवी के प्रारम्भ में मध्य एशिया होते हुए भारत पहुँचा। दसियों राज्यों में १५ वर्ष बिता कर, वह बौद्ध ग्रन्थों का भंडार लेकर चीन वापस पहुँचा। ७ वीं सदी के 'ताङ्ग' राजकुल के समय एक दूसरा चीनी भिक्खु हुयेन-त्साङ्ग मध्य एशिया होते हुए भारत पहुँचा। हुयेन-त्साङ्ग ने १७ वर्ष की अवधि में सैकड़ों राजधानियों की यात्रा की और बौद्ध धर्म की ६५७ पुस्तकें लेकर अपनी मातृभूमि चीन वापस पहुँचा। हुयेन-त्साङ्ग के बाद यि-त्सिङ्ग नामक चीनी



ज्ञान की खोज में

चित्रकार—निकोलस रोरिक

[महाबोधि सोसायटी के सौजन्य से]

भिक्खु कुआङ्ग-सुङ्ग होकर समुद्री मार्ग से भारत के लिए रवाना हुआ और बौद्ध धर्म की लगभग ४०० पुस्तकें लेकर चीन वापिस आया। इन महान चीनी भिक्खुओं ने न केवल बौद्ध धर्म के ग्रन्थों का ही संस्कृत से चीनी में अनुवाद किया बल्कि अपनी यात्राओं के बारे में अनमोल पुस्तकें लिखीं। फा-हियान की पुस्तक 'फु-कुओ-चि" अर्थात् "बौद्ध देशों का वर्णन, ह्वेनत्साङ्ग की पुस्तक "सि-यु-चि" अर्थात् "पश्चिमी राज्य" का वर्णन और यि-त्सिङ्ग की पुस्तक "नान् हाइ-चि-कुई-चुआन" अर्थात् "दक्षिणी समुद्र के सन्देश" ये तीन अत्यन्त प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। बौद्ध धर्म, भारतीय संस्कृति और भारतीय जनता का इनमें विषद वर्णन मिलता है। पुस्तकें न केवल बौद्ध साहित्य की मणि हैं बल्कि इनसे भारत की प्राचीन सभ्यता और भारत के प्राचीन इतिहास का काफी ज्ञान होता है। इसलिये इनका संसार की अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ है और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वानों ने इनकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।

दोनों देशों के प्रसिद्ध सन्तों की इन यात्राओं से न केवल भारतीय धर्म ग्रन्थ ही चीन पहुंचे बल्कि भारतीय संस्कृति भी चीन पहुंची। बौद्ध साहित्य का जो चीनी अनुवाद हुआ है उसकी कोई तुलना नहीं हो सकती। हान राजकाल से यू-आन राजकाल तक अर्थात् १००० वर्ष में १९० अनुवादकों के नाम आते हैं, जिन्होंने १४४० पुस्तकों, का जिनकी ५५८६ जिल्दें हैं, अनुवाद किया और ये अनुवाद अभी तक सुरक्षित हैं। यह तो हुई माने जाने अनुवादकों की बात। बहुत से अनुवादक ऐसे हुए हैं जिनका कोई नाम तक नहीं जानता और जिनके अनुवाद किये हुए ग्रन्थों की तादाद तक नहीं मालूम। ऐसे अनुवादकों की और उनके अनुवादित ग्रन्थों की तादाद निश्चय ही बेशुमार होगी। राजकीय अनुवादों का काम बड़े क़ायदे के साथ किया जाता था। स्वयम् सम्राट इन अनुवादों की जांच-पड़ताल करते थे। अनुवादक अत्यन्त विद्वान् और बौद्ध साहित्य में पारंगत होते थे। ये लोग एक साथ बैठकर अनुवाद का काम करते थे और एक दूसरे से सलाह और मशविरा भी करते जाते थे। प्रत्येक शब्द, प्रत्येक ध्वनि और प्रत्येक अर्थ को काग़ज़ पर लिखने के पहले काफ़ी बहस की जाती थी। सुइ, ताङ्ग और सुङ्ग राजकुल के समय में अनुवाद का एक विशेष मुहकमा ही क़ायम था—जिसके ९ अलग-अलग विभाग थे। कुछ लोग वाक्यों का अनुवाद करते थे, कुछ उच्चारणों की जांच-पड़ताल करते थे और कुछ अर्थों पर बहस करते थे, कुछ शैली को सुन्दर बनाते थे, कुछ ग़लतियां दुरुस्त करते थे और कुछ लोग किये हुए अनुवाद को दोहराते थे। जहां तक अनुवाद का सम्बन्ध है अनुवादकों के लिये कड़े नियम बने हुए थे। ताङ्ग राजकुल के समय में अनुवाद के पांच नियम थे और सुङ्ग राजकुल के समय में ६ नियम थे। उस ज़माने में आजकल के से सस्ते और जल्दबाज़ी में किये हुए अनुवादों की अपेक्षा कितने उत्तम तरीक़े से अनुवाद होता था। चीनी बौद्ध भिक्खुओं ने अनुवाद के अतिरिक्त मौलिक ग्रन्थों की भी रचना की। उन्होंने बौद्ध साहित्य को एक क्रम में किया। बौद्ध धर्म के दार्शनिक सिद्धान्तों का अध्ययन करके उन पर टीकाएं कीं और इस तरह बौद्ध धर्म को उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचाया। सैकड़ों वर्षों में तय्यार किये हुए इन समस्त बौद्ध ग्रन्थों को एक जगह एकत्रित किया गया और इन्हें "सान-त्साङ्ग" अर्थात् "त्रिपिटक" में बांटा गया। ये त्रिपिटक—(१) सूत्र पिटक, (२) विनय पिटक और (३) अभिधर्म पिटक कहलाते हैं। इन तीनों को मिलाकर "ता-त्साङ्ग-चिङ्ग" अर्थात् "बौद्ध-धर्म का महान् ग्रन्थ" कहा जाता है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त चीनियों द्वारा लिखे हुए बौद्ध धर्म की पुस्तकों की तादाद लगभग १० हज़ार समझी जाती है। प्राचीन भारत के लगभग समस्त महत्वपूर्ण बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया गया। जो ग्रन्थ आज भारत में लापता हो गये हैं, वे चीन में चीनी भाषा के अनुवाद के रूप में आज भी सुरक्षित हैं। यदि कोई व्यक्ति बौद्ध धर्म का पूरा अध्ययन करना चाहे

तो उसके लिये इन चीनी ग्रन्थों का पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है। यह कोई बड़ा बोल नहीं है, बल्कि एक वास्तविकता है। आज चीनी ही केवल एक ऐसी भाषा है जिसके द्वारा बौद्ध धर्म का पूरा-पूरा अध्ययन किया जा सकता है।

हान राजकुल के समय में पहले पहल बौद्ध धर्म जाबने से चीन पहुँचा। उसके बाद से विविध कुलों के चीनी सम्राट बौद्ध धर्म में व्यक्तिगत दिलचस्पी लेते रहे, उसके प्रचार को प्रोत्साहन देते रहे और उसकी रक्षा करते रहे। जगह-जगह मन्दिर बनवाये गये। पागोदा खड़े किये गये। पूजा के सरंजाम किये गये। भिक्खु और भिक्खुनियों के रहने का प्रबन्ध किया गया। शाही खर्च से बने हुए सारे देश में बड़े बड़े मन्दिर, ऊंचे ऊंचे पागोदा और विशाल विहार अब तक खड़े हैं। चीनी कविता की एक पंक्ति है—'ऊंची और मनोहर पर्वत चोटियां बौद्धों ने अधिकृत कर रखी हैं,' इसका अर्थ यह है कि चीन में मशहूर और मनोहर पहाड़ियों पर बौद्ध मन्दिर, पागोदा और भिक्खु संघ छाये पड़े हैं। विविध युगों मे विविध सम्राटों की सहायता के बिना बौद्ध धर्म को इतनी सफलता कैसे मिल सकती थी! फिर भी कुछ सकुचित दिमाग़ों के चीनी सम्राट हुए हैं जिन्होंने बौद्ध धर्म का अर्थ नहीं समझा और उसे हानि पहुचाने की कोशिश की। मसलन उत्तरी चीन में 'वे' राजकुल के सम्राट ताई-वु-ति ने सन् ४३८ ई० में बौद्ध ग्रन्थों को जलाकर बौद्ध भिक्खुओं को संसारी जीवन बिताने के लिये विवश किया। दूसरे उत्तरी चीन के 'चो' राजकुल के सम्राट वु-ति ने सन् ५७४ ई० में बौद्ध विहारों को जलाकर, बौद्ध धर्म को ग़ैर क़ानूनी क़रार दिया। उसके बाद सन् ८४५ ई० में ताङ्ग राजकुल के सम्राट वु-त्सुङ्ग ने बौद्ध मन्दिरों और मूर्त्तियों को तोड़-फोड़ डाला। चीन में आम तौर पर यह "तीन 'वु' सम्राटों का बौद्ध धर्म पर अभिशाप" कहकर याद किया जाता है। किन्तु इस तरह की शाही आफत केवल चन्द रोज़ रही और उससे बौद्ध धर्म को कोई संघातिक हानि नहीं पहुँची। इसके विपरीत चीनी बौद्ध धर्म के इतिहास में दो मार्के की घटनाएं हुई हैं। एक यह कि चीन में एक मर्तबा एक "सम्राट-भिक्खु" और दूसरी मर्तबा एक "भिक्खु-सम्राट" हुए हैं। दक्षिण राजकुल के सम्राट लियाङ्ग वु-ति ने तीन मर्तबा अपने राजमुकुट को त्याग कर "तुङ्ग-ताइ" मन्दिर में भिक्खुओं का वस्त्र ग्रहण किया। इसलिये उसे सम्राट-भिक्खु कहा जाता है। उसकी यादगार के अवशेष नानकिङ्ग शहर में अब तक मिलते हैं। 'मिन' राजकुल का संस्थापक ताइ-त्सु "हुआङ्ग-चिओ" मन्दिर का एक भिक्खु था। उसने बर्बर मंगोल राजा को चीन से खदेड़ कर सारे चीन का सम्राट पद स्वीकार किया और इस तरह चीनी इतिहास में एक स्वर्णिम पृष्ठ जोड़ दिया। इसीलिये ताइ-त्सु "भिक्खु सम्राट', कहलाता है। इसके अतिरिक्त और दूसरे विद्वान और धर्मात्मा भिक्खु हुए हैं जिन्होंने सम्राटों के धार्मिक कामों में सहायता दी है और सफलता के साथ समाज में अनुशासन क़ायम रक्खा है। ऐसे भिक्खुओं की तादाद इतनी अधिक है कि उनकी व्यक्तिगत चर्चा कर सकना यहां असम्भव है।

त्सिन राजकुल के प्रारम्भिक काल के समस्त सम्राटों का बौद्ध धर्म पर विश्वास था। देश शक्तिवान था और चारों तरफ़ शान्ति थी। इस काल में बौद्ध धर्म की बराबर उन्नति होती गई किन्तु मान्चू शासन के अन्तिम काल में चीनी राष्ट्र के साथ-साथ बौद्ध धर्म भी पतन के गर्त्त में गिर गया। इसी समय यूरोपीय सभ्यता ने सुदूर पूर्व में तूफान की तरह प्रवेश किया और परिणाम स्वरूप चीनी दिमाग़ों में अजीबोग़रीब कैफियत पैदा होनी शुरू हुई। सुसंस्कृत लोगों ने आशा की कि पश्चिम के संसर्ग में आकर देश के अन्दर नव जागृति होगी। पुरानी प्रणाली की शिक्षा संस्थाओं को ख़त्म करके यूरोपीय माडेल के नये स्कूल क़ायम किये गये। विद्वानों को वैज्ञानिक ज्ञान के अनुसंधान के लिये विदेश भेजा गया। इन नये पढे लिखे-लोगों को पश्चिम की मशीनों और भौतिकवाद ने चकाचौंध कर दिया

और वे मुह खोलकर उसकी ओर आश्चर्य से देखने लगे। उनके दिलों में पश्चिमी संस्कृति के प्रति प्रशंसा के भाव जागे। प्रशंसा के भावों ने पश्चिमी संस्कृति के प्रति उनमें श्रद्धा पैदा की और श्रद्धा ने पैदा की नक़ल की भावना। सारे देश में भूचाल-सा आ गया। पुरातन शिक्षा और विचार, पुरातन राजनीति और अर्थ प्रणाली, और पुरातन सामाजिक रीति रिवाजों की जड़ें हिलने लगीं और हमारे प्यारे पुरातन देश की प्राचीन गौरवमय सभ्यता नष्ट होती हुई दिखाई देने लगी। विचारों के इस भयंकर तूफ़ानी समुद्र मे बौद्ध धर्म पहली मर्तबा पतन की गहराई में दिखाई देने लगा। चूंकि इसके पीछे एक इतना लम्बा इतिहास था और वह लोगों के दिलों पर इतनी गहरी जड़ जमा चुका था और उसके अन्दर ज़बर्दस्त सम्भावनाएँ थीं इसलिये यह निश्चित था कि वह समय पाकर फिर हरा भरा होगा।

चीनी प्रजातंत्र के शुरू के वर्षों में न तो शान्ति क़ायम होने पाई और न अमन। बौद्ध धर्म चुपचाप सुअवसर की प्रतीक्षा करता रहा और उसे फिर उन्नति का मौक़ा मिला। इस संघर्ष काल में चीन में जो सांस्कृतिक आन्दोलन शुरू हुए उनमें सबमें पहला "४ मई सन् १९१९ ई० का आन्दोलन" था। यह विद्यार्थियों द्वारा शुरू किया गया था। इसे वे 'नव संस्कृति आन्दोलन' कहते थे। किन्तु इसके अनुयायी थोथे विचारों से भरे हुए थे। वे केवल "काढे हुए गिलाफ़" की तरह थे। न उनके अन्दर कोई वास्तविक ज्ञान था और न कोई सदाचार। इसीलिये उनके शब्दों मे न तो कोई ज़ोर था और न उनसे कभी कोई अच्छा नतीजा निकला। क़ैफ़ियत यह हुई कि वे कभी कोई अच्छाई तो न कर पाये पर बुराई ज़रूर कर गये। देश में ऐसा गड़बड़झाला मचा कि किसी की समझ में ही न आता था कि वह किसे माने और क्या करे। नव संस्कृति आन्दोलन के प्रचारकों के लिये अध्यात्म और धर्म का महत्व समझ सकना टेढ़ी खीर था; इसलिये इन लोगों ने धर्म पर ही हमला करना शुरू किया। बौद्ध धर्म के प्रति इन लोगों की भावना न तो आदर की थी न मित्रता की। १५ वर्ष पूर्व जब नानकिङ्ग में पहली दफ़ा राष्ट्रीय दल की सफलता के बाद केन्द्रीय शासन क़ायम हुआ तब पश्चिम की अन्धी नक़ल की भावना लोगों के दिलों से ग़ायब हुई और पागलपन से भरे हुए आन्दोलनों मे सुधार हुए। अब इस समय चीनी प्रजातन्त्र सरकार के मातहत धर्म की रक्षा की जाती है और उन्हें प्रोत्साहन दिया जाता है। ख़ासतौर पर बौद्ध धर्म में नयी जागृति हुई है। अनेक लोगों को उस पर विश्वास है। सरकारी मन्त्रिमण्डल में अनेक प्रमुख व्यक्तियों की बौद्ध धर्म पर असीम श्रद्धा है। राष्ट्रीय सरकार के सभापति लिन त्सु-चाओ और एग्ज़ामिनेशन युआन के सभापति ताइ-चि-ताओ बौद्ध धर्म के बहुत बड़े विद्वान और चीनी संस्कृति के महान प्रचारक हैं। चीन के राष्ट्रीय नेता जनरल चिआङ्ग काई-शेक बौद्ध धर्म की बेहद इज़्ज़त करते हैं और उन्होंने अपनी जन्मभूमि मे मनोहर सुएह-ताऊ पहाड़ी पर एक बड़े आलीशान विहार का निर्माण किया है। इस तरह वर्तमान चीन में बौद्ध धर्म के नव जागरण और बौद्ध आन्दोलन के लिये बहुत बड़ी गुंजाइश है।

इस समय बौद्ध आन्दोलन और चीनी बौद्ध धर्म को हम दो हिस्सों में बांट सकते हैं—(१) बौद्ध धर्म और (२) बौद्ध शिक्षा। जहां तक बौद्ध धर्म का सम्बन्ध है देश में अर्से से दस दल थे—

(१) चु-शेह-त्सुङ्ग (अभिधर्मकोष दल),
(२) चेङ्ग-शिह-त्सुङ्ग (सुयत्त दल),
(३) लु-त्सुङ्ग (विनय दल),
(४) फ़ा-सिआङ्ग त्सुङ्ग (योगाचार दल),
(५) सान-लुन त्सुङ्ग (मध्यमाक दल),
(६) ह्वा-येन-त्सुङ्ग (अवतामसक दल),
(७) तिएन-ताइ-त्सुङ्ग (सद्धर्मपुण्डरीक महापरिनिर्वाण दल),
(८) चेन येन-त्सुङ्ग (मंत्र दल),
(९) सिङ्ग तु-त्सुङ्ग (अमिताभ दल) और
(१०) शान-त्सुङ्ग (ध्यान दल)।

इन दसों दलों में हर एक बौद्ध धर्म का झंडा फहराना केवल अपना ही स्वाधिकार समझता था और दूसरे दल की भर्त्सना करता था। यह सही है कि आपसी प्रतिस्पर्धा से वे फायदा उठा सकते थे। किन्तु यह भी सही है कि वे एक दूसरे के सम्बन्ध में गलत प्रचार करते थे और बौद्ध दुनिया में अनैक्य फैलाते थे। सौभाग्य से इन विविध दलों में धीरे-धीरे एकता क़ायम हो गयी है और अब कोई विशेष खाई इनके बीच में दिखाई नहीं देती। बौद्ध धर्म मौलिक रूप से एक है। उसे टुकड़ों में बाँटना ग़लत है। देश में बौद्ध नेता आज ज़ोर-शोर के साथ एकता आन्दोलन चला रहे हैं। उन्होंने विविध प्रान्तों में बौद्ध संघ क़ायम किये हैं और सारे चीन के बौद्धों के लिये शंघाई में "चीनी बौद्ध केन्द्रीय संघ" क़ायम किया है। सभी दलों ने इसके अधीन काम करने का निश्चय किया है। इस तरह की संस्था की बेहद ज़रूरत थी जो एक ओर धर्म में आन्तरिक सुचारुता पैदा करे और दूसरी ओर बाहरी समस्याओं को हल करे। किन्तु केन्द्रीय संघ में हल्के-हल्के दो दल बनते नज़र आ रहे हैं—एक प्रगतिशील दल और दूसरा रूढ़िवादी दल। प्रगतिशील दल नये-नये सुधारों की माँग करता है और रूढ़िवादी दल पुरानी रूढ़ियों के पालन में ही श्रेय समझता है। हालांकि दोनों दलों के पास अपने अपने समर्थन के लिए दलीलें हैं फिर भी इन दलीलों का अधिक महत्व नहीं है।

जहाँ तक बौद्ध शिक्षा का सम्बन्ध है चीन में बौद्ध साहित्य के अध्ययन का आम रिवाज था। बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिये अनेक बौद्ध समितियां और बौद्ध संस्थाएँ हैं। इन सब बौद्ध समितियों में सबसे महत्वपूर्ण समिति है—"चीनी बौद्ध समिति"। डाक्टर ताई-ह्सु ने नानकिङ्ग में इस समिति की स्थापना की थी और चीन के प्रसिद्ध विद्वानों और व्यक्तियों ने इस समिति में अपना योग दिया था। इस समिति के सदस्य अनुसंधान के काम के साथ-साथ जनता में व्याख्यान देते थे। पेपिङ्ग शहर में हान ते-सिङ्ग द्वारा क़ायम की हुई "सान-शिह" नामक बौद्ध समिति है। जिसके सदस्यों में अनेक प्रसिद्ध प्रसिद्ध विद्वान् हैं और जिसने बौद्ध धर्म की अनेकों महत्व-पूर्ण पुस्तकें प्रकाशित की है। बौद्ध संस्थाओं में सब में अच्छी संस्था नानकिङ्ग में चीनी बौद्ध कालेज है। इसके संस्थापक श्री ऊ-याङ्ग चिङ्ग-वु हैं जो बौद्ध धर्म के अच्छे विद्वान् हैं। अनेक प्रसिद्ध व्यक्ति उनके शिष्य हैं। कालेज की ओर से एक मासिक पत्र प्रकाशित होता था। कालेज की ओर से बौद्ध धर्म के अनेक पुराने ग्रन्थों का सम्पादन किया गया। इसके बाद हुपे में "वु-चाङ्ग" नामक बौद्ध सत्र और फुकीन में श्री ताइ त्सु द्वारा मिन-नान नामक बौद्ध संस्था क़ायम की गई। इन दोनों संस्थाओं से बड़े योग्य और विद्वान् भिक्खु निकले हैं जो सारे देश में बौद्ध धर्म का प्रचार करते हैं। शंघाई से वु-चाङ्ग नामक बौद्ध संघ बौद्ध आलोचना का एक पत्र प्रकाशित करता है। इनके अलावा शंघाई, नानकिङ्ग, टींटसिन और दूसरे बड़े-बड़े शहरों में "दी होम बुद्धिस्ट एसोसियेशन" नामक संस्था क़ायम की गई है। एक दूसरी संस्था "वर्ल्ड बुद्धिस्ट इन्स्टिट्यूशन" के संगठित करने की योजना बनाई जा रही है।

इस समय चीन में बौद्ध धर्म के प्रचारकों में अनेक प्रमुख व्यक्ति हैं। भिक्खुओं में ताई-ह्सु सब में प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त भिक्खु इन-कुआङ्ग, भिक्खु हुन-यि भिक्खु युआन-यिन भी खासे प्रमुख हैं। भिक्खु विद्वानों में ओऊ यि-सिन, यु त्सु-चिआओ, येह-यु-फु, शिह सियाङ्ग-त्साई, निहं युन ताई आदि अत्यन्त प्रमुख नाम हैं। ये सब प्रसिद्ध बौद्ध भिक्खु और विद्वान् जन-कल्याण के मार्ग में अपनी सारी शक्ति लगा रहे हैं। सार्वजनिक हित को दृष्टि में रख कर ये लोग अनेक संस्थाएं चलाते हैं। ग़रीबों और ज़रूरतमन्दों को ये मदद देते हैं। विद्या और धर्म का प्रचार करते हैं और इस तरह लोगों की नज़रों में बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाते हैं। इनके अतिरिक्त अनेक अवसर प्राप्त सेनापति और सरकारी अफ़सर हैं जो बौद्ध धर्म के आदर्शों में विश्वास रखते हैं,

बौद्ध कर्मकाण्डों को मानते हैं और कभी-कभी स्वयं बौद्ध भिक्खु भी बन जाते हैं।

चीनी बौद्ध धर्म का एक अद्भुत पहलू है जिसे लामा धर्म कहा जाता है। इसका प्रचार तिब्बत और मंगोलिया में अधिक है। लामा धर्म का उद्‌गम स्थान तिब्बत है। वास्तव में यह बौद्ध धर्म की एक शाखा है। चीनी भाषा में इसे "चेन-येन-त्सुङ्ग" या "मंत्र धर्म" कहा जाता है। इस पर तिब्बती रीति-रिवाज की गहरी छाप है। तिब्बत ही दुनिया का एक ऐसा समतल भाग है, जो चारों ओर बर्फीली पहाड़ियों से घिरा हुआ है। तिब्बत स्वाभाविक और प्राकृतिक दृष्टि से स्वय ही आश्चर्यजनक और रहस्यमय है। तिब्बतियों का अपना विश्वास और पुरातन धर्म भी रहस्यमय है और इसलिए तिब्बत वालों को बौद्ध धर्म का यह मंत्र सम्प्रदाय बेहद रुचा। वास्तव में इस मंत्र सम्प्रदाय के अन्दर एक गहरा रहस्य छिपा हुआ है। यह तिब्बत वालों के रहस्यमय स्वभाव के अनुकूल पड़ता है। पुरातन तिब्बती धर्म और मंत्र सम्प्रदाय आपस में इतने मिल-जुल गये कि उन्होंने बौद्ध धर्म के एक नये रूप लामा धर्म को जन्म दिया। सातवीं सदी ईसवी में ताङ्ग राजकुल के प्रारम्भिक काल में पहली बार बौद्ध धर्म तिब्बत पहुँचा। उस समय तिब्बत चीन के अधीन खिराज देने वाला एक अलग राज्य था। तिब्बत के राजा "सुङ्ग त्सान" ने ताङ्ग राजकुल की राजकुमारी "वेन चेङ्ग" के साथ विवाह किया। बाद में इस तिब्बती राजा ने नेपाल की राजकन्या "पेलिस्खु" के साथ विवाह किया। ये दोनों राजकुमारिया बौद्ध धर्म की सच्ची अनुयायी थीं। इन दोनों रानियों से तिब्बत राज इतने प्रभावित हुये कि उन्होंने भी बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। ये दोनों रानियाँ ने अपने अपने मैके से बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये अनेक बौद्ध ग्रन्थ और बौद्ध मूर्तियां अपने साथ लाई थीं। इस तरह ये दोनों रानियां तिब्बत में बौद्ध धर्म की पहली प्रचारक समझी जाती हैं। अब भी तिब्बत की राजधानी ल्हासा में "ता-चावो" अर्थात् "महान मन्दिर" नामक एक विशाल मन्दिर खड़ा हुआ है जिसे चीनी राजकन्या वेन-चेङ्ग ने बनवाया था और जिसमें अब तक उसकी एक सुनहली मूर्ति स्थापित है। तिब्बत में यही सब में प्राचीन मन्दिर समझा जाता है और लोग उसे अत्यन्त पवित्र समझते हैं। प्रति वर्ष नव वर्ष के दिन तमाम तिब्बती भिक्खु प्रार्थना और पूजा के लिये इस मन्दिर में इकट्ठा होते हैं। एक दूसरा मन्दिर नेपाली राज कन्या पेलिस्खु का बनवाया हुआ है, जो "सिआओ-चाओ" अर्थात् "हिना मन्दिर" कहलाता है। इस मन्दिर में नेपाली राजकन्या की एक सुनहली मूर्ति अब तक मौजूद है। तिब्बती बड़े आदर के साथ इस मन्दिर को देखते हैं। समय के विस्तार के साथ-साथ भारत, नेपाल और चीन के अनेक प्रसिद्ध भिक्खु तिब्बत पहुँचे और उनके प्रचार से तिब्बत में बौद्ध धर्म उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा। उस समय तक तिब्बत में कोई लिपि नहीं थी। बौद्ध धर्म ग्रन्थों का अनुवाद लिपिबद्ध करने के लिये संस्कृत के ३० अक्षरों को लेकर एक तिब्बती वर्णमाला बनाई गई। तिब्बती, पाली और चीनी भाषा में तिब्बती बौद्ध साहित्य का भण्डार भरा पड़ा है। चीनी में युआन राजकुल के समय में मंगोलों ने हमला करके एशिया और यूरोप के बड़े भाग को अपने अधीन कर लिया। उन्होंने तिब्बत को भी अपने साम्राज्य में मिला लिया। इन मंगोल युआन सम्राटों ने तिब्बती बौद्ध धर्म को अपना राज धर्म बना लिया। अनेक तिब्बती भिक्खुओं ने युआन सम्राटों से आदर सत्कार पाया और उनसे उन्हें साम्राज्य भर के "राष्ट्र गुरु" की महान उपाधि मिली। १५ वीं सदी ईसवी में चीन में मिन राजकुल के समय में तिब्बती बौद्ध धर्म में जबर्दस्त हेर-फेर हुए। तिब्बती बौद्ध धर्म के इस सुधारक का नाम "त्सुङ्गकाव" था। इस तिब्बती सुधारक और ईसाई धर्म के सुधारक "मार्टिन लूथर" के सुधारों में बहुत कुछ समानता पाई जाती है। तिब्बती भिक्खुओं के कार्य और उनकी आदतें इस समय तक ऐसी हो गई थीं कि उनसे बौद्ध धर्म की

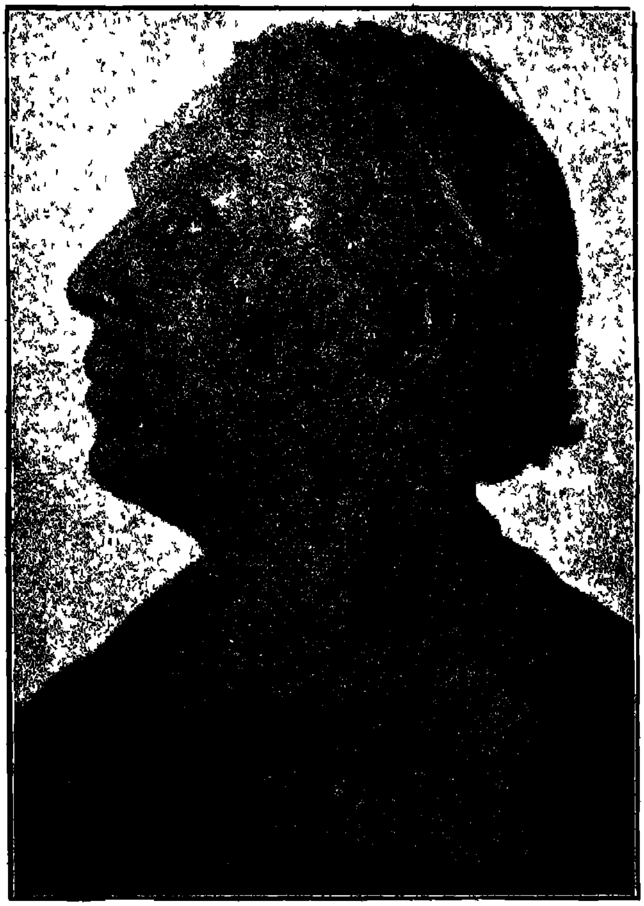
बड़ी छीछालेदर होने लगी थी। त्सुङ्कपाव को इससे बड़ा आत्मक्लेश पहुँचा और उसने सुधार करने की ठानी। इसके बाद तिब्बती बौद्ध धर्म सच-मुच में बहुत कुछ सुधर गया और क़रीब क़रीब एक नया धर्म ही बन गया। पहले तिब्बती बौद्ध भिक्खु लाल वस्त्र पहिनते थे और इसीलिये वे 'लाल लामा' कहलाते थे। सुधार के बाद वे पीला वस्त्र पहनने लगे और इसीलिये 'पीले लामा' कहलाने लगे। अब भी तिब्बत में लाल लामा दिखाई देते हैं। किन्तु उनकी संख्या नहीं के बराबर है। त्सुङ्कपाव की मृत्यु के बाद तिब्बती सुधार का काम उसके वसीयतनामे के मुताबिक उसके दो शिष्यों के परस्पर सहयोग के साथ चलना शुरू हुआ। उसके ये दो शिष्य 'दलाई लामा' और 'पनसन लामा' थे। इस समय तक १३ दलाई लामा और ८ पनसन लामा गद्दी पर बैठ चुके हैं। १३ वें दलाई लामा की मृत्यु के कई वर्ष बाद तक, मृत दलाई लामा की आत्मा किसी दूसरे में न दिखाई दी। वर्षों की खोज के बाद अन्त में एक बालक के अन्दर वे लक्षण दिखाई दिए जिससे यह मालूम हुआ कि मृत दलाई लामा की आत्मा इसी बालक के अन्दर अवतरित हुई है। पनसन लामा कई वर्ष हुए चीन में बौद्धधर्म के मन्त्र सम्प्रदाय का प्रचार करने आये थे और उनका चीनी बौद्धों ने काफी स्वागत सत्कार किया था।

बौद्ध धर्म ने चीन को जिस तरह प्रभावित किया है उसे वर्णन कर सकना असम्भव है। हान और ताङ्ग राजकुल के समय से चीन के विचारों, शिक्षा, साहित्य, कला, भाषा, रिति-रिवाज, अध्ययन और रोज़-मर्रा की हर ज़रूरत की बातों पर बौद्ध धर्म ने अपना प्रभाव डाला है। जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं जो बौद्ध धर्म के प्रभाव से अछूता बचा हो। आज-कल की चीनी संस्कृति अधिकांश में बौद्ध संस्कृति है। आजकल का चीनी जीवन अधिकांश रूप में बौद्ध जीवन है। चीनी प्रजातन्त्र के सभापति से लेकर मामूली जनता तक एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो भगवान बुद्ध के नाम से परिचित न हो या जो 'नमो अमिताभ्य बुद्धाय" मन्त्र का उच्चारण न करता हो। चारों तरफ चीनी ज़बानों से यह मंत्र सुनाई पड़ता है। इसी से कल्पना की जा सकती है कि चीन में बौद्ध धर्म का कितना ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ा। मौजूदा बौद्ध धर्म को जानने के लिये ३ भाषाओं का आश्रय लेना पड़ेगा -- पाली, चीनी और तिब्बती। चूंकि चीनी और तिब्बती दोनों चीनी ही हैं, इसलिये बौद्ध धर्म का दो तिहाई ज्ञान चीनी भाषा में ही संचित है। चीन ने बौद्ध धर्म के निरन्तर प्रचार, उसकी उन्नति और उसके प्रादुर्भाव के लिये अथक प्रयत्न किया है। किन्तु दुख की बात है की चीनी बौद्धों ने न तो अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार ही किया और न संस्कृत और दूसरी भाषाओं के अध्ययन का ही प्रयत्न किया। इसका नतीजा यह हुआ कि चीनी बौद्ध विद्वान केवल अपनी मातृभाषा में ही बौद्ध धर्म का प्रचार कर सकते थे। दूसरी बात यह कि बहुत कम विदेशी ऐसे हैं, जो चीनी भाषा जानते हों या जिन्हें चीनी भाषा का इतना ज्ञान है कि वे चीनी बौद्ध साहित्य का अध्यन कर सकें। चीन में बौद्ध धर्म का जितना महान कोष भरा पड़ा है उसकी दुनिया को कल्पना तक नहीं है। जापान में चीन से ही बौद्ध धर्म गया और जापान में चीनी भाषा में ही बौद्ध धर्म की पुस्तकें हैं। जापानी बौद्धों का प्रयत्न सचमुच सराहनीय है कि उन्होंने संस्कृत और दूसरी विदेशी भाषाओं का समन्वयात्मक अध्ययन किया। वे जानते हैं कि बौद्ध धर्म का अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार किस तरह करना चाहिए। विदेशी भाषा में लिखे हुए उनके ग्रन्थ कुछ कम नहीं हैं। दुनिया के विद्वान यह नहीं जानते कि जापानी बौद्ध धर्म वास्तव में चीनी बौद्ध धर्म है। चीनी बौद्ध के लिये यह बड़े दुख की बात है कि चीनी बौद्ध धर्म अन्धकार में छिपा पड़ा है। इधर हाल में चीनी बौद्धों के अन्दर कुछ जागृति के लक्षण दिखाई दे रहे हैं और अनेक चीनी युवक विदेशी भाषा सीखने का प्रयत्न कर रहे हैं। साथ ही साथ विदेशी लोग अब कुछ-कुछ चीनी भाषा का महत्व समझने लगे हैं और चीनी बौद्ध धर्म का ख़ज़ाना लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर

रहा है। सन् १९३३ ई० में अंगरेज़ बौद्ध भिक्खु चाओ-कुङ्ग के नेतृत्व में दस यूरोपीय भिक्खु और भिक्खुनियां चीनी बौद्ध धर्म की दीक्षा लेने के लिए चीन आए। वर्तमान चीनी बौद्ध धर्म के इतिहास में यह एक महत्वपूर्ण घटना है।

एक प्रश्न यहां पर यह उठता है कि चीन में बौद्ध धर्म इतनी व्यापक शक्ति और प्रभाव कैसे पैदा कर सकता है और चीन बौद्ध धर्म को इतनी उन्नति और प्रोत्साहन कैसे दे सकता है? इसका उत्तर हमें चीनी जनता की राष्ट्रीय संस्कृति के अन्दर ढूंढना होगा। चीनी संस्कृति स्वर्ण मार्ग के सिद्धान्तों को मानती है। वह एकता की भावना से ओतप्रोत है और सार्वभौम अहिंसा उसका मौलिक आधार है। चीनी संस्कृति के अन्दर भेद भाव और अलहदगी की भावना नहीं है। चीनी सन्तों ने सदा से चीन को एक महासागर से उपमा देकर चीनियों को चरित्र और हृदय को महान और व्यापक बनाने की शिक्षा दी है। इसीलिये दुनिया की प्रत्येक सभ्यता के प्रति चीनी आदर और स्वागत के भाव रखते हैं। एक चीनी धर्म ग्रन्थ में लिखा है "दुनिया की समस्त महान शिक्षाएं एक-सी हैं। उनमें कोई भेद-भाव और लड़ाई नहीं है। वे बग़ैर एक दूसरे को नुकसान पहुँचाये साथ-साथ चल सकती हैं।" इसीलिये चीन में दुनिया के समस्त धर्म एक साथ रह सकते हैं और वहां कोई धार्मिक लड़ाई-झगड़ा नहीं होता, जब कि धार्मिक लड़ाई-झगड़ों ने दूसरे देशों के इतिहास को रक्त रंजित कर रखा है। बुद्ध और कनफ्यूशिअस की शिक्षाएं मौलिक रूप से एक हैं। और भारत और चीन की संस्कृतियां अनेकों अंशों में एक दूसरे से मिलती जुलती हैं और इसीलिये बौद्ध धर्म चीन में इतनी उन्नति कर सका।

आज दुनिया के विचारक धीरे धीरे बौद्ध धर्म के महत्व को समझते जा रहे हैं। यूरोप और अमरीका के विद्वान बौद्ध धर्म के अध्ययन में प्रयत्नशील हैं। ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती ही जाती है। इस मौजूदा जीवन की अस्थिरता से सभी परिचित हो रहे हैं। दुनिया के उद्धार का रास्ता अब उन्हें बौद्ध धर्म की महानता, उसकी शिक्षा, उसके सद्गुण और उसके सद् आचारों में दिखाई देता है। इसे देखते हुए बौद्धों का यह परम कर्त्तव्य है कि वे बौद्ध धर्म के अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार के लिये कोई प्रयत्न बाकी न रखें। आज दुनिया के बौद्धों का एक महान कर्त्तव्य है कि वे सहयोग और आपसी मेल-जोल के साथ बौद्ध धर्म के द्वारा संसार के हृदय-परिवर्तन के महान प्रयत्न में लग जायं। क्या संसार के बौद्ध इस सुनहले अवसर को हाथ से खो जाने देंगे?



स्व० देवमित्र धर्मपाल
[महाबोधि सोसायटी के सौजन्य से]

स्वयं कइयों को ले जा चुका था। लेकिन वे वहां घंटे दो घंटे के लिये जाते थे और शहर वापिस आ जाते थे, कोई अपना बिस्तर लेकर वहाँ ठहरने न जाता था। इसी प्रकार वह कुछ न कुछ कहता रहा।

जब हम एक नाला, जिसे उस ने बरना नाला कहा, पार कर चुके, तो गाड़ीवान ने यह भी कहा कि इधर के लोग सारनाथ के साधु को पगला समझते हैं। नहीं तो कोई खण्डहरों में मकान बनाने में इतना रुपया क्यों खर्चेगा? क्या काशी जी में जमीन न मिल सकती थी?

उसने कहा यह ठीक है कि वह रुपया साधु का अपना रुपया नहीं है। इन साधुओं को जितना रुपया वे चाहें प्राप्त करने का ढंग आता है। यदि वह हमारे जैसे साधारण ग़रीब आदमियों को भी वह ढंग बता दे तो फिर मैं यह गाड़ी हांकने का काम क्यों करूं?

जब गाड़ीवान् इस प्रकार चटा-चट करता बोलता चला जा रहा था, मैं सोचने लगा कि मेरे सामने क्या है—मैं कैसे स्थान पर जा रहा हूं!

मेरे हृदय पर एक पत्थर-सा आ पड़ा।

ग

उस मानसिक तय्यारी के बाद भी जो देखा वह चकरा देने वाला था। ज्यों ज्यों मैं अपने गन्तव्य स्थान के नज़दीक पहुंचा त्यों त्यों दृश्य अधिक वीरान प्रतीत होने लगा।

ठीकरे इस प्रकार बिखरे थे मानों हजारों बच्चे अपने माता पिताओं के बरतनों को तोड़ तोड़ कर खेलते रहे हैं और उन टूटे टुकड़ों को चारों ओर बिखेर दिया है। प्रतीत होता था कि कुछ बड़े बड़े दानव भी इसी प्रकार की लीला करते रहे हैं। क्योंकि मैंने एक बड़े टीले को देखा, जो कि इस के ऊपरले हिस्से के गिरा दिये जाने से पहले एक बड़ी भारी गोल इमारत रही होगी। घास में से ईंटें झांक रही थीं जो कि कभी किसी ऐसे दीवार या खम्भे में लगाई गई थीं, जो अब गिर पड़ा था। वहां पत्थर भी थे, धूप छांह से ऐसे मुरझाए हुए, जैसे झुर्रीं पड़े आदमियों के चेहरे।

घ

उस वीराने में जीवन का एक चिन्ह दिखाई देता था। यह एक पक्का मकान था। देखने से प्रतीत होता था कि अभी ताजा बना है।

यह कोई शानदार मकान न था। जैसे मकान की मैंने आशा की थी, वैसा यह कुछ भी न था। मैंने अपने दिमाग़ में जो नकशा खींचा था, वह कुछ ऐसा था कि एक बड़ी बस्ती होगी, जिसमें श्रमण रहते होंगे, प्रोफैसर रहते होंगे, विद्यार्थी रहते होंगे और उनके बीच में एक बड़ा शानदार मकान होगा।

मेरी इस कल्पना के लिये कोई यथार्थ कारण न था। उस मकान में से निकले किसी पत्र, या किसी समाचार पत्र वा पत्रिका के किसी लेख में कोई ऐसी बात न थी, जिसकी पृष्ठभूमि पर मेरी कल्पना ने वह चित्र बना लिया था। इसके बावजूद मेरे दिमाग़ का चित्र स्पष्ट और वास्तविक था। जो कुछ मुझे सामने दिखाई दिया वह मेरी आशा के अनुरूप न था।

ङ

गाड़ी, जिसमें गाड़ीवान के अतिरिक्त केवल मैं था, ज्योंही नज़दीक पहुँची, उस मकान में से एक आदमी निकल आया। वह पीत वस्त्रों में एक पतली-सी मूर्ति थी।

गाड़ीवान ने कहा—"वह है तुम्हारा साधु"। मैं नीचे उतर आया और बरामदे की तरफ बढ़ा।

उस उजाड़ को देखकर जो निराशा एक छुरी की तरह मेरे हृदय में लगी थी, वह उसी समय लुप्त हो गई, जब अनागारिक ने अपने हाथ में मेरे हाथ लिए। वह पकड़ एक ऐसे आदमी के हाथों की नहीं थी, जिसने ससार से वैराग्य ले लिया हो, इसकी दृढ़ता ने तथा उस मुस्कराहट ने जो उस चेहरे पर चमक रही थी, मेरे दिल को ढाढस दिया।

काले, घुघराले बाल माथे से पीछे की तरफ मुड़े हुए, गरदन पर पड़े थे। भौवें कुछ कुछ सुरमई रंग की थीं। उनके बीच में एक सीधी लकीर थी। नाक के नथने उतने ही पतले और जानदार थे, जितने किसी श्रेष्ठ अरबी घोड़े के। ऊपरले पतले होंठ को एक छोटी मूछ ढके थी। ठोडी के गिर्द एक छोटी घुघराली दाढी थी।

अपनी भेंट के पहले ही क्षण मे मुझे उन आंखों ने आकर्षित किया था। उनमें दया थी, लेकिन साथ ही सघर्ष भी था। यदि वे किसी ऋषि की आंखें थीं, तो वे किसी योद्धा की भी थीं।

च

अनागारिक के साथ थोड़े ही दिन रहने से मुझे मालूम हो गया कि अनागारिक का व्यक्तित्व अन्दर-बाहर एक समान है। वह प्रिय ही नहीं थे, प्यार करने वाले भी थे। उनमें दूसरों को समझने की सहानुभूति थी। उनसे बात करना आसान था, उनका विश्वास करना आसान था। एक दिन भोजन के समय जब मैंने उन्हें सुनाया कि टांगेवाला क्या क्या कह रहा था, वह बोले:—

"तुम बिना इस बात का ख्याल किये कि मेरी भावना को चोट पहुँचेगी बोल सकते हो। बहुत से आदमी यहा यही समझते हैं कि मैं पागल हू। एक पगले आदमी के अतिरिक्त कौन इस खण्डहरों के ढेरों में आकर रहेगा, समीपतम शहर से मीलों दूर !

"मुझे उन पर क्रोध नहीं आता। मुझे उन पर दया आती है।

"यह उनका दोष नहीं है। उन्हें ज्ञान का प्रकाश नहीं मिला है। उन्हें दूर की सूझ ही कैसे सकती है !

"यदि वे केवल यह जानते कि यह भूमि पवित्र है। यह पवित्र ऋषिपत्तन है। यहा तथागत रहे थे, पहले जब वे बोधिसत्व थे, पीछे जब वे सर्वज्ञ बुद्ध हो गए। यहा उन्होंने धर्मचक्र प्रवर्तन किया था—अपना प्रथम उपदेश दिया था—सघ की स्थापना की थी।

"क्योंकि यह स्थान इतना अधिक पवित्र है, इसीलिये मैं यहा आया हूं। और यहाँ आकर यह कुटिया बना ली है, जिससे यह धर्म प्रचार का केन्द्र बन सके – दूर दूर तक धर्म प्रचार हो सके।"

छ

सारनाथ आने से पहले, अनागारिक ने बताया कि उनकी नजर बुद्ध गया को अपना केन्द्र बनाने पर थी। वहीं पवित्र बोधिवृक्ष के नीचे भगवान् ने बुद्धत्व प्राप्त किया था।

जब अनागारिक १८९१ के आरम्भ में बुद्ध गया गए, उन्होंने बताया कि उनको कोई ऐसा ख्याल नहीं था कि वह ऐसे कार्य्य मे लगेंगे। उस समय वह महाबोधी के दर्शनार्थ आए थे।

जो कुछ उन्होंने बुद्ध गया मे देखा, उससे उन्हें आग लग गई। बुद्ध मूर्तियां जहा तहाँ बिखरी पड़ी थीं। बुद्ध-मन्दिर शिव-मन्दिर बना था। नैपाल, बर्मा, सिंहल तथा चीन से आने वाले बौद्ध यात्री जो चढावा चढ़ाते थे, वह सब महन्त ले लेता था। बौद्ध उद्देश्य के लिये एक (सत)* कौड़ी भी खर्च नहीं होती थी।

उन्हें ऐसा क्रोध आया कि उन्होंने तुरन्त ही निश्चय कर लिया कि वह एक आन्दोलन चलायेंगे और इस असह्य अवस्था का अन्त करेंगे।

इस उद्देश्य से, आने के कुछ ही सप्ताह बाद उन्होंने महाबोधी सभा का सङ्गठन किया। उसी वर्ष हेमन्त ऋतु में एक सम्मेलन हुआ। इसमें दूर दूर देशों से लोग आये। प्रतिनिधियों ने सर्वसम्मति से निश्चय किया कि एक विहार बनाया जाये, एक कालेज की स्थापना हो, और भारतीय भाषाओं में बौद्ध धर्मग्रन्थों के अनुवाद छपें। आगामी ग्रीष्म ऋतु में ही उन्होंने महाबोधी पत्रिका आरम्भ की।

* अनागारिक से मुझे पता लगा कि उनके देश [सिंहल] में पैसा नहीं होता। पैसे की जगह सत् Cent होता है। सत् = १०० = १) रु०

ञ

संरक्षित-स्वार्थ-धर्म का जामा पहन लेने से कोई दयालु नहीं बन जाते। उन्हें डर लगा। जिस जिस तरह भी हो सकता था उनके विरुद्ध बाइकाट के शस्त्र का प्रयोग किया गया। उद्देश्य यही था कि उनकी शान्ति में खलल डाला जाए, उनके लिये वहा रहना असह्य बना दिया जाए, जिससे वह स्थान छोड़कर चले जाएँ।

कार्य्य की खातिर उन्होंने इन सब बातों को सहन किया, किन्तु इससे उनके विरोधी और भी शेर हो गए। बौद्धों को भगाने के लिए मार पीट का डर दिखलाया गया। जब धमकियों की ओर ध्यान न दिया गया, तो कई भिक्षुओं को, जिस समय वह पूजा कर रहे थे सचमुच बुरी तरह ज़ख्मी किया गया।

कार्य्य की खातिर अनागारिक जब भी बाहर गए, सर्वधर्म सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिये अमरीका के संयुक्त राज्य में भी गए—तो भी जितनी जल्दी हो सकता था, वे बुद्ध गया लौट आए। हर समय उनके दिल में यह आशा धधकती रही कि वह बुद्ध गया को बौद्धों की पूजा और धर्म-प्रचार का केन्द्र बना सकेंगे।

१८९३ के आख़ीर में या १८९४ के आरम्भ में उन्हें लगा कि अपनी पूरी शक्ति के साथ प्रयत्न करने का समय आ पहुंचा है। उन्होंने सोचा कि चाहे उनकी जान ही क्यों न चली जाए; लेकिन वह बराबर यह कोशिश करते रहेंगे कि मन्दिर के बड़े हाल के पीछे की दीवार के पास की वेदिका पर एक बुद्ध-मूर्ति स्थापित हो जाय। इसके ठीक बाहर की ओर वह स्थान था, जहां पर वह महान घटना घटी थी—सिद्धार्थ ने बुद्धत्व प्राप्त किया था।

धर्मपाल के पास इस मतलब के लिए एक सुन्दर बुद्ध मूर्ति थी। यह किसी कलाकार ने सैकड़ों वर्ष पूर्व बनाई थी और किसी भिक्षु ने अनागारिक को भेंट की थी।

झ

एक दिन अनागारिक ने उस बक्स में से जिसमें यह मूर्ति बड़ी ही सावधानी के साथ बन्द होकर समुद्र पार से आई थी इसे निकलवाया। भिक्षु, और गृहस्थ उसे बड़े सम्मान पूर्वक मन्दिर की सीमा के अन्दर लेगए।

यह कोई गुप्त प्रयत्न नहीं था। बल्कि ठीक उसके विरुद्ध। जुलूस के लोग एक क्रम से, चुप चुप सूर्य्य के खुले प्रकाश में चल रहे थे। पवित्र सूत्रों का पाठ हो रहा था, और बीच बीच में अवसर के उपयुक्त वाद्य यन्त्रों की मधुर ध्वनि के साथ "साधु साधु" का साधुवाद हो रहा था।

उस जलूस को देखते ही स्वार्थी आग बबूला हो गए। वे बुद्ध मूर्ति ले जाने वालों पर झपटे। सिर मुंडे पीतवस्त्रधारी भिक्षुओं के साथ भी उन्होंने वैसा ही दुर्व्यहार किया, जैसा दूसरे गृहस्थों के साथ।

इस प्रकार एक वीरतापूर्ण सकल्प जो कि वीरता पूर्वक कार्य्य रूप में परिणित किया जा रहा था, समाप्त हुआ। अनागारिक के दिल को सख़्त चोट लगी; लेकिन उस समय भी वह क्षण भर के लिए हो अपने उद्देश्य की ओर से हटे। उन्होंने निश्चय किया कि वह उचित अवसर की प्रतीक्षा में रहेंगे और यदि उचित अवसर स्वय नहीं आएगा, तो वह उसे पैदा करेंगे।

लेकिन स्वार्थी लोगों के सामने उनकी न चली। उन्हें बुद्ध गया छोड़ने पर मजबूर होना पड़ा। जब कोई दूसरा चारा न रहा, तो अनागारिक चले गए।

जब वह गए तो उन्होंने शपथ खाई कि वह क़ानून के बल से बौद्धों को उनका बुद्ध गया—जो कि भगवान् बुद्ध के दिनों से उनका है—दिलाने की कोशिश करेंगे। बुद्ध गया बौद्धों का ही है, क्योंकि वहा उनके भगवान् बुद्ध ने मार के साथ—शैतान के साथ—युद्ध करके विजय पाई थी।

ञ

तब से अब तक लगभग चार दशाब्दियां अतीत के अन्धकार में विलीन हो गईं। वे शब्द अभी भी मेरे कानों में गूंज रहे हैं।

कितना वीर था वह आदमी, जिसके मुह से वह शब्द निकले थे। कितना ऊंचा था उसका उद्देश्य! कितना दृढ था उसका सकल्प! इन पक्तियों को लिखते समय मुझे वह कृषकाय मूर्ति दिखाई दे रही है। उसके बदन पर पीत वस्त्र हैं और सिर पर काले घुघराले बाल। वह सारनाथ के उस छोटे से कमरे मे दीवार के सहारे खड़ी है, जो एक साथ बैठक और पुस्तकालय का काम देता है। आखों मे उसके आग की सी चमक है, जो कहीं उसके अन्तरतम में सुलग रही है। चेहरा जो कि साधारण तौर पर पीला पन लिए रहता है, तेज मे दमक रहा है। उसके मुंह से शब्द इमी तरह निकल रहे हैं, जैसे मशीनगन से गोलिया।

ट

किसी भी वृत्तान्त मे ही नहीं, लगभग हर बात चीत मे जो सारनाथ मे रहते समय मेरे साथ होती, अनागारिक कभी इस 'डॉन' का नाम लेते कभी उस 'टॉन' का। आश्चर्य से मैंने पूछा—यह 'डॉन' कौन है?

"ओह! ठीक! आप लङ्का नहीं गए। मुझे कहना चाहिये, अभी तक नहीं। इसलिए आप हम लोगों के बारे में अधिक नहीं जानते।"

तब खास मेरे लाभ के लिए उन्होंने सिंहल इतिहास के पिछले पन्ने उलटे।

"जब पुर्तगाल वालों का "नीचे के देश" पर अधिकार था," उन्होंने बताया, "तो बौद्धों को पतित बनाने का एक तरीका निकाला गया। सिंहल लोगों को—जिनकी रगों में पुर्तगाल वालों के खून को एक बूंद भी न थी, जो ईसा को न मानते थे—विदेशी नाम दिए गए। जिन लोगों को खास तौर पर देशद्रोही बनाना था, उन्हें शासकों ने पुर्तगाल का एक सम्मान-सूचक शब्द 'डॉन' दिया।

"जो ईसाई नहीं थे, उन्हें भी ईसाई गिरजों में विवाह करना पड़ता था। अन्यथा विवाह पक्का न माना जाता था। जिन माता पिता की सन्तान पर ईसाई ठप्पा न लगता वह अपने माता-पिता की सन्तान ही न समझी जातीं। इसलिये उन बौद्धों के लिये जो समुद्र तट पर रहते थे और पुर्तगाल वालों के अधीन थे सिर झुकाने के अतिरिक्त और कोई चारा ही न था।

इसीलिये यह ऐसा हुआ कि अनागारिक के पिता जो कि दोनों ओर कुलीन सिंहल थे और श्रद्धावान बौद्ध थे डॉन कैरोलिस कहलाए। उनका विवाह एक गिर्जे में हुआ था।

इस जोड़े की जो प्रथम सतान हुई—वह अनागारिक ही थे—उनका नामकरण कोलम्बो में (क़िले के ठीक बाहर) पेटा के बने गिर्जे में हुआ। बालक को जो नाम दिया गया वह था डोन डेविड। यह बदलकर धम्मपाल हो गया था।

ठ

क्योंकि मैं पञ्जाब से आया था, जो अत्यन्त प्राचीन काल से सस्कृत से बंधा है, मैंने शीघ्र ही अनागारिक की "र" वर्ण को छोड़ देने की आदत को जान लिया। वह धम्म कहते—धर्म कभी नहीं। वह अपना नाम धम्मपाल लिखते—धर्मपाल कभी नहीं, जैसा मैं ठीक समझता था।

मैंने उनसे पूछा कि वह ऐसा क्यों करते हैं?

"उसी कारण से, जिससे भगवन् (बुद्ध) ऐसा करते थे", उनका उत्तर था।

इससे मैं चकित हुआ, मैंने प्रार्थना की कि मुझे समझाए। "जब तथागत ने इसी जगह जहां हम

* कुछ वर्ष बाद जब मैं अपने संसार भ्रमण के चक्कर में कोलम्बो में उतरा मैंने देखा कि वहां फर्नीचर की जो सबसे अच्छी दुकान है वह डान कैरोलिस के नाम पर है। यह अनागारिक के सम्बन्धियों की दुकान है। उसके छोटे भाई—डाक्टर सी० ए० हेवावितारण—ने मेरा दिल खोलकर स्वागत किया। जिन जगहों पर वह मुझे ले गए उनमें एक कपड़े बुनने का विद्यालय था, जो कि उनकी माता—मल्लिका—के नाम पर था। वह थोड़े ही दिन पहले स्वर्गवास कर गई थीं। मैं जिस किसी से भी मिला उसने उनके बुद्ध धर्म के लिये उत्साह की प्रशंसा की।

बातें कर रहे हैं अपना धर्मोपदेश आरम्भ किया, वह संस्कृत में उपदेश दे सकते थे। वह संस्कृत जानते थे। उन्होंने अध्ययन किया था। वह तो बुद्ध थे। उनसे क्या छिपा था ?

"लेकिन तब भी उन्होंने पण्डितों की भाषा का उपयोग करना नहीं चाहा।

"वह पण्डितों को उपदेश देने के लिये उत्सुक नहीं थे। वह जानते थे कि वह केवल बाल की खाल उतारने में लग जाएंगे। जैसा कि वह सदियों से करते रहे हैं।

"वह जन साधारण तक पहुँचना चाहते थे। उन्हें जनता की चिन्ता थी। वे सर्व सामान्य को ही ठीक रास्ते पर चलता देखने के लिये उत्सुक थे।

"इसलिये उन्होंने सामान्य जनता की भाषा का उपयोग किया। वह पालि थी—मागधी थी—मगध के लोगों की उन दिनों की भाषा।"

यह व्याख्या मुझे पसन्द आई। मैंने कहा—सिक्खों के प्रथम गुरु नानक देव ने भी ऐसा ही किया था। पण्डितों ने उनकी आलोचना की कि वह "गवारू" भाषा का प्रयोग करते थे। उन्हें तो जनता की चिन्ता थी। उन्होंने पण्डितों की संस्कृत का प्रयोग करने के बजाए उसी का आग्रह रखा।

ड

उन दिनों अनागारिक को बहुत काम करना पड़ता था—और मुझे भी। वह प्रातःकाल, दोपहर, रात सदैव लिखते रहते; अपने ही सुन्दर साफ़ बड़े-बड़े अक्षरों में।

महाबोधि पत्रिका प्रति मास प्रकाशित करनी थी। लेखक इने-गिने थे। और फिर उनसे लेख लिखवा सकना कोई आसान काम न था। प्रायः उन्हें स्वयं ही अधिकांश पन्ने भरने पड़ते थे—लेखों से, टिप्पणियों से, पत्र-व्यवहार से तथा ऐसी ही दूसरी बातों से। यह वह बड़े प्रसन्न मन से करते थे और बड़ी तपस्या से।

इस सम्पादन कार्य्य तथा साहित्य कार्य्य के अतिरिक्त उनका लम्बा चौड़ा पत्र-व्यवहार था। संसार के सभी हिस्सों से उनके पास पत्र आते थे। वह सब का जवाब देते थे, प्रायः लौटती डाक से।

सिंहल लिपि मुझे मुग्ध कर लेती थी। यद्यपि मैं उसका एक शब्द भी न पढ़ सकता था, तो भी वह बहुत ही साफ और समाकार मालूम होती थी। उनका क़लम बड़ी तेज़ी से चलता।

वे छोटी-छोटी पुस्तकें भी लिखते थे। एक मुझे ख़ास तौर पर याद है। यह एक बौद्ध प्रश्नोत्तरी थी। उन्होंने इस पर बड़ा परिश्रम किया था—कभी एक शब्द काटा, कभी दूसरा उसकी जगह लिखा, कभी कुछ वाक्यांश जोड़े, कभी कुछ निकाले।

ऐसी उनकी आदत न थी। प्रायः वह सीधा लिखते चले जाते थे। अक्सर यही होता था कि वह बिना एक भी शब्द बदले या एक भी अर्ध विराम इधर-उधर किये पाण्डु लिपि प्रेस को भेज देते थे। प्रूफ, लिखे हुए में सुधार करने की अपेक्षा प्रायः प्रेस की ग़लतियों को ही ठीक करने के लिये देखे जाते।

जब मैंने, उन्हें यह सब करते देखा तो, उस परिश्रम के बारे में कुछ कह बैठा, तो उन्होंने अपने निष्कपट, सरल ढंग में उत्तर दिया कि वे एक बौद्ध प्रश्नोत्तरी तय्यार कर रहे थे। वे चाहते थे कि हर प्रश्न साफ़ हो और उसका उत्तर भी नपा तुला हो। एक भी अनावश्यक शब्द का प्रयोग न हो। और उसके लिये भी अत्यन्त सावधान थे कि एक भी शब्द भगवान् के उपदेश के विरुद्ध न जा पड़े।

ढ

उन दिनों वे कितना पढ़ते थे। पत्र, पत्रिकाएं तथा पुस्तकें उनके पास हिन्दुस्तान के हर हिस्से से आतीं, और संसार के दूसरे देशों से। इनमें से कुछ ही बुद्ध धर्म या कर्म के भी बारे में होती। इनमें से अधिकांश के विषय सामान्य होते—रोज़मर्रा की बातें, आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक प्रश्न।

वे उनमें से कुछ पर नज़र डालते। यदि उनमें कोई काम की बात दिखाई देती, वे उसे कतर लेते। बाक़ी सब उस रद्दी की बड़ी टोकरी में चला जाता जो

उनके डेस्क के पास रक्खी रहती, जिस पर वह काम करते।

कुछ को वह ध्यान से पढ़ते। कण्डिकाओं के किनारों पर तथा पंक्तियों के नीचे निशान लगा देते।

जिन किताबों को वह रखना चाहते वे अलमारी में धर दी जातीं। सामने के कमरे में चिकने तख़्तों वाली अलमारियां एक दूसरे से पीठ मिलाए खड़ी थीं और हम लोगों के खाने के कमरे तथा बैठक खाने के बीच पर्दे का काम देती थीं।

उन अलमारियों में रखी अधिकांश किताबें अनागारिक ने अपनी यात्रा में इकट्ठा की थीं। इनमें से वह कभी-कभी कोई एक किताब चुनकर मुझे पढ़ने के लिये देते।

"गुलामी से उद्धार"—Up from slavery एक किताब का नाम था। लाल जिल्द वाली यह किताब किसी न्यूयार्क की प्रकाशन संस्था की थी (डबल्डे, पेज एण्ड कम्पनी की, मैं समझता हूँ)। इसमें एक सीधा सरल इतिहास था जिसने मेरे अन्तरतम को हिला दिया।

पुस्तक का लेखक—बुकर तैलिआफ़ेरो वाशिंगटन एक गुलाम पैदा हुआ था। वह नहीं कह सकता था कि उसका बाप कौन था—शायद कोई गोरा जिसने एक निग्रो लड़की के साथ जबर्दस्ती की थी।

केवल इच्छा-शक्ति के बल पर वह किसी न किसी तरह कुछ ही समय पहले जनरल आर्मस्ट्रांङ्ग द्वारा वर्जिनिया—एक "दक्षिणी" रियासत—के हैम्पटन नगर में खोले गये स्कूल में भर्ती हो गया। वहां वह उत्तरी अमरीका की उस अध्यापिका का कृपा-पात्र हो गया, जो विद्यार्थियों को उसी सावधानी से भर्ती करती थी जिस सावधानी से वह अपने कमरे को—जो कि उसका दफ़्तर था—झाड़ती और साफ करती थी।

हैम्पटन इन्स्टिट्यूट से जितना भी ज्ञान वह प्राप्त कर सकता था, प्राप्त करने के बाद, उसने अपने लिए आराम खोजने की चिन्ता नहीं की—जैसा वह कर सकता था—बल्कि उसने अपनी सारी दिमाग़ी और शारीरिक ताक़त को अपनी जाति के उठाने में लगाने का निश्चय किया। जिस समय उसने अपनी जीवन-कथा लिखी, वह एक महा विद्यालय चला रहा था, जो आकार और उपयोगिता में संसार के अत्यन्त महत्वपूर्ण विद्यालयों में से एक था। वह अफ़रीकी-अमरीकी लोगों का सब से बड़ा नेता माना गया और अपने ही समय का नहीं, बल्कि सब समय का एक महान् शिक्षा प्रचारक।

जब मैंने अनागारिक को बताया कि उस आत्म चरित का मुझ पर कैसा प्रभाव पड़ा था, तो वह केवल इतना बोले:—

"इससे दो बातें सीखने की हैं।

"(१) आत्म-विकास के किसी भी साधन की ओर से उदासीन न हो।

"(२) स्वार्थी न बनो। जो प्राप्त करो, वह दूसरों को भी अवश्य दो।"

ग

अनागारिक निश्चयात्मक रूप से यह करते थे। आदमी उनके पास सारा साल—प्रायः प्रतिदिन आते रहते। कोई समीप से कोई दूर से।

मुझे ऐसा लगता था कि कुछ केवल तमाशा देखने वाले थे। वे उन तक पहुंचते थे केवल देखने के लिए कि वह कैसे दिखाई देते हैं—वह कैसे बतियाते हैं वह कैसे व्यवहार करते हैं—कैसे रहते हैं।

दूसरे जिज्ञासु होते थे—सच्चे जिज्ञासु। वे उस छोटे से नए बने बङ्गले पर अपनी शङ्काओं के समाधान के लिए आते थे।

अनागारिक के पास किसी की भी पहुँच थी। उन दिनों मैंने उन्हें कितनी बार देखा है कि कोई उनसे मिलने आया है और उन्होंने किसी लेख के किसी वाक्य को उससे बात चीत करने के लिये अधूरा ही छोड़ दिया है। जो सचमुच कुछ सीखना चाहता था, उससे वह बातें करते रहते थे। लेकिन वह समय की बड़ी क़द्र करते थे और इसे किसी को नष्ट करने नहीं देते थे।

त

कभी कभी दैनिक कार्यक्रम में परिवर्तन होता और हम नगर को जाते। ऐसे मौके पर हम चार पहियों की एक गाड़ी में जाते जो सारी की सारी काले रोग़न से पुती थी ताकि उसके ढीले-ढाले जोड़ ढके रहें और जिस में पतले-दुबले घोड़ों की जोड़ी जुती थी। इसी में हम दोनों एक दूसरे के पास बैठ कर प्रातःकाल की चाय के बाद सैर के लिए निकलते।

एक बार हम एक मकान पर गए। उस समय उस मकान में जो परिवार रहता था उससे मुझे बहुत लगाव था। पति पच्छिमोत्तर प्रान्त का था, एक बड़ी जागीर के जागीरदार का लड़का। वह मेरे साथ कालेज में पढ़ता था—एक दो क्लास मुझ से आगे। उसकी स्त्री बङ्गाल प्रान्त की थी, जिसका भाई एक प्रसिद्ध दैनिक पत्र का सम्पादक था। उसका जुड़वा भाई लण्डन में डाक्टरी करता था। वे ऐसे ढग से रहते थे जो न पूर्व का था न पच्छिम का, बल्कि दोनों की खिचड़ी।

एक दिन जब हम इस आतिथ्य परिवार में मध्याह्न का भोजन कर रहे थे, पति देव किसी ग़लती पर या जो उनकी समझ में ग़लती थी गुस्सा हो गए थे। उनका चेहरा लाल हो गया था। अपनी स्त्री की ओर मुखातिब हो उन्होंने उसे बहुत सख़्त सुस्त कहा।

पति की अपेक्षा अधिक संयम-शील होने के कारण वह चुप रही। लेकिन यह साफ़ दिखाई देता था कि अपरिचितों की उपस्थिति में उसने अपने आप को अपमानित अनुभव किया तथा इसका उसे बहुत दुख था।

तो भी, मुझे शक है कि उसका रोष अनागारिक के रोष से कम ही था। उनका दिल स्त्री के दिल से भी कोमल था। वह किसी को दुखी नहीं देख सकते थे। उनकी सहानुभूति की सामर्थ्य लगभग असीम थी।

थ

एक दूसरे अवसर पर हम इसी मार्ग में शहर के अन्दरूनी हिस्से में गए। यह महल्ला छोटे-छोटे चौकोर घरों और दूकानों का था। एक तरफ से दूसरी तरफ जाने की गलियां प्रायः तंग थीं और कूड़े करकट तथा बदबूदार कचरे से भरी थीं।

गाड़ीवान् अनागारिक के किसी परिचित मकान के सामने रुका। मालिक दरवाज़े पर मिला और हमें मकान के नीचे के कमरे में ले गया।

जिस समय हम पहुंचे बहुत से आदमी एक बड़े सन्दूक में से एक पैक मशीन के हिस्से निकाल रहे थे।

"एक करघा है" अनागारिक ने मुझे बताया। मैंने इतना बड़ा कभी नहीं देखा था न इतने फैलाव वाला।

"कठिनाई यह है, अनागारिक कहते गए, कि यहां के लोग इन हिस्सों को मिलाना नहीं जानते। मैं यहा मिस्त्रियों को बुलवा चुका हूं। बुनकरों को भी। जिस तरह से ये इन्हें जोड़ते हैं वैसे यह काम नहीं देंगे।

मैंने स्वेडन में ठीक इसी तरह की चालू मशीन देखी थी। आसानी से बड़ी जल्दी चालू की जा सकती थी। उस पर एक बच्चा भी बैठकर दिन में गजों कपड़ा बुन सकता था।

"अपनी मदद के लिए मैंने अपने एक अंग्रेज़ परिचित को यहा बुलाया है। वह कलकत्ते में रहते हैं और वहीं काम करते हैं। छुट्टियों में बनारस आते हैं।"

जहा तक मुझे याद है, यह क्रिसमस के दिन थे। अथवा ईस्टर के ही हों।

वह अंग्रेज़ आया। नाम था उसका ई० बी० हैवल। वह कलकत्ता स्कूल आफ़ आर्ट्स का प्रिंसिपल था।

अभी तक मुझे उसके जितने देशवासी मिले थे, वह या तो सफ़ाचट होते थे या होती थी उन्हें केवल मूछ। वह ऐसा नहीं था। उसके चेहरे पर लाल भूरे रग की ख़ासी लम्बी दाढ़ी थी। यह उसके चेहरे पर शोभा देती थी। यूरोप के चित्रकार, कहीं सुना था, उन दिनों उक्त फ़ैशन को पसन्द करते थे।

जिस समय हैवल स्वीडन के करघे की परीक्षा कर रहा था, उसका दिमाग़ कलकत्ते पहुँच गया। उसने बताया कि जहा वह काम करता है उसके पास ही जुलाहों की दशा सुधारने की कोशिश हो रही है। जैसे करघे वह चलाते रहे हैं, उनसे अच्छे ढग के करघों का प्रचार हो रहा है। उनकी आर्थिक स्थिति को बेहतर बनाने की भी कोशिश हो रही है।

उसने अपने एक शिष्य अवनीन्द्र नाथ ठाकुर से यह समाचार सुना था। अवनीन्द्र नाथ ठाकुर के चचा—रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ही इस उद्योग को आरम्भ किया था।

हैवल से बातचीत समाप्त कर अनागारिक ने, जो ठाकुर परिवार से परिचित थे, हैवल से बड़ी शान्ति से पूछा—

"अब आप क्या सलाह देते है ? मैं इस करघे को चालू देखने के लिए उत्सुक हू।"

चित्रकार-शिक्षक ने ईमानदारी से स्वीकार किया कि यह कार्य्य उसकी सामर्थ्य से बाहर का है। लेकिन उसने कलकत्ते से एक मिस्तरी भेजने का वचन दिया, जो कि उसकी सम्मति में मशीन चालू कर सकेगा।

ग

अनागारिक के चरित्र का एक यह भी पहलू है इसका मुझे ख़्याल नहीं आया था। उनसे मिलने से पहले मैंने उन्हें एक आदर्शवादी समझा था—एक स्वप्नद्रष्टा। मैं अभी तक सभी धार्मिक आदमियों को कल्पना लोक मे विचरने वाले समझता था।

वह, मैं चकित हुआ, एक निर्माण कर्त्ता निकले—एक संगठन कर्त्ता। उनका निर्माण-कार्य्य अथवा संगठन-कार्य्य पुरानी धार्मिक सस्थाओं के सुधार वा उनके स्थान पर नई सस्थाएँ स्थापित करना भर न था। वह कार्य्य उन्हें अपर्य्याप्त मालूम देता था।

जिस समय हम हैवल से भेट करके, जो आगे चलकर मेरा अच्छा मित्र बन गया, वापिस जा रहे थे, उन्होंने कहा—जो मनुष्य की सेवा करना चाहता है उसे सम्पूर्ण मनुष्य की ओर ध्यान देना होगा—अविभाज्य मनुष्य की ओर। शरीर की ओर से उदासीन होकर केवल आत्मोन्नति की ओर ध्यान नहीं देना चाहिये। जितना आवश्यक चरित्र गठन है उतना ही शरीर-गठन। एक बड़ी हद तक भौतिक उन्नति पर ही आत्मोन्नति निर्भर है।

भारत निर्धन है। जिन उद्योग-धन्धों के बल पर वह पहले फल फूल रहा था, वह नष्ट हो रहे हैं।

"ज़रा उधर जाओ, जिधर शहर में जुलाहे रहते हैं," उसने कहा। क्या सड़े हुए घरों में वह रहते हैं ? और बड़ी कठिनाई से किसी तरह पेट पालते हैं।

"वे कारीगर हैं, उनमे से अधिकाश निश्चयात्मक रूप से। वे बना सकते हैं, और बढ़िया माल बनाते हैं। यह ठीक है कि वह उनके आस पास भी नहीं होता, जैसा बढ़िया इनके पूर्वज बनाते थे। लेकिन तब भी, जब वह देखते हैं कि वे एकदम निरक्षर हैं और उनके हाथ मे कोई साधन भी नहीं है, तो यह मानना पड़ेगा कि उनका काम कदर करने लायक़ है।

"लेकिन यह कठिनाइया हैं। करघा प्रदर्शन भर के लिये भी चालू नहीं किया जा सकता है।"

लेकिन वह इन बाधाओं से पस्त हिम्मत नहीं हुए थे। वह जानते थे कि ये कठिनाइया अस्थायी हैं और जल्दी ही दूर हो जाएँगी।

घ

खेत जोतने वालों की दुर्दशा की ओर से भी वह उदासीन नहीं थे। उनके छोटे, आवश्यकता से अधिक जुते, अनुन्नत खेतों में से उन्हें इतना कम प्राप्त होता है कि लोभी ज़मींदार को देने के बाद पास खाने को भी मुश्किल से कुछ बचता है।

उनकी ऐसे ढग से सहायता करने के लिए कि वे अपनी सहायता आप कर सकें, उन्होंने अमरीका के सयुक्त राज्य में खेती के औज़ार ख़रीदे थे। जिन दिनों मैं उनके साथ ठहरा हुआ था, वह अपने अमरीकन

मित्रों से पत्र-व्यवहार कर रहे थे कि वे किसी ऐसे आदमी को भेजें, जो भारतीयों को खेती के आधुनिक तरीके सिखा सके।

इन और इस तरह की दूसरी बातों मे एक देवी, जिससे उनकी इत्तफाक से ही मुलाकात हो गई थी, उनकी बड़ी सहायक थीं। उनका नाम था श्रीमती फोस्टर। पिता अमरीकन और माता हवाईद्वीप की।

उनकी उनमें इतनी श्रद्धा थी कि उन्होंने उन्हें खुले हाथों रुपया तो दिया ही, उसके साथ एक दूसरी चीज दी, जो प्रायः उपलब्ध नहीं होती—करुणा-पूर्ण रचनात्मक योजनायें।

न

क्योंकि मैं दुनिया भर मे घूमता रहा हूं, और मेरे जीवन का अधिकाश विदेश में ही व्यतीत हुआ है, इसलिए मुझे अनागारिक के शान्तिपूर्ण घर को छोड़ने के पन्द्रह बीस या इससे भी अधिक वर्ष बाद तक भारतवर्ष के इस प्रदेश को देखने का मौका नहीं मिला। कुछ वर्ष हुए अपने भाई गुरुमुख निहाल सिह के कारण, जो उस समय हिन्दू विश्वविद्यालय मे राजनीति-विभाग के अध्यक्ष थे, मुझे बनारस जाना पड़ा। उस स्थान को, जहा मैं उस समय जब कि ससार अभी मेरे लिए आश्चर्यों' से पूर्ण था, रहा था, एक बार फिर देखने की इच्छा ने जोर मारा और मैंने अपने भाई को मोटर से सारनाथ ले चलने के लिए कहा।

उस स्थान पर कितना परिवर्तन हो गया था। पुरातत्व विभाग वाले उस ज़मीन को जो उजाड़ थी, जहां ठीकरे और ईंटों के टुकड़े बिखरे पड़े थे, खोदते रहे थे। शताब्दियों पहले जिन मकानों में भिक्षु रहते थे, जो मन्दिरों का काम देते थे, उनकी नीवें जमीन के नीचे से खोद कर निकाली गई थीं।

मैं बड़ी देर तक उस खम्बे को देखता रहा, जो महाराज अशोक की आज्ञा से उस जगह गाड़ा गया था, जहा धर्मचक्र प्रवर्तन हुआ था। तब मैं म्यूज़िअम गया कि उस सिह-ध्वज को देखू, जो किसी समय उस खम्बे पर था और उन मूर्तियों को, जो विशिष्ट कला-कारों द्वारा बनी थीं तथा खुदाई में मिली थीं।

इन जगहों पर कई घण्टे व्यतीत कर मेरा भाई और मैं उस शानदार इमारत के दरवाज़े पर पहुँचे जो कुछ ही समय पूर्व बनकर समाप्त हुई थी। मूल-गन्ध कुटी विहार में मेरे पुराने मित्र का स्वप्न यथार्थ रूप में परिणित हुआ था, उस जगह से कुछ ही गज के फासले पर जहा मैं उनका अतिथि होकर रहा था।

बङ्गले पर पूछने पर यह पता लगा कि अनागा-रिक धर्मपाल बङ्गले में ही हैं और यद्यपि अस्वस्थ हैं तो भी मुझसे मिलना चाहेंगे। दृष्टि पड़ते ही यह स्पष्ट हो गया कि वह बदल गये थे, यद्यपि इतने नहीं कि पहचाने न जा सकें। परिवर्तन जो था वह शारी-रिक था। उनके अन्दर वही योद्धा, वही शिक्षक, वही निर्माणकर्त्ता, वही सगठनकर्त्ता था, जिसे मैंने पहले कभी जाना था।

अतीत की बातें कर चुकने के बाद भविष्य की चर्चा चली। उनकी भविष्य के प्रति सम दृष्टि थी। इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं कि उनको विश्वास था कि मृत्यु के बाद उनका क्या होगा।

"बिलकुल सन्देह न करें, उन्होंने मुझे कहा "मैं फिर इसी देश में आऊगा—भगवान् की सेवा के अपने कार्य्य को जारी रखने के लिए।"

वे शब्द अभी भी मेरे कान में गूज रहे हैं। वे शब्द उन शब्दों की अपेक्षा अधिक ज़ोर से गूंज रहे हैं, जो उन्होने इस शताब्दि के आरम्भ में कहे थे, जिस समय मैं जीवन में प्रवेश कर रहा था और उनके जीवन का मध्यान्ह था, और हम दोनों कुछ समय के लिए एक ही छत के नीचे रहे थे।*

* 'विश्ववाणी' और 'धर्म दूत' के लिये

धम्म-विजय

भिक्षु मैत्तेय्य

जो सब से अधिक कोमल कहानी मैं जानता हूँ, वह उस बालक की है जिसने कहा था—'श्रमण! तुम्हारी छाया भी सुखकर है।' दुखी माता किसा-गौतमी दासी-कन्या रज्जुमाला, कोशल साम्राज्ञी मल्लिका, वेश्या अम्बपालि, सेठ अनाथपिण्डिक, डाकू अङ्गुलिमाल, मगध नरेश बिम्बसार, तथा सुनीत—जो कि एक भङ्गी था—सभी तथागत के बारे में वही शब्द कह सकते थे, जो कि उस छोटे बालक ने कहे। इतना ही नहीं यदि बूढ़ी दुखी भद्दवती हथिनी भी बोल सकती, तो वह भी यही कहती—'श्रमण! तुम्हारी छाया भी सुखकर है।'

पच्चीस सौ वर्ष हुए उसने अमृत वाणी से चिन्ता निमग्ना पटाचारा को सान्त्वना दी थी—पुत्री, अब और दुखी न हो। तू ने ऐसी शरण गही है, जो तेरा सहारा हो सकती है।

और आज मरणोन्मुख निराश मानव को वह कह रहा है—

"अमृत का द्वार तुम्हारे लिए खुला है।
जिन के कान हैं, वे श्रद्धापूर्वक सुनें॥"

वैशाख पूर्णिमा की रात्रि की तरह यह अमृत वाणी संसार के लिए शान्तिदायक है। हमें प्रसन्न होना चाहिए कि वह प्रेम का अवतार हमें शान्ति का मार्ग दिखाता है। वह हमें सुख प्राप्ति का महामन्त्र देता है। वह हमारे सभी दुखों की अचूक दवा जानता है।

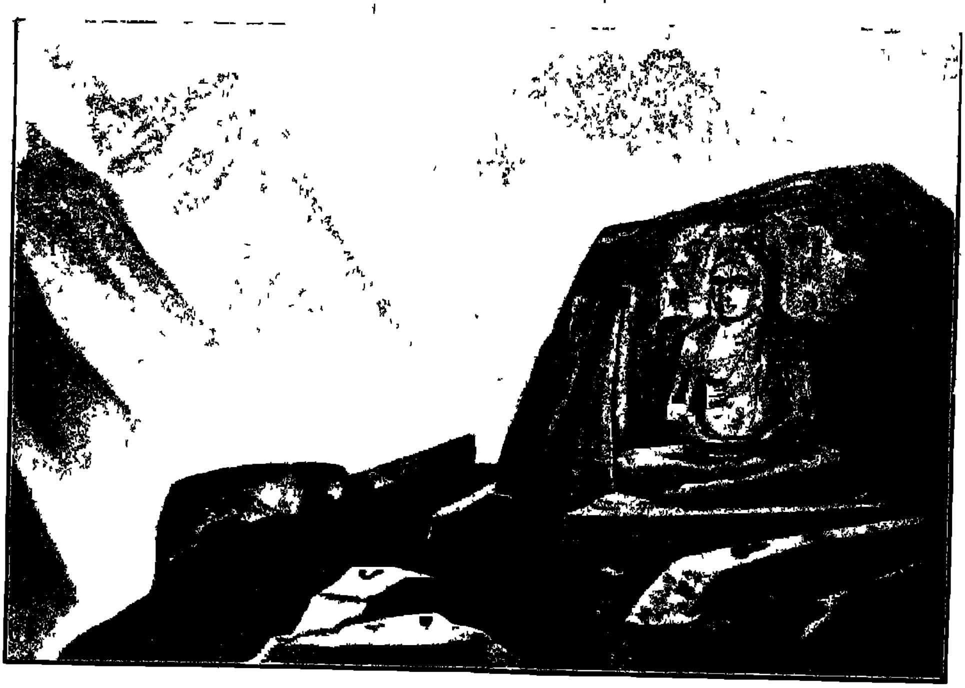
उसने जो इतना कष्ट पाया वह इसीलिए कि सभी प्राणियों को सुख तथा शान्ति मिले, बोधिसत्व अवस्था में वह अनेक कल्पों तक प्राणी मात्र की मुक्ति के मार्ग की खोज करते रहे। इस के लिए उन्हों ने दस पारमिताएं[1] पूरी कीं—दान, शील, नैष्कम्य, प्रज्ञा, वीर्य, क्षान्ति, सत्य, अधिष्ठान, मैत्री तथा उपेक्षा।

बुद्धत्व प्राप्ति के लिए जो जो आवश्यक हैं, वे सभी बातें पूरी कर अपने अन्तिम जन्म में वह सूर्य वंश में शाक्यों के यहाँ पैदा हुए। उन का ऐश आराम का जीवन था। नौकर चाकर सदा घेरे रहते। वह नहीं जानते थे कि दुःख क्या होता है, ठीक वैसे ही जैसे कोई देवता। लेकिन एक दिन उद्यान जाते समय उन्होंने एक बूढ़ा देखा, जिसकी कमर टूटी थी। उनका सारा तारुण्य-मद तुरन्त जाता रहा। उनके दिल में प्राणियों के लिए दया घर कर गई। दूसरे दिन, उन्होंने एक रोगी देखा। फिर उनका दिल सारे संसार के लिए पिघल पड़ा। तीसरे दिन उन्होंने एक मुर्दा देखा; और वह दिन में दुख लेकर महल को लौट आये—"ओह! संसार में कितना कष्ट है। पैदा होना है, बूढ़ा होना है, मरना है और फिर पैदा होना है। मैं जन्म मरण के चक्कर से प्राणियों को कैसे मुक्त करूंगा?"

एक और दिन उद्यान को जाते समय उन्होंने एक श्रमण को देखा। उसी क्षण उन्होंने महाभिनिष्क्रमण का निश्चय किया। उन्होंने अपने आप से कहा—धार्मिक जीवन मधुर होता है। पवित्र जीवन मधुर होता है। धार्मिक कार्य मधुर होते हैं। किसी को कष्ट न देना मधुर होता है। सभी प्राणियों के प्रति दया मधुर होती है।

उसी रात उन्होंने स्त्री, बच्चे, अपनी माता और पिता, महल, राज्य और सर्वस्व त्याग दिया। वह संसार के रोग की औषध की तलाश में अकेले घूमने के लिए निकल पड़े। उन्होंने अपने आप से कहा—जब तक मैं दुःख का अन्त नहीं कर लूंगा, तब तक मैं अब घर नहीं लौटूंगा।

१ गुणों की पराकाष्ठाएँ।



गौतम बुद्ध — चित्रकार—निकोलस रोरिक

[महाबोधि सोसायटी के सौजन्य से]

६ वर्ष तक लगातार वे बड़ी ही बहादुरी से संघर्ष करते रहे । "मैंने अपना निवासस्थान", उन्होंने कहा—"एक भयानक जंगल में बनाया, जहां किसी के भी रोंगटे खड़े हो जाते । मेरा शरीर अत्यन्त कृष हो गया । मेरे अंग सूखी टहनियों के से हो गये । मेरी आखें गढ़ों के अन्दर चली गई, इतनी कि दिखाई हो न देती थीं । मेरा पेट मेरी पीठ से जा लगा । और जब मैं अपने पेट को छूता, मेरा हाथ मेरी पीठ को स्पर्श करता । मैं कमज़ोरी के कारण लड़खड़ा कर गिर पड़ता ।"

इस प्रकार उन्होंने यह लोकोत्तर प्रयत्न जारी रखा, और महाभिनिष्क्रमण के ६ साल बाद वैशाख पूर्णिमा के दिन प्रातःकाल नेरंजरा नदी में स्नान किया, सुजाता की दी हुई खीर खाई, सारा दिन एकान्त-वास में बिताया और ज्यों ही सन्ध्या की छाया लम्बी होने लगी, वह उस बोधि-वृक्ष की ओर बढ़े, जिसकी छाया के नीचे वह समस्त संसार के कल्याणार्थ-बुद्धत्व प्राप्त करने वाले थे।

और वहां वह दृढ संकल्प करके बैठे;—"चाहे मेरा चमड़ा नसे, हड्डी ही क्यों न बाक़ी रह जाये; चाहे शरीर, मांस, रक्त क्यों न सूख जाये; लेकिन तो भी सम्यक् सम्बोधि को बिना प्राप्त किये, इस आसन को नहीं छोड़ूंगा ।" समस्त रात्रि वह हमारे लिये प्रयत्नशील रहे । वैशाख पूर्णिमा की रात को ही उन्होंने बुद्धत्व प्राप्त किया ।

उस महान् धर्म-विजय को प्राप्त करके उस करुणामूर्ति ने अपना संसार-सेवा का कार्य्य आरम्भ किया; वह कार्य्य क्या है, दया की एक अनुपमेय कविता है । रोज़ सुबह और शाम संसार पर अपनी दयापूर्ण दृष्टि डालकर देखते तो उन्हें अनन्त दया उपजती । वह सोचते—"ओह ! संसार रागाग्नि से, द्वेषाग्नि से, मोहाग्नि से, धधक रहा है । जाति, जरा, मरण, दुःख, चिन्ता, पीड़ा, निराशा से जल रहा है । मुझे छोड़ और कौन है जो इस संसार का सहारा बन सके ।" वह कुम्हलाए चेहरों को खिलाने के लिये रात दिन परिश्रम करते ।

देखिए, यहां करुणावतार बुद्ध तिस्स की—उस रोगी भिक्षु की, जिसे सब ने छोड़ दिया था, सेवा में संलग्न हैं । भिक्षु बनने से पूर्व तिस्स श्रावस्ती का एक कुलपुत्र था । एक दिन उसने भगवान् का उपदेश सुना, श्रद्धा उत्पन्न हुई, घर त्यागा और भिक्षु बन गया ।

समय व्यतीत होने पर तिस्स स्थविर को एक चर्म रोग हो गया । छोटी छोटी फुंसिया बढ़कर बिल्व जितनी बड़ी हो गईं । वह फूटीं तो उनमें से सड़ांद पैदा हुई ।

कुछ समय के बाद हड्डियों के जोड़ खुलने लगे । न वह उठ सकता न हाथ पैर हिला सकता । उसके नीचे ऊपर के वस्त्र पीप और खून से भर गए । उसके ज़ख्मों से ऐसी दुर्गन्ध आने लगी कि उसके मित्र ही नहीं, उसके शिष्य तक पास न फटकते थे ।

भगवान् बुद्ध ने जब संसार पर नज़र डाली, तो उन्होंने देखा कि उनका अपना तिस्स इस प्रकार मरने के लिये छोड़ दिया गया है ।

वह अपनी गन्ध कुटी से निकले । जिस विहार में आग रहती थी, वहा गए । एक बड़े पात्र को धोकर उसमें छना हुआ साफ़ पानी भर आग पर रखा । जब पानी गर्म हो गया, तो तिस्स के कमरे में जाकर उसे नहलाने के लिए उठाने लगे । भिक्षुओं ने रोक दिया—भगवान् ! हम ले चलेंगे ।"

उन्होंने तिस्स स्थविर को उठाया और आग वाले कमरे में ले गए । भगवान् ने भिक्षुओं को कहा कि तिस्स स्थविर के चीवर को लेकर, गर्म पानी से धोएँ और धूप में सूखने के लिये फैला दें । और कोमल हाथों से उन्होंने तिस्स को नहलाया, जैसे मा अपने बच्चे को ।

जिस समय साफ़ और हल्के होकर तिस्स स्थविर चारपाई पर लेटे, उनका चेहरा शान्त और प्रसन्न था ।

भगवान् ने भिक्षुओं को कहा—

'भिक्षुओ, न तुम्हारे माता हैं, न पिता हैं, जो तुम्हारी सेवा करेंगे । यदि तुम परस्पर एक दूसरे की

सेवा नहीं करोगे, तो कौन करेगा। जो रोगी की सेवा करता है, वह मेरी सेवा करता है।"

वे करुणानिधान भूखों को भोजन भी दे देते थे।

एक दिन उनका ध्यान एक दरिद्र की ओर गया, जिसका कोई सहायक न था। वे कई भिक्षुओं के साथ उस गांव पहुँचे, जहां वह ग़रीब आदमी रहता था। तथागत के आगमन के समाचार ने सारे गांव में प्रसन्नता की लहर दौड़ा दी। जिस गरीब आदमी का उद्धार करने के लिए, वे विशेष रूप से गए थे, वह भी प्रसन्न हुआ; "तथागत आए हैं। मैं उनकी मधुर वाणी सुनगा।"

लेकिन उसी दिन उसका एक बैल जंगल में खो गया। उसने सोचा, मैं जल्दी से बैल को खोज लाऊं, तब आकर धर्म सुनं। वह जंगल को गया।

गांव वालों ने भिक्षु संघ सहित भगवान को भोजन कराया और धर्मोपदेश सुनने के लिये एकत्र हुए। लेकिन भगवान ने सोचा, जिसके लिए मैं विशेष रूप से आया हूँ, उसका बैल खो गया है। जब तक वह लौटकर नहीं आता तब तक मैं उपदेश आरम्भ न करूंगा।"

इस बीच में उसका बैल मिल गया। वह उसे और बैलों में शामिल कर भागा भागा यही सोचता आया, कि अब धर्मोपदेश तो हो चुका होगा। चरण-कमलों में प्रणाम भले ही कर सकू।

उसने आकर भगवान् को प्रणाम किया और एक ओर बैठ गया। भूख के मारे उसका मुंह सूख गया था और आंखें धस-सी गई थीं। भगवान् ने उसके भूख के दुःख को अनुभव किया और घर वालों से पूछा—

"भिक्षु संघ से कुछ भोजन बचा है?"

"हाँ, भन्ते!"

"तो इस भाई को भोजन दो।"

उन्होंने उसे अच्छे अच्छे भोजन खिलाए। जब उसकी भूख शांत हो गई और वह हाथ मुंह धो चुका तब तथागत ने धर्मोपदेश दिया। वह भाई अर्हत हो गया। उसी दिन भगवान् ने भिक्षुओं को कहा—

"भूख सब से बड़ा रोग है।"

वे शान्ति के भी सबसे बड़े संस्थापक हुए हैं।

कपिलवस्तु और कोलिय राज्य के बीचोबीच रोहिणी नदी बहती थी। शाक्य और कोलियों ने नदी का एक साझा-बांध बांधा था। उसी से नदी के दोनों ओर के खेत सींचे जाते थे।

वैशाख के बाद, एक बार वर्षा न हुई। दोनों राज्यों के नौकर चाकर एकत्र हुए। कोलिय राज्य के नौकरों ने शाक्य राज्य के नौकरों से कहा—

"यदि इस पानी से नदी के दोनों ओर के खेत सींचे जाएंगे, तो हमारे और तुम्हारे दोनों के खेतों के लिए पानी कम पड़ जायेगा। लेकिन यदि हमें पानी मिले तो हमारे खेत हरे भरे हो जाएंगे।"

शाक्यों के नौकरों ने कहा—

"जब आप अपनी कोठिया धान से भर लेंगे, तब हम धान लेने आप के दरवाजे पर न आ सकेंगे। हमारे खेतों को भी एक ही पानी की जरूरत है। इसलिये हमें पानी लेने दें।"

"हम तुम्हें न लेने देंगे।"

"और हम भी तुम्हें न लेने देंगे।"

शाब्दिक लड़ाई आरम्भ हुई। एक ने उठकर दूसरे को मार दिया। दूसरे ने भी जवाब दिया। लड़ने वाले दोनों राजवंशों की उत्पत्ति के बारे में बुरी बुरी बातें कहने लगे।

दोनों ओर के नौकरों ने मन्त्रियों से जाकर सब हाल कहा और मन्त्रियों ने राजाओं से। दोनों राजा क्रुद्ध हुए और लड़ने के लिये आमने-सामने आ डटे।

तथागत ने अपनी करुणाभरी दृष्टि डाली, तो उनका ध्यान उस घटना की ओर गया। उन्होंने सोचा कि यदि वे न जाएंगे, तो खून की नदी बह जायेगी।

भिक्षानन्तर वे अपनी गन्धकुटी से निकले। वे रोहिणी नदी की ओर गये।

उस समय रोहिणी के तट पर हजारों स्त्रियां रो रही थीं—माताएं अपने पुत्रों के लिये, स्त्रियां अपने पतियों के लिये, बहनें अपने भाइयों तथा अन्य प्रियजनों के लिए।

लेकिन! ज्योंहीं शान्ति की मूर्ति भगवान् बुद्ध दोनों सेनाओं के बीच जाकर खड़े हुए, उभय पक्ष की घृणा, क्षमा और प्रेम मे बदल गई।

शाक्यों ने सोचा, अब कोलिय चाहें हमें मार डालें वा जीवित जला दें। अब जब तथागत आ गये हैं, तो हमारे लिये शत्रु पर शस्त्र चला सकना असम्भव है। उन्होंने अपने हथियार फेंक दिये। कोलियों ने भी यही सोचा और ऐसा ही किया।

नदी के तट पर बालू पर तथागत के लिये आसन बिछाया गया। उनके बैठने पर उन्होंने तथागत को प्रणाम किया।

तथागत ने पूछा—महाराजाओं, यहां किसलिये एकत्र हुए हो? पता लगा कि झगड़ा पानी के बारे में है। तथागत ने पूछा—

"राजाओ, पानी का मूल्य कितना है?"

"भगवान्, पानी का मूल्य क्या है, कुछ नहीं।"

"राजाओं का मूल्य क्या है?"

"भगवान्, उनका मूल्य नहीं किया जा सकता।"

"तुम्हारी रानियों का क्या मूल्य है?"

"भगवान्, वे हमें प्राणों से भी अधिक प्यारी हैं।"

"तुम्हारे रिश्तेदारों का क्या मूल्य है?"

"भगवान्, वे हमें मेरु पर्वत से भी अधिक हैं।"

उनकी अक्ल ठिकाने आ गई। लज्जा के मारे वे कुछ न बोल सके। तब तथागत ने कहा:—

"झगड़ने में न सुख है न शान्ति। राजाओ, तुम अपने आप को, अपनी रानियों को तथा अपने रिश्तेदारों को इस तुच्छ पानी के लिए, जो बहकर समुद्र में चला जाता है, मारना चाहते हो।

"राजाओ, शान्ति रखनी चाहिए। सोच-विचार से काम लेना चाहिए। मूर्खों का अन्धा अनुकरण नहीं करना चाहिए। यदि मैं आज न पहुंचता, तो तुम लोग खून की नदी बहा देते।"

तथागत के यह कहने पर उन राजाओं के दिल पिघल गए। वे बोले:—"यदि भगवान् न आते तो आज हम लोगों ने खून की नदियां बहा दी होतीं। भगवान् की दया से ही इस समय हम और हमारे बच्चे जीवित हैं।"

बुद्ध से अधिक नम्र आदमी भी शायद ही इस दुनिया में कोई हुआ हो। एक ब्राह्मण ने पूछा:—"क्या आप यह मेरे भोजन का अवशिष्ट स्वीकार करेंगे?" मीठी मुस्कराहट के साथ उत्तर दिया:—"ब्राह्मण, हम पराक्ष भोजी हैं। आरम्भ में, मध्य में, अन्त में—हमें हर समय दिया हुआ भोजन स्वीकार्य है।"

जो उन्हें अपशब्द कहते थे, वे उन पर गजब की दया दिखाते थे। कोसम्बी में रानी मागन्दिय की प्रेरणा से अन्य मतों के अनुयायी गालियां देते हुए उनके पीछे पीछे चलते। आनन्द स्थविर ने सुझाया कि वह शहर छोड़ कर अन्यत्र चले जाएं। तथागत ने उत्तर दिया:—"जैसे युद्ध-भूमि मे हाथी बाणों को सहन करता है, उसी तरह मैं अपशब्दों को सहन करूंगा।" उन्होंने अपने शिष्यों को उपदेश दिया है—यदि दूसरे मेरी, धर्म की वा संघ की निन्दा करें, तो तुम्हें उससे न दुखी होना चाहिए, न अप्रसन्न।

वे दूसरे मत वालों को भाई और मित्र समझते थे। वे प्रायः उनके मठों में जाते थे और उनसे बात चीत करते थे। एक बार अकाल पड़ा तो दूसरे मतों के लोग जेतवन में इकट्ठे हो गए। तथागत ने उनके भोजन का प्रबन्ध किया। जब नालन्दा का धनी उपासक उपाली बौद्ध हो गया, तो तथागत ने उसे कहा कि वह जैन साधुओं को पूर्ववत् भिक्षा देना जारी रखे।

तथागत जातपात के भेदों से कोसों दूर थे। "जैसे गङ्गा, यमुना अचिरवती, सरयु आदि नदियां समुद्र में जाकर अपना नाम-रूप नहीं रखतीं, उसी प्रकार क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य तथा शूद्र भिक्षु संघ में शामिल होकर अपनी सब जाति पांति से छूट जाते

है।" यद्यपि उनके अपने सगे सम्बन्धी सघ में थे, तो भी तथागत ने उपालि को, जो कि एक नाई था, किन्तु 'विनय' का सब से अधिक ज्ञाता था, विनय धरों में प्रथम स्थान दिया। आज भी पुरी में, जहां पुराने समय में तथागत का दन्त-धातु मन्दिर था, भारत मां के लाल जात-पाँत के भेद को भूल कर प्रसाद ग्रहण करते हैं।

भगवान् बुद्ध ने इस मुक्ति के मार्ग का पूरे ४५ वर्ष तक उपदेश दिया। आज के दुखी ससार को उनकी और उनके धर्म की आवश्यकता है। उन्होंने कहा:—"जैसे मा अपने प्राण भी देकर अपने इकलौते बच्चे की रक्षा करती है, उसी तरह से हर आदमी को ससार के प्रत्येक प्राणी के प्रति मैत्री भावना रखनी चाहिए।"

तथागत की वाणी है,—

अक्कोधेन जिने कोध
असाधु साधुना जिने
जिने कदरिय दानेन
सच्चेन अलीक वादिन ॥ धम्मपद ॥

क्रोध को अक्रोध से, बुराई को भलाई से, कजूस को दान से तथा झूठे को सत्य बोल कर जीते।

बुराई पर भलाई की विजय धर्म-विजय कहलाती है। यह सर्व श्रेष्ठ विजय है। इसमे अपना और सब का कल्याण होता है। हमे इसी विजय की इच्छा करनी चाहिए। जो धर्म-विजय की इच्छा करते हैं, वे चाहे मरें चाहे जीयें हार उनकी होती ही नहीं।

यह धर्म-विजय अत्यन्त महान है। धर्म विजयी ससार पर दया करता है। वह रात दिन दुनिया के दुखों को दूर करने का प्रयत्न करता है। उसकी दृष्टि में ससार दुष्ट नहीं किन्तु अज्ञानी और मार्ग भूला हुआ है। इसलिए वह अज्ञान को दूर कराने की कोशिश करता है। वह पतितों का भाई है, परित्यक्तों का पिता है और जिनका कोई भी रक्षक नहीं उनका सहारा है। वह भूखों को भोजन देता है, नगों को वस्त्र देता है। आचार्य्य बुद्धघोष के शब्दों में वह पाप से बचता है, पुण्य की रक्षा करता है। वह ज्ञान की खोज में रहता है कि कहीं निर्दोष सदोष में भ्रम न हो जाए। वह सदैव दूसरों के सुख के लिए प्रयत्नशील रहता है। वह दूसरों की अनेक गलतियों को सहन करता है। वह कभी यह भेद नहीं करता कि इसे मैं दूगा और इसे मैं नहीं दूगा। वह कभी अपने वचन को भग नहीं करता। इस से पहले कि कोई उसका उपकार करे वह दूसरों का उपकार करता है और प्रत्युपकार की आशा नहीं रखता।

वह रोगियों की सेवा करता है, मूक प्राणियों की रक्षा करता है और दुर्बलों की ओर पहले ध्यान देता है।

प्रिय पाठक गण ! ये शब्द आप के हृदय में घर कर लें और दिल मे दया जगा दें—

ओह ! तारुण्य के बाद बुढ़ापा आता है।
ओह ! महान् धन भी जाता रहता है।
ओह ! जिनसे मेल है वे पृथक हो जाते हैं।
ओह ! सभी प्राणियों की मृत्यु हो जाती है।
ओह सभी को नीचा देखना पड़ता है।
ओह ! प्रेम के अन्त में दुख होता है।
ओह ! प्रशसा के बाद निन्दा होती है।
ओह ! हर सासारिक सुख के साथ दुःख लगा है।

हमे सब प्राणियों से प्रेम करना चाहिए। उन पर दया करनी चाहिए। उनके दोषों को क्षमा करना चाहिए। उनकी सेवा करनी चाहिए। हमें समझना चाहिए कि जितने भी अपराध हैं, सब अज्ञान ही के कारण होते हैं। सब पाप गलतियाँ ही होते हैं। जब दूसरे गाली दें तो हमें उनके प्रति मैत्री करनी चाहिए। हमें सभी प्राणियों की शान्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। जब हाथ पैर भी काट दिये जाए, तब भी हम न रोएं न दुखी हों बल्कि उपेक्षा भाव से उसे सहन करें। जब तक तन में जान है तब तक हमें तथागत की इस वाणी का ध्यान रहे।

"भिक्षुओ, यदि डाकू आकर तुम्हारा अग अग भी काट दें, तब भी जो क्रोधित हो जाय वह मेरा भिक्षु नहीं।"

सभी प्राणी स्वस्थ और प्रसन्न हों। सभी जगह शान्ति हो।

बोधिसत्व-धर्म का आरम्भ और उसका विकास

स्वर्गीय लाला हरदयाल

[अनु०—श्री शान्ति स्वरूप गौड़]

(अ)

गौतमबुद्ध की मृत्यु के पश्चात्, लगातार कई शताब्दियों तक, भारतवर्ष में जिन अनेक धार्मिक प्रवृत्तियों का बोल बाला रहा, उनके द्वारा उत्पन्न हुये अन्तिम फली-भूत प्रभाव को बोधिसत्व-धर्म कहा जा सकता है। उस काल में प्रचलित इन विविध-विचार-धाराओं को हम निम्नलिखित छः भागों में विभक्त कर सकते हैं :—

(१) बौद्ध-धर्म में विकास के लिये अपनी स्वयं की प्राकृतिक विचार-धारायें।

(२) भागवत्, शैव आदि अनेक भारतीय धार्मिक पन्थों का प्रभाव।

(३) ईरानी धर्म और सभ्यता का प्रभाव।

(४) ग्रीक-कला का प्रभाव!

(५) अर्द्ध-जंगली जातियों में प्रचार की आवश्यकता!

(६) ईसाई-धर्म का प्रभाव।

अब हम ऊपर लिखे विविध विषयों पर, जिन्होंने कि इस नये उत्पन्न हुये धर्म को शक्ति-संचय करने और विकसित होने में अधिकाधिक सहायता दी, अलग-अलग पूर्ण-रूपेण विचार करेंगे।

(१) बौद्ध-धर्म का प्राकृतिक विकास!

बौद्ध-धर्म का प्रमुख विषय, उसकी वह प्राकृतिक और अक्षय विचार-धारा थी, जो समय की परिवर्तन-शील प्रत्येक अवस्था के साथ बढ़ी और उसी से शक्ति प्राप्त करती रही। कहना न होगा, कोई भी बड़ा धर्म, मोक्ष और आचार-नीति के सम्बन्धों के विषय में कहने के लिये केवल गणित का सा-एक विधि-मात्र ही नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत वह सर्वदा एक जीवित, गति-क्रिया से परिपूर्ण, आत्मा से परिचय प्राप्त कराने वाला और उसके विकार को दूर करने के लिये एक धार्मिक आन्दोलन होता है। किसी भी धर्म-विशेष के अनुयायी, सर्वदा उस धर्म के प्रवर्तक की मृत्यु के पश्चात्, उसकी प्रारम्भिक-शिक्षा की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया करते हैं और इस तरह वह धर्म-विशेष, कालान्तर में नये-नये विचारों और उद्देश्यों से भरपूर हो जाता है। अब केवल वही महायान, जो अन्धानुकरण का पक्षपाती है, इस विवाद-ग्रस्त विचार में विश्वास करेगा कि महायान-सम्प्रदाय के तत्वज्ञानियों ने ही वास्तव में, गौतम बुद्ध के प्राण-विज्ञान और अन्तरावलोकन के नियमों की व्याख्या की, क्योंकि गौतम बुद्ध ने इन नियमों को केवल श्रेष्ठ-महायानों को ही बताया था, अपने अन्य मामूली अनुयायियों को नहीं। वास्तव में वैसे इस विषय में यह एक अनावश्यक कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश की भाँति, गौतम बुद्ध के उपदेश सबके लिये समान-रूप से होते थे। इसलिये बौद्ध-धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध की मृत्यु के पश्चात्, उस धर्म के प्राकृतिक विकास के सम्बन्ध में उसके गूढ़-तत्वों की व्याख्या करते समय निरी कल्पना से काम लेना ठीक न होगा।

कहने को तो बोधिसत्व-धर्म, पूर्व-प्रचलित बौद्ध-धर्म का फल है और बौद्ध-धर्म, भगवान् बुद्ध की भक्ति (समर्पण का भाव, प्रेम और विश्वास) और उनके मन और मस्तिष्क की एकाग्रता की देन थी। गौतम बुद्ध ने सबसे पहिले भक्ति को धारण कर, फिर शीघ्र ही मन और मस्तिष्क की एकाग्रता और प्राणी-मात्र के लिये दया के भाव को ग्रहण किया। यही कारण है, जो भगवान् बुद्ध अन्त में बौद्ध-धर्म के अनुयायियों की पवित्र भक्ति के लिये एक आकर्षण-रहित उद्देश्य-मात्र ही रह गये और उस अन्तर्निहित

भाव को इस तरह बोधिसत्व की खोज और उसके सत्कार के लिये एक प्रवेश-द्वार मिल गया और वह उसी में लीन हो गया।

पहले-पहल बौद्ध धर्मावलम्बियों में ही भक्ति का विचार जगा और उन्हीं में वह पनपा भी। परन्तु इस विषय में कतिपय विद्वानों का मत है कि सबसे पहिले भक्ति का जन्म हिन्दू-सम्प्रदायों में हुआ और बौद्धों ने बाद में इसे उन्हीं से सीखा। उनका विचार है कि बौद्धों का भक्ति विषयक साहित्य, हिन्दुओं की भगवद् गीता जैसी धार्मिक-पुस्तकों का प्रतिरूप है। एम० विन्टरनीज (M Winternitz) लिखते हैं—'भगवद्-गीता के भक्ति-विषयक आन्दोलन के अन्तर्गत् ही महायान-बौद्ध मत का विकास हुआ।' ई० सेनर्ट (E Senart) लिखते हैं कि भक्ति का विषय बौद्धों ने भगवद्-गीता से ही लिया। के० जे० सान्डर्स (K J Saunders) ने भी अपने लेखों में इसी बात को दिखलाने का प्रयत्न किया है। वह कहते हैं कि 'सद्-धर्म पुंडरीक' के लेखक ने भक्ति-भाव, भगवद्-गीता से ही लिया है परन्तु वास्तव में यह विचार ग़लत ढंग पर लिखे गये धार्मिक-इतिहासों की व्याख्या मात्र है।

इसके विपरीत इस बात में विश्वास किया जा सकता है कि बौद्धों ने बहुत नये नये विचारों को जन्म दिया और फिर हिन्दू भी उन्हें व्यवहार में लाने लगे। अगर बौद्ध धर्म केवल हिन्दू-धर्म का ही रूपान्तर-मात्र होता तो बौद्धों ने हिन्दुओं के देवी-देवताओं के मन्दिरों को भी अवश्य अपनाया होता, मगर उन्होंने तो प्राणियों के अधिकार की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया और इसीलिये वे बोधिसत्व कहलाये। बौद्ध-धर्म में अपनी स्वयं एक अलग प्रतिभा थी, जिसने उसको हिन्दू-धर्म से शताब्दियों तक बिल्कुल अलग अलग और स्पष्ट रक्खा। भारतवर्ष के हिन्दू-धर्म के नेताओं ने बौद्ध-धर्म के साहित्य को कभी छुआ तक नहीं और न बौद्ध-आत्म-विद्या को कभी उन्होंने भक्ति उत्पन्न करने के लिये कोई उपयुक्त ढंग ही समझा। भगवद्-मत आदि ऐसे अनेक धार्मिक समुदाय थोड़े-थोड़े दिनों चलकर अन्त में धीरे-धीरे हिन्दू-धर्म में विलीन हो गये; परन्तु बौद्ध-धर्म और जैन धर्म सर्वदा इससे अलग-अलग ही रहे। इस्लाम और ईसाई-धर्म को तरह बौद्ध धर्म का सीधा सम्बन्ध प्राणी-मात्र से होने के कारण वह आगे चल कर एशिया की बहुत सी जातियों में फैला; लेकिन हिन्दू-धर्म 'कॉनफ्यूसियनिज्म' और 'जूडाईज्म' की तरह एक जाति-विशेष को धार्मिक और सामाजिक पद्धति मात्र होने से ज्यों का त्यों ही रहा। लेकिन यह बात अवश्य मानी जा सकती है कि बौद्ध-धर्म ने बहुत से विचार और शिक्षाओं को हिन्दू-धर्म से लेकर उनका अनुकरण किया और इस तरह हिन्दू-धर्म ने बौद्ध-धर्म में प्रारम्भिक शास्त्रीय और व्यावहारिक परिवर्त्तनों के होने में सहायता दी। परन्तु वैसे दोनों धर्म अपने अपने धार्मिक-विश्वास और व्यावहारिक क्रियाओं में अपना-अपना अस्तित्व सर्वदा अलग-अलग ही बनाये रहे। भक्ति का भाव उनका अपना था ही, जिससे उन्होंने अपने रूप को निखारा। वास्तव में धर्म का यह लाक्षणिक शब्द—भक्ति, पहिले पहल भारतीय-साहित्य में, बौद्धों के लेखों में ही दृष्टिगोचर हुआ, न कि हिन्दुओं के धर्म ग्रन्थों में। भक्ति के विषय में थेर गाथा' में लिखा है—'सो भत्तिमा नाम च होति पंडितो नतवा च धम्मेसु विसेसि अस्स' (पृ० ४१, पंक्ति १-२) तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के मध्य-काल में रची गई इस कविता पुस्तक में बौद्ध-धर्म की प्रारम्भिक कविताओं का संग्रह है परन्तु पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में लिखी गई 'पाली-निकाय' नामक पुस्तक में भी भक्ति का जिक्र आया है; इस समय यह विचार 'सद्धा' कहलाया। प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म में 'सद्धा' को बहुत महत्व दिया गया है। बौद्ध-धर्म के महन्तों और विद्यार्थी दोनों को अपनी आत्मिक उन्नति के लिये, भगवान् बुद्ध में गहरा विश्वास रखने की बात बार-बार दोहराई गई है। स्वर्ग में पहुँचे हुये योगी में भी अगर विश्वास की कमी हो जाती है तो वह पुनर्जन्म का भागी होता है।

प्रत्येक मनुष्य को बौद्ध-धर्म में दीक्षित होने के लिये पहिले भगवान् बुद्ध की शरण में जाना पड़ता है, तभी वह इसका अधिकारी हो सकता है। अब प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म में भी 'सद्धा' की महत्ता को गौण समझना एक भारी भूल होगी, जैसे कि उसको केवल एक रूखा विधि-विधान और नियमों का वर्णन-मात्र कहा गया है। पाली भाषा में लिखे हुये बौद्ध-धर्म शास्त्र में भी पाठकों के मस्तिष्क पर इस बात का प्रभाव डाला जाता है कि केवल गौतम बुद्ध ही इस सारे आन्दोलन की एक-मात्र जड़ हैं और धर्म अपनी महत्ता और जीवन-शक्ति इसी व्यक्तित्व से प्राप्त करता है। वैसे संसार के सभी धर्मों के विषय में भी यह बात सही मानी जा सकती है। ईसाई अगर ईसा के प्रति अपना विश्वास प्रदर्शित करते हैं और उनसे प्रेम करते हैं या मुसलमान अगर अपने नबी की प्रशंसा के गीत गाते हैं तो इसका मतलब केवल उनकी व्यक्ति-विशेष के प्रति भक्ति की भावना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और यह ऐतिहासिक एवं आध्यात्मिक-विद्या के दृष्टिकोण से बिल्कुल ठीक भी है। अगर भगवान् बुद्ध ने अपने विषय में इतने अधिकार-पूर्ण ढंग से न भी कहा होता, तो भी, एक मनुष्य होने पर भी उनकी महानता, उनके प्रति भक्ति का भाव स्वयं उत्पन्न कर देती है। एक विद्वान् और विशेषताओं से परिपूर्ण अध्यापक के प्रति उसके अनुयायियों का प्रेम उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक-सा है और इसीलिये उसका व्यक्ति-गत् रूप से सम्मान करना भी आवश्यक हो जाता है, चाहे वह सात्विकता के भाव से प्रेरित होकर अपने व्यक्तित्व को बहुत ही छोटा भी क्यों न बतलाये। वास्तव में यह व्यक्तित्व ही है, जो धार्मिक-आन्दोलन के लिये विजय का सन्देश लाता है, फिर उस आन्दोलन में निहित विचार और विश्वास उस व्यक्तित्व की आभा से ही दीप्त हो उठते हैं। किसी भी महापुरुष के प्रति भक्ति का भाव उसके जीवन के कार्यों पर ऐतिहासिक ढंग से विचार करने के बाद ही उत्पन्न होता है। इसलिये ए० बी० कीथ (A. B Keith) के अनुसार यह कहना कि उपनिषद् के आत्म-योगियों में ही सबसे पहिले भक्ति का भाव उत्पन्न हुआ था, बिल्कुल ग़लत है, क्योंकि उनमें बुद्ध और महावीर के समान कोई महापुरुष हुआ ही नहीं। गौतम बुद्ध के प्रभाव की बात को अगर हम यहीं छोड़ दें तो बौद्धों पर अपनी प्रेम-पूर्ण भक्ति प्रदर्शित करने के लिये फिर कोई व्यक्तित्व उनके पास शेष नहीं रह जाता, यही कारण है, जिससे वे केवल भगवान् बुद्ध के ध्यान में ही अपनी समाधि स्थिर करते हैं और उन्हीं के प्रति उनका प्रेम और उनकी भक्ति उमड़ा करती है। बौद्धों ने कभी भी पुराने देवी-देवताओं को अपना प्रेम समर्पित नहीं किया। देवताओं के प्रति उनके मन में कभी भक्ति का भाव उत्पन्न नहीं हुआ इसीलिये बौद्धों ने कभी भी उनकी प्रार्थना के गीत नहीं गाये। देवता, बौद्धों के द्वारा हमेशा प्रशंसा-प्राप्त ऊँचे-दर्जे के मनुष्य ही समझे गये जिन्होंने सुख और शक्ति का उपभोग किया; लेकिन जो मृत्यु और पुनर्जन्म के बन्धन से कभी मुक्त न हो सके और सर्वदा पृथ्वी पर रहने वाले मनुष्यों की भाँति ज्ञान और मुक्ति के इच्छुक रहे। चरित्र और ज्ञान में वे महात्मा बुद्ध से कहीं अधिक पीछे थे। उन्होंने सर्वदा भगवान् बुद्ध की नीचे दर्जे की सेवायें कीं। हिन्दू-धर्म के देवताओं को इतना नीचा गिरा देने के बाद, बौद्धों के पास फिर भगवान् बुद्ध के अतिरिक्त और कौनसा व्यक्तित्व रह जाता है, जिसके प्रति वे अपना प्रेम और भक्ति-भाव प्रदर्शित कर सकते। वे सभी स्त्री-पुरुषों को पसंद करते हैं। मस्तिष्क के साथ-साथ उनके पास दिल भी है और हृदय के अधिकारों को वे कुचलना नहीं चाहते, फिर तार्किक चाहे कुछ भी कहें। आदमी कारण-सहित होने से ही पूर्ण-रूपेण नहीं हो जाता और केवल इसीलिये वह मस्तिष्क-धारी होने के नाते सर्व-श्रेष्ठ भी नहीं। जैसा कि बौद्धों ने देवताओं को नीचे गिराकर उनके स्थान पर भगवान् बुद्ध को सुशोभित किया। इसलिये यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि भक्ति पहिले-पहल बौद्धों में ही उत्पन्न हुई और उन्हीं में वह फली-फूली भी,

न कि हिन्दुओं में। यही कारण है जो विष्णु और शिव की दूसरे दर्जे के देवताओं में गणना की गई, जैसा कि देवताओं की नामावली 'दीघ निकाय' में लिखा है। पुराने देवता ब्रह्मा के साथ उनकी बराबरी का दावा नहीं किया गया। पाचवीं सदी ई० पू० में उनके विचार इतने अधिक प्रमुख नहीं माने गये। भक्ति, हिन्दू-धर्म में मुख्य रूप से, उपरोक्त दोनों देवताओं के मानने वालों में ही उस समय पाई जाती थी। भगवद्-गीता का रचनाकाल भी बहुत पुराना माना गया है। दूसरी शताब्दी ई० पू० से लेकर दूसरी शताब्दी ईसवी तक के बीच का समय। इसलिये अब इतिहास की दृष्टि से भी हम स्पष्ट-शब्दों में कह सकते हैं कि बौद्धों ने ही भक्ति को जन्म दिया। अगर हम भगवद्-गीता और 'सद्-धर्म-पुडरीक' में भगवान कृष्ण और भगवान् बुद्ध को एक ही सी उपाधियों से विभूषित पाते हैं, तो भी हम यह अधिकार-पूर्ण ढग से कह सकते हैं कि इन सब लक्षण और उपाधियों के जन्मदाता बौद्ध ही हैं और हिन्दुओं ने बाद में उन्हीं से यह सब-कुछ सीखा। यही कारण है, जो हिन्दुओं ने भी बाद में अपने पुराणों में कृष्ण और राम—दो उपास्य-देव अपनी भक्ति प्रदर्शित करने के लिये ढूढ निकाले।

बौद्ध-धर्म के विकास में इस पद का वर्णन 'सद्-धर्म पुडरीक' और 'सुखावती-व्यूह' नामक दो बौद्ध-ग्रन्थों में मिलता है। 'सद् धर्म-पुडरीक' में गौतम बुद्ध को सारे प्राणियों का प्रिय पिता कहा गया है और इसीलिये सभी पवित्र बौद्ध धर्म के अनुयायियों के लिये यह आवश्यक समझा गया है कि वे उनकी पूजा करें और प्रेम-पूर्वक आदर-सत्कार भी। 'सुखावती-व्यूह' में यह विश्वास दिलाया गया है कि भगवान् बुद्ध के वे सब भक्त, जो उनका नाम प्रेम से लेते हैं और उनमें अपना ध्यान लगाते हैं, भगवान् बुद्ध के 'अमिताभ' नामक स्वर्ग में स्थान प्राप्त करते हैं। साथ ही वहा पर यह भी कहा गया है कि वे प्राणी, जो घोर प्राणघातक पाच पापों में से एक भी करते हैं, वे उस स्वर्ग में स्थान पाने के अधिकारी नहीं हो सकते। लेकिन 'अमिताउर-ध्यान-सूत्र' में इस बात का खडन किया गया है और कहा गया है कि जिसकी भक्ति पूर्ण-रूपेण है, अगर उससे इस तरह का कोई पाप भी हो जाता है, तो वह क्षम्य है और उसको पुनर्जन्म के अधिकार से वचित नहीं किया जाता। इस दशा में भगवान् बुद्ध की भक्ति करने का अधिकार भी उसको रहता है।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं कि बौद्ध-भाव का विचार जैन धर्म, हिन्दू-वेदान्त-धर्म और आत्म-विद्या के प्रभाव के अन्तर्गत् बढा। फलतः बौद्ध-धर्म के अनुयायी को प्रसिद्ध भक्ति की उस काल्पनिक प्रतिमा के सम्मुख झुकने से रोका गया। उसमें अधिकाधिक मनुष्यता उत्पन्न की गई और इस तरह उसको परलोक-मोक्ष-गामी बनाया गया। उसे कल्पना के द्वारा पाप-मय और परिवर्तनशील इस जगत् से बहुत ऊचा उठा लिया गया। इस प्रकार उसने अपने व्यक्तित्व को भुला दिया और स्वय भी एक ससार-सम्बन्धी-क़ानून बन गया। जैसे कि हिन्दू, उपनिषद् में वर्णित ब्रह्मा को अपने आत्म-विद्या-बल के द्वारा ही उससे प्रेम करने में समर्थ न हो सके और उन्हें अपने विश्वास के लिये एक हाड़-मास के बने देवता की आवश्यकता प्रतीत हुई, ठीक इसी तरह बौद्ध भी महायान-मत के भगवान् बुद्ध को अपनी प्रार्थनाएँ और पूजा समर्पित न कर सके। इसलिये अपने अनुयायियों से सम्बन्ध स्थापित करने के लिये गौतम बुद्ध को विराट्-रूप धारण करना पड़ा, ससार में व्याप्त होना पड़ा, आकाश में प्रकाश युक्त तारे की भाँति चमकना और अधिक सांसारिक बनना पड़ा। अपनी इसी आवश्यकता को पूरा करने के लिये महायानों ने गौतम बुद्ध के प्रारम्भिक जीवन-चरित्र का भाषान्तर किया, जब कि वह आत्म-ज्ञानी बुद्ध नहीं थे। उस समय तो बुद्ध केवल एक दानी, धैर्यवान् और समझदार बोधिसत्व, एक विवाहित नागरिक एव पूर्ण सासारिक ही थे। उस समय बोधिसत्व होने के नाते उन्होंने बहुत से नर-नारियों को धन और ज्ञान का दान दिया। अपने जीवन-काल

की उस अवस्था में भी वह अधिक अंशों में मनुष्य और एक प्रेम-मय व्यक्ति थे। इसलिये पवित्र पुजारी बोधिसत्व से स्वास्थ्य, धन और सांसारिक माँगों के लिये ही आशीर्वाद प्राप्त कर सकते थे। स्वार्थ से बिल्कुल परे होने से भक्ति का भाव एक बिल्कुल अलग अर्हवाद का प्रतीक है। साधारण स्त्री-पुरुष किसी दूसरे लोक के और इस तरह भ्रमात्मक भगवान् बुद्ध के द्वारा बताये गये किसी उद्देश्य को ग्रहण करने के स्थान पर इसी दुनिया में अपनी भलाई और प्रसन्नता पाने के अधिक इच्छुक होते हैं। यही कारण है जो पवित्र और तपस्वी बौद्धों को सन्तुष्ट करने के लिये, उनकी पूजा और ध्यान के लिये बोधिसत्व को चुना गया। इसलिये बोधिसत्व-धर्म को भक्ति-विषयक विचारों का फल और बुद्ध-धर्म तक पहुँचने का एक नया मार्ग कहा जा सकता है। अपने इस विचार को हम इस तरह ठीक समझ सकते हैं कि हीनयान-वादियों ने बुद्ध को न तो मानवोपरि ही बनाया, न सर्व-व्यापक ही घोषित किया और न उन्होंने बोधिसत्व को खोज निकालने और उसकी पूजा करने की आवश्यकता अनुभव की। अन्य दूसरे धर्मों में भी इन्हीं बातों का होना यह स्पष्ट करता है कि अशिक्षित स्त्री-पुरुषों की हमेशा यह इच्छा रही है कि वे जिस देवता की पूजा करना चाहते हैं, उसमें कुछ मानवीय गुणों का होना भी ज़रूरी है। ऐसे देवताओं के साथ वे कुछ अच्छा महसूस करते हैं। वे किसी भी ऐसे देवता की पूजा करने में झिझकते हैं, जिसकी प्रतिष्ठा मापरहित और उनकी पहुँच से दूर की चीज़ हो। चाहे वह ब्रह्मा, धर्म-काया, अल्लाह या गॉड ही क्यों न हो। इस्लाम और ईसाई-धर्म में भी ठीक इन्हीं कारणों से औलिया की पूजा का विकास हुआ, जिन कारणों से कि बौद्ध-धर्म में बोधिसत्व-मत का प्रचार। हालाँकि, इस्लाम और ईसाई-धर्म दोनों ही बतलाते हैं कि ईश्वर का व्यक्तित्व है, उसमें प्रेम है और वह प्रार्थनाओं का उत्तर भी देता है; लेकिन फिर भी लाखों-करोड़ों मुसलमान और ईसाई वलियों की पूजा में ही शान्ति का अनुभव करते हैं। उन्होंने इस बात की आवश्यकता अनुभव की कि कुछ ऐसे मानवोपरि व्यक्तित्व अवश्य हों, जिनको वे मध्यस्थ समझ कर उनकी पूजा कर सकें। इसीलिये ऐसे वलियों का स्थान ईश्वर और मनुष्य के बीच में समझा गया। पी० डॉर्फिलर और एच० थर्सटन के कथन के अनुसार ईसाई धर्म में पीरों की पूजा चौथी शताब्दी में पूर्ण-रूपेण शुरू हो गई थी। मुसलमान भी अपने पीरों की पूजा बड़े जोश-ख़रोश के साथ करते हैं। आर० ए० निकलसन ने इस विषय में लिखा है कि मुसलमानों के धार्मिक-जीवन में वली का वही बिचौलिया का स्थान सुरक्षित है। ये वली उस ख़न्दक पर पुल का काम देते हैं, जिस ख़न्दक को कि कुरान और अन्य मज़हबी किताबों ने श्रेष्ठ अल्लाह ताला और आदमी के बीच में रख दिया है। दुखी प्राणियों को वह सुख बख़्शता है, बीमारों को स्वास्थ्य, सन्तानविहीन मा-बापों को बच्चे, भूखों को खाना··· वह अपनी ओर से आशीर्वाद देता है। डब्लू० एम० पैट्टन (W M Patton) लिखते हैं—'मुसलिम-जगत् में हर एक समुदाय अपना एक अलग वली रखता है······बारहवीं शताब्दी में अल-ग़ज़ाली के समय से, सुन्नी मुसलमानों ने भी वली-मत को अङ्गीकार कर लिया है······वास्तव में, अब वली, अल्लाह से कहीं अधिक उनके लिये सच्चा ईश्वर है। ······शिया वलियों के सच्चे भक्त हैं।' इस तरह सारी दुनिया में ऋषियों की पूजा होने से यह स्पष्ट है कि इसने मानवीय विचार-धारा की कुछ प्रारम्भिक आवश्यकताओं को, आत्मिक-उन्नति की एक ख़ास दशा पर आकर अवश्य पूरा किया है।

बौद्धों ने भी अपने लिये ऋषियों की जाति (बोधिसत्व) का निर्माण गौतम बुद्ध के व्यक्तित्व की विविध विशेषताओं को ढूँढ़कर, कर डाला। उन्होंने गौतम बुद्ध पर लागू होने वाले कुछ लक्षणों को लिया और उनको कतिपय बोधिसत्वों के नाम-करण में वे काम में ले आये। इस तरह बोधिसत्वों और उनके गुणों का निर्माण, गौतम बुद्ध के मुख्य ऐतिहासिक सत्य, उनके पवित्र जीवन-रहस्य और जीवन-कार्यों के

आधार पर हुआ। मँजु-श्री और अवलोकितेश्वर, इस प्रकार ये दो प्रमुख बोधिसत्व, क्रमशः ज्ञान और दया के द्योतक हैं। मैत्रेय, मित्रता का परिचायक है। कुछ बोधिसत्वों के नामों में उन विशेषणों को प्रयोग में लाया गया है, जो महागुरू की परिभाषा करते समय पहली बार प्रयोग में लाये गये हैं। 'अवदान-शतक' और 'ललित-विस्तर' में बुद्ध को 'समन्ततोभद्रक' या 'समन्त-भद्र-काय' कह कर सम्बोधित किया गया है और हम देखते हैं कि 'समन्त-भद्र' एक बोधिसत्व का भी नाम है। मँजुश्री, शायद 'मँजु-घोष' या मँजु-स्वर' विशेषण का रूपान्तर किया गया है; क्योंकि ये विशेषण बुद्ध की आवाज़ के सम्बन्ध में कहते समय प्रयोग में लाये गये हैं। शान्ति-देव, ऐसे बोधिसत्व के विषय में निर्देश करता है, जैसे 'अजित-मंजु-घोष।' दूसरी ओर कुछ हिन्दुओं के देवताओं की वर्णनातीत पदवियों को लेकर, बोधिसत्वों के नामों में बदल दिया गया है। 'वज्र-पाणी' आदि ऐसे नाम, हिन्दू-पौराणिक-कथाओं के प्रभाव को स्पष्ट करते हैं।

(२) *हिन्दू-धर्म का प्रभाव*

हालांकि भक्ति का जन्म बौद्धों में हुआ, और हिन्दुओं ने उसको अपने बचाव के लिये अपनाया, परन्तु तब भी कुछ नये धार्मिक-आन्दोलनों ने, जिनका जन्म-काल पाचवीं शताब्दी ई० पू० के बाद ठहरता है, आगे चल कर बौद्ध-धर्म के विकास में अपना अधिकाधिक प्रभाव डाला। ये आन्दोलन कुछ देवताओं और प्रसिद्ध वीरों की आड़ में शुरू हुये और इसीलिये बौद्धों ने भी, उन्हीं के अनुरूप शक्ति और विशेषताओं से भरपूर कितने ही बोधिसत्वों को जन्म दिया। भागवत्-सम्प्रदाय ने, जो सम्भवतः पाँचवी शताब्दी ई० पू० में भारत के पश्चिम ओर शुरू हुआ, भगवत् को सर्वोपरि ईश्वर और केवल वही एक है, ऐसा कह कर सर्व-साधारण में प्रचार करना शुरू किया। फिर कुछ ही समय के बाद भागवत् मत के अनुयायियों ने भगवत् के साथ वासुदेव और बहुत पुराने सूर्य देवता विष्णु का नाम भी लेना शुरू कर दिया। वासुदेव, कृष्ण का पर्यायवाची बतलाया गया, जो कि महाभारत में एक योद्धा और पवित्र भगवान् का अवतार कहा गया है। 'छान्दोग्य-उपनिषद्' में वर्णित बुद्धिमान् घोर अंगरीष का कृष्ण को अनुयायी भी बतलाया गया। कृष्ण के नाम के पहिले बहुत से विशेषण भी जोड़े गये, जैसे एक वीर योद्धा, धार्मिक-मुखिया, एक समुदाय-विशेष का ईश्वर, सर्व-शक्तिमान्-भगवान् आदि। परन्तु वासुदेव-मत के अनुयायियों का इस समय होना ही बोधिसत्व-धर्म की बहुत सी विशेषताओं की ओर संकेत करता है। इस मत के अनुयायियों का जिक्र 'महानिर्देश' में किया गया है। पाणिनी ने भी अपने व्याकरण में वासुदेव को ईश्वर ही करके लिखा है। दूसरी शताब्दी ई० पू० में स्थापित किये गये शिला-लेखों में भी वासुदेव-मत का जिक्र मिलता है, जैसे—

"देव देवास वासुदेव स गरुड़ध्वजम्"

(बैसनगर-शिला लेख, ज० आ०, ए०, एस०, १९०९,)

(पृ० १०५५, पंक्ति १६)

ये शिला-लेख दूसरी शताब्दी ई० पू० से प्रारम्भ होते हैं। मेगस्थनीज़ ने, जो कि तीसरी शताब्दी ई० पू० में चन्द्रगुप्त के दरबार में राजदूत की भाँति रहा, कहा था कि भारतवासी हेराक्लीज (Heraklee) की पूजा करते हैं। एक भारतीय समुदाय के द्वारा, जिसको सौर सैनो कहते हैं, हेराक्लीज़ को विशेष मान-पद दिया गया है। इन लोगों के आधिपत्य में मथुरा और सिली सोबोर नाम के दो बड़े शहर भी हैं। क्योंकि मथुरा, कृष्ण-भक्ति का मुख्य स्थान था, इसलिये कहा जा सकता है कि मेगस्थनीज़ ने कृष्ण के लिये हेराक्लीज़ शब्द का प्रयोग किया है। इस तरह यह ऐतिहासिक सबूत, बौद्ध-धर्म के विकास के दिनों में वासुदेव-मत के अनुयायियों के अस्तित्व का परिचायक है। शिव-मत का भी इन दिनों बहुत ज़ोर था। 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में शिव को भी भगवान् की उपाधि से सुशोभित किया गया है और उनके प्रति भी भक्ति अनिवार्य बतलाई गई है।

यह उपनिषद् बौद्ध-धर्म के लिये कैलेंडर का काम देता है। महाभारत में शिव की भी स्तुति की गई है। मगर इस वृहद कवितामय विश्व कोष का इतिहास सन्देह-युक्त है। पाणिनी के व्याकरण की समालोचना करते समय पातञ्जली ने भी शिव-मत का उल्लेख किया है। अगर इससे पहिले नहीं तो दूसरी शताब्दी ई० पू० में तो पाशुपति मत के अनुयायी, जिन्होंने कि शिव की आराधना की, थे ही। मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि भारतवासी डायनोसस की पूजा करते हैं—'भारतवासी दूसरे और देवताओं की भी पूजा करते हैं, मगर डायनोसस की विशेषरूप से और पताकाओं एवं गाजे-बाजे के साथ!' इस डायनोसस की तुलना शिव के साथ की गई है। इन तमाम ऐतिहासिक घटनाओं को परस्पर सम्बन्धित करने वाला यह प्रमाण, शिव-मत के अनुयायियों के अस्तित्व के विषय में बहुत कुछ साक्षी है, जिन्होंने कि वेदों में वर्णित रुद्र और ईशान को ईश्वर मानकर पूजा की।

उस समय बौद्ध-धर्म के प्रवाह को रोकने में संलग्न हिन्दू-धर्म के पुजारियों ने शीघ्र ही उन मतों को अपने संरक्षण में ले लिया और वे धीरे-धीरे उसी में विलीन हो गये। शुङ्ग वंशजों ने भी, जो उस समय हिन्दू-धर्म के बहुत बड़े हिमायती थे, बौद्ध-धर्म के अनुयायियों को प्रचार के लिये नये-नये ढंग काम में लाने के लिये मजबूर कर दिया। इस विषय में ई० डब्लू० हापकिन्स ने लिखा है कि दूसरी शताब्दी ई० पू० बौद्ध-धर्म के लिये बड़ा कठिन समय था। १८४ ई० पू० में मौर्य-साम्राज्य के समाप्ति के समय ही बौद्ध-धर्म के अच्छे दिन भी समाप्त हो गये थे और अब बौद्ध को अपने अस्तित्व के लिये भगवत् भक्त और शिव-भक्तों से युक्त ब्राह्मणों से लड़ना था। अरहत बहुत ही आत्मावलम्बी और ध्यान-मग्न रहने लगे थे। महायान-मत के प्रवर्त्तक बौद्ध नेताओं ने महायान-मत का बहुत अधिक प्रचार करके और हिन्दू धर्म के विविध देवता और भगवानों की तरह बोधिसत्वों को जन्म देकर, बौद्ध धर्म को विलुप्त होने से बचाया। रोमन-साम्राज्य के अनेक धर्मों के साथ, ईसाई-धर्म के मठाधीशों द्वारा व्यवहार में लाये गये ढंगों की ही तरह बौद्ध-धर्म के अनुयायियों के भी बहुत ही बढ़िया और मज़बूत तौर तरीक़े थे।

(३) ईरानी धर्म और सभ्यता का प्रभाव

ईरानी सम्राट कुरु के समय से लेकर सिकन्दर महान् के हमले के समय तक ईरानी-साम्राज्य बहुत बड़ा और फैला हुआ था, दारा प्रथम ने ५१८ ई० पू० के लगभग सिंध की वादी को अपने साम्राज्य में मिलाया था। बहुत सी शताब्दियों तक ईरानी सभ्यता का प्रभाव एशिया की क़ौमों पर पड़ता रहा। फारस और भारत तो दो पड़ोसी राष्ट्र थे और फ़ारस देश के रहने वाले, सभ्यता के लिहाज से भारतीयों से कहीं अधिक आगे भी, इसीलिये उस समय भारतीयों ने फारस के निवासियों से बहुत अधिक लाभ उठाया। सारनाथ में अशोक महान् द्वारा स्थापित शेर के मुख वाला वह खम्भा, पाटली-पुत्र के महलों में की गई वह नक्काशी और मौर्य्य-दरबार के वे तौर-तरीक़े, इस बात के साक्षी हैं कि उन पर ईरानी सभ्यता की गहरी छाप लगी थी। जूडा-धर्म को काफी-मात्रा में देव-गाथा अर्पित करने वाले फारस देश के बहुत पुराने धर्म ज़ोरास्ट्रियन (Zorastrianism) ने बौद्ध-धर्म के विकास में उसकी अधिकाधिक सहायता की। उसके फ्रवशी और एमेसपेन्ट बोधिसत्वों से काफी मिलते-जुलते हैं। छः एमेसपेन्ट (पवित्र दयावान और फरिश्ते) जो कि अहूरमज़दह से सम्बन्धित हैं, सूक्ष्म विचारों के प्रतीक हैं और मुख्य बोधिसत्त्व भी वास्तव में ज्ञान और प्रेम के द्योतक हैं। वे एमेसपेन्टस क्रमशः निम्न लिखित हैं—अस (सत्य, योजना, औचित्य), वोहू मनः (अच्छे विचार), अरमैति (धार्मिकता), हौरवतात (कल्याण, मुक्ति और पूर्णता), क्षत्र या क्षत्र वैर्य (राज्य), अमेरेतात (अमरता) के क्रमशः प्रतीक हैं। फ्रवशियों का मुकाबला तुसीता स्वर्ग में रहने वाले बोधिसत्वों से किया जा सकता है। ज़ोरास्ट्रियन धर्म ने भारतवर्ष में तीसरी शताब्दी ई० पू० में शुरू होने वाली

सूर्य-पूजा के द्वारा बहुत सहायता की। दीघ-निकाय में सूर्य पूजा का वर्णन मिलता है परन्तु 'आदि सुरधान' जातक में इसकी हँसी उड़ाई गई है। महायानों के नामों में से बहुत से सूर्य-पूजा के द्योतक हैं, जैसे अमिताभ (अमित प्रकाश वाला), वैरोचन (प्रकाशवान), दीपंकर (प्रकाश का स्रष्टा) आदि। गौतम बुद्ध को भी आदित्य बन्धु के नाम से पुकारा गया है। इसलिये यह सम्भव हो सकता है कि बौद्ध ने ज़ोरा स्ट्रियन-धर्म और पूर्व भारतीय घरेलू सूर्य-पूजा की विधि के आधार पर सूर्य की पूजा करने वालों का एक मत ही चला दिया हो। सूर्य-सम्बन्धी गाथाओं ने बौद्ध-धर्म की प्रत्येक गति में प्रवेश पा लिया था, इसलिये बहुत से बोधि सत्वों को सूर्य के गुणों से सम्पन्न किया गया है।

(४) *यूनानी कला का प्रभाव*

भारत के उत्तरी पश्चिमी भाग में बसे हुए गांधार नगर की चित्रकला पर, जिसमें बुद्ध-सम्बन्धी विषयों का प्रदर्शन किया गया है, यूनान की कला का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा है। बुद्ध भगवान् का चित्र गांधार कला में पहली बार अंकित किया गया। भरहुत और साँची में बुद्ध को प्रतीकों द्वारा ही चित्रित किया गया था। ग्रीक-आक्रमणकारी यात्री और कलाविदों ने इस तरह बौद्धों को यह सिखलाया कि बुद्ध की सर्वांग-पूर्ण मूर्ति बनाने के क्या लाभ हैं! और बौद्ध फिर अब-मानवों और अर्द्धमानवोपरि ग्रीक-देवताओं की तरह बोधि सत्वों की कल्पना कर, उनकी पूजा करने लगे।

(५) *नई जातियों में प्रचार।*

उन्हीं शताब्दियों में, जिनमें कि सिकन्दर महान् का भारत पर आक्रमण हुआ, भारत का उत्तरी-पश्चिमी भाग बार-बार विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा रौंदा गया था, जिनमें से मुख्य शक और कुशान थे। यह भाग वास्तव में विविध जातियों के आपस में मिलने का स्थान हो गया था। कुशान-वंशी राजाओं ने यहाँ पर अपना राज्य भी कायम किया।

एच० जी० रौलिन्सन लिखते हैं—'इन महान् राजाओं ने, जिनके विषय में हम थोड़ा जानते हैं, बहुत सी जातियों को अपने आधिपत्य में लेकर, एक बड़े साम्राज्य की नींव डाली थी। उस समय पंजाब में अर्द्ध एशियाई यूनानी, पार्थियन, सिदियन और हिन्दू रहते थे। अफ़ग़ानिस्तान और बैक्ट्रीया में, सिदियन और ईरानियों में से बचे-खुचे लोगों के अतिरिक्त, यूनानी, पार्थियन और मध्य एशिया के रहने वाले उनके देशवासी ही निवास करते थे। इस अन्तर्जातीय वायु मंडल ने बौद्ध धर्म में नवीन भावों को जन्म दिया। बौद्ध भी इन अर्द्ध जंगली जातियों के लोगों को अपने धर्म में दीक्षित करने के कार्य में पूर्णतया जुट गये। बहुदेव मत सहन करने के योग्य भी था और साथ ही आकर्षक भी। इसीलिये बोधि सत्व-धर्म में प्रेम और कार्य को महत्ता दी गई और उसके द्वारा निर्धारित स्वर्ग को महान और पूजा के योग्य जीवों से भर दिया गया। उपरोक्त जातियों के बहुत से देवताओं को भी बोधिसत्वों में मिला लिया गया। बौद्ध-धर्म के इस समय की तुलना, ईसाई-धर्म के उस समय के साथ की जा सकती है, जिस समय कि मध्य-योरोप निवासी ट्यूटन लोगों को ईसाई बनाया गया था।

(६) *ईसाई-धर्म का प्रभाव।*

क्योंकि बोधिसत्व-धर्म, ईसाई-धर्म के जन्म से पहिले ही शुरू हो चुका था, इसलिये बौद्ध-धर्म के इस नये विचार पर ईसाई-धर्म के प्रभाव की बात तो पैदा ही नहीं होती। बाद को, कुछ अंशों में, ईसाई-धर्म ने बौद्धों की महायान-शाखा पर अवश्य कुछ प्रभाव डाला और वह स्वयं भी बहुत अंशों में उससे प्रभावित हुआ। उस समय ईसाई और बौद्धों को एक दूसरे के देशों में आने-जाने के मार्ग अवश्य मालूम थे। बौद्ध, सिकन्दरिया, दक्षिणी भारत और मध्य-एशिया में ईसाइयों से अपना सम्पर्क क़ायम कर सकते थे। सिकन्दरिया का क्लिमेन्ट (सी० ए० डी० १५०—सी० २१५) इस बात का ज़िक्र करता

है कि उस समय भारतीय सिकन्दरिया में रहते थे; इसके साथ-साथ उसने बुद्ध और 'श्रमणों' के विषय में लिखा है। बारडेसेनीज (Bardesanes) नाम के आचार्य द्वारा लिखित अप्राप्य पुस्तकों की खोज के आधार पर इस बात का कुछ मनोरंजक ढंग से विवरण दिया गया है, कि उस समय भारतीय बौद्ध-विहारों की क्या दशा थी। सेन्ट जेरोम (St Jerome) ने बुद्ध का उल्लेख 'कुमारी की दैवी सन्तान' के आख्यान के साथ किया है। नॉस्टिक-सम्प्रदाय के लोग, जो ईसवी सम्वत् की प्रारम्भिक शताब्दियों मे रोमन-साम्राज्य मे काफी सख्या में आबाद थे, उन्होंने बौद्धों से बहुत सी बातें सीखीं; यद्यपि जेनोसिस (Gnosis) शब्द को बोधी के तुल्यार्थक शब्द मानने की कोई आवश्यकता नहीं है और न इसी बात की जरूरत है कि साख्य के त्रि-गुण और उनके त्रिगुणात्मक दर्शन में समता खोजी जाये, क्योंकि समान उदाहरण सर्वदा किसी एक प्रथम कारण पर ही आधारित नहीं होते। यह सम्भव है कि दूसरी शताब्दी और उसके बाद आने वाली शताब्दियों में इस भारतीय धर्म से ईसाई-धर्माचार्य अनभिज्ञ नहीं थे। एक परम्परागत् कथा है कि सेन्ट टॉमस (St Thomas) भारत आये थे और यहाँ के एक बादशाह को उन्होंने धार्मिक-शिक्षा भी दी थी। यह कथा सच्ची है या बिल्कुल झूठी ही, दोनों में से कोई सी भी एक बात कह सकना सम्भव नहीं है। आर० गार्बे (R. Garbe) इसको ग़लत बतलाते हैं; मगर ए० ई० मैडली कॉट (A E Medlycott) इसे ठीक समझते हैं। उनका कहना है कि एपोसिल टॉमस ने धार्मिक-प्रचारक के रूप में उक्त भारतीय राजा के राज्य में प्रवेश किया था। ई० डब्लू० हापकिन्स (E. W Hopkins) भी इस कथा को ठीक समझते हुये, बहुत महत्व की बतलाता है। लेकिन इस कथा का वह भाग, जिसमें आया है कि सेन्ट टॉमस को अपने विरोधियों के हाथ भारतवर्ष में प्राण खो देने पड़े थे, सही नहीं है, क्योंकि भारतीय अन्य-धर्म के धर्माव-लम्बियों का दमन करने में विश्वास नहीं रखते थे। भारतीय सर्वदा से बहुत सहिष्णु और उदार विचारों के रहे हैं और इसीलिये इस बात को मानना ठीक नहीं है कि किसी एकाकी और धार्मिक उपदेशक को उन्होंने हत्या कर डाली होगी। भारतीयों में यहूदियों की सी धार्मिक कट्टरता और रोमन-नरेशों की सी निर्दयता कभी भी नहीं रही। इन सन्दिग्ध कथाओं की बात को छोड़ते हुये मिस्र के लेखक कास्मस इन्डी कोपिल्यूस्टीज़ (Kosmas Indikopleustes) ने भी ईसाइयों का उस समय दक्षिणी भारत में होना लिखा है। जी० ए० ग्रियर्सन (G A Grierson) का यह विश्वास है कि भारत ने भक्ति का भाव ईसाई-धर्म से ग्रहण किया, लेकिन जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है, भक्ति तो बौद्ध धर्म के प्रारम्भ से ही उससे सम्बन्धित थी। अब, न केवल सिकन्दरिया या दक्षिणी भारत में ही ईसाई-धर्म और बौद्ध-धर्म एक दूसरे से प्रभावित हुये, इस सत्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि वे दोनों मध्य-एशिया और सीरिया में भी मिले और उन्होंने एक-दूसरे से बहुत-कुछ सीखा। अशोक ने बौद्ध उपदेशकों को बैक्ट्रिया और सीरिया में, तीसरी शताब्दी ई० पू० में भेजा था। बौद्ध-धर्म के, विषय में जिन शताब्दियों में, वहाँ के निवासी जान पाये, वे ही वर्ष यहाँ पर महायान-मत के उत्थान के थे। परिश्रमी खोज करने वालों ने बहुत से प्रभाव पूर्ण वाक़यात ईसाई-धर्म और बौद्ध-धर्म की पौराणिक कथाओं, शास्त्रोक्त कर्मों, करामातों और नियमों में ढूढ निकाले हैं, जिनके विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। इनमें से बहुत सी समानताएँ बिल्कुल थोथी हैं। परन्तु दो बहुत बड़े धार्मिक समुदाय, जो कि परस्पर बहुत ही पास पास रहे, एक-दूसरे से अवश्य प्रभावित हुये होंगे, क्योंकि बोधिसत्व शब्द ही ग्रीक और रोमन मतानुयायियों ने सेन्ट जोसेफ़त (St Josaphat) के नाम से ग्रहण किया है। यह कोई सही तरीक़ा नहीं है कि भागवत् और गीता में से कुछ पृथक पृथक वाक्य ले लें और फिर बतलायें कि ईसाई-

मत का प्रभाव इस तरह हिन्दू-धर्म पर पड़ा है। यही ई० डब्लू० हापकिन्स और एफ-लोरिन्सर ने किया है। अगर हम गीता और ईसाई-धार्मिक-पुस्तकों के मुख्य-मुख्य एक-से वाक्य छाँट भी निकालें तो इससे लाभ ही कौनसा हो सकता है, क्योंकि उन दो तरह के एक-से वाक्यों में भाव वास्तव में बिल्कुल अलग-अलग ही होंगे। गीता का ज्ञान अद्वैतवाद, कर्मों के द्वारा मनुष्य की जाति का बनना, जीवन की एकाकी भावना, युद्ध और आत्मिक-ज्ञान पर आधारित है और ईसाई-धर्म की पुस्तक गासपल्स में एक ही ईश्वर पर विश्वास की बात, सेवा-भाव, सामाजिक जीवन में परस्पर एकता, शान्ति और विश्वास पर अधिक ज़ोर दिया गया है। इसी तरह सद्धर्म-पुंडरीक और न्यू-टेस्टामैंट में खोये गये पुत्र के विषय में दिये गये आख्यानों की तुलना करना भी एक किस्म की मूर्खता ही होगी, क्योंकि दोनों कहानियों के निष्कर्षों में बड़ा अन्तर है। ये दोनों कहानियाँ बिल्कुल दो भिन्न भावनाओं को लेकर लिखी गई हैं। अगर हम इस सत्य पर सब को मापें तो हमको मैडोना-पूजा, मछली की शक्ल वाली पताका, काम-वासना की वह कहानी, असित और सिमियन के उपाख्यान, पानी पर खड़े होने या भोजन को मिक़दार में अधिक कर देने की करामात, नियेनियल का अंजीर-वृक्ष, रूपान्तरों के आख्यानों आदि इसी तरह की बाह्य और गौण बातों पर विशेषता की छाप लगाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होगी, जैसा कि वान्डर बी० वान ईसिंग (Vander B Van Eysinga) और आर० सीडेल (R Seydel) ने इन छोटी-छोटी बातों को भी तूल देकर किया है। हमको तो वास्तव में इस सत्य को खोजने की आवश्यकता है कि कहाँ और कैसे महायान-मत के अनुयायी, ईसाई धर्म के विचारों और आदर्शों से वास्तव में प्रभावित हुये। किसी भी धर्म विशेष को हम केवल उसकी आत्मा से ही पहचान सकते हैं और फिर उसकी व्याख्या करने में भी समर्थ हो सकते हैं। इस तरह अब हम इस बात को बहुत आसानी से कह सकते हैं कि बाद में जाकर महायानों की वही भावना नहीं रह गई थी, जो उनमें प्रारम्भिक समय में विद्यमान थी। नागार्जुन और वसु-बन्धु, ज्ञान और प्रेम को बराबर की महत्ता घोषित करने में भारत के पुराने विचारों को दोहराते हैं और इनमें भी उन्होंने ज्ञान पर अधिक ज़ोर दिया है, बनिस्बत प्रेम के। मगर शान्ति देव प्रज्ञा की ओर से लगभग बिल्कुल ही आँखें बन्द कर लेता है, हालांकि मौखिक-सत्कार वह उसका अवश्य करता है। उसका कार्य क्षेत्र ही बिल्कुल दूसरा है। वह पाप और सेवा, अपने पापों का ज्ञान और क्षमा, इस तरह सच्चे-विचारों का प्रतीक है। प्रारम्भ के महायानों से उसकी पूर्णता की प्राप्ति की मानसिक कल्पना बिल्कुल विपरीत है। उसने किसी दूसरे स्रोत से प्रेरणा ली है। अगर ईसाई मत ने किसी भी तरह भारतीय विचारों पर अपना कुछ भी प्रभाव डाला है तो उसके उस प्रभाव को अगर हम गीता या सद्धर्म पुंडरीक में खोजें तो यह बिल्कुल बेकार होगा। यह प्रभाव देखने को मिल सकता है। बोधी-कार्या-वतार नामक अपूर्व कविता और टामस-ए-कैमपिसिस की कविता 'ईसा का अनुकरण' शीर्षक का मिलान किया गया है। परन्तु बोधि-कार्यावतार में, वास्तव में, ईसाइयत की आत्मा अधिक है; बनिस्बत ईसा के अनुकरण में, जो एक ईसाई-साधू की एक सामान्य सी कृति है। इस काव्य में हम एक नया प्रभाव पाते हैं, जो प्रभाव वैदेशिक मालूम होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि महायानों ने वैदेशिक आदर्शों को अपनाने की अपनी परम्परा को जारी रक्खा। वास्तव में बाद के महायान-मत और ईसाई-धर्म में बहुत सी बातें बिल्कुल मिलती जुलती सी हैं; यद्यपि यह कहना सही नहीं है कि यह 'ईश्वर-वादियों का बौद्ध धर्म,' है। यह तो जे० ई० कारपेन्टर (J E. Corpenter) का गुमराह करने वाला और स्वयं गढ़ा हुआ सिद्धान्त मात्र है।

(ब)

धर्म-विकास के विविध स्वरूप

बोधिसत्व-धर्म लगभग दूसरी शताब्दी ई० पू० में प्रारम्भ हुआ। बोधिसत्व शब्द बहुत पुराना है और 'पाली-निकाय' में इसका प्रयोग मिलता है। अपनी आत्मा में प्रकाश के दर्शन करने से पहिले के जीवन-समय के लिये गौतम बुद्ध ने स्वयं इस शब्द का अपने लिये प्रयोग किया है। इस शब्द का सबसे पहिला यही अभिप्राय प्रतीत होता है। सांसारिक जीवन व्यतीत करने वाले गौतम बुद्ध के लिये यह शब्द प्रयोग में लाया गया है। निम्न-लिखित वाक्य 'मज्झिम-निकाय' में बार-बार आता है—'उन दिनों, जब तक मैंने अपनी आत्मा में प्रकाश का दर्शन नहीं किया था, मैं केवल बोधिसत्व ही था, आदि।' 'दीघनिकाय' और 'मज्झिम-निकाय' दोनों ग्रन्थों में पहिले पहल एक प्रकार से सांसारिक गौतम बुद्ध के लिये ही केवल यह शब्द व्यवहार में लाया गया है। 'कथा-वत्थु' में बोधिसत्व के कार्यों के विषय में बहुत से प्रश्न उठाये गये हैं—उनके शरीर पर अंकित चिह्नों के विषय में, शत्रुओं के देश में उनका पुनर्जन्म और धर्म-विरोधी रायों के विषय की बात-चीत के बारे में, आदि। इस प्रकार इससे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि उस समय गौतम बुद्ध और अन्य दूसरे महात्माओं की पहिली जिन्दगी के विषय में जानने और उसमें आनन्द लेने की लोगों में धारणा उत्पन्न हो गई थी। जिस समय उपर्युक्त पुस्तक लिखी गई, वह तीसरी शताब्दी ई० पू० का मध्य-काल था, लेकिन अभी तक किसी भी नये मत का प्रादुर्भाव नहीं हो पाया था। 'प्रज्ञा-पारमिता-अस्ति' में बोधिसत्व के निर्वाण प्राप्त करने के लिये उनके त्याग के विचार की बात बहुत ही स्पष्ट रूप से लिखी गई है। 'सद्धर्म पुडरीक' में बोधी को नवीन-आदर्श के रूप में देखा गया है। ये लेख मुख्यतः पहली शताब्दी ई० पू० में ही लिखे गये हैं। अब हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि महायान-मत वास्तव में दूसरी शताब्दी ई० पू० में आरम्भ किया गया था। यही समय शुंग-वंश के अन्तर्गत् हिन्दू-धर्म के पुनर्जीवन प्राप्त करने का भी है। बहुत से विद्वानों का मत है कि महायान-मत भी उन्हीं दिनों शुरू किया गया, जिन दिनों कि ईसा का संवत् प्रारम्भ हुआ। डब्लू० मैक्‌गवर्न (W Mcgovern) लिखते हैं कि महायान-मत का धार्मिक-स्वरूप ईसा-संवत् के शुरू होने से कुछ ही दिनों पहिले दिखलाई दिया। के० सान्डर्स, ५० ई० पू० से ५० ईसवी तक का समय महायान-मत के शुरू होने का निश्चित करता है। हम दूसरी शताब्दी ई० पू० को बोधिसत्व-मत के विकास का प्रारम्भ-काल मानते हैं।

बहुत सी शताब्दियों (दूसरी शताब्दी ई० पू० से लेकर सातवीं शताब्दी ईसवी तक) में बोधिसत्व-मत उसकी आवश्यक अवस्थाओं में परिवर्तित किया गया। उसके विकास की मुख्य धारायें निम्नलिखित हैं:—

(१) प्रारम्भिक महायान-मत में बोधिसत्वों को बौद्धों के अधीन और उनसे गिरे हुये दर्जे का माना गया; लेकिन धीरे-धीरे बोधिसत्वों की महत्ता बढ़ी और अन्त में वे भी बहुत सी बातों में बौद्धों के समान ही मान के योग्य समझे जाने लगे। उनकी पूजा भी बौद्धों की तरह ही की जाने लगी। बौद्धों की उन्नति के आधार पर, बोधिसत्व धीरे-धीरे ऊंचे उठे और 'अवलोकितेश्वर' (एक बोधिसत्व-विशेष) को 'बुद्ध को बुद्ध का आसन देने वाला' कहा जाने लगा। बौद्ध का पद प्राप्त करने वाले प्राणी की वह सहायता करता है; परन्तु वह ज्यों का त्यों सनातन रूप से बोधिसत्व ही है।

(२) प्रारम्भिक महायान-मत में, ज्ञान और दया को समान रूप से प्रमुख माना गया है और इसी-लिये एक बोधिसत्व के लिये यह आवश्यक समझा गया है कि उसमें ये दोनों गुण समान रूप से विद्यमान् हों। वास्तव में ज्ञान, दया से कुछ अधिक मूल्यवान् समझा गया है। ज्ञान के देवता मंजुश्री की बहुत

सी धार्मिक पुस्तकों के प्रारम्भ में प्रार्थनाएँ की गई हैं, 'सद्धर्म पुंडरीक' में तो उसकी बेहद प्रशंसा की गई है। दूसरी शताब्दी ई० पू० में नागार्जुन के द्वारा अस्तित्व में लाये गये ज्ञान के 'मध्यमिका' नामक सम्प्रदाय ने अपने लेखों में ज्ञान की बेहद प्रशंसा की है। प्रज्ञा को 'अद्-नौमीम' की उपाधि से भी सुशोभित किया गया है, जब कि करुणा के विषय में बहुत ही कम लिखा गया है। परन्तु बाद में महायानों ने करुणा को ज्ञान से अधिक ऊंचे आसन पर सुशोभित किया है। वहां पर इसका रूप तार्किक होने के स्थान पर चित्त-वृत्ति को आकर्षित करने वाला अधिक है। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यह ज्ञान को बिल्कुल भूल जाने और इस तरह उसे अपमानित करने के लिये सब को बाध्य करता है; जब कि वह कहता है कि बोधिसत्वों को एक-मात्र 'करुणा' ही धारण करनी चाहिये। जैसे ही इस विचार को दूसरे विचारों के मुक़ाबले में खड़े होने के लिये स्थान मिलता है, वैसे ही बोधिसत्व अवलोक्तेश्वर की महत्ता बढनी शुरू होती है और फिर वह इतनी बढती है कि वह सर्वोच्च पद को प्राप्त करता है। इस तरह महायान मंजुश्री के प्रभाव-क्षेत्र से निकल कर धीरे-धीरे अवलोक्तेश्वर के राज्य में चले जाते हैं।

(३) प्रारम्भिक महायान गृहस्थ-आश्रम और वानप्रस्थ आश्रम को एक ही सा मान प्रदान करते हैं, परन्तु बाद में महायानों ने वान प्रस्थ-आश्रम को अधिक महत्व दिया है। प्रारम्भिक महायान एकान्त-सेवी और बोधिसत्व का मुकाबला करते समय, वास्तव में पहले के मुकाबले दूसरे की अधिक सराहना करते हैं। लेकिन बाद के महायानों की दृष्टि में सन्यासियों का मान, गृहस्थी के मुकाबले बहुत अधिक बढ जाता है।

(४) चौथी शताब्दी ईसवी में महायानों ने 'योगा-कार्य' नामक तत्व ज्ञानियों के सम्प्रदाय से, वाह्य रीतियों के द्वारा, योग की बहुत सी क्रियाएँ ग्रहण कीं। एक बोधिसत्व को 'योगी' कह कर प्रतिष्ठा की प्रतिमूर्ति मान लिया गया। समाधियों की संख्या बढ गई और उनका आश्चर्य जनक अधिकारों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया गया। योग को बोधिसत्व-धर्म का प्रमुख-अङ्ग मान लिया गया।

(५) बोधी (प्रकाश) की खोज एक गौण उद्देश्य माना जाने लगा और इसके विपरीत पाप-पूर्ण और दुख-मय इस संसार से छुटकारा दिलाने के लिये दान शीलता को ही काफी समझा गया। प्रारम्भिक महायानों ने बोधिसत्व के जीवन के एक मात्र उद्देश्य 'प्रकाश' को प्राप्त करने का उसको साधन समझा, परन्तु बाद के महायानों ने दूरस्थ उद्देश्य को भी भुला दिया और मार्ग में देर करना ही अधिक पसंद किया। इस तरह बाद में बोधिसत्वों के लिये 'बोधी' को प्राप्त करने के लिये शीघ्रता करने की आवश्यकता नहीं रह गई, क्योंकि एक बोधिसत्व, बोधिसत्व रहकर संसार के जीवों को अधिक लाभ पहुँचा सकता था, बनिस्बत बोधी प्राप्त करने के उपरान्त बौद्ध होकर। इस विचार ने बौद्ध के मुकाबले बोधिसत्वों को अधिक मान प्रदान करने के लिये बाध्य किया। दान शीलता को बिल्कुल स्वयं में ही पूर्ण उद्देश्य समझा जाने लगा। अवलोक्तेश्वर की प्रवृत्ति से यह बिल्कुल स्पष्ट है।

(६) प्रारम्भिक महायानों ने भी वैसे तो थोड़े ही बोधिसत्वों को अधिकारियों के रूप में देखा; परन्तु बाद के महायानों द्वारा उन सब अधिकारियों के अधिकार केवल एक ही बोधिसत्व के हाथों में सुरक्षित कर दिये गये। इस तरह अवलोक्तेश्वर का एक छत्र शासन स्थापित हुआ। उसमें सारी विशेषताएं, शक्तियां, अधिकार और दूसरे अन्य बोधिसत्वों के विशेष अधिकार भी विलीन हो गये, क्योंकि वह करुणा का एक मात्र प्रतीक था। उसको ये सब अधिकार और सर्वोच्च पद यूं हीं बरबस प्राप्त हो गये।

करुणा (दया, रहम, प्रेम, अनुकम्पा) और उसका मूर्तिमान् प्रतीक अवलोक्तेश्वर ही सब कुछ हैं, महायान मत का यही अन्तिम सिद्धान्त है और उस सिद्धान्त का यही अन्तिम वाक्य भी।*

---

* स्वर्गीय लाला हरदयाल एम० ए० द्वारा लिखी गई पुस्तक 'The Bodhisattava Doctrine in Buddhist Sanskrit Literature' के दूसरे भाग का अनुवाद।

बौद्ध धर्म और युद्ध

कुमारी आइ बी हार्नर एम. ए.

आज पच्छिमी दुनिया मे घर-घर में इस बात की चरचा होती है कि युद्ध को कैसे संचालित किया जाय जिसमें विजय प्राप्त हो। सारे संसार के सामने नाश मुंह बाये खड़ा है। ऐसी परिस्थिति में यदि हम हजरत ईसा से छः सौ वर्ष पहले गौतम बुद्ध के उपदेशों पर दृष्टि डालें तो हमें बहुत कुछ लाभ हो सकता है। गौतम बुद्ध की शिक्षा मे जो मौलिक और नैतिक सिद्धान्त निहित हैं न तो उन्हें पच्छिम वाले मानते हैं और न उनकी क़द्र करते हैं, किन्तु वे ही बातें जीवन का मौलिक आधार हैं। हम पच्छिम वाले मानव जीवन की मौलिक बुनियादों को महत्व नहीं देते। हम क्षणिक चीजों पर कहीं अधिक ध्यान देते हैं। हमारी संस्कृति के अन्दर मानव के सद् विवेक और सद् गुणों को अधिक प्रोत्साहन नहीं दिया जाता। इसके विपरीत नामालूम ज़माने से मानव जाति के अनेक पैगम्बरों ने मानव कल्याण के लिए बुनियादी उसूलों का प्रचार किया है। गौतम, संसार की इसी मानवीय पृष्ठ भूमि के एक चमकदार सितारे थे। मानव आत्मा उनके हृदय के द्वारा बोल रही थी। "नैतिक शक्ति, और 'नैतिक गुण" इन्हीं दो बातों पर गौतम ने ज़ोर दिया है और इन्हीं दोनों बातों ने प्रसिद्ध पच्छिमी दार्शनिक काण्ट के दिल को गौतम के प्रति श्रद्धा से भर दिया।

ऐसा मालूम होता है कि २० वीं सदी के वैज्ञानिक अनुसंधानों के कारण नैतिक गुणों का महत्व घटता गया है। दुनियावी ज़रूरतों को ध्यान में रख कर इन नैतिक गुणों को व्यावहारिक रूप नहीं दिया गया। नैतिक गुणों की अपनी एक अलग जगह है। दुनिया में भौतिक ज्ञान काफी तेजी से बढ़ा। उसमें नई-नई खोजें हुई। किन्तु नैतिक ज्ञान के लिए यह ज़रूरी नहीं समझा गया कि वह मानव समाज को छोटी-छोटी बातों को पूरा करने के अनुकूल बनाया जाय और जब तक नैतिक विचारों और भौतिक विचारों इन दोनों का संतुलन न किया जायगा, दोनों को एक ही योजना का आवश्यक अंग न बनाया जायगा, तब तक मानव के कष्टों का भी अन्त नहीं हो सकता।

आज सारी दुनिया एक ख़तरनाक मुक़ाम पर पहुँच गयी है। मौजूदा युद्ध के भयकर और नाशकर नतीजे उसकी आँखों के सामने नाच रहे हैं। साधारण जनता के और विचारकों के दिलों में शान्ति की इतनी माग इसके पहले कभी न थी। हालांकि यह सही है कि शान्ति की यह इच्छा केवल इसलिये है कि लोग लड़ाई के भयकर परिणामों से भयभीत हो गये हैं। फिर भी इस इच्छा का मूल्य तो है ही।

मेरा विश्वास है कि जिस दुनिया में केवल भौतिकवाद और उद्योग वाद का बोल बाला है, उस दुनिया मे केवल धन-जन की हानि का भय ही स्थायी शान्ति कायम करने के लिये काफी दलील नहीं हो सकती। केवल भौतिक नाश के डर से युद्ध बन्द नहीं हो सकता। हमें लोगों के अन्दर यह अमिट विश्वास पैदा करना पड़ेगा कि समस्त युद्ध नैतिक दृष्टि से ही बुरे हैं। किसी भी परिस्थिति में जीव हिंसा और ख़ास कर मानव हिंसा न्याय्य नहीं है। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का सिद्धान्त ग़लत है। मनुष्य का सदाचार और विवेक दोनों मे से कोई युद्ध का समर्थन नहीं करते। युद्ध हर परिस्थिति में अनैतिक है। जब तक इस तरह के विचार लोगों के हृदय में भरपूर जगह नहीं बना लेते, तब तक स्थायी शान्ति क़ायम कर सकने का ख़याल केवल एक स्वप्न रहेगा। जहा तक पूर्वी सभ्यता का सम्बन्ध है, पूर्वी सभ्यता ने हमेशा से अहिंसा और शान्ति को महत्व दिया है। इस सम्बन्ध मे पश्चिमी देशों से उसकी कोई तुलना नहीं हो सकती। पश्चिम के

पास ऐसी कोई शिक्षा नहीं है कि जिसने अहिंसा को लोगों के जीवन का अंग बना दिया हो। और अहिंसा का सिद्धान्त कोई नया सिद्धान्त नहीं है। इतिहास के किसी अनजान पृष्ठ से अहिंसा का सिद्धान्त शुरू हुआ है और हज़ारों वर्षों से उसे बेहद महत्व मिलता आया है। अहिंसा लोगों के जीवन की रक्षा को महत्त्व देती है। वह अन्यायी और अन्याय पीड़ित, क़ातिल और मक़तूल दोनों को एक दृष्टि से देखती है।

धीरे धीरे लोगों के दिल में अहिंसा की बात घर करती जा रही है। पश्चिमीय देशों में आज ख़ासी चर्चा हो रही है कि लड़ाई से सुखकर नतीजे नहीं निकल सकते। लड़ाई में विजेता और पराजित दोनों में से किसी को कोई लाभ नहीं पहुँच सकता। दुनिया के सभी विचारक आज इस बात में सहमत हैं कि युद्ध से न तो भौतिक लाभ ही हो सकता है और न सांस्कृतिक; बल्कि मुसीबत, कष्ट, ईर्षा, नफ़रत आदि का बोलबाला हो जाता है और लड़ाई के साथ-साथ न जाने कितनी जातीय और देशीय समस्याएं खड़ी हो जाती हैं।

यदि हमने पूरे इरादे के साथ दुनिया के अब तक के सचित ज्ञान से लाभ उठाया होता और उसका समाज में भी अमल किया होता, यदि उसे मानवता के साथ दुहराया होता तो आज दुनिया में इन महायुद्धों का होना असम्भव हो जाता। मानव जाति को शान्ति का सन्देश कितने ही सन्तों और पैग़म्बरों ने दिया है। पालि भाषा में गौतम बुद्ध की जो वाणी सचित है, यदि इस तरह की भावनाओं का पश्चिमीय संस्कृति में समावेश हो जाता तो कितना लाभ होता ! गौतम ने युद्ध के नाशकर चक्र के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है—

"कोई मनुष्य उस समय तक दूसरे को हानि पहुँचा सकता है जब तक कि उसका स्वार्थ साधन न हो जाय। फिर ऐसा अवसर आता है कि दूसरे मनुष्य ही उसे नुकसान पहुँचा देते हैं; और फिर वह दूसरों को दोबारा नुक़सान पहुँचाने के लिए तत्पर रहता है और इस तरह पाप का फल पकता रहता है और वह मूर्ख मनुष्य मन में सोचता है कि अब समय आ गया और अवसर आगया; किन्तु जब उसका कुकृत्य फल देता है तो उस व्यक्ति को केवल बुराई ही मिलती है। जो दूसरों को क़त्ल करता है वह खुद क़त्ल किया जाता है। जो दूसरों को पराजित करता है वह खुद पराजित किया जाता है। जो दूसरों को अपमानित करता है वह ख़ुद अपमानित किया जाता है। जो दूसरों को खिझाता है, वह ख़ुद खिझाया जाता है। जैसा काम किया जाता है, वैसा ही फल मिलता है। जो दूसरों को हानि पहुंचाता है उसे ख़ुद हानि पहुँचती है।"

गौतम की वाणी युद्ध की निरर्थकता को बिलकुल स्पष्ट करती है। पिछले महयुद्धों में शान्तिवादियों ने यही आवाज़ लगाई थी "युद्ध से ही युद्ध पैदा होता है।" युद्ध का इतिहास चलता रहता है। दुश्मन को जीत कर ही युद्ध समाप्त नहीं हो जाता। प्रकृति का यही नियम है। जैसा बीज बोया जाता है अवसर पाकर वैसे ही फूल फल होते हैं।

बहुत से लोग युद्ध के सम्बन्ध के इन विचारों को मूर्खतापूर्ण समझते हैं; किन्तु उनमें भी ऐसे विचार वाले लोग हैं जिनका कहना है कि आपसी झगड़ों को सुलह और समझौते से निपटाना चाहिए। इन लोगों का ख़याल है कि चूंकि मनुष्य विचार वादी जीव है इसलिए उसे तर्क के द्वारा समझाया जा सकता है और तर्क ही को आपसी झगड़ों में समझौते का आधार बनाना चाहिए।

मनुष्य की तर्क-बुद्धि युद्ध के विरुद्ध बहसों की अवहेलना करती है। इस सम्बन्ध में मानो उसे तर्क से लाज लगती है। मनुष्य यह समझता है कि युद्ध की अनुपस्थिति में आपसी समझौते से झगड़ों का निपटारा हो सकता है, किन्तु युद्ध तो अनिवार्य है। "धम्मपद" ने हज़ारों वर्ष पूर्व इसी बात को बड़े सुन्दर शब्दों में समझाया था कि अन्यायी और विरोधी मांगों को न्याय के तराज़ू पर तौलना चाहिए। उसके फ़ैसलों का अंजाम सैनिकों के क़त्लेआम से नहीं बल्कि

विचारोक्त तरीक़ों से होना चाहिए। "धम्मपद" ने लिखा है—

"जो व्यक्ति बल प्रयोग से किसी मामले को तय करना चाहता है उसका आधार धर्म नहीं है। एक समझदार व्यक्ति दोनों तरफ की बातों की छान-बीन करता है। वह यह देखता है कि क्या मामला है और क्या मामला नहीं है। इस तरह वह दूसरों के मामलों को सुलझाना चाहता है। वह धर्म और न्याय से फ़ैसला करता है, बल प्रयोग से नहीं। वह समझदार व्यक्ति 'धम्म' को अपना आधार बनाता है, और वास्तव में 'धम्म' उसका आधार है।"

इस तरह बल प्रयोग और धर्म दोनों विपरीत और विरोधी गुण हैं। बल प्रयोग को आधार बनाकर लोग तर्क को छोड़ देते हैं। किन्तु तर्क द्वारा किया हुआ फ़ैसला बल प्रयोग द्वारा किये हुए फ़ैसले से कहीं अधिक न्यायोचित होता है। धर्म को इसी रूप में भारतवासियों ने समझा था कि शान्ति और अहिंसा ही धर्म का आधार है। आत्म-कर्त्तव्य, नैतिक आवश्यकता, अनुशासन, और संयम, ये सब बातें धर्म का अंग थीं और ये सब पाशविक बल का विरोध करती हैं। 'धम्मपद' इन्हीं गुणों का समर्थन करता है और इन्हीं की प्रशंसा करता है। पालि धर्म ग्रन्थ स्पष्ट रूप से युद्ध और लड़ाई के विरुद्ध अपनी राय प्रकट करते हैं। गीता के अनुसार लड़ना सैनिकों का आवश्यक कर्तव्य था क्योंकि वह उनका धर्म है। उनके कर्मों ने उन्हें वह अवसर दिया है। मैं समझती हूं कि पालि ग्रन्थों में यह सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया गया है। हालांकि शुरू-शुरू में बौद्ध विचार धारा ने युद्ध को एक दूषित घटना के रूप में स्वीकार कर लिया था। बौद्ध ग्रन्थों में किसी राजा को इसलिए बुरा नहीं कहा गया कि उसने सेना में एक ऐसे युवक को भर्ती किया जो धनुष विद्या का विशारद है। समझा यह जाता था कि राज करना और युद्ध करना, दोनों अपने अपने कर्मों का फल हैं, इसलिए लोग लड़ें 'किन्तु उन्हें अपने इस जन्म के कर्मों का नतीजा भी भोगना पड़ेगा।'

इसके विपरीत 'विनय' के अनुसार जब कुछ सैनिकों ने भिक्खु बनने की प्रार्थना की तो उन्हें अपना सैनिक कर्म छोड़ने के लिए बुरा नहीं कहा गया, बल्कि बौद्ध संघ इन नये अनुयाइयों को पाकर प्रसन्न ही हुआ। दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि सैनिकों ने इस बात को नामुमकिन नहीं समझा कि वे लड़ाई के पेशे को छोड़कर शान्ति और अहिंसा का जीवन स्वीकार करें। उनका विश्वास था कि भिक्खु बन जाने के बाद वे बुराई से बचेंगे और भलाई करेंगे। दूसरे शब्दों में उन्होंने सैनिक कर्म से भिक्खु कर्म को उत्तम समझा।

फिर भी कई बौद्ध ग्रन्थ इस बात की मनाही करते हैं कि सैनिकों को भिक्खु संघ में भरती न किया जाय। यह प्रतिबन्ध शायद भय के कारण ही लगाया गया हो। कहा जाता है कि राजा बिम्बिसार के सेनापति ने यह आज्ञा दी थी कि जो बौद्ध-गुरू राज भृत्यों को बौद्ध-संघ में दीक्षित करेगा उसका सिर काट डाला जाय। जो दूसरे लोग उस दीक्षा समारंभ में शामिल हों उनकी जीभ काट डाली जाय और जो लोग किसी तरह की उसमें मदद पहुँचाएं उनकी आधी पसलियाँ तोड़ डाली जाय।

यह सचमुच एक कौतूहल की बात है कि सेनापति और राजमंत्री ने क्यों इस बात को ज़रूरी समझा कि सैनिकों को बौद्ध बनाने वाले गुरुओं को इतनी कड़ी सज़ा दी जाय? क्या उनके दिमाग़ में यह बात थी कि सैनिकों का धर्म युद्ध करना है और यदि कोई व्यक्ति सैनिकों को उनके धर्म-पथ से हटाता है तो वह बुराई करता है। सम्भव है यह उनको न मालूम हो कि भिक्खुओं को अपने जीवन में कितना भयंकर नैतिक युद्ध करना पड़ता है। शासक वर्ग ने सोचा हो कि सैनिकों को भिक्खु बनने के लिए प्रोत्साहन देने का यह अर्थ है कि सैनिक लोग कठोर जीवन को छोड़कर आसान ज़िन्दगी बिताने के लोभ में आजायेंगे और इस तरह देश का सैनिक संगठन नष्ट हो जायगा।

'विनय' सैनिकों ने सोचा होगा कि युद्ध में कोई लाभ नहीं हो सकता। ऐसे सैनिक जिनकी जीविका ही युद्ध से चलती थी "सयुत्त" के अनुसार उन्होंने गौतम की शिक्षा स्वीकार की। ऐसे युद्ध-जीवी सैनिक कहते हैं कि उनके पूर्वजों में जो किम्वदन्तियाँ प्रचलित थीं उसमे उन्हें बड़ा धोखा हुआ। उन किम्वदन्तियों के अनुसार ऐसे सैनिक जो युद्ध-क्षेत्र में मारे जाते हैं देवताओं द्वारा स्वर्ग के ले जाये जाते हैं।

"विनय और "सयुत्त" सैनिकों की ये कहानिया जो सैनिक पेशे के छोड़कर बौद्ध भिक्खु बने उस ज़माने की परिस्थिति पर काफी रोशनी डालती हैं। वह सैनिक पेशे की बुराई, उसके पाप, उसकी दीनता, उसकी क्रूरता और इस जन्म के बाद उसकी सजा और जज़ा पर उस जमाने के जनमत के स्पष्ट करती हैं। छठवीं सदी ईसा पूर्व में जीवन के एक ही धारा के रूप में देखा और समझा जाता था, ऐसी जीवन धारा जो जन्म जन्मान्तर तक चलती है।

"मज्झिम" मे लिखा है कि कर्मों के कारण ही ये युद्ध होते हैं और सैनिक वेश में सज-धज कर युद्ध के लिये दोनों ओर की सेनायें इकट्ठा होती हैं (मज्झिम १,८६)। पालि ग्रन्थों में 'काम' शब्द भौतिक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। उसमे तात्पर्य इन्द्रियलिप्सा और पाशविक वासनाओं की पूर्ति से है। बौद्ध ग्रन्थों में इस 'काम' के सारी बुराइयों की जड़ बताया गया है और उसके विरुद्ध उपासकों के बार-बार आगाह किया गया है। यदि 'काम' पर विजय प्राप्त कर ली जाय तो युद्ध और लड़ाइया असम्भव हो जाय। काम ही युद्ध की भावना पैदा करता है। यदि उसे मूल रूप में नष्ट कर दिया जाय तो युद्ध कहा से हो! यही 'मज्झिम' का तात्पर्य है। ब्रह्मचारी के तो 'काम' के पास फटकने न देना चाहिये।

युद्ध 'काम' का ही परिणाम है। ब्रह्मचारी जो 'काम' के परित्याग का संकल्प करते हैं, अपने सक्रिय प्रयत्नों से युद्ध के असम्भव बना सकते हैं।

जहां तक भिक्खुओं का सम्बन्ध है उनके लिये युद्ध से सम्बन्ध रखने वाले तीन नियम बनाये गये हैं। युद्ध की सच्चाई से किसी भी बौद्ध ग्रन्थ में इनकार नहीं किया गया है। युद्ध के दुनियावी ज़िन्दगी का एक दूषित अंग माना गया है और उसी के रूप में उसे देखा गया है। इन नियमों में एक महत्वपूर्ण नियम यह है कि किसी भिक्खु के युद्ध में रत सेनाओं के जाकर नहीं देखना चाहिये। इसमें कुछ अपवाद भी रखे गये हैं। बीमार रिश्तेदार सैनिक के यदि कोई भिक्खु देखने जाना चाहता है तो जा सकता है। दूसरा नियम है कि यदि किसी भिक्खु के किसी अति आवश्यक काम से किसी सेना के पड़ाव मे जाना पड़े तो उसे वहा तीन रात से अधिक नहीं ठहरना चाहिए। तीसरा नियम यह है कि यदि किसी भिक्खु के किसी सैनिक पड़ाव में तीन रात ठहरना पड़ जाय तो उसे सैनिकों की चादमारी, ड्रिल, फौजों का इकट्ठा होना, सलामी और झूठी लड़ाई नहीं देखना चाहिये।

उस जमाने मे सेना के ४ हिस्से होते थे—हाथी-सेना, घुड़-सेना, रथ-सेना और पैदल। हाथी-सेना के प्रत्येक दल में १२ आदमी होते थे, घुड़-सेना के प्रत्येक दल में ३ आदमी, रथ-सेना के प्रत्येक दल मे ४ आदमी और पैदल सैनिक तीर-कमान लेकर लड़ते थे (विनय, ४,१०५,१०७ ८)। जातकों में सेना के इस चौदली सगठन का अकसर वर्णन आता है, किन्तु "विनय" में इस सगठन के विस्तृत वर्णन से यह बात साबित होती है कि यह वर्णन इसलिये आवश्यक था जिसमें कि भिक्खुओं को किसी तरह का कोई सशय न रह जाय कि वे अनजान में सैनिक पड़ाव मे ठहर गये। वे इससे सैनिकों के पड़ाव में जाने के पाप से बच सकते थे। भिक्खुओं का आचार व्यवहार गृहस्थों से भिन्न रखा गया है। उनके लिये ऐसे नियम बनाये गये हैं जिसमें वे जाने अनजाने कोई ऐसा बर्त्ताव न कर बैठें जो भिक्खुओं के

योग्य न हो। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार जिस भिक्खु को सेना के सम्पर्क में किसी कारण आना पड़ता है वह उसके पूर्व जन्मों के कर्मों का दुष्परिणाम है और इस जन्म में उसे ऐसे पाप कर्म से बचना चाहिये।

बौद्ध भिक्खु किसी भी शर्त पर सैनिक नहीं बन सकते थे। इस दृष्टि से वे मध्य युग के पश्चिमी ईसाई पादरियों से भिन्न थे, जो ईसाई पादरी हथियार उठा कर लड़ने में किसी तरह का दोष नहीं देखते थे। बौद्ध भिक्खुओं के एक समुदाय के रूप में युद्ध से अलग रहने का उस ज़माने के विचारों पर ख़ासा असर पड़ा था। इससे शान्ति और अहिंसा के पक्ष का काफ़ी समर्थन हुआ। बौद्ध भिक्खुओं के लिये किसी जीव की हत्या तो दूर रही किसी को चोट पहुँचाने तक को बहुत बड़ा पाप समझा गया है।

इस तरह आज से ढाई हज़ार वर्ष पहले युद्ध का पागलपन, क्रूरता और अन्याय कह कर, न केवल वर्णन ही किया गया है, बल्कि उसका व्यावहारिक विरोध किया गया है। युद्ध को निरर्थक बताया गया है। आपसी झगड़ों को युद्ध से नहीं बल्कि शान्ति से सुलझाने की बात कही गयी है। "संयुत्त और धम्मपद" में इसके समर्थन में अनेक वाक्य भरे पड़े हैं। धर्म को ही आपसी समझौते का आधार बनाने के लिये ज़ोर दिया गया है। उस प्राचीन ज़माने में भगवान बुद्ध ने अपने युद्ध विरोधी कार्यक्रम से मानवता में शान्ति स्थापित करने का एक महान प्रयत्न किया था। वह प्रयत्न आज पुराना हो चुका, वह शिक्षा पुरानी हो चुकी; मगर इस संतप्त और पीड़ित मानव समाज के लिये उसे फिर नया करने की ज़रूरत है और उस शिक्षा को फिर से दृढ़ता के साथ दुहराने की ज़रूरत है।

बुद्ध-वाणी

तो क्या मानता है सोण! जब तू गृहस्थ था तब वीणा बजाने में निपुण था?

हां भन्ते!

तो क्या मानता है सोण! जब तेरी वीणा के तार अत्यधिक खिंचे कसे होते थे तब वह सुरीली रहती थी, बजाने के उपयुक्त होती थी?

नहीं भन्ते!

तो क्या मानता है सोण! जब तेरी वीणा के तार अत्यधिक ढीले शिथिल होते थे तब वह सुरीली रहती थी, बजाने के उपयुक्त होती थी?

नहीं भन्ते!

तो क्या मानता है सोण! जब तेरी वीणा के तार न अत्यधिक खिंचे कसे होते थे और न अत्यधिक ढीले तथा शिथिल तब तेरी वीणा सुरीली रहती थी, बजाने के उपयुक्त होती थी?

हां भन्ते!

इसी भांति सोण! अत्यधिक क्रिया परायणता औद्धत्य उत्पन्न कर देती है और अत्यधिक शिथिलता आलस्य या जड़ता को जन्म देती है। अतः क्रिया में समता ग्रहण कर, इन्द्रियों के सम्बन्ध में समता ग्रहण कर और वहां कारण ग्रहण कर।

अच्छा भन्ते! कह कर आयुष्मान सोण ने भगवान को उत्तर दिया।

चर्म स्कन्धक १।२ से (विनयपिटक)

महान बौद्ध दार्शनिक : अश्वघोष

डाक्टर बिमलाचरण लाहा एम. ए., बी एल., पी-एच डी

अश्वघोष महायान सिद्धान्त के प्रसिद्ध प्रचारक थे। वे सौतान्त्रिक[1] मत के प्रसिद्ध जन्मदाता कुमारलब्ध, आर्यदेव और नागार्जुन के समकालीन थे। उनके पिता का नाम सुवर्णाक्षी था। उनकी जन्म-भूमि साकेत थी। वे जन्म से ब्राह्मण थे, किन्तु बाद में महायान मत के अनुयायी हो गये। धीरे धीरे बौद्ध धर्म के वे विशेषज्ञ बन गये। वे न केवल बौद्ध धर्म के प्रचारक ही थे वरन् एक महान दार्शनिक भी थे। उनके समय के लोग उनकी बेहद श्रद्धा करते थे। सम्राट कनिष्क उनसे आध्यात्मिक बातों में सलाह मशाविरा लिया करते थे। उन्होंने कई विचार पूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। बौद्ध विचारकों में वे ठीक ही अग्रणी गिने जाते हैं। बौद्धों के वे महान और योग्य नेता थे। महायान सम्प्रदाय के वे सब से पहले प्रचारक और उपदेष्टा थे। अपने समय के अध्यात्मिक भारत पर उन्होंने बड़ा जबर्दस्त असर डाला। तिब्बत के मशहूर इतिहासज्ञ लामा तारानाथ ठीक ही कहते हैं कि अश्वघोष का अपने समय की अध्यात्मिक दुनिया पर उतना ही ज़बर्दस्त असर था, जितना कि सम्राट कनिष्क का राजनैतिक दुनिया पर[2]। तारानाथ के अनुसार अश्वघोष संग गुह्य नामक धनी ब्राह्मण के बेटे थे, जिन्होंने खोरता के एक व्यापारी की बेटी से विवाह किया। नव युवक अश्वघोष सभी विद्याओं में पारगत थे। तिरहुत कामरूप आदि अनेक स्थानों में जाकर उन्होंने अद्भुत तर्क द्वारा अपने बौद्ध विरोधियों को पराजित किया था।

उनके जन्म स्थान को लेकर अनेक रायें हैं। कुछ लोगों के अनुसार वह बनारस के रहने वाले थे, कुछ लोग उनको दक्षिण भारत का बाशिन्दा कहते हैं, कुछ लोग श्रावस्ती को उनका जन्म स्थान बताते हैं। नागार्जुन के अनुसार वे पश्चिमी भारत में पैदा हुये थे। "वसु बन्धु की जीवनी" से हमें पता चलता है कि अश्वघोष साकेत के रहने वाले थे और उसी जीवनी के अनुसार कात्यायनी पुत्र ने अश्वघोष को काबुल बुलाया था ताकि उनसे अभिधर्म के आठ भागों की टीका—महा विभाष—के संकलन में मदद ले सके।[3] तिब्बती और चीनी ग्रन्थों के अनुसार अश्वघोष अपने शुरू के जीवन में ब्राह्मण वाद के जबर्दस्त समर्थकों में से थे। तारानाथ के अनुसार नागार्जुन के प्रसिद्ध शिष्य आर्यदेव ने अपनी तार्किक युक्तियों और करामात से अश्वघोष को पराजित किया। अश्वघोष को पार्श्व (?) के शिष्य पुण्यश ने बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। पहले वे तेजस्वी और क्रोधी स्वभाव के थे। किन्तु बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लेने के बाद उनके स्वभाव में बहुत बड़ा परिवर्तन होगया।

महायान का श्राद्धोत्पाद सूत्र उनका सब में सुन्दर दार्शनिक ग्रन्थ है। जिस समय यह ग्रन्थ लिखा गया था, उस समय महायान मत दबा छुपा पड़ा था। इस ग्रन्थ के अन्दर महायान मत की व्याख्या और उस समय के बौद्ध विचार संग्रहीत हैं। जापान के बौद्ध विहारों में महायान मत का ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिये इसी ग्रन्थ का अध्ययन किया जाता है। सबसे पहले ५३५ ई० और उसके बाद ७१० ई० में इस ग्रन्थ का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ। जिन सिद्धान्तों का इस ग्रन्थ में प्रतिपादन किया गया है, वे 'असग' द्वारा माने जाने वाले विज्ञानवाद के सिद्धान्त हैं। लङ्कावतार सूत्र के तथागतगर्भ में जो

---

१ Wassilieff, Buddhismus, P. 52 Note के अनुसार चरक अश्वघोष का समकालीन था।

२ Geschichte des Buddhismus, P. 92.

३—Aswaghosa was invited to give a literary finish to the Mahavibhasa.

शिक्षाएं हैं, वे भी इस ग्रन्थ में शामिल हैं। इस ग्रन्थ का गहरा अध्ययन इस बात को साफ़-साफ़ ज़ाहिर करता है कि उपनिषद दर्शन और सांख्य शास्त्र के साथ इसकी बहुत कुछ समानता है। हालांकि इसमें जिस विधि से बातें कही गई हैं, वह उपरोक्त ग्रन्थों से एक स्वतन्त्र विधि है। बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध में पेचीदा दलीलों के द्वारा इसमें बहस की गई है। बाज़-बाज जगह तो यह ग्रन्थ इतना दुरूह हो गया है कि लोगों की समझ में ही नहीं आता। तर्क से ऐसे गहरे नतीजों पर पहुँचा गया है, जो बौद्धिक चमत्कार के ही समान हैं, किन्तु इस ग्रन्थ का बहुत बड़ा महत्व है। महायान मत के मौलिक विचारों को एक-व्यापक रूप देने का यह पहला प्रयत्न है। महायान विचार धाराओं पर यह सब में बड़ा प्रामाणिक ग्रन्थ समझा जाता है। बौद्ध धर्म के इस रूप को ठीक ठीक समझने के लिये इस ग्रन्थ का पढ़ना बहुत ज़रूरी है। इस ग्रन्थ में निम्नलिखित विषयों पर चर्चा की गई है—

(क) आत्मा की एकरूपता, एकता, वास्तविकता और उसका पूर्ण नाश आदि,

(ख) आत्मा का जीवन और मरण के साथ सम्बन्ध,

(ग) कर्म और ज्ञान; कर्म के सम्बन्ध में ज़िक्र करते हुये मनुष्य के कर्मों और उन कर्मों के फलस्वरूप मिलने वाले दण्ड—मोह, ममता, अज्ञान आदि।

(घ) अहमन्यता, आत्म ज्ञान, जीवन और मृत्यु, उसके कारण और स्थिति, ज्ञान का आविष्कार, व्यष्टि और समष्टि, विविध प्रकार के कार्य, जैसे धर्म-काम, सम्भोग-काम, प्रज्ञा-काम आदि।

अश्वघोष, अपने इस ग्रन्थ में उन भ्रामक विचारों का खण्डन करते हैं, जिनके अनुसार आत्मा को व्यक्तिगत माना जाता है। इस ग्रन्थ में उचित मार्ग और उसके अनुसरण पर सब की समझ में आने लायक बहस की गई है। पारामिता (पूर्णता) को भी समझाया गया है। फिर श्रद्धा पर भी विस्तार में बहस की गई है। ध्यान और समाधि के भी समस्त पहलुओं पर विचार किया गया है। वास्तव में तथागत के धर्म को समझने और महायान की आध्यात्मिक विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिये पाठक को इस ग्रन्थ से अनुपम सहायता मिल सकती है।

दर्शन पर एक दूसरा ग्रन्थ है 'सूत्रालंकार'। कहा जाता है कि यह ग्रन्थ भी अश्वघोष का लिखा हुआ है। 'असंग' द्वारा लिखे गये सूत्रालंकार से यह एक भिन्न ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ अश्वघोष का ही लिखा हुआ है या नहीं इस पर भी विरोधी रायें हैं, क्योंकि इस ग्रन्थ का विषय-क्रम 'श्राद्धोत्पाद सूत्र' से बहुत कुछ मिलता जुलता है। और अभी इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।[१]

१ Indian Culture, Vol III, PP 133-35

बुद्ध-वाणी

तथागत ने कहा भिक्षुओ! जैसे कोई मलिन वस्त्र हो और रंगरेज उसे ले जाकर किसी रंग में डुबादे—चाहे नीले में, चाहे पीले में चाहे लाल में और चाहे मजीठी में पर वह बदरंग ही रहेगा, मलिन वर्ण ही रहेगा। यह किस कारण? वस्त्र की मलिनता के कारण। ऐसे ही भिक्षुओ! चित्त के मलिन होने पर दुर्गति अनिवार्य है।

जैसे भिक्षुओ! उज्वल स्वच्छ वस्त्र हो और रंगरेज़ उसे ले जाकर किसी रंग में डाले चाहे नीले में, चाहे पीले में, चाहे लाल में और चाहे मजीठी में वह शुद्ध वर्ण और सुरंग ही निकलेगा। यह किस कारण? वस्त्र के स्वच्छ होने के कारण। ऐसे ही भिक्षुओ! चित्त के निर्मल होने पर सुगति अनिवार्य है।

वत्थ सुत्तन्त से (मज्झिम निकाय)

बुद्ध का धर्म-राज्य

स्वामी धर्मतीर्थ सभापति, हिन्दू मिशनरी सोसायटी, लाहौर

संसार में धर्म का राज्य क़ायम करने के लिए अनेक महान् व्यक्तियों ने अवतार लिया है। किन्तु उनमें से जिन लोगों को सफलता मिली उन महान् आत्माओं में बुद्ध का स्थान सबसे बड़ा है। बुद्ध का विश्व गुरुओं में प्रमुख स्थान है। उनके धर्म राज्य की स्थापना दुनिया के इतिहास में सबसे आश्चर्य-जनक घटना है। इस ढाई हजार वर्ष के दौर में इस पृथ्वी पर ईश्वरीय राज्य क़ायम करने के मनुष्य ने जितने भी प्रयत्न किये बुद्ध का प्रयत्न सबमें सफल प्रयत्न है।

उन्होंने शान्ति के सैनिकों के पहले जत्थे को जो उपदेश और आदेश दिया था वह कानों में अब भी गूंज रहा है। कभी न समाप्त होने वाले दुःख और क्षणिक सुख के ऊपर अमर आत्मा के विजय की जो अनन्त पुकार उन्होंने सुनी, उस तक पहुँचने के लिये आज भी मानव-आत्मा व्याकुल और बेचैन है। बुद्ध ने भिक्खुओं से कहा था—

"जाओ, ऐ भिक्खुओ! जाओ और अनेकों के कल्याण के लिये, अनेकों के लाभ के लिये संसार की भलाई के लिये, देवों और मनुष्यों के लाभ, सुख और कल्याण के लिये जाओ, चारों तरफ जाओ।"

कितना सुन्दर उपदेश है! अपने कल्याण के लिये नहीं, इस दुःख पूर्ण जगत में मोक्ष पाकर अमरत्व लाभ करके इन्द्र और देवों से भी अधिक सुख और ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये नहीं, बल्कि देवताओं और मनुष्यों के कल्याण के लिये और विराट संसार में प्रेम और धर्म का राज्य क़ायम करने के लिये वे भिक्खुओं को कर्म का आदेश देते हैं। संसार के किसी भी सम्राट ने लोगों के सामने क्या इससे अधिक महान कार्यक्रम कभी रखा है! क्या अपनी प्रजा के लिये इससे महान सन्देश कभी किसी महान् सम्राट ने दिया है?

साम्राज्य उभरते हैं और गिरते हैं। वे लहरों की तरह उठते हैं और मानव सागर में ही विलीन हो जाते हैं; किन्तु हर दौर में यही तान गूंजती रहती है। मानव सागर की हर तरंग अपने अन्दर, मानव कल्याण की महान भावना छिपाये रहती है। मानव प्रेम की इस भावना को हर प्राणी अपने अन्दर अनुभव कर सकता है। अमर भावनायें हृदय के अन्दर प्रतिष्ठित हैं। बुद्ध ने आत्मा की यही करुण ध्वनि सुनी और उसे आशा की रागिनी में परिवर्तित किया। उन्होंने मानव आत्मा की लहरों को जाग्रत किया और धर्म के द्वारा प्रेम की महान् विजयों को सम्भव बनाया। उन्होंने अपने इस प्रेम राज्य की बुनियादें नाशवान रेत पर नहीं क़ायम कीं, वरन् मानवता की अमर भावना के ऊपर क़ायम कीं। हर व्यक्ति इसी के द्वारा आत्म प्राप्ति के प्रयत्न में लगा रहता है। यही क्रम सभी युगों और सभी जगहों में चलता रहता है। इसी तत्व के ज्ञान में बुद्ध की महानता और रहस्य छिपा हुआ है और इसी में उनके धर्म-राज्य की दृढ़ता और अमरता निहित है।

बुद्ध एक ऐसे अमर सम्राट की तरह हैं जो हर मानव आत्मा के ऊपर शासन करता है। वह प्रकाश की तरह प्रत्येक हृदय को ज्योतिर्मय बनाते हैं। वह प्रेम की तरह हर व्यक्ति के अन्दर जीवन प्रदान करते हैं और हर जीवात्मा के अन्दर अनन्त सत्य को विकसित करते हैं। ८ नियमों का पालन करने से जब हृदय समस्त संघर्षों और कामनाओं से मुक्त हो जाता है तब आत्मा के अन्दर शान्ति क़ायम होती है और तब निर्वाण की प्राप्ति होती है। धर्म के नियमों के पालन से हृदय के अन्दर कामनाओं का तूफान शान्त हो जाता है। जब ज्योति प्रकाशमान ज्वाला के रूप में चारों तरफ सुख का प्रकाश फैला देती है, जब स्वार्थ और घृणा और मृत्यु का भय

धर्म के अनुशासन से जीत लिया जाता है, जब व्यक्ति का साधारण जीवन विराट बनता है और वह प्राणी मात्र के साथ एकता का अनुभव करता है, जब सत्य-विश्वास, सत्य-भावना और सत्य-विचार का सच्चा ज्ञान साहित्य में उदय होता है और जब इस दुनिया के बदलते हुए कर्मों के अन्दर मनुष्य सत्य की गहराई तक पहुँच जाता है, जब उसकी कामनाएँ और वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं और जब आत्मा अपने सच्चे रूप मे प्रगट होती है, तब उपासक बुद्ध की स्थिति को प्राप्त होता है।

बुद्ध के मार्ग पर चलने के लिये धर्म के जो नियम हैं और जिस वस्तु को तय करना पड़ता है वह एक ऐसी सीढी की तरह है जो मनुष्य के जीवन के सर्वोच्च शिखर पर ले जाने की क्षमता रखती है। एक सीढी के बाद दूसरी सीढी, एक स्थिति के बाद दूसरी स्थिति, अज्ञान से लेकर प्रकाशमान क्षेत्र तक सच्चे भक्त उन्नति की सोपान पर चढते जाते हैं और निर्वाण को प्राप्त करते हैं। यह प्रयत्न मनुष्य के अपने हृदय में संघर्ष से शुरू होकर प्रेम और शान्ति का साक्षात करके समाप्त होता है। पृथ्वी के निकृष्ट से निकृष्ट जीव प्रयत्न करने पर परमपद को प्राप्त होते हैं। इस पथ में किसी के साथ अन्याय नहीं होता, इस पथ में कोई अनियमितता नहीं है, इसमें किसी के लिये नाश का कोई रास्ता नहीं है, बल्कि हरएक के लिये कल्याण और निर्वाण का रास्ता है। बुद्धके पथ में असफलता का कोई स्थान ही नहीं। वह प्रत्येक व्यक्ति को विजय और शान्ति की ओर ले जाता है।

यदि बुद्ध सम्राट हैं और धर्म उनका क़ायदा-क़ानून है, तब उनका राज्य कहां है? क्या वह बादलों में छिपा हुआ है? या ऐसी अज्ञात दुनिया में जिसकी प्रशंसा के गीत ऋषियों और मुनियों ने गाये हैं? क्या वह स्वप्न राज्य में है, जिसकी चर्चा पुरातन दार्शनिकों ने की है? नहीं, वह इनमे से कहीं नहीं है, बल्कि इसी पार्थिव जीवन में है। उस व्यक्ति के जीवन में जिसमें जिज्ञासा है और जो धर्म पथ पर चलता है। बुद्ध के धर्मराज्य की कोई सीमायें नहीं हैं। उनके धर्मराज्य में मन्दिर गिरजा, पुरोहित, पादरी किसी के प्रति भक्ति दिखाने की ज़रूरत नहीं है। उनकी भक्ति का द्वार प्रत्येक सच्चे आदमी के लिये खुला हुआ है। उनके पथ में सभी यात्रियों का प्रवेश हो सकता है। बौद्ध संघ कोई नाशवान प्राणियों की जगह नहीं है, बल्कि विश्वासपात्र आदमियों का कर्मक्षेत्र है। इस कर्म क्षेत्र पर अग्रसर होते हैं वे धार्मिक स्त्री और पुरुष जिनके जीवन का उद्देश्य प्रेम का प्रचार करना है, दूसरों की सेवा करना है और जो अपने चारों तरफ़ के प्राणियों की सेवा में सच्चा सुख और प्रसन्नता अनुभव करते हैं।

बुद्ध-वाणी

'क्या गौतम! स्नानार्थ बाहुका नदी चलेंगे? ब्राह्मण! बाहुका नदी से क्या काम? बाहुका नदी क्या करेगी?''हे गौतम! बाहुका नदी लोक में मान्य है, बहुत से व्यक्ति उसे पवित्र मानते हैं, बहुत से उसमें स्वकृत पापों को बहाते हैं'। तब भगवान ने सुन्दरिक भारद्वाज ब्राह्मण से गाथाओं में कहा—'बाहुक, अधिकक्क गया और सुन्दरिका में, सरस्वती प्रयाग तथा बाहुमती में मलिन कर्मवाला मूर्ख चाहे प्रतिदिन स्नान करे पर पवित्र नहीं होगा। वे पाप कर्म वाले मूढ़ नर को शुद्ध नहीं कर सकते। शुद्ध के लिए सदा ही फल्गु है शुद्ध के लिए सदा ही व्रत है। शुद्ध, और पवित्र कर्म वाले के व्रत सदा ही पूर्ण होते रहते हैं। ब्राह्मण! यहीं नहा, सारे प्राणियों का कल्याण कर। यदि तू मिथ्या नहीं बोलता, यदि हिंसा नहीं करता, यदि चोरी नहीं करता, यदि श्रद्धालु, और मात्सर्यरहित है तो गया जाकर क्या करेगा, क्षुद्र जलाशय भी तेरे लिए गया है।'

वत्थ सुत्तन्त मे (मज्झिम निकाय)

बर्मा में बौद्ध संस्कृति

श्री सुमन वात्स्यायन

विश्व इतिहास में भारतीय संस्कृति, सभ्यता, विद्या और कला की जो अमर गाथाएं अंकित हैं, उनका सबसे अधिक श्रेय धर्मराज अशोक को है। उसने अपने एक शिलालेख में कहा है, "धर्म-विजय को ही देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी (अशोक) श्रेष्ठतम विजय मानते हैं।" इसी सिद्धान्त के अनुसार धर्म-राज अशोक ने राज्य जीतने की अपेक्षा मनुष्य का हृदय जीतना ही उत्तम समझा। कलिंग की लड़ाई में, "डेढ़ लाख मनुष्य कैद किये गये, एक लाख मनुष्य मारे गये और इससे कई गुना आदमी महा-मारी आदि से मरे।"

कलिंग विजय ने अशोक के हृदय को बिलकुल बदल दिया। उसके हृदय मे घोर प्रतिक्रिया हुई। किन्तु, इसके बाद कलिंग देश विजय होने पर, देव-ताओं के प्रिय का धर्म-पालन, धर्म-कर्म और धर्मा-नुशासन अच्छी तरह हुआ है।" अशोक का यह कथन उसके बाद के जीवन के लिये बहुत ही ठीक है। उसने कलिंग-विजय के पश्चात् ही सच्ची विजय की और ऐसी विजय जिसके चिह्न हम आज भी सारे विश्व में देखते हैं।

सम्राट अशोक ने न केवल भारतवर्ष में ही अपनी धर्म-विजय की, बल्कि तत्कालीन परिचित दूसरे देशों में भी अपने धर्म-प्रचारक भेजे। एक शिलालेख में वह कहता है, "यह धर्म-विजय देव-ताओं के प्रिय ने यहा अपने राज्य में तथा एशिया में भी सैकड़ों मील दूर······सब जगह लोग देवताओं के प्रिय का धर्मानुशासन अनुसरण करते हैं। जहां देवताओं के प्रिय के (धर्म) दूत नहीं पहुंच सकते वहा भी लोग देवताओं के प्रिय का धर्माचरण, धर्मविधान और धर्मानुशासन सुन कर धर्म के अनु-सार आचरण करते हैं।" सम्राट अशोक के इस कथन से यह निश्चित हो जाता है कि बर्मा में भी उसने अपने धर्म-प्रचारक भेजे थे।

बर्मा भारत के समीप होते हुए भी, समुद्र तथा पहाड़ी दलदलों के कारण भारत से पृथक रहा है। बर्मी लोग रक्त से मंगोल हैं, फिर भी जन साधारण का विश्वास है कि बर्मी जाति भगवान् बुद्ध के पवित्र शाक्य वंशीय क्षत्रिय हैं। अराकान और चटगाव, खासकर पार्वत्य चटगाव और आसाम की पहाड़ी जातियों मे निश्चय ही रक्त की काफी मेल-मिलावट हो गई है। पर किसी भी बर्मी को देखते ही हम आसानी से उसमें आर्यरक्त का अभाव जान सकते हैं। चपटी नाक, छोटी-छोटी दबी आखें और पीला सा रंग उन्हें सर्वथा हमसे अलग कर देता है।

प्राचीन काल में बर्मा से भारत का व्यापार-सम्बन्ध भले रहा हो, किन्तु अशोक के बाद ही इतिहास मे हम बर्मा का नाम सुनते हैं। अशोक ने पाटलिपुत्र में बौद्धों की तृतीय संगीति (सभा) बुलाई थी। पालि बौद्ध साहित्य के अनुसार तृतीय संगीति में, "संघ ने एकत्र हो उपोसथ किया। उस समागम में मोग्गलिपुत्त तिस्स स्थविरने······धर्म और विनय का संगायन किया। इस प्रकार से धर्म और विनय का संगायन कर, सभी शासन मलों (धर्म की मिलावट) को सोध कर (विक्रम पूर्व १९१ में) तृतीय संगीति समाप्त की।······यह संगीति नौ मास में समाप्त हुई। ······मोग्गलिपुत्र स्थविर ने इस तृतीय संगीति को समाप्त कर सोचा—कैसे प्रत्यन्त (सीमान्त) देशों में शासन (धर्म) सुप्रतिष्ठित होगा। तब उन्होंने (निम्न) भिक्षुओं पर (धर्म-प्रचार का) भार देकर (निम्न देशों) में भेजा—

१—मज्झन्तिक थेर को कश्मीर और गान्धार राष्ट्र में।

२—महादेव थेर को महिसक मण्डल में।

३—रक्खित थेर के वनवासी में।

४—यवनक धम्मरक्खित थेर को अपरान्त में।

५—महाधम्मरक्खित थेर को महाराष्ट्र में।

६—महारक्खित थेर को यूनानी राजाओं के देश में।

७—मज्झिम थेर को हिमालय प्रदेश में।

८—सोएक और उत्तर थेर को सुवर्णभूमि (बर्मा) में।

९—महिन्द थेर को इट्ठिय, उत्तिय, संबल, भद्दसाल और सुमन सामणेर के साथ ताम्रपर्णी (सिंहल =लंका) द्वीप भेजा।"

ऊपर हम देख रहे हैं कि आठवां धार्मिक-मिशन बर्मा गया था। बर्मा में बौद्ध धर्म के प्रचार के सम्बन्ध में अनेक जनश्रुतियां प्रसिद्ध हैं। यहां हम महावंश के आधार पर कुछ लिखेंगे।

अर्हत (जीवन मुक्त) स्थविरों के बर्मा पहुँचने के पूर्व, बर्मा के राजघराने की सभी सन्तानों को यक्ष खा जाते थे। राजा की विराट सेना भी यक्षों को हरा नहीं सकी। सारी प्रजा में कुहराम मचा हुआ था। यक्ष कब, कहां से आते हैं और कैसे यह नृशंस कार्य करते हैं यह कोई नहीं जान पाता था।

एक दिन आकाश मार्ग से राजधानी की ओर जाते हुए दो अर्हतों को लोगों ने देखा। उन्होंने समझा यही वे खूनी यक्ष हैं जिन्होंने सारे राज-परिवार को नष्ट किया है। सभी लोग अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित हो उन अर्हतों को यक्ष समझ हमला करने के लिए तैयार हो गये। उनके नीचे उतरते ही चारों ओर से हमला शुरू हो गया, किन्तु शान्ति और प्रेम के सन्देश-वाहक अर्हत द्वय शान्तचित्त बने रहे। लोग उनकी सहनशीलता देख हैरान हो गये। तब अर्हतों ने उत्तेजित जनता को शान्त करते हुए कहा, "हम यक्ष नहीं हैं। हम शीलों (सदाचार) के पालन करने वाले हैं। हमसे डरने की ज़रूरत नहीं। हम तुम्हारे कल्याणार्थ आये हैं, विनाशार्थ नहीं। तुम शासन (बौद्ध धर्म) में दृढ़ हो, अपनी सारी विपत्तियों से मुक्त हो ओ—यही हमारी कामना है और हम इसीलिये आये हैं।"

ठीक इसी समय कुछ यक्ष राजपुत्रों को लेने आए। उनके भयावने शरीर को देख कर सब लोग जहां तहां भाग खड़े हुए। किन्तु अपने ऋद्धिबल से दोनों अर्हत स्थविरों ने यक्षों को सदा के लिए बर्मा से बाहर निकाल दिया। यक्षों के भय से मुक्त राजा-प्रजा ने बड़े आनन्द और प्रसन्नता से अर्हतों का स्वागत किया। उस समय उन अर्हतों ने उपस्थित जनता को दीघनिकाय के ब्रह्मजाल सूत्र का उपदेश दिया। उनका उपदेश सुन कर ६०,००० स्त्री-पुरुष स्रोतापन्न, सकृदागामी और अनागामी* हो गए। ३,५०० कुलपुत्र भिक्षु और १,५०० कुलपुत्रियां भिक्षुणी बनीं।

ऊपर की कथा निस्सन्देह अत्युक्तिपूर्ण है; पर इससे यह सिद्ध है कि सोण और उत्तर नाम के दो महास्थविर बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ बर्मा गए थे। कथाएँ तो सिर्फ उनकी महत्ता बढ़ाने के लिए ही पीछे से जोड़ दी गई मालूम होती हैं।

सम्राट अशोक के पूर्व ही बौद्ध धर्म अनेक सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था। ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि बर्मा में सभी सम्प्रदायों का प्रवेश हुआ था, किन्तु इतना निश्चय है कि कालान्तर में बर्मा में भी बौद्ध धर्म का मानवी स्वरूप दृढ़ नहीं रह सका और भारत की तरह वहाँ भी महायान, तन्त्रयान, सहजयान आदि अनेक यानों (सम्प्रदायों) का प्रभुत्व हुआ। वर्तमान समय में बर्मा में केवल स्थविरवाद (=हीनयान) का ही ज़ोर है। कुछ चीनी मठ और भिक्षु हैं जो महायान सम्प्रदाय के हैं।

बर्मा का क्षेत्रफल २,६२ ००० वर्गमील है और आबादी है १,५०,००,०००। इनमें शुद्ध बर्मी ९५,००,००० हैं, इयडो मंगोल जाति के १४,००,००० हैं, शान १०,००,००० हैं और हिन्दुस्तानी तथा दूसरे लोग १०,००,००० हैं। यहां भी भारत ही की तरह

* निर्वाण तक पहुँचने की अवस्थाएँ।

अनेक (१४) देशी राज्य हैं, जो शान राज्य के नाम से मशहूर हैं। बर्मी जाति में आज भी लगभग ९० प्रतिशत से ऊपर बौद्ध हैं। भारत की जंगली कौमों की तरह वहाँ की भी पहाड़ी जातियों में से कुछ लोग ईसाई हो गये हैं; किन्तु इनकी संख्या बहुत कम है। कुछ भारतीय मुसलमानों ने बर्मी स्त्रियों से शादी कर ली है। इस प्रकार कुछ मुसलमान भी हो गये हैं।

उदारता, सरलता और धार्मिकता में बर्मी का नम्बर संसार में सर्व प्रथम है। यदि दिन का भोजन तैयार हो, तो सवेरे ये रात की बिना चिन्ता किये ही सब कुछ दान कर सकते हैं। दान देना, खासकर धर्म के लिए, इनके जीवन का एक अंग बन गया है। हाँ, अब अंग्रेज जाति का महान् हथियार-अधीनस्थ जातियों का नैतिक पतन करना—इन पर भी असर करता जा रहा है। शासक जाति केवल धन ही नहीं धर्म भी ले लेती है। फिर भी, कोशिश होने पर भी, बर्मी लोग अपने विशिष्ट गुणों से अभी अधिक दूर नहीं गये हैं।

ऊपर संक्षिप्त में बर्मा में बौद्ध धर्म के प्रवेश का इतिहास बताया गया है। अब हम यह बतलाने की कोशिश करेंगे कि बर्मा वासियों ने अपने जीवन में किस प्रकार बौद्ध धर्म को अपनाया है।

प्रत्येक बर्मी अपने बच्चों को छोटेपन से धार्मिक शिक्षा देना शुरू करता है। आमतौर से बच्चे का नाम करण उसकी पैदाइश के १४ १५ दिन के बाद होता है। हिन्दुस्तान की तरह ही बर्मा लोग भी पुत्र को पुत्री से अधिक महत्व देते हैं। हालाकि बर्मी-जीवन मे पुरुष से स्त्री का महत्व कहीं अधिक है। यदि यह अत्युक्ति न समझी जाय तो हम यह कह सकते हैं घरेलू जीवन में पुरुषों का बर्मा में वही स्थान है जो हमारे घर में स्त्रियों का है। फिर भी कुछ अंशों में स्त्रियों की वहाँ भी काफी उपेक्षा है। पुत्र की पैदाइश के कुछ दिनों बाद एक निश्चित तिथि पर सभी कुटुम्बी तथा सम्बन्धी आते हैं और घेरकर बैठ जाते हैं। फिर उनमें से कोई व्यक्ति पुत्र का एक नाम रखता है और सभी कोई उसे मंजूर कर लेते हैं। कारण यह है कि बच्चे के माता-पिता पहले से ही उस आदमी को अपने मनोनुकूल और राशिक्रमानुसार नाम बता दिया करते हैं। नाम करण का तरीका बहुत कुछ भारतीय राशि क्रम के ढङ्ग पर ही होता है। वर्णमाला के व्यंजन भिन्न भिन्न दिनों में बाँट दिये गये हैं और सब स्वर रविवार के लिए हैं। साधारणतया, नाम, जिस दिन बालक पैदा हुआ था, उस दिन के किसी व्यंजन से शुरू होता है। इसलिए भारतीयों की तरह वहाँ कोई पैतृक नाम नहीं होता। अगर संयोग से, जैसा कि अक्सर होता है, पिता और पुत्र एक ही दिन पैदा हुए हों तो दोनों का नाम एक या मिलते-जुलते भी हो सकते हैं। व्यंजनों और स्वरों का दिन के हिसाब से वर्गीकरण यों है—

रविवार = सब स्वर, सोमवार = क वर्ग, मंगलवार = च वर्ग, बुद्धवार = य, र, ल, व, बृहस्पतिवार = प वर्ग, शुक्रवार = स, ह, शनिवार = ट वर्ग।

लड़के की पैदाइश का समय बहुत होशियारी से याद रखा जाता है ताकि उसकी ज़ाटा (जन्म-कुण्डली) बनाई जा सके। वे इस मामले में ज्योतिषी की राय लेते हैं जो आमतौर से बर्मी ब्राह्मण समझा जाता है।

जब बच्चे कुछ बोलने और समझने लायक हो जाते हैं तब उन्हें माता-पिता बौद्ध कहानियाँ, ख़ासकर जातक की कहानियाँ, सुनाया करते हैं। इसलिए बचपन से ही उनपर बौद्ध धर्म की अमिट छाप पड़ जाती है।

बर्मा ही नहीं प्रायः सभी बौद्ध देशों में बौद्ध मठ ही विद्यापीठ का काम देते रहे हैं। किन्तु अब भारत की तरह ही बर्मा में भी अंग्रेज़ी सरकार ने गुलाम तैयार करने के लिए तथाकथित 'आधुनिक शिक्षा प्रणाली' जारी की है। फिर भी अधिकांश बर्मी बालक अपनी प्रारंभिक शिक्षा मठ में ही समाप्त करते हैं।

साधारणतया जब लड़का सात-आठ वर्ष का होता है तब उसे मठ के किसी स्कूल में भेज देते हैं। मठ के स्कूलों में बड़े-छोटे का कोई भेद नहीं रखा जाता। शिक्षा सब को मुफ़्त दी जाती है। पढ़ाई का मुख्य विषय बर्मी भाषा, पालि और लेखनकला एवं साधारण गणित, इतिहास, भूगोल आदि होते हैं। मठ की पढ़ाई से बालकों की नैतिक भावना पवित्र होती है—अपने देश, समाज और संस्कृति तथा धर्म के प्रति अनुराग बढ़ता है। किन्तु अंग्रेजी शासन इस शिक्षा की जड़ खोदने में लगा हुआ है और उसे इसमें काफ़ी सफलता भी मिली है।

कुछ लिख-पढ़ लेने के बाद लड़के को पालि भाषा पढ़ाई जाती है। दरअसल यह पालि भाषा की पढ़ाई नहीं कहला सकती, क्योंकि बच्चों को सिर्फ़ कुछ सूत्र और धार्मिक पूजा-पाठ की विधि, मन्त्र आदि रटा दिये जाते हैं। बच्चे पालि के जिन सूत्रों को रटते हैं उनका अर्थ शायद वे बड़े होने पर भी नहीं जान पाते। बच्चों को सब से पहले 'नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स' सिखाते हैं, जिसका अर्थ है 'मैं उन भगवान् अर्हत सम्यक्सम्बुद्ध को नमस्कार करता हूँ।' इसके बाद त्रिशरणागमन सिखाते हैं जो इस प्रकार हैं:—

बुद्धं सरणं गच्छामि।
धम्मं सरणं गच्छामि।
संघं सरणं गच्छामि।

इसके बाद पंचशील सिखाते हैं जो इस प्रकार है:—

(१) मैं प्राणि हिंसा से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूं। (२) मैं चोरी करने से, (३) मैं व्यभिचार करने से, (४) मैं झूठ बोलने से और (५) दारू-शराब पीने से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूं।

त्रिशरणागमन और पंचशील के साथ ही साथ बच्चों को बुद्ध, धर्म और संघ की वन्दना भी पालि भाषा में ही सिखाई जाती है।

धर्म और संघ की भी वन्दना की जाती है। इस वन्दना में बुद्ध, धर्म और संघ के गुणानुवाद के साथ-साथ, "मेरा त्रिरत्न (बुद्ध-धर्म-संघ) के सिवा और कोई शरण नहीं है", रहता है। प्रत्येक बर्मी सन्तान इतना सीखने के बाद पालि के कुछ प्रसिद्ध और प्रचलित सूत्रों को भी ज़बानी सीखता है। इन प्रचलित सूत्रों में प्रायः नैतिक उपदेश और दैनिक कर्त्तव्य बताये गये हैं। इनमें मंगल सूत्र, रतन सूत्र, मेत्त सूत्र आदि मुख्य हैं। पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ हम दो उदाहरण देते हैं:—

मातापितु उपट्ठानं पुत्तदारस्स संगहो।
अनाकुला च कम्मन्ता एतं मंगलमुत्तमं॥

मंगल सूत्र मात-पिता की सेवा करना, पुत्र और स्त्री का भरणपोषण करना और कार्य करने में धीरज रखना ये उत्तम मंगल हैं।

माता यथा नियं पुत्तं आयुसा एक पुत्तमनु-
रक्खे।
एवम्पि सब्बभूतेसु मानसं भावये अपरिमाणं

मेत्तसूत्र माता जिस प्रकार प्राणपण से अपने एकलौते पुत्र की रक्षा करती है उसी प्रकार सभी प्राणियों के प्रति मन में असीम (मैत्री) भाव रखें।

१२–१३ वर्ष की उम्र हो जाने पर बालक साम-णेर-कर्म विधि सीखता है। यहां सामणेर का अर्थ जान लेना भी ज़रूरी है। भिक्षु होने के लिए २० वर्ष से अधिक उम्र और धर्म का साधारण ज्ञान एवं विनय (भिक्षु-नियम) जानना आवश्यक है। २० वर्ष की उम्र होने के पूर्व जो साधु बनते हैं उन्हें सामणेर (या श्रामणेर) कहते हैं। सामणेर अवस्था को हम भिक्षु बनाने की तैयारी की अवस्था कह सकते हैं। सामणेर न तो संघ का सदस्य ही समझा जाता है, और न उसे सांघिक मामलों में मत (वोट) देने का ही अधिकार होता है। ऊपर लिखित बातें सार्वदेशिक हैं अर्थात् ये बातें सभी बौद्ध देशों में प्रचलित हैं।

बर्मी बौद्ध-विचार से भिक्षु-संघ में शामिल होने पर ही मनुष्य मनुष्यत्व को प्राप्त करता है। उसके पहले मनुष्य में पशुता अधिक होती है। इस सिलसिले में उनकी गिनती की प्रथा विचित्र है। गिनती में वे 'एक मनुष्य', 'एक कुत्ता' और 'एक गेंद' नहीं कहते, बल्कि

वे कहते हैं, 'एक आदमी मनुष्य जीवधारी', 'एक कुत्ता जानवर जीवधारी' और 'एक गेंद गोल चीज़' आदि। सुनते हैं कुछ वर्ष पूर्व वे अबौद्ध विदेशियों को 'मनुष्य जीवधारी' न कहकर 'आदमी जानवर जीवधारी' कहते थे; क्योंकि वह भिक्षु-संघ में दीक्षित नहीं रहता था। बर्मा में संघ की यह महत्ता भारतीय संस्कृति की एक उज्ज्वलतम देन है। पर दुःख है कि भारत में न तो वह संघ ही रहा और न उस संघ की वह महत्ता ही रही।

प्रत्येक बर्मी पुरुष, (क्योंकि अब स्त्रियों का भिक्षुणी संघ नहीं रहा) अपने जीवन में एक बार, चाहे वह थोड़े ही समय के लिए क्यों न हो, प्रव्रज्या (सन्यास) अवश्य ग्रहण करता है। अधिकांश लोग शादी के पहले ही प्रव्रजित हो जाते हैं और कुछ-एक वर्ष या मास या दिनों तक भिक्षु रहकर फिर गृहस्थ हो जाते हैं। इन्हीं में से कुछ लोगों को भिक्षु-जीवन अधिक रुचता है। और वे आजन्म या दस-पाँच वर्षों तक भिक्षु रहते हैं। भिक्षु होने की यह प्रथा सभी बौद्ध देशों में नहीं है। यह अनिवार्य भर्ती सिर्फ बर्मा, स्याम (थाइलैंड), चटगाँव (पूर्वी बंगाल) और आसाम में ही प्रचलित है। अभी थाइलैंड के युद्ध में सम्मिलित होने के कुछ ही मास पूर्व वहाँ के प्रधान मंत्री तीन मास के लिए भिक्षु बने थे। इस प्रथा का प्रभाव हिन्द चीन (इण्डोचायना) पर भी पड़ा है। बर्मा और स्याम में राजा से लेकर एक साधारण आदमी तक को अस्थायी रूप से कुछ समय के लिए भिक्षु होना पड़ता है। राजा के सम्मिलित होने से इसका कोई क़ानूनी रूप नहीं समझना चाहिए। यह एक समाजिक प्रथा मात्र है।

लड़के का प्रव्रज्या-संस्कार माता-पिता अपनी हैसियत के मुताबिक ठाट-बाट से करते हैं। उस दिन लड़के को अच्छे से अच्छे भड़कीले कपड़े पहनाये जाते हैं। उसका ठाट-बाट एक राजकुमार-सा बनाया जाता है। आज लड़का काफी प्रसन्न भी रहता है। वह एक सफ़ेद घोड़े पर चढ़ाया जाता है और बाजे-गाजे के साथ उसका जलूस निकलता है। जलूस गांव या नगर की प्रदक्षिणा करके मठ के फाटक पर पहुँचता है। यहां लड़का घोड़े से उतर जाता है। बाजे बन्द हो जाते हैं। वह रंगीन कपड़ा छोड़कर सादा कपड़ा पहन लेता है। जिस गाँव या शहर के निकट कोई नदी होती है वहां जलूस पहले नदी तट पर जाता है और वहीं लड़का नहा-धोकर सफ़ेद वस्त्र धारण करता है। इस जलूस के राजसी ठाठ और नदी के किनारे जाने आदि में भी एक भावना छिपी हुई है। भगवान् बुद्ध राजपुत्र थे, इसीलिए वह लड़का भी राजकुमार बनता है। उन्होंने सफ़ेद घोड़े (कन्थक) पर चढ़कर गृह-त्याग किया था, इसीलिये वह भी सफ़ेद घोड़े पर चलता है। उन्होंने अनोमा नदी के किनारे अपना राजसी वस्त्र छोड़कर गुदड़ी धारण किया था, इसीलिए वह भी किसी नदी के किनारे साधारण वस्त्र धारण करता है।

इन विधि-विधानों को समाप्तकर उम्मीदवार व्यक्ति विहार (मन्दिर) में जाकर दीक्षा गुरु के सामने पालि भाषा में "सब्ब दुक्ख निस्सरण निब्बाण सच्छि करणत्थाय इमं कासावं गहेत्वा पब्बाजेथ मे भन्ते" कहता है अर्थात् भन्ते, सभी दुःख से निस्तार के लिये मुझे निब्बाण का साक्षात् करने के लिये काषाय (भिक्षुवस्त्र) ले प्रव्रज्या (सन्यास) दें। इस प्रकार कुछ कथोपकथन के बाद दीक्षा-गुरू उसे चीवर (भिक्षुवस्त्र) देता है। काषाय वस्त्र धारणकर उम्मीदवार गुरू के सामने उकडूँ हो हाथ जोड़कर बैठता है और तब गुरू उसे दसशील देते हैं। पंचशील का उल्लेख हम कर चुके हैं। सामणेर के लिये पंचशील के 'व्यभिचार से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूँ' की जगह 'अब्रह्म-चर्य से······' हो जाता है और बाक़ी ५ शील इस प्रकार हैं—

(६) विकाल (१२ बजे के बाद) भोजन करने से, (७) नाचने-गाने-बजाने और बुरे दृश्यों के देखने से, (८) माला-गन्ध-लेप आदि सजावट से, (९) ऊँचे ऊँचे आसन के व्यवहार से और (१०) सोने-चांदी आदि के व्यवहार से विरत रहने

की शिक्षा ग्रहण करता हूँ। इसके अनन्तर गुरु उसे एक नया नाम देता है जो पालि में होता है। बर्मा में भिक्षुओं के नाम पालि में और गृहस्थों के बर्मी होते हैं।

मठ में नये प्रव्रजित को तीन दिन से कम रहना अच्छा नहीं समझा जाता। साधारणतया आजकल एक हफ़्ता, एक पाख या एक मास तक लोग मठ में रहते हैं। पुरानी प्रथा के अनुसार लड़के को कम से कम तीन वर्षों तक मठ में रहना पड़ता था, किन्तु आजकल आधुनिक पाठशालाओं ने इस लम्बे समय को बहुत छोटा कर दिया है।

मठ में ये श्रामणेर छात्र किसी आयु प्राप्त भिक्षु की निगरानी में रखे जाते हैं। सवेरे पो फटने के पहले ही सब लोग उठ जाते हैं। दातून-कुल्ला आदि नित्यकर्म से निवृत्त हो श्रामणेर मठ में झाड़ू देते हैं और मठ के इस्तेमाल के लिये पानी खींचते हैं। फिर पूजा की घण्टी बजती है और सभी श्रामणेर और भिक्षु विहार जाकर बुद्ध-प्रतिमा के सामने हाथ जोड़कर पूजा करते हैं।

पूजा समाप्त कर ये लोग अपना-अपना भिक्षा-पात्र ले भिक्षा मांगने जाते हैं। सब लोग एक क़तार में चलते हैं और सबसे बड़ा भिक्षु आगे रहता है। क़तार के आगे एक लड़का घंटा बजाता चलता है ताकि गृहस्थ जान जायं कि भिक्षु मण्डल उनके घर के समीप आ गया है। क़तार के अन्त में कुछ अश्रमण लड़के थाल लिये चलते हैं जिनमें वे दाल, तरकारी, मांस-मछली ले लेते हैं; क्योंकि भिक्षा-पात्र में केवल भात या सूखी चीज़ें ही लेने का रिवाज है। लेकिन लंका में सूखी और रसदार—सब चीज़ें एक ही पात्र में लेते हैं और वहां घण्टा बजाने की भी ज़रूरत नहीं पड़ती है। भिक्षा में पका-पकाया भोजन और फल आदि ही लेते हैं। कच्चा अन्न या पैसे लेना निषिद्ध है।

लड़कों पर भिक्षु लोग अपनी आँखें नीची किये, बिना दाहिने-बाएँ देखे, नपे-तुले क़दम रखते चलते हैं। वे रुकते तभी हैं जब उन्हें कोई कुछ देने आता है। इस फेरी में एक से दो घण्टे तक लगते हैं। सब लोग मठ वापस आकर खाना खाते हैं। फिर एक घण्टा के लगभग आराम करते हैं, लेकिन बड़े-बड़े स्थविर (वृद्ध भिक्षु) उसी समय उपासक-उपासिकाओं को धार्मिक उपदेश देते हैं।

भोजन के एकाध घण्टे बाद क्लास लगता है, जिसमें आस-पास के गृहस्थ बच्चे शामिल होते हैं। ये बच्चे खूब ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाकर पढ़ते हैं। ऐसा मालूम होता है कि मठ में कोई उपद्रव हो गया हो। यह क्लास दिन के ११-११॥ बजे तक चलता है। इसके बाद भिक्षु और श्रामणेर अपना अन्तिम भोजन करते हैं। इस समय जो भोजन बच जाता है उसे कुत्तों और चिड़ियों को खिला देते हैं। क्योंकि भिक्षु या श्रामणेर १२ बजे दिन के बाद दूसरे दिन सवेरे तक सिर्फ़ पाँच चीज़ें या इन्हीं के मेल से बनी चीज़ें ही खा सकते हैं। ये पाच चीज़ें हैं—गुड़, मक्खन, घी, फल का रस और······। शाम को दो से चार या पाँच तक फिर क्लास लगता है। क्लास ख़तम होने पर बच्चे घर चले जाते हैं और श्रामणेर मठ में इधर-उधर घूमते-फिरते हैं। आठ बजे के क़रीब विहार में पूजा होती है। इस समय सब की उपस्थिति आवश्यक है। इसलिये सब बच्चे इस समय तक घर से खाकर लौट आते हैं। पूजा के बाद ९-१० बजे तक स्वाध्याय और फिर शयन। मठों में यही क्रम साल भर चलता है, सिर्फ़ कुछ त्योहारों के अवसर पर थोड़ा व्यतिक्रम होता है।

बर्मा में लड़कियों का कोई विशेष धार्मिक संस्कार नहीं होता। उन्हें लिखना-पढ़ना गांव के स्कूलों में ही सिखाया जाता है जो मठ से बिलकुल भिन्न हैं। किन्तु, उन्हें भी लड़कों की तरह शरणागमन, त्रिरत्न-वन्दना और पंचशील आदि पालि में ही सिखाया जाता है। संभव है कि भिक्षुणी-संघ के रहने पर उनकी शिक्षा-दीक्षा भी मठ में ही होती हो, लेकिन आज बर्मा क्या किसी भी स्थविरवादी (हीनयानी) देश में भिक्षुणी-संघ नहीं है।

गृहस्थों के दैनिक जीवन पर मठ के धार्मिक जीवन का कोई ख़ास असर नहीं पड़ता। उन्हें रोज पूजा के लिये विहार में नहीं जाना होता। किन्तु हर औरत-मर्द को दो अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा को विहार में जाकर किसी भिक्षु से पंचशील लेना चाहिये। यदि कोई बहुत काम-काजू है तो महीने में कम से कम पूर्णिमा को तो अवश्य ही विहार जाना चाहिये। इन अवसरों पर मठों में धार्मिक उपदेश भी होते हैं। कभी-कभी लोग किसी विद्वान् भिक्षु से मूल पालि और उसका बर्मी अनुवाद भी सुनते हैं। महायान सम्प्रदाय की तरह यहां अगणित देवी-देवता नहीं हैं, फिर भी मानवी कमजोरी के प्रतीक कुछ उनका भी अस्तित्व है। हां, बर्मी लोगों के सबसे अधिक श्रद्धाभाजन बुद्ध ही हैं। दुःख-सुख में वे उन्हीं को स्मरण करते हैं। शान राज्यों में भूत-प्रेत, देवी-देवता की पूजा काफ़ी होती है। क्योंकि उधर चीनी बौद्ध धर्म के इस सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव है।

बरसात के चार मास बर्मी लोगों के लिये धार्मिक मास हैं। इन दिनों लोग दोनों अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा को व्रत रखते हैं। बरसात भर अधिकतर धार्मिक लोग मांस खाना छोड़ देते हैं। व्रत के दिन लोग सवेरे ४-५ बजे उठते हैं और भिक्षुओं के लिये खाना तैयार करते हैं। ६-७ बजे लोग पूजा के लिये विहार जाते हैं जहां कोई भिक्षु उपदेश देता है। पूजा में सब उपस्थित लोग पंचशील ग्रहण करते हैं और कुछ लोग अष्टशील। अष्टशील में भी शील के प्रायः दसों अंग आ जाते हैं। अष्टशील लेने वाले कम से कम २४ घण्टे तक उनका पालन अवश्य करते हैं। पूजा के बाद पंचशील लेने वाले घर चले जाते हैं और बाक़ी लोग मठ में या ज़या (धर्मशाला) में ही रह जाते हैं। यह ज़या बौद्ध देशों की एक ख़ास चीज़ है। क़रीब-क़रीब हर गांव में धनी लोग यह ज़या बनवा देते हैं। इसमें ठहरने के लिये किसी को कुछ देना नहीं पड़ता। गांव की औरतें ख़ुद ही रोज़ इसमें पानी भर कर रख देती हैं, झाड़ू बहारू लगा जाती हैं। अतिथि-सत्कार में बर्मा का मुक़ाबला संसार का कोई देश नहीं कर सकता। जिस गांव में ज़या नहीं है या ख़ाली नहीं है वहां अतिथि को लोग अपने ही घर में ठहरा लेते हैं और उनकी सब प्रकार से सेवा करते हैं। ग़रीब से ग़रीब बर्मी के घर से भी जल्दी कोई भिखमंगा वापस नहीं जाता।

व्रत के दिन जो लोग मठ में रह जाते हैं वे माला जपते और अनित्य, दुःख और अनात्म का पाठ करते रहते हैं। शाम को फिर पूजा होती है। विहार में सभी ओर मोमबत्ती की रोशनी और धूप की सुगन्धि फैली रहती है। दूसरे दिन सवेरे लोग पंचशील दोहराते हैं। व्रत के दिन यदि किसी के शरीर पर मक्खी या मच्छर बैठ जाय तो उन्हें मारना तो दूर रहा उड़ाते भी नहीं।

व्रत के इन दिनों को ईसाइयों का रविवार नहीं समझना चाहिए। ईसाई देशों में रविवार को कानूनन खेल तमाशे प्रायः बन्द रहते हैं, किन्तु बर्मा में बिना सरकारी आज्ञा के ही ये बन्द रहते हैं।

यहां पर कुछ बर्मी उत्सवों का वर्णन भी ज़रूरी है। ये उत्सव धर्म सम्बन्धी न होने पर भी साधारण जनता द्वारा धार्मिक ही समझे जाते हैं। इनमें सबसे बड़ा उत्सव नववर्षोत्सव या जलोत्सव है जो आमतौर से अप्रैल महीने में पड़ता है। उस दिन सब लोग मठों में इकट्ठे होते हैं। निश्चित समय पर बड़े बड़े शहरों में तोपें दागी जाती हैं और लोग विहार में पूजा के लिये जाते हैं। लेकिन उस दिन शायद ही कोई दसशील लेता हो, क्योंकि अगले तीन दिन ही साल में ख़ुशी के दिन होते हैं। पूजा ख़तम होते ही लोग एक-दूसरे को पानी से तर कर देते हैं। इसी प्रकार तीन दिनों तक सड़कों पर घरों में-सभी जगह, लोग एक दूसरे पर पानी उछालते रहते हैं। दोपहर के बाद मर्द, औरत और बच्चे सब अच्छे-अच्छे कपड़े पहन मन्दिरों में जाते हैं और नमस्कार कर भगवान् बुद्ध की मूर्ति पर भी पानी चढ़ाते हैं। वापस आने पर सभी लोग भीगे रहते हैं; लेकिन ख़ास बात यह है कि कोई भी गन्दे कपड़े वालों पर पानी नहीं उछालता। प्रेमी-प्रेमिका आज एक दूसरे पर ख़ूब

मिला हुआ पानी डालते हैं। इस तरह पानी डालने का शायद यह अर्थ भी हो कि साल के पहले तीन दिन जिस पर पानी पड़ेगा उसको गर्मी नहीं सतावेगी। इसलिये कोई भीगने से इन्कार भी नहीं करता। यूरोपियन भी प्रायः इसमें शामिल होते हैं या यू कहिए कि शामिल होना पड़ता है।

अक्टूबर में वर्षा खतम होने पर फिर एक त्योहार होता है। यह उत्सव बर्मा के बड़े-बड़े शहरों में खूब धूमधाम से मनाया जाता है। उत्सव के समय शहर की जन संख्या दुगुनी-तिगुनी हो जाती है। यह समारोह लगभग दो सप्ताह चलता है। रात को रोज नाटक होता है। इस नाटक में प्रायः टिकट आदि नहीं लगाते। शहर के बीच में एक भूल-भुलैया बनाई जाती है जिसके बीच में भगवान् बुद्ध की मूर्ति होती है। यह मूर्ति निर्वाण का प्रतीक समझी जाती है। सब लोग भूल भुलैया में होकर निर्वाण तक पहुंचना चाहते हैं, किन्तु वहां तक पहुंचना आसान नहीं होता। कुछ लोग रात भर उसमें घूमते रहते हैं, पर मूर्ति तक नहीं पहुँच पाते। पूर्णिमा के दिन भिक्षु-भोजन होता है। हर जगह थोड़ी थोड़ी दूर पर उपहारों से लदे नकली पेड़ रहते हैं (जैसे विलायत मे क्रिसमस ट्री) सड़कों पर जलूस में सैकड़ों की संख्या मे ये पेड़ ले जाये जाते हैं। बहुत से भिक्षु एक निश्चित जगह पर निमन्त्रित किये जाते हैं। वहाँ पर यह निर्णय होता है कि कौन सा पेड़ किसको मिले। जब यह खतम हो जाता है तब भिक्षु लोग मठ में लौट जाते हैं।

नवम्बर में एक और पर्व होता है—जो एक तरह की होड़ है। अनेक जगहों से कर्घे और बुनाई के सामान एकत्रित किये जाते हैं जिनके द्वारा रुई और ऊन के वस्त्र बनाए जाते हैं। आठ बजे शाम से यह प्रतिद्वन्दिता शुरू होती है। प्रत्येक दल के लिए एक टोकरी रुई दी जाती है—जिसे वह एक ही रात में कात-बुन कर कपड़ा तैयार कर लेता है। कुछ सुबह चार बजे ही अपना काम खतम कर देते हैं और कुछ लोगों को काफी देर हो जाती है। जो लोग पीछे पड़ जाते हैं वे दुःखी और बेचैन होते हैं। जो अपना काम पहले कर लेते हैं वे औरों की खिल्ली भी उड़ाते हैं। कपड़े के इन छोटे-छोटे टुकड़ों को जोड़ कर बड़ा—ओढ़ने लायक बना लिया जाता है और उसे काषाय रंग में रंग कर बुद्ध-प्रतिमा पर चढ़ाया जाता है।

बर्मा में भिक्षु के मरने पर भी एक प्रकार का उत्सव होता है। किसी भिक्षु की लाश को तुरंत दफनाने की प्रथा नहीं है। लाश महीनों तक सुरक्षित रखी जाती है। फिर स्तूपाकार में एक चिता बनाई जाती है। इस चिता के निर्माण में सैकड़ों रुपये खर्च होते हैं। निश्चित तिथि पर लोग एकत्रित होते हैं और लाश को चिता में रखकर आग लगा दी जाती है। अन्त में शव की राख बटोरकर स्तूप के निकट गाड़ दी जाती है। कभी-कभी उस राख पर दूसरा स्तूप भी बन जाता है। भिक्षुओं के मरने को लोग 'लौटना' कहते हैं।

अन्त में हम दो शब्द बर्मी साहित्य पर भी कहना आवश्यक समझते हैं। बर्मा का प्राचीन साहित्य पालि त्रिपिटक और उसमें आये अन्तर्कथाओं का विस्तार मात्र है। हिन्दी की तरह बर्मी का आधुनिक साहित्य भी उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक आदि अनेक अंगों से परिपूर्ण है। आज भी बर्मा में पालि का पठन-पाठन पूर्ववत् ही होता है। गुलामी की शिक्षा—अंग्रेजी ने—प्राचीन साहित्य के अध्ययन को काफी धक्का लगाया, पर अब वहाँ भी लोगों में प्रतिक्रिया हो रही है। बर्मी भिक्षुओं में अनेक संस्कृत के भी अच्छे पंडित हैं, फिर भी पालि का अध्ययन सर्वोपरि है। भारतीय साहित्य का एक महान अंग—पालि साहित्य—की रक्षा करने में बर्मी लोगों ने काफ़ी हिस्सा लिया है। अंग्रेज़ी शासन के पूर्व बर्मा की राजधानी माण्डले में संगमरमर पत्थर पर सारा त्रिपिटक खुदा कर रखा गया है। इस प्रकार बौद्ध धर्म, संस्कृति साहित्य और कला की रक्षा में बर्मा ने सर्वोत्तम पार्ट अदा किया है। इसीलिये कुछ लोग बर्मा को स्तूप और विहारों का देश कहते हैं।

यूनानी विचार-धारा और बौद्ध धर्म

श्री टी विमलानन्द एम ए

बहुत से इतिहासज्ञों का यह मत रहा है कि जब तक सिकन्दर अपनी प्रतापी सेना के साथ व्यास नदी के तट पर नहीं पहुंचा तब तक भारत पाश्चात्य दुनिया के लिये एक रहस्य था। भारत और यूनान के बीच में सम्बन्ध स्थापित करने का श्रेय सिकन्दर को ही दिया जाता है। यूरोप के प्राच्य विद्वानों के अनुसार सिकन्दर के आक्रमण के बाद ही पाश्चात्य देश वासियों की दृष्टि भारतीय सस्कृति पर पड़ी। इस में सदेह नहीं कि पाश्चात्य सभ्यता का यह पूर्वगामी (Pioneer) भारतीय जनता को अपने धर्म और सस्कृति का नाश करने वाला एक म्लेच्छ के रुप में दिखाई दिया होगा। भारतीय सभ्यता को इस विपत्ति से बचाने के लिये चन्द्रगुप्त सामने आये। चन्द्रगुप्त ने सेलूकस पर मार्मिक प्रहार किया। चन्द्रगुप्त की इस विजय का भारत पर बड़ा प्रभाव पड़ा। इसके फलस्वरूप भारत उत्तर-पश्चिम में अपनी प्राकृतिक सीमा तक पहुंच गया। इसी समय मगध साम्राज्य का निर्माण हुआ और कई शताब्दियों तक भारत शत्रुओं के आक्रमण से सुरक्षित रहा इस कथन में कुछ तथ्य नहीं कि सिकन्दर के आक्रमण के फलस्वरूप भारतीयों ने पाश्चात्य राजनैतिक सस्थाओं का अनुकरण किया। अब तक यह बात प्रमाणित नहीं हुई है कि किस किस विषय में भारतीय शासन-पद्धति पर यूनान का प्रभाव पड़ा। जब तक इस बात बात का प्रमाण नहीं मिलता तब तक पाश्चात्य दुनिया के प्रति भारत के ऋणी होने की बात काल्पनिक रहेगी। मौर्य शासकों ने पड़ोसी यूनानियों के साथ सद्व्यवहार किया होगा। ये भारतीय शासक इतने प्रतापी थे और इनका राज्य इतना विस्तृत था कि इनके समकालीन विदेशियों को इन से राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित करने में गर्व का अनुभव होता होगा। वस्तुत: सिकन्दर के आक्रमण का प्रभाव उत्तर-पश्चिम तक सीमित रहा।

हेरोदत्त नामक यूनानी इतिहासकार—जिसका जन्म ई० पू० ४८४ में हुआ था – के अनुसार भारत के निवासी मिस्र देशवासियों की तरह गोरे थे। उनकी पोशाक सादी थी और वे धनुष तथा तीर लेकर वीरता के साथ यूनानियों से लड़ते थे। यह प्रामाणिक बात है कि भारतीय सेनाओं ने सालिमिस् में युद्ध किया था। वह युद्ध इतिहास में अपना विशेष स्थान रखता है। भारतीय उस लड़ाई में मिस्री सेना के साथ थे। इससे यह पूरी तरह सिद्ध होता है कि सिकन्दर के आक्रमण से पहले यूनानियों को भारत और भारतीयों के विषय में जानकारी थी। उस समय मिस्र-साम्राज्य भूमध्य सागर से सिन्धु नदी तक फैला हुआ था। हमें यह देखना चाहिये कि भारतीय विचार-धारा का प्रभाव यूनानी दर्शन पर किस प्रकार पड़ा। यूनानियों की दिलचस्पी केवल युद्ध-कला तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि उन्होंने और बहुत सी कला-शिल्पों का निर्माण किया। विश्व साहित्य और दर्शन को उनकी देन महत्वपूर्ण है। वे सम्मान तथा विस्मय के साथ मिस्र की सभ्यता की ओर देखते थे। उन्होंने मिस्र वालों से पुनर्जन्म का सिद्धान्त ग्रहण किया। मिस्र वाले इस सिद्धान्त के लिये भारतीय सस्कृति के ऋणी थे। कुछ बातों में पैथागोर का धर्म बौद्ध तथा जैन धर्म से समानता रखता है। उसके सिद्धान्तों के गूढ़ पहलुओं को जानने से यह मालूम होता है कि पैथागोर को उपनिषदों का ज्ञान अवश्य था। 'यूनानी विचारक' नामक अपनी पुस्तक में कास लिखता है, "इसमें कोई सन्देह नहीं कि पैथागोर को, जो कि भगवान बुद्ध का समकालीन था। मिस्र के द्वारा प्राच्य देशों की जानकारी थी—यह स्मरण रखने की बात है कि जब

कि पैथागोर आयोनिया में निवास करता था उस समय एशिया के यूनानी ईरानी साम्राज्य के संस्थापक कुरु के अधीन थे।" "भारत की देन" नामक अपनी पुस्तक में रालिन्सन ने कुछ भारतीय और यूनानी पण्डितों के बीच के एक शास्त्रार्थ का वर्णन दिया है। रालिन्सन के ही शब्दों में वह वृत्तान्त इस प्रकार है "इवूसेबियस अपने समकालीन लेखक हरमोनियस अरिस्टोक्सेमस के बताये एक वृत्तान्त का उल्लेख करता है। उस वृत्तान्त के अनुसार कुछ भारतीय पण्डितों ने एथेन्स जाकर सुकरात से शास्त्रार्थ किया था। उन पण्डितों ने सुकरात से उसके धर्म का उद्देश्य पूछा। उत्तर में सुकरात ने कहा कि मनुष्य जीवन-व्यापार का अनुसन्धान है। तिस पर एक पण्डित ने हंसकर कहा—"जब तक ईश्वर का ज्ञान नहीं तब तक मनुष्यत्व का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है।" इस बात पर टिप्पणी करते हुए उपरोक्त विद्वान बताता है, "यदि हम इवूसेबियस के इस वृत्तान्त पर विश्वास करें तो हमें चाहिये कि इन दोनों देशों के सम्बन्ध विषयक अपने पुराने मतों को दुहरायें।"

सिकन्दरिया के क्लिमेन्ट ने—जो ईसा से दो शताब्दियों बाद हुआ था—लिखा है कि बौद्ध धर्म भारतीय दर्शनों में अपना विशेष स्थान रखता था। उसने बारम्बार इस बात का भी उल्लेख किया है कि सिकन्दरिया में बौद्ध धर्म प्रचलित है और यूनानी लोग अपने दर्शन के लिये म्लेच्छों के ऋणी थे। आगे वे लिखते हैं कि बुद्ध मतावलम्बी पुनर्जन्म का विश्वास करते हैं और मिद्रस जैसे स्तूपों की पूजा करते हैं जिन में उनके देवता (भगवान् बुद्ध) की अस्थियां स्थापित हैं। बौद्ध लोग अपनी भक्ति के कारण अपने गुरू को देवता के रूप में देखते हैं।"

इस उल्लेख से दुनिया के उस भाग में बौद्ध प्रचारकों के कार्यों के ऊपर बड़ा प्रकाश पड़ता है। उसी समय दूसरे बौद्ध सम्राट कनिष्क का प्रादुर्भाव हुआ। उनकी साम्राज्य की सीमा रोमन साम्राज्य से पाँच सौ मील तक थी। रोमनों से कनिष्क का सम्बन्ध था। सिकन्दरिया नास्टिक मत के प्रचार के लिये अच्छा क्षेत्र बना। देश-देशान्तरों से आये व्यापारी वहां पर मिलते थे। वहीं पर टालेमी ने विश्व विख्यात पुस्तकालय का निर्माण भी किया था। ईसाई मत के प्रचार होने के कारण एथेन्स शिक्षा केन्द्र नहीं रहा। फलस्वरूप सिकन्दरिया को उन्नति के शिखर पर पहुँचने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। बहुत हद तक नास्टिक् मत वर्तमान थियासफ़ी से मिलता-जुलता है। नासटिक् मत का वर्णन करते हुए लिखा है कि वह यूनानी वेष भूषित एक प्राच्य धर्म है। नास्टिक् मत का साराश है—"दुःख और भय।" यह भगवान बुद्ध के चार आर्य सत्य का हिस्सा सा ही मालूम होता है।

यूनान और आस पास के देशों में बौद्ध प्रचार के कार्य के ऊपर अशोक के शिलालेख बहुत प्रकाश डालते हैं। इनके अतिरिक्त यूनानी राजा मिलिन्द का ज्वलन्त उदाहरण हमारे सामने है। मिलिन्द ने भिक्षु नागसेन से बौद्ध धर्म का गम्भीर अध्ययन किया था।

बुद्ध-वाणी

यह पुरानी बात है, कुछ आज की नहीं कि, जो नहीं बोलता उसकी भी लोग निंदा करते हैं, और जो बहुत बोलता है उसे भी दोष लगाते हैं। इसी तरह मितभाषी की भी निंदा करते हैं। संसार में ऐसा कोई नहीं, जिसकी लोग निन्दा न करें। बिल्कुल ही निन्दित या बिल्कुल ही प्रशंसित पुरुष न कभी हुआ, न होगा, और न आजकल है। [कोधवग्गो, धम्मपद]

बौद्ध-धर्म और इसलाम

स्वर्गीय मौलवी ज़ियाउद्दीन साहब

जिस ज़माने में मुसलिम विद्वानों ने हिन्दू किताबों का अरबी फारसी में तर्जुमा किया उससे बहुत पहले और जिस जमाने में कि दूसरे मुल्कों के मुसलिम यात्री हिंदुस्तान आकर यहां से इस मुल्क की जानकारी प्राप्त करके अपने-अपने मुल्कों को लौटे उससे भी पहले ईरानी साहित्य के ज़रिये और ईरान के कुछ दूर-दूर के हिस्सों में बौद्ध धर्म के बचे खुचे असर के ज़रिये मुसलमानों को हिंदुस्तान के धार्मिक विचारों की काफी झलक मिल चुकी थी। ये मुसलमान बौद्धों को 'समनीया[1]' कहा करते थे। 'बुद' या 'बुत' शब्द जो बुद्ध का अपभ्रंश है काफी पहले गिरते गिरते 'मूर्ति' के मायनों में इस्तेमाल होने लगा था। उसके और कुछ मायने रह ही नहीं गये थे। ये लोग 'बुज़ासफ़' को बौद्ध धर्म का बानी समझते थे। 'बुज़ासफ़' 'बोधिसत्व' का बिगड़ा हुआ है। मुसलमानों ने बलख, ट्रांस आक्सियाना, खुरासान, तुर्किस्तान, ईरान और एक दरजे तक इराक़ फतह करने से पहले इन सब मुल्कों में बौद्ध धर्म फैल चुका था। इन मुल्कों के लोगों के मुसलमान हो जाने के बाद भी वहां के बौद्ध पुरोहितों ने तुरन्त अपना प्रचार बन्द नहीं कर दिया। उनके वैराग्य, तप और योग के तरीक़े और उनका अनात्मवादी दर्शन ये सब चीज़ें बराबर पहले ही की तरह नये मुसलमानों में अपना काम करती रहीं और अपना असर डालती रहीं। 'तसबीह' यानी 'माला' और इसी तरह की और बहुत सी चीज़ें मुसलमानों को बौद्धों से विरसे में मिलीं। 'इल्मे मारफ़त' यानी 'अध्यात्म' में सूफ़ियों का 'फना' का उसूल बौद्धों के 'निर्वाण' से लिया गया है। सूफ़ियों के मुताबिक़ 'सालिक' यानी 'योगी' 'फनाफ़िल्लाह' यानी 'ईश्वर में लीन' हो जाने से पहले जिन 'मुक़ामात' या चक्रों में से होकर गुजरता है वे सब बौद्ध या कम से कम हिन्दुस्तानी हैं।

बलख और बुखारा के ईरानियों में यह एक ज़बर्दस्त प्रवृत्ति थी कि वे बार-बार फिर अपने पुराने बौद्ध विचारों और बौद्ध रिवाजों को अपनाते रहते थे। शायद और सब देशों के मुक़ाबले में इन देशों में ही बौद्ध धर्म सबसे ज्यादा देर तक चलता रहा। अबू नस्र अहमद बिन नारशखी (सन् ९४३ ई०) अपनी 'तारीख ए बुखारा' में लिखता है कि, "बुखारा के लोग बार-बार मुसलमान कर लिये जाते थे। वे इसलाम क़बूल कर लेते थे और हर बार ज्योंही कि अरब उनके मुल्क से चले आते थे फिर इसलाम छोड़ कर अपने पुराने मज़हब में चले जाते थे।[1] बुखारा के पुराने इतिहास का जिक्र करते हुए वह लिखता है—"साल में दो मर्तबा यहां बाज़ार लगा करता था जिसमें मूर्तियां बिका करती थीं। एक-एक दिन में पचास पचास हज़ार दिरहम की मूर्तियाँ बिक जाती थीं। बुखारा के लोग पहले मूर्तिपूजक रह चुके थे और साल में दो बार मूर्तियों की बिक्री उनके देश की एक स्थायी संस्था हो गई थी। मूल अरबी इतिहास के लेखक मोहम्मद बिन जाफर ने अपनी किताब में लिखा है कि यह बाज़ार उसके वक्त तक बराबर लगता रहा।[2] इन सब बातों को देखते हुए हम यह नतीजा निकाले बग़ैर नहीं रह सकते और यह नतीजा बहुत ग़लत नहीं हो सकता कि वहां के लोगों के इसलाम धर्म स्वीकार कर लेने के बाद भी किसी न किसी ज्यादह सूक्ष्म चीज़ का यानी बौद्ध धर्म के किसी न किसी अधिक तात्त्विक और महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का असर

---

१ ज़ाहिर है यह शब्द बौद्ध 'श्रमण' से बना है—सम्पादक

१--Tarikh-e-Bukhara, Ed C Schefer, Paris, 1892, P 18.

२—Ibid, Page 18-19.

उनके दिलों और दिमाग़ों पर अपना काम करता रहा होगा। अब्बासी खलीफाओं के ज़माने में बरमकियों ने जो कुछ कारनामे दिखलाये उनसे यह बात बिना किसी शक और शुबहे के पूरी तरह साबित होती है।

बरमकी शुरू में बलख़ ही के रहने वाले थे। सन् ६५२ ईसवी में खलीफा उसमान के ज़माने में मुसलमानों ने बलख़ को फ़तह किया। वहाँ के बौद्ध मन्दिर 'नव विहार' का प्रधान पुरोहित 'बरमक' कहलाता था। बरमक संस्कृत शब्द 'परमुख' से बना है। बरमक को क़ैद करके खलीफ़ा के पास भेज दिया गया। मालूम होता है वहाँ पर वह मुसलमान हो गया क्योंकि लिखा है कि वहाँ से बलख़ वापस आने पर उसने फिर अपना पुराना धर्म स्वीकार कर लिया। लेकिन फिर भी वहाँ के लोगों ने उसे अब अशुद्ध समझा। उन्होंने उसे पुरोहिताई के पद से हटा कर उसके लड़के को उसकी जगह नियुक्त कर दिया। उसे ही वह अब अपना धर्म-गुरू मानने लगे। इसके बाद बौद्ध तुर्क राजा निज़ाक तरख़ान ने गुप्त साज़िश करके बरमक और उसके दस बेटों को मरवा डाला। इस पर बरमक की धर्मपत्नी अपने सबसे छोटे बेटे को साथ लेकर जान बचाकर काश्मीर चली गई। बरमक के पुत्र छोटे बरमक को काश्मीर में वैद्यक, ज्योतिष, और दूसरी भारतीय विद्याओं की शिक्षा दी गई। इस नौजवान बरमक को अन्त में फिर बलख़ वापिस बुलाया गया और उसे बौद्ध मन्दिर का प्रधान पुरोहित नियुक्त कर दिया गया।[१] खलीफा हारूं रशीद का प्रधान मन्त्री यहिया इब्न ख़ालिद इसी बौद्ध बरमकी ख़ानदान से था। इब्न अन नदीम लिखता है कि—"अरबों की हुकूमत के ज़माने में यहिया इब्न ख़ालिद बरमकी ही वह शख़्श था जिसने हिन्दुस्तान के साथ बहुत गहरा ताल्लुक़ क़ायम रखा। उसने बड़ी लगन और आदर के साथ हिन्दुस्तान से हिन्दू वैद्यों और विद्वानों को बुलवाया।"[२] मालूम होता है कि बरमकियों में यह एक प्रथा चली आती थी कि ये हिन्दुस्तान में तालीम पाने के लिये अपने यहाँ से विद्यार्थी भेजा करते थे। इसी प्रथा के अनुसार उन्होंने अब मुसलमान हो जाने के बाद बड़े बड़े विद्वानों को भारतीय धर्मों के बारे में पूरी-पूरी जानकारी हासिल करने के लिये इस मुल्क में भेजा और हिन्दू पण्डितों और वैद्यों को खलीफ़ा के दरबार में बुलवाया।

मुसलमानों में ख़ास कर अब्बासी खलीफ़ाओं के ज़माने में काफी विचारवान विद्वान ऐसे थे जिन पर कम या ज्यादह बौद्ध धर्म का बराहरास्त असर पड़ा। ईरान के मागी मुसलमान हो जाने के बाद भी आमतौर पर अपने अक़ीदों के लिहाज़ से आधे बौद्ध थे। इब्न मुक़फ़्फ़ह (सन् ७६० ई०), जिसने 'कलैला व दमना' का पहलवी से अरबी में तर्जुमा किया और जो बड़ा होकर मुसलमान हो गया, आज़ाद ख़याल मागियों और मुसलमानों की बहुत अच्छी मिसाल था। इब्न मुक़फ़्फ़ह लिखता है कि 'कलैला व दमना' की असली किताब हिन्दुस्तान की लिखी हुई थी। सन् ५३१-५७९ ई० के क़रीब बरज़ूयाह इस किताब को हिन्दुस्तान से लाया और ईरान में उसने उसका पहलवी में तर्जुमा किया। इब्न मुक़फ़्फ़ह ने इसका तर्जुमा पहलवी से अरबी में किया। अपनी इस किताब की प्रस्तावना में इब्न मुक़फ़्फ़ह ने जो कुछ लिखा है उसमें साफ़ बौद्ध धर्म का असर दिखाई देता है। मसलन वह लिखता है कि—

"और मैंने अनुभव किया है कि जिस वक़्त सालिक (योगी) समाधि में होता है उस वक़्त एक क़िस्म की दिव्य शान्ति उस पर तारी हो जाती है। उस वक़्त वह निश्चल होता है, सन्तुष्ट होता है, इच्छाओं से परे होता है, आत्मस्थित होता है उसे किसी बात की चिन्ता नहीं होती, वह दुनिया को त्याग चुका होता है, बुराइयों से दूर होता है, लोभ रहित होता है, पाक होता है, स्वाधीन होता है, उसे किसी बात का रंज नहीं हो सकता,

१—Kitabul Buldan, P 324; Arab aur Hind ke Tallukat, PP 117-18.
२—Fihrist, P 345.

वह ईर्षा द्वेष से ऊपर होता है, वह शुद्ध प्रेम होता है,...न वह किसी को कोई नुक़सान पहुँचाता है और न उसे कोई नुक़सान पहुँचा सकता है ..."

हिन्दुस्तान के एक राजा कैद को एक स्वप्न दिखाई दिया था। इब्न मुक़फ़्फ़ह ने उसके स्वप्न की ताबीर की है यानी उसका मतलब समझाया है। इस ताबीर से भी उसके उदार और व्यापक विचारों का बहुत अच्छा परिचय मिलता है। वह लिखता है—

"तुम्हें जानना चाहिये कि कपड़े की जो चादर तुम्हें स्वप्न में दिखाई दी थी वह असली ईश्वरीय धर्म है और वे चार आदमी जो उसे चारों कोने से खींच रहे थे उस धर्म को क़ायम रखने के लिये भेजे गये हैं।" जिन चार मज़हबों का इब्न मुक़फ़्फ़ह ने ज़िक्र किया है वे मागी यानी ज़रथुस्त्री धर्म, यहूदी धर्म, ईसाई धर्म और इसलाम हैं। "इस प्रकार ये लोग अपने मज़हब के क़ायम करने की कोशिश करते हैं और एक दूसरे से दूर अपनी अपनी तरफ़ के कोने को अलग अलग खींचते हैं। इस तरह धर्म के नाम पर ये एक दूसरे के दुश्मन बन जाते हैं।"[१]

मशहूर अन्धा कवि अबुल अला मआरी (९७३ ई० से १०५८ ई० तक) पक्का बौद्ध बल्कि जैन था। जर्मन विद्वान वान क्रेमर ने उसकी बाबत लिखा है कि वह भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों काल के बड़े से बड़े सदाचार शास्त्रियों में से था और उसका ज़बर्दस्त असाधारण मस्तिष्क उस समय बहुत सी ऐसी बातों को दुनिया के सामने रख चुका था जो आमतौर पर आजकाल की फ़रबी नई रोशनी की उपज समझी जाती हैं।[२] मआरी यह नहीं मानता था कि मुर्दे किसी दिन क़ब्रों में से निकल कर खड़े हो जायगे। बच्चे पैदा करने के काम को मनुष्य के लिये वह पाप मानता था। फ़ना यानी अपने पृथक अस्तित्व के मिटा देने को वह मनुष्य जीवन का असली लक्ष्य मानता था। वह आजीवन ब्रह्मचारी रहा। वह यह नहीं मानता था कि मज़हब ईश्वर से किसी बाहरी इलहाम द्वारा प्राप्त होता है बल्कि उसे मनुष्य के अपने अन्दर की उपज मानता था। वह लिखता है—

"हनीफ़ ठोकरें खा रहे हैं, ईसाई सब भटके हुए हैं, यहूदी चक्कर में हैं, मागी ग़लत रास्ते पर बढ़े जा रहे हैं, हम नाशमान मनुष्यों में दो ही खास तरह के आदमी हैं, एक समझदार बदमाश और दूसरे मज़हबी बेवकूफ़।[१]"

मआरी ने एक कविता में लिखा है—

"कोई चीज़ रहने वाली नहीं है। हर चीज नाश होने वाली है। इसलाम भी नाश होने वाला है। हजरत मूसा आये। उन्होंने अपने मज़हब का उपदेश दिया और चल बसे। इसके बाद हज़रत ईसा आये। फिर हज़रत मुहम्मद आये और उन्होंने अपनी पाँच वक़्त की नमाज चलाई। कुछ दिनों बाद एक और नया मजहब आयेगा जो इसे हटाकर इसकी जगह ले लेगा। इससे ज़्यादह चमकेगा। इस तरह मानव जाति कल और आज के बीच में मौत की तरफ़ हँकाई जा रही है।......यह धरती नाशमान है। जिस तरह इसका आरम्भ हुआ था उसी तरह इसका अन्त होगा। हर चीज़ पैदा होती है और मरती है। काल का प्रवाह बराबर नदी की तरह बहा चला आ रहा है। यह प्रवाह हर वक़्त किसी न किसी नई चीज़ को सामने लाता रहता है।

"पानी के जन्तुओं को खाकर अपना भीतापन मत प्रकट करो। ज़िबह किये हुये जानवरों को अपना आहार मत बनाओ। अंडे मत खाओ।......हिंसा सबसे बड़ा कुकर्म है।......इन सब कुकर्मों से मैंने अपने हाथ धो डाले हैं। ओह! काश कि बाल

१—Noeldeke, quoted in the appendix III. "The Iranian Influence on Muslim Literature", PP 105-133.

२—Nicholson—"A Literary History of the Arabs," P. 316

१ Ibid, P 316.

पकने से पहले मैंने इन चीज़ों को समझ लिया होता……।"[१]

जिस तरह के फ़िक़रे ऊपर नक़ल किये गये हैं उनसे बान क्रेमर की राय है कि बौद्ध धर्म का असर साफ़-साफ़ ज़ाहिर होता है।[२] मअर्री ख़ुदतक़ ऊन का कपड़ा और लकड़ी की खड़ाऊं पहनता था। निकल्सन का ख़याल है कि यह उसने हिन्दुस्तान के जैनियों से सीखा होगा; लेकिन जैनों से उसके सम्बन्ध की सम्भावना कम मालूम होती है।[२] ख़याल होता है कि मअर्री और उस जैसे आज़ाद ख़याल लोगों के रहन-सहन और विचारों की उनके समय के लोग निन्दा ही करते रहे होंगे। लेकिन मअर्री की यह हालत नहीं थी। मअर्री मअर्रा शहर का रहने वाला था। सन् १०४७ ईसवी के क़रीब नासिर ख़ुसरो मअर्रा गया। वह लिखता है कि अबुल अला मअर्री अन्धा इसी शहर में रहता है। वह शहर के लोगों में सरदार और मालदार है। इस शहर के रहनेवाले उसे अपना गुरु समझ कर उसकी इज़्ज़त करते हैं। वह तपस्वी की तरह रहता है और ऊन के कपड़े पहनता है। कोई उससे धन मांगे वह कभी किसी को इनकार नहीं करता……। शाम (सीरिया), पच्छिम और इराक़ के विद्वान सब कविता और साहित्य में उसे अपने से बढ़कर मानते हैं।[३]

सालेह बिन अब्दुल क़ुद्दूस जो सन् ७८३ ई० में सूली पर चढ़ाया गया, अबुल अताहिया (८२८ ई०), बशीर-इब्न-बुर्द, हम्माद अजरद, यूनान-बिन-हारून, अली-बिन-ख़लील और बश्शार इन सब पर कम या ज़्यादह हिन्दुस्तान के मज़हब का असर पड़ा और इन लोगों ने मुख़्तलिफ़ विचार धाराओं को बुनियादें डालीं। अबुल अताहिया ने लिखा है—

"यदि तुम मनुष्यों में सबसे श्रेष्ठ मनुष्य को देखना चाहते हो तो उस बादशाह को देखो जो फ़क़ीरों के से कपड़े पहन कर रहता है। मनुष्यों में वही सबसे ज़्यादह पवित्र है।" ये शब्द प्राचीन समय के एक ऐसे आदर्श की यादगार और उसकी गूंज हैं जिसे लोग बहुत दिनों से भूल चुके थे।[१] कवि बश्शार ने अपने ज़माने के कुछ ख़ास-ख़ास अनात्मवादी मुसलमानों का ज़िक्र किया है। इन लोगों के दार्शनिक विचारों से ऐसा मालूम होता है कि वे द्वैतवादी थे और उन पर मानी के विचारों का असर था। लेकिन जाहिज़ ने जिस तरह इन लोगों के उसूलों को बयान किया है उससे मालूम होता है कि इन लोगों के विचार मानी के सिद्धान्तों के मुक़ाबले में बौद्ध धर्म से ज़्यादह मिलते थे—

"क़लन्दरी यानी परिव्राजकता का वह यह मतलब लेते थे कि उनमें से कोई दो रात एक घर में न रहे। इनमें जो लोग परिव्राजक हैं वे हमेशा दो-दो करके चलते हैं और चार नियमों का पालन करते हैं—साधुता, शुद्धता, सत्यता और दरिद्रता।"[२]

अपने उसूल को स्पष्ट करने के लिये इन अनात्मवादियों ने जो क़िस्सा बयान किया वह साफ़-साफ़ बौद्ध क़िस्सा है। वे कहते हैं कि इनमें से दो फ़क़ीर एक बार इतने पीटे गये कि क़रीब-क़रीब बेजान हो गये। बात यह थी उन पर कुछ जवाहरात की चोरी का शक किया गया था। इन जवाहरात को इनकी आंखों के सामने एक शुतरमुर्ग़ निगल गया था। उन पर शक किया गया उन्होंने उस पक्षी के साथ विश्वासघात करना, जिससे उसे ईज़ा पहुँचाई जावे यानी उसकी हिंसा की जावे, ठीक नहीं समझा और ख़ुद मार खाकर अपनी जान ख़तरे में डाली।

१ Islamic civilization, vol II, PP. 244-46.

२ Encyclopaedia of Religion and Ethics, vol. II, PP 100 01.

३ Siyabat Namah-i-Nasir Khusro (Persia), P. 26-27.

१ Goldziher, Transaction of the Ninth Congress of the Orientalists, vol. II, P 114.

२ Encyclopaedia of Religion and Ethics, vol. II, P. 189

बौद्ध-कला

प्रो भगवती प्रसाद पान्थरी एम ए.

छठी शताब्दी ई० पू० ने भारत में बौद्ध-धर्म को अवतरित होते हुए देखा। नवजात बौद्ध-धर्म गंगा की पावन गोदी में खिलता हुआ धीरे-धीरे सम्पूर्ण भारत में फैल गया। तीसरी शताब्दी ई० पू० में अशोक ने तथागत के पुनीत धर्म को सम्पूर्ण भारतवर्ष तथा अफग़ानिस्तान और सीरिया आदि देशों में फैलाया। अशोक के प्रयत्न से बौद्ध-धर्म विश्व-धर्म में बदल गया। प्रथम शताब्दी के प्रारंभ में बौद्ध-धर्म चीन में भी पहुँच गया।

इस प्रकार अशोक के समय से लेकर फाहियान के समय तक (४०० ई० सन्) बौद्ध-धर्म भारतवर्ष में दृढ़ता से शासन करता रहा। किन्तु ५ वीं शताब्दी में ही ब्राह्मण-धर्म ने गुप्तों का सहारा पाकर उठना आरंभ कर दिया। फिर भी हुएनत्सांग के समय तक (७ वीं शताब्दी ई०) बौद्ध-धर्म की प्रतिष्ठा बहुत कुछ बनी रही, यद्यपि धीरे-धीरे उसकी गति अवरुद्ध हो रही थी। कुछ ही समय में उसकी सीमायें बनारस और गया में अवरुद्ध हो गई और यद्यपि २,३ शताब्दियों तक वह इसी प्रकार कालक्षेप करता गया किन्तु उसकी पुरानी प्रभुता बिदा हो चुकी थी।

भारतवर्ष ने ही बौद्ध-धर्म को जन्म देकर पाला-पोसा किन्तु अन्त में अपने यहां से उसे निकालकर बाहर भी कर दिया। फिर भी बौद्ध-धर्म आज नैपाल, तिब्बत, लंका, चीन, अनाम, सियाम और जापान आदि देशों में प्रतिष्ठा के उच्च सिंहासन पर विराजमान है। ईसाई धर्म के अतिरिक्त सबसे बड़ी संख्या इसी के अनुगामियों की है।

भारतवर्ष से यद्यपि बौद्ध-धर्म बिदा हो चुका है किन्तु उसके अतीत की स्वर्णिम आभा आज भी बौद्ध-विहारों और मन्दिरों के अवशेषों के रूप में चमक रही है। उनका भव्य अतीत उनकी चित्रकारी और शिल्पीकरण में स्पन्दित हो रहा है।

बौद्ध-धर्म के इन अवशेषों को हम पांच भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) शिला-स्तम्भ, लाट—इन पर साधारण लेख खुदे होते थे।

(२) स्तूप, तोप या चैत्य,

(३) परिवेष्टन (Rails)—ये साधारणतया स्तूप के घेरे होते थे और इन पर नक़्क़ाशी खुदी होती थी।

(४) *गुफा-मन्दिर या चैत्य*

(५) विहार अथवा संघाराम

सबसे प्राचीन शिला-स्तम्भ अशोक के बनवाये हुए हैं। ये स्तम्भ भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों पर गाड़े गये थे। फहियान ने अशोक के बनाये हुए ६ स्तम्भों का उल्लेख किया है। इनमें से दो स्तम्भ श्रावस्ती में, एक सकाशय में और दो पाटलिपुत्र में थे। ये स्तम्भ ४० फीट से लेकर ५० फीट तक ऊंचे थे। स्तम्भों के सिरों पर विभिन्न प्रकार के पशु आदि जैसे बैल, सिंह, अश्व की मूर्त्तियाँ बनी होती थीं।

हुएन त्सांग ने अशोक के ६ स्तम्भों की जगह १५ स्तम्भों का उल्लेख किया है जो निम्न स्थानों में थे—

सनकस्सा, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, लुम्बिनीवन; कुशीनार, सारनाथ, महाशाल, वैशाली, पाटलिपुत्र और राजगृह।

वर्तमान समय में अशोक के स्तम्भ तोपरा, मेरठ, इलाहाबाद, लौरिया अराराज, लोरिया नन्दन गढ़, रामपुरवा, सांची, सारनाथ, और निगलिव में पाये गये हैं।

इन स्तम्भों में से तोपरा और मेरठ के दोनों स्तम्भों को सुलतान फ़ीरोज तुग़लक़ सन् १३५६ ई० के लगभग दिल्ली हटा ले गया था। इलाहाबाद का स्तम्भ पहले कौसाम्बी में था। इसे संभवतया

सम्राट अकबर इलाहाबाद ले ले गया था। इस पर जहाँगीर का फ़ारसी में एक लेख भी खुदा हुआ है।

वस्तु कला के क्षेत्र में इन स्तम्भों का निर्माण मौर्यों की कलात्मक प्रतिभा का अद्वितीय प्रमाण है। ये शिला खंड स्थूलाकार या पिंडाकार हैं। निचले भाग का व्यास सामान्यतः २ फीट ७ इञ्च से लेकर ४ फीट १½ इञ्च तक है और ऊपरी व्यास १ फीट ६ इञ्च से लेकर २ फीट ११ इञ्च तक है। ४ फीट वर्गाकार और ५० फीट लम्बा पाषाण स्तम्भ वर्तमान वैज्ञानिकों को भी विस्मित कर देता है।

स्तम्भ का ऊपरी भाग घण्टाकार है। सर्व सुन्दर स्तम्भ इस समय लोरिया नतूनगढ का है। इसके सिरे पर सिंह की मूर्ति बनी है। इसके अवेकस (abecus) पर चारा चुगते हुए सुन्दर हंस चित्रित किये गये हैं। ये हंस भगवान बुद्ध के शिष्यों के प्रतीक हैं।

रामपुरवा और कोलुहा के स्तम्भों के सिरों पर सिंह की मूर्तिया बनी हैं। किन्तु सांची तथा सारनाथ स्तम्भ पर आगे-पीछे चार सिंहों की मूर्तियां हैं। ये सिंह की मूर्तियां कला की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर मानी जाती हैं। इनके सौन्दर्य में बेहद स्वाभाविकता को चित्रित करने में कलाकार ने अनुपम कुशलता दिखलायी है। सिंहों के निर्माण में उनके पुष्ट अवयव तथा नसों को चित्रित करने तथा प्राकृतिक शौर्य को प्रदर्शित करने में कलाकार का हस्त कौशल कला की सीमा को पार कर गया है। मूलतः इन सिंहों के नेत्र मणियुक्त थे। सिंह की मूर्तियों के नीचे चार चक्र बने हुए हैं; चक्रों के मध्य में हाथी, घोड़े तथा बैल के चित्र अंकित हैं। नीचे का भाग घंटाकार है। यह स्तम्भ बलुये पत्थर का बना है।

सनकिस के स्तम्भ के सिरे पर हाथी की मूर्ति है। रामपुरवा के सिरे पर बैल की मूर्ति और लौरिया अराराज के स्तम्भ पर गरुड़ और सिंह की मूर्ति हैं।

इन स्तम्भों की निर्माण कुशलता पर श्री मार्शल कहते हैं—

"यह मूर्तिकला शैली और टैक्नीक की दृष्टि से सब में सुन्दर है। हिन्दुस्तान में मूर्तिकला का इससे सुन्दर उदाहरण और कोई नहीं मिलता। प्राचीन दुनिया में इससे सुन्दर किसी चीज़ की मैं कल्पना ही नहीं कर सकता।"

स्तम्भों पर की चमकीली, कांतिपूर्ण स्निग्ध पालिश भी अद्वितीय है। पालिश करने की यह कुशलता मौर्य कलाकारों की उत्कृष्टता का अनुपम प्रमाण है। इस समय मौर्य कलाकारों की कुशलता पूर्णता को प्राप्त हो गई थी। उनकी पूर्णता का प्रमाण यही है कि उन्होंने कला की उन वस्तुओं को जन्म दिया है जिनका निर्माण करना आज २० वीं सदी की शक्ति के भी बाहर है। पालिश की उज्जवलता और स्निग्धता को देखकर लोग भ्रम में पड़कर उन्हें धातु का समझ बैठते हैं। १७ वीं सदी में टौम कैरट ने अशोक के दिल्ली स्तम्भ को पीतल का बतलाया था (Oxford History, V Smith, P 43)।

ज़मीन में स्तम्भों का गड़ा हुआ निचला भाग बिना पालिश का होता था। सम्पूर्ण स्तम्भ एक ही पत्थर का बना होता था। ये पत्थर चुनार के हैं और अनुमानतः ये स्तम्भ चुनार में ही बनवाये जाते थे। इन स्तम्भों का वज़न कनिंघम के अनुसार क़रीब ५० टन के है।

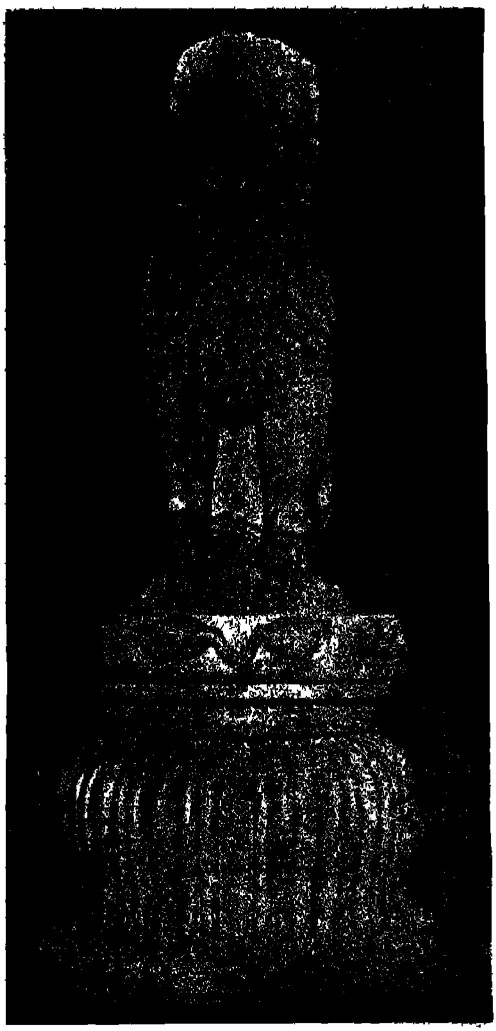
अशोक के इन स्तम्भों को श्री मार्शल ने ईरानी-यूनानी कला का बतलाया है। उनका कहना है कि घण्टाकार सिरा (bell capital) प्रथमतः ईरान में बना था तथा पत्थर पर पालिश करने की शैली भी ईरानी है। (Guide to Sanchi, P. 92.)। हमारी राय में यह एक सन्दिग्ध दावा है।

स्तम्भों के ऊपरी सिरे का घण्टाकार आकार वस्तुतः उलटा कमल है। यह उलटा कमल भगवान बुद्ध के उद्भव या उत्पत्ति का प्रतीक है। भारतीय कला के अनुरूप भगवान बुद्ध का कमल-सिंहासन सतत नीचे की ओर झुकी हुई पुष्प-पखड़ियों के रूप में चित्रित किया गया है। ये पुष्प-दल नाल पर इस प्रकार झुके होते हैं कि घण्टाकार मौलि (bell capital)

बौद्ध निर्माण-कला



बुद्ध गया का मन्दिर
[महाबोधि सोसायटी के सौजन्य से]



सारनाथ का सिंह-स्तम्भ
['भूगोल' कार्यालय के सौजन्य से]

जला दिया गया था। अन्त में भगवान् की जली हुई अस्थियों को ब्राह्मण द्रोण ने आठ भागों में विभाजित कर विभिन्न जातियों में बांट दिया था। जिन पर प्रत्येक जाति के नायकों ने फिर निम्न प्रकार से स्तूप बनवाये थे :—

अजात शत्रु ने राजगृह में, लिच्छिवियों ने वैशाली में, शाक्यों ने कपिल वस्तु में, बलयों ने अलकप्पा में, कौसलों ने राम ग्राम में, ब्राह्मणों ने वीथादिया में, मल्लों ने पावा में, मल्लों ने कुशीनार में, मोरिय जाति अस्थि अवशेषों के बंट जाने पर पहुँची थी, इसलिये उन्हें चिता का जला हुआ कोयला ही मिला। उन्होंने उसी पर पिप्पलीवान में स्तूप बनवाया, अन्त में ब्राह्मण द्रोण ने उस पात्र के ऊपर स्तूप खड़ा करवाया जिसमें बुद्ध के अवशेष बांटने के लिये रखे गये थे। किन्तु बुद्ध के निर्वाण के बीस वर्ष बाद ही अजात शत्रु ने रामग्राम के अतिरिक्त सब स्थानों के अवशेषों को बौद्ध धर्म के आचार्य महाकश्यप के कहने पर एकत्रित करवाया, और उनके ऊपर राजगृह के दक्षिण पूर्व में एक बहुत विशाल स्तूप बनवाया।

अजात शत्रु के पश्चात् तीसरी शताब्दि ई० पूर्व में सम्राट प्रियदर्शी अशोक ने, जैसा कि फाहियान लिखता है, इन अवशेषों को पुनः निकाल कर विभाजित किया और उन पर ८४,००० स्तूप बनवाये। (Leggs, P 89) । यद्यपि ८४,००० स्तूपों का निर्माण इतिहास से सिद्ध नहीं हो सका है, किन्तु इसमें कोई सशय नहीं कि अशोक ने अवशेषों को पुनः विभाजित किया था और सारे भारतवर्ष में उन पर स्तूप खड़े करवाये थे। श्री कनिंघम भी इसका समर्थन करते हैं।

पुरातत्व विभाग अशोक के बहुत कम स्तूपों को खोज सका है। अशोक के शिला-लेखों में भी केवल निगलिव के कोनागमन स्तूप का उल्लेख मिलता है। यद्यपि हुएन त्सांग ने अशोक के बनाये हुए ८० स्तूपों का उल्लेख किया है। हुएन-त्सांग के अनुसार निम्न स्थानों पर अशोक ने स्तूप बनवाये थे—

कपिसा, नागर, उदयन, तक्षशिला, सिंहपुर, उरस, काश्मीर, थानेश्वर, श्रुघन, प्रयाग, कोसाम्बी कपिलवस्तु, रामग्राम, गोविसन, कुशीनगर, सारनाथ, गाजीपुर, महाशाल, राजगृह, ताम्रलिप्ति, कर्णसुवर्ण, उड़ीसा, दक्षिण कोसल, चोल प्रदेश, महाराष्ट्र, मुल्तान, अधन्तु (सिन्ध का प्रदेश), चीन पटी, मथुरा और पाटलीपुत्र। इनमें से से कुछ स्तूप अभी तक मिलते हैं। १८३५ ई० में श्री होनिगबर्गर और मैसन ने काबुल और जलालाबाद के स्तूपों को खोदा था। १८३३ ३४ ई० में सिन्धु और झेलम के स्तूप खोदे गये और १८३५ ई० में श्री कनिंघम और मेजी ने बनारस, सांची तथा भिलसा के स्तूपों को खोदा था। इन स्तूपों में सबसे प्रसिद्ध भिलसा स्तूप है। इन स्तूपों को पांच भागों में बांटा गया है—(१) सांची (२) सोनारी (३) सतधारा (४) भोजपुर और (५) अनधर। ये स्तूप भिलसा गाँव के दस मील पूरब और पश्चिम तथा ६ मील उत्तर और दक्षिण तक फैले हुये हैं। इन सब में प्रख्यात स्तूप सांची का है। सांची स्तूप सम्भवतया अशोक का बनवाया हुआ है। यद्यपि इस स्तूप के तोरण अशोक के बाद के हैं,* परन्तु श्री मार्शल और विन्सेण्ट स्मिथ सांची स्तूप को अशोककालीन नहीं मानते। उनका कहना है कि अशोक की ईंट और सांची की ईंट में अन्तर है। किन्तु इस आधार में कोई दृढ़ता अथवा सार नहीं। मौर्यकालीन ईंटों में भी परस्पर अन्तर पाया जाता है। मौर्य काल की बनी हुई भीतों की ईंटों का नाप १९½×१२¼×२¼ इंच और १७½×११¾×२¾ इंच है जबकि उसी युग की मथुरा की ईंट का नाप १३½×१०¼×३ इंच है। इसके अलावा गुप्त कालीन भीतर गांव के मन्दिर की ईंटें मौर्य ईंटों के बराबर हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता

---

* Antiquities of India—Barnett, PP. 233-34

कि भीतर गाव का मन्दिर अशोक कालीन है। अत: ईंटों के आधार पर साची स्तूप को अशोक कालीन न मानना सार नहीं रखता। इसके अतिरिक्त साची स्तूप के दक्षिण द्वार पर एक सिंह शिलास्तम्भ लेख है जो कि अशोक के द्वारा निर्मित हुआ था। (The Bhilsa Topes Cunningham, PP 191-195)

कैप्टन फिन ने इस स्तम्भ की लम्बाई अनुमानत: ३२ फुट बतलाई है। स्तम्भ का सिरा ३ फीट ११¾ इंच ऊंचा है। सिरे पर चार सिंह बने थे। यद्यपि वे अब टूट फूट चुके हैं, किन्तु उनके अवशेषों को देखने से उनका कलात्मक सौन्दर्य पूर्णतया झलक उठता है! सिंह शिला स्तम्भ के उत्तर में एक और स्तम्भ है। यह स्तम्भ चुनार के पत्थर का बना है। उसके ऊपर वही अशोक कालीन पालिश पाई जाती है जो इलाहाबाद और दिल्ली के स्तम्भों पर है। प्राचीन पाली भाषा में उस पर लेख भी खुदा है। यद्यपि भग्न होने से वह अब पढ़ा नहीं जा सकता, (Ibid, PP 197-98.)।

इसके अलावा अन्य स्तम्भ भी पूर्वी तोरण और स्तूप के उत्तर पूरब में मिले हैं। इन स्तम्भों की बनावट पत्थर और पालिश से यह निर्विवाद साबित हो जाता है कि ये स्तम्भ अशोक के हैं जिससे यह भी साबित होता है कि साची स्तूप मौर्य कालीन हैं। केवल अन्तिम उत्तर पूरब वाला स्तम्भ किसी "सिंहवली के पुत्र हरि स्वामी गोरन" का बनवाया हुआ है, जैसा कि उस पर खुदे हुये लेख से मालूम होता है। यह लेख सम्भवतया पाँचवीं शताब्दी का है। इससे मालूम होता है कि साची स्तूप अशोक के युग से गुप्तों तक बनता ही रहा है।

स्तूपों की रचना शैली

स्तूपों की रचना के बारे में 'महावंश' में विवरण दिया हुआ है। जब कभी कोई स्तूप बनवाना चाहता था तो उसे निर्दिष्ट स्थान में एक स्तम्भ गाड़ना होता था। उस स्तम्भ पर उसकी यह अभिलाषा लिख दी जाती थी। स्तूप का निर्माण कार्य आरम्भ होने पर यह स्तम्भ हटा दिया जाता था। नींव में पत्थर बिछाये जाते थे और हाथियों द्वारा उन्हें कुटवाया जाता था। पत्थर की नींव के ऊपर से मुलायम मट्टी, ईंट, सीमेन्ट, कुमरविन्द पत्थर, लोह पत्र, श्रमणों द्वारा हैमवन्त से लायी हुई स्वर्गीय धूप, फटिक-पत्थर, साधारण पत्थर, ताम्र पत्र और रजतपत्र रक्खे जाते थे। शिलान्यास के समय बड़ा भारी उत्सव मनाया जाता था जिसमें भारत के विभिन्न विहारों के भिक्षु आमंत्रित किये जाते थे।

अवशेष गृह—(Relic Chamber)

अवशेष गृह ६ पत्थरों का बनाया जाता था। एक पत्थर बिछा दिया जाता था और चार पत्थरों को सन्दूक की तरह खड़ा कर दिया जाता था और छठा ढक्कन वाला पत्थर पूरब की ओर रक्खा जाता था। इस अवशेष गृह के बीच में सुवर्ण का बोधि वृक्ष और उसके चारों ओर बुद्ध की चरण-प्रतिमायें रक्खी जाती थीं। गृह के किनारों पर बुद्ध का जीवन-चरित्र अंकित किया जाता था।

स्तूप की पूजा करने के उपरान्त बुद्ध के अवशेष एक मंजूषा में बन्द करके अवशेष गृह में पूरब तरफ से अन्दर जाकर सोने की बेदी पर रख दिये जाते थे। इसके पश्चात् अवशेष गृह को गुम्बज से ढंक दिया जाता था। स्तूप के ऊपर फिर छत (छत्र) बनाया जाता था और सम्पूर्ण स्तूप पर पलस्तर लगाया जाता था। इसके अलावा स्तूप के चारों ओर जँगलेदार दीवाल (परिवेष्टन) बनायी जाती थी। छत्र के ऊपर अन्य छत्र भी बनाये जाते थे, बुद्ध की प्रतिमायें भी स्तूप पर रक्खी जाती थीं और तोरण पर सूर्य के प्रतीक बनाये जाते थे।

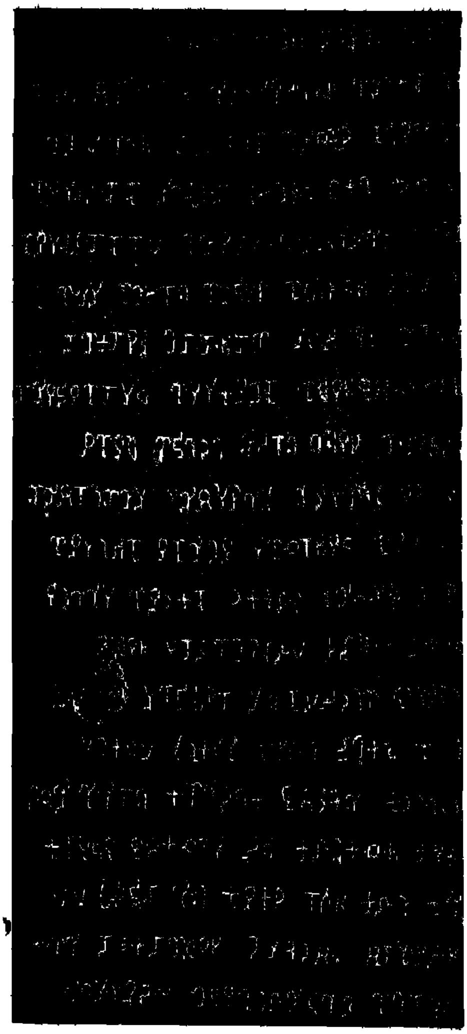
(महावंश पृष्ठ १७ २२६)।

सांची स्तूप के तोरण—

कला की दृष्टि से साची के चार तोरण बहुत ही सौन्दर्यपूर्ण हैं। इन पर घने रूप से गृहस्थ और धार्मिक जीवन के चित्र अंकित हैं। तोरण के प्रत्येक



अशोक-स्तम्भ
['भूगोल' कार्यालय के सौजन्य से]



अशोक का शिलालेख
['भूगोल' कार्यालय के सौजन्य से]

स्तम्भ विचित्र प्रकार के हैं। पश्चिमी तोरण के स्तम्भों पर चार बौने हैं, दक्षिणी तोरण के स्तम्भ पर चार सिंह हैं और अन्य तोरण-स्तम्भों पर सवार युक्त चार हाथी बने हैं। तोरण की पूरी लम्बाई १८ फीट २ इंच है और चौड़ाई ७ फीट १ इंच है। स्तम्भ का ऊपरी भाग कुंचित-चक्र से सजे हुये हैं। ये चक्र १२ फीट ९ इंच लम्बे और बीच में मंडलाकार हैं, और हर ओर से ४ फीट ५ इंच बाहर निकले हुए हैं। ये बाहर झुके हुये किनारे पेड़ और झाड़ी का अवलम्ब लिये हैं, जिनके तने पर नर्तकियां खड़ी हैं। नर्तकियों के बालों पर शृङ्गार आदि वर्त्तमान तिब्बती रूप का है। प्रथम कुंचित-चक्र के ऊपर दूसरा कुंचित-चक्र है। इसका आकार पहले से छोटा है। दूसरे चक्र के बाद तीसरा है, जो उससे भी छोटा है। चक्र के अग्रभाग सब मिले हुए हैं, जिन पर पाँव वाले सिंह बने हैं। स्तम्भों के बीच खाली जगहों में नीचे सवारों सहित हाथी बने हैं और ऊपरी भाग में घोड़े हैं। स्तम्भों के बाहरी तरफ नर्तकियों की छोटी मूर्तियां बनी हुई हैं। शिखर के बीच में चक्र बना है, यद्यपि वह अब भग्नावस्था में है और उसे चार हाथी थामे हुए हैं। चक्र के चारों ओर अद्भुत अक्षर खुदे हैं। यह चक्र बुद्ध का प्रतीक है और अद्भुत अक्षर धर्म के प्रतीक हैं। इन तोरणों पर बहुत सुन्दर पच्चीकारी की गई है। स्तम्भों पर शिल्पियों ने कई प्रकार के चित्र अंकित किये हैं, जैसे—युद्ध का घेरा, युद्ध का जलूस, स्तूप की सजावट, पेड़ों की सजावट, अवशेष मंजूषा का जलूस और जंगलों का तपोमय जीवन। पूर्वी तोरण के दक्षिण स्तम्भ पर ६ भागों में, ६ देवलोक उनके अधिपतियों सहित दिखलाये गये हैं। पश्चिमी स्तम्भ में नीचे की ओर राजगृह से भगवान बुद्ध से मिलने के लिये जाते हुए बिम्बिसार अपने दल सहित अंकित हैं। इसी के ऊपर भगवान बुद्ध की वह माया दिखलाई गई है, जिससे उन्होंने ब्राह्मण कश्यप को बौद्ध धर्म में परिवर्तित किया था। इसी घटना के बाद बिम्बिसार भगवान बुद्ध से मिलने गये थे। तीसरे भाग में अशोक का बनवाया बुद्ध गया का मन्दिर दिखलाया गया है। उसके अन्दर भगवान का सिंहासन है तथा साथ ही बोधी-वृक्ष चित्रित किया गया है। इसके अलावा अशोक और तिष्यरक्षिता की बोधी-यात्रा, भगवान बुद्ध का कपिलवस्तु से महाभिनिष्क्रमण आदि अंकित किये गये हैं। इनका शिल्पीकरण बहुत ही सुन्दर और भव्य है। इनके बनाने वाले कलाकार बहुत ही निपुण और कार्यकुशल थे। उनकी शैली परिष्कृत थी। सम्पूर्ण शिल्पीकरण की शैली में एकरूपता मालूम पड़ती है। उनकी कला निःसन्देह बहुत श्रेष्ठ थी। कलाविदों के अनुसार सबसे सुन्दर तोरण दक्षिण वाला है।

(Cambridge History, Vol I. Chapter XXXVI, P 630 631)

परिवेष्टन (rails) या जंगला—

साँची स्तूप के चारों ओर पत्थर का परिवेष्टन (जंगला) है। यह परिवेष्टन गोलाकार है और इसका अर्द्धव्यास १४० फ़ीट है। परिवेष्टन के चारों दिशाओं उत्तर, दक्षिण, पूरब और पश्चिम मे चार तोरण हैं।

शिला-परिवेष्टन लकड़ी के जंगले की अनुकृति है। यह आठ फीट ऊंचे अष्टकोणीय स्तम्भों का बना है। प्रत्येक स्तम्भ के मध्य में २ फीट का अन्तर है। स्तम्भों के सिरे और मध्य २ फीट ६ इंच गहरे जंगलों से जुड़े हुये हैं। कालान्तर मे परिवेष्टन के इस सरल रूप का कला की कृतियों से शृङ्गार कर दिया गया।

पहले स्तम्भों के मध्य में चित्रित मंडल (Decorated discs) रक्खे गये और इसी प्रकार के अर्द्धगोलाकार मंडल स्तम्भों के सिरे और आधार पर रखे गये, जैसा कि अमरावती मे देखने को मिलता है। तदनन्तर परिवेष्टन के प्रत्येक भाग पर चारु चित्रावली सजा दी गई। फलस्वरूप वे साधारण जंगलों से चित्रों और पत्थरों से खचित अलंकारों के विभूषित अवगुण्ठन में परिणत हो गये। अमरावती का परिवेष्टन इसी तरह का है। अमरावती का स्तूप २०० ई० पू० का माना जाता है, किन्तु उसके परि-

वेष्टन की तिथि दूसरी शताब्दी में पड़ती है। परन्तु साँची स्तूप के परिवेष्टन की तिथि तीसरी शताब्दी ई० पू० है। इसके निर्माणकर्त्ता भी प्रियदर्शी सम्राट अशोक थे। यद्यपि उससे संयुक्त तोरण अशोक के कुछ वर्ष पीछे के बने हुए माने जाते हैं।

गुफा अथवा चैत्य

चैत्य गुफाओं के रूप में बने हुए बौद्ध मन्दिर हैं। इनकी विशेषता यह है कि वे भवन की तरह अलग से नहीं बनाये जाते थे, किन्तु चट्टानों में खोदे जाते थे। इनकी संख्या लगभग २०-३० के बतलाई जाती है। इनमें से एक को छोड़कर बाक़ी सब चट्टानों से खोदकर बनाये गये हैं। मूलतः इन गुफा मन्दिरों में कोई सजावट नहीं हुआ करती थी।

अशोक युग के सात गुफा-मन्दिरों का पता चला है। ये गुफा-मन्दिर गया के पास नागार्जुन पहाड़ियों पर बने हैं। इनको जैसा कि ऊपर कह आये हैं पहाड़ियों को काट कर बनाया गया है। इन मौर्य गुफाओं को अशोक और उनके नाती दशरथ ने बनवाया था। इनमें से सब से बड़ा गुफा-मन्दिर गोपिक-गुफा है। इस गुफा के दोनों किनारे अर्द्ध गोलाकार हैं। इसकी लम्बाई ५० फीट ५ इंच और चौड़ाई १७ फीट २ इंच, तथा ऊँचाई १० फीट ६ इंच है। अशोक की बनवाई हुई ३ गुफाओं पर उनका लेख खुदा हुआ है। इन में से प्रथम गुफा कर्ण चौपर गुहा है, जिसकी लम्बाई ३३ फीट ६ इंच, चौड़ाई १४ फीट और ऊँचाई १० फीट ९ इंच है। दूसरी सुदामा गुफा है। इस गुफा मन्दिर के बाहरी और भीतरी दो कोष्ट हैं। भीतरी कोष्ठ गोलाकार है और छत अर्द्ध मण्डलाकार है। बाहरी कोष्ट दीर्घाकार है, जिसकी लम्बाई ३२ फीट ९ इंच, चौड़ाई ६ इंच और ऊँचाई १२ फीट २ इंच है। तीसरी लोमस ऋषि, चौथी विश्वामित्र गुफायें हैं। इन गुफा-मन्दिरों पर मौर्य-शिल्पकला की पूरी विशेषतायें अंकित हैं। गुफा-मन्दिर की दीवाल तथा छत पर पत्थर की चमकीली पालिश लगी है।

अशोक के पश्चात बने हुए पूर्वकालीन गुफा-मन्दिर अथवा चैत्य पश्चिमी भारत के निम्न स्थानों में पाये गये हैं, भाज, कोनदाने, पीतल खोरा, अजन्ता, नासिक और कार्ली। इसका कारण यही मालूम होता है कि पश्चिमी भारत में सब से अधिक ऐसी चट्टानें मिलती हैं, जो गुफाओं के लिये उपयुक्त हों।

उपरोक्त सभी गुफायें ई० पू० की मानी जाती हैं। इनमें से सब से पुरानी गुफा भाज की है। इस गुफा मन्दिर का निर्माण काल-तीसरी शताब्दी ई० पूर्व का माना जाता है। किन्तु कार्ली की गुफा अथवा चैत्य सब से सुन्दर है। गुफा निर्माण कला की यह अनुपम कृति है। आकार में यह सब से बड़ी है। यह बहुत सुरक्षित अवस्था में मिली है और अपनी शैली का पूर्ण प्रतीक है।

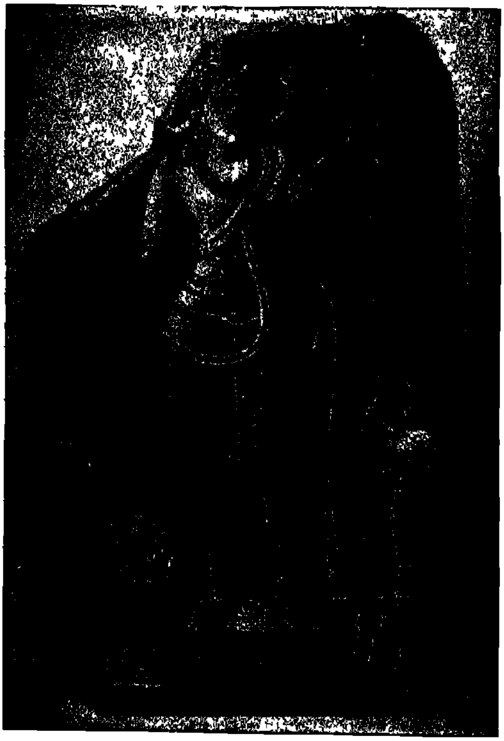
कार्ली चैत्य की तरह ही अन्य चैत्य भी हैं किन्तु उनके आकार और विस्तार में अन्तर है। भाज और कोनदाने के स्तूप ६० फीट लम्बे हैं। अजन्ता का स्तूप ९६ फ़ीट और नासिक का ४५ फीट है।

अजन्ता के चैत्यों की संख्या चार है। इनकी तिथि पहली ई० सन् से छठी ई० सन् तक मानी जाती है। पीछे के बने हुए चैत्यों में बुद्ध की मूर्त्ति भी मिलती है। अजन्ता गुफा के स्तम्भ आधार (base) और मौली (Capital) रहित हैं। बनावट बिलकुल सादी है। एलोरा की विश्वकर्मा गुफ़ा ८५ × ४३ फीट है। इसकी छत पत्थर से ही काट कर बनाई गई है। इसमें लकड़ी के छत की शैली का अनुकरण किया गया है। इसके बरामदों पर बहुत सुन्दर शिल्प-कार्य किया हुआ है। केनहरी गुफा भी प्रसिद्ध गुफाओं में है। इसमें यद्यपि कार्ली चैत्य की शैली का ही अनुकरण किया गया है; किन्तु इसकी शैली निकृष्ट है।

गुफ़ा-विहार

गुफा मन्दिरों की तरह चट्टानों को काट कर गुफा-विहार भी बनाये जाते थे। गुफा-विहार, भवन-विहारों की भांति भिक्षुओं के विश्राम-गृह हुआ करते

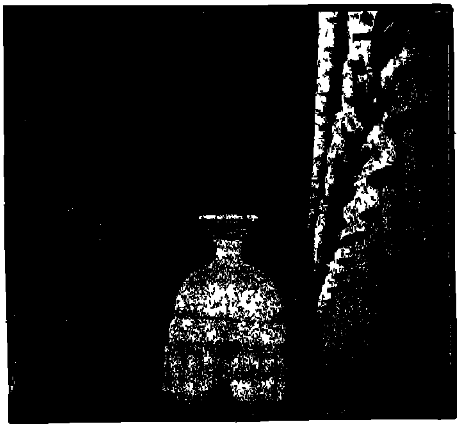
बौद्ध वास्तु-कला के नमूने



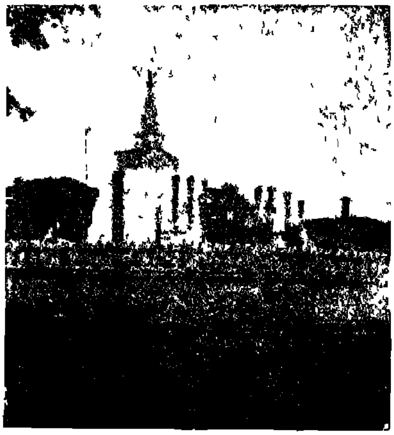
बौद्ध मूर्ति-कला का एक आदर्श नमूना
[महाबोधि सोसायटी के सौजन्य से]



लुम्बनी से प्राप्त वास्तु-कला का एक नमूना
[महाबोधि सोसायटी के सौजन्य से]



अजन्ता का एक स्तूप
[महाबोधि सोसायटी के सौजन्य से]



अनुराधापुर के बौद्ध खंडहर
[महाबोधि सोसायटी के सौजन्य से]

थे। अतः विहारों के दो प्रकार थे—एक गुफा-विहार और दूसरा भवन-विहार।

गुफा विहारों की शैली भवन-विहारों की जैसी ही थी। इतना अन्तर अवश्य था कि गुफा-विहार में दालान के एक तरफ कोठरियों के बजाय खुला हुआ बरामदा रहा करता था, जिससे भीतर प्रकाश और हवा प्रचुरता से जा सके। पश्चिमी भारत में जहाँ पर गुफा-मन्दिर हैं—वहीं गुफा विहार भी मिले हैं। अजन्ता, नासिक, वेदसा, नदसूर, पीतलखोरा और भाज सब में गुफा-विहार बने हैं। पूर्वीय भारत के विहारों से इन विहारों की यह विशेषता है कि उनमें किसी मूर्ति का शिल्पीकरण नहीं मिलता।

सब में प्रसिद्ध विहार अजन्ता के हैं। अजन्ता का १६ वाँ और १७ वाँ विहार बौद्ध वास्तु-कला के सौन्दर्य के पूर्ण प्रतीक हैं। इनका सौन्दर्य उनके भित्ति-चित्रों से और भी खिल उठा है। ये विहार गुप्त कालीन माने जाते हैं।

अजन्ता विहारों के अतिरिक्त माडु से २० मील दूर बोध में आठ या नौ विहार हैं। इनकी दीवारों पर अजन्ता विहार की तरह भित्ति-चित्र बने हुए थे, जिनका सौन्दर्य अजन्ता-चित्रकारी से कम न था। किन्तु ये चित्र अब मिट गये हैं। एलौरा के विश्व-कर्मा चैत्य के पास कई विहार हैं। इनमें से सब से बड़ा ११० फ़ीट×४७० फीट है, इसके अलावा अन्य कई छोटे-छोटे विहार हैं। ये सब विश्वकर्मा चैत्य के समकालीन हैं।

इनके अलावा एलौरा में बौद्धों के तीन और मंदिर या विहार हैं (१) दो ताल (२) तीन ताल और (३) दश अवतार। तीन ताल और दश अवतार विहारों पर ब्राह्मण शिल्पीकरण का प्रत्यक्ष प्रभाव देखने को मिलता है।

पश्चिमी भारत के पश्चात् अब हम पूर्वी भारत के विहारों की तरफ आते हैं। भारतवर्ष के पूर्वी किनारे वाले प्रसिद्ध गुफा-विहार उड़ीसा के उदय गिरि और खडगिरि पहाड़ियों में पाये जाते हैं। ये पहाड़ियाँ कटक से क़रीब २० मील की दूरी पर हैं। दोनों पहाड़ियों पर ३५ से अधिक ही गुफायें हैं। ये गुफ़ाएँ अथवा गुम्फायें बौद्धों और जैनियों की हैं। दोनों धर्म की गुफ़ाओं के शिल्पीकरण में यथेष्ट अन्तर मिलता है। जैन गुफायें चैत्य विहीन हैं, क्योंकि उनके धार्मिक आचार में चैत्यों के लिये कोई स्थान नहीं था। खड-गिरि पहाड़ी की गुफ़ाओं में सबसे प्रसिद्ध अनन्त गुफा है। उदयगिरि में रानी गुम्फा, गणेश गुम्फा और जयविजय गुम्फाएं प्रसिद्ध हैं। इनका आधार और सजावट बहुत कलात्मक है।

इनके अलावा उदयगिरि की हाथी गुम्फा और मचपुरी गुम्फा बहुत प्रसिद्ध हैं।

इन सब में हाथी गुम्फा पुरानी मानी जाती है। यह पहाड़ पर काट कर बनायी गयी है। आगे को निकले हुए भाग पर कलिंग के प्रसिद्ध चेदि सम्राट खारवेल का लेख खुदा है।

अनन्त गुम्फा—प्राचीनता में हाथी गुम्फा और मचपुरी गुम्फा के पश्चात अनन्त गुम्फा का स्थान है। इसमें केवल एक मञ्जिल है। शैली मे मचपुरी का अनुकरण है। इस गुफ़ा के दरवाजों पर अलङ्कृत चक्र (Aiches) बने हैं।

रानी गुम्फा—उड़ीसा की गुफाओं के शिल्पी-करण में सबसे सुन्दर शृंगार इस गुफा का हुआ है। इसमें दो मज़िल हैं। प्रत्येक के साथ एक एक बरामदा है। बरामदे के दक्षिण और पश्चिम में भवन बने हुए हैं। ऊपरी मंज़िल २० फीट है और उसमें चार कोठरिया हैं। निचली मज़िल ४३ फीट है, जिसमें ३ कोठरियां हैं। कोठरियों की दीवारों पर चित्र खिंचे हुए हैं। दोनों मंजिलों में ऊपरी मज़िल पहले की बनी हुई है।

बौद्ध वास्तु और शिल्पकला को यहीं पर समाप्त कर अब हम अन्त में बौद्ध मूर्तिकला के गान्धार शैली और अजन्ता की बौद्ध चित्रकला पर थोड़ा-सा प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

गान्धार मूर्तिकला

ब्राह्मण धर्म के प्रभाव से कनिष्क युग में (दूसरी शता-ब्दी ई० सन्) जब महायान धर्म में भक्ति भाव का उद्रेक

हुआ—भगवान तथागत भक्त के समक्ष साकार होकर इष्ट और साध्य के रूप में प्रकट हुए। भक्तों ने उनकी मूर्तियों की कल्पना की और तदनुसार कलाकारों ने अपनी छेनियों को लेकर बहुलता से बुद्ध की प्रतिमाओं को गढना प्रारम्भ कर दिया। मूर्तिकरण की वह शैली; जिसका विकास कनिष्क के समय पश्चिमोत्तर प्रदेश गान्धार में हुआ था, गान्धार शैली या यूनानी-बौद्ध शैली के नाम से प्रख्यात है, क्योंकि यहां की बौद्ध प्रतिमाओं के मूर्तिकरण में यूनानी शैली का उपयोग किया गया है। इससे पहले की भारतीय कला पूर्णतया राष्ट्रीय थी। उसकी जड़ें हमारे अध्यात्म के आलवाल में घुसी हुई थीं। इसका स्वरूप पूर्णतया धार्मिक विश्वासों और प्रकृति के सौन्दर्य से छाया हुआ था। वह कृत्रिमता तथा आदर्श वादिता दोनों से मुक्त थी। मध्य कालीन भारतीय कला की भांति बौद्ध युग में आध्यात्म के गूढ़ विचारों को लाक्षणिकों द्वारा चित्रण नहीं किया गया था; अपितु बुद्ध के चरित्रों का बहुत ओजस्विनी और भावनात्मक शैली में सरसता से चित्रीकरण और शिल्पीकरण हुआ है। यही कारण है कि उन्होंने जनता के हृदयों को सतत अपनी ओर आकृष्ट करने में सफलता पाई है।

किन्तु अशोक के पश्चात् जब मौर्यों का सूर्य क्षीण हुआ और उनकी शक्ति कुम्हलाकर सीमान्तों से लुप्त हो गई—उत्तर-पश्चिमी भारत यूनानियों के अधिकार में चला गया। अपनी राजसत्ता के साथ यूनानी अपनी संस्कृति और कलाओं को भी यहां ले आये। यूनानियों की शिल्प-शैली सक और पार्थियन युग तक चलती गई; किन्तु बौद्ध धर्म के विचारों से सम्पर्क होने पर यूनानी कला पर भारतीयता का रंग चढ़ने लगा। भारतीय और यूनानी कला में संधि हुई और दोनों ने मिलकर एक संयुक्त यूनानी - भारतीय कला को जन्म दिया। दोनों के योग से पैदा होने वाली यही कला यूनानी बौद्ध कला अथवा गान्धार-कला के नाम से प्रसिद्ध है, जिसका जन्म सकों और पार्थियनों के समय में हुआ और जो कनिष्क के समय में आकर पूर्ण विकास को पहुँची।

गान्धार शैली में यवन देवताओं की आकृति के अनुरूप बुद्ध की मूर्तियां बनाई गईं। वेष-भूषा तथा वस्त्रादि पहनने का ढंग भी यवन प्रतिमाओं के अनुरूप है। इस शैली में बुद्ध की विभिन्न मुद्राओं की प्रतिमाएं बनी हैं, जिनमें ध्यान-मुद्रा, धर्म-चक्र-मुद्रा, अभय-मुद्रा, वरद-मुद्रा प्रसिद्ध हैं।

यद्यपि अंग विन्यास की दृष्टि से इन प्रतिमाकरणों में यवन शैली अधिक प्रयुक्त हुई है, किन्तु भावनाओं के व्यक्तिकरण में वे भारतीय हैं। अतः गान्धार शैली में केवल यवन सौन्दर्य का प्रदर्शन ही नहीं हुआ है, किन्तु भारतीय आध्यात्मिक और सात्विक भावनाओं की भी इन में पूर्ण छाया प्रतिबिम्बित है।

गान्धार शैली का ५० ई० सन् से २०० ई० तक भारतवर्ष में बहुत प्राबल्य रहा। उत्तरी भारत में भी इसका अनुकरण किया गया। बौद्ध धर्म के विचार इन मूर्तिकरणों में मध्य एशिया से लेकर चीन, कोरिया और जापान तक पहुँचे। किन्तु दक्षिण भारत में इस शैली का प्रभाव बहुत क्षीण दिखलाई देता है।

यूनानियों के लिए मनुष्य, मानव सौन्दर्य और मानव बुद्धि सब कुछ थे, और इन्हीं आदर्शों पर उनकी कला ने विकास किया था। अतः जब कि यूनानी-विचार पार्थिव थे, हमारे आध्यात्मिक थे। यूनानी युक्तिमत थे, भारतीय भावुक थे। किन्तु अन्त में भारतीयों की यह उच्चाभिलाषा विजयिनी हुई और उन्होंने अपनी इस उच्च विचार धारा को गुप्त युग में चित्रित कर दिखलाया। इस प्रकार प्रारम्भ से ही भारतीय विचार यवनकला को प्रभावित करते रहे। यही कारण है कि गान्धार कला के पूर्ण प्रतीक केवल बाह्य रूप में यूनानी दिखलाई देते हैं; किन्तु उनके अध्यात्मिक भाव, सौन्दर्य का आदर्श और देवी देवता तथा मानव आकृतियां सभी साररूपेण भारतीय हैं, (Antiquities of India, by Barnett)।

अजन्ता की बौद्ध चित्र-कला



महाबोधिसत्व
[गुफा नं० १, अजन्ता]



शृङ्गार का एक दृश्य
[गुफा नं० १७, अजन्ता]



आकाशगामी अप्सरायें और गन्धर्व
[गुफा नं०१७, अजन्ता]



हिरनों का झुण्ड
[गुफा नं० ५, अजन्ता]

बौद्ध चित्र कला

भारतीय चित्रकला के प्राचीनतम् प्रतीक दुर्बल पदार्थों में बने होने से इतिहास के अंधकार में छिप गये हैं ! सब से प्राचीन चित्र सरगुजा स्टेट में रामगढ़ पहाड़ी जोगीमारा गुफा के माने जाते हैं। ये चित्र सम्भवतया दूसरी शताब्दी ई० पू० के हैं ! किन्तु अभी तक उनका प्रकाशन नहीं हुआ है !

इस समय हमारा चित्रकला का ज्ञान अजन्ता तक ही सीमित है।

अजन्ता में २९ गुफ़ायें हैं। ये सब बौद्ध चैत्य और विहार हैं, जिन का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। इन गुफाओं की भित्तियों पर बौद्ध धर्म के चित्र बने हुये हैं। इनकी तिथि ५५० ई० से ६४० ई० तक मानी जाती है !

ये चित्रकला की दृष्टि से बहुत उच्च हैं। इनके चित्रण में प्रभाव और नूतनता है। चित्रांकरण बहुत ही प्रगल्भता और सूक्ष्मता से हुआ है। इनमें प्रकृति और मानव सौन्दर्य ख़ूब खिला है। मानव आकृतियाँ बहुत ही ललित और यथार्थ हैं। इनमे भावनाओं का स्पष्ट व्यक्तीकरण हुआ है। भाव चुभते हुये हैं जिनका हृदय पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। पुरुषों की भांति स्त्रियों का चित्रांकन भी बहुत ही सुमधुर, सरल और सुन्दर हैं। इनमें भारतीय नारी की कोमलता और चारुता खेल रही है। पुष्पों और विटपों का चित्रांकण भी लालित्य से परिपूर्ण है। भीतरी शिल्पीकरण, भी बहुत ही सुन्दर यथार्थ और भावमय है।

अजन्ता की इस गौरवपूर्ण चित्रकारी ने संसार को विमुग्ध कर रखा है। बड़े बड़े कलाविदों ने उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। श्री ग्रिफ़िथ का कहना है कि, "कला की दृष्टि से अजन्ता के चित्र बहुत उच्च हैं··· 'उनकी तुलना इटली के उन चित्रों से की जा सकती है जिनको संसार उच्च कोटि के मानता है" (Guide to Ajanta Frescoes, by G Yazdani, P 4)।

"अजन्ता की चित्रकला संसार की कला के इतिहास में बहुत प्रमुख स्थान रखती है, यूनानी कला के सर्वोत्तम स्मारक भी उससे आगे नहीं जा सकते। जिन भिक्षुओं ने अजन्ता की गुफाओं की दीवारों को चित्रों से विभूषित किया उनके सामने एक महान उद्देश्य और एक पवित्र कर्तव्य था। अजन्ता के चित्रकारों ने गुफा की दीवारों को अत्यन्त पवित्र भावनाओं के साथ कूची से रंगा होगा। अजन्ता की चित्रकला धार्मिक विश्वास का साकार रूप है। चित्रों की लकीरों में एक गति और भव्यता है। अजन्ता की इस चित्र-कला के निर्माण में अनेक शताब्दियां लगी थीं और इन चित्रों में भारत के कई शताब्दियों के जीवन के विविध दृश्य संसार के सामने चित्रित पड़े हुये हैं।"

बौद्ध कला के इस संक्षिप्त इतिहास का परिवेक्षण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध युग में वास्तु कला, शिल्पकला, मूर्तिकला और चित्रकला का जो विकास देखने को मिलता है वह अद्वितीय है। यह विकास सर्वतोमुखी था, जिसकी प्रगल्भता, सौंदर्य और लालित्य कला के हर क्षेत्र में दर्शनीय है।

(६०३ पृष्ठ का शेष)

विनय उपदिष्ट हुआ है, प्रज्ञप्त हुआ है, मेरे न रहने पर वही तुम्हारा गुरु है।

तब भगवान ने भिक्षुओं को आमन्त्रित किया—भिक्षुओ ! बुद्ध, धर्म, संघ में एक भिक्षु को भी कोई शंका हो तो पूछ लो। भिक्षुओ ! फिर पश्चात्ताप न करना कि 'शास्ता हमारे सन्मुख थे किन्तु हम कुछ पूछ न सके।'

इस प्रकार कहने पर वे भिक्षु मौन रहे—दूसरी बार भी—तीसरी बार भी—तब आयुष्मान आनन्द ने भगवान से कहा—आश्चर्य भन्ते ! अद्भुत भन्ते ! मैं इस भिक्षु संघ में इतना प्रसन्न हूँ, यहां एक भिक्षु को भी बुद्ध, धर्म, संघ, मार्ग या प्रतिपद् के विषय में शंका नहीं है।

तब भगवान ने भिक्षुओं को आमन्त्रित किया—'भिक्षुओ ! अब तुम्हें कहता हूँ—संस्कार नाशमान हैं। आलस्य रहित होकर लक्ष्य का संपादन करो। यह तथागत का अन्तिम वचन है।

जीवन के छाया-चित्र

(१)

नदी के तट पर रुक कर बोधिसत्व ने पूछा—

'इस नदी का क्या नाम है ?'

'देव ! अनोमा (छोटी नदी) है'

'हमारी प्रव्रज्या भी अनोमा होगी' विचार कर एड़ लगाकर घोड़े को संकेत किया। वह एक छलांग में आठ ऋषभ चौड़े पाटवाली नदी को पार कर दूसरे तीर पर पहुँच गया। तब बोधिसत्व ने घोड़े से उतर उजले रेशम सी कोमल बालू के तट पर खड़े हो छन्दक से कहा—

'सौम्य छन्दक ! तू मेरे अलकार तथा कंथक को लेजा। मैं प्रव्रजित होने जा रहा हूँ।'

'आर्य ! मैं भी प्रव्रजित होऊगा।'

'तुझे प्रव्रज्या न मिल सकेगी तू लौट जा' तीन बार कहकर बोधिसत्व उसे अपने अलंकार और कन्थक को सौंप सोचने लगे—

'मेरे केश प्रव्रजित के योग्य नहीं और बोधिसत्व के केश काटने वाला दूसरा कोई नहीं, अतः स्वयं ही खड्ग से इन्हें काट डालूं', तब दाहिने हाथ में खड्ग ले बायें से मुकुट सहित केशकलाप को काट डाला। केश केवल दो अंगुल भर लम्बे रहकर दाहिनी ओर से घूम सिर में चिपक गए। फिर जीवन भर उनका इतना ही परिमाण रहा। (निदान-कथा)

(२)

उस स्वर्णथाल को दूसरे स्वर्णथाल से ढांक वस्त्र से बाँध सब अलंकारों से अलंकृत (सुजाता) थाल को सिर पर रख बड़े वैभव के साथ वह वृक्ष के नीचे पहुँची। वहाँ बोधिसत्व को देख उन्हें वृक्ष का देवता समझ बहुत सन्तुष्ट हो जहां से वे दिखाई पड़ते थे वहीं से नमन करती हुई निकट गई और सिर से थाल उतार कर उसे खोला। तब सुवर्ण की झारी में सुरभित फूलों से सुगन्धित जल ले उनके समीप जा खड़ी हुई। घटिकार महाब्रह्मप्रदत्त मिट्टी का भिक्षा पात्र अब तक बोधिसत्व के पास था परन्तु इस समय वह न दिखाई पड़ा। पात्र को न देख बोधिसत्व ने दाहिना हाथ बढ़ाकर जल ग्रहण किया। सुजाता ने थाल सहित खीर महापुरुष के हाथ में अर्पित की। महापुरुष ने सुजाता की ओर देखा—उसने अभिप्राय समझ उत्तर दिया—'आर्य ! मैंने तुम्हें यह अर्पण किया, इसे ग्रहण कर जहां इच्छा हो पधारें' फिर अभिवन्दन कर, 'जैसे मेरी मनोकामना पूरी हुई वैसे ही तुम्हारी भी हो' कहकर लाख मुद्रा मूल्यवाले थाल की ओर पुरानी पत्तल के समान ध्यान न देकर लौट गई।

बोधिसत्व न्यग्रोध के तले अपने स्थान से उठे और वृक्ष की प्रदीक्षणा कर थाल को ले नेरञ्जरा के तीर पर आये।

वहा लाखों बोधिसत्वों के बुद्धत्व-प्राप्ति के दिवस स्नान करने योग्य सुप्रतिष्ठित तीर्थ है। वहीं तट पर थाल को रखकर उतर स्नान कर अनेक लाख बुद्धों का परिधान चीवर पहनकर पूर्व की ओर मुख करके बैठे और एक बीज वाले पके ताल-फल के प्रमाण वाले उनचास ग्रास करके इस मस्त निर्जल मधुर खीर का भोजन किया। यही भोजन बुद्धत्व प्राप्ति होने पर बोधिमण्ड में सात सप्ताह तक बैठे रहने के समय उनचास दिन का आहार हुआ। इतने समय के भीतर न दूसरा भोजन किया, न स्नान किया, न मुख धोया न अन्य शारीरिक कृत्य किये।

(निदान-कथा)

(३)

'आर्य कुमार सिद्धार्थ भिक्षाटन कर रहे हैं' यह सुनते ही लोग दुमञ्जिले तिमञ्जिले भवनों पर से खिड़कियाँ खोल-खोल कर देखने लगे।

राहुल-माता देवी ने भी 'आर्य पुत्र इसी नगर में राजाओं के योग्य समारोह से स्वर्ण-खचित पालकी आदि में घूमते थे और आज यहीं केशश्मश्रु दूर कर

काषाय पहन पात्र ले भिक्षाचार कर रहे हैं। क्या यह शोभा देता है! कह कर वातायन खोल कर देखा कि परम विरागोज्ज्वल बुद्धशरीर नगर के सब मार्गों को प्रभा से उद्भासित कर रहा है। सब ओर व्याम भर आभा फैलाने वाली, महापुरुषों के बत्तीस लक्षणों तथा अस्सी व्यञ्जनों से युक्त बुद्ध-शोभा से शोभित भगवान को देखा और नख से शिख तक आठ नरसिंहों की गाथाओं में उसका वर्णन किया—

'कृष्ण, स्निग्ध कोमल और घुघराले केश हैं, सूर्य के समान निर्मलतलयुक्त ललाट है, सुडौल, कोमल, उन्नत, और लम्बी नासिका है—पुरुषसिंह अपनी आभा फैला रहे हैं,'—फिर आकर राजा से कहा 'आपका पुत्र भिक्षाचार कर रहा है'।

राजा आकुल अस्त-व्यस्त वस्त्र संभालता हुआ शीघ्रता से निकल वेग से चलकर तथागत के सामने खड़ा हो कहने लगा—'भन्ते! हमें क्यों लज्जित करते हो! किसलिये भिक्षाचार करते हो! क्या यह बताना चाहते हो कि 'हमारे घर' इतने भिक्षुओं के लिये भोजन नहीं है?

महाराज! यह तो हमारे वंश का आचार है।'

'भन्ते! निश्चय ही हमारा वंश महासम्मत का क्षत्रियवंश है! इस वंश का कोई क्षत्रिय कभी भिक्षाचारी नहीं हुआ।'

'महाराज! राजवंश तो आपका वंश है। हमारा वंश तो दीपङ्कर, कौण्डन्य, काश्यप आदि का बुद्ध-वंश है इसमें सहस्रों अन्य बुद्ध भिक्षाचारी रहे हैं!

(४)

भोजन समाप्त हो चुकने पर राहुलमाता को छोड़ शेष सभी अन्तःपुरवासियों ने आकर तथागत की वन्दना की।

परिजनों द्वारा 'आर्यपुत्र की वन्दना करने जाओ' कहे जाने पर वह 'यदि मैं गुणवती हूँ तो आर्यपुत्र स्वयं ही यहा आयेंगे और उनके यहां आने पर ही वन्दना करूँगी' उत्तर दे वहीं रह गई।

राजा को पात्र दे दो शिष्यों के साथ तथागत राजपुत्री के आवास में गए और 'राजकुमारी को इच्छानुसार अभिवादन करने देना, बाधा न डालना (कुछ बोलना मत)।' कहकर बिछे हुए आसन पर आसीन हुए। राजकुमारी ने शीघ्रता से आकर चरणों का स्पर्श कर उनपर अपना मस्तक रख यथारुचि अभिवन्दन किया। तब राजा ने उसके स्नेह-सम्मान आदि का वर्णन करते हुए कहा—

'भन्ते! मेरी पुत्री आपके काषाय-धारण को सुनकर काषाय पहनने लगी, आपके एक बार भोजन करने को सुन, एक बार आहार करने लगी, आपके पर्यङ्क पर न सोने को सुन तख्त पर सोने लगी और आपके माला गन्ध आदि से दूर रहने को सुन माला गन्ध आदि से विरक्त हो गई। 'हम तुम्हारी परिचर्य्या करेंगे' नैहर वालों के इस प्रकार लिखने पर भी किसी सम्बन्धी से नहीं भेंट करती! भगवान! मेरी पुत्री ऐसी गुणवती है!

'महाराज! इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं। इस समय तो आपकी संरक्षता में रहकर परिपक्व ज्ञान सहित राजपुत्री ने अपनी रक्षा की है। पहले तो किसी की संरक्षतारहित और अपरिपक्व ज्ञान के साथ पर्वत के नीचे विहरते हुए उसने अपनी रक्षा की थी, कहकर चन्द किन्नर जातक कथा सुना बुद्ध आसन से उठकर चले गए।

(निदान-कथा)

(५)

तब राहुलमाता देवी ने कुमार राहुल से कहा—'राहुल! यह तेरे पिता हैं। जा इनसे दायज पितृधन मांग', तब राहुलकुमार तथागत के पास गया। जाकर उनके सामने खड़ा होकर कहने लगा—'श्रमण! तेरी छाया सुखमय है'। तथागत आसन से उठकर चले। कुमार राहुल भी उनके पीछे-पीछे यह कहता हुआ चला गया—'श्रमण! मुझे दायज दे, श्रमण मुझे दायज दे।'

तब तथागत ने सारिपुत्र से कहा—'तो सारिपुत्र! कुमार राहुल को प्रव्रजित करो।'...आयुष्मान सारिपुत्र ने राहुल कुमार को प्रव्रजित किया। तब शुद्धोदन शाक्य जहा तथागत थे वहा गया और

उन्हें अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे हुए शुद्धोदन शाक्य ने तथागत से कहा—

'भन्ते! मैं एक वर चाहता हूं।'

'गौतम! तथागत वर से विरत है।'

'भन्ते! जो उचित है दोषरहित है।'

बोलो गौतम!

आप के प्रव्रजित होने पर मुझे बहुत दुःख हुआ था वैसे ही नन्द के प्रव्रजित होने पर राहुल—के होने पर अत्यन्त (दुःख हुआ)। भन्ते!

पुत्र का स्नेह मेरे चर्म को भेद रहा है। चर्म को भेद कर मज्जा को भेद रहा है, मज्जा को भेद कर शिराओं को भेद रहा है और शिराओं को भेद कर अस्थियों को भेद रहा है। अस्थियों को भेद कर उसने मुझे आहत कर डाला है। अच्छा हो भन्ते यदि भिक्षु लोग माता-पिता की आज्ञा के बिना किसी को प्रव्रजित न करें।'……तथागत ने भिक्षुओं को सम्बोधन कर कहा—भिक्षुओ! माता-पिता की अनुमति के बिना पुत्र को प्रव्रजित न करना चाहिये।

(महावग्ग से)

(६)

अम्बपाली गणिका को ज्ञात हुआ कि भगवान वैशाली आये हैं और उसके आम्रवन में विहरते हैं। तब अम्बपाली भद्र यानों को जुतवा कर एक सुन्दर रथ पर आरूढ हो सुन्दर यानों के साथ वैशाली से निकली और जहां उसका आराम था वहां चली। जहां तक रथ का मार्ग था वहां तक रथ से जाकर फिर रथ से उतर पैदल ही जहां भगवान थे वहां गई। पहुँच कर उन्हें अभिवादन कर एक ओर बैठ गई। एक ओर बैठी हुई अम्बपाली को जब भगवान धार्मिक कथा से संदर्शित कर चुके तब अम्बपाली गणिका ने कहा—

'भन्ते! भिक्षु संघ के साथ मेरे यहां कल का भात स्वीकार करें।

भगवान ने मौनभाव से स्वीकृत दी। तब अम्बपाली भगवान की स्वीकृत समझकर, आसन से उठ भगवान की परिक्रमा और अभिवादन करके चली गई।

वैशाली के लिच्छवियों ने सुना—भगवान वैशाली आये हैं और अम्बपाली के आम्रवन में विहारते हैं।

तब वे लिच्छवि भद्र यानों को जुतवा कर, सुन्दर रथारूढ हो सुन्दर यानों के साथ वैशाली से निकले। उनमें कोई-कोई नीलवर्ण, नील परिधान, नील अलंकार वाले थे, कोई कोई पीत वर्ण, पीत परिधान, पीत अलंकार वाले थे, कोई-कोई लोहित वर्ण, लोहित परिधान लोहित अलंकार वाले थे और कोई कोई श्वेत-वर्ण, श्वेत परिधान, श्वेत अलंकार वाले थे।

गणिका अम्बपाली ने तरुण-तरुण लिच्छवियों के धुरों से धुरा, चक्रों से चक्र और जुओं से जुआ टकरा दिया। तब वे लिच्छवि अम्बपाली से बोले—'री अम्बपाली! तू क्यों तरुण तरुण लिच्छवियों के (रथ के) धुरों से धुरा, चक्रों से चक्र और जुओं से जुआ टकराती है।' 'हे आर्य-कुमारो! क्योंकि मैंने भिक्षु संघ के साथ भगवान को कल के भोजन के लिए निमंत्रित किया है।' 'री अम्बपाली! शत सहस्र कार्षापण से भी इस भात का अधिकार हमें दे दे।'

'आर्य-कुमारो! यदि वैशाली जनपद भी मिले तो भी मैं इस महान भात को नहीं दूंगी।'

तब उन लिच्छवियों ने उंगलियां चटकाई—'अरे हम इस अम्बिका से पराजित हो गये। अरे हमें अम्बिका ने वंचित कर दिया।'

तब वे लिच्छवि आम्रवन में गये। भगवान ने दूर से ही लिच्छवियों को आते देखकर भिक्षुओं को आमंत्रित किया—

'देखो भिक्षुओ! लिच्छवि-परिषद् को! अवलोकन करो भिक्षुओ! लिच्छवि-परिषद को। भिक्षुओ! लिच्छवि परिषद को देव परिषद् समझो।' तब वे लिच्छवि जहां तक रथ का मार्ग था वहां तक रथ से जाकर फिर रथ से उतर कर पैदल ही जहां भगवान थे वहां गये। जाकर भगवान के अभिवादन कर एक ओर बैठ गए। एक ओर बैठे लिच्छवियों को भगवान जब धार्मिक कथा से सदर्शित समुत्तेजित कर चुके तब वे लिच्छवि बोले—

'भन्ते ! भिक्षु-संघ के साथ हमारे यहां कल का भात स्वीकार करें।'

'लिच्छवियो ! कल तो मैंने अम्बपाली गणिका का भात स्वीकार कर लिया है।'

तब उन लिच्छवियों ने उंगलियां चटकाईं— 'अरे हम हम अम्बिका से पराजित हो गये। हमें इस अम्बिका ने वंचित कर दिया।'

तब वे लिच्छवि भगवान के वचनों का अभिनन्दन कर, अनुमोदन कर, आसन से उठ भगवान की परिक्रमा और उनका अभिवादन कर चले गए।

उस रात के व्यतीत हो जाने पर अम्बपाली गणिका ने अपने आराम में उत्तम खाद्य-भोजन प्रस्तुत कर भगवान को समय की सूचना दी। पूर्वाह्न के समय परिहित, पात्र-चीवर-युक्त भगवान अम्बपाली के परोसने के स्थान में गये और वहां बिछे हुए आसन पर बैठे। तब अम्बपाली गणिका ने बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघ को अपने हाथ से उत्तम खाद्य-भोजन से संतर्पित किया। भगवान के भोजन कर पात्र से हाथ खींच लेने के उपरान्त गणिका अम्बपाली एक नीचे आसन पर एक ओर बैठ गई। एक ओर बैठी अम्बपाली गणिका ने भगवान से कहा—

'भन्ते ! मैं इस आराम को बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघ को देती हूँ।

भगवान ने आराम को स्वीकार किया।

(दीघ निकाय)

(७)

तब तथागत महाभिक्षु-संघ के साथ जहां हिरण्यवती नदी के परले तीर पर कुशीनारा के मल्लों का शालवन है वहां गए। जाकर आयुष्मान आनन्द से बोले—आनन्द ! इन यमक शालों के बीच में उत्तर की ओर सिरहाना कर मचक बिछा दे, थका हूँ आनन्द ! लेटूंगा।'

'अच्छा भन्ते !'

उस समय बिना फूलने की ऋतु के ही वे शाल फूलों से लदे थे। तथागत की पूजा के लिए वे फूल उनके शरीर पर बरसते थे—

तब तथागत ने आयुष्मान आनन्द से कहा—आनन्द ! इस समय बिना ऋतु के ही यह यमक शाल फूलों से लदे हैं। किन्तु, आनन्द ! इनसे तथागत सत्कृत, गुरु सम्मानित और पूजित नहीं होते। आनन्द ! जो भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, उपासिका धर्म के मार्ग पर आरूढ़ रहता है, यथार्थ मार्ग पर चलकर धर्माचरण करता है उससे तथागत सत्कृत गुरु सम्मानित और पूजित होते हैं। ऐसा ही आनन्द तुम्हें सीखना उचित है।

× × ×

तब आयुष्मान आनन्द विहार में जाकर खूंटी पकड़ कर रोते हुए खड़े रहे—'हाय मैं शैक्ष्य हूं और मेरे कृपालु शास्ता का परिनिर्वाण हो रहा है।'

तथागत ने भिक्षुओं से पूछा भिक्षुओ ! आनन्द कहां है ?

'भन्ते ! आयुष्मान आनन्द विहार में जाकर खूंटी पकड़ कर रोते हुए खड़े हैं।'

'भिक्षु ! मेरे वचन से आनन्द को कहो 'आवुस आनन्द शास्ता तुम्हें बुलाते हैं।'

अच्छा भन्ते !

आयुष्मान आनन्द आकर तथागत को अभिवादन कर एक ओर बैठ गए। तब तथागत ने कहा—

आनन्द ! शोक मत करो, रोओ मत ! मैंने तो पहले ही कह दिया है सभी प्रियों से विछोह होना है सो आनन्द ! वह कहां मिटने वाला है ! जो कुछ उत्पन्न है उसका नाश निश्चित है। 'हाय ! यह नाश न हो' यह तो सम्भव नहीं। आनन्द तुमने दीर्घकाल तक विपुल मैत्रीपूर्ण वाचिक कर्म से तथागत की सेवा की है, मैत्री पूर्ण कायिक कर्म से तथागत की सेवा की है, मैत्रीपूर्ण मानसिक कर्म से तथागत की सेवा की है। आनन्द ! तुम पुण्यवान हो। निर्वाण-साधन में लगकर शीघ्र ही अनास्रव हो जाओ।

आनन्द ! कदाचित तुमको ऐसा लगे—अतीत शास्ता का यह प्रवचन है, अब हमारा गुरू नहीं है। आनन्द ! ऐसा मत समझना। मेरे द्वारा जो धर्म और

(शेष ५९९ पृष्ठ पर)

बौद्ध-युग का महान शिक्षा-केन्द्र : नालन्दा

श्री सत्यपाल धवले

प्राचीन काल में भारतवर्ष की सभ्यता और संस्कृति चरम सीमा तक पहुंच गई थी जिसका अधिक विकास बौद्धकालीन युग में पाया जाता है। इसी समय नालन्दा विश्वविद्यालय का आविर्भाव हुआ था और इसकी ख्याति एशिया के कोने कोने तक फैली हुई थी। यही कारण है कि उस समय हजारों कोस की यात्रा करके, पहाड़ों और नदियों को लांघते हुये, जंगल के वन्य-पशुओं और बटमारों से अपनी रक्षा करके सुदूर देशों से भी लोग अपनी ज्ञान-पिपासा बुझाने यहां आया करते थे। और आने पर भी नालन्दा विश्वविद्यालय में कोई छात्र आसानी से भरती हो जाय, ऐसी बात न थी। प्रथम विद्यालय के सिंहद्वार पर ही परीक्षा होती थी। यदि वह प्रश्नों का समुचित उत्तर दे पाता था, तब उसे विश्वविद्यालय में प्रवेश करने की अनुमति मिलती थी। यहां केवल भारत ही नहीं, बल्कि सुदूर ईरान, मध्य एशिया, चीन, कोरिया, चम्पा, कम्बोज, जावा, सुमात्रा बर्मा, तिब्बत और लङ्का के विद्यार्थी पढ़ने आते थे। यह वास्तव में अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय था। इस विश्व-भारती से सारे एशिया में संस्कृति फैलती थी। यहां के स्नातकों का देश के प्रत्येक भाग में आदर होता था। सब लोग उन्हें विद्वान मानते थे और चारों ओर उनकी ख्याति रहती थी। नालन्दा का नाम ही विद्या के सर्वोत्तम गुणों का पर्यायवाची समझा जाता था।

इस विश्वविद्यालय में सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य और धर्म के अतिरिक्त वेद, दर्शन, ज्योतिष, तर्कशास्त्र, गणित (हेतुविद्या), व्याकरण आदि प्रायः २५ से भी अधिक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। उच्च शिक्षा व्याख्यानों द्वारा दी जाती थी। प्रसिद्ध प्रसिद्ध विद्वान विभिन्न विषयों पर व्याख्यान देते थे और ऐसे व्याख्यान प्रतिदिन सैकड़ों दिये जाते थे। लेकिन नवागन्तुक विद्यार्थी पहले किसी आचार्य के निकट रहकर ही अध्ययन करते थे। यहां की शिक्षा प्रणाली और पण्डितों एवं छात्रों का परस्पर सम्बन्ध आदर्शपूर्ण था। इस विश्वविद्यालय का कुलपति अपने ज्ञान और चरित्र में अद्वितीय होता था। यहां ८५०० स्नातक और १५१० अध्यापक थे। समस्त विद्यार्थियों को न केवल निःशुल्क शिक्षा मिलती थी, वरन उनको भोजन, वस्त्र, निवास और दवा सब कुछ मुफ्त दी जाती थी। विश्वविद्यालय के पास प्रायः दो सौ गांव थे तथा तात्कालिक नरेश इसकी मदद करते थे, जिनकी आमदनी से विश्वविद्यालय का समस्त खर्च चलता था।

भारतवर्ष को नालन्दा विश्वविद्यालय के महापण्डितों में दिङ्नाग, चन्द्रकीर्त्ति, धर्मकीर्त्ति और शान्तिरक्षित जैसे अद्भुत दार्शनिक, चन्द्र गोमी जैसे महावैयाकरण, सरहपा और भुसुक जैसे हिन्दी के आदि कवि पैदा करने का श्रेय प्राप्त है।

इस विश्वविद्यालय की नींव कब पड़ी, यह अनिश्चित है। फाहियान ने, जो चौथी शताब्दी में यहां आया था, इसकी कुछ भी चर्चा नहीं की। पर हुएनत्साङ्ग ने, जो सातवीं शताब्दी के आरम्भ में भारतवर्ष पहुंचा, सम्पूर्ण विश्वविद्यालय का ज्वलंत वर्णन किया है। अतएव इतिहासकार अनुमान करते हैं कि इन्हीं दो शताब्दियों के बीच अर्थात पांचवीं शताब्दी में किसी समय इसकी स्थापना हुई होगी। पर यह सिद्धान्त सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि हुएनत्साङ्ग अपने यात्रा वृत्तान्त में लिखता है कि बुद्ध के निर्वाण के कुछ समय बाद ही शक्रादित्य नाम के एक राजा ने इसे बनवाया और यह ७०० वर्षों से मौजूद है। डा० स्पूनर की भी राय है कि इसकी केवल भेद सूचक प्रधानता इतने निकट की है; परन्तु जगह की प्रधानता और भी अधिक प्राचीन

होगी। फादर हेरास का कहना है कि इसके संस्थापक कुमार गुप्त प्रथम (४१५-४५५ ई०) थे। जो हो, यह तो निश्चित है कि भगवान बुद्ध के समय में (ईसा पूर्व पाचवीं शताब्दी) यहा विहार और मठ थे। उस समय विहारों और मठों के साथ विद्यालय भी होते थे। जहाँ पारगत विद्वान् तथा आचार्य शिक्षक का कार्य करते थे। इसी प्रकार यहां के विद्याकेन्द्र ने विशाल विश्वविद्यालय का रूप धारण कर लिया है। जिसका पूर्ण विकास पाचवीं शताब्दी में हुआ। कुछ लोगों का ऐसा भी ख्याल है कि अशोक के समय में ससार मे विरक्त कुछ सन्यासी मनुष्य ससर्ग से अलग हो नालन्दा में कुटी बनाकर रहने लगे। क्रमशः इनकी कीर्ति फैलने लगी और नालन्दा एक महान विद्यापीठ में परिणित हो गया।

नालन्दा दुनिया के प्राचीनतम शिक्षा और ज्ञान के केन्द्रों में से है। विश्व के अन्य प्राचीन विश्वविद्यालयों के स्थापना काल को देखें तो इनमें से कोई भी नालन्दा से प्राचीन नहीं ठहरता। आज तक हम इटली के पाविया विश्वविद्यालय को दुनिया का सबसे पुराना विश्वविद्यालय मानते थे जिसका स्थापना काल सन् ८२५ ई० है। अन्य विश्वविद्यालय जिनका अस्तित्व अभी तक कायम है उनका नाम और स्थापना काल इस प्रकार है—

कैरो (मिश्र)······सन् ९७२ ई०
पेरिस ······सन् ११४० ई०
नेपल्स······सन् १२२४ ई०
पदुआ······सन् १२२८ ई०
कैम्ब्रिज······सन् १२५७ ई०
आक्सफोर्ड······सन् १२६६ ई०
प्राग (बोहेमिया)······सन् १३८० ई०
हाइडलबर्ग (जर्मनी) ······सन् १३८० ई०
सेंट एंड्रूज (स्काटलैंड)······सन् १४७० ई०
उप्साल (स्वीडन)······सन् १४७७ ई०
कोपन हेगन (डेनमार्क)······सन् १४७८ ई०
लाडेन (हालैंड)······सन् १५७५ ई०
मास्को (रूस)······सन् १७५५ ई०

फाहियान के बाद सातवीं शताब्दी में जब चीनी यात्री हुएन-त्साग भारतवर्ष आया तो उसे भारत के पुस्तकालय और भी उन्नत अवस्था में मिले। तत्कालीन नालन्दा विश्वविद्यालय का पुस्तकालय ससार में अपना सानी नहीं रखता था। हुएन-त्साग ने नालन्दा के बारे में लिखा है कि वहाँ चारों ओर ऊंचे ऊंचे विहार और मठ खड़े थे। बीच बीच में सभागृह और विद्यालय बने हुये थे। वे सब समाधियों; स्तूपों और मन्दिरों से घिरे थे। उसके चारों ओर शिक्षकों और बौद्ध प्रचारकों के रहने के लिए चौमजिला इमारतें थीं। इनके सिवा ऊंची ऊंची मीनारों और विशाल भवनों की शोभा भी देखने योग्य थी। इन भवनों में नाना प्रकार के बहुमूल्य रत्न जड़े हुए थे। रंग बिरंगे दरवाजों, कड़ियों, छतों और खंभों की कलापूर्ण सजावट देख कर लोग मुग्ध हो जाते थे। इमारतों के पर्वतशिखर के सदृश नुकीले गुम्बज थे। आकाश से बातें करते हुए इसके बुर्ज और कगूरे ऐसे जान पड़ते थे मानों काल के कुहरे में विलीन हो गये हों। भवन की खिड़कियां इतनी ऊंची थीं कि वहां से मेघ राशियों की गति स्पष्ट दीख पड़ती थी। इसकी ऊंची छतों से सूर्य और चन्द्र परस्पर मिलते हुए दिखाई पड़ते थे। छायाकार कुञ्ज और उपवन निर्मल जल से परिपूर्ण ताल और उससे प्रस्फुटित नील कमल लाल कलियों से आच्छादित कनक वृक्ष और काली काली पत्तियों से ढँपे आम्र वृक्षों के नीचे रमणीक एकान्त स्थानों को देखकर लोगों को अपूर्व आनन्द मिलता था।

इस विश्वविद्यालय के अतरगत कई कालेज (महाविद्यालय) थे जिनमें से छः कालेजों, क्रमशः पहले को शक्रादित्य ने, दूसरे को बुद्ध गुप्त ने, तीसरे को तथागत ने, चौथे को बालादित्य ने, पांचवें को वज्र ने और छठे को मध्यभारत के किसी राजा ने बनवाया था।

इस विश्वविद्यालय का पुस्तकालय भवन नौ मंजिला था, जिसकी ऊंचाई करीब ३०० फ़ीट थी, इनमें प्रचुर ग्रन्थ भरे पड़े थे। प्राचीन काल

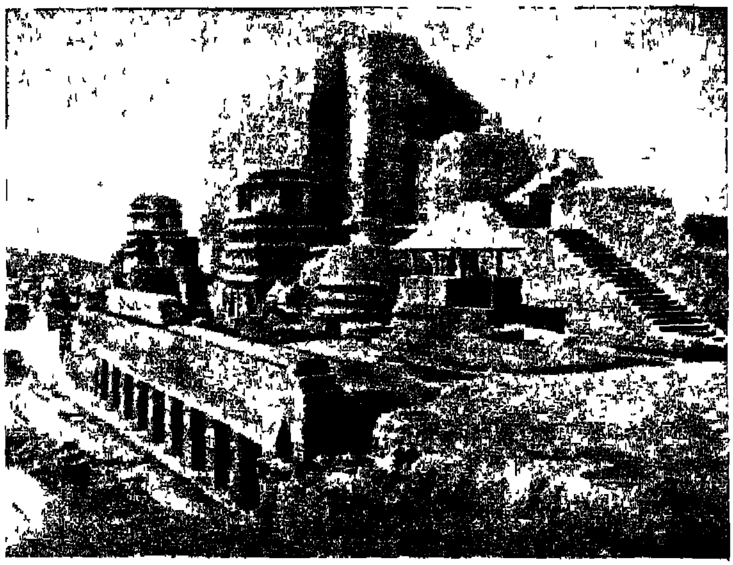
में इतना बड़ा पुस्तकालय कदाचित् ही कहीं रहा होगा।

हुएन त्सांग के यात्रा-विवरण के अतिरिक्त तिब्बत में मिलने वाले विवरणों से हमें पता चलता है कि नालन्दा में एक सुप्रसिद्ध पुस्तकालय के तीन गगन चुम्बी भव्य भवन थे। ये तीनों भवन 'रत्न-सागर', 'रत्नदधि' और 'रत्न-रंजक' के नाम से प्रसिद्ध थे। 'रत्नदधि' नामक भवन ९ मंजिला था। इसमें "प्रज्ञा परिमित सूत्र" प्रभृति पवित्र धार्मिक ग्रन्थ तथा "समाजगुह्य" प्रभृति तान्त्रिक ग्रन्थों का भी अच्छा संग्रह था।

हुएन-त्सांग के निवास-काल में शील भद्र इस विश्वविद्यालय के कुलपति थे जो उस समय अपने ज्ञान और चरित्र मे अद्वितीय माने जाते थे। अन्य आचार्यों और अध्यापकों में धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, ज्ञानचन्द्र तथा शीघ्र बुद्धि प्रभृति के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। नागार्जुन के शिक्षक और गुरू भी यहीं निवास करते थे। इन समस्त विद्वानों ने नालन्दा के महा विहार मे निवास करते हुए अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की थी। ये समस्त ग्रन्थ नालन्दा के पुस्तकालयों मे सुरक्षित थे। इनमें से आर्य असंग ने संस्कृत मे १२ पुस्तकें लिखी थीं। ये ग्रन्थ चीनी और तिब्बती भाषाओं में अब भी सुरक्षित हैं। आर्य असंग के भाई वसुबंधु ने महायान सम्प्रदाय तथा तर्क शास्त्र पर अनेक पुस्तकों की रचना की। धर्मपाल ने 'चन्द्रव्याकरण' पर बहुत उपयोगी टीका लिखी थी। बौद्ध धर्म पर भी इन्होंने चार ग्रन्थ लिखे थे। शीलभद्र और उनके आचार्य धर्मपाल ने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। स्थिरमति ने संस्कृत ग्रन्थों की रचना के साथ-साथ उनका तिब्बती भाषा में अनुवाद भी किया था। स्थिरमति ने ९ संस्कृत ग्रन्थों की रचना की, ७ का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया और तिब्बती भाषा मे अनुवादित १० पुस्तकों का संशोधन, परिवर्धन और सम्पादन किया। स्थिरमति के एक शिष्य चन्द्रगोमिन ने ६० पुस्तकों की रचना की थी। इसी तरह कमलशील ने ५१० पुस्तकें संस्कृत में लिखी थीं और बुद्धिकीर्ति ने संस्कृत पुस्तकों के तिब्बती भाषा में अनुवाद किये थे। जिनमित्र ने भी संस्कृत ग्रन्थों को तिब्बती भाषा में अनुवादित करने में सहायता की थी। दूसरे विद्वानों और आचार्यों ने भी अनेक ग्रन्थों, टीकाओं, आलोचनाओं आदि की रचना की थी। मौलिक ग्रन्थों की रचना के साथ शिक्षक और विद्यार्थी पुस्तकों की प्रतिलिपियां भी किया करते थे। सम्राट महीपाल (९८०-१०२६ ई०) के शासन-काल के पांचवें वर्ष में, यहां 'अष्टाशिका प्रज्ञापरिमित' की प्रतिलिपियां तैयार की गईं। यह प्रति अब भी केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में सुरक्षित है, इसके एक वर्ष बाद महीपाल के ही शासनकाल में इसी पुस्तक की एक प्रति और तैयार की गई। यह प्रति बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय में सुरक्षित है। महीपाल के बाद न्याय पाल के शासन काल में भी नालन्दा की प्रतिष्ठा पूर्ववत बनी हुई थी। उसके समय में भी नालन्दा में पुस्तकों की रचना और नालन्दा के आचार्यों के तिब्बत जाने के प्रमाण मिलते हैं। अभी हाल में त्रिपिटिकाचार्य महापण्डित राहुल सांकृत्यायन को तिब्बत यात्रा में संस्कृत के कुछ लुप्त ग्रन्थ पुनः प्राप्त हुए हैं। उसमें मातृचेत द्वारा लिखित 'अद्ध्यर्द्धशत' नामक एक काव्य ग्रन्थ भी है। इस ग्रन्थ में १५३ श्लोक हैं। हुएन-त्सांग के नालन्दा निवास काल में इस ग्रन्थ की कविता यहां प्रतिदिन गाई जाती थी।

नालन्दा के ध्वंसावशेषों में १८४३ ई० में कैप्टेन मार्शल को बालादित्य का जो शिलालेख प्राप्त हुआ था, उससे सिद्ध होता है कि नालन्दा विहार भीषण अग्निकाण्ड के कारण जलकर भस्म हो गया। कहा जाता है कि पुस्तकालय में इतने अधिक ग्रन्थ थे कि पुस्तकालय बराबर एक मास तक सुलगता रहा।

सैकड़ों वर्षों तक इसकी इमारतें तथा वास्तुकला की सामग्री पृथ्वी के अंचल में छिपी रहने के बाद भारतीय पुरातत्व विभाग को जब इस का पता चला तो उसने इसे खोद कर संसार के सम्मुख रखा, जिससे



नालन्दा के प्राचीन विश्वविद्यालय का ध्वंसावशेष
[पुरातत्व विभाग के सौजन्य से]

पुरातत्ववेत्ता तथा विद्वानों का बड़ा भारी उपकार हुआ है। पुरातत्व विभाग के अधीन आज प्रायः २०-२२ वर्ष से इसकी खुदाई हो रही है, तो भी पूरी तरह समाप्त नहीं हो पायी है। इसके पीछे हमारे देश के सैकड़ों वर्षों का इतिहास छिपा पड़ा है। यहाँ यह कहना आवश्यक नहीं है कि राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टिकोणों से नालन्दा का पुनर्निर्माण अत्यावश्यक है। इसकी स्मृति भारतीयों के मस्तिष्क से मिटाई नहीं जा सकती। इसे मूर्त रूप देने के लिए ही ३० अक्टूबर सन् १९३५ ई० को "प्राचीन नालन्दा विश्वविद्यालय पुनर्निर्माण समिति" की आयोजना की गई। समिति के तत्वावधान में "नालन्दा विद्यापीठ" की भी स्थापना की गई। समिति स्थापना के साथ ही इसे भारत ही नहीं बल्कि बर्मा, चीन, जापान, लङ्का, स्याम इत्यादि देशों के प्रमुख विद्वानों की सहानुभूति मिलना इस बात की द्योतक है कि इन देशों के लोगों में अभी अपने पूर्वजों के ज्ञान और शिक्षा केन्द्र—नालन्दा की मधुर स्मृति बनी हुई है। चीनी प्रजातन्त्र के भारत स्थित राजदूत श्री चेन चांग लेक ने समिति को बधाई देते हुए लिखा था :—

"......उस महान संस्था ने शिक्षा धर्म और एशिया के लोगों में परस्पर मैत्री स्थापित करने का महान् कार्य किया है और चीन के लिये एक दिव्य स्थायी वरदान छोड़ रखा है। मुझे जरा भी सन्देह नहीं है कि ऐसे प्राचीन विश्वविद्यालय के पुनरुद्धार से कई विख्यात और दीप्त प्रोफेसर वहाँ आयेंगे और कितने ही असंख्य हुएन-त्सांग उनके चरणों में बैठेंगे। मैं इस समिति की सफलता की आकांक्षा रखता हूं और मुझे विश्वास है कि मेरे देश के अन्य बन्धु भी मेरी इस भावना के साथ सहमत होंगे।"

अपनी बात

संस्कृति का प्रश्न

दीघ निकाय में मनुष्य के क्रमशः उन्नति और अवनति की ओर जाने के सम्बन्ध में कहा हुआ यह वाक्य आज की स्थिति से विचित्र साम्य रखता है—

"उन लोगों में एक दूसरे के प्रति तीव्र क्रोध, प्रतिहिंसा, तीव्र दुर्भावना और तीव्र हिंसा का भाव उत्पन्न होगा। माता को पुत्र के प्रति, पुत्र को माता के प्रति, भाई को बहिन के प्रति, बहिन को भाई के प्रति; भाई को भाई के प्रति तीव्र क्रोध . ...जैसे मृग को देख कर व्याध को तीव्र......होता है उसी प्रकार उन सत्त्वों मे परस्पर तीव्र . .माता को.. ...। वे एक दूसरे को मृग समझने लगेंगे। उनके हाथों में पैने शस्त्र होंगे। वे उन तीक्ष्ण शस्त्रों से एक दूसरे को नष्ट करेंगे। तब उन सत्त्वों में कुछ सोचेंगे—न मुझे औरों से काम न औरों को मुझसे काम, अतः चलकर घने तृण-वन-वृक्षों में या नदी के दुर्गम तट पर या ऊँचे पर्वत पर वन के फल मूल खाकर रहा जावे—फिर वे घने...रहेंगे।

"एक सप्ताह वहा रहने के पश्चात् वे घने.. निकल कर एक दूसरे का आलिंगन कर एक दूसरे के प्रति शुभ कामनायें प्रकट करेंगे।"

(चक्कवत्ति-सीहनाद सुत्त ३।३)

उपर्युक्त कथन के प्रथम अंश की सत्यता तो हमारे जीवन में साधारण हो गई है परन्तु उसके दूसरे अंश की सत्यता का अनुभव करने के लिए सम्भवतः हमें इससे कठिन अग्नि-परीक्षा पार करनी होगी।

आज जब अस्त्रों की झनझनाहट में जीवन का संगीत विलीन हो चुका है, विद्वेष की काली छाया में विकास का पथ खो चुका है तब संस्कृति की चर्चा व्यंग जैसी लगे तो आश्चर्य नहीं। परन्तु जीवन के साधारण नियम में विश्वास रखने वाला यह जानता है कि सघन से सघन बादल भी आकाश बन जाने की क्षमता नहीं रखता, वज्रपात का कठोर से कठोर शब्द भी स्थायी हो जाने की शक्ति नहीं रखता। जब मनुष्य का आत्मघाती आवेश शान्त हो जायगा तब जीवन के विकास के लिए सृजनशील तत्वों की खोज अनिवार्य हो उठेगी और उस खोज में, सांस्कृतिक चेतना और उसकी अभिव्यक्ति के विविध रूप महत्त्वपूर्ण सिद्ध होंगे।

संस्कृति की विविध परिभाषायें सम्भव हो सकी हैं, क्योंकि वह विकास का एक रूप नहीं विभिन्न रूपों की ऐसी समन्वयात्मक समष्टि है जिसमें एक रूप स्वतः पूर्ण होकर भी अपनी सार्थकता के लिए दूसरे का सापेक्ष है।

एक व्यक्ति को पूर्णतया जानने के लिए जैसे उसके रूप रंग, आकार, बोलचाल विचार, आचरण आदि से परिचित होना आवश्यक हो जाता है वैसे ही किसी जाति की संस्कृति को मूलतः समझने के लिए उसके विकास की सभी दिशाओं का ज्ञान अनिवार्य है। किसी मनुष्य समूह के साहित्य, कला, दर्शन आदि मे संचित, ज्ञान और भाव का ऐश्वर्य ही उसकी संस्कृति का परिचायक नहीं उस समूह के प्रत्येक व्यक्ति का साधारण शिष्टाचार भी उसका परिचय देने में समर्थ है।

यह स्वाभाविक भी है क्योंकि संस्कृति जीवन के बाह्य और आन्तरिक संस्कार का क्रम ही तो है और इस दृष्टि से उसे जीवन को सब ओर से स्पर्श करना ही होगा। इसके अतिरिक्त वह निर्माण ही नहीं निर्मित तत्वों की खोज भी है। भौतिक तत्व में मनुष्य प्राणितत्व को खोजता है, प्राणितत्व में मनस्तत्व को खोजता है और मनस्तत्व में तर्क तथा नीति को खोज निकालता है जो उसके जीवन को समष्टि में सार्थकता और व्यापकता देते हैं। इस प्रकार विकासपथ में मनुष्य का प्रत्येक पग अपने आगे सृजन की निरन्तरता और पीछे अथक अन्वेषण छिपाये हुए है।

साधारणतः एक देश की संस्कृति अपनी बाह्य रूप-रेखा में दूसरे देश की संस्कृति से भिन्न जान पड़ती है। यह भिन्नता उनके देश काल की विशेषता, बाह्य जीवन, उसकी विशेष आवश्यकतायें, उनकी पूर्ति के लिए प्राप्त विशेष साधन आदि पर निर्भर है, आन्तरिक प्रेरणाओं पर नहीं। बाहर की विभिन्नताओं को पार कर यदि हम मनुष्य की संस्कार-चेतना की परीक्षा करें तो दूर दूर बसे मानवसमूहों में आश्चर्य जनक साम्य मिलेगा। जीवन के विकास सम्बन्धी प्रश्नों के सुलझाने की विधि में अन्तर है, परन्तु उन प्रश्नों को जन्म देने वाली अन्तश्चेतना में अन्तर नहीं।

यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जब अनेक प्राचीन संस्कृतिया लुप्त हो चली हैं और अनेक नाश के निकट जा रही हैं तब संस्कृति को विकास का क्रम क्यों माना जाये?

उत्तर सहज है—निरन्तर प्रवाह का नाम नदी है। जब शिलाओं से घेर कर उसका बहना रोक दिया गया तब उसे हम चाहे पोखर कहें चाहे झील किन्तु नदी के नाम पर उसका कोई अधिकार नहीं रहा।

संस्कृति के सम्बन्ध में यह और भी अधिक सत्य है क्योंकि वह ऐसी नदी है जिसकी गति अनन्त है। वह विशेष देशकाल जलवायु में विकसित मानव-समूह की व्यक्त और अव्यक्त प्रवृत्तियों का का परिष्कार करती है और उस परिष्कार से उत्पन्न विशेषताओं को सुरक्षित रखती है।

इस परिष्कार का क्रम अबाध और निरन्तर है क्योंकि मनुष्य की प्रवृत्तियां चिरन्तन हैं पर मनुष्य अजर अमर नहीं। एक पीढ़ी जब अतीत के कुहरे में छिप जाती है तब दूसरी उसका स्थान ग्रहण करने के लिये आलोकपथ में आती है। यह नवीन पीढ़ी मानव-सामान्य अन्तश्चेतना की अधिकारी भी होती है और अपने पूर्ववर्तियों की विशेषताओं की उत्तराधिकारी भी, परन्तु इन सब का उपयोग उसे बदली हुई परिस्थितियों में करना पड़ता है। अनायास प्राप्त वैभव का ज्ञान यदि उसे गर्व से विक्षिप्त बना देता है तो उसका गन्तव्य ही खो जाता है और यदि एक निश्चिन्त शिथिलता उत्पन्न कर देता है तो उसकी यात्रा ही समाप्त हो जाती है। महान और विकसित संस्कृतियाँ इसलिए नहीं नष्ट हो गईं कि उनमें स्वभावतः क्षय के कीटाणु छिपे हुए थे वरन् अशरीरी होते होते इसलिए विलीन हो गईं कि उनकी प्राण-प्रतिष्ठा के लिए जीवन कोई आकार ही नहीं दे सका। प्रकृति के अणु अणु के सम्बन्ध में मितव्ययी मनुष्य ने, अन्य मनुष्यों के असीम परिश्रम से अर्जित ज्ञान का कैसा अपव्यय किया है यह कहने की आवश्यकता नहीं।

भारतीय संस्कृति का प्रश्न अन्य संस्कृतियों से कुछ भिन्न है क्योंकि वह अतीत की वैभव-कथा ही नहीं वर्तमान की करुण-गाथा भी है। उसकी विविधता प्रत्येक अध्ययनशील व्यक्ति को कुछ उलझन में डाल देती है। संस्कृति विकास के विविध रूपों की समन्वयात्मक समष्टि है और भारतीय संस्कृति विविध संस्कृतियों की समन्वयात्मक समष्टि है। इस प्रकार इसके मूल तत्व समझने के लिए हमें अत्यधिक उदार, निष्पक्ष और व्यापक दृष्टि कोण की आवश्यकता रहती है।

परिवर्तनशील परिस्थितियों के बीच में जीवन के विकास की ओर ले जाने वाली किसी भी संस्कृति में आदि से अन्त तक एक विचार-धारा का प्राधान्य स्वाभाविक नहीं। फिर भारतीय संस्कृति तो शताब्दियां छोड़ सहस्राब्दियों तक व्याप्त तथा एक कोने में सीमित न रहकर बहुत विस्तृत भू भाग तक फैली हुई है। उसमें एक सीमा से दूसरी सीमा तक, आदि से अन्त तक एक ही विचार-धारा की प्रधानता रहे, जीवन का एक ही रूप मिलता रहे ऐसी आशा करना जीवन को जड़ मान लेना है। भारतीय संस्कृति निश्चित पथ से काट-छांट कर निकाली हुई नहर नहीं वह तो अनेक स्रोतों को साथ ले अपने तट बनाती और पथ निश्चित करती हुई बहने वाली स्रोतस्विनी है। उसे अन्धकार भरे गर्तों में उतरना पड़ा है, ढालों पर बिछलना पड़ा है, पर्वत जैसी बाधाओं की परिक्रमा कर मार्ग बनाना पड़ा है पर इस लम्बे क्रम में उसने

अपनी समन्वयात्मक शक्ति के कारण अपनी मूल धारा नहीं सूखने दी। उसका पथ विषम और टेढ़ा मेढ़ा रहा है। इसीसे एक घुमाव पर खड़े होकर हम शेष प्रवाह को अपनी दृष्टि से ओझल कर सकते हैं परन्तु हमारे अनदेखा कर देने से ही वह अविच्छिन्न प्रवाह खण्ड खण्ड में नहीं बट जाता। जीवन की मूल चेतना से उत्पन्न ज्ञान और कर्म की दो प्रमुख धारायें भिन्न भिन्न दिशाओं मे विकास पाते रहने पर भी ऐसी सापेक्ष हैं कि एक के साध्य बन जाने पर दूसरी साधन बनकर उसके निकट ही रहती है। कभी इनमें से एक की प्रधानता और कभी दूसरी की और कभी दोनों का समन्वय हमारे जीवन को दिशा देता रहा है। अनेक सिद्धान्त तो हमारे जीवन के समान ही पुराने हैं। उदाहरण के लिए हम वर्तमान युग की अहिंसा को ले सकते हैं। उससे पिछले अनेक वर्षों से हमारे राष्ट्रीय जागरण को विशेष नैतिक बल मिलता आ रहा है। एक दीर्घ संघर्ष और निराशा के युग के उपरान्त वैष्णव धर्म ने भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। उसके पहले महाभारत काल का अनुसरण करने वाले युग मे बुद्ध ने भी इसी सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया था। पर इस सिद्धान्त का मूल हमे उपनिषद् ही नहीं, वेद के 'मा हिंस्यात सर्वभूतानि' में भी मिलता है। यज्ञ के लिये हिंसा के अनुमोदकों के साथ साथ हमें अहिंसा के समर्थकों का स्वर भी सुनाई पड़ता है। ब्राह्मणकाल में इन दोनों विचार-धाराओं की रेखायें कुछ कुछ स्पष्ट होने लगती हैं और यज्ञधर्म से आत्मविद्या को उच्च स्थान देने वाले उपनिषदकाल मे वे निश्चित रूप पा लेती हैं। अन्य विचार धाराओं के सम्बन्ध में भी ऐतिहासिक अनुसन्धान कुछ कम ज्ञानवर्धक न होगा।

बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धर्म के साथ भारतीय संस्कृति में एक ऐसा पट-परिवर्तन होता है जिसने हमारे जीवन की सब दिशाओं पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ा और दूसरे देशों की संस्कृति को भी विकास की नई दिशा दी। उसमें और वैदिक संस्कृति मे विशेष अन्तर है। वैदिक संस्कृति हमारी संस्कृति का उपक्रम न होकर किसी विशाल संस्कृति का अन्तिम चरण है और बौद्ध संस्कृति विषम परिस्थितियों के भार से दबे जीवन का सम्पूर्ण प्राणप्रवेग है जिसने सभी बाधायें तोड़कर बाहर आने का मार्ग पा लिया। एक में शक्ति का गर्व है, सृजन का ओज है, पर अपनी भूलों के ज्ञान से उत्पन्न नम्रता नहीं है, दूसरों की दुर्बलता के प्रति समवेदना नहीं है। दूसरी में मनुष्य की दुर्बलता के परिचय से उत्पन्न सहानुभूति है, जीवन के दुःखबोध-जनित करुणा है, परन्तु शक्ति का औद्धत्य नहीं है, निर्माण का अहंकार नहीं है।

जो तर्क भारतीय जीवन का सत्य बन चुका है ऋग्वेद का ऋषि उसका नाम पता नहीं जानता, जिस स्त्री की कल्पना मात्र से भारतीय साधक कम्पित होते रहे हैं ऋग्वेद के पुरुष को उससे कोई भय नहीं है, जिस दुःखवाद ने भारतीय जीवन को इतना घेर रखा है ऋग्वेद का मनीषी उसके सम्बन्ध मे कुछ कहता सुनता नहीं। इसके विपरीत बौद्ध संस्कृति का मनुष्य रामायण काल की कर्तव्य-परिणति, महाभारत के संघर्ष का उपसंहार पार कर आया है, दुःख, असफलता, पराजय आदि से विशेष परिचित हो चुका है और जीवन के अनेक कटु अनुभवों से बुद्धिमान बन चुका है। इसी से वैदिक संस्कृति अपनी यथार्थता मे भी आदर्श के निकट है और बौद्ध संस्कृति अपनी बौद्धिकता मे भी अधिक यथार्थोन्मुखी है। एक प्रवृत्ति-प्रधान और परिग्रही है और दूसरी निवृत्तिप्रधान और अपरिग्रही, परन्तु दोनों विकास की ओर गतिशील हैं, आज की परिस्थितियों में अपने जीवन को स्वस्थ गति देने के लिए सांस्कृतिक विकास के मूल तत्वों को समझना ही पर्याप्त न होगा, उनकी समन्वयात्मक शक्ति को ग्रहण करना भी आवश्यक है।

संस्कृति के सम्बन्ध में हमारी ऐसी धारणा बन गई है कि वह निरन्तर निर्माण-क्रम नहीं पूर्ण निर्मित वस्तु है, इसी से हम उसे अपने जीवन के लिए कठोर साँचा बना लेते हैं। इस भ्रान्ति ने हमें जीवन के मूल तत्वों को नवीन परिस्थितियों के साथ किसी

सामञ्जस्यपूर्ण सम्बन्ध में रखने की प्रेरणा ही नहीं दी। हम तो अतीत के ऐसे कोषाध्यक्ष हैं जो उसमें से कुछ भी अपने ऊपर व्यय नहीं कर सकता और सतर्क पहरेदार बना रहने में ही कर्तव्य की इति मानता है।

जीवन जैसे आदि से अन्त तक निरन्तर सृजन है वैसे ही संस्कृति भी निरन्तर संस्कार-क्रम है। विचार, ज्ञान, अनुभव, कर्म आदि सभी क्षेत्रों में जब तक हमारा सृजन-क्रम चलता रहता है तब तक हम जीवित हैं। 'जीवन पूर्ण हो गया' का अर्थ उसका समाप्त हो जाना है। संस्कृति के सम्बन्ध में भी यही सत्य है। परन्तु विकास की किसी स्थिति में भी जैसे शरीर और अन्तर्जगत के मूलतत्व नहीं बदलते, उसी प्रकार संस्कृति के मूलतत्वों का बदलना भी सम्भव नहीं। आज की सर्वग्रासी परिस्थितियों में यदि हम अपने जीवन का क्रम अटूट रखना चाहें, तो अपनी सांस्कृतिक चेतना को मूलतः समझना, उसकी समन्वयात्मक प्रवृत्ति को सुरक्षित रखना उचित होगा। सैकड़ों फीट नीचे भूगर्भ में, गहरी गुफाओं में या ऊँची ऊँची शिलाओं में मिले हुए अतीत वैभव तक ही हमारी संस्कृति सीमित नहीं, वह प्रत्येक भारतीय के हृदय में भी स्पन्दित है। हमारी खोज किसी मृत जाति के जीवन-चिह्नों की खोज नहीं, जीवित उत्तराधिकारी के लिए उसके पैतृक धन की खोज है और यह उत्तराधिकारी प्रत्येक झोपड़े के कोने में उसे पाने को उत्कण्ठित बैठा है।

भारतीय संस्कृति के प्राचीनतम और आधुनिक रूपों के बीच में बौद्ध-संस्कृति वही स्थिति रखती है जो संगम के लिए सरस्वती की धारा। वह अन्तःसलिला होकर भी त्रिवेणी नाम की सार्थकता का एक मात्र कारण है। जीवन के बाह्य कला-कौशल से लेकर अन्तर्जगत के सूक्ष्म परिष्कार तक वह व्याप्त है। इतना ही नहीं अनेक देशों के साथ हमारे विशेष परिचय का श्रेय भी उसी को है, अतः उसके मूल सिद्धान्त, सिद्धान्तों का बाह्य जीवन में प्रयोग और उस प्रयोग का समष्टिगत प्रभाव आदि का ज्ञान हमारे लिए आवश्यक है।

बौद्ध धर्म का शास्ता

ह्रास के क्षणों में यदि अपना मूल्य बढ़ाने के लिए दूसरे का मूल्य घटा देने की दुर्बलता हम में न उत्पन्न हो गई होती, तो बुद्ध और उनके सिद्धान्तों से अनुप्राणित संस्कृति को इतने घने कुहरे ने न ढक लिया होता। साधारणतः बुद्ध का स्मरण आते ही हमारे सामने नारी जैसा करुण कोमल, डबडबाये नेत्रों वाला एक निष्फल भावुक स्वप्नदर्शी आ जाता है। कहना व्यर्थ है कि यह चित्र वास्तविक बुद्ध से कोई साम्य नहीं रखता।

यह सत्य है कि उनके प्रवचन तक बहुत समय के उपरान्त लिपिबद्ध हो सके, परन्तु बौद्ध साहित्य में जो प्रामाणिक सिद्ध हो चुका है वह भी और जिसमें कल्पना का अंश अधिक है वह भी, बुद्ध के पर्वत जैसे व्यक्तित्व का ही आभास देता है जिससे टकरा कर एक दिन गतिहीन भारतीय संस्कृति शत शत धाराओं में फूट कर बह चली थी।

जब हम अपने सामने ऐसे कर्मठ तत्वान्वेषक को पाते हैं, जिसने योग की शाखाओं तथा विभिन्न विचार-धाराओं का अध्ययन किया, पूर्व प्रतिष्ठित अहिंसा धर्म के अनुसार कठिन तप सहा, कहीं शान्ति न पाकर बहुत चिन्तन-मनन के उपरान्त एक सहज मानव-धर्म खोज निकाला, एकान्त से भीड़ में लौट कर प्रचलित रूढ़ियों, परम्पराओं और विश्वासों के विरुद्ध विजय-यात्रा की और जीवन के सन्ध्या काल में एक दिन अस्वस्थ शरीर से पैदल यात्रा करते करते थक कर मार्ग के एक ओर शाल वृक्षों के नीचे लेट कर दूसरी महायात्रा आरम्भ की, तब हम आँखें मल मल कर सोचते हैं 'यह तो हमारी कल्पना की मूर्त्ति नहीं, यह तो वह बुद्ध नहीं।'

बुद्ध के व्यक्तित्व में दो विशेषतायें ऐसी हैं, जिनका संयोग सहज नहीं—कठोर बुद्धिवाद और कोमल मानवीय तत्व। उनके बुद्धिवाद के सामने तो आधुनिक वैज्ञानिक युग का बुद्धिवादी भी बड़ा भावुक जान पड़ेगा। आज का बुद्धिवादी अध्यात्म की

उपेक्षा करके भी अपने अहम् की पूजा-अर्चा में आस्तिक भक्त बन जाता है।

बुद्ध तो बुद्धि के सम्बन्ध में अहंकार-शून्य विशुद्ध तार्किक हैं। जो तर्क से प्रमाणित नहीं किया जा सकता वह उन्हें स्वीकार नहीं। अपनी विशुद्ध बौद्धिकता के बल पर ही वे युगों से बद्धमूल विश्वासों का विरोध करने खड़े हुए और तर्क की सहज स्वाभाविकता के कारण ही हर दिशा में उनकी यात्रा विजय-यात्रा ही सिद्ध हुई। पर उनकी असीम शुष्क बौद्धिकता में मानवीय सौहार्द की अतिव्याप्ति आश्चर्य का कारण बनती रही है। प्रायः उग्र बुद्धिवाद मानवीय तत्व को ऐसी उपेक्षित स्थिति में पहुँचा देता है कि मनुष्य जीवन का स्पर्श ही भूलने लगता है।

हमारे बुद्धिवाद की सूक्ष्मता में खोये हुए वीतराग दार्शनिक या अविश्वासी पर सुखलिप्सु चार्वाक ही नहीं आज के विक्षिप्त तर्कवादी भी यही प्रमाणित करेंगे। इसके विपरीत मानवीय तत्व की प्रधानता एक प्रकार की भावुकता को विकास देने में समर्थ है, जो विश्वास ही नहीं अन्ध विश्वास के लिए भी द्वार खोल सकती है। मानवकल्याण-भावना पर केन्द्रित अनेक विचार-धाराओं की अन्ध विश्वासों में परिणति इसी सत्य का उदाहरण है।

बुद्ध, विशुद्ध बौद्धिक और सहज मानव हैं, इसी से विद्वानों की परिषदों में उनका जय शंख बजता रहा और साधारण जीवों में उनकी करुणा की रागिनी गूंजती रही।

संसार के धर्म-संस्थापकों की पंक्ति में बुद्ध ही ऐसे अकेले हैं जिन्होंने मनुष्य के सम्बन्ध में सामञ्जस्य लाने के लिए परमात्मा की मध्यस्थता नहीं स्वीकार की, मनुष्यता उत्पन्न करने के लिए किसी पारलौकिक अस्तित्व का सहारा नहीं लिया। जिस निर्मम बौद्धिकता के साथ वे अपने वचनों को भी तर्क की कसौटी पर कस कर ही स्वीकार करने के लिए कहते हैं, उसी के साथ वे जीवन के अन्तिम क्षणों में अपने संस्थापित धर्म के लिए कोई उत्तराधिकारी नहीं चुनते। उल्टे अपने योग्य और प्रिय शिष्य से कह देते हैं "गुरु नहीं रहा, यह न समझना आनन्द! मेरे द्वारा जो धर्म विनय उपदिष्ट हुआ है, प्रज्ञस हुआ है, मेरे न रहने पर वही तुम्हारा गुरु है।"

अपने अन्तिम आदेश से अधिक उन्हें दूसरों की भ्रान्ति निवारण की चिन्ता है 'भिक्षुओ! बुद्ध, धर्म, संघ में एक भिक्षु को भी शंका हो तो पूछ लो।' पर यह बौद्धिकता उनकी सहज करुणा से आर्द्र है। इसी से जिसके यहां भोजन कर उन्हें प्राणान्तक व्याधि मिली, उसके दुःख की चिन्ता है "आनन्द! चुन्द कर्मार-पुत्र के इस शोक को दूर करना, कहना—आवुस! लाभ है तुझे, तूने सुलाभ कमाया जो तथागत तेरे पिंडपात का भोजन कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।"

विशुद्ध तार्किकता और पूर्ण मानवता के अतिरिक्त उनकी दूरदर्शिता और संगठन-शक्ति भी विस्मित कर देने वाली है, क्योंकि एक हमें निपुण नीतिज्ञ और दूसरी अनुभवी सेनानी का स्मरण दिलाती है।

ब्राह्मण धर्म विद्वत्परिषदों और क्लिष्ट संस्कृत ग्रन्थों में सीमित होता जा रहा था। उसके विरोध के लिए बुद्ध ने जिन अस्त्रों का प्रयोग किया, वे उसके लिए अतर्कनीय थे। संस्कृत वाणी का स्थान साधारण जनता की भाषा को दे और विद्वानों का स्थान प्रत्येक मनुष्य को दे उन्होंने संघर्ष से पहले ही जय पा ली।

बौद्ध धर्म के प्रसार का बहुत कुछ श्रेय उनकी संगठन-शक्ति को दिया जाना चाहिए। बौद्ध संस्कृति के बुद्ध, धर्म, संघ तीन स्तम्भ हैं, जिनमें पहला बुद्ध द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखता है, दूसरा उनके द्वारा निश्चित नैतिक आचरण से और तीसरा सिद्धान्त और धर्म के प्रसारार्थ संगठन से। सिद्धान्तों के सम्बन्ध में शुद्ध तार्किक दृष्टिकोण रखकर, आचरण के सम्बन्ध में सहज व्यावहारिकता का ध्यान रखकर और संघ के सम्बन्ध में सद्भावमूलक नियन्त्रण रखकर उन्होंने अपने निर्माण को गहराई और ऊंचाई दोनों ही दी थी। 'हम वीर हैं, दुःख-शमन के लिए वीर हैं' अंगुत्तरनिकाय का वाक्य उनके लिए जितना सत्य है उतना और किसी के लिए नहीं। उनकी

विजय मनुष्यता की देवत्व पर विजय है। विडम्बना यह है कि ऐसे पूर्ण मनुष्य को भी मनुष्य ने फिर देवताओं में निर्वासन दे डाला।

बुद्ध की विचार-धारा की व्यावहारिकता

भारतीय विचार-परम्परा मे बुद्ध की विचार धारा कोई साम्य नहीं रखती ऐसी भ्रान्त धारणा का अभाव नहीं। यह सत्य है कि बुद्ध अपनी दिशा में मौलिक हैं, परन्तु तत्कालीन वातावरण मे उनका सम्बन्ध नहीं, ऐसी कल्पना से न बुद्ध की विचार-धारा का महत्व बढता है न हमारे चिन्तन की विविधता का। सम्भवतः बौद्ध-धर्म के, अपनी ही जन्मभूमि मे निर्वासित हो जाने पर उसके मूल सिद्धान्तों के सम्बन्ध मे हमारे अज्ञान ने ही एक प्रकार के विश्वास का स्थान ले लिया हो। उनके अनेक सिद्धान्त हमारे जीवन मे नित्य प्रयुक्त होते रहे, उसके कलाशिल्प आदि के आदर्श हमारे साथ चलते रहे, पर हमने उस धर्म को अपने से दूर ही माना। अवश्य ही इस धारणा ने हमारी सांस्कृतिक चेतना की एक महत्वपूर्ण धारा को उसकी मूलधारा से भिन्न स्थिति देकर हमें कुछ दरिद्र ही बनाया। उस विचार धारा के प्रति हमारा समन्वयात्मक दृष्टिकोण रहा अवश्य, पर उस समन्वय के प्रति हम जागरूक नहीं रहे, इसीसे अन्तर ज्यों का त्यों बना रहा।

वास्तव में बुद्ध के समय तक उपनिषदों में मिलने वाली चिन्तन-प्रणालियाँ बहुत विकसित हो चुकी थीं और तत्कालीन विचार-स्वातन्त्र्य के कारण उनकी विविधता उत्तरोत्तर बढती जा रही थी। सम्भवतः बढते हुए आत्मवाद ने मनुष्य को इतना अन्तर्मुखी बना दिया हो कि बाह्य जीवन की समस्या का कोई समाधान खोजना अनिवार्य हो उठा। इस चिन्तन की विविधता के साथ साथ जैन तीर्थंङ्करों का अहिंसा धर्म भी विस्तार पा रहा था। बुद्ध ने आत्मवाद को और उलझाने वाला तत्व समझ कर, और जैन धर्म की नकारात्मक आस्तिकता और शरीर-संयम की प्रधानता में बौद्धिकता का विकास न देखकर वह मार्ग ग्रहण किया, जो अधिक बौद्धिक और अधिक व्यावहारिक था।

संसार की नित्यता अनित्यता आदि से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों के उत्तर में या वे मौन ही रहे या किसी सहज रूपक द्वारा समझाते हुए प्रश्नकर्ता को उसके प्रश्न की व्यर्थता तक पहुँचा आये। उनके निकट चार आर्य सत्य हैं—दु.ख, दुःख-समुदय (कारण) दु.खनिरोध और दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद। यह दुःख न किसी अध्यात्मिक जगत का दुःख है और न सूक्ष्म दार्शनिक जगत के असन्तोष का पर्याय है प्रत्युत् प्रत्यक्ष जीवन का दुःख है।

"क्या है आवुसो दुःख? जन्म भी दुःख है, जरा भी दुःख है, व्याधि भी दुःख है, मृत्यु भी दुःख है, शोक-क्रन्दन भी दुःख है, मनस्ताप भी दुःख है, चिन्ता भी दुःख है, किसी वस्तु की इच्छा करके न पाना भी दुःख है। क्या है आवुसो! दुःख-समुदय यह जो भोगों में अभिनन्दन करने वाली फिर फिर जन्म की तृष्णा है—काम की तृष्णा, भव की तृष्णा, धन की तृष्णा है, यह दुःखसमुदय कहा जाता है। क्या है आवुसो! दुःखनिरोध? जो उस तृष्णा का त्याग, विराग, निरोध, मुक्ति अनालय है वह कहा जाता है दुःखनिरोध। क्या है आवुसो! दुःख निरोधगामिनी प्रतिपद? यह अष्टांगिक मार्ग है सम्यग् दृष्टि, सम्यग् सकल्प, सम्यग् वचन, सम्यग् कर्म, सम्यग् आजीव, सम्यग् व्यायाम, सम्यग् समाधि।"

(सम्मादिट्ठि सुत्तन्त)

उपर्युक्त दुःख के सभी रूप भौतिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं और उनसे दूर होने का उपाय आचरण का परिष्कार और चित्त की शुद्धि है।

बुद्ध होने का प्रयत्न करने वाला बोधिसत्व है और बोधिसत्व के लिये दो गुण आवश्यक होते हैं महामैत्री और महाकरुणा। महामैत्री उसे अन्य प्राणियों के लाभ के लिये अपना सर्वस्व त्यागने की शक्ति देती है और महाकरुणा के कारण वह सबको दुःख से विमुक्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

बुद्ध का निर्वाण भी जीवन के उपरान्त कोई स्थिति न होकर जीवन की ही ऐसी स्थिति है जिसमें तृष्णा के क्षय से दुःख का क्षय हो गया हो। पर यह दुःख का क्षय केवल अपने लिए नहीं इसी से बोधिचर्यावतार में मिलता है "सर्वस्व त्याग में निर्वाण है, मेरा चित्त उस स्थिति के लिए प्रस्तुत है अतः सब कुछ समर्पण कर देना उचित है इसे सबको दे देना उचित है।" मनुष्य के कल्याण अकल्याण की भावना भी व्यावहारिक है—

'क्या है आवुसो अकुशल ! हिंसा अकुशल है, चोरी अकुशल है, दुराचार अकुशल है, असत्य बोलना अकुशल है, कठोर वचन अकुशल है, चुगली अकुशल है, बकवाद अकुशल है, लालच अकुशल है, प्रतिहिंसा अकुशल है, झूठी धारणा अकुशल है।' (मज्झिम निकाय) इन कार्यों को न करने से मनुष्य को कुशल की प्राप्ति होती है। इस प्रकार बुद्ध का मनुष्य समष्टि का मनुष्य है और उसका निर्वाण सबकी दुःखमुक्ति मे अपनी दुःखमुक्ति है। इसी से वे दीघनिकाय में कहते हैं 'जैसे समुद्र का जल जहां उठाओ वहीं लवण-रस है वैसे ही मेरा धर्म विनय सब जगह मुक्ति-रस है।'

बुद्ध की विचार धारा मे एक निराश दुःखवाद है ऐसा आक्षेप भी सुना जाता है।

इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना उचित है कि प्रत्येक कल्याण-प्रतिपादक की स्थिति दोहरी होती है। वह अकल्याण की स्थिति को मानता है अन्यथा कल्याण की चर्चा ही व्यर्थ हो जायगी। इस तरह अकल्याण मूलक दुःख पर केन्द्रित रहने के कारण उसकी दृष्टि दुःखवादिनी रहे यह स्वाभाविक है। पर यह स्थिति कल्याण में बदल सकती है-- इसमें उसका अटूट विश्वास रहता है; अन्यथा उसके प्रयत्न में कोई सार्थकता ही नहीं रहेगी। इस तरह कल्याण पर आश्रित उसका दृष्टिकोण आशावादी ही रहेगा।

समय समय पर कल्याण की परिभाषा बदलती रही है और उसी के विपरीत तत्व दुःख समझे जाते रहे। जब भौतिक समृद्धि ही कल्याण का पर्याय थी तब उसे अप्राप्य बनाने वाली बाधायें ही दुःख थीं, जब परमतत्व में आत्मतत्व का लीन हो जाना कल्याण माना गया तब भौतिक जगत दुःख का कारण बन गया। बुद्ध का मार्ग निवृत्ति का मार्ग है। धन, काम आदि की तृष्णा से ही मनुष्य स्वयं दुःखी होता और दूसरों के दुःख को बढ़ाता है, अतः ऐसी तृष्णा का क्षय ही कल्याण है। यह कल्याण चित्त और आचरण की शुद्धता से प्राप्त हो सकता है। उनकी कल्याण की भावना समष्टिगत है, अतः दुःख की व्यापकता के कोने कोने का स्पर्श कर उनकी दृष्टि का विषाद भी विशालता पा गया है।

बुद्ध द्वारा प्रतिपादित इच्छा के एकान्त त्याग पर तत्कालीन धर्म, समाज जीवन आदि की व्यवस्थाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ा ऐसा विश्वास करना कठिन है, क्योंकि हमारे यहां एकान्त स्वार्थ को पराजित करने के लिए ही एकान्त त्याग का ब्रह्मास्त्र प्रयोग में आता रहा है—उदाहरण के लिए हम गीता के निष्काम कर्म को ले सकते हैं।

जहां तक विचार-धारा का प्रश्न है वह तत्कालीन उपनिषदों में मिलने वाली विचार-धारा से इतना साम्य रखती है कि उसे उसी चिन्तन प्रणाली का एक रूप मानना उचित होगा। उपनिषदों में किसी विशेष मत या धर्म का प्रतिपादन नहीं किया है वे तो विविध विचारकों के चिन्तन की समष्टि मात्र उपस्थित करते हैं। तत्कालीन आत्मवाद में भारतीय बुद्धिवाद अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुका है। वह आत्मा जो अहङ्कार मनस और विज्ञान की समष्टि है आत्मवाद का शुद्ध आत्मन् नहीं और जिस आत्मा को बुद्ध अस्वीकृत करते हैं वह अहङ्कार मनस् और विज्ञान की समष्टि है। इस प्रकार एक ही धरातल पर स्वीकृति या अस्वीकृति का प्रश्न ही नहीं उठता। निर्वाण प्राप्ति के उपरान्त की शून्यता और आत्मन् की शून्य व्यापकता विवाद का विषय रहेंगे।

अनेक प्रश्नों के सम्बन्ध में व्यावहारिक धरातल पर बुद्ध मौन हैं और अनेक प्रश्नों के सम्बन्ध में बौद्धिक धरातल पर उपनिषदों के मनीषी 'नहीं जानते

'नहीं जानते' पुकार उठते हैं। इन प्रश्नों को छोड़कर बुद्ध की विचार धारा में बहुत कुछ वही है जो तत्कालीन विचारों में भी मिलता है; अवश्य ही सब की परिभाषायें भिन्न भिन्न हैं।

बुद्ध के प्रवचनों में बार बार आने वाली अविद्या उपनिषदों में भी बार बार उपस्थित हो जाती है 'अन्धन्तम: प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते' 'विद्यां चाविद्या च यस्तद्वेदोभयँ सह' आदि में हम इस अज्ञान ही का संकेत पाते रहते हैं। बुद्ध जिस तृष्णा को दुःख का कारण मानते हैं वह भी काम के रूप में उपनिषद तथा वेद में अपना परिचय देती रहती है— 'स कामाय जायते तत्र तत्र'। 'कामो जज्ञे प्रथम:'

जहां तक शरीर के आयास के विरोध में चित्त शुद्धि का प्रश्न है उसे याज्ञवल्क्य विदेह आदि की स्वीकृति मिल चुकी थी। नैतिक आचरण के सम्बन्ध में ब्रह्मचर्य, शम (चित्त का संयमन) दम (इन्द्रियों का निग्रह) आदि की भावना भी पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। अतः बुद्ध ने उसे अपनी विचार धारा के अनुरूप बना कर जो संगठित रूप दिया वह नवीन होने पर भी भारतीय स्वभाव के लिए परिचित ही कहा जायगा।

बौद्ध-संस्कृति का भारतीय जीवन पर प्रभाव

हमारा धर्म शब्द अपने शाब्दिक अर्थ में किसी वस्तु की स्थिति, गुण या स्वभाव व्यक्त करता है। प्राणि-धर्म, शरीर-धर्म, समाज-धर्म, मानव-धर्म आदि में उसके भिन्न भिन्न प्रयोग हैं। पर सामान्यतः वह जीवन में एक नैतिक कार्यक्रम का पर्याय बन कर उपस्थित होता है। इस नैतिक विधान के दो रूप रहेंगे, एक वह अन्तश्चेतना जो हमें समष्टि में अपनी स्थिति और उस स्थिति से उत्पन्न उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक रखती है, हमारे अन्तर्जगत को अधिक उदार और परिष्कृत बनाती है और दूसरा वह आचरण जो अन्तश्चेतना की बाह्य अभिव्यक्ति है। संस्कृति जीवन का परिष्कार-क्रम है और धर्म इस परिष्कार-क्रम को प्रेरणा देता है; अतः धर्म और संस्कृति सापेक्ष ही रहते आये हैं।

बुद्ध के धर्म ने तत्कालीन सांस्कृतिक चेतना को कैसी प्रेरणा दी यह जानने के लिए हमें समाज, साहित्य, कलाशिल्प, शासकवर्ग, धार्मिक संस्थाओं आदि से परिचित होना आवश्यक है।

वर्ण-व्यवस्था

बुद्ध के समय तक वर्ण-व्यवस्था की रेखायें बहुत कठिन न हो सकी थीं, परन्तु जन्म से ही ब्राह्मणत्व की मान्यता स्वीकृत हो चुकी थी और द्विज वर्णों के साथ शूद्र वर्णों की स्थिति शोचनीय होती जा रही थी।

बुद्ध ने वर्णव्यवस्था को जन्मजात नहीं स्वीकार किया "तो क्या मानते हो आश्वलायन ! ब्राह्मण ही प्राणिहिंसा से विरत होता है, चोरी, दुराचार, चुगली कटु वचन या बकवाद से विरत होता है, लोभरहित द्वेषरहित सम्यक्‌दृष्टि होकर स्वर्गलोक में सुगति पाता है; क्षत्रिय नहीं, वैश्य नहीं, शूद्र नहीं!" "नहीं भो गौतम ! क्षत्रिय भी प्राणहिंसाविरत—स्वर्ग में सुगति पाता है, ब्राह्मण भी······वैश्य भी··शूद्र भी··· चारों वर्ण······।"

"तब ब्राह्मणों को क्या बल है जो वे ऐसा कहते हैं—ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है, दूसरे वर्ण छोटे हैं ··!"

इसी से संघ में द्विजवर्णों के साथ शूद्र और दास भी प्रव्रजित होकर एक सी स्थिति रखते थे।

जिसका कायिक वाचिक मानसिक आचार शुद्ध हो उसी को वे ब्राह्मण मानते हैं "भिक्षुओ ! तुम्हें सीख लेना चाहिए—यह जो श्रमण बनाने वाले धर्म हैं, ब्राह्मण बनाने वाले धर्म हैं, उन्हें हम स्वीकार कर बर्तेंगे, इस प्रकार हमारी संज्ञा सच्ची होगी, हमारी प्रतिज्ञा यथार्थ होगी।" कहना नहीं होगा कि इससे सामान्य रूप से शूद्र कही जाने वाली जातियों की स्थिति में विशेष परिवर्तन हुआ।

नारी

समाज का दूसरा महत्वपूर्ण अंग स्त्री है। इसी से जातिविशेष की संस्कृति का मूल्य आंकने के लिये

हमें यह भी जाँचना पड़ता है कि उसने स्त्री के सहयोग को कितना मूल्य दिया। किसी भी पूर्ण विकसित समाज में स्त्री जो महत्व रखती है वह अविकसित मे सम्भव नहीं।

बुद्ध के समय तक स्त्री की स्थिति बहुत परिवर्तित हो चुकी थी। एक ओर उसे पुरुष के सुख का साधन मात्र मानने की इच्छा साकार होती जा रही थी, दूसरी ओर उसे वेद-शास्त्र आदि से दूर रखने के लिये निम्न वर्ण मानने का प्रयत्न सफल हो चला था। स्त्री की जीविका और रक्षा के लिये विवाह ही एक मात्र उपाय था। विवाह के उपरान्त वह गृह की स्वामिनी होती थी अवश्य, पर यह अधिकार पुरुष की कृपा पर अवलम्बित होता जा रहा था। दासियों की प्रथा साधारण मानी जाती थी और वेश्या की स्थिति स्वाभाविक।

बुद्ध के धर्म ने स्त्री को किस दृष्टि से देखा यह जानने के लिये हमें स्त्री को तीन रूपों मे देखना होगा —एक वे जो उनके जीवन के सम्पर्क में आई, दूसरी जो भिक्षुणी होकर धर्माचरण करती रहीं, तीसरी जो गृह-धर्म का पालन करती हुईं उनके धर्म के प्रसार में सहायक हुईं।

बुद्ध की जननी ने उन्हें जन्म देकर ही इस लोक का कर्तव्य समाप्त कर दिया। इस सत्य ने बुद्ध के जीवन पर कैसा प्रभाव डाला, यह कहना कठिन है। परन्तु यह तो मानना ही उचित है कि पुरुष अपनी जन्मदात्री में स्त्री का जो रूप पाता है, उसे अन्यत्र पाना सम्भव नहीं। फिर भी व्यक्तिगत जीवन में बुद्ध का स्त्रियों के प्रति व्यवहार एकरस आदर और सहानुभूतिपूर्ण रहा है। उनके व्यवहार में स्त्री के प्रति घृणा उपेक्षा या सतर्कता का आभास नहीं मिलता।

तथागत होकर भी वे सहजभाव से राहुल-माता के शयनकक्ष में उपस्थित हो जाते हैं, कठिन तप के उपरान्त सुजाता को सामने पाकर अबोध बालक की निश्चिन्तता से उसके हाथ से खीर ले लेते हैं, लिच्छवी कुमारों की अवज्ञा कर गणिका अम्बपाली के यहां भोजन करने जाते हैं। ऐसी अनेक कथाओं का आधार पुरुष, स्त्री के प्रति नितान्त उपेक्षा का भाव रख सकता है, यह कल्पना कठिन है।

स्त्रियों को गृह-त्याग कर भिक्षुणी होने की अनुमति उन्होंने पहले नहीं दी। उनको स्नेह से पालकर बड़ा करने वाली गौतमी जब स्वयं ऐसी अनुमति प्राप्त करने में असफल रहीं, तब उन्होंने केश कटा काषाय पहन अनेक शाक्य स्त्रियों के साथ आनन्द को घेरा। आनन्द उनके चतुर वकील बने क्योंकि उन्होंने घुमा फिरा कर पूछा—"भन्ते! क्या तथागत प्रवेदित धर्म में गृह-त्याग कर प्रव्रजित हो स्त्रियां स्रोतापत्ति फल, सकृदागामि फल, अनागामि फल, अर्हत्व फल को साक्षात् कर सकती हैं?"

"साक्षात् कर सकती हैं आनन्द!" इस उत्तर के उपरान्त स्त्रियों को भिक्षुणी होने की अनुमति देना आवश्यक हो गया।

आठ गुरु धर्मों के बन्धन के साथ स्त्रियों को प्रव्रज्या पाने का अधिकार मिला, परन्तु शास्ता ने स्पष्ट कह दिया कि यदि स्त्रियां गृह त्याग कर भिक्षुणी होने की अनुमति न पातीं तो यह धर्म अधिक टिकता।

इस कथन का अर्थ समझने के लिये हमें यह स्मरण रखना उचित है कि बुद्ध में हमें एक व्यवहारिक धर्म संस्थापक की विचार-धारा ही नहीं एक दूरदर्शी समाज-सुधारक का दृष्टिकोण भी मिलता है। उनका धर्म नैतिक आचरण पर केन्द्रित और अपरिग्रह-मूलक है, जिसके प्रचार के लिये उन्हें पूर्ण संयत और अपरिग्रही सन्देशवाहकों की आवश्यकता थी। स्त्रियों की रक्षा का प्रश्न समाज ही में उग्र हो उठा था तब उनसे सन्देशवाहकता की आशा करना कठिन था। भिक्षुणियों पर होने वाले आक्रमण भी इसी सत्य को प्रमाणित करते हैं। इसके अतिरिक्त भिक्षुणी-संघ के स्थापित हो जाने का जो परिणाम किसी दूर भविष्य में सम्भव था उसका अनुमान लगा लेना बुद्ध जैसे दूरदर्शी के लिये स्वाभाविक हो गया।

वैसे साधारणतः भिक्षु भिक्षाटन के लिये निकलने पर स्त्रियों के सम्पर्क में आते ही थे। वे प्रायः गृहस्थों

के घर निमन्त्रित किये जाते थे—भोजनोपरान्त उपदेश होते थे जिनमें परिवार की स्त्रियां भी उपस्थित रहती थीं। ऐसी दशा में बुद्ध के दृष्टिकोण में स्त्रियों के प्रति केवल उपेक्षाभाव ढूंढ लेना बहुत न्यायपूर्ण नहीं।

सम्भवत: तत्कालीन स्त्री-जीवन इतना गतिहीन हो चुका था कि वे स्त्रियों के संस्कारों की निन्दा के लिये विवश हो गये पर उन संस्कारों से स्त्री मुक्त हो सकती हैं ऐसे विश्वास की उनमें कमी नहीं। जो कुछ हो उनके भिक्षुणी-संघ ने समाज में पीड़ित स्त्रियों को एक शरण का मार्ग तो दिया ही। उन संघों में ऐसी विदुषियां भी मिलती हैं जिनको देखकर वेद-कालीन विदुषियों का स्मरण हो आता है।

गृह-जीवन बिताने वाली महिलाओं ने भी उनके धर्म के प्रसार में बहुत योग दिया। भिक्षुणी उत्पला का यदि महत्व है तो अनेक पुत्र-पौत्रों की माता मातामही गृहस्थ विशाखा का गौरव भी कम नहीं जो बुद्ध से वर मागती है कि वह आजीवन भिक्षु-संघ को वर्षा में वस्त्र दे सके, नये आये हुए, उस ओर से यात्रा करते हुए, रोगी और रोगी की परिचर्या करने वाले भिक्षुओं को भोजन दे सके, भिक्षुणिओं को स्नानार्थ परिधान दे सके, व्याधिग्रस्त भिक्षु को औषधि और भिक्षु-संघ को प्रतिदिन पिंडपात दे सके।

सम्पन्नवर्ग पर भी बुद्धधर्म का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि राजाओं तक ने प्रव्रजित होकर अपरि-गृही रहना स्वीकार किया। राजकुमार राजकुमारी तक प्रव्रज्या लेकर धर्म के प्रचारार्थ दूर दूर जाने की प्रेरणा पा सके।

समाज के चरित्र को उन्नत बनाने और नैतिकता को विकास देने में बुद्ध के सिद्धान्त कितने उपयोगी सिद्ध हुए इसका प्रमाण इतिहास के पृष्ठ ही नहीं वे ऊंचे ऊंचे शिलाखण्ड भी दे सकेंगे जिन पर नैतिक अनु-शासन आज तक अंकित हैं।

साहित्य

साहित्य की दृष्टि से भी बौद्ध संस्कृति कम समृद्ध नहीं कही जा सकती। हीनयान का पालि साहित्य, महायान का संस्कृत साहित्य, दोनों ही बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म से सम्बन्ध रखते हैं, परन्तु वे अपनी अपनी विशेषता में एक दूसरे से भिन्न हैं। पालि में बुद्ध के प्रवचन, धम्मपद, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक कथा आदि भाषा और शैली की दृष्टि से भारतीय साहित्य के इतिहास में एक नया पृष्ठ जोड़ते हैं। जहाँ तक बुद्ध के प्रवचनों का सम्बन्ध है वे लगभग चार शताब्दियों के उपरान्त लिपिबद्ध हो सके। इन प्रवचनों में पुनरुक्तियां कम नहीं, पर उनकी तर्क-प्रणाली बहुत विकसित, शब्दों का उपयोग संयमित तथा गूढ़तम विषय को उपमा, रूपक द्वारा सहज बनाने का सफल प्रयत्न है। उनमें एक प्रकार की गुरुता और विश्वास का आभास मिलता है जो बुद्ध के समान मनोवैज्ञानिक तर्कवादी में ही सम्भव था।

धम्मपद की बौद्ध साहित्य में वही स्थिति है जो हमारे यहां गीता की। उसमें विचार ही नहीं भाव का भी स्पर्श मिलता है। केवल प्रवचनों में जिस मर्मस्पर्शिता और लय की कमी रह जाती है उसे धम्मपद पूरा कर देता है। वह संग्रह है, एक ग्रन्थ नहीं, सम्भवत: इसी से उसका कुछ अंश महाभारत और हितोपदेश में व्यक्त भावों से साम्य रखता है और कुछ में बौद्ध विचार धारा ही प्रधान है।

थेरगाथा और थेरीगाथा में उन भिक्षु और भिक्षु-णियों के गीत संग्रहीत हैं जो अर्हत्व को प्राप्त हो चुके थे। परन्तु दोनों प्रकार के गीतों में विशेष अन्तर है, क्योंकि थेरगाथायें विशेष वैयक्तिक, कथात्मक और स्त्री के प्रति विरक्त भाव से भरी हैं तथा थेरीगाथायें अन्त-र्जगत से विशेष सम्बन्ध रखती हैं और स्त्री के नश्वर सौन्दर्य की कथा करुण भाव से कहती हैं। अनेक स्थलों में इनकी भाषा और भाव हमें कालिदास के काव्य-गीत और वेद-गीतों का स्मरण करा देते हैं।

बुद्ध के अनेक जन्मों से सम्बन्ध रखने वाली जातक कथायें, साहित्य और इतिहास का सम्मिश्रित फल हैं। इनमें से अनेक कथायें बौद्धधर्म से प्राचीन हैं और इस दृष्टि से लोक कथाओं में जातक ही सब से पुराना संग्रह माना जा सकता है। उसमें गद्य पद्य

की स्थिति, भावों का सहज प्रवाह, कथाओं की विविधता, कहीं केवल सिद्धान्तों का प्रतिपादन और कहीं जीवन के मार्मिक चित्र उसे केवल हमारे निकट ही नहीं अन्य देशों के निकट भी मूल्यवान बना देते हैं।

संस्कृत में लिखे गए बौद्ध साहित्य में, ललित विस्तर में ही हमें महायान के अंकुर मिलने लगते हैं क्योंकि वह एक अलौकिकता के वातावरण में कही बुद्ध की जीवनी है।

कुशल संगीतज्ञ, कवि, दार्शनिक और महायान का प्रवर्तक अश्वघोष कालिदास का अग्रगामी है। उसके बुद्ध चरित में शैली की प्रवाहशीलता, कल्पना का माधुर्य और भाषा की चित्रमयता देखकर यह अनुमान सहज हो जाता है कि आने वाले संस्कृत कवियों पर उसका विशेष प्रभाव पड़ा होगा। उसके सौन्दरानन्द काव्य में महायान की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप रेखा ग्रहण कर लेती है और महायान श्रद्धोत्पाद मे उस प्रवृत्ति की दार्शनिक व्याख्या और तत्कालीन बौद्ध विचार-धारा का विशेष परिचय मिलता है। अश्वघोष के अतिरिक्त आर्यसूर, नागार्जुन आदि ने भी बौद्ध विचार धारा को विकसित रूप देकर भारतीय विचार-धारा को नई दिशायें खोजने पर बाध्य किया। इस प्रकार बौद्ध संस्कृति की छाया में विकसित दोहरे साहित्य ने भारतीय साहित्य को जो विविधता प्रदान की वह भूलने योग्य नहीं।

कला शिल्प

कला के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना उचित है कि आरम्भ के हीनयान में उसकी कोई स्थिति नहीं, क्योंकि वह उन सुख के साधनों में है जिनका परित्याग हीनयान का लक्ष्य रहा। भिक्षु भिक्षुणी के लिए तो चित्र या अन्य शिल्प देखना भी असंयम की कोटि में आ जाता था।

ईसा से पूर्व तीसरी और दूसरी शताब्दियों में हम जिस शिल्प की स्थिति देखते हैं वह तो अनुशासनों को अंकित करने तक सीमित था। उस समय तक बौद्ध कला का विकास नहीं हुआ था, साधारणतः प्रचलित भारतीय कला शिल्प का ही उपयोग होता रहा। अशोक के समय में भारतीय कला प्रकृतिवादिनी थी इसी से पृथ्वी माता, नागराज, यक्षराज आदि का ही परिचय मिलता है। बौद्ध-कला ने बुद्ध को केन्द्र बनाकर इन्हीं प्रकृति रूपों को स्वीकृति देकर अपने विकास के लिए पथ बनाया। प्रकृति की शक्तिओं के प्रतीक पशु बुद्ध के पिछले जीवन से सम्बन्ध रखने वाली कथाओं में ही हमें बौद्ध-कला का परिचय मिलता है। ई० पू० तीसरी शताब्दी में बुद्ध की उपस्थित का संकेत कभी वट वृक्ष, कभी छत्र कभी चरण चिन्हों के द्वारा किया जाता था, परन्तु महायान के विकास के साथ जब बुद्ध को देवत्व की रेखायें घेरने लगीं तब व्यक्तिगत चित्त-शुद्धि का स्थान व्यक्तिगत श्रद्धा और पूजा-अर्चा की पद्धति ने ग्रहण कर लिया और बुद्ध की मूर्ति का होना आवश्यक होगया।

भारतीय और ग्रीक कला के सम्मिश्रण से जिस गान्धार कला का विकास हुआ वह तो बुद्ध की प्रशान्त योग मुद्रा को व्यक्त करने में असफल रही परन्तु बौद्ध प्रवृत्ति और भारतीय कला के संयोग से जिस बौद्ध कला का विकास हुआ वह एक ओर बुद्ध की प्रशान्त मुद्रा से पवित्र और दूसरी ओर भारतीय सौन्दर्य की पूर्ण रेखाओं में सजीव है।

अजन्ता की कला इसका अच्छा उदाहरण है- सुन्दर स्त्री-आकारों में सजीव रेखाओं का बाहुल्य, गीत वाद्य, पुष्प-वर्षा का बाहुल्य और इन सबके बीच में दीपक की निष्कम्प लौ के समान बुद्ध की प्रशान्त और हासाभासित मुद्रा हमारे जीवन के बाह्य और आन्तरिक सौन्दर्य का समन्वय प्रकट करती है। बुद्ध को सब ओर से घेरे हुए यह स्त्री कोई ऐन्द्रियता नहीं जगाती; वह तो सौन्दर्य, त्याग, वात्सल्य और आनन्द की एक शृंखला के रूप में उपस्थित है, जिसके बीच में बुद्ध की प्रशान्त मुद्रा और अधिक निखर आती है; मलिन नहीं हो जाती। वास्तु, मूर्ति, चित्र सभी क्षेत्रों में रूपप्रिय भारतीय कला भावप्रिय बौद्ध-कला से मिलकर ही जीवन में सामञ्जस्य उपस्थित कर सकी है।

कला ही नहीं, साहित्य और विचार के क्षेत्र में भी ऐसा कुछ नहीं जो केवल बौद्ध या केवल ब्राह्मण संस्कृति के घेरे में बन्द किया जा सके। प्रत्येक कवि बुद्ध की जीवन गाथा गाकर प्रसन्न होता है, प्रत्येक चित्रकार बुद्ध को रंगरेखाओं में अंकित कर अपने आपको सफल मानता है और प्रत्येक मूर्त्तिकार बुद्ध की मुद्रा को साकारता दे कृतार्थ होता है।

बौद्ध धर्म और भारत

महात्मा गांधी के शब्दों में—"बौद्ध धर्म के नाम वाली चीज भले ही हिन्दुस्तान से दूर हो गई होवे, मगर बुद्ध भगवान का जीवन और उनकी शिक्षायें तो हिन्दुस्तान से दूर नहीं हुई हैं।"

चाहे संसार के कोने कोने में बुद्ध के सिद्धान्त पहुंच सके हों परन्तु उन सिद्धान्तों को जीवन में घुला मिला लेने की शक्ति दूसरे देशों में हमसे अधिक नहीं रही। जिस स्वच्छ आकाश के नीचे जिस सजला सफला धरती पर बुद्ध ने प्राणिमात्र की एकता का अनुभव किया वह आज भी हमारी है, जिस अन्तश्चेतना ने उन्हें दूसरों के कल्याण के लिये अपने सुख त्याग देने की शक्ति दी उसके हम आज भी उत्तराधिकारी हैं, जिस बुद्धिवाद ने उन्हें सहज मानवधर्म तक पहुँचाया उसके अंकुर अब तक नष्ट नहीं हुए और जिस दुःख की अनुभूति ने उन्हें अमृत-तत्व खोजने पर बाध्य किया उसका मर्म हमारे जीवन का अणु अणु जानता है। आज भी सहस्रों अम्बपालियां हैं, असंख्य शूद्र बालक हैं, असीम अन्ध विश्वास है, अनन्त दुःख हैं; सारांश यह कि विकृतियों से आज भी हम मुक्त नहीं।

बौद्ध धर्म को कहां कितना परिवर्तित रूप मिला इसका लेखा-जोखा हमें तब तक लाभ नहीं पहुंचा सकता जब तक हम उनके अविकृत मूल सिद्धान्तों से परिचित नहीं। भ्रान्त प्रयोग ही किसी सिद्धान्त के उपयोग की कसौटी नहीं बन सकता। जीवन में भोजन जैसी आवश्यक वस्तु का भी ऐसा भ्रान्त उपयोग हो सकता है कि वह मृत्यु का कारण बन जावे और विष का भी ऐसा उचित उपयोग हो सकता है कि वह जीवनीशक्ति बढ़ा सके। जब स्थूल धरातल पर भी किसी वस्तु का उचित अनुचित प्रयोग उसके उपयोग को प्रकृत या विकृत कर सकता है तब अन्तर्जगत से सम्बन्ध रखने वाले सिद्धान्तों के विषय में हमें और भी विवेक बुद्धि से काम लेना होगा।

बाह्य जीवन की परिस्थितियाँ हमारे सामने जिस क्षितिज को स्पष्ट करती जा रही है उसमें तर्क की रेखाओं में कल्याण-भावना का रंग भर कर ही हम जीवन के अधूरे चित्र को पूरा कर सकेंगे। इस दिशा में तब तक हम सफल नहीं हो सकते जब तक अथर्व के 'असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु नवै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु', (सब दिशायें मेरे लिये शत्रुरहित हों, हम द्वेष नहीं करते इसलिये अभय हैं) और बुद्ध के 'अक्कोधेन जिने कोधं अवैरेण वैरिनं' (अक्रोध से क्रोध और अवैर से वैरी को जीते) की एकता नहीं जान लेते। इस ज्ञान के उपरान्त ही हम भारतीय संस्कृति और बौद्ध संस्कृति में समान रूप से व्याप्त उस कल्याण-भावना तक पहुँच सकते हैं जो 'कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्'— में बार बार व्यक्त होती रही है।

प्रस्तुत अङ्क

हम बौद्ध संस्कृति का जितना पूर्ण और विस्तृत परिचय देना चाहते थे उतना सम्भव न हो सका। बाहर की विषम परिस्थितियाँ, समय की कमी, स्थान की सीमा और अपनी वैयक्तिक त्रुटियों के कारण हमारी कल्पना अनुरूप रूप न पा सकी। पर प्रस्तुत अङ्क यदि, भारतीय संस्कृति के एक महत्वपूर्ण अध्याय की ओर पाठकों की दृष्टि फेर सके, उसके सम्बन्ध में कुछ और जानने की इच्छा उत्पन्न कर सके तो हमें अपने अपूर्ण प्रयास पर खेद न होगा। सफलता मूल्यवान है, पर प्रयत्न अपने आप भी कुछ मूल्य रखता ही है।

विश्ववाणी की

नवयुग निर्माणकारी महान योजना

सोवियत संस्कृति अङ्क

इस अङ्क के सम्पादक

[illegible]

इस अङ्क के कुछ महत्वपूर्ण लेख

श्री रजनी पामदत्त	...	...	यूरोप में क्रान्ति
श्री डी० डी० कोसम्बी	..	...	सोवियत् में विज्ञान साधना
श्री जे० डी० बर्नल	...	...	विज्ञान को सोवियत् की देन
श्री हीरेन्द्र मुखर्जी	...	..	सोवियत् राष्ट्र व्यवस्था
श्री गोपाल हालदार	...	...	सोवियत्-संस्कृति
डा०, भूपेन्द्रनाथ दत्त	...	...	रूसी समाज तत्व
श्री वीणा दास	...	...	सोवियत् नारी
स्वामी सहजानन्द सरस्वती	...	...	सोवियत् और हमारा कर्तव्य
श्री महादेव प्रसाद साहा	...	...	मध्य एशिया में सोवियत् सभ्यता
डा०, ज़ेड० ए० अहमद	...	...	सोवियत् और साम्प्रदायिक समस्या

[illegible]

डा०, मुल्कराज आनन्द, श्री डी० एन० प्रिट् एम० पी०, श्री सिडनी वेब, डा०, के० एम० अशरफ, श्री सज्जाद ज़हीर, डा०, एम० ए० अलीम, प० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और श्री नरेन्द्र आदि सज्जनों ने भी लिखने का वचन दिया है।

काग़ज़ की कमी के कारण परिमित संख्या में ही हम यह अङ्क छाप रहे हैं। हमारा दावा है सोवियत् रूस पर हिन्दी में आज तक ऐसी सुन्दर और महत्वपूर्ण सामग्री नहीं प्रकाशित हुई।

अभी से अपनी प्रति रिजर्व करा लीजिये

'विश्ववाणी' का जुलाई अङ्क "चीन अङ्क" होगा

मैनेजर, 'विश्ववाणी' कार्यालय, साउथ मलाका, इलाहाबाद

सम्पादक, मुद्रक और प्रकाशक—विश्वम्भरनाथ, विश्ववाणी प्रेस, साउथ मलाका, इलाहाबाद